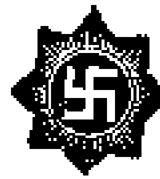


श्रीविद्यानंद-स्वामिविरचितः

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारः

तत्त्वार्थचिंतामणिटीकासहितः

(पञ्चमखंडः)

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

नानावस्तुस्वभावभ्रमकलितवपुः स्यात्स्वतत्त्वाप्यवीचि-
रस्माना अप्यगाधे गणधरमुनयः स्नान्ति यद्बोधतोये ।
सिद्धार्थापत्यवीरोद्भव सकलभगसारि सामर्थ्यजुष्ट-
ब्राह्मीगंगा पुनीताद्दुरितनिरसनी चिद्दृहा भव्यहंसान् ॥

अथ श्री विद्यानन्द आचार्य तत्त्वार्थसूत्रसंबंधी द्वितीय अध्याय के श्लोकनिर्मित वार्तिकों द्वारा अलंकार करनेका प्रारम्भ करते हैं ।

सम्यग्दृग्गोचरो जीवस्तस्यौपशमिकादयः ।
स्वं तत्त्वं पंच भावाः स्युः सप्तसूत्र्या निरूपिताः ॥ १ ॥

सम्यग्दर्शन का विषयभूत होरहा जीव पदार्थ है, उसके औपशमिक, क्षायिक आदिक पांच भाव स्व आत्मक तत्त्व हो रहे हैं, वे इस द्वितीय अध्याय के प्रथमवर्त्ती सात सूत्रोंके समुदाय करके श्री उमास्वामी महाराज द्वारा पहिले निरूपण किये जाचुके हैं । इस कथन करके श्री विद्यानन्दस्वामीने प्रथम अध्यायके प्रकरणों की द्वितीय अध्याय सम्बन्धी प्रकरणों के साथ हो रही संगति को प्रदर्शित किया है अतः सूत्रकारके ऊपर असंगत प्रलाप दोष लग जाने का खटका नहीं रहा ।

सम्यग्दृक्तत्त्वार्थश्रद्धानं तस्याः गोचरो विषयो जीवो निरूपितस्तावदजीवादिवत् तस्य स्वमसाधारणं तत्त्वमौपशमिकादयः पंच भावाः स्युर्न पुनः पारिणामिक एव भावश्चैतन्यमात्रं, यतश्चैतन्यं पुरुषस्य स्वं रूपमिति दर्शनं केषांचिव्द्यवतिष्ठते। बुध्यादयो नवैवात्मनो विशेषगुणा इति वा, आनंदमात्रं ब्रह्मरूपमिति वा प्रभास्वरमेवेदं चित्तमिति वा प्रमाणाभावात्। प्रमाणोपपन्नास्तु जीवस्यासाधारणाः स्वभावाः पंचौपशमिकादयस्ते सप्तसूत्र्या निरूपिताः सूत्रकारेण लक्षणतः संख्यातः प्रभेदतश्च।

सम्यग्दर्शन शब्दकी निरुक्ति कर देनेसे अभीष्ट अर्थ प्राप्त नहीं होता था। अतः सम्यग्दर्शनका पारिभाषिक अर्थ तत्त्वार्थोंका श्रद्धान करना कहा गया है। उस श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनका अजीव आदिके समान विषयभूत हो रहा जीवपदार्थ तो पहिले अध्यायमें कहा जा चुका है। अब उस जीवके विशेष अंशोंका निरूपण करनेके लिये प्रकरण चलाते हैं। उस जीवके निजआत्मस्वरूप हो रहे औपशमिक आदिक पांचभाव तो स्वकीय असाधारणतत्त्व हैं। जो अन्य अजीव माने गये पुद्गल आदिमें नहीं पाये जाकर केवल जीवमें ही पाये जांय वे जीवके असाधारणभाव हो सकेंगे। प्रतिपक्षी कर्मोंके उपशमसे होनेवाले या कर्मोंके क्षयसे होनेवाले अथवा उदय, उपशम, आदिकी नहीं अपेक्षा कर जीवद्रव्यके केवल आत्मलाभसे अनादि सिद्ध हो रहे पारिणामिक ये तीन भाव तो जीवके निज स्वरूप हैं ही। साथमें गुण या स्वभावोंके प्रतिपक्षी हुये कर्मोंकी सर्वघाति प्रकृतियोंका उदयक्षय, और उपशम होनेपर तथा देशघाति प्रकृतियोंके उदय होनेपर हो जानेवाले कुज्ञान, मतिज्ञान, चक्षुदर्शन, आदि क्षायोपशमिकभाव तथा कतिपय कर्मोंका उदय होनेपर उपजनेवाले मनुष्यगति, क्रोध, पुंवेद परिणाम, मिथ्यात्व आदिक औदयिकभाव भी आत्माके निज तत्त्व हैं। क्योंकि क्षायोपशमिक और औदयिकभावोंका भी उपादान कारण आत्मा ही है। कर्मोंके क्षयोपशम या उदयको निमित्त पाकर आत्मा ही मतिज्ञान, क्रोध, आदिरूप परिणत हो जाता है। आत्माके चेतनागुणकी पर्याय मतिज्ञान, कुमतिज्ञान आदि हैं और आत्माके चारित्र गुणका विभाव परिणाम क्रोध आदि हैं। केवल निश्चयनय द्वारा शुद्ध द्रव्यके प्रतिपादक समयसार आदि ग्रन्थोंमें भले ही मतिज्ञान, क्रोध आदिको परभाव कह दिया गया होय, किन्तु प्रमाणोंद्वारा तत्त्वोंकी प्रतिपत्ति करानेवाले या अशुद्ध द्रव्यका निरूपण करने वाले श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, गोम्मटसार, राजवार्तिक, आदि ग्रन्थोंमें क्रोध, वेद आदिको आत्माका स्व—आत्मकभाव माना गया है। अतः पांचों ही भाव जीवके स्वकीय असाधारण तत्त्व हैं। उन पांचों भावोंके साथ तदात्मक हो रहा जीव तत्त्व वास्तविक है। किन्तु फिर केवल पारिणामिक भाव अकेले चैतन्य स्वरूप ही जीव नहीं है, जिससे कि केवल चैतन्य ही पुरुषका निज स्वरूप है, ज्ञान, सुख, वीर्य, क्रोध, अवधिज्ञान, उपशम, चारित्र, आदिक भाव तो जीवके निजस्वरूप नहीं हैं, किंतु त्रिगुणआत्मक प्रकृतिके विवर्त हैं, इस प्रकार किन्हीं किन्हीं सांख्योंका माना गया सिद्धान्त व्यवस्थित

हो सके अथवा बुद्धिको आदि लेकर सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना ये नौ ही आत्माके विशेष गुण हैं, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाव ये पांच गुण आत्माके सामान्य हैं, इस प्रकार नौ और पांच मिलकर चौदह ही गुण आत्माके व्यवस्थित हो सकें, अन्य अस्तित्व, द्रव्यत्व, चारित्र, वीर्य, आदि अनन्त गुणोंका वैशेषिक सिद्धान्त अनुसार निषेध कर दिया जाय, अथवा केवल आनन्द ही एक गुण ब्रह्मका स्वरूप है, यह ब्रह्मवादियोंका सिद्धान्त व्यवस्थित हो सके, अथवा यह चित्त स्वरूप आत्मा केवल चमक रहा, प्रभास्वर गुणवाला ही है, इस प्रकार मीमांसक, बौद्ध आदि दार्शनिकोंके मन्तव्य व्यवस्थित ठहर सकें। जब कि स्वसम्वेदन प्रत्यक्षसे पांच भावोंके साथ आत्माका उपजीव्य, उपजीवक स्वरूप तादात्म्य प्रतीत हो रहा है, ऐसी दशामें केवल चैतन्य ही या नौ विशेष गुण ही अथवा केवल आनंद गुण ही तथा प्रभास्वर गुण ही का आत्माके साथ उपजीव्य उपजीवक भाव साधनेका कोई प्रमाण नहीं है। जिन गुण या स्वभावोंकरके पदार्थ आत्म लाभ किये हुये हैं, वे उपजीवक माने जाते हैं और उन करके आत्मलाभ कर रहा पदार्थ उपजीव्य समझा जाता है। पांच भाव जीवके उपजीवक हैं। अनादि और सादि सहभावी क्रमभावी पर्यायोंको धारनेवाला जीव तत्त्व है। शुद्ध परमात्मा द्रव्य हो रहे सिद्ध भगवानोंमें यद्यपि औपशमिक, क्षायोपशमिक और औदयिक ये तीन प्रकारके भाव नहीं हैं। सिद्धोंमें पारिणामिक और क्षायिकभाव ही हैं। तथा बहुभाग अनंतानंत संसारी जीवोंमें क्षायिकभाव या औपशमिक भाव नहीं पाये जाते हैं, तो भी जिन जीवोंमें पांचों भावोंमें से यथायोग्य दो ही तीन ही चारों ही अथवा क्षायिकसम्यग्दृष्टि पंचेंद्रियपुरुष जीवके ग्यारहवें गुणस्थानमें पांचों, यों जितने भी सम्भव पाये जाते हैं, सब जीवके तदात्मक हो रहे असाधारण स्वभाव हैं। अतः प्रमाणोंसे युक्तिसिद्ध हो रहे, पांच औपशमिक आदिक स्वभाव तो जीवके असाधारण स्वभाव हैं। दूसरे अध्यायमें सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज करके पहिले सात सूत्रोंके समुदाय करके पांच भाव कहे गये हैं। द्वितीय अध्यायके पहिले सूत्रद्वारा निरुक्तिपूर्वक लक्षणसे पांच भावोंको कहा गया है। दूसरे सूत्रमें संख्या निरूपण करनेसे पांच भावोंका कथन किया है। तथा द्वितीय अध्यायके तीसरे, चौथे, पांचवें, छठे, सातवें सूत्रमें उन पांचों भावोंका प्रभेद दिखला देनेसे निरूपण किया गया है।

तत्र तेषां लक्षणतो निरूपणार्थमिदमाद्यं सूत्रमुपलक्ष्यते ।

अब लक्षण, संख्या, और प्रभेद इन तीनों प्ररूपणोंमें प्रथम उन भावोंका लक्षणरूपसे कथन करनेके लिये द्वितीय अध्यायके आदिमें होनेवाला सूत्र श्री उमास्वामी महाराज करके उपलक्षणपूर्वक कहा जाता है।

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥

कर्मोंके उपशमसे होनेवाला औपशमिकभाव और कर्मोंका क्षय होनेपर अनन्तकालतकके लिये सम्भव जानेवाला क्षायिकभाव तथा उपशम, क्षय, दोनों या उदय मिलाकर तीनों अवस्थाओंका मिश्रण होजानेपर उपजरहा क्षायोपशमिकभाव एवं कर्मोदयसे उपजा औदयिकभाव और उदय आदि की नहीं अपेक्षा रखनेवाले पारिणामिकभाव ये पांच भाव जीवके तदात्मक स्वस्वरूप तत्त्व हैं। अर्थात्---मानव शरीरके जैसे दो हाथ दो पांव नितम्ब, पीठ, उरःस्थल, शिर ये आठ अंग निजतत्त्व हैं, अथवा वृक्षके स्कंध, शाखा, पुष्प, पत्र, फल ये पांच तदात्मभूत तत्त्व हैं, उसी प्रकार औपशमिक आदिक पांच भाव जीवके स्व--आत्मभूत निजतत्त्व हैं।

अत्रौपशमिकादिशब्दनिरुक्तित एवौपशमिकादिभावानां लक्षणमुपदर्शितं तस्यास्तदव्यभिचारात्। तथा हि---

यहां सूत्रमें कहे गये औपशमिक, क्षायिक आदि शब्दोंकी प्रकृतिप्रत्यय द्वारा निरुक्ति करदेनेसे ही औपशमिक, क्षायिक आदि भावोंका लक्षण ठीक दिखला दिया गया है। क्योंकि उस निरुक्तिका उनके निर्देश अनुसार लक्षण करके व्यभिचार नहीं आता है। जहां शब्दनिरुक्तिका लक्षणके साथ व्यभिचार नहीं आता होय वहां ही पारिभाषिक लक्षण कण्ठोक्त किया जाता है। अन्यत्र नहीं। औपशमिक आदिक शब्दोंकी लक्षण गर्भित निरुक्तिको स्वयं ग्रन्थकार वार्तिकों द्वारा प्रसिद्ध कर दिखाते हैं। क्योंकि ये पांचों नाम अन्वर्थ हैं।

अनुद्भूतस्वसामर्थ्यवृत्तितोपशमो मतः।
कर्मणां पुंसि तोयादावधःप्रापितपङ्कवत् ॥ २ ॥

आत्मामें कर्मोंका अपनी सामर्थ्यको प्रकट नहीं करते हुये यों ही सत्तारूप वर्तते रहना उपशम माना गया है जैसे कि जल, वस्त्र, आदिमें कतकफल, दूध आदिके सम्बन्धसे नीचे प्रदेशमें कीच प्राप्त करा दी जाती है। अर्थात् --योग और कषायोंके वश हो रहा आत्मा ज्ञानावरण आदि कर्मोंका बन्ध करता है। आबाधाकाल और अचल आवलितक कोई भी कर्मफल देनेके लिये अभिमुख नहीं होता है। स्वयोग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके नहीं मिलनेपर भी कर्म उदयमें नहीं आते हैं। यदि उनकी स्थिति पूरी होगई होय तो विना ही फल दिये हुये भले ही खिरजांय। एक ही समय बांधे हुये अनन्त परमाणु पिण्ड हो रहे कर्मोंमेंसे आवाधा काल पीछे कुछ कर्मोंके उदयावली स्रोतमें प्रविष्ट हो चुकनेपर भी उन्हीं कर्मोंमेंसे गुणहानि क्रम अनुसार जिन कर्मोंका उदय चिर भविष्यकालमें आनेवाला है तबतक पूर्व समयमें उनका भी उपशम बना रहता है। अन्तरकरण और सदवस्था रूप ये उपशमके दो भेद हैं। गुणको विघातनेवाले कर्मोंको कुछ पहिले समयोंमें उदय प्राप्त करलेना और कुछ कर्मोंको उत्कर्षण द्वारा पीछे समयोंमें उदय योग्य बनालेना, इस अबुद्धि

पूर्वक कार्योपयोगी आत्मीय परिणामोंके प्रयत्नसे अन्तर्मुहूर्त कालतकके लिये कर्मोंके उदयको टालदेना अन्तरकरण उपशम कहा जाता है और बांधेहुये कर्मोंकी फलप्राप्तितक यों ही सत्तामें उनका पडे रहना सदवस्था उपशम है। उपशम करनेके लिये भी आत्माको चेष्टा कर प्रयत्न करना पडता है, जिससे कि उदीरणाका कारण उपस्थित होकर कर्म उदयमें नहीं आसके। जलमें पडी हुई फिटकिरीको कीचके दबानेके लिये सतत उद्यत रहना पडता है। तभी तो चाहे जब जलमें कीच घुलने नहीं पाती है। तीव्र वायुके झकोरों द्वारा या जलपात्रके उथल पुथल कर देनेसे यदि फिटकिरीके उद्यमको व्यर्थ करदिया जाय तो जलमें कीचकी सामर्थ्य प्रकट हो जाती है। उसी प्रकार आत्मामें भी तीव्र उदीरणाके कारण मिल जानेपर आत्माका उपशमार्थ किया गया प्रयत्न व्यर्थ होकर कर्मोंकी सामर्थ्य प्रकट हो जाती है। जबतक कर्मोंकी शक्ति उद्भूत नहीं हुई है तबतक उपशम माना जाता है। औषधियों द्वारा रोगोंका प्रकट नहीं होना प्रसिद्ध है। कर्मोंका उपशम आत्माकी विशुद्धिरूप परिणाम माना गया है कीचका दबा रहना जलकी स्वच्छता ही तो है।

तेषामात्यंतिकी हानिः क्षयस्तदुभयात्मकः।
क्षयोपशम उद्गीतः क्षीणाक्षीणबलत्वतः॥ ३॥

उन प्रतिपक्षी कर्मोंकी अत्यन्त कालतकके लिये हानि हो जाना क्षय माना गया है, जैसे कि दबी कीचवाले पानीको दूसरे स्वच्छ पात्रमें वुढेल लेनेपर कीचका अत्यन्ताभाव हो जाता है। कर्मोंकी अनन्तकालतकके लिये हानि हो जानेपर हुआ आत्माका सुविशुद्ध परिणाम ही क्षय पडता है। जैनोंके यहां तुच्छ अभाव कोई पदार्थ नहीं माना गया है। रोगके उपशमसे और रोगके क्षयसे हो जानेवाली आत्माकी विशुद्धिमें भारी अन्तर है। तथा क्षय और उपशम उन दोनोंका तदात्मक हो रहा परिणाम तो कर्मोंकी कुछ क्षीण और कुछ अक्षीण सामर्थ्य हो जानेसे क्षयोपशम भाव मिश्र कहा गया है। सर्वघाति प्रकृतियोंका उदयाभावरूप क्षय और उन्हींका सदवस्थारूप उपशम तथा प्रतिपक्षी कर्मोंकी गुणको एक देशसे घातनेवाली देशघाति प्रकृतियोंका उदय होनेपर क्षयोपशम परिणाम होता है, जैसे कि कोदो या भांगपत्तीको विशेष प्रकार द्वारा धोनेसे उनकी मद (नशा) उत्पादक शक्तियां क्षीण अक्षीण हो जाती हैं। यहां क्षयोपशममें पडे हुये क्षयका अर्थ अत्यन्त निवृत्ति नहीं है। किन्तु उपशम शब्दका साहचर्य होनेसे क्षयका अर्थ फल नहीं देकर कर्मोंका प्रदेशोदय होजाना स्वरूप उदयाभाव है।

उदयः फलकारित्वं द्रव्यादिप्रत्ययद्वयात्।
द्रव्यात्मलाभहेतुः स्यात् परिणामोनपेक्षिणः॥ ४॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, इन बहिरंग और अन्तरंग दोनों निमित्त कारणोंसे विपाकमें प्राप्त हो रहे कर्मोंका फल देना रूप कार्य करना उदय है। अर्थात्—द्रव्य, क्षेत्र, कालको बहिरंग कारण

मानकर और भावको अन्तरंग निमित्त मानकर जो कर्मोंके फलकी प्राप्ति होना है, वह उदय है। जैसे कि द्रव्य, क्षेत्र, आदिका प्रसंग मिल जानेपर आम्र बीज या धान्य बीजसे फल प्राप्ति हो जाती है, यावत् कर्मोंमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंको निमित्त माना गया है। बीजके बिना वृक्ष नहीं होता है। योग्य खेतके बिना नंगे पत्थरपर आम्र, गेहूं आदिके पेड उगते नहीं हैं। उचित अवसरके बिना अनियत ऋतुओंमें वृक्ष, फल, फूल नहीं उपजते हैं। बीज या शाखाओंका उपयोगी परिणाम हुये बिना वृक्ष, फल, फूल नहीं आते हैं। अध्ययन, अर्थोपार्जन, काम पुरुषार्थ, देवार्चन, मोक्ष, इन सब कर्मोंके लिये द्रव्य आदि चतुष्टय आकांक्षणीय है। इसी प्रकार कर्मोंके फल प्राप्त करानेमें भी द्रव्य आदि चारों कारण आवश्यक हैं। तथा जिसका हेतु केवल द्रव्यका आत्मलाभ ही है, वह अन्य किसीकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले पदार्थका भाव तो परिणाम कहा जायगा। अर्थात्— अनादिकालीन द्रव्यका आत्मलाभ हो रहा ही जिसका हेतु है, जिसके अन्य कोई कर्मोंके उदय उपशम आदिक निमित्त नहीं हैं, वह इस प्रकरणमें परिणाम कहा जाता है।

एतत्प्रयोजना भावाः सर्वोपशमिकादयः।
इत्यौपशमिकादीनां शब्दानामुपवर्णिता ॥ ५ ॥
निरुक्तिरर्थसामर्थ्याद्ज्ञातुमव्यभिचारिणी।
ततोन्यत्राप्रवृत्तत्वात् ज्ञानचारित्रशब्दवत् ॥ ६ ॥

जिन सभी औपशमिक क्षायिक भावोंके पूर्वोक्त उपशम, क्षय, क्षयोपशम, उदय, परिणाम ये भाव प्रयोजन हैं, वे भाव औपशमिक आदिक हैं। इस प्रकार "तदस्य प्रयोजनं" इस अर्थमें ठञ् प्रत्यय कर औपशमिक आदि शब्दोंकी व्याकरण शास्त्र अनुसार निरुक्ति कह दी गयी है। शब्द निष्ठ अर्थकी सामर्थ्यसे जाननेके लिये निरुक्तिमें कोई व्यभिचार दोष नहीं आता है। क्योंकि धातु, प्रकृति, प्रत्यय, इनके अनुसार बने हुये उस शब्दके यौगिक अर्थसे अतिरिक्त अन्य अर्थोंमें वे शब्द नहीं प्रवर्तते हैं। जैसे कि पहिले सूत्रमें कहे गये ज्ञान और चारित्र शब्दकी निरुक्ति कर देनेसे ही अव्यभिचारी अभिप्रेत अर्थ प्राप्त हो जाता है। हां, सम्यग्दर्शनका शब्दनिरुक्ति द्वारा अर्थ करनेपर व्यभिचार दोष आता है। तभी तो श्रीउमास्वामी महाराजने सम्यग्दर्शनका अभीष्ट अर्थ करनेके लिये न्यारा सूत्र "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं" कहा है और सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका निरुक्तियोंसे ही अर्थ निकाला है। व्यवहारमें लाखों, करोडों, शब्दोंका प्रयोग होता है। कहांतक सर्व शब्दोंके पारिभाषिक अर्थ करते फिरें। बहुभाग यौगिक अर्थोंसे ही शब्दों द्वारा वाच्यार्थकी सिद्धि कर ली जाती है। जहां निरुक्तिका व्यभिचार होता है, वहां गो, व्याघ्र, कुशल, आदि शब्दोंको यौगिक नहीं मानकर रूढि समझ लिया जाता है। अतः उपशमः प्रयोजनमस्य इत्यादि प्रकारसे निरुक्ति कर औपशमिक

आदि शब्दोंको अन्वर्थ साध लेना चाहिये। चुरादिगणकी " मिश्र सम्पर्के " धातुसे अच् प्रत्यय कर मिश्र शब्दको बना लेना चाहिये। द्विरेफ शब्दसे लक्षणा द्वारा दो रकारवाला जैसे भ्रमर शब्द कह दिया जाता है, वैसे मिश्र शब्द द्वारा क्षायोपशमिक शब्दकी उपस्थिति करते हुये क्षयोपशम शब्दसे ठञ् प्रत्यय कर क्षायोपशमिक शब्दकी निरुक्ति साध लेनी चाहिये।

प्रागौपशमिकस्योक्तिर्भव्यस्यानादिसंसृतौ ।
वर्तमानस्य सम्यक्त्वग्रहणे तस्य संभवात् ॥ ७ ॥

सभी संसारी जीवोंमें साधारण रूपसे पाये जाते हैं, अतः औदयिक और पारिणामिकका सूत्रमें पहिले ग्रहण होना चाहिये, ऐसी आशंकाकी सम्भावना होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी प्रथम ही समाधान कर देते हैं कि यह ग्रन्थ मोक्षकी शिक्षा देनेवाला मोक्षशास्त्र है। मोक्षका प्रधान कारण सम्यग्दर्शन है, अनादिकालसे संसारमें परिभ्रमण कर वर्त रहे भव्य जीवके आदिम सम्यक्त्व ग्रहण करलेपर मोक्षोपयोगी सम्पूर्ण भावोंके प्रथम उस औपशमिक सम्यक्त्वपरिणामका होना सम्भवता है। अतः आदिम सम्यक्त्वकी अपेक्षा सम्पूर्ण भावोंमें पहिले औपशमिकका कथन सूत्रकारने किया है।

स्तोकत्वात्सर्वभावेभ्यः स्तोककालत्वतोपि वा ।
शेषेभ्यः क्षायिकादिभ्यः कथंचिन्न विरुध्यते ॥ ८ ॥
ततस्तु क्षायिकस्योक्तिरसंख्येयगुणत्वतः ।
भव्यजीवस्वभावस्वरूपापनार्थत्वतोपि च ॥ ९ ॥
क्षायोपशमिकस्यातो या संख्येयगुणत्वतः ।
युक्तास्ति तद्द्वयात्मत्वाद्भव्येतरसमत्वतः ॥ १० ॥
उक्तिरौदयिकस्यातस्तेन जीवावबोधतः ।
पारिणामिकभावस्य ततोन्ते सर्वसंस्थितेः ॥ ११ ॥

दूसरी बात यह है कि गुणवान् पदार्थोंका अल्पपना भी लोकमें आदर प्राप्तिका हेतु है। आदरणीय पदार्थका सबसे पहिले उच्चारण हो जाता है। क्षायिक, क्षायोपशमिक आदि सम्पूर्ण भावोंसे औपशमिकभाव अत्यल्प हैं। अथवा क्षायिक आदि भावोंसे युक्त हो रहे जीवोंकी अपेक्षा औपशमिक भावोंको धारनेवाले जीव असंख्यातवें भाग या अनन्तवें भाग पाये जा रहे, थोड़े हैं। क्वचित्, कदाचित् ही पाये जांय ऐसे पदार्थ अद्भुतागार (अजायबघर) में प्रथम शोभा स्थानपर विराजमान

कर दिये जाते हैं । अथवा तीसरी बात यह भी है कि शेष बच रहे क्षायिक, क्षायोपशमिक आदि चार भावोंसे औपशमिक भावोंका काल थोडा है । बहुत कालतक (निष्ठुर होकर) ठहरनेवाले पदार्थोंसे थोडी देर ठहरनेवाले (लज्जालु) पदार्थ पहिले नाम पा जाते हैं । इस कारणसे भी चार भावोंसे पहिले औपशमिकभावका कथन करना कैसे भी विरोधको प्राप्त नहीं होता है । अर्थात्— उपशम सम्यग्दर्शनका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । अन्तर्मुहूर्तमें असंख्यात समय होते हैं । उतने समयोंमें होनेवाले चारों गतियोंके उपशमसम्यग्दृष्टि जीव यदि एकत्रित कर लिये जांय तो पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण इतने असंख्याते जीव उपशम सम्यग्दृष्टि पाये जावेंगे । किन्तु उपशम-सम्यग्दृष्टियोंसे आवलीका असंख्यातवां भागरूप असंख्यातसे गुणे हुये क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव बहुत हैं । क्योंकि संसारमें स्थितिकी अपेक्षा क्षायिकसम्यग्दर्शनका काल अन्तर्मुहूर्तसहित आठ वर्ष कमती दो कोटि पूर्वसे अधिक तेतीस सागर है । अतः असंख्यातगुणे अपने कालमें चारों गतियोंके क्षायिक-सम्यग्दृष्टि असंख्यात गुणे हैं । तथा क्षायिकभाववाले जीवोंसे क्षायोपशमिक भाववाले जीव असंख्यात-गुणे हैं । जीवद्रव्योंकी संख्या गिननेकी अपेक्षा उक्त व्यवस्था है । विशुद्धिके भावोंकी गिनती करने पर तो क्षायोपशमिकभावोंसे क्षायिकभाव ही अनन्त गुणे हैं । औदयिक, पारिणामिक भाववाले तो इनसे अनन्त गुणे हैं । अनन्त निगोदिया जीवोंके कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, अचक्षुदर्शन, लब्धियां, ये भाव क्षायोपशमिक हैं । इस अपेक्षासे विचारनेपर तो क्षायोपशमिक और औदायिक भाववालोंकी संख्या समान है । जीवत्व, अस्तित्व, नित्यत्व, आदि कुछ पारिणामिक भावोंको सिद्ध परमात्माओंमें भी स्वीकार कर लेनेपर औदयिक भाववालोंसे पारिणामिक भाववान् जीवोंकी संख्या बढ जाती है । अतः इन कारिकाओंका यह अभिप्राय है कि शेष भावोंसे अल्प और अल्पकाल स्थितिवाला होनेसे औपशमि-कका सबसे प्रथम कथन है । और उस औपशमिककी अपेक्षा असंख्यात गुणा होनेसे क्षायिकभावका तो उसके पश्चात् कथन है । एक बात यह और भी है कि पांच भावोंमें औपशमिक और क्षायिक-भाव ये दो जातिके भाव तो भव्य जीवोंके ही स्वभाव हैं । अभव्य जीवोंमें कथमपि नहीं पाये जाते हैं । इस बातको प्रसिद्ध करना रूप प्रयोजन साधनेके लिये भी औपशमिकके पीछे लगे हाथ क्षायि-कका कथन है । तथा इसके पीछे इन क्षायिकोंसे असंख्यात गुणा होनेसे क्षायोपशमिकका जो सूत्र-कारने कथन किया है वह युक्त है । उन औपशमिक, क्षायिक दोनों भावोंका सम्मेलन आत्मक होनेसे भी उस क्षायोपशमिकका झट उनके पीछे कथन करना समुचित है । भव्य और अभव्य जीवोंमें क्षायोपशमिक भाव समानरूपसे निवास करते हैं । इस कारण भी भव्योंमें ही पाये जानेवाले दो भावोंके पीछे शीघ्र भव्य, अभव्य दोनोंमें पाये जानेवाले क्षायोपशमिक भावका कथन करना अनिवार्य हो जाता है । तथा इन तीनके पश्चात् औदयिक भावका कथन करना आवश्यक पड जाता है । क्योंकि औदयिकभावोंमें गिनायी गयी गतिसे अघातिकर्मोदयजनित सभी शेष भावोंका ग्रहण हो जाता है । अतः मनुष्यगति, तिर्यग्गति, शरीरचेष्टा, उच्चारण, नाडी फडकना,

श्वासोच्छ्वास चलना, उष्णस्पर्श, लावण्य, क्रोध, लेश्या, आदि उन औदयिक भावोंसे जीवका परिज्ञान हो जाता है, या करा दिया जाता है। उन चारोंके अन्तमें पुनः पारिणामिक भावका सूत्रकारने उपादान किया है। क्योंकि सम्पूर्ण मनुष्य आदि संसारी जीवों और मुक्त जीवोंमें भी पारिणामिकभाव स्थित हो रहे हैं। चैतन्य, जीवत्व, द्रव्यत्व, अस्तित्व आदि पारिणामिक भावोंसे भी जीवका ज्ञान होता है। अतः पहिला हेतु भी यहां कथंचित् लागू हो जाता है।

न चैषां द्वन्द्वनिर्देशः सर्वेषां सूरिणा कृतः।
क्षायोपशमिकस्यैव मिश्रस्य प्रतिपत्तये ॥ १२ ॥
नानर्थकश्च शब्दोसौ मध्ये सूत्रस्य लक्ष्यते।
नाप्यंते द्व्यादिसंयोगजन्मभावोपसंग्रहात् ॥ १३ ॥
क्षायोपशमिकं चांते नोक्तं मध्येत्र युज्यते।
ग्रन्थस्य गौरवाभावादन्यथा तत्प्रसंगतः ॥ १४ ॥
निरवद्यमतः सूत्रं भावपंचकलक्षणम्।
प्रख्यापयति निःशेषदुराशंकाविवेकतः ॥ १५ ॥

यहां किसीका आशंका है कि इस सूत्रमें " औपशमिकक्षायिकौ मिश्रः—औदयिकपारिणामिकौ " यों पदोंके टुकडे नहीं कहकर " चार्थे द्वन्द्व " इस सूत्र करके पांचों पदोंका द्वन्द्व करते हुये श्री उमास्वामी महाराजको औपशमिकक्षायिकमिश्रौदयिकपारिणामिका इस प्रकार लघुनिर्देश करना, चाहिये था। यों कहनेसे दो बार च शब्द नहीं करना पडता है। इसके उत्तरमें श्री विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि औपशमिक और क्षायिक इन दो भावोंसे अतिरिक्त अन्य भावके साथ मिश्रपना न बन बैठे, किन्तु क्षय और उपशमका ही मिश्र होकर क्षायोपशमिक बने इसकी प्रतिपत्तिके लिये श्री उमास्वामी आचार्यने इन सब पांचों पदोंका एक साथ द्वन्द्वनिर्देश नहीं किया है। अतः एव सूत्रके मध्यमें पडा हुआ वह च शब्द भी व्यर्थ नहीं दीखता है। क्योंकि च शब्दके होते संते ही मिश्र शब्द करके पूर्वमें कहे गये क्षय और उपशमका अनुकर्षण हो जाता है। अन्तमें पडा हुआ दूसरा च शब्द भी व्यर्थ नहीं है। क्योंकि उस च का अर्थ कण्ठोक्त नहीं कहे गये इतर भावोंका समुच्चय करना है। जिससे कि दो, तीन, आदि भावोंके संयोगसे उत्पन्न हुये सान्निपातिक भावोंका यथायोग्य संग्रह हो जाता है। छब्बीस, छत्तीस, इकतालीस, इत्यादिक दो आदिके संयोगसे होनेवाले भाव ऋषि आम्नाय अनुसार माने गये हैं। जैसे कि मनुष्यगति कर्मके उदयसे मनुष्य होता हुआ जीवत्व परिणामको

धारनेवाला मनुष्य जीव औदयिक पारिणामिक द्विसंयोगीभाव है या क्षायिकसम्यग्दृष्टि, श्रुतज्ञानी, यह द्विसंयोगी भाव क्षायिकक्षायोपशमिकका सन्निपात है। अथवा उपशांतमोह, क्षायिकसम्यग्दृष्टि, मनुष्य यह त्रिसंयोगी औपशमिक, क्षायिक, औदयिक, इन तीन भावोंके समुदायसे जन्य है। तथा क्षीणकषाय, मतिज्ञानी, भव्य, मनुष्य, यह चतुःसंयोगी भाव क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक, औदयिक, इन चार भावोंके समुदायसे उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार पांचवां क्षायिक सम्यग्दृष्टि, उपशांतमोह, पंचेन्द्रिय, मनुष्य, जीव, यह पंच संयोगभाव क्षायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक पांचों भावोंके सन्निपातसे उपजा है। इन सब सम्पूर्ण भावोंका च शद्धसे संग्रह कर लिया जाता है। पहिले च शद्धको नहीं कह कर क्षायोपशमिक शद्धके कह देनेसे ग्रन्थका गौरव हो जाता है। मिश्रश्च इन तीन वर्णोंके स्थानपर क्षायोपशमिक ये छह मात्रा वर्ण कहने पडते हैं। अतः ग्रंथके गौरव दोषका अभाव हो जानेसे औपशमिक और क्षायिकके अन्तमें और इस सूत्रके मध्यमें क्षायोपशमिक शद्ध नहीं कहना युक्त है। अन्यथा यानी क्षायोपशमिक शद्धको कंठोक्त करनेपर उस ग्रन्थ गौरव दोषका प्रसंग बना रहेगा। अतः यह सूत्र पांचों भावोंके लक्षणको निर्दोष होकर बढिया बखान रहा है। क्योंकि समस्त खोटी शंकाओंका पृथग्भाव कर दिया जाता है। अथवा सम्पूर्ण खोटी शंकाओंके विवेचनका अवसर ही नहीं रह पाता है।

अथौपशमिकादिभेदसंख्याख्यापनार्थं द्वितीयं सूत्रम्—

अब औपशमिक, क्षायिक, आदि भावोंके भेदोंकी संख्याको प्रसिद्ध करानेके लिये श्री उमास्वामी महाराज दूसरे सूत्रको कहते हैं।

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २ ॥

पूर्व उक्त औपशमिक आदि भावोंके यथाक्रमसे दो, नौ, अठारह, इक्कीस, और तीन भेद हैं। स्वपदार्थप्रधान समास करनेपर और अर्थके वशसे पूर्वसूत्रोक्त प्रथमान्त पदोंको षष्ठी विभक्ति अन्तकर देनेसे अर्थ हो जाता है। किन्तु " न कर्मधारयः स्यान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेदर्थप्रतिपत्तिकरः " इस नियम अनुसार बहुव्रीहि समासको प्रथम अवसर मिलनेपर तो दो भेदवाला औपशमिक है। नौ भेद वाला क्षायिक है, इत्यादि यह अर्थ सुन्दर है। अन्यपदार्थप्रधान समास वृत्ति करनेपर तो प्रथमान्त पदोंके साथ ही इस सूत्रका सम्बन्ध कर लेना चाहिये।

द्व्यादीनां भेदशद्वेन वृत्तिरन्यपदार्थिका।
द्वंद्वभाजां भवेदत्र स्वाभिप्रेतार्थसिद्धितः ॥ १ ॥

यहां द्वौ च नव च अष्टादश च एकविंशतिश्च त्रयश्च " द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रयः " इस प्रकार द्वन्द्व समास वृत्तिको धारनेवाले द्वि नव आदि शब्दोंकी भेद शब्दके साथ अन्य पदार्थको प्रधान सम-

शानेवाली बहुव्रीहि समासवृत्ति हो जाय तभी निजको अभीष्ट हो रहे अर्थकी सिद्धि हो सकेगी। अर्थात् पूर्वसूत्रोक्त प्रथमान्त पदोंके साथ इस सूत्रके प्रथमान्त " भेदा " पदका सामानाधिकरण्य बनकर क्रम अनुसार भेदसंख्या गिना दी जाती है।

प्रत्येकं भेदशद्धस्य समाप्तिर्भुजिवन्मता।
यथाक्रममिति स्यातेप्यक्रमस्य निराक्रिया ॥ २ ॥

जैसे ग्राममें अधिक दूषित कीच कूडा इकट्ठा होनेपर " ग्रामीणं शतेन दण्ड्यन्तां " इस राजाज्ञाके अनुसार ग्रामनिवासी सम्पूर्ण मनुष्योंपर मिलाकर सौ रुपयेका दण्ड किया गया है। एक एक मनुष्यको सौ सौ रुपयेसे दण्डित नहीं किया गया है, तथा " देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यन्तां " यहां एक व्यक्तिकी उदर तृप्ति कराने योग्य भोजनको तीनोंमें बांट दो यह अर्थ अभीष्ट नहीं है। किन्तु तीनोंको न्यारे न्यारे तृप्तिपूर्वक भरपेट भोजन कराना अर्थ अभीष्ट हो रहा है। अतः भोजनके समान यहां सूत्रमें द्वि, नव, आदि शद्बोंमेंसे प्रत्येक संख्येय वाचक शब्दके साथ भेद शब्दकी परिपूर्णरूपसे प्राप्ति हो जाना मानी गयी है। " द्वन्द्वादौ द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणपदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते " इस नियम अनुसार भेद शब्द सबके साथ लग जाता है। तथा इस सूत्रमें " यथाक्रमम् " इस प्रकार स्पष्ट कथन करनेपर तो अक्रमका निराकरण भी हो जाता है। अर्थात् पूर्वमें उच्चारे गये औपशमिकके दो भेद आदि क्रम अनुसार समझे जायेंगे। व्यतिक्रमसे औपशमिकके नौ या अठारह भेद अथवा क्षायिकके तीन या इक्कीस भेद नहीं समझे जा सकेंगे।

तथा च सत्येतदुक्तं भवति औपशमिको भावो द्विभेदः क्षायिको नवभेदः मिश्रोऽष्टादशभेदः औदयिक एकविंशतिभेदः पारिणामिकस्त्रिभेद इति ॥

एवं जिस प्रकार वृत्ति और प्रत्येक के साथ भेद शब्द की समाप्ति कर देने पर तथा यथाक्रम कह देने पर सूत्रकार द्वारा यह मन्तव्य कहा जा चुका हो जाता है कि औपशमिक भाव दो भेदवाला है, नौ भेदवाला क्षायिक है, अट्ठारह भेदों को धारनेवाला मिश्रभाव है, इक्कीस भेदों को लिये हुये औदयिक भाव है, तीन भेद युक्त पारिणामिक है। यहांतक सूत्रका सन्दर्भित अर्थ श्री विद्यानन्द आचार्य द्वारा संगति प्राप्त कर दिया है।

तत्रौपशमिकभेदद्वयप्रचिख्यापयिषया तृतीयसूत्रमाह।

उन द्वितीय अध्यायके सात सूत्रोंमेंसे अब औपशमिक भावके दोनों भेदोंकी अच्छा प्रसिद्ध करानेकी अभिलाषासे श्री उमास्वामी महाराज अब तीसरे सूत्रको स्पष्ट कहते हैं।

सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ४ मिथ्यात्व ५ सम्यङ्मिथ्यात्व ६ सम्यक्त्व ७ इन पांच छह या सातों प्रकृतियोंका उपशम होजानेपर औपशमिक सम्यक्त्व भाव उपजता है और चारित्र मोहनीय कर्मकी इक्कीस प्रकृतियोंका उपशम कर देनेपर उपशम चारित्र होता है। औपशमिक भावके ये दो भेद हैं। एक उपशम सम्यक्त्व दूसरा उपशमचारित्र।

औपशमिकस्य द्वौ भेदावित्यभिसंबंधः सामर्थ्यात्। तत्र दर्शनमोहस्योपशमादौपशमिकसम्यक्त्वं, चारित्रमोहोपशमादौपशमिकचारित्रं।

सूत्रमें यद्यपि "द्वौ भेदौ" ऐसा कहा नहीं है। तो भी यथाक्रमके अन्वयकी सामर्थ्यसे औपशमिक भावके ये दो भेद हैं यों उद्देश्य विधेयदलका दोनों ओरसे सम्बन्ध होजाता है। उन दोनों भेदोंमें अनन्तानुबन्धी चार कषायोंको साथ रखते हुये दर्शन मोहनीय कर्मके उपशम हो जानेसे औपशमिक सम्यक्त्व होता है और स्वकीय पुरुषार्थजन्य परिणामोंद्वारा चारित्र मोहनीय कर्मका अन्तरकरण उपशम होजानेपर उपशम प्रयोजनवाला चारित्र प्रकट हो जाता है। प्रथमोपशमसम्यक्त्वके लिए दर्शन मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोंका प्रशस्त उपशम और अनन्तानुबन्धी कषायोंका अप्रशस्त उपशम होता है। जहां विवक्षित पौद्गलिक प्रकृति उदय होने योग्य नहीं होती हुई स्थिति, अनुभाग, शक्तियोंके उत्कर्षण, अपकर्षणके अयोग्य होकर संक्रमण होने योग्य भी नहीं होय, वहां उस प्रकृतिका प्रशस्त उपशम माना जाता है, और जो प्रकृति उदय आने योग्य तो नहीं होय, किन्तु उसका स्थिति या अनुभाग घट बढ जाय अथवा संक्रमण आदि हो सके, वहां उस प्रकृतिका अप्रशस्त उपशम कहा जाता है। सर्वघाती अनन्तानुबन्धीकी चार प्रकृतियोंमें स्वरूपाचरण चारित्र और सम्यक्त्व इन दोनों गुणोंके विघातनेकी शक्ति है।

दर्शनमोहस्य चारित्रमोहस्य चोपशमः कथं कचिदात्मनि सिद्ध इति चेदुच्यते।

यहां कोई पण्डित पूर्वपक्ष उठाता है कि किसी किसी आत्मामें दर्शनमोहनीयकर्म और चारित्रमोहनीय कर्मका उपशम हो जाना किस प्रमाणसे किस प्रकार सिद्ध है? बताओ, इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य करके अनुमान प्रमाण द्वारा उपशमकी सिद्धि कही जाती है।

पुंसि सम्यक्त्वचारित्रमोहस्योपशमः क्वचित्।
शांतप्रसत्तिसंसिद्धेर्यथा पंकस्य वारिणि ॥ १ ॥

किसी एक विवादापन्न आत्मामें (पक्ष) सम्यक्त्वमोहनीयकर्म और चारित्रमोहनीय कर्मका उपशम हो रहा है। (साध्य)। क्योंकि शान्तिको प्राप्त होकर होनेवाली प्रसन्नताकी भले प्रकार सिद्धि हो रही है। (हेतु)। जैसे समलजलमें मलके दब जानेपर कीचका उपशम हो रहा है। (अन्वयदृष्टान्त)। भावार्थ– रोग या दरिद्रतासे घिर जानेपर चित्तमें व्याकुलता उपजती है। किन्तु उनके प्रतिपक्ष औषधि मंत्रप्रयोग, धनप्राप्ति आदि कारणोंसे रोग या दरिद्रताका उपशम होते हुये चित्त प्रसन्न हो जाता है। उसी

प्रकार मोहनीयकर्मके उदय होनेपर आत्मामें सम्यग्दर्शन और चारित्र नहीं हो पाते हैं। जलमें कीचके दबजाने समान उक्त कर्मोंका उपशम हो जानेपर देव, शास्त्र, गुरु श्रद्धान या तत्त्वार्थश्रद्धान अथवा स्वानुभूतिस्वरूप सम्यग्दर्शन हो रहा प्रतीत हो जाता है। तथा भोगोंमें उपेक्षा, स्वरूपाचरण, व्रत-धारण और बहिरंग अन्तरंग सांसारिक क्रिया निरोधरूप चारित्र हो रहा अनुभूत हो जाता है। इस प्रकार प्रकृत साध्यके साथ प्रकृत हेतुकी व्याप्तिको अपनी आत्मामें निर्णीत कर विवादग्रस्त पुरुषमें साध्य को साध लिया जाता है।

यथैव हि जले सपंके कुतश्चित्प्रसन्नता सा च साध्यमाना पंकस्योपशमे सति भवति नानुपशमे कालुष्यप्रतीतेः, नापि क्षये, शांतत्वविरोधात्। तथात्मनि सम्यक्त्वचारित्रलक्षणा प्रसन्नता सत्येव दर्शनचारित्रमोहस्योपशमे भवति, नानुपशमे, मिथ्यात्वासंयमलक्षणकालुष्यो-पलब्धेः, । न क्षये, तस्याः शांतत्वविरोधादिति युक्तं पश्यामः।

कारण कि जिस ही प्रकार कीचसे सहित हो रहे जलमें किसी भी कारणसे स्वच्छता हो जाती है और वह निर्मलता साध्य कोटिपर यदि लाई जाय तो कीचके उपशम (नीचे दब) हो जानेपर हो जाती है। कीचके नहीं उपशम होनेपर तो जलकी प्रसन्नता नहीं साधी (बनाई) जा सकती है। क्योंकि कीचके धुल जानेपर तो जलमें मलमिश्रणरूप कलुषताकी प्रतीति हो रही है। तथा कीचका समूलचूल क्षय हो जानेपर भी वह उपशम हो जानेपर उपजनेवाली प्रसन्नता नहीं सधपाती है। क्योंकि शांतपनेका विरोध होगा। अर्थात् प्रतिपक्षका क्षय हो जानेपर क्षायिकभाव भले ही हो जाय, किंतु औपशमिकभाव नहीं हो सकता है। एक मनुष्यका धन सर्वथा निवट गया है। भविष्यकालमें भी धन आनेकी आशा नहीं है। दूसरे मनुष्यके पास धन विद्यमान तो है किंतु वर्तमानमें उस धनका कोई उपयोग नहीं हो रहा है। सम्भवतः भविष्यमें उस धनका उपयोग किया जा सके, यहां पहिले मनुष्यसे दूसरे पुरुषके परिणामोंमें महान् अंतर है। पहिलेमें क्षीणता है। दूसरेमें चित्तकी शांति है। क्षय दशामें शांति होनेका विरोध है। तिस ही प्रकार किसी आत्मामें सम्यक्त्व स्वरूप और चारित्रस्वरूप प्रसन्नता हो रही है, वह दर्शनमोहनीयकर्म और चारित्र मोहनीय पौद्गलिक कर्मके उपशम होनेपर ही होती है। जबतक उन कर्मोंका फल देनेकी सामर्थ्यका प्रकट नहीं होना रूप उपशम नहीं होगा, तबतक आत्मामें वह श्रद्धान और स्वात्मस्थितिरूप प्रसन्नता नहीं प्रगटती है। कर्मोंका उपशम नहीं होनेपर यानी उदय हो जानेपर तो मिथ्यादर्शन और असंयमरूप कलुषपने [पाप] का सम्वेदन होता रहता है। दर्शनमोहनीय या चारित्र मोहनीयके क्षय होनेपर वह उपशम साध्य प्रसन्नता नहीं बन सकती है। क्योंकि उपशम प्रयोजनको धारनेवाली जीवकी प्रसन्नतामें शांतिका अनुभव है किंतु कर्मोंका क्षय हो जानेपर उपजनेवाली जीवकी स्वच्छतामें शांतपनेका विरोध है। क्षायिक भावमें शांतिका अनुभव नहीं होता है। अतः इस उक्त कथनको हम युक्तियोंसे उपालब्ध पूर्ण हो रहा देख रहे हैं। कोई कोर कसर नहीं है।

कुतः पुनः प्रसन्नता तादृशी प्रसिद्धात्मन इति चेदिमे ब्रूमहे ।

श्री विद्यानन्द स्वामीके प्रति किसी पंडितका प्रश्न है कि पूर्व में कहे गये अनुमानका हेतु भला पक्षमें कैसे वर्तता है? बताओ । पक्षमें हेतुके बर्तनेसे वह हेतु असिद्ध हेत्वाभास हो जाता है। अतः यहां पृष्टव्य है कि आत्मामें उस प्रकार शान्तिपूर्वक–होनेवाली प्रसन्नता पुनः किस प्रमाणसे प्रसिद्ध कर ली गयी है? जिससे कि हेतुकी सिद्धी होचुकी होय, इस प्रकारकी जिज्ञासा होनेपर प्रतिवादिभयंकर हम थे विद्यानन्द स्वामी उसके समाधानको कहते हैं । अभिमानी दूसरे कुतर्कीका सकटाक्ष प्रश्न होनेपर विद्वान् वादी द्वारा उत्तर देते समय आत्मगौरवकी रक्षा करते हुये अपनी आत्माको पूज्य समझकर बहु वचनान्त इदं शद्बके साथ अस्मद् शद्बका सामानाधिकरण्य कर दिया जाता है तभी निरभिमान होता हुआ प्रतिवादी उत्तर सुननेके लिये सादर आभिमुख होकर वादीके गाम्भीर्य और अपनी तुच्छवृत्तिका अनुभव कर पाता है। अन्यथा नहीं । जैसे माता और पुत्रके वचन व्यवहार या दाता और अतिथिका वाक्प्रवृत्तिका अनुपम प्रेम या सभाकी आदरके साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, उसी प्रकार प्रवक्ताके सगौरव सागेप वक्तव्यका प्रतिपाद्यकी प्रबुद्धि होनेके साथ अचिन्त्य कार्यकारणभाव नियत है । इसमें विनय, शिष्टाचार, नीचर्वृत्ति इन गुणोंकी क्षति होजानेकी सम्भावना नहीं है । हम क्या करें परिणामिपरिणाम सम्बन्ध अटल है ।

यो यत्कालुष्यहेतुः स्यात्स कुतश्चित् प्रशाम्यति ।
तत्र तोये यथा पंकः कतकादिनिमित्ततः ॥ २ ॥

जो पदार्थ जिस किसी परिणामके कलुषता यानी साकुलता (गंदलापन) का हेतु होगा, वह किसी न किसी अनिर्वचनीय विरोधी कारणसे वहां उपशान्त (दब) होजाता है, जैसे कि कीच, घुले हुये उस मैले जलमें कतक फल, निर्मेली, फिटकिरी, आदिक निमित्त कारणोंसे घुला हुआ कीचड भले प्रकार नीचे दबकर बैठ जाता है इस प्रकार अन्वयव्याप्तिपूर्वक हुये, अनुमानद्वारा सम्यक्त्व या चारित्रके प्रतिपक्षी कर्मोकी निजशक्तिका व्यक्त न होना रूप उपशम साध दिया गया है ।

न चाभव्यादिकालुष्यहेतुना व्यभिचारिता ।
कुतश्चित्कारणात्तस्य प्रशमः साध्यते यथा ॥ ३ ॥
न च तत्प्रशमे किंचिदभव्यस्यास्ति कारणं ।
तद्भावे तस्य भव्यत्वप्रसंगादविपक्षता ॥ ४ ॥

यहां कोई उक्त व्याप्तिमें व्यभिचार दोषको उठाता है कि अभव्य अथवा दूर भव्य इस प्रकारके सर्वदा मिथ्यादृष्टि बने रहनेवाले जीवोंकी कलुषताके कारणसे व्यभिचार हुआ । अर्थात् —

अनाद्यनन्त मिथ्यादृष्टि जीवोंकी कलुषताके कारणभूत अनन्तानुबन्धी और दर्शनमोहनीय प्रकृतियोंका भी उपशम हो जाना चाहिये। कोई भी किचडैला जल होय, फिटकिरी आदिके निमित्तसे उसकी कीचड दब ही जाती है। हेतुदल रह गया और साध्य दल नहीं रहा अतः व्यभिचार हुआ, अब आचार्य समाधान करते हैं कि यह तो दोष नहीं उठाना। जिस कारणसे कि हमने किसी न किसी प्रतिपक्ष कारणसे उस कलुषताके हेतुका प्रशम होना साध्य कोटिमें रखा है, अनाद्यनन्त कालतक मिथ्यादर्शनको धारनेवाले जीवोंके उन भव्यत्व, अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, काललब्धि आदिक निमित्तोंकी प्राप्ति ही नहीं हो पाती है। अभव्य जीवमें भव्यत्व परिणाम, करणत्रय, नहीं हैं। दूर भव्यको निमित्तोंकी प्राप्तिका अवसर हाथ नहीं लग पाता है। जिन भव्योंका भी संसार अवस्थान काल अर्द्ध पुद्गल परिवर्तनमें अधिक अवशिष्ट है उनको भी आजतक कलुषताके उपशामक निमित्तोंकी प्राप्ति नहीं हुई है। निमित्तप्राप्ति हो जानेपर कलुषताके कारणोंका उपशम हो जानेको हमने व्याप्तिके पेटमें डाला है। अतः हेतुके नहीं ठहरनेपर साध्यका भी नहीं ठहरना यहां घटित हो जाता है। अतः व्यभिचार दोष नहीं आता है। कितनी ही भूमि, पोखर, सरोवर, पर्वत-कन्दराओं आदि अनेक स्थानोंपर किचरैले जल भरे हुये हैं। निमित्तकारणोंकी प्राप्तिका अवसर नहीं मिलनेसे वे सपङ्क ही बने रहते हैं। अतः प्रतिकूल कारणोंकी प्राप्ति हो जानेपर कलुषताका उपशम हो जाना हम साध रहे हैं। अभव्य जीवके पास उन कलुषताके हेतु हो रहे कर्मोंके प्रशम करनेमें निमित्तभूत कोई कारण नहीं है। यदि अभव्यको भी उन कारणोंके सद्भावकी प्राप्ति मानी जायगी तब तो उसको भव्यपनेका प्रसंग हो जायगा। ऐसी दशामें वह अभव्य जीव तो प्रकृत व्याप्तिका विपक्ष नहीं ठहर सकता है अर्थात् अभव्यरूप विपक्षमें साध्यके बिना हेतुके ठहर जानेसे व्यभिचार दोष उपस्थित किया गया था "विपक्षवृत्तिरनैकान्तिकः" यदि अभव्यके भी पांच या सात प्रकृतियोंका उपशम होने लगे तब तो व्यभिचार स्थल माने गये अभव्यकी, विपक्षपना न होकर सपक्षता आ ही जाती है। अतः व्यभिचारदोष उठाना ही असंगत होजायगा।

स्वयं संविद्यमाना वा सम्यक्त्वादिप्रसन्नता।
सिद्धात्र साधयत्येव तन्मोहस्योपशांतताम् ॥ ५ ॥

अथवा कर्मोंके उपशमको साधनेका सरल उपाय यह है कि वह सम्यग्दर्शन स्वरूप या उपशमचारित्र रूप इस ढंगकी प्रसन्नता स्वयं हमारी आत्मामें स्वसम्वेदन प्रत्यक्षद्वारा जानी जारही सिद्ध है, वही प्रसन्नता यहां किसी विवक्षित आत्मामें उस मोहनीय कर्मके उपशम होजानेको अनुमान-द्वारा सिद्ध कर ही देती है। भावार्थ—ज्वर, अजीर्णदोष या मलके दूर होजानेपर आत्मामें जो प्रसन्नता अनुभूत होती है उसीके अनुसार दूसरेमें भी दोषोंके उपशम होनेपर हुई प्रसन्नताका अनुमान कर लिया जाता है। वैसे ही तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन अथवा स्वात्मनिष्ठारूप चारित्रका प्रतिपक्षी

कर्मोंके उपशम होनेपर उपजनेवाले स्वसंवेदन कर अन्य जीवोंमें भी दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीयके उपशमको लाभ लिया जाता है ।

ततो युक्तिमानौपशमिको भावो द्विभेदतः ।

जिस कारणसे सम्यक्त्व और चारित्र इन दो भेदोंसे औपशमिकभाव युक्तिपूर्ण होता हुआ समझा दिया गया है ।

तथा क्षायिको नवभेदः ।

तथा दूसरा क्षायिकभाव नौ भेदवाला है ।

कथमिति प्रतिपादनार्थं चतुर्थं सूत्रमाह ।

वह क्षायिक भाव किस प्रकार नौ भेदोंको धारण कर रहा है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज शिष्यको समीचीन प्रतिपत्ति करानेके लिये द्वितीय अध्यायमें चौथे सूत्रको स्पष्ट कह रहे हैं । उसको समझिये ।

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥

ज्ञान १ दर्शन २ दान ३ लाभ ४ भोग ५ उपभोग ६ वीर्य ७ और सम्यक्त्व ८ चारित्र ९ इस प्रकार ये क्षायिकभावके नौ प्रकार हैं ।

च शब्देन सम्यक्त्वचारित्रे समुच्चीयेते । ज्ञानावरणक्षयात् क्षायिकज्ञानं केवलं, दर्शनावरणक्षयात्केवलदर्शनं, दानान्तरायक्षयादभयदानं, लाभांतरायक्षयाल्लाभः, परमशुभपुद्गलादानलक्षणः परमौदारिकशरीरस्थितिहेतुः, भोगांतरायक्षयाद्भोगः, उपभोगांतरायक्षयादुपभोगः, वीर्यांतरायक्षयादनंतवीर्यं, दर्शनमोहक्षयात्सम्यक्त्वं, चारित्रमोहक्षयाच्चारित्रमिति नवैते क्षायिकभावस्य भेदाः ।

च अव्ययके कई अर्थोंमेंसे यहां प्रकरण अनुसार समुच्चय अर्थ लिया गया है । इस सूत्रमें कहे गये च शब्द करके पूर्वसूत्रमें कहे जा चुके सम्यक्त्व और चारित्रका समुच्चय (इकट्ठा करना) किया जाता है । अतः सात और दो नौ भेद क्षायिक भावके हो जाते हैं । तेरहवें गुणस्थानके आदिमें ज्ञानावरण कर्मोंका क्षय हो जानेसे क्षय इस प्रयोजनको धारनेवाला सर्वज्ञ भगवान्के केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है । बारहवें गुणस्थानके अन्तमें ज्ञानावरणका उदय विद्यमान है । उस समय अवशिष्ट घाती कर्मोंको क्षय करनेवाली पर्यायशक्ति प्रकट हो जाती है । वह उत्तर क्षण यानी तेरहवें गुणस्थानके आदि समयमें कर्मोंका नाश कर क्षायिकलब्धियोंको जन्म देती है । दर्शनावरण कर्मके आत्यन्तिक क्षयसे सत्ताका आलोचन करनेवाला केवलदर्शनभाव उपजता है २ । दानान्तराय कर्मके क्षयसे अनंत

प्राणियोंका अनुग्रह करनेवाला अभयदान भाव होता है ३ । लाभान्तरायके अत्यन्त क्षयसे क्षायिक लाभ होता है, जिसका कि स्वकीय परमौदारिक शरीरकी स्थितिके कारणभूत परमशुभ सूक्ष्म अनन्त पुद्गलोंका ग्रहण करना है, अर्थात्—केवल आहारको छोड चुके केवली भगवान्‌के शारीरिक सम्पत्तिके उपादान कारण असाधारण पुद्गल वर्गणाओंकी प्राप्ति होते रहना क्षायिक लाभ है । बात यह है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय ये कर्म आत्माकी पर्यायोंका आवरण करनेवाले हैं । आत्मामें अनाद्यनन्त जडे हुये अन्वयी गुण हो रहे चेतना और वीर्य इन दो गुणोंकी ये उपर्युक्त पर्याय हैं । अतः सूर्यप्रकाशमें गतार्थ हो रहे तारागणोंके प्रकाश समान केवलदर्शनका परिणमन भी युगपत् केवलज्ञान आत्मक हो रहा है, जैसे कि सिद्ध अवस्था हो जानेपर एक वीर्य गुणकी शुद्ध एक अनन्तवीर्य नामक पर्यायमें अनन्तदान, लाभ, भोग, उपभोग इनका अन्तर्भाव या चित्र आत्मक परिणति हो जाती है । क्रोधी, मानी, शोकी, अरतिग्रस्त संसारी जीवोंके भी एक चारित्र गुणकी चितकबरी विभाव परिणति होती रहती है । एक ज्ञानकी अनेक विकल्पनाओंके समान एक गुणकी चित्रात्मक परिणतियां हो जातीं हैं । अनन्त प्राणियोंको अनुग्रह देना, शरीर बलाधायक पुद्गलोंका लाभ होना, पुष्पवृष्टि, सिंहासन आदिका भोगोपभोग होना ये तो सब आनुषंगिक फल हैं । सिद्ध अवस्थामें नहीं भी पाये जांय तो भी क्षायिक भावोंका अनुद्भूत चित्र परिणाम होना अनिवार्य है ४ । तथा भोगान्तराय कर्मोंके क्षयसे भगवानके क्षायिक भोगनामक तत्त्व उपजता है ५ । परिपूर्ण उपभोगान्तरायके क्षयसे उपभोग भाव प्राप्त होता है ६ । वीर्यान्तरायके क्षयसे अनन्तवीर्य नामक पर्याय शक्ति उपजती है ७ । दर्शन मोहनीयके क्षयसे क्षायिक सम्यग्दर्शन ८ और चारित्र मोहनीयके क्षयसे क्षायिक चारित्र बन जाता है ९ । यद्यपि चौथेसे सातवेंतक किसी भी गुणस्थानमें क्षायिक सम्यग्दर्शन तथा बारहवेंके आदिमें क्षायिक चारित्र अनन्तकालतकके लिये हो चुका है, फिर भी उक्त दो गुणोंमें अन्य घातिया कर्मों के उदयकी सहचरतासे कुछ प्रासंगिक अपरिपूर्णतायें रहीं आती ह तथा उक्त दो गुणोंमें अघाति कर्मोंके सम्बंधसे भी त्रुटियां उपज जाती हैं । अतः सम्यग्दर्शन और चारित्रकी परिपूर्णता चौदहवें गुणस्थानके अन्त समयमें मानी गयी है । हां इन दो गुणोंके सिवाय शेष केवल ज्ञान, अनन्त वीर्य, सुख, आदि गुण जब व्यक्त उपजते हैं तभीसे उनकी परिपूर्ण अवस्था हो चुकी रहती है । उत्कृष्ट अनन्तानन्त प्रमाण केवलज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेद एक बार उपजकर पुनः घटते बढते नहीं हैं । अगुरुलघु गुणमें अविभाग प्रतिच्छेदोंकी हानि वृद्धियां होती हैं । उसके द्वारा अन्य तदात्मक गुणोंमें भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, स्वरूप सत्त्व माना जाता है सर्वत्र छह गुण हानि और वृद्धियां होतीं रहें ऐसा कोई नियम नहीं है । इसी प्रकार अपने नियत संख्यावाले अविभाग प्रतिच्छेदोंको धारनेवाले वीर्य, सुख आदिसें समझ लेना । इस प्रकार ये नौ क्षायिक भावके भेद बता दिये गये हैं ।

कुतः पुनर्ज्ञानावरणादीनां क्षयः सिद्ध इत्याह ।

किसीका प्रश्न है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, दानान्तराय, आदि कर्मोंका क्षय भला किस कारणसे अथवा किस प्रमाणसे सिद्ध किया जायगा ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधानको कहते हैं ।

आत्यंतिकः क्षयो ज्ञानदर्शनावरणस्य च ।
सांतरायप्रपंचस्यानंतशुद्धिप्रसिद्धितः ॥ १ ॥

अन्तराय कर्मके भेद प्रभेदके विस्तारसे सहित होरहे ज्ञानावरण कर्म और दर्शनावरण कर्मका आत्यन्तिक क्षय होरहा है । क्योंकि अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेदोंको धारनेवाली आत्मविशुद्धिकी प्रमाणोंद्वारा सिद्धी होरही है अर्थात्—आत्मामें अनन्त शुद्धिके प्रसिद्ध होजानेसे उसके प्रतिपक्षभूत ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंका कालत्रय संसर्गाविच्छिन्न समूलचूलनाश होजाता है । वर्तमान कालमें भी इन कर्मोंका एक अवयव भी शेष नहीं रहता है और भविष्य कालमें भी उक्त घातिया कर्मोंका लवमात्र संसर्ग नहीं हो पाता है, जैसे किसी अचूक औषधिसे प्रतिपक्षी रोगका वर्तमान और भविष्य कालमें अंशमात्र भी शेष नहीं रहता है ।

ज्ञानावरणस्य दर्शनावरणस्य च शब्दाद्दर्शनमोहस्य चारित्रमोहस्य चांतरायपंचकसहितस्यात्यंतः क्षयः क्वचिदस्ति, अनंतशुद्धिप्रसिद्धेः ।

किसी विवक्षित आत्मामें [पक्ष] पांच भेदवाले अन्तराय कर्मसे सहित हो रहे ज्ञानावरण कर्म दर्शनावरण कर्म तथा इस सूत्र या कारिकामें पडे हुये च शब्दसे ग्रहण करलिये गये दर्शनमोहनीय कर्म और चारित्र मोहनीय कर्म इनका अत्यन्त क्षय विद्यमान है । (साध्य) । अनन्तानन्तशुद्धिके अंशोंकी प्रमाणों द्वारा सिद्धि हो जानेसे (हेतु) अर्थात् —इस अनुमानसे किसी तेरहवें गुणस्थानवर्ती आत्मामें या अयोगी गुणस्थानमें अथवा सिद्धपरमेष्ठीमें घातियाकर्मोंका क्षय साध दिया जाता है । क्षय किसी विवक्षित समयमें प्रारम्भ होकर अनन्तकालतक स्थिर रहता है । मृत्यु, ध्वंस, या नाशका एक ही अर्थ है । " सादिरनन्तो ध्वंस " । तिन कर्मोंमेंसे अनन्तानुबन्धी चार और दर्शन मोहनीय तीन इन सात प्रकृतियोंका क्षय तो क्षायिक सम्यग्दर्शन होनेके पूर्व समयमें ही किसी चौथे, पांचवें, छटवें, या सातवें गुणस्थानमें हो चुकता है । करणत्रय विधानद्वारा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया लोभोंको अप्रत्याख्यानावरण आदि बारह कषाय या नोकषायरूप परिणमनस्वरूप विसंयोजन करके पश्चात् आत्म पुरुषार्थकी सामर्थ्यसे अनिवृत्तिकरण कालके संख्यातवें भागमें क्रमसे मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्व, प्रकृतियोंका क्षय कर दिया जाता है तथा चारित्रमोहनीय कर्मकी अप्रत्याख्यानावरण चार, प्रत्याख्यानावरण चार; नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, हास्यादि छह नो कषाय, पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया, इन बीस प्रकृतियोंका तो नवमें गुणस्थानमें ही क्षय हो चुकता है । दसवें गुणस्थानमें लोभ संज्वलनका क्षय हो जाता है । अतः मोहनीयकी अट्ठाईसों प्रकृतियां दशवें गुणस्थानके अन्ततक

क्षय को प्राप्त हो चुकीं। नवमें गुणस्थानके पहिले भागमें ही दर्शनावरणकी स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, इन तीन प्रकृतियोंका क्षय हो चुकता है। बारहवें गुणस्थानके अन्त समयमें ज्ञानावरणकी पांच, दर्शनावरणकी शेष छह, अन्तरायकी पांच, इस प्रकार सोलह प्रकृतियोंका ध्वंस होता है। (साध्य)। क्योंकि अनन्त आत्मामें हो रही शुद्धि की प्रमाणों द्वारा सिद्धी की जा चुकी है "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस सूत्रकी नब्बासी, नब्बेवीं वार्तिकों के विवरणमें भी इस हेतुदलका स्पष्टीकरण किया है।

तथाहि—

इस अनुमानमें कहे गये अनन्त शुद्धि की प्रसिद्धिरूप हेतुको पुष्ट करनेके लिये ग्रन्थकार अनुमानद्वारा उसीको पुनः साध्य कोटिपर लाकर सिद्ध करते हैं जो कि यों प्रसिद्ध ही है। उसको स्पष्ट समझिये।

शुद्धिः प्रकर्षमायाति परमं क्वचिदात्मनि।
प्रकृष्यमाणवृद्धित्वात्कनकादिविशुद्धिवत् ॥ २ ॥
शुद्धिर्ज्ञानादिकस्यात्र जीवस्यास्त्यतिशायिनी।
भव्यस्य बाधकाभावादिति सिद्धान्तसाधना ॥ ३ ॥
नानैकांतिकमप्येतत्तदशुध्द्या विभाव्यते।
तस्या अपि क्वचित्सिद्धेः प्रकर्षस्य परस्य च ॥ ४ ॥
प्राक्साधितात्र सर्वज्ञज्ञानवृद्धिः प्रमाणतः।
दर्शनस्य विशुद्धिर्वा तत एवाविनाभुवः ॥ ५ ॥

किसी एक आत्मामें हो रही ज्ञान, दर्शन, वीर्य, चारित्र, सम्यक्त्व गुणोंकी शुद्धि (पक्ष) उत्कृष्ट कोटिके प्रकर्षको प्राप्त हो जाती है। (साध्य)। प्रकर्षको प्राप्त हो रही वृद्धिको धारनेवाली होनेसे (हेतु)। सुवर्ण, चांदी, रत्न, आदिकी विशुद्धिके समान (अन्वय दृष्टान्त)। भावार्थ---जैसे अग्नि संताप या तेजाब अथवा शाण, छेनी आदि कारणोंसे सोना, मोती, हीरा आदिमें बढ रही शुद्धि किसी अवस्थामें उस प्रकर्षको पहुंच जाती है, उसी प्रकार संसारी आत्माओंमें अभ्यास, व्यायाम, आचरणसम्पत्ति, क्षयोपशम, मानसिक पवित्रता आदि कारणोंसे ज्ञानकी, चारित्रकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही अनुभूत की जाती है। आकाशमें परिमाणके समान वह किसी न किसी जीवमें परमप्रकर्ष पर्यन्त बढ जाती है। उसी जीवमें प्रतिपक्षी कर्मोंका आत्यन्तिक क्षय हो जाता है। इस अनुमानमें दिये गये हेतुको यों पुष्ट कर लेना चाहिये कि किसी निकट भव्य जीवके ज्ञान, दर्शन आदिक गुणोंकी शुद्धि

(पक्ष) वृद्धि होनेके चमत्कारको धारनेवाली है। (साध्य)। बाधक प्रमाणोंका असम्भव हो जानेसे, (हेतु)। आत्मीय अनुभूत हो रहे सुख या दुःखके समान (दृष्टान्त) इस प्रकार यहां साधनधर्मकी सिद्धि हो जाती है। बाधक प्रमाणोंका असम्भव ही जानेसे ही अतीन्द्रिय गहन सिद्धांतोंकी साधना कर ली जाती है। पक्षमें हेतु ठहर जाता है। अतः असिद्ध हेत्वाभास नहीं है। जिस गुण या पर्यायके अंशोंकी वृद्धि प्रकर्षताको प्राप्त हो रही है, वह कहीं न कहीं जाकर पूर्ण प्रकर्षको प्राप्त हो जाती है। इस व्याप्तिमें पडे हुये हेतुका उसकी अशुद्धि करके व्यभिचार देनेका विचार भी नहीं करना चाहिये। क्योंकि उस अशुद्धिके भी परम प्रकर्षकी किसी आत्मामें भले प्रकार सिद्धि हो रही है। तीव्र मिथ्यादृष्टि अभव्य जीवके निगोद अवस्थामें ज्ञानादिककी अशुद्धि बढते बढते जघन्यज्ञान, जघन्यवीर्य, और अचारित्रपर पहुंच जाती है। क्षायोपशमिक मतिज्ञानकी अतिशयवती हानि केवलज्ञान अवस्थामें पायी जाती है। हमने इस ग्रन्थके पूर्व प्रकरणमें ही सर्वज्ञके ज्ञानकी हुई वृद्धिको प्रमाणोंसे सिद्ध करा दिया है। अथवा तिस ही कारणसे उस ज्ञानके अविनाभावी दर्शनकी विशुद्धिका भी साधन हो चुका समझो। " सूक्ष्मायर्थोपदेशो हि " इस कारिकासे लेकर कितनी ही कारिकाओं तक पहिले ग्रन्थमें हम विवरण लिख चुके हैं। अष्टसहस्रीमें " दोषावरणयोः हानि " इस समन्तभद्री कारिकाके विवरणमें भी अच्छा व्याख्यान कर दिया गया है। यों हेतुमालासे कर्मोंका क्षय सिद्ध हो जाता है।

ततो युक्तः क्षायिको भावो नवभेदः।

तिस कारणसे अनुमानरूप युक्तियोंसे साध दिया गया क्षायिकभाव नौ प्रकारका समुचित है। यद्यपि जैसे असिद्धत्व औदयिकभाव है, उस प्रकार सभी एक सौ अडतालीसों प्रकृतियोंके क्षयसे उत्पन्न हुआ सिद्धत्वभाव भी क्षायिक है, तथापि साधारण होनेसे सिद्धत्वभावको कण्ठोक्त नहीं गिनाया है। विशेषोंका कथन कर देनेपर उनमें साधारणरूपसे ठहरा हुआ सामान्य तो विना कहे ही आ टपकता है।

क्षायोपशमिकोऽष्टादशभेदः कथमिति तत्प्रतिपादनार्थं पंचमं सूत्रमाह।

तीसरे क्षायोपशमिकभावके अठारह भेद किस प्रकार हैं ? इस प्रकार शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर उन क्षयोपशम प्रयोजनको धारनेवाले जीवतत्त्वोंकी शिष्योंके प्रति प्रतिपत्ति करानेके लिये श्री उमास्वामी महाराज द्वितीयाध्यायमें पांचवें सूत्रका परिभाषण कर रहे हैं।

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः सम्यक्त्व-चारित्रसंयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ये चार ज्ञान और कुमति, कुश्रुत, विभंग ये तीन अज्ञान तथा चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधि दर्शन ये तीन प्रकारके दर्शन एवं दान, लाभ, भोग, उपभोग,

वीर्य ये पांच लब्धियां इस ढंगसे पिण्ड भावोंके पन्द्रह भेद हुये तथा देशघाति सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होनेपर चौथेसे सातवें गुणस्थानतक पाया जानेवाला वेदक सम्यक्त्व तथा संज्वलनकी चौकडीमेंसे किसी एकका और नो कषायोंमेंसे यथासम्भव तीन, चार, पांच प्रकृतियोंका उदय होनेपर क्षायोपशमिक चारित्र होता है। एवं पांचवें गुणस्थानमें पाया जानेवाला संयमासंयमरूप भाव है, इस प्रकार पन्द्रह और तीन यों अठारह भेद क्षायोपशमिक भावके हैं।

चत्वारश्च त्रयश्च त्रयश्च पंच च इति चतुस्त्रित्रिपंच एते भेदा यासां ताश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः। कास्ताः? ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयः। यथाक्रममित्यनुवर्तते तेनैवमभिसंबंधः कर्तव्यः। ज्ञानं चतुर्भेदं, अज्ञानं त्रिभेदं दर्शनं त्रिभेदं, लब्धिः पंचभेदा, सम्यक्त्वचारित्र–संयमासंयमाश्च त्रयः क्षायोपशमिकभावस्याष्टादशभेदा इति।

ज्ञान, अज्ञान, दर्शन, लब्धि, इनका इतरेतर योग समासकर पुनः चार और तीन तथा तीन पुनश्च पांच इन संख्यावाचक पदोंका द्वन्द्व करते हुये भेद पदके साथ बहुव्रीहि समासद्वारा यथाक्रम सम्बन्ध करलेना चाहिये। उसका अर्थ यह होता है कि जिन ज्ञान, अज्ञान, दर्शन, लब्धियों के चार, तीन, तीन, पांच, इस प्रकार भेद हैं वे यथाक्रमसे चार भेदवाला ज्ञान, तीन भेदवाला अज्ञान, तीन भेदवाला दर्शन, और पांच भेदवाली लब्धियां हैं। वे भेदवाले पदार्थ कौन हैं? इसका उत्तर पूर्व उद्देश्य दलमें पडी हुयी ज्ञान, अज्ञान, दर्शन और लब्धियां हैं। दूसरे सूत्रमें से यथाक्रम इस पद की अनुवृत्ति कर ली जाती है। तिस करके पदोंका अन्वय कर इस प्रकार उद्देश्य विधेय दलोंका दोनों ओरसे यों सम्बन्ध करलेना चाहिये कि जिसके चार भेद हैं ऐसा ज्ञानतत्त्व क्षायोपशमिक है, तीन भेदवाला अज्ञान क्षायोपशमिक है, मिश्रभावदर्शन तीन भेदोंको धारता है, लब्धियां पांच भेदोंको धार रही हैं और वेदकसम्यक्त्व और छठे, सातवें, गुणस्थानोंमें वर्तरहा क्षयोपशम चारित्र तथा त्रसवधत्यागरूप संयम और स्थावरवधका अत्यागरूप असंयम इस प्रकार कतिपय मनुष्य और तिर्यंच सम्यग्दृष्टियोंके पांचवें गुणस्थानमें हो रहा संयमासंयम भाव है। ये पिछले तीन भाव अपिण्ड हैं। इस प्रकार क्षायोपशमिक भावके अठारह भेद हो जाते हैं।

मत्यादिज्ञानावरणचतुष्टयस्य मत्यज्ञानाद्यावरणत्रयस्य चक्षुर्दर्शनाद्यावरणत्रयस्य च दानांतरायादिपंचकस्य दर्शनमोहस्य चारित्रमोहस्य संयमासंयममोहस्य च क्षयोपशमादुपजायमानत्वात्।

मति आदि चार ज्ञानोंका आवरण करनेवाले मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण इन चारों कर्मोंके क्षयोपशमसे उपज रहे होनेके कारण चार भेदवाला ज्ञान है और कुमति आदि जीवभावोंको रोकनेवाले कुमतिज्ञानावरण, कुश्रुतज्ञानावरण, विभंगज्ञानावरण, इन तीन अवयववाली कर्म प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न हो रहा होनेके कारण अज्ञानके तीन भेद हैं। यहां अज्ञानमें नञ्का अर्थ पर्युदास है। ज्ञान यानी समीचीन ज्ञानोंसे भिन्न होते हुये उन प्रमाणात्मक पांच ज्ञानोंके सदृश हो रहे भाव आत्मक तीन मिथ्याज्ञान भाव तो कुज्ञान

है। यद्यपि सुमति या कुमतिको रोकनेवाला मतिज्ञानावरण एक ही है। फिर भी सम्यक्त्व और मिथ्यात्वके सहचर भावसे उनमें भेद पड जाता है। तथा चक्षुर्दर्शन आदि भावोंको निवारनेवाले चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण इन तीन उत्तर प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे उपज रहा अदर्शनभाव क्षायोपशमिक है। विशेष यह है कि अवधिज्ञानके पहिले अवधिदर्शन होता है। विभंगज्ञानके पूर्वमें तो मतिज्ञान या श्रुतज्ञान है। हां, उन ज्ञानोंके पूर्व या पूर्व पूर्वमें अचक्षुर्दर्शन है। मनःपर्ययज्ञान और विभंगज्ञान दोनोंके अव्यवहित पूर्वमें दर्शन नहीं है। हां दोनोंके पूर्ववर्ती ज्ञानके पहिले अचक्षुर्दर्शन पाया जाता है। अतः विभंग और मनःपर्ययको भी परम्परासे दर्शनपूर्वक मान लेते हैं। जैसे कि मतिज्ञानपूर्वक हुये श्रुतज्ञानके अव्यवहित पूर्वमें कोई दर्शन नहीं है। यहां भी परम्परासे दर्शनको पूर्ववर्ती इष्ट किया गया है। श्रुतपूर्वक हुये श्रुतज्ञानमें या उसकी धाराओंमें तो तीन, चार, दश, बीस, कोटिके व्यवधानको लिये हुये पूर्ववर्ती दर्शन माना गया है। तथा दानान्तराय, लाभान्तराय आदि पांच कर्मोंके क्षयोपशमसे उपज रहीं लब्धियां क्षायोपशमिक हैं। दर्शनमोहनीय, चारित्र मोहनीय और संयमासंयम मोहनीय कर्मोंके क्षयोपशमसे उपज रहे होनेके कारण अंतके तीनभाव क्षायोपशमिक हैं।

कुतः पुनरयं मिश्रो भावः स्यादिति चेत् मतिज्ञानावरणादिसर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात्तेषामेव सदुपशमात्तद्देशघातिस्पर्धकानामुदयात् क्षायोपशमिको भावः।

फिर यह तीसरा भाव मिश्र यानी दो, तीनका मिला हुआ परिणाम किस ढंगसे है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर तो हम जैनोंका यह उत्तर है कि सर्वघातिस्पर्धकोंका उदय क्षय अर्थात् – द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अनुसार उदयमें आकर आत्माके अव्यक्त पुरुषार्थ द्वारा आत्माको फल दिये विना ही प्रदेशोदय हो जानारूप क्षय है, अथवा द्रव्यादि चतुष्टयकी योग्यता न मिलनेसे प्रतिपक्षी कर्मोंके उदयका अभाव हो जाना ही यहां क्षय शब्दसे अभिप्रेत है। क्षयोपशम भावमें आत्यन्तिक निवृत्त हो जानारूप क्षय नहीं पकडा गया है। क्षयोपशममें पडे हुये उपशम शब्दसे इस समय उदयमें नहीं प्राप्त हो रहे किन्तु भविष्यकालमें उदय कोटिपर आनेवाले सर्वघातिस्पर्द्धकोंका वहांका वहीं सत्तारूपसे अवस्थित पडे रहना रूप उपशम लिया गया है। अन्यथा उदीरणाका कारण मिल जानेसे भविष्यमें उदय आनेवाली प्रकृतियोंका उदय हो जाना सम्भवता है, ऐसी दशामें " सब गुड गोबर न हो जाय " इसलिये पारिणामिक पुरुषार्थ बलसे उनका उपशम बनाये रहना आवश्यक पड गया है। क्षयोपशम शब्दमें यद्यपि उदय नहीं कहा गया है। फिर भी " तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते " इस परिभाषाके अनुसार देशघातिप्रकृतियोंका उदय भी इस गुणमें माना जाता है। अतः विवक्षित गुणकी सर्वघातिप्रकृतियोंके उदयक्षय और भविष्यमें उदय आनेवाली उन्हींके सदवस्थारूप उपशम तथा देशघातिके उदय ऐसी सामग्रीके मिलनेपर आत्मामें अव्यक्तपुरुषार्थजन्य क्षायोपशमिकभाव उपजता है। क्षायोपशमिकभावका स्वतंत्र कर्त्ता आत्मा तो उपादान कारण है, और क्षय, उपशम, उदय, ये कर्मोंकी अवस्थायें निमित्त हैं। " पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो " इस सिद्धान्त अनुसार आत्माके

बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक पुरुषार्थसे उत्पन्न हुये सम्पूर्ण भावोंमें आत्माको कर्त्तापन प्राप्त है । चौदहवें गुणस्थानके अन्त समयके पश्चात् हुई सिद्ध अवस्थामें तो सर्वदा शुद्ध पुरुषार्थजन्य केवलज्ञान, सिद्धत्व, सम्यक्त्व, अनन्तवीर्य, जीवत्व आदिक भावोंका कर्त्ता आत्मा है, सिद्ध अवस्थावाली मोक्ष तो चारों पुरुषार्थोंमें सबसे बडा परम पुरुषार्थ माना गया है । न्यायपूर्वक भोगोंका भोगनारूप कामपुरुषार्थ, समुचित आजीविकाके उपायों द्वारा धन उपार्जन करनारूप अर्थपुरुषार्थ और दान, पूजन, अध्ययन, ध्यान, क्षमा, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, गुप्ति, समिति, सामायिक, आदि क्रियाओं या परिणामोंको करनारूप धर्मपुरुषार्थ इनसे अत्यधिक पुरुषार्थपूर्वकभाव सिद्ध भगवान्के हो रहे हैं । संसारी जीवोंके दशवें गुणस्थानतक कतिपयभाव इच्छापूर्वक पाये जाते हैं । उनका दृष्टान्त पाकर सभी आत्माके परिस्पन्द और अपरिस्पन्द आत्मक परिणामोंमें भी इच्छाको कारण माननेकी सम्भावना करना मूढता है । भोजन किये गये अन्न, दुग्ध आदिमें आहार वर्गणायें बहुभाग पायी जाती हैं । स्वतंत्र या कुछ कुछ कर्मोंके अधीन हो रहा यह आत्मा पुरुषार्थ द्वारा उनका रस, रुधिर, मांस आदि बनता है । उनको शरीरके यथोचित भागोंमें भेजता है । बालोंको उगाता है, फोडा होनेपर औषधिके निमित्तसे अथवा छोटी छोटी फुंसियां या मक्खी, खटमलोंके घावोंको यों ही बिना औषधियोंके पूर देता है । हंसना, छींकना, श्वास लेना, रक्तसंचार करना आदि सभी क्रियायें पुरुषार्थजन्य हैं । सभी प्रयत्नोंमें इच्छायें कारण नहीं हैं । शरीरसे बहुत परिश्रम करनेवाले किसानकी अपेक्षा यदि बढिया व्याख्यान करनेवाला पण्डित अधिक पुरुषार्थी है और उस व्याख्याताकी अपेक्षा मुकदमा जितानेके लिये अत्यधिक मानसिक परिश्रम कर रहा वकील यदि अति पुरुषार्थी माना जाता है तो उपशमक्षपक श्रेणियोंमें प्रयत्न कर बनाये जारहे सातिशय विचार आत्मक श्रुतज्ञानोंकी धारा प्रवाहस्वरूप शुक्लध्यानमें चित्तको लगानेवाले जीव बडे भारी पुरुषार्थी कहना चाहिये । अतः मोक्षके साधन या संवरनिर्जराके कारण हो रहे आठवें, नवमें, दशवें, ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानोंके परिणामोंमें जितना पुरुषार्थ आवश्यक है उससे भी कहीं अधिक तेरहवें गुणस्थानमें चलने, उपदेश देने और अन्तमें सूक्ष्मक्रिया करते समय पुरुषार्थ करना अनिवार्य है । इससे भी कहीं अधिक चौदहवें गुणस्थानमें प्रयत्न करना पडता है तभी पिचासी प्रकृतियोंका नाश हो पाता है । यहां इच्छायें सर्वथा नहीं हैं । सिद्ध अवस्थामें तो अनन्त कालतक के लिये परमपुरुषार्थ करना अत्यावश्यक हो जाता है । इच्छाके साथ पुरुषार्थका कार्यकारणभाव माननेपर अन्वयव्यभिचार हो रहे देखे जाते हैं । चक्कू या कांचके गड जानेसे शरीरमें रक्तके बहनेपर अथवा बलात्कारकी मलमूत्रबाधा उपस्थित हो जानेपर या ज्वरकी अवस्थामें अथवा पांव रपट जाने या गोत्रस्खलन होनेपर हुये कितने ही इच्छापूर्वक पुरुषार्थोंको शरीरप्रकृति अनुसार परतंत्र परिस्थितिवश हुये अनिच्छापूर्वक पुरुषार्थ नष्ट कर अनचीते कार्योंको साध देते हैं । अर्थात्— रक्तको रोकने अथवा ज्वर (बुखार) के रोकनेवाले इच्छापूर्वक पुरुषार्थोंका व्यापार नहीं हो पाता है, और आत्माके अनिच्छापूर्वक पुरुषार्थोंसे मल निकल जाता है, ज्वर चढ आता है, रक्त बहता रहता

है, पांव रपट जाता है । किसी विवक्षित शब्दके बोलनेकी इच्छा होनेपर दूसरा ही अविवक्षित शब्द मुखसे निकल पडता है । कर्मफलचेतना की अवस्थामें भी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जीवोंको पुरुषार्थ करना अनिवार्य है । भले ही उस पुरुषार्थको करनेमें कर्मोंद्वारा होनेवाली पराधीनता प्रेरक होय, किन्तु प्रयत्न तो आत्माको ही करना पडता है । घोडेके अनुसार अश्ववारको जो प्रयत्न करने पडते हैं । उनका प्रेरक निमित्त घोडा है, किन्तु पुरुषार्थोंका कर्त्ता अश्ववार है एवं अश्ववारके निमित्तसे घोडेको जो प्रयत्न करने पडते हैं उन पुरुषार्थोंको सम्पादन करनेवाला स्वतंत्र कर्त्ता घोडा है । " देवदत्तः दात्रेण लुनाति " देवदत्त हँसियासे फलको छेदता है, यहां कारण या कारणोंकी उपस्थिती होनेपर भी देवदत्तका स्वतंत्र कर्त्तापन तो निमित्त कारणों करके नहीं छीन लिया जाता है। बात यह है कि स्वतंत्र हो या परतंत्र हो आत्माको स्वकीय संपूर्ण परिणामोंको बनानेमें पुरुषार्थ करना पडता है । इसी प्रकार जड पदार्थ भी जगतमें बहुतसे कार्योंको करता है । आत्माके वैसे परिणामोंको पुरुषार्थ या प्रयत्न कहते हैं और पुद्गल या अन्य द्रव्योंके तादृश परिणामोंको वीर्य, शक्ति, आदिसे व्यवहार करते हैं । सूर्यकी घाम, चन्द्रमाकी चांदनी, ऋतुऐं मेघ जल ये अनेक कार्योंको कर रहे हैं । भींत या सोटें छतको डाट रही हैं, खाट या काष्ठासन ऊपर बैठे हुये मनुष्यको साध रहा है, जमाल गोटा पेटके मलको खुरच रहा है, कीचलिपिटी तुंबीमेंसे धीरे धीरे कीचको छुडाकर जल तुंबीको ऊपर जलप्रदेशमें उछाल रहा है, जल नावको सरका रहा है, आदि कार्य भी द्रव्योंके निजवीर्य द्वारा सम्पादित हो रहे हैं । जिन जड द्रव्योंमें कि कथमपि इच्छा की सम्भावना नहीं है, यहां प्रकरणमें क्षयोपशम भावको बनानेमें आत्माका पुरुषार्थ होना आवश्यक है । हां, आत्माको अपनी प्रकृति अनुसार फल देनेके लिये हुये कर्मोंके पक्व परिणामके सम्पादक तो कर्म ही हैं । आत्मकृत निज भावोंके निमित्त कारण कर्म हो जाते हैं । और कर्मकृत उन कर्मोंके परिणामोंके निमित्तकारण आत्मीय भाव हो जाते हैं । क्षायोपशमिक भावोंको बनानेमें आत्मा तो पुरुषार्थ करता ही है । किन्तु साथमें द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव, या आत्मपरिणामको निमित्त पाकर जब कर्मोंकी क्षयोपशम भावको बनानेके अनुकूल विशेष अवस्था होगी तभी वे कर्म क्षायोपशमिक भावोंके निमित्त हो सकते हैं । पेटमें जाकर हुई औषधिकी विशेष अवस्था ही उदररोगनिवृत्तिका निमित्त है । यहां मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण, दानान्तराय आदि कर्मोंके सर्वघातिस्पर्द्धकोंका उदयक्षय होजानेसे और उनहीके भविष्यमें उदय आनेवाले सर्वघातिस्पर्धकोंका सत्तामें बने रहने रूप उपशम होजानेसे तथा देशघाति स्पर्द्धकोंके उदयसे आत्माके क्षायोपशमिक भाव निपजता है । यद्यपि मतिज्ञानावरण आदि प्रकृतियां देशघाति हैं । फिर भी देशघातिओंमें सर्वघातिस्पर्द्धक पाये जाते हैं । अतः आत्मीयगुणको पूर्ण रूपसे घातनेवाले कर्मोंकी उदय, उदीरणायें, नहीं होनी चाहिये, तभी क्षायोपशमिक भाव निष्पन्न होगा ।

किं पुनः स्पर्धका नाम ? अविभागपरिच्छिन्नकर्मप्रदेशरसभागप्रचयपंक्तेः क्रमवृद्धिः क्रमहानिः स्पर्द्धकं कर्मस्कंधशक्तिविशेषः ।

फिर यह बताओ कि स्पर्द्धक भला क्या पदार्थ है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं कि शक्ति या पर्यायके अंशोंको अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं । " अविभागपडिच्छेओ जहण्ण उड्ढी पएसाणं " ऐसा गोम्मटसारमें कहा है । रूप, रस, ज्ञान, सुख, आदिके वस्तुभित्तिपर अंशोंकी कल्पना कर पूरी संख्याओंमें गिननेका उपाय अविभाग प्रतिच्छेद है। पौद्गलिक कर्मोंमें आत्माको रस देनेकी शक्तिके अंश भी अविभाग प्रतिच्छेदोंद्वारा न्यारे न्यारे पंक्तियोंमें विभाजित किये जाते हैं। अविभाग प्रतिच्छेदोंसे युक्त होरहे कर्मपरमाणुओंके रसभागकी प्रचयपंक्तिका क्रमसे बढना या क्रमसे घटना जिन पिण्डोंमें पाया जाता है वह कार्मण स्कन्धोंका यथानाम शक्तिविशेषोंको धारहा कर्म समुदाय स्पर्द्धक कहा जाता है । मोटी मिरचकी अपेक्षा छोटी मिरचमें अल्प परिमाण होते हुये भी चिरपिरे रसके शक्ति अंश अधिक माने गये हैं । अपनी अपनी आत्मामें सर्वांग व्यापरहे निगोदिया जीवके ज्ञानसे संज्ञी जीवके ज्ञानमें प्रतिभासक अंश अनन्त गुणे हैं। हाथीकी अपेक्षा सिंहमें साहसके अंश बढे हुये हैं। इसी प्रकार संसारी जीवोंके प्रतिक्षण उदयमें आरहे कर्मोंकी फलदानशक्तिओंके भी अंशकषयानुसार न्यून, अधिक, संख्यामें नियत होरहे हैं। छोटेसे छोटे भी संसारी जीवके अभव्योंसे अनन्तगुणे कर्मप्रदेश प्रतिक्षण उदयमें आते हैं और बडीसे बडी अवगाहनावाले मत्स्यके भी सिद्ध राशिके अनन्तमें भाग कर्मप्रदेश उदय प्राप्त होते हैं। जघन्य और उत्कृष्ट मध्यवर्ती अनन्त भेदोंको धारनेवाले अनन्तानन्त जीव हैं । अभव्य राशिसे अनन्त गुणी इस संख्यासे सिद्ध राशिका अनन्तवां भाग यह संख्या बडी है । कारणोंके वश अविभाग प्रतिच्छेदोंमें छह स्थानवाली हानिवृद्धियां होती रहतीं हैं। ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी हानि या वृद्धि करते समय संख्यात पदसे उत्कृष्टसंख्यात और असंख्यात संख्यासे जिनदृष्ट असंख्यात गुणे लोकप्रदेश तथा अनन्त शद्बसे जीवराशिरूप अनन्तानन्त पकडा गया है । किसी गुणमें उक्त संख्यासे न्यून या अधिक संख्याको लेकर भी हानिवृद्धियां सम्भावित हैं। रसके अंशोंमें जितनी अविभाग प्रतिच्छेदोंकी संख्याका न्यूनाधिकपना है उतना तारतम्य गन्धमें नहीं पाया जाता है । ज्ञान गुणमें जितना जघन्य अंशोंकी वृद्धिस्वरूप अविभाग प्रतिच्छेदोंका हानिवृद्धि भाव है उतना सुख या अस्तित्व गुणमें नहीं पाया जाता है । अन्तरंग कारण कषायोंके तीव्र, मन्द, ज्ञात, अज्ञात परिणामोंकी अपेक्षा और बहिरंग कारण द्रव्य, क्षेत्र, काल, अधिकारी जीव, वीर्य, आदि परिस्थितीके अनुसार एक जातिके कर्मोंमें फलदान शक्तिके अंशोंकी विचित्रतायें मानली जाती हैं। जैसे कि लब्ध्यपर्याप्तक निगोदियासम्बन्धी सबसे छोटी श्रेणीके जघन्य ज्ञानमें आकाश प्रदेशोंसे भी अनन्तानन्त गुणे इतने अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेद माने गये हैं । क्योंकि उसी लब्ध्यपर्याप्तक निगोदियाके जन्मके प्रथम समयमें होनेवाले जघन्यज्ञानसे द्वितीयसमयमें ज्ञानकी वृद्धि उस ज्ञानके अनन्तवें भागरूप है । अतः पूरी संख्याओंमें कथन करनेकी विवक्षा होनेपर उस वृद्धिके अंशको यदि एक मानलिया तो पहिले समयका मूलज्ञान उससे अनन्तानन्तगुणा होता हुआ, अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेदोंके धारनेवाला कहा जायगा और दूसरे समयके ज्ञानके एक अधिक अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेद माने

जाते हैं । इसी प्रकार सबसे छोटी कर्मोंकी फलदानशक्तिके अविभागप्रतिच्छेद भी अनन्त हैं । यद्यपि उतनी संख्या कभी कम नहीं होती है । फिर भी ऊपरकी श्रेणियोंमें शक्तिके अंशोंकी वृद्धि इतनी थोडी है कि उसको एक मान लेनेपर सबसे कम अनुभागशक्तिको धारनेवाले कर्मोंमें रसशक्तिके अविभागप्रतिच्छेद अनन्तानन्त ही गिने जा सकते हैं । सबसे न्यून जघन्य गुणोंको धारनेवाले प्रदेशको पकडलो, उसके अनुभाग अंशोंको बुद्धिके द्वारा छेद करते करते उतने बार टुकडे कर डालो, जिससे कि पुनः छोटा विभाग न हो सके । वे अविभाग प्रतिच्छेद जीवराशिसे अनन्तगुणी संख्यामें बैठेंगे । उतनी उतनी संख्याको धारनेवाले प्रदेशोंकी एकराशि कर ली जाय, इन सब परमाणुओंके समुदायको वर्गणा कहते हैं । इसके आगे अविभाग प्रतिच्छेदोंको बढाते हुये राशिको बनाकर उत्तरोत्तर वर्गणायें बना लेनी चाहिये । इस प्रकार क्रमवृद्धि और क्रम हानिसे युक्त हो रही वर्गणापंक्तियोंका समुदाय स्पर्धक कहा जाता है । समगुणवाले परमाणुओंके समुदायको वर्गणा कहते हैं । और वर्गणाओंके समुदायको स्पर्धक कहते हैं । एक जीवके एक समयमें अनन्तस्पर्धकोंका उदय हो जाता है । पिंडकी अपेक्षा उसे एक स्पर्धक भी कह सकते हैं । अर्थात्—अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदोंको धारनेवाले परमाणु वर्ग कहे जाते हैं । अनन्तवर्गोंकी एक वर्गणा होती है । अनन्तवर्गणाओंका एक स्पर्धक होता है । और अनन्तस्पर्धक एक समयमें उदय आते हैं । किये हुये भोजनका भी प्रतिक्षण उदराग्निके द्वारा एक मोटा स्कन्ध उदयमें आता रहता है । अष्टमी या चौदसको उपवास करना केवल मुखद्वारसे कवलाहारका त्याग करना मात्र है । अन्तरंगकी उदराग्निके लिये तो भोज्य, पान, की सतत आवश्यकता है । कर्म और नोकर्मोंका सर्वदा एक समयप्रबद्ध बन्धको प्राप्त होता रहता है । और एक निषेक उदयमें प्राप्त होता रहता है । पुद्गलके कार्योंकी अनेक प्रकार जातियां हैं । मति ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम या उदय अथवा क्षय होता है । सदवस्थारूप उपशम होते हुये भी इनका औपशमिक भाव नहीं बन सकता है । क्योंकि बारहवें गुणस्थानतक ज्ञानावरणकी देशघातिओंका उदय सर्वदा विद्यमान है । जैसे कि नाकतक ठूंसकर जीम लेनेपर भी पान, सुपारी, पाचनचूर्ण, स्वासोछ्वास लेनेके लिये रिक्तता [गुंजाइश] बनी रहती है । अतः ज्ञानावरणके उदय, क्षयोपशम और क्षय ये तीन भाव हैं । हां, मोहनीयके उपशमको मिलाकर चारों भाव हो सकते हैं । शक्ति विशेषोंको धार रहे कर्मस्कन्धोंके स्पर्द्धक आत्मामें अनेक जातिवाले हैं । ऐसे पौद्गलिक पिण्डोंको यहां प्रकरणमें स्पर्द्धक माना गया है ।

संज्ञित्वसम्यग्मिथ्यात्वयोगानां ज्ञानसम्यक्त्वलब्धिष्वंतर्भावान्न पृथगुपादानं ।

मनको धारनेवाले संज्ञीजीवोंके पाया जानेवाला संज्ञित्वभाव और तीसरे गुणस्थानमें पाया जानेवाला सम्यङ्मिथ्यात्वभाव तथा कायवाङ्मनःकर्मरूप योग इन तीन भावोंका तो ज्ञान, सम्यक्त्व और लब्धियोंमें अंतर्भाव हो जानेसे श्री उमास्वामी महाराजने सूत्रमें कण्ठोक्त पृथक् ग्रहण नहीं किया है अर्थात्—नोइन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे हुये संज्ञीपनका मतिज्ञानमें अन्तर्भाव हो जाता है ।

विचार करनेवाले लब्धि या उपयोग रूप मानस मतिज्ञानस्वरूपभाव ही तो संज्ञीपन है। " णोइन्दिय आवरणखओवसमं तज्जबोहणं सण्णा, सा जस्स सो दु सण्णी इदरो सेसिंदि अवबोहो " तथा जात्यन्तर सर्वघाती सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदय होनेपर हुआ सम्यग्मिथ्यात्वभाव तो सम्यक्त्व परिणाममें गर्भित हो जाता है। देखिये लताभाग पूरा और दारुभागका अनन्तवां भाग इतना तो देशघाती प्रकृतिका द्रव्य कहा जाता है। शेष दारुके अनन्त बहुभाग और अस्थिभाग, शैलभाग, ये सर्वघाती स्पर्द्धक हैं। किंतु दारुभागके बचे हुये बहुभागके अनन्तवें भाग प्रमाण न्यारी जातिवाले मिश्र प्रकृतिके सर्वघाती स्पर्द्धक हैं। अतः देशघाती सम्यक्त्व प्रकृतिके अति निकटवर्त्ती होनेसे तज्जन्य सम्यग्मिथ्यात्व भावका सम्यक्त्व भावमें अन्तर्भाव करलेना समुचित है। गोम्मटसार कर्मकाण्डमें लिखा है। "देसोत्ति हवे सम्मं तत्तो दारू अणंतिमे मिस्सं, सेसा अणन्तभागा अट्ठिसिलाफड्डया मिच्छे " इसी प्रकार अंतरायके क्षयोपशमको निमित्त पाकर आत्माके पुरुषार्थ द्वारा वीर्यभाव उपजता है। और मन वचन कायके अवलम्बसे आत्माका सकम्प होना भी एक पुरुषार्थ है। वीर्य और योग आत्माकी दोनों शक्तियां हैं। इतना अवश्य है कि सिद्ध अवस्थामें क्षायोपशमिक वीर्यका नाश होता हुआ भी क्षायिक वीर्य बना रहता है, किन्तु सकम्पपना रूप योग चौदहवें गुणस्थान और सिद्ध अवस्थामें सर्वथा नहीं है। योगस्वरूपभाव क्षायिक नहीं हो सकता है। किसी अंशमें " पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयण कायजुत्तस्स, जीवस्स जाउ सत्ती कम्मागम कारणं जोगो " इस गाथाके अनुसार भावयोगको भले ही औदयिक कह दिया जाय। किन्तु मोक्ष अवस्थामें कोई सा भी योग नहीं रहता है। अतः उक्त अठारह भेदोंसे कथंचित् भिन्न हो गये भी संज्ञित्व, सम्यग्मिथ्यात्व, योग, इन तीन भावोंका यथाक्रमसे ज्ञान, सम्यक्त्व, और लब्धियोंमें अन्तर्भाव कर लेना चाहिये, संक्षेपसे सूत्र रचना करनेवाले उमास्वामी महाराजको इतने थोडे थोडे अन्तरसे न्यारे न्यारे भावोंकी गणना करना अभीष्ट नहीं है।

कुतः पुनः क्षयोपशमः कर्मणां सिद्ध इत्याह।

कोई शिष्य पूंछता है कि महाराज फिर यह बताओ कि कर्मोंका क्षयोपशम होना भला किस प्रमाणसे सिद्ध हो चुका है ? जिससे कि क्षयोपशमको धारनेवाला भाव अठारह प्रकारका निर्णीत किया जाय, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य स्पष्ट उत्तर कहते हैं।

क्षीणाक्षीणात्मनां घातिकर्मणामवसीयते।
शुद्धाशुद्धात्मतासिद्धिरन्यथानुपपत्तितः ॥ १ ॥

जैसे कि विशेष ढंगसे जलद्वारा प्रक्षालन करते हुये कोदों या भांगपत्तीकी मदशक्ति क्षीण और अक्षीण हो जाती है, अधिक धो देनेसे तो मदशक्ति सर्वथा नष्ट हो जाती है, या बहुभाग क्षीण हो जाती है, तथा अत्यल्प धो देनेसे मदशक्ति नष्ट नहीं होती है, अथवा लवमात्र ही नष्ट होती

है । हां, कुछ देरतक शनैः शनैः कोदों या भांगको छन्नामें भींचकर धो देनेसे उसकी अधिक उष्णताको उत्पन्न करनेवाली मदजननशक्ति तो नष्ट होजाती है और मध्यम मद (गुलाबी नशा) को उपजनेवाली मदशक्ति नष्ट नहीं होती है । इसी प्रकार सर्वघाति स्पर्धकशक्तिरूपसे क्षीणस्वरूप और देशघाति स्पर्द्धकरूपसे अक्षीण आत्मक घातिकर्मोंका शुद्धात्मकपना और अशुद्धात्मकपना सिद्ध हो रहा है । अन्यथा यानी घाति कर्मोके क्षीण अक्षीण स्वरूप हुये बिना शुद्धअशुद्ध आत्मकपनकी सिद्धी नहीं हो सकेगी ।भावार्थ- पेटमेंसे कुछ अजीर्ण दोषोंके नष्ट हो जानेपर और कुछ दोषोंका कार्य होते रहनेसे आत्मामें स्वस्थता, अस्वस्थात्मक मध्यमकोटिकी प्रसन्नता होती है । उसी प्रकार अन्तरंगज्ञान, चरित्र, लब्धि, आदिकी कुछ शुद्धि और कुछ अशुद्धि अनुभूत होरही है । यह ज्ञापकलिंग घाति कर्मोकी क्षयोपशम अवस्थाका अनुमान करा देता है ।

स्वसंवेदनादेवात्मनः शुद्धाशुद्धात्मतायाः सिद्धिरप्रतिबंधा सती घातिकर्मणां क्षीणोपशांतस्वभावतां साधयति तदभावे तदनुपपत्तेः; पयसि पंकस्य क्षीणोपशांततामंतरेण शुद्धाशुद्धात्मतानुपपत्तिवत् ।

स्वसम्वेदन प्रत्यक्षसे ही आत्माके शुद्ध, अशुद्ध, आत्मकपनेकी बाधारहित सिद्धि होरही सन्ती चार घातिया कर्मोके क्षीण स्वभाव और कुछ अक्षीणस्वभावपनको साध देती है ।इसका कोई बाधक प्रमाण नहीं है । क्योंकि इस कुछ अंशोंमें क्षीण और कुछ अंशोंमें उपशान्त होरहे तथा कतिपय अंशोंमें उदय प्राप्त होकर अक्षीण स्वभावसहितपनके बिना उस शुद्धाशुद्धात्मकपनेकी उपपत्ति नहीं हो सकती है, जैसे कि जलमें कीचके क्षीण और उपशान्त तथा कुछ धुलेपन अवस्थाके बिना शुद्धअशुद्ध आत्मकपन अर्थात्—बहुभाग स्वच्छता और अतीव मन्द गंदलेपनकी सिद्धि नहीं होपाती है । औषधि या शरीरप्रकृतिद्वारा चिकित्सा होनेपर यदि रोगका सौमा भाग अवशिष्ट रह जाय अथवा धोवते धोवते वस्त्रमें अत्यल्प मल या रंग शेष रहजाय इत्यादि अवस्थाओंमें भी प्रतिपक्षी पुद्गलोंका क्षयोपशम होना उदाहरण बनाया जासकता है ।

ततो मत्यादिविज्ञानचतुष्टयमिह स्मृतं ।
शुद्धाशुद्धात्मकं लिंगं तदावरणकर्मणाम् ॥ २ ॥
क्षयोपशमसद्भावे मत्यज्ञानादि च त्रयं ।
दर्शनत्रितयं चापि निजावरणकर्मणा ॥ ३ ॥
लब्धयः पंच तादृश्यः स्वांतरायस्य कर्मणः ।
सम्यक्त्वं दृष्टिमोहस्य वृत्तं वृत्तमुहस्तथा ॥ ४ ॥

संयमासंयमोऽपीति घातिक्षीणोपशांतता ।
सिद्धा तद्भवभावानां तथाभावं प्रसाधयेत् ॥ ५ ॥

तिस कारणसे यहां मति, श्रुत, आदिक चारों विज्ञान शुद्धअशुद्ध आत्मका स्वरूप होरहे लिंग माने गये पूर्व आम्नायसे चले आरहे हैं, उन मति आदिकको आवरण करनेवाले मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरण कर्मोंके क्षयोपशमकी सत्ताको साधनेमें वह शुद्धाशुद्धात्मकपना ज्ञापक लिंग है । इसी प्रकार कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभंगज्ञान ये तीन कुज्ञानभाव भी शुद्ध अशुद्ध आत्मक हो रहे संते उनके प्रतिपक्षी कर्मोंके क्षयोपशमको साधनेमें ज्ञापक हेतु हैं । तथा चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शन ये शुद्ध, अशुद्ध, आत्मक तीन दर्शन भी अपने आवरण करनेवाले कर्मोंके क्षयोपशमकी सत्ताको साधनेमें ज्ञापक लिंग हैं । इसी प्रकार वैसी शुद्ध अशुद्ध आत्मक दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, ये पांच लब्धियां भी अपनेमें अंतरायको डालनेवाले पांच अंतरायकर्मोंके क्षयोपशमकी विद्यमानताको साधनेमें व्याप्त हेतु हैं । तथा आत्मामें अनुभूत हो रहा तिस प्रकार शुद्ध, अशुद्ध आत्मक वेदक सम्यक्त्व परिणाम तो दर्शनमोहनीयके क्षयोपशमका साधक लिंग है । तथा शुद्ध अशुद्ध आत्मक हो रहा वृत्त यानी क्षायोपशमिक चारित्र भी आत्मामें चारित्रमोहनीयके क्षयोपशमका ज्ञापक लिंग माना गया है । एवं संयमासंयमभाव भी अनुभूत हो रहा संता अपने घातक कर्मोंकी क्षीणवृत्ति और उपशान्त वृत्तिको आत्मामें साध देता है । चारित्रमोहनीय कर्मकी पच्चीस प्रकृतिओंमें अनन्तानुबन्धी चौकडी, अप्रत्याख्यानावरण चतुष्टय, और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, ये बारह प्रकृतियां सर्वघाती हैं । शेष प्रकृतियां देशघाती ह । यद्यपि संज्वलनमें भी कुछ पिण्ड ऐसे हैं, जिनका कि छठवें सातवें गुणस्थानमें उदय नहीं, है । किन्हीं मिथ्यात्वके सहभावियोंका तो पहिलेमें ही उदय है । अचारित्रके सहभावी कतिपयोंक चौथे गुणस्थानतक ही उदय है । इसी प्रकार कुछ प्रत्याख्यानावरण अप्रत्याख्यानावरण प्रकृतिओंका भी चौथे गुणस्थानमें उदय नहीं है । पहिलेमें ही है । फिर भी उन उन गुणोंका सम्पूर्ण रूपसे घात नहीं करनेकी अपेक्षा उनके सिरपर बुराई नहीं लादी गयी है । बुराईको झेलनेवाली वहां दूसरी प्रकृतियां श्वश्रूके समान आपत्तिको ले रही हैं । उपशम श्रेणीमें उपशम चारित्र और क्षपक श्रेणीमें क्षायिक चारित्र है । यहां देशघातीके उदयकी आवश्यकता नहीं है । विवक्षा भी नहीं है । सम्यक्त्व गुणके लिये अनन्तानुबन्धी चतुष्टय, मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व ये छह प्रकृतियां सर्वघाती हैं । और सम्यक्त्व प्रकृति देशघाति है, सम्यक्त्व गुण आत्माका अनुजीवी गुण है । और सम्यक्त्व प्रकृति पुद्गलकी बनी हुई दर्शनमोहनीयका तीसरा भेद है । जो कि उपशम सम्यक्त्वरूप परिणामों करके मिथ्यात्व द्रव्यके तीन टुकडे होकर चक्कीमें पिसे हुये कोदोंकी भुसीके समान मन्दतम अनुभागको लिये हुये है । सम्यक्त्व नामक शद्बका एकसा होनेपर भी अर्थ न्यारा न्यारा समझना चाहिये । तथा संयमासंयम

भावके लिये प्रत्याख्यानावरण भी देशघाती कल्पित किया गया है। इस प्रकार अनुमान द्वारा उक्त अठारह भावोंके सम्पादक क्षयोपशमको साध दिया है। उक्त हेतुओंमें अन्वयव्याप्ति पायी जाती है। जब घाती कर्मका क्षीणपना और उपशांतपना सिद्ध हो चुका तो वह उसके होनेपर होनेवाले भावोंका तिस प्रकार हो रहे क्षयोपशम भावको भले प्रकार संशय रहित साध ही देवेगा।

एवं च सिद्धोष्टादशभेदो मिश्रो भावः।

और इस प्रकार व्याप्तिको बनाकर सिद्ध कर दिये गये अनुमान द्वारा अठारह भेदोंको धारनेवाला क्षय, उपशम, और उदयका मिला हुआ मिश्रभाव सिद्ध कर दिया गया है।

यः पुनरौदयिको भाव एकविंशतिभेदोत्रोद्दिष्टस्तस्य निर्देशार्थं षष्ठमिदं सूत्रम्।

मिश्रभावके पश्चात् जो फिर इकईस भेदवाले औदयिकभावका नाम निर्देश किया था, उसका कथन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराजका यह द्वितीयाध्यायमें छठा सूत्र है। जो कि इस प्रकार है उसको सुनो—

गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥ ६ ॥

आत्माको नरक सम्बन्धी, तिर्यक्सम्बन्धी, आदि भावोंकी प्राप्ति करानेवाली आत्मीय परिणाम रूप गति औदयिकभाव है। चारित्रमोहके उदयसे कलुषताभाव होना कषाय है, वेदत्रयके उदयसे हुआ अभिलाषाविशेष लिंगभाव औदयिक है, तत्त्वार्थोंका अश्रद्धानरूप परिणाम मिथ्यादर्शन है, ज्ञानावरणके उदयसे अन्धकारके सदृश ज्ञानाभाव बना रहना अज्ञानभाव है। यहां नञ्का अर्थ प्रसज्य है, इन्द्रिय संयम और प्राणिसंयमको नहीं पालना असंयतभाव है, सिद्ध अवस्था नहीं हो सकना असिद्धत्वभाव है, कषायमिश्रित आत्माके सकम्प परिणाम लेश्याभाव है, इनके यथाक्रमसे चार, चार, तीन, एक, एक, एक, एक, छह, भेद हैं। इस प्रकार औदयिक भावके इकईस भेद समझ लेने चाहिये।

चतुरादीनां कृतद्वंद्वानां भेदशब्देनान्यपदार्था वृत्तिः पूर्ववत्। यथाक्रममिति चानुवर्तते तेनैवमभिसंबंधः क्रियते—गतिश्चतुर्भेदा कषायश्चतुर्भेदो लिंगं त्रिभेदं मिथ्यादर्शनमेकभेदमदर्शनस्य तत्रैवांतर्भावात्, अज्ञानमेकभेदं असंयतत्वमेकभेदं लिंगं हास्यरत्याद्यंतर्भावः सहचारित्वात्। गतिग्रहणमघात्युपलक्षणमिति न कस्यचिदौदयिकभेदस्यासंग्रहः।

गति और कषाय तथा लिंग और मिथ्यादर्शन एवं अज्ञान और असंयत तथा असिद्ध और लेश्या इस प्रकार गति आदिकोंका इतरेतर योगनामक द्वन्द्व समास करलेना चाहिये तथा संख्यावाचक चार, चार, तीन, एक, एक, एक, एक, छह, इन पदोंका पहिले इतरेतर द्वन्द्व कर पश्चात् भेद

शद्धके साथ अन्य पदार्थोंको प्रधान रखनेवाली बहुव्रीहि समास नामकवृत्ति करने लेनी चाहिये, जैसे कि पहिलेके पूर्व सूत्रोंमें इतरेतर समास करते हुये बहुव्रीहि समास किया गया है, वैसा ही यहां करलेना। पूर्व सूत्रके समान यहां भी दूसरे सूत्रमेंसे "यथाक्रमम्" इस पदकी अनुवृत्ति होजाती है तिस कारण उद्देश्य विधेय पदोंका दोनों ओरसे सम्बन्ध करलिया जाता है कि गतिके चार भेद हैं, चार भेदवाली कषाय है लिंग तीन भेदोंको धारता है, मिथ्यादर्शनका एक प्रकार है, यहां अदर्शनभावको न्यारा नहीं कहा है, क्योंकि दर्शनावरणके उदय होनेपर हुये अन्धकल्प अदर्शनभावका उस मिथ्यादर्शनमें ही अन्तर्भाव होजाता है तथा अज्ञानका भेद एक ही है, असंयतपना एक भेदको लिये हुये है, असिद्धत्व एक प्रकारका है। लेश्याके छह भेद हैं, यद्यपि कषाय भावसे सोलह कषाय और लिंगसे तीन वेद पकडे जासकते हैं। अतः हास्य आदिक छह नोकषायके उदयसे होनेवाले औदयिक भाव शेष बच जाते हैं। फिर भी सहचारीपना होनेसे हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, इन औदयिक भावोंका अन्तर्भाव लिंगमें करलेना सूत्रकारको विवक्षित है। अतः सूक्ष्म कथनरूप सूत्रमें विस्तार नहीं किया गया है, ज्ञानावरण कर्म और अन्तराय कर्मका अविनाभाव होनेसे अलब्धियोंका अज्ञान भावमें ही अन्तर्भाव होजायगा जैसे कि "काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्" यहां काकपद सभी दधि उपघातक पशुपक्षियोंका उपलक्षण है। उसी प्रकार जीवविपाकी जातिकर्मके उदयसे होनेवाले या त्रस, स्थावर उच्चैर्गोत्र, मनुष्यायुः, सात, असात, तीर्थकरत्व, आदि अघातिया कर्मोंकी प्रकृतियोंके उदयसे होनेवाले औदयिक भावोंका गति ग्रहणसे उपलक्षण होजाता है। इस कारण जीवविपाकी घाती या अघाती किसी भी कर्मके उदयसे होनेवाले औदयिक भेदका असंग्रह नहीं हुआ। इन ही इकईस भेदोंमें सब ही औदयिक भावोंका अन्तर्भाव हो जाता है।

कुतः पुनर्गतिनामादिकर्मणामुदयः सिद्धो यतोऽमीषामेकविंशतिभावानामौदयिकत्वं सिध्यतीत्याह।

किसी विनीत शिष्यका प्रश्न है कि महाराजजी, फिर यह बताओ कि आत्माओंमें गतिनामकर्म चारित्रमोहनीय, पुंवेद आदिक कर्मोंका उदय किस प्रमाणसे सिद्ध है? जिससे कि उन गति, कषाय, आदिक इकईस भावोंका औदयिकपना सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी आत्मगौरवसहित उत्तरको कहते हैं।

अन्यथाभावहेतूनां केषांचिदुदयः स्थितः।
कालुष्यवित्तितस्तद्वद्गतिनामादयस्तु ते ॥ १ ॥

आत्माके शुद्ध स्वाभाविक परिणामोंको अन्य प्रकार परिणमन करानेके हेतुभूत हो रहे किन्हीं निर्नामक पदार्थोंका उदय होना आत्मामें व्यवस्थित है। (प्रतिज्ञावाक्य) क्योंकि संसारी आत्माओंके हो रही कलुषताविशेषकी सम्वित्ति हो रही है। उसीके समान दूसरे दूसरे स्वाभाविक परिणामोंका अन्यथाभाव करानेवाले किन्हीं अविवक्षित पदार्थोंका उदय भी अनुमान प्रमाण द्वारा निर्णीत हो रहा

है । अतः सर्वनाम किम् शब्दके वाच्य हो रहे वे अन्यथा भावके हेतु ही तो गतिनाम, कषाय वेदनीय, अकाषय वेदनीय, आदिक विशेष कर्म हैं ।

स्वयमगतिस्वभावस्य पुंसो नरकादिगतिपरिणामविशेषः कालुष्यमन्यथाभावाद्वेद्यते तद्वदकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्यास्वभावस्य सतस्तस्य कषायादिपरिणाम-कालुष्यभाव एव तद्वित्तिरेव वात्मनोन्यथाभावहेतूनां केषांचिदुदयं साधयति, तदभावे सर्वथा-नुपपद्यमानत्वात् परिदृष्टहेतूनां तत्र व्यभिचारात् । तथा सति येषामुदयाद्गत्यादयः परिणाम-विशेषाः कादाचित्कास्ते गतिनामादयः कर्मप्रकृतिभेदाः इति परिशेषाद्व्यवसीयते ।

जो परद्रव्यके बन्धसे विविक्त हो रही सिद्ध अवस्थाके परिणाम हैं, वे ही आत्माके स्वतः अनन्त कालतक ठहरनेवाले स्वभाव माने जाते हैं । शेष अन्यथा स्वरूप हो रहे परिणाम तो विभाव अवस्था है । आत्मा स्वयं अपने डीलसे तो जाना आना श्वास, उच्छ्वासके साथ घटना बढना, देव पर्यायमें जाना, इत्यादिक गमन परिणामोंसे रीता है । उसको कोई लढनेकी, मोटे होनेकी, यहां वहां जानेकी आकुलता नहीं है । तो भी स्वयं अगमन स्वभाववाले हो रहे आत्माके नरकगतिमें गमन, तिर्यंच आदि गतियोंमें गमन ऐसे विशेष परिणमन स्वरूप कलुषतायें हुई स्वभावोंका अन्यथाभाव हो जानेसे स्वसंविदित हो रही हैं । उसीके समान स्वभावतः कषायरहित स्वभाववाले चारित्र स्वरूप आत्माके कषायरूप कलुषतायें अनुभूत हो रहीं हैं । तथा निश्चयनयसे मिथ्यादर्शन रहित शुद्ध सम्यग्दर्शनस्वभाववाले आत्माके मिथ्यात्वभाव वेदा जा रहा है । और अज्ञानरहित ज्ञान स्वभाववाले आत्माके किसी पराधीनतावश अन्यप्रकारसे होरही अज्ञानरूप कलुषता प्रतीत की जारही है तथा असंयतपना स्वभावसे खाली संयमीस्वरूप आत्माके परतंत्र होकर असंयत परिणाम रूप कलुषताकी वित्ती होरही है । इसी प्रकार असिद्ध अवस्थासे रहित सिद्धस्वभाववाले आत्माके असिद्धत्व रूप कलुषताका सद्भाव है । द्रव्यार्थिक दृष्टिसे लेश्यारहित शुद्ध अलेश्य स्वभाववाले आत्माके संसार अवस्थामें कषायसंयुक्त योगप्रवृत्तिरूप कलुषता परिणाम होरहे हैं । वे कलुषताभाव ही आत्माके स्वभाव अवस्थासे अन्यथाभाव हो जानेकी अवस्थाके कारण होरहे किन्हीं परद्रव्यरूप हेतुओंके उदयको साध देते हैं अथवा उन गति, कषाय, आदि अन्यथाभूत अस्वाभाविक परिणामोंका संवेदन होना ही आत्माके अन्यथा परिणामोंको करानेवाले किन्हीं हेतुओंके उदयको साध देता है । क्योंकि परतंत्र करनेवाले उन हेतुओंके न होनेपर शुद्ध आत्माके सभी प्रकारसे गति, कषाय आदि परिणामोंकी उपपत्ति नहीं हो पाती है । अदृष्ट कर्मोंके सिवाय किन्हीं दूसरे परिदृष्ट पदार्थोंको यदि आत्माके उन गति, कषाय आदि भाव करानेमें कारण माना जायगा तो व्यभिचार दोष आता है । अर्थात्—गति आदिक भावोंका सूक्ष्म कर्मोंको कारण माननेमें अन्वय और व्यतिरेक दोनों बनजाते हैं । किन्तु अन्य उत्साह, शरीर, इच्छायें, इष्टपदार्थ, स्त्री, पुरुष, कुदेव, कुगुरु आदिक इष्टपदार्थोंको ही उन

भावोंका कारण माननेपर तो अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेक व्यभिचार दोष आते हैं। उत्साह, इच्छा होनेपर भी अपनी राजीसे कोई देवगति या मनुष्यगतिको प्राप्त नहीं हो जाता है। कोई वीतरागमुनि इच्छा न होनेपर भी आजकल देवगतिको प्राप्त हो जाते हैं। कोई पतले शरीरकी प्रकृतिको धारनेवाला मोटा होना चाहता है। किन्तु स्थूलकाय नहीं हो पाता है। इसके विपरीत कोई यातुल शरीरवाला अतिस्थूल मनुष्य न चाहने पर भी रुईका गद्दा बना जारहा है। कषायके परिदृष्ट कारण गाली, कुवचन, अनिष्ट पदार्थकी प्राप्ति, होनेपर भी क्षमावान्, सन्तोषी साधु पुरुषके कषाय कलुषतायें नहीं उपजतीं हैं। साथमें किसी अकारण क्रोधी पुरुषके गाली, अपमान आदि कारण न मिलनेपर भी क्रोध ईर्ष्या, गर्व ये विभाव परिणाम उपज जाते हैं। हंसी, शोक, भय, ग्लानिके बहिरंग कारण न मिलनेपर भी बहुतसे जीव इन झगडोंमें फंसे हुये हैं। और अनेक गम्भीर, आत्मध्यानी, सज्जन इनके कारण मिलनेपर भी उक्त विपत्तियोंसे बचे हुये हैं। एकान्तमें स्त्रीपुरुष या शृंगार रस वर्द्धक कारणोंके होनेपर भी अनेक जीव अपने ब्रह्मचर्यकी रक्षा करलेते हैं। तथा व्यसनी जीव कारणोंके विना ही संकल्प, विकल्प, करते हुये ही मैथुन परिणामोंको करलेते हैं। सम्यग्दर्शनके बहिरंग कारण जुट जानेपर भी द्रव्यलिंगी मुनि मिथ्यात्व परिणामोंको बनाये रखता है। साथमें श्री समन्तभद्रस्वामी या अकलंक देव प्रभृति पावन पुरुष अनायतनोंमें भी अपने सम्यग्दर्शनको परिपुष्ट बनाये रखते हैं। इसी प्रकार असंयमी, असिद्ध, लेश्या, परिणामोंका भी बहिरंग हेतुओंके साथ कार्यकारणभाव माननेमें अन्वय व्यभिचार या व्यतिरेक व्यभिचार आता है। हां अन्तरंग सूक्ष्म गतिनाम, मतिज्ञानावरण मिथ्यात्व, हास्य, आदि, कर्मोंको इनका कारण मानना निर्दोष है। अतः तैसा होनेपर जिन पराधीनता सम्पादक पदार्थोंके उदयसे आत्मामें कभी कभी होनेवाले गति, कषाय, आदिक परिणाम विशेष होते हैं, वे गतिनाम, चारित्रमोहनीय, पुंवेद, आदिक कर्म प्रकृतियोंके विशेष भेद हो रहे कर्मद्रव्य हैं। यह "परिशेष" न्यायसे निर्णय कर लिया जाता है। अर्थात्—जो कार्य कभी कभी होता है, वह आत्मद्रव्यका स्वभाव तो है नहीं। हां परद्रव्यके सम्बन्धसे होनेवाला विभाव परिणाम है। जैसे कि तीव्र काम वासना वश हो रहा श्रोत्रिय ब्राह्मण अपने स्वभावका अतिक्रमण कर वेश्यागृह प्रति गमन करता है। अथवा वशीकरण मंत्र या चूर्णकी पराधीनतासे कोई कुलकामिनी परपुरुषकी अनुगामिनी हो जाती है। इसी प्रकार निश्चय नयसे शुद्धभावोंको धार रहा भी आत्मा जिनकी पराधीनतासे दुःख कारण अथवा दुःखरूप हो रहीं कषाय, अज्ञान, अनर्गल प्रवृत्ति, आदि अवस्थाओंको आत्मसात् करलेता है, वे ही जैनसिद्धांतमें पौद्गलिककर्म हैं। उनका उदय आनेपर जीव स्वभावोंको छोडकर विभाव परिणतियोंको प्राप्त कर लेता है। जैसे कि ज्वर श्लेष्मरहित भी जीवित शरीर कभी कभी वात, पित्त, कफ, दोषोंका प्रकोप होनेपर ज्वरी या कफी हो जाता है। इस प्रकार अविनाभावी हेतुसे अनुमान द्वारा कर्मोंका उदय साध दिया जाता है। प्रसंग प्राप्तका निषेध कर चुकनेपर बचे हुये का ज्ञान करानेवाला परिशेष न्याय है। " प्रसक्त प्रतिषेधे शिष्यमाण संप्रत्ययहेतुः परिशेषः "।

गतिनामोदयादेव गतिरौदयिकी मता ।
तद्विशेषोदयात्सैव चतुर्धा तु विशिष्यते ॥ ॥
तथोपलक्षिताघातिकर्मोदयनिबंधनं ।
सुखाद्यौदयिकं सर्वमेतेनैवोपवर्णितम् ॥ ३ ॥

नामकर्म का विशेष भेद हो रहे गतिनाम कर्मके उदयसे ही आत्माकी हो रही गतिनामक परिणति औदयिकभाव मानी गयी है । उस गतिनाम पिण्डप्रकृतिके भेद विशेष हो रहे नरकगति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति, और देवगति इन चार कर्मोंके उदयसे तो वही आत्माका गतिपरिणाम चार प्रकारोंसे भेदयुक्त कर दिया जाता है । श्री उमास्वामी महाराजने अघातियोंमें प्रधान हो रहे नामकर्म और उसमें भी प्रधान हो रहे गतिकर्मका कण्ठोक्त निरूपण करदिया है । शेष रहे संपूर्ण अघातिया कर्मोंका उस गतिसे ही उपलक्षण कर दिया जाता है । अतः उस गतिसे उपलक्षित हो रहे जाति आदिक और वेदनीय, आयु, गोत्र, कर्मोंके उदयको कारण मानकर हुये आत्माके सुख, मनुष्य शरीरमें ठुसा रहना, उच्च आचरण, नीच आचरण आदिक भाव भी औदयिक हैं । यह सब इस उक्त कथनसे ही निरूपण करदिया गया समझलेना चाहिये ।

तथा क्रोधादिभेदस्य कषायस्योदयान्नृणाम् ।
चतुर्भेदः कषायः स्यादन्यथाभावसाधनः ॥ ४ ॥
लिंगं वेदोदयात्त्रेधा हास्याद्युदयतोपि च ।
हास्यादिस्तेन जीवस्य मुनिना प्रतिवर्णितः ॥ ५ ॥

तिसी प्रकार क्रोध, मान आदिको धारनेवाले पुद्गल निर्मित कषायवेदनीय नामक चारित्र मोहनीयके उदयसे जीवोंके क्रोध, मान, माया, लोभ, चार भेदोंको धारनेवाले कषायभाव होते हैं । अथवा अनन्तसंसारके कारण मिथ्यात्वका अनुबन्ध करनेवाले या स्वरूपाचरणको बिगाडनेवाले परिणाम और देशचारित्रको रोकनेवाले तथा सकलचारित्रका घात करनेवाले एवं यथाख्यात चारित्रको कसनेवाले ये चार प्रकार विभावभाव जीवोंके हो जाते हैं । स्वाभाविक परिणामोंसे हटाकर आत्माकी अन्यथाभाव परिणति ही कषायभावका ज्ञापक हेतु है । पुंवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद इन तीनों वेदोंके उदयसे आत्मामें तीन प्रकारका लिंगपरिणाम होता है, जिससे स्त्रीरमण, पुरुषरमण, या उभयरमणके कलुषतारूप परिणाम होते रहते हैं । तथा हास्य, रति, आदि कर्मोंके उदयसे भी हंसना या देश, उपवन, गायन, नृत्यकला, आदिके लिये उत्सुक रहना, अथवा इनमें अनुत्सुक रहना, शोकमें रहना, डरना, घृणा

करना इन विभावपरिणामोंका अनुभव होता है । श्री उमास्वामी मुनिमहाराजने जीवके हास्यादिभाव भी उपलक्षणवाले उस लिंग करके ही प्रतिष्ठित कर कह दिये हैं ।

दृष्टिमोहोदयात्पुंसो मिथ्यादर्शनमिष्यते ।
दृगावरणसामान्योदयाच्चादर्शनं तथा ॥ ६ ॥
सासादनं च सम्यक्त्वं यदनंतानुबंधिनः ।
कषायस्योदयाज्जातं तदप्येतेन वर्णितम् ॥ ७ ॥
सम्यग्मिथ्यात्वमेकेषां तत्कर्मोदयजन्मकं ।
मतमौदयिकं कैश्चित्क्षायोपशमिकं स्मृतम् ॥ ८ ॥

इनके आगेका सूत्रोक्तभाव मिथ्यादर्शन है, जो कि दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे जीवके हो रहा माना जाता है । तिसी प्रकार मिथ्यादर्शनसे अदर्शनभावका अवरोध हो जाता है । निद्रानिद्रा आदिक विभावपरिणामोंका भी उस मिथ्यादर्शनमें ही अन्तर्भाव कर लेना चाहिये । नौ प्रकारके दर्शनावरण कर्मका सामान्य उदय हो जानेसे जिस प्रकार अदर्शनभाव हो जाता है । जो कि मिथ्या-दर्शन शब्दसे उपलक्षित कर दिया जाता है । और दूसरे गुणस्थानमें जो चारित्रमोहनीयके उदयसे हुआ सासादनसम्यक्त्वरूप विभावपरिणाम भी अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे उत्पन्न हो रहा सन्ता औदयिकभाव है । वह भी इस मिथ्यादर्शन करके ही वर्णना युक्त कर दिया गया है । अर्थात्—मिथ्या-दर्शनको उपलक्षण मान कर उसके मित्र सासादन सम्यक्त्वका भी औदयिक भावोंमें संग्रह कर लेना चाहिये । एक प्रसिद्ध आचार्यके मतमें जो मिश्रमोहनीय कर्मके उदयसे हुआ सम्यग्मिथ्यात्वभाव है, वह उस सम्यङ्मिथ्यात्व नाम कर्मके उदयसे जन्म लेता हुआ औदयिक माना गया है । यह हमारी सम्मति है । हां किन्हीं आचार्योंने सम्यङ्मिथ्यात्व भावको क्षायोपशमिक माना है । उनकी गुरु परि-पाटीमें वैसा ही सर्वज्ञधारा अनुसार स्मरण किया गया चला आ रहा है । उसको हम पहिले पांचवें सूत्रके विवरणमें क्षायोपशमिक सम्यक्त्व द्वारा संग्रह कर चुके हैं । अपेक्षासे सम्यङ्मिथ्यात्व भावको क्षायो-पशमिक या औदयिक दोनों प्रकार मानना हमको अभीष्ट है । दोनोंकी युक्तियां भी कही जा चुकी हैं ।

ज्ञानावरणसामान्यस्योदयादुपवर्णितं ।
जीवस्याज्ञानसामान्यमन्यथानुपपत्तितः ॥ ९ ॥
वृत्तमोहोदयात्पुंसोऽसंयतत्वं प्रचक्ष्यते ।
कर्ममात्रोदयादेवासिद्धत्वं प्रणिगम्यते ॥ १० ॥

कषायोदयतो योगप्रवृत्तिरुपदर्शिता ।
लेश्या जीवस्य कृष्णादिः षड्भेदा भावतोनघैः ॥ ११ ॥

सामान्य रूपसे ज्ञानावरण कर्मका उदय हो जानेसे पदार्थोंका अनवबोध होना जीवके अज्ञानरूप सामान्यभाव कहा गया है । अन्यथा यानी ज्ञानावरणका उदय हुये विना सर्वघाति स्पर्द्धकोंके उदयजन्य होनेवाले अज्ञानभावकी असिद्धि है । द्वीन्द्रिय जीवके नासिकाज्ञानावरणके सर्वघाति स्पर्द्धकोंका उदय हो जानेसे गन्धविषयक अज्ञानभाव है । आजकलके मनुष्योंके मनःपर्यय ज्ञानावरणका उदय हो जानेसे मनःपर्यय ज्ञान न होना रूप अज्ञानभाव है । बारहवें गुणस्थानतक केवलज्ञान नहीं होना रूप अज्ञानभाव है तथा चारित्रमोहनीयसम्बन्धी सर्वघातिस्पर्द्धक प्रकृतियोंके उदयसे आत्माके असंयमभाव होता है । पहिलेसे प्रारंभ कर चौथे गुणस्थानतक इन्द्रियासंयम और प्राणासंयमरूप औदयिकभाव हो रहा भले प्रकार कहा जाता है तथा अभेदकी विवक्षा सभी एकसौ बाईस प्रकृतियोंका और भेदकी विवक्षा सम्पूर्ण कर्ममात्र एकसौ अडतालीसों प्रकृतियोंका उदय हो जानेसे ही असिद्धपनाभाव प्रकृष्ट रूपसे नियत हो रहा हुआ कहा जाता है । एकसौ अडतालीस प्रकृतिओंमें से किसी भी एकका यदि उदय होगा तबतक असिद्धपना ही है । कषायोंके उदयसे विशेषित हो रही योगोंकी प्रवृत्ति तो जीवका लेश्याभाव समझाई गयी है । अर्थात् जैसे रागके आवेशसे हंसीसहित अशिष्ट वचन बोलना यदि दूषित शरीरचेष्टासे युक्त हो जाय उतने समुदितभावको कौत्कुच्य कहते हैं । उसी प्रकार आत्माके कषायभावोंसे रंगा हुआ आत्मप्रदेश परिस्पन्दरूप परिणाम तो औदयिक होता हुआ भावलेश्या है । स्थूल रूपसे क्षुधा आदि अठारह और सूक्ष्मरूपसे अनन्त दोषों करके रीते हो रहे निर्दोष सर्वज्ञ देवने लेश्याके भाव अपेक्षा कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल, इस प्रकार छह भेद बतलाये हैं, भावलेश्या आत्माका औदयिक परिणाम है । आत्माके भावोंका निरूपण करते समय वर्णनाम कर्मके उदयसे हुये शरीरके ऊपरी रंगस्वरूप द्रव्यलेश्याका यहां कोई प्रकरण नहीं है । यहांतक गति आदिक इक्कईस औदयिक भावोंका विवरण करदिया गया है ।

अथ पारिणामिकभेदप्रतिपादनार्थं सप्तममिदं सूत्रमाह ।

अब औदयिक भावोंके अनन्तर अन्तके पारिणामिक भावोंके भेदोंकी प्रतिपत्तिको करानेके लिये श्री उमास्वामी महाराज द्वितीयाध्यायमें सातवें सूत्रका कण्ठोक्त निरूपण करते हैं ।

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥ ७ ॥

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन जीवके असाधारण हो रहे पारिणामिकभाव हैं । च शब्दके द्वारा अस्तित्व आदि साधारण भावोंका संग्रह भी कर सकते हो । जीव और भव्य तथा अभव्य

इस प्रकार इतरेतर द्वन्द्व समास कर पुनः भाव अर्थमें तद्धितसम्बन्धी त्व प्रत्यय करने हुये जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व, यह अर्थ निकल आता है ।

पारिणामिकस्य भावस्य त्रयोऽसाधारणा भेदा इत्यभिसंबंधः । च शब्दसमुच्चितास्तु साधारणाः असाधारणाश्चास्तित्वान्यत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वपर्यायवत्त्वासर्वगतत्वानादिसंततिबंधनबद्धत्वप्रदेशवत्त्वारूपत्वनित्यत्वादयः ।

पूर्व सूत्रसे भेदशद्बकी अनुवृत्ति कर परिणामरूप प्रयोजनको धारनेवाले पारिणामिकभावके असाधारण भेद तीन हैं । इस प्रकार दोनों उद्देश्य, विधेय, दलोंका अन्वय कर दोनों ओरसे सम्बन्ध होना बन जाता है । हां, समुच्चय अर्थको कहनेवाले सूत्रोक्त च शद्बसे तो अन्य द्रव्योंमें पाये जांय और जीव द्रव्यमें भी पाये जांय ऐसे साधारण तथा कतिपय असाधारण हो रहे इन अस्तित्व आदि भावोंका संग्रह कर लिया जाता है । वे भाव अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, पर्यायवत्व, असर्वगतत्व, अनादिसंततिबन्धनबद्धत्व, प्रदेशवत्त्व, अरूपत्व, नित्यत्व, ऊर्ध्वगतित्व, द्रव्यत्व, आकर्षकत्व, आदि हैं । अर्थात्—वस्तुको तीनों कालतक स्थिर रखनेवाला अस्तित्व गुण छहों द्रव्योंमें पाया जाता है । अतः जीवका साधारण भाव है । सम्पूर्ण द्रव्योंको परस्पर भिन्न करनेवाला अन्यत्वभाव भी साधारण है, जो कि कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशमकी, अपेक्षा नहीं रखता हुआ पारिणामिक है । कर्त्तापन भी साधारण भाव है । " मेघो वर्षति, आकाशमवगाहते, धर्मद्रव्यं गमयति, कालो वर्त्तयति " आदि क्रियाओंको उपजावनेमें संपूर्ण द्रव्योंको स्वाधिकार अनुसार स्वतंत्रता प्राप्त है । " स्वतंत्रः कर्त्ता " यह कर्त्ताका सिद्धांत लक्षण है । स्वकीय वीर्यकी प्रकर्षतासे परद्रव्यकी शक्तियोंके ग्रहण करनेकी सामर्थ्य ही भोक्तापन है, यह भोक्तृत्व भी अन्य द्रव्योंमें पाया जाता है । अतः साधारण भाव है । यद्यपि स्थूलदृष्टिसे कर्त्तापन और भोक्तापन अकेले जीवका ही परिणाम प्रतीत हो रहा है । फिर भी सूक्ष्मविचार करनेपर यह साधारण भाव समझा जाता है । गृहस्थ सम्बन्धी अनेक कार्योंके कर्त्ता और भोक्ता स्त्रीपुरुष दोनों ही हैं, बन्ध और बन्धका फल दोनोंके गुणोंका च्युत हो जाना तथा मोक्ष इनके कर्त्ता और भोक्ता जीव पुद्गल दोनों हैं । बुभुक्षित पारद सुवर्णका भक्षण कर उसका भोक्ता बन जाता है । सांभरकी झील काठ, पथरा, मट्टी, आदिको खा जाती है । अपने वीर्य प्रकर्षसे उनका लवण कर देती है । उदरकी अग्नि, अन्न, जल, दुग्ध, आदिका और चूल्हेकी अग्नि लकडीका भोग करती है । चैतन्य न होनेसे पुद्गलको भोगी न कहा जाय, इसमें स्वार्थी जीवका पक्षपातपूर्वक स्वप्रशंसा करना ही कारण है । भोक्ता पुरुषके समान स्त्री भी पुरुषकी भोक्त्री होती है । जो बच्चेको क्रीडा करा रहा है, वह स्वयं भी उसके साथ खेल रहा है । अतः सूक्ष्मदृष्टिको विचारनेवाले पक्षपातरहित पुरुष भोक्तृत्वको साधारणभाव स्वीकार करते हैं । यह जीवके भोग, उपभोग, भावोंसे न्यारा उदयादि की नहीं अपेक्षा रखता हुआ पारिणामिकभाव है । तथा पर्यायसहितपना भी पारिणामिक है । सभी द्रव्य अपनी अपनी नियतपर्यायोंको धारते हैं । इस कार्यको करनेमें उनको किसी कर्मके

उदयादिककी अपेक्षा नहीं है । असर्वगतपना भी आकाशको छोडकर सम्पूर्ण द्रव्योंमें पाया जानेवाला भाव है । आकाश सर्वगत है, इसका अर्थ मध्यम अनन्तानन्त इस बीसवीं नियत संख्यावाले प्रदेशोंको धारना मात्र है । सर्व शब्दसे अस्तित्वभाववाले जगत् स्थित अनन्तानन्त नियत पदार्थ पकडे जाते हैं, अलोकाकाशकी चौकोर प्रदेशभित्तिके बाहर फिर कोई भी छहऊ ओर पदार्थ नहीं है । अनन्तानन्त आकाशोंको जाननेकी शक्ति रखनेवाला केवलज्ञान पुनः आकाशके बाहर किसी पदार्थको नहीं जान रहा है । वहां कोई पदार्थ सम्भव होता तो उसको विषय कर लेता । सरल बुद्धिवाले शिष्योंको समझानेके लिये सर्वगतकी अपेक्षा आकाशको अनन्तगत कह देना व्युत्पत्ति सम्पादक है । वैशेषिक या पौराणिकोंके यहां ईश्वर सर्वशक्तिमान् माना गया है । सर्वशक्तिका अर्थ वे " कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् " समर्थ है ऐसा मानते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर चाहे तो मछलीसे मनुष्य पैदा हो जाता है, देवी और पुरुष या देव और मनुष्यिणी या तिर्यंचिनीके सम्बन्धसे भी अपत्य उत्पन्न हो जाता है । मुसलमानोंका खुदा तो जडको चेतन बना सकता है । चाहें जब आत्मायें बना लेता है, और चेतन द्रव्योंको नास्तित्व (नेस्तनाबूद) कर देता है । असत्का उत्पाद सत् द्रव्यका विनाश होना इष्ट कर लिया है, इत्यादि असम्भव कार्योंका सम्पादन कर देना भी सर्वशक्तिका अर्थ कर लिया है । किन्तु जैनसिद्धान्त अनुसार असम्भव कार्य किसीके द्वारा भी हुये नहीं माने गये हैं । जैनसिद्धान्तमें सर्वज्ञको या सिद्धजीवोंको अनन्त शक्तिमान् स्वीकार किया है, सर्वशक्तिमान् नहीं । अतः सर्वशक्तिमान्के समान सर्वगत आकाशके सर्वशब्दका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये । यदि कोई दुरुपयोग करना चाहे तो सर्वगतत्वभावको आकाशका भी परिणाम हम माननेको उद्युक्त हैं । कर्मके उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम इन निमित्तोंकी अपेक्षा नहीं होनेसे असर्वगतत्वभाव पारिणामिक है । तथा अनादि संततिबन्धनबद्धत्व भाव भी साधारण पारिणामिक भाव है । क्योंकि एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश, असंख्याते कालद्रव्य, अनन्तानन्त जीवद्रव्य और इनसे अनन्तानन्त गुणे पुद्गलद्रव्य ये नियत हो रहे सम्पूर्णद्रव्य अपनी अपनी अनादि अनन्त पर्यायोंके सन्तानस्वरूप बन्धनमें बंध रहे हैं । क्योंकि जीव पुद्गलद्रव्योंकी गति करनेमें उदासीन हेतुपन या सम्पूर्ण द्रव्योंमें उदासीन स्थापकत्व अथवा सम्पूर्ण द्रव्योंको अवकाश देना तथा वर्तना कराना एवं स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण चैतन्य, सुख आदि इन सहभावी, क्रमभावी, पर्यायोंकी सन्तान अपने अपने द्रव्यमें तदात्मक हो रही बांधी जाचुकी है, शुद्ध द्रव्यमें भी यह परिणाम पाया जाता है, अतः कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं होनेसे अनादि-बन्धनबद्धत्व नामका पारिणामिक भाव है । प्रदेशवत्त्व परिणाम भी सम्पूर्ण द्रव्योंका साधारण भाव है। सभी द्रव्य किसी न किसी चौकोर, गृहीतशरीर आकार, लोकविन्यास, षडश्चौकोर, बरफीसमान आदिसे स्थानोंको धार रहे व्यंजन पर्यायवाले हैं । वे उचितसंख्यात, असंख्यात या अनन्त प्रदेशोंको घेरकर बैठे हुये हैं। रूप, रस, आदि गुणोंके न होनेसे शुद्ध जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, कालमें पाया

जानेवाला अरूपत्व धर्म भी कर्मके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखनेके कारण पारिणामिक भाव है। यद्यपि पुद्गल द्रव्यमें कथमपि अरूपत्वभाव नहीं हैं। फिर भी अन्य चार द्रव्योंमें भी पाया जाना होनेसे अरूपत्वभाव जीवका साधारण परिणाम ही गिना जायगा, तथा नित्यद्रव्य अर्थको ग्रहण करनेकी अपेक्षा संपूर्ण अन्योंमें उत्पाद, व्यय, न होनेसे कर्मोंके उदयादिक की अपेक्षा न रखनेवाला नित्यपना भी पारिणामिक भाव है। एवं बहुतसी परमाणुयें लोकपर्यन्त उपरको जानेकी टेव रखती हैं। अग्नि उपरको जाती है। जलमें डुबोई हुई तूंबी ऊपरको उछलती है। अतः कुछ पुद्गलोंमें भी प्राप्त हुआ होनेसे उर्ध्वगतिपन स्वभाव भी जीवका साधारण भाव है। सभी द्रव्यें भविष्यकालमें होनेवाली पर्यायोंकी ओर बह रहीं है। अतः द्रव्यपना भी जीवका साधारण भाव है। चुम्बक, मोरपंख, अयोगोलक, अनुकूल गायन, मनोहारी रूप, लानि, आदि पुद्गलोंमें भी वर्तरहा होनेसे आकर्षकत्व भाव भी योगी जीवका साधारण परिणाम है, इत्यादि और भी पारिणामिकभाव समझ लेने चाहिये। इन साधारण भावोंमें कुछ तो षट्स्थानपतित हानि वृद्धिको प्राप्त हो रहे अनुजीवी गुण हैं। जैसे कि अस्तित्व और अगुरुलघु दूसरे नामको धारनेवाला अन्यत्व है। द्रव्यत्व, प्रदेशवत्व, भी अनुजीवी गुण हैं। तथा कर्तृत्व, आकर्षकत्व भोक्तृत्व ये पर्यायशक्तिरूप भाव हैं। पर्यायवत्त्व, असर्वगतत्व, अनादि संततिबन्धनबद्धत्व, अरूपत्व, ये द्रव्योंके स्वभाव हैं। द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा नित्यत्व और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अनित्यत्व अथवा स्वचतुष्टयकी अपेक्षा अस्तित्व और परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तित्व इत्यादिक भाव तो वस्तुकी भित्तिपर सप्तभंगीके विषय हो रहे कल्पनाक्रान्त परिणाम हैं। विद्वज्जन इसको और विशद रूपसे समझ सकते हैं। अथवा इन अस्तित्व आदि भावोंमें दो कर्तृत्व, भोक्तृत्वको जीवका ही असाधारण भाव समझो। असर्वगतत्वको आकाशभिन्न पांच द्रव्योंका परिणाम समझ लो। अरूपत्वको पुद्गलरहित पांच द्रव्योंका परिणाम मानो। अस्तित्व, अन्यत्व, पर्यायवत्त्व, प्रदेशवत्वको सभी छःऊ द्रव्योंका स्वभाव गिन लो। अनादिबन्धनबद्धत्वको जीव पुद्गल दो द्रव्योंका भाव विचार लो। तभी तो श्री विद्यानंद आचार्यने च शद्बकरके साधारण और असाधारण दोनों जातिके भावोंका समुच्चय किया कहा है। कभी साधारणका अर्थ छःऊ द्रव्योंमें ठहरना विवक्षित है। ऐसी दशामें जो भाव छःओंमें नहीं ठहरता हुआ दो, तीन, चार, पांच, द्रव्योंमें ही पाया जायगा वह असाधारण माना जायगा और कहीं जीवसहित दो तीन चार, या पांच द्रव्योंमें वर्त रहा भाव भी साधारण हुआ विवक्षाप्राप्त है।

तर्ह्यादिग्रहणमत्र न्याय्यमिति चेन्न, त्रिविधपारिणामिकभावप्रतिज्ञाहानिप्रसंगात्। समुच्चयार्थेपि च शद्बे सति तुल्यो दोष इति चेन्न, प्रधानापेक्षत्वात्त्रित्वप्रतिज्ञायाः। समुच्चीयमानास्तु चशद्बेनाप्रधानभूता एवास्तित्वादय इति न दोषः।

जब कि च शद्ब करके अस्तित्व, अन्यत्व आदिक पारिणामिक भावोंका समुच्चय किया जाता है, तब तो इस सूत्रमें " जीवभव्याभव्यत्वादीनि " इस प्रकार आदि शद्बका ग्रहण करना न्यायमार्गसे

अनपेन (समुचित) है । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो शंका नहीं करना । क्योंकि "द्विनवाष्टा" इत्यादि सूत्र करके गिनाये गये तीन प्रकारके पारिणामिक भावके प्रतिज्ञा करनेकी हानिका प्रसंग आता है । अतः सूत्रमें आदि शद्बको नहीं डालकर तीन प्रकार पारिणामिक भावोंको गिना दिया है । पुनः शंकाकार कहता है कि सूत्रमें समुच्चय अर्थको कहनेवाले च शब्दका ग्रहण करते सन्ते भी तो वही दोष समानरूपसे लागू होता है । अर्थात्—च शद्ब करके अस्तित्व आदि पारिणामिक भाव पकडे जावेंगे तो भी तीन प्रकारके पारिणामिक भावोंकी प्रतिज्ञा करनेकी हानि होय ही जावेगी, अतः प्रतिज्ञाभंग दोष तदवस्थ रहा । इसपर ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कटाक्ष तो नहीं कर सकते हो । क्योंकि पारिणामिक भावोंके तीन संख्याकी प्रतिज्ञाको प्रधानरूपकी अपेक्षा है । हां च शद्ब करके उपरिष्ठात् एकत्र करलिये गये तो अप्रधान भूत ही अस्तित्व आदिक ले लिये जाते हैं । अर्थात्—जीवत्व आदि तीन प्रधानभूतभाव हैं, और अस्तित्व आदि अप्रधानभूत हैं, जिनको कि कण्ठोक्त करनेकी कोई आवश्यकता नहीं । इस प्रकार कोई दोष नहीं हो पाता है ।

कुतः पुनः पारिणामिका जीवत्वादयो भावा इति चेत्, कर्मोपशमक्षयक्षयोपशमोदयानपेक्षत्वात् । तस्य जीवितपूर्वकत्वाज्जीवत्वमिति चेन्न, उपचारतो जीवत्वप्रसंगात् । मुख्यं तु जीवत्वं तस्येष्यते, ततो न ह्यौदयिकं ।

आत्माके जीवत्व आदिक भावोंको भला फिर पारिणामिकपना किस ढंगसे नियत किया जाय, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्दस्वामी कहते हैं कि कर्मोंके उपशम, क्षय, क्षयोपशम, और उदय की नहीं अपेक्षा होनेसे जीवत्व आदि भाव पारिणामिक हैं । कर्मोंके उपशमादिको निमित्त न मानकर केवल आत्मीय परिणामोंकी अपेक्षासे होनेवाले स्वभाविकभाव पारिणामिक हैं । यहां कोई यों कहे कि भ्वादिगणकी " जीव प्राणधारणे " धातुसे बनाया गया जीव शब्द है । अतः बहिरंग प्राण आयुष्य कर्मके उदयकी अपेक्षा रखते हुये जीवत्व भावको औदयिक मानना चाहिये । उदय आदिकी नहीं अपेक्षा रखना, यह पारिणामिकका लक्षण तो उसमें घटता नहीं है । श्री विद्यानंदस्वामी कहते हैं कि यह आक्षेप हमारे ऊपर नहीं हो सकता है । क्योंकि आयुकर्मके उदयकी अपेक्षासे यदि जीवत्व भाव माना जायगा तो सिद्ध महाराजके अजीवपनेका प्रसंग होगा । यदि कोई यों कहे कि अजीवीत्, जीवति, जीविष्यति, इति जीवः इस प्रकार तीनों कालमें जीवन क्रियाकी अपेक्षा रखनेवाला जीव है । श्री सिद्ध-परमेष्ठी पहिले संसार अवस्थामें आयुकर्मका उदय होता रहनेसे जीव रह चुके हैं । अतः भूतप्रज्ञापन पननयकी अपेक्षा सिद्धोंका भी जीवत्व रक्षित हो जाता है । सिद्धान्ती कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि यों तो सिद्धोंको उपचारसे ही जीवपनेका प्रसंग हुआ । वास्तवमें देखा जाय तो उन सिद्धोंके मुख्य होता हुआ जीवत्वभाव इष्ट किया गया है । तिस कारण निर्णीत हुआ कि जीवत्वभाव औदयिक नहीं है । पारिणामिक ही है ।

ननु च ज्ञानादेर्भावप्राणस्य धारणात् सिद्धस्य मुख्यं जीवत्वमित्यभ्युपगमे क्षायिकमेत-त्स्यादनंतज्ञानादेः क्षायिकत्वादिति चेत् न, जीवनक्रियायाः शब्दनिष्पत्त्यर्थत्वात् तदेकार्थसमवे-तस्य जीवत्वसामान्यस्य जीवशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वोपपत्तेः । अथवा न त्रिकालविषयजीवनाम-भवनं जीवत्वं । किं तर्हि ? चित्त्वं न च तदायुरुदयापेक्षं न चापि कर्मक्षयापेक्षं सर्वदाभावात् ।

यहां और भी किसीकी शंका है कि सिद्धोंके पांच इन्द्रिय, तीन बल, आयु, श्वासोच्छ्वास, इन दश द्रव्यप्राणोंका धारण नहीं है । फिर भी ज्ञान, सुख, चैतन्य, सत्ता इस प्रकारके भावप्राणोंका धारण होनेसे सिद्धोंके भी मुख्य जीवत्व प्राप्त हो जाता है, इस प्रकार स्वीकार करनेपर तो यह जीवत्वभाव क्षायिक हो जायगा । क्योंकि अनन्तज्ञान आदिक तो ज्ञानावरण आदि कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुये क्षायिक हैं । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि प्राणधारणरूप जीवन क्रिया तो व्याकरण शास्त्र द्वारा जीव शब्दकी साधु सिद्धि करने मात्रके लिये है । जहां ही जीव द्रव्यमें प्राण धारण रूप जीवनक्रिया रहती है, वहां ही जीवत्व नामकी जाति रहती है, जो दो धर्म एक द्रव्यमें समवाय सम्बन्धसे ठहरते हैं । उनका रूप, रसके समान परस्परमें एकार्थ समवाय सम्बन्ध माना गया है । अतः जीवत्व नामक सामान्यको जीव शब्दकी प्रवृत्तिका निमित्तपना युक्तिसे निर्णीत हो रहा है । जीवत्व जाति ही जीवत्वभाव है । रूढि शब्दोंमें धात्वर्थ क्रियाको केवल व्युत्पत्तिके लिये ही माना गया है । उसका परिपूर्ण अर्थ घटित करना आवश्यक नहीं, अथवा हम यह सिद्धांत करते हैं कि तीनों कालोंमें प्राणधारण या जीवत्व जाति इस नामके सद्भाव बने रहनेको हम जीवत्व नहीं मानते हैं, तो आप जैन जीवत्वका क्या अर्थ करते हैं ? इसका उत्तर यह है कि आत्माका चैतन्य गुण ही जीवत्व है । वह चेतना तो आयुष्य कर्मके उदयकी अपेक्षा रखनेवाली नहीं है । और वह चैतन्य कर्मोंके क्षयकी अपेक्षाको धारनेवाले भी नहीं है । कारण कि अनादिसे अनन्तकालतक निगोद अवस्थासे लेकर सिद्धोंतकमें वह चैतन्यभाव सदा पाया जाता है । औदयिकभाव या क्षायिकभाव तो सर्वदा नहीं पाये जाते हैं । अनादिकालसे अनन्तकालतक द्रव्य मुद्राकर परिणाम करता हुआ चैतन्य-गुण ही जीवत्व शब्दसे लिया जाता है । औदयिकभाव धारावाही रूपसे भले ही किसी अनादि अनन्त संसारी जीवके सदा पाये जांय किन्तु व्यक्ति रूपसे वे सादिसान्त हैं । हां चैतन्य तो व्यक्तिरूपसे भी अनादि अनन्त है । भले ही घटता बढता रहे क्षायिकभाव तो सादि अनन्त प्रसिद्ध ही है ।

एतेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामेन सिद्धभवनयोग्यत्वं भव्यत्वं तद्विपरीतमभव्यत्वं च पारिणामिकमुक्तेयं तस्यापि कर्मोदयाद्यनपेक्षत्वासिद्धेः सर्वदा भावात् । अनादिपरिणाम-मात्रनिमित्तत्वात् ।

इस उक्त कथन करके यह भी कह दिया गया उपरिष्टात् लक्षण समझ लेना चाहिये कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप परिणामकरके भविष्यमें सिद्धपर्याय होनेकी वर्त्तमानकालमें

वर्त रही योग्यता तो भव्यत्वभाव है। और उससे विपरीत जो रत्नत्रय रूप करके परिणाम नहीं हो सकनेकी योग्यता अभव्यत्व है। ये दोनों भाव पारिणामिक जान लेने चाहिये। क्योंकि उन भव्यत्व, अभव्यत्व, दोनोंको भी कर्मोंके उदय, उपशम, आदिकी नहीं अपेक्षा रखनेवालेपनकी सिद्धि हो जानेसे भिन्न दो प्रकार जातिवाले जीवोंमें उन दो की असंकररूपसे सर्वदा सत्ता पाई जाती है। अर्थात्— युक्तानन्त प्रमाण अभव्य जीवोंकी राशिमें सर्वदा अभव्यत्व परिणाम होता रहता है, तथा मध्यम अनंतानन्त प्रमाण अक्षय भव्य राशिमें बहुभाग भव्योंके सिद्ध अवस्था होनेतक भव्यत्वभाव बना रहता है। मोक्ष होनेपर भव्यत्वभाव बिगड जाता है। जैसे कि मृत्तिकामें घट बन जानेपर घट परिणाम योग्यता बिनश जाती है। हां दूरभव्योंमें भव्यता सर्वदा बनी रहती है, भव्यपना भविष्यकालकी अपेक्षासे है। कार्य निष्पत्ति हो जानेपर तो भव्यताके स्थानको भूतता घेर लेती है। सुवर्णपाषाण और अन्धपाषाणके समान अनादि कालसे चल आ रहे केवलभव्यत्व या अभव्यत्वरूप परिणामोंके निमित्तसे भव्यपना और अभव्यपना निर्णीत कर दिया जाता है।

कुतः पुनरनादिः परिणामः कर्मोदयाद्युपाधिनिरपेक्षो जीवस्य सिद्ध इत्यारेकायामाह।

कर्मोंके उदय, उपशम, आदि झगडोंकी नहीं अपेक्षा रखता हुआ जीवका परिणाम भला अनादि है यह किस प्रमाणसे सिद्ध किया जाय? बताओ, इस प्रकार शिष्यमें संशयका उत्थान होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य समाधानको स्पष्ट कहते हैं।

अनादिपरिणामोस्ति तत्रोपाधिपराङ्मुखः।
सोपाधिपरिणामानामन्यथा तत्त्वहानितः ॥ १ ॥

उस जीवमें कर्म, नोकर्म, आदिक उपाधियोंसे सर्वथा पराङ्मुख हो रहा कोई अनादि कालीन परिणाम अवश्य है, क्योंकि पश्चात् उपाधिसहित परिणामोंकी अन्यथा यानी मूल पारिणामिक वस्तुको माने बिना उस उपाधिसहित परिणामपनकी हानि हो जावेगी। मूल है तो शाखा चल सकती है "मूलं नास्ति कुतः शाखा" मूलमें कपडा है तो उसपर कोई भी रंग रंगा जा सकता है, आकाशको या आकाशके फूलको कोई रंग (रञ्जितकर) नहीं सकता है। इस अन्वय व्यतिरेक वाले हेतुसे जीवका निजगांठका डील पारिणामिकभाव है यह साध दिया गया है।

नहि स्फटिकादेरसति स्वाभाविकपरिणामे स्वच्छत्वे जपाकुसुमाद्युपाधिसान्निध्यभावानुजन्मा रक्तत्वादिपरिणामः प्रतीयते तद्वदात्मनोप्यौपाधिकाः परिणामा औपशमिकादयो नानादिपरिणाममंतरेणोपपद्यंते शशविषाणादेरपि स्वाभाविकपरिणामरहितस्यौपाधिकपरिणामप्रसंगात्। ततोस्ति जीवस्यानादिनिरुपाधिकः परिणामः कर्मोपशमादिपरिणामवत्। तथा सति।

देखो, स्फटिक, काच, आदिके गांठकी स्वाभाविक परिणाम हो रही स्वच्छताके नहीं माननेपर पुनः जपापुष्प, हरापत्ता, आदि उपाधियोंके सन्निकट भावसे उत्पन्न हुआ लाल रंग, हरापन आदिक परिणाम हुये नहीं प्रतीत होते हैं। किन्तु मूलमें स्वच्छ स्फटिक द्रव्य है, तभी उसमें जपापुष्पके सन्निधानसे औदयिक लालिमा जानली जाती है। वन्ध्या पुत्रको गहने या कपडोंसे नहीं सजाया जा सकता है और न उसके शरीरसे कुछ या पूरा मैल ही निकाला जा सकता है। उसी प्रकार आत्माकी निज सम्पत्ति हो रहे अनादि कालीन पारिणामिक भावोंके बिना उपाधिजन्य औपशमिक, क्षायोपशमिक, ऐसे सम्यक्त्व, ज्ञान, आदिक परिणाम होना तो नहीं बन सकता है। यदि मूलभित्तीको माने बिना ही चित्र खींचा जा सके तो स्वाभाविक परिणामरूप निज शरीरसे रहित हो रहे शशशृंग, आकाशपुष्प, आदिके भी औपाधिक परिणाम होते रहनेका प्रसंग हो जायगा, जो कि किसीको इष्ट नहीं है। तिस कारण यह सिद्धान्त बन जाता है कि जैसे जीवके कर्मोंकी उपशान्ति, क्षीणता, उदय, आदि निमित्तोंसे सादि या धारावाहि अनादिकालसे हो रहे औपशमिक, औदयिक आदि परिणाम साधे जा चुके हैं, उसी प्रकार जीवके उपाधियोंके बिना ही गांठके अनादि कालसे उपज रहे परिणाम सिद्ध हो जाते हैं अर्थात्—जीवोंके पांचों प्रकारके परिणामोंको हमने प्रमाणसे सिद्ध कर दिया है। और तैसी व्यवस्था कर चुकनेपर—

एतत्समुद्भवा भावा द्व्यादिभेदा यथाक्रमम्।
जीवस्यैवोपपद्यंते चित्स्वभावसमन्वयात् ॥ २ ॥

इन उपशम, क्षय, आदिसे भले प्रकार उत्पन्न हो रहे भाव तो यथाक्रमसे दो, नौ, आदि भेदोंको धार रहे हैं। ये भाव सब जीवद्रव्यके ही निजतत्त्व सिद्ध हो जाते हैं (प्रतिज्ञा वाक्य) क्योंकि जीवकी आत्मा बन रहे चैतन्य स्वभावका सम्पूर्ण भावोंमें भले प्रकार अन्वय हो रहा अनुभूत हो रहा है। अर्थात्—हां धारण, द्रव, उष्णता, ईरण, या रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, आदिका अन्वय यदि भावोंमें पाया जाता तब तो इनको पुद्गलका निजतत्व कह देते, किन्तु उक्त त्रेपन भावोंमें पुद्गल आत्मकपना नहीं देखा जाता है, अतः ये भाव जीवके ही समझ लेने चाहिये। कोई समयसाररसिक पण्डितमन्य यदि निश्चयनयका अवलम्ब लेकर औदयिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भावोंको पुद्गलका कह देवे, तो यह उसका आपेक्षिक कथन प्रमाण ज्ञान करनेके लिये आदरणीय नहीं है।

कर्मणामुपशमक्षयक्षयोपशमोदयप्रयोजना औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकौदयिका भावाः कर्मण एवेति न मन्तव्यं, कर्मोपशमादिभिः प्रयुज्यमानादौपशमिकादीनां जीवपरिणामत्वोपपत्तेः चेतनासंबंधात्वाच्च।

औपशमिक आदि शब्दोंमें प्रयोजन या भव अर्थ में ठण् प्रत्यय करनेपर यों अर्थ किया जाय कि कर्मोंके उपशम, क्षय, क्षयोपशम, और उदय, प्रयोजनको धारनेवाले औपशमिक, क्षायिक,

क्षायोपशमिक, औदयिक ये पचास भाव तो कर्मोंके ही हैं, इस प्रकार नहीं मानना चाहिये। क्योंकि औपशमिक आदिका स्वतंत्र कर्ता आत्मा ही है। प्रयोजक हेतु भले ही कर्मोंका उदय, उपशम, आदि अवस्थाको मान लिया जाय, कर्मोंके उपशम, आदिकों करके प्रयोजित किये जा रहे औपशमिक आदि भावोंको जीवका परिणामपना युक्तिसिद्ध है। भावार्थ—युद्धका या नृत्यका बज रहा बाजा लडता नाचता नहीं है। ये सब क्रियायें योद्धा या नर्तकीके आत्मीय कार्य (करतूतें) हैं। निमित्त कारणोंका आदर करना वहांतक ही शोभा देता है, जहांतक कि उपादानकारणोंकी निज सम्पत्तिपर डांका न डाला जाय। एक चनेका आधा एक दालको चनों भरी हजार मनकी लत्तीमें डाल देनेसे पूरे चनोंमेंसे आधे पांचसौ मन चनोंका दावा करना अनीति मार्ग है। दूसरी बात यह है कि औपशमिक आदि भावोंमें अन्वितरूपसे चेतनाका सम्बन्ध हो जानेसे भी ये सम्यग्दर्शन, गति, आदिक भाव सब जीव द्रव्यके ही हैं। पुद्गल कर्मके उपादेय नहीं हैं।

प्रधानस्यैवैते परिणामा, इत्यप्यनालोचिताभिधानं तत एव। न हि द्व्यादिभेदेषु यथाक्रममौपशमिकादिषु भावेषु चित्समन्वयोऽसिद्धस्तेषामहंकारास्पदत्वेन प्रतीतेरात्मोपभोगवत्। न चाहंकारोपि प्रधानपरिणामः पुरुषतादात्म्येन स्वयं संवेदनात्। भ्रांतं तत्तथा संवेदनमिति चेत् न, बाधकाभावात्। अहंकारादयोऽचेतना एवानित्यत्वात् कलशादिवत्येतदनुमानं बाधकमिति चेन्न, पुरुषानुभवेनानैकांतिकत्वात् तस्यापि परापेक्षितया कादाचित्कत्वेनानित्यत्वसिद्धेरित्युक्तत्वादुपयोगासिद्धौ। किं च—

कपिल मतानुयायी कहते हैं कि ये ज्ञान, क्रोध, आदिक परिणाम तो प्रकृतिके ही परिणाम हैं। सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, इनकी साम्य अवस्था स्वरूप प्रधान ही परिणाम करता है। आत्मा तो कूटस्थ अपरिणामी है। आचार्य कहते हैं कि यह सांख्यमतियोंका कथन भी उस ही कारणसे अर्थात्—क्रोधादिमें चेतनका सम्बन्ध ओत पोत लगा रहनेसे ही अविचारित है। साख्योंने चैतन्यका अन्वय आत्मीय भावोंमें ही स्वीकार किया है, क्रोध वेद आदिमें चैतन्यका स्पष्ट अनुभव हो रहा है। पुनः तुम सांख्य यथाक्रमसे दो, नौ आदि भेदोंको धार रहे, औपशमिक, क्षायिक, आदिक भावोंमें चैतन्यका समन्वय असिद्ध है, यह तो नहीं कह सकते हो। क्योंकि उन त्रेपन भी भावोंकी चिदात्माका उल्लेख करनेवाले अहंकारके प्रतिष्ठित स्थानपने करके प्रतीति हो रही है। जैसे कि मैं भोक्ता हूं, अहं द्रष्टा, अहं चेतयिता, इनमें आत्मीयताकी प्रतीति हो रही है। भावार्थ—प्रकृतिरूप पुंश्चली स्त्रीके द्वारा सम्पादित कराये गये, आत्मनिष्ठ उपभोगमें जैसे "अहं उपभोक्ता अस्मि" इस प्रकार अहंकारस्थलपनेसे आत्मस्वरूप चैतन्यका भले प्रकार अन्वय हो रहा है, उसी प्रकार औपशमिक, औदयिक, भावोंमें चेतनात्मक अहंकारका समरसरंग जम रहा है। कापिल मतानुयायी यों तो नहीं कह सकते हैं कि "प्रकृतेर्महांस्ततोहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात्पंचभ्यः पंचभूतानि" इस सृष्टिप्रक्रियाके अनुसार अहंकार

भी अव्यक्त प्रकृतिका व्यक्त परिणाम है। देखो यह कहना यों ठीक नहीं है कि आत्माके तदात्मकपने करके अहंकारका स्वयमेव सम्वेदन हो रहा है। अहं भोक्ता, अहं चेतनः, यहां अहंका आत्माके साथ *तदात्मक सामानाधिकरण है। पुनः यदि कापिल यों कहें कि अहं गौरः, अहं स्थूलः, मैं गोरा हूं,* मैं मोटा हूं, यहां गोरापन, मोटापन शरीरका अनुविधान करते हैं। उनमें अहंका सम्बन्ध जोडकर आत्माका समभिव्याहार करना जैसे भ्रान्त है, उसी प्रकार आत्माके साथ तदात्मकपने करके अहंकारका तिस प्रकार सम्वेदन करना भी भ्रान्त है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि अहं गौरः, अहं स्थूलः, इन प्रतीतियोंका बाधकप्रमाण विद्यमान है। आत्मा गोरा या मोटा नहीं है। पुद्गल निर्मित शरीर ही गोरा या मोटा होता है। इस प्रकार बाधक प्रमाण उत्पन्न हो जानेसे " अहं गौरः, अहं स्थूलः " यह सम्वेदन भ्रांत कहा जा सकता है। किंतु अहं क्रोधी, अहं ज्ञानवान्, अहं आत्मा, अहं चेतनः, इन प्रतीतियोंका कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अतः अहंकारका पुरुषके तदात्मकपने करके सम्वेदन होना अभ्रान्त है। यदि सांख्य उस सम्वेदनको बाधा देनेवाले इस अनुमानको उठावें कि अहंकार, बुद्धि, इन्द्रियां, आदिक पदार्थ (पक्ष) अचेतन ही हैं। (साध्य) अनित्य होनेसे (हेतु,) घट, पट, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त) ग्रन्थकार कहते हैं कि यह बाधक अनुमान तो समीचीन नहीं है। पुरुषके अनुभव करके व्यभिचार दोष उपस्थित हो जाता है। " बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते " बुद्धिके द्वारा निर्णीत किये गये अर्थको पुरुष चेतना करता है, उपभोग करता है। इस प्रकार उस पुरुषके अनुभवको भी परकी अपेक्षा होनेसे कभी कभी उत्पत्ति होनेके कारण अनित्यपना सिद्ध है। अतः अनुभव या उपभोगमें अनित्यत्व हेतु रह गया और अचेतनत्व साध्य न रहा। अतः व्यभिचारी हेत्वाभाससे उत्पन्न हुआ वह अनुमान समीचीन नहीं है। तुम सांख्योंका प्रमाण ज्ञान बाधक होता है, और अप्रमाणज्ञान बाध्य होता है। किन्तु यहां प्रकरणमें तो विपरीत प्रस्ताव ही घटित हो रहा है। जिसको आप सांख्य बाधक कह रहे हैं, वह अप्रमाणज्ञान है, और जिसको आप बाध्य कह रहे हैं, वह अहंकारमें पुरुषके तदात्मकपने करके संवेदन होना तो प्रमाणज्ञान है। आत्मा उपभोग स्वरूप है, अहंकार स्वरूप है, इस सिद्धान्तको हम इस ग्रन्थके आदिमें ही दो सौ पचीसवीं वार्तिकसे लेकर दो सौ चवालीसवीं वार्तिकतक सांख्यमतका निरास करते हुये आत्माको उपयोगात्मक सिद्ध करते समय विशदरूपसे कह चुके हैं। दूसरी बात यह भी है कि —

क्षायिका नवभावाः स्युः पुरुषस्यैव तत्त्वतः।
क्षायिकत्वाद्यथा तस्य सिद्धत्वमिति निश्चयः॥ ३॥
कृत्स्नकर्मक्षयात्तावत् सिद्धत्वं क्षायिकं मतं।
सर्वेषामात्मरूपं चेत्यप्रसिद्धं न साधनम्॥ ४॥

जिस प्रकार कि एकसौ अडतालीस भी कर्मोंसे रहित हो जानेपर हुआ सिद्धत्वभाव उस आत्माका है पुद्गलका या प्रधानका नहीं है, इस प्रकार निश्चय है। नैयायिक, मीमांसक, सांख्य, सबने आत्माकी ही मोक्ष मानी है। उसी सिद्धत्व भावके समान ज्ञान, दर्शन, आदिक नौ क्षायिक भाव भी वास्तविक रूपसे आत्माके ही हो सकते हैं। देखिये, सबसे पहिले दृष्टांत रूपकर कहा गया सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुआ सिद्धत्वभाव तो क्षायिक है और वह सिद्धत्वभाव आत्माका तदात्मक स्वरूप है, यह सभी वादी, प्रतिवादियोंके यहां प्रसन्नतापूर्वक मान लिया गया है। क्षायिकभाव (पक्ष) आत्माके ही हो सकते हैं (साध्य) क्षायिक होने से (हेतु) सिद्धत्वके समान (अन्वय दृष्टान्त) हमारे इस अनुमान में दिया गया हेतु अप्रसिद्ध नहीं है। अर्थात् अन्वयदृष्टान्त में हेतु की साध्यके साथ व्याप्ति प्रसिद्ध हो रही है।

द्वावौपशमिकौ भावौ जीवस्य भवतो ध्रुवं।
मोक्षहेतुत्वतः कर्मक्षयजन्मदृगादिवत् ॥ ५ ॥
क्षायोपशमिका दृष्टिज्ञानचारित्रलक्षणाः।
भावाः पुंसोऽत एव स्युरन्यथानुपपत्तितः ॥ ६ ॥
प्रधानाद्यात्मका ह्येषा सम्यग्दृष्ट्यादिभावना।
न पुंसो मोक्षहेतुः स्यात्सर्वथातिप्रसंगतः ॥ ७ ॥

अनुमान द्वारा क्षायिक भावोंको आत्माका ही परिणाम साधकर अब औपशमिक भावोंको भी जीवके तदात्मक परिणामका अनुमान बनाते हैं। उपशम सम्यक्त्व और उपशम चारित्र ये दो औपशमिक भाव (पक्ष) निश्चित (अवधारित) रूपसे जीवके होते हैं। (साध्य) मोक्षका हेतु होनेसे (हेतु) कर्मके क्षयसे उत्पन्न हुये दर्शन, ज्ञान, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त) अर्थात्—"सम्मदंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे ववहारा णिच्चयदो तत्तिय मइयो णिओ अप्पा" इस युक्तिपूर्ण सिद्धांत अनुसार मोक्षके हेतु बन रहे परिणाम तो जीवके ही तदात्मकभाव माने जाते हैं। अतः जो जो मोक्षका हेतु है, वह जीवनिष्ठ उपादान कारणता निरूपित उपादेयतावान् होता हुआ तदात्मक जीवका परिणाम है। यह व्याप्ति बन जाती है। तथा इस ही कारणसे यानी मोक्षका हेतु होनेसे (हेतु) तीसरे दर्शन, ज्ञान, चारित्रस्वरूप, क्षायोपशमिकभाव भी (पक्ष) जीवके ही हो सकेंगे (साध्य) अन्यथा यानी जीव आत्माके परिणाम हुये विना दर्शन, ज्ञान, आदिकोंकी असिद्धि है। अतः अन्यथानुपपत्ति प्राणको धारनेवाले हेतुसे साध्यकी सिद्धि बन बैठती है, यदि कपिल सिद्धांत अनुसार ये सम्यग्दर्शन आदिक पचास या ओपनभाव भला प्रधानरूप होते या चार्वाक मत अनुसार भूत पुद्गलके

विवर्त्त होते तो ये भाव आत्माके मोक्षसम्पादक हेतु सर्वथा नहीं हो सकते थे । क्योंकि किसी विवक्षित पदार्थके भाव यदि अविवक्षित अर्थकी मुक्तिके सम्पादक बन बैठे तो अतिप्रसंग हो जायगा । धर्मात्मा जिनदत्तकी शुभ परिणतियां चोर, व्यभिचारी, यज्ञदत्तको कारागृह (जेलखाना) से मुक्ति करादेनेकी कारण बन बैठेंगी । इन्द्रदत्तका अभ्यास या व्युत्पत्ति भी महामूर्ख भवदत्तको परीक्षामें उत्तीर्ण करा देवेगी । सिद्धान्त यह है कि औपशमिक और क्षायिकभाव आत्माको मुक्तिके सम्पादक हैं । अतः ये जीवके ही तदात्मक परिणाम हैं । अन्य किसीके विवर्त नहीं हैं ।

क्षायोपशमिकाः शेषा भावाः पुंजन्मताभृतः ।
क्षायोपशमिकत्वात्स्युः सम्यग्दृग्बोधवृत्तवत् ॥ ८ ॥
जीवस्यौदयिकाः सर्वे भावा गत्यादयः स्मृताः ।
जीवे सत्येव सद्भावादसत्यनुपपत्तितः ॥ ९ ॥
कर्मोदये च तस्यैव तथा परिणमत्वतः ।
तेषां तत्परिणामत्वं कथंचिन्न विरुध्यते ॥ १० ॥

छठी वार्तिकमें कहे जा चुके सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, स्वरूप छह क्षायोपशमिक भावोंसे शेष बच रहे कुज्ञान, दर्शन, लब्धियां, संयमासंयम ये बारह क्षायोपशमिक भाव भी (पक्ष) पुरुष से जन्म लेनेपनको धारण करनेवाले हैं, (साध्य) क्षयोपशम प्रयोजनको धारनेवाला होने से (हेतु) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रके समान (अन्वय दृष्टान्त) अंगुली पकडकर पौंचा पकडते हुये सम्पूर्ण शरीर पकड लिया जाता है । सर्व प्रसिद्ध सिद्धत्वभावका दृष्टान्त पाकर नौ क्षायिकभाव पुरुषके ही परिणाम हैं, यह साध दिया गया है । सिद्ध हुये क्षायिक भावोंको दृष्टान्त बनाकर दो औपशमिक भावोंमें जीवका तदात्मकपना अनुमित करा दिया है । उस ही हेतु से तीन क्षायोपशमिक सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र स्वरूपोंमें जीवका तदात्मकपना साधकर उनको दृष्टान्त बनाते हुये शेष कुज्ञानादि क्षायोपशमिक भावोंके जन्मका उपादान कारण जीवको साध दिया है । तथा गति, कषाय, आदिक सभी औदयिकभाव (पक्ष) जीवके तदात्मक परिणाम ही आम्नायप्राप्त गाये गये हैं (साध्य) जीवके होनेपर ही उनका सद्भाव पाया जाता है (हेतु) और जीवके नहीं होनेपर गति आदिक भावोंकी उपपत्ति नहीं होने पाती है (व्यतिरेक व्याप्ति) कारण कि कर्मोंके उदयका निमित्त मिलनेपर उस संसारी जीवके ही तिस प्रकार गति, कषाय, आदि स्वरूप तदात्मक परिणाम हो रहा है । अतः उन गति आदिक भावोंको उस जीवका तद्रूप परिणामपना किसी ढंगसे भी विरुद्ध नहीं पडता है ।

भव्याभव्यत्वयोर्जीवस्वभावत्वं विभाव्यते ।
पारिणामिकतायोगाच्चेतनत्त्वविवर्तवत् ॥ ११ ॥
चेतनत्वस्वभावत्वमात्मनोऽसिद्धमित्यसत् ।
स्वोपयोगस्वभावत्वसिद्धेः प्रागभिधानतः ॥ १२ ॥

पांचवे पारिणामिक भावोंमें पडे हुये भव्यत्व, अभव्यत्व, भावोंमें (पक्ष) जीवस्वभावपना विचार किया जाता है (साध्य), पारिणामिकपनेका तादात्म्य सम्बन्ध होनेसे (हेतु) चेतनत्व (जीवत्व) नामक विवर्तके समान (अन्वयदृष्टान्त) । यहां यदि कोई चार्वाक या वैशेषिक यों कहें कि आत्माका चैतन्यस्वभावपना तो असिद्ध है, आचार्य कहते हैं कि यह उनका कहना असत्य है । क्योंकि ग्रन्थकी आदिके पहिले प्रकरणमें आत्माके निज उपयोग स्वभावपनकी सिद्धिका कथन हो चुका है । अभी क्षायोपशमिक भावोंको गिनाते समय पांचवे सूत्रका विवरण करते हुये भाषाभाष्यमें इस बातपर बहुत बल दिया जा चुका है कि ये औपशमिक आदि त्रेपन भाव सब जीवके ही तदात्मक परिणाम हैं ।

नन्वौपशमिकादीनां त्यागश्चेन्निर्वृतात्मनः ।
निःस्वभावत्वमासक्तं नैरात्म्यं सर्वथा ततः ॥ १३ ॥
तदत्यागे तु मोक्षस्याभावः स्यादात्मनः सदा ।
ततो न तत्स्वभावत्वं जीवस्येत्यपरे विदुः ॥ १४ ॥

स्वपक्षका अवधारण करते हुये किसीका यहां पूर्वपक्ष है कि मोक्षको प्राप्त हो चुके आत्माके यदि " औपशमिकादि भव्यत्वानां च " इस सिद्धान्त अनुसार मोक्ष अवस्थामें औपशमिक, औदयिक, आदिक भावोंका त्याग है, तब तो मुक्तको स्वभावोंसे रहितपनेका प्रसंग प्राप्त होता है । जब कि आप जैनोंने औपशमिक आदि भावोंको आत्माका निजस्वभाव मान रक्खा है, और वैसा हो जानेसे सभी प्रकार आत्माको निरात्मकपना (शून्यपना) हुआ । यों तो सम्पूर्ण स्वभावोंसे रीता अश्वविषाणके समान मुक्त आत्मा असत् पदार्थ ठहरा । जहां अपना तत्त्वका सब खोज मिट जाय, ऐसी मुक्तिके लिये भला कौन सहृदय जीव अभिलाषुक हो सकेगा ? हां, यदि मुक्तजीवके उन औपशमिक आदि भावोंका त्याग नहीं माना जायगा, तब तो सर्वदा ही आत्माके मोक्ष होनेका अभाव हो जायगा, क्योंकि औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, भाव ये आत्माके साथ सर्वथा तदात्मक हो रहे चुपटे रहेंगे, जो कि बन्ध अवस्थामें ही होते हैं तो काहेको भला कभी आत्माकी मोक्ष होने देंगे ? तिस कारणसे त्याग और अत्याग दोनों पक्षके अनुसार जीवको उन औपशमिक

आदि स्वभावसहितपना ठीक नहीं जचता है। अभी जीवके तदात्मक स्वभाव औपशमिक आदिक भाव नहीं हैं। इस प्रकार कोई नैयायिक या बौद्ध दूसरे विद्वान् समझ बैठे हैं। अब आचार्य उत्तरपक्ष कहते हैं उसको सुनो।

तदसंगतमादेशवचनादेव देहिनः।
तेषां तद्रूपताभीष्टेरत्यागाच्च कथंचन ॥ १५ ॥
चित्स्वभावतया तावन्नैषां त्यागः कथंचन।
क्षायोपशमिकत्वौपशमिकत्वेन तत्क्षये ॥ १६ ॥
तेषामौदयिकत्वेन नैव स्यान्निःस्वभावतः।
मोक्षाभावोपि न पुंसः क्षायिकाद्यविनाशतः ॥ १७ ॥

उन पण्डितोंका वह कथन असंगत है। क्योंकि अपेक्षापूर्वक वचनसे ही हम औपशमिक भावोंका त्याग और कथंचित् उन भावोंका अत्याग दोनों बातोंको स्वीकार करते हैं। चैतन्य स्वभावपने करके कथंचित् उन भावोंका त्याग नहीं होता है। अर्थात्–अन्वित होनेवाले चैतन्य भावका सर्वदा सद्भाव है। अतः जीवके उन परिणामोंके साथ तद्रूपपना हमको अभीष्ट है। शिष्यको नहीं पढाते समय भी गुरुका गुरुपना सदा अवस्थित रहता है। सेवाकार्य न कराते हुये भी स्वामीमें सेवकका आधिपत्य अक्षुण्ण बना रहता है। उसी प्रकार जो ही चैतन्य परिणाम पहिले निमित्तजन्य भावोंमें ओत पोत ठुस रहा था वह सिद्ध अवस्थामें भी चैतन्यभाव शुद्ध होकर दमक रहा है। अतः चैतन्य स्वभावपनेसे तो इनका किसी भी ढंगसे त्याग नहीं है, हां क्षायोपशमिकपन या औपशमिकपन, करके उन ज्ञान आदि या सम्यक्त्व आदि भावोंका क्षय हो जानेपर तथा औदयिकपन करके उन गति आदिक भावोंका मोक्ष अवस्थामें नाश हो जानेपर तो आत्माका स्वभावरहितपना नहीं प्रसंग प्राप्त होगा तथा द्वितीय विकल्प अनुसार पुरुषके मोक्षका अभाव भी नहीं होगा। क्योंकि क्षायिक या पारिणामिक हो रहे केवलज्ञान, जीवत्व, अस्तित्व, आदि भावोंका विनाश नहीं हुआ है। कपडेका बना हुआ चोला उतार देनेसे मनुष्य मर नहीं जाता है। औपशमिक, क्षायोपशमिक, और औदयिकभाव भले ही अपने उपरिष्ठात् रंगे हुये रूपसे नष्ट हो जांय, किन्तु क्षायिक और पारिणामिकभाव अक्षुण्ण तदवस्थ हैं। अतः जीव सर्वथा स्वभावोंसे रहित नहीं हुआ और व्यर्थका टण्टा बखेडा हट जानेसे मोक्ष भी बडी प्रसन्नतापूर्वक हो जाती है।

न चौपशमिकादीनां नाशाज्जीवास्वभावता।
प्रतिक्षणविवर्तानां तत्स्वभावत्वहानितः ॥ १८ ॥

कूटस्थात्मकतापत्तेः सर्वतार्थक्रियाक्षतेः ।
वस्तुत्वहानितो जीवतत्त्वाभावप्रसंगतः ॥ १९ ॥
तथा च नाशिनो भावाः स्वभावा नात्मनस्तथा ।
अनात्मनोऽपि ते न स्युरिति तद्वस्तुता कुतः ॥ २० ॥
एवं निःशेषतत्त्वानामभावः केन वार्यते ।
नास्तिभावस्वभावत्वाभावसाधनवादिनाम् ॥ २१ ॥
ततः स्याद्वादिनां सिद्धः शाश्वतोऽशाश्वतोपि च ।
स्वभावः सर्ववस्तूनामिति नुस्तत्स्वभावता ॥ २२ ॥

कोई आक्षेप करता है कि आप जैन औपशमिकभाव और आदिपदसे ग्रहण किये गये क्षायोपशमिक, औदयिक भावोंका नाश मोक्ष अवस्थामें मानते हैं। ऐसा होनेसे तो औपशमिक आदि भावोंको जीवका स्वभावपना नहीं आया। क्योंकि जिसका स्वभाव है वह स्वभाववान्के नष्ट होनेपर भले नष्ट हो जाय, किन्तु स्वभाववान्के नहीं नष्ट होनेपर तो उसका वह स्वभाव नष्ट नहीं होता है। जबतक अग्नि है उसका उष्णतास्वभाव सदा स्थिर रहता है। कस्तूरी कभी गन्धरहित नहीं रहती है। अतः औपशमिक आदिकोंका आत्माके विद्यमान होनेपर भी यदि नाश मान लिया जायगा तो वे जीवका स्वभाव नहीं ठहर सकते हैं। अब आचार्य महाराज कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यों तो प्रत्येक क्षणमें नवीन नवीन हो रहे पर्यायोंको भी उस पर्यायीके स्वभाव होनेकी हानि हो जायगी। अर्थात्--प्रत्येक द्रव्यके पूर्वक्षणभावी पर्यायोंका नाश होकर उत्तर क्षणमें नवीन नवीन पर्याय उपज रहे हैं। अतः आप आक्षेपकारके विचार अनुसार वे क्षणिक पर्याय उस पर्यायीके स्वभाव नहीं ठहर पायेंगे। अशुद्ध द्रव्य अग्निकी भी तो उष्णता पर्याय प्रति क्षणमें बदल रही है। मध्य अवस्थामें या मध्यान्ह कालमें अग्निकी जितनी तीव्र उष्णता है उतनी प्रातःकालमें या आद्य-अवस्थामें नहीं है। ज्येष्ठ मासका ताप माघ मासमें दुर्लभ हो जाता है। प्रतिक्षण होनेवाले पर्यायोंको यदि उस पर्यायीके स्वभाव नहीं माना जायगा, तब तो पदार्थोंके कूटस्थ आत्मकपनेकी आपत्ति बन बैठेगी, इस ढंगसे सभी प्रकारों करके अर्थक्रियाकी क्षति हो जानेसे वस्तुत्वकी हानि हो जाती है। और ऐसा हो जानेसे जीव तत्त्वके अभावका प्रसंग हो जायगा, और तिस प्रकारकी अवस्थामें आत्माके हो रहे तिस प्रकार नाश होनेवाले प्रतिक्षणवर्ती परिणाम तो आत्माके नहीं कहे जा सकते हैं, तथा आत्मासे भिन्न पुद्गल तत्त्व, धर्म द्रव्य, आदिके भी वे क्षणिक विवर्त उनके स्वभाव न हो सकेंगे। ऐसी दशामें जीव और अजीव पदार्थोंको भला वस्तुपना कैसे रक्षित रह सकता है ? इस

प्रकार अव्यवस्था मच जानेसे नास्ति ही जानेवाले भावको उसके स्वभावपनके अभावका साधन कर रहे वादियोंके यहां सम्पूर्ण तत्त्वोंका अभाव हो जाना किस करके रोका जा सकता है ? अर्थात्—प्रतिक्षणके विवर्तोंको द्रव्यका स्वभाव न माननेपर कूटस्थपनका प्रसंग होगा। वस्तुका लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है, अर्थक्रिया न होनेसे वस्तुत्वकी हानि होते हुये जीवतत्त्वका ही अभाव हो जायगा। नाशशील भाव जैसे आत्माके नहीं माने जाते हैं, उसी प्रकार अजीव तत्त्वोंके भी नाश होनेवाले विवर्त्त तो स्वभाव न हो सकेंगे। तब तो जीव, अजीव, सबके वस्तुत्वकी क्षति हो जानेसे शून्यवाद आगया। किन्तु वह तो आक्षेपकारको इष्ट नहीं पडेगा। तिस कारणसे स्याद्वादियोंके यहां यह सिद्ध हो जाता है कि चाहे सर्वदा स्थित रहनेवाला शाश्वत परिणाम हो अथवा कदाचित् स्थिर रहनेवाला अशाश्वत परिणाम होवे सब सभी वस्तुओंके तदात्मक स्वभाव माने जाते हैं। इसी ढंगसे कदाचित् होनेवाले उन औपशमिक आदि भावोंको भी आत्माका स्वभावपना सिद्ध हो जाता है। स्याद्वाद सिद्धान्तको माननेवाले जैनोंके यहां वस्तुके अनेक स्वभाव तो एक क्षणस्थायी ही हैं। और कितने ही स्वभाव बहुत क्षणोंतक ठहरनेवाले हैं तथा अनन्त स्वभाव सर्वदा नित्य स्थित रहते हैं। देवदत्तकी बाल्य, कुमार, युवा, अवस्थायें तदात्मक स्वभाव होती हुई नष्ट होती रहती हैं। फिर भी जन्मसे लेकर मरण पर्यंत ही देवदत्त स्थिर रहता है। कोई भी द्रव्य, कूटस्थ नित्य नहीं है। प्रतिक्षण अनेक उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, उसमें पाये जाते हैं, तभी वह सत् बना रह सकता है। मधुमक्खियोंके समुदाय प्राप्त छत्तेमेंसे अनेक मधुमक्खियां आतीं जातीं रहतीं हैं। उसी प्रकार द्रव्यमें अनेक स्वभावोंके उत्पाद, विनाश, होते रहते हैं। संसार अवस्थामें तदात्मक रूपसे हो जा चुके औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, भावोंका नाश हो चुका है। फिर भी मोक्ष अवस्थामें उन भावोंका अवस्थाता नित्य द्रव्य आत्मा या चेतना आदि गुण विद्यमान हैं। क्षायिकभाव, पारिणामिकभाव, शाश्वत गुण इनके बने रहनेसे परिशुद्ध हो रहा जीव द्रव्य अनन्तकालतकके लिये सिद्ध हो जाता है। सूक्ष्मतासे विचारो तो प्रतिक्षण पर्याय रूप हो रहे क्षायिकभाव और पारिणामिक भावोंका भी परिवर्तन हो रहा है। एतावता द्रव्यस्थिति और भी सुदृढ हो जाती है। चर्म या लोहपत्ती अथवा डोरीको लपलपाते रहनेसे वे अत्यधिक कालान्तरस्थायी होते हुये पुष्ट बन रहते हैं। यहांतक जीवके तदात्मक हो रहे पेपन भावोंकी सिद्धि कर दी गयी है। विशेष यह कहना है कि जैसे कर्म शरीरके अनुसार आत्माके औपशमिक आदि भाव होते हैं, उसी प्रकार नोकर्मशरीर अनुसारके भी यथासम्भव औपशमिक आदि भाव लगाये जा सकते हैं। द्रव्य क्षेत्र काल भाव भी स्वतंत्र रूपसे अथवा कर्म, नोकर्मोंकी विभिन्न परिणामित शक्तियों द्वारा जीवोंके अनेक परिणामोंके सम्पादक हैं। भावार्थ— कर्मोंके उदय आदि समान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अथवा नोकर्मका वातावरण भी जीवोंके सुखदुःख मोक्ष आदि कार्योंके निमित्त कारण हैं।

एवं जीवस्य स्वतत्त्वं व्याख्याय लक्षणं व्याचिख्यासुरिदं सूत्रमाह।

इस प्रकार जीवके अनुजीवक निज तत्त्वोंका व्याख्यान कर अब जीवके लक्षणकी व्याख्या करनेके अभिलाषुक श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्रको स्वतंत्रतापूर्वक दूसरोंके लिये स्पष्ट कह रहे हैं।

उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥

अन्तरंग, बहिरंग, कारण मिलनेपर ज्ञाता, दृष्टा, आत्माके चैतन्य अंशका अनुविधान करनेवाला उपयोग परिणाम तो जीवका लक्षण है।

जीवस्येत्यनुवर्तते। कः पुनः स्वतत्त्वलक्षणयोर्विशेषः? स्वतत्त्वं लक्ष्यं स्याल्लक्षणं च लक्षणं। लक्षणं तु न लक्ष्यं इति तयोर्विशेषः।

द्वितीयाध्यायके पहिले सूत्रसे जीवस्य इस पदकी अनुवृत्ति कर ली जाती है। तैसा होनेपर जीवका लक्षण उपयोग है। ऐसा वाक्य अर्थ बन जाता है। यहां किसीका प्रश्न है कि पूर्व सूत्रमें जीवके स्वतत्त्वका निरूपण किया गया है। और इस सूत्रमें जीवका लक्षण कहा गया है। अतः बताओ कि फिर स्वतत्त्व और लक्षणमें क्या विशेषता (अन्तर) है? अब आचार्य महाराज समाधान करते हैं कि स्वतत्त्व तो लक्षण करने योग्य हो रहा स्यात् लक्ष्य भी हो जाता है। और कथंचित् लक्षण भी हो जाता है। किन्तु लक्षण तो लक्षण ही रहेगा, कथमपि लक्ष्य नहीं हो सकता है। इस ढंगसे उन स्वतत्त्व और लक्षणमें अन्तर है, अर्थात् —जीवके जो निजतत्त्व हैं वे जीवकी ही आत्मा हैं। अतः जीव लक्ष्य है, तो वे स्वतत्त्व भी लक्ष्य हैं। स्वतत्त्व कदाचित् जीवके लक्षण भी हो जाते हैं, हां उपयोग सर्वदा लक्षण ही रहेगा। अतः व्याप्यव्यापकभाव या व्यक्ताव्यक्तभावसे इनमें विशेषता पायी जाती है। अथवा स्वतत्त्वोंमें कितने ही भाव जीव लक्ष्यके समान व्यतिकीर्ण हो रहे हैं। वे स्वयं छिपे हुये हैं। किन्तु लक्षण तो व्यावर्तक हो रहा व्यक्त होना चाहिये, अतः लक्षण तो लक्षण ही है। स्वतत्त्वोंमें कई लक्ष्य हैं। क्योंकि उन भावोंसे ही तो जीवपिण्ड व्यवस्थित है। भावोंके अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। हां, उनमेंसे कुछ भाव तो जीवके लक्षण भी हो जाते हैं।

यद्येवं किमत्र जीवस्य स्वतत्त्वं लक्षणमित्याह।

प्रश्नकर्त्ता कहता है कि यदि स्वतत्त्व और लक्षणकी इस प्रकार व्यवस्था है तो बताओ, त्रेपन स्वतत्त्वोंमें कौनसा स्वतत्त्व जीवका स्वलक्षण माना जाय? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी सिद्धांतमार्गको बताते हुये कहते हैं।

तत्र क्षयोद्भवो भावः क्षयोपशमजश्च यः।
तद्व्यक्तिव्यापि सामान्यमुपयोगोस्य लक्षणं ॥ १ ॥

उन स्वतत्त्वोंमें जो कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुआ भाव है और जो कर्मोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ विशेष भाव है, इनके प्रकार हो रहीं उन बारह व्यक्तियोंमें सामान्य रूपसे व्याप रहा उपयोग तो इस जीवका लक्षण है।

क्षयोद्भवो भावः क्षायिको भावस्तस्य व्यक्ती केवलज्ञानदर्शने गृह्येते, क्षयोपशमजो मिश्रस्तस्य च व्यक्तयो मत्यादिज्ञानानि चत्वारि मत्यज्ञानादीनि त्रीणि चक्षुर्दर्शनादीनि च गृह्यंते तत्रैवोपयोगसामान्यस्य वृत्तेरन्यत्रावर्तनात्। तद्यपि सामान्यमुपयोगोस्य जीवस्य लक्षणमिति विवक्षितत्वात्, तद्व्यक्तेर्लक्षणत्वे लक्षणस्याव्याप्तिप्रसंगात्। बाह्याभ्यंतरहेतुद्वयसन्निधाने यथासंभवमुपलब्धुश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोग इति वचनात्।

क्षय से उत्पन्न हुआ भाव क्षायिक कहा जाता है। नौ क्षायिक भावोंमें यहां उसके विशेष व्यक्तिरूप केवलज्ञान और केवलदर्शन दो भाव ग्रहण किये जाते हैं। तथा कर्मोंके क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ मिश्रभाव सामान्यरूप से अठारह व्यक्तियोंमें व्याप रहा है। किन्तु यहां प्रकरण अनुसार उस क्षायोपशमिककी मतिज्ञान आदि चार व्यक्तियां और कुमतिज्ञान आदि तीन व्यक्तियां तथा चक्षुदर्शन आदि तीन व्यक्तिविशेष इस प्रकार दश मिश्रभाव पकडे जाते हैं। उन दो क्षायिक भाव और दश क्षायोपशमिक भाव इस प्रकार बारह व्यक्तिविशेषोंमें ही उपयोग सामान्यकी वृत्ति हो रही है। अन्य दान, सम्यक्त्व, संयमासंयम आदिमें उपयोग सामान्य नहीं वर्तता है। अतः उन बारह व्यक्तियोंमें व्यापनेवाला सामान्यरूप उपयोग इस प्रकरणप्राप्त जीव तत्त्वका लक्षण है, ऐसा अर्थ सूत्रकारको विवक्षित हो रहा है। यदि सामान्य उपयोगको लक्षण नहीं कर उस उपयोगकी विशेष व्यक्ति हो रहे मतिज्ञान या कुश्रुतज्ञान अथवा चक्षुदर्शन आदिमें से किसी एक व्यक्तिको जीवका लक्षण होना माना जायगा तो लक्षणके अव्याप्ति दोष हो जानेका प्रसंग होगा, जैसे कि गौका लक्षण कपिलपना करनेसे अव्याप्ति आती है उसी प्रकार मतिज्ञानको जीवका लक्षण बनानेसे पहिले तीन गुणस्थानोंतकके जीवोंमें या केवल ज्ञानियोंमें लक्षण घटित नहीं होगा, चक्षुदर्शनको ही जीवका लक्षण कह देने से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, जीवोंमें तथा तेरवे चौदहवें गुणस्थानवाले आत्माओं या सिद्धोंमें लक्षण समन्वय नहीं होनेसे लक्षण अव्याप्त हो जायगा। श्री अकलंक देवकृत राजवार्तिक नामक आकर ग्रन्थमें इस प्रकार कथन किया गया है कि आत्मभूत और अनात्मभूत दो बहिरंग कारण और अनात्मभूत, आत्मभूत दो अन्तरंग कारणके यथायोग्य सन्निधान होनेपर ज्ञाताद्रष्टा, आत्माके चैतन्यका अन्वय रखनेवाला परिणाम विशेष उपयोग है। इस प्रकार सामान्य उपयोगको जीवका लक्षण आम्नायसे माना गया चला आ रहा है।

अत्र हि न चैतन्यमात्रमुपयोगो यतस्तदेव जीवस्य लक्षणं स्यात्। किं तर्हि? चैतन्यानुविधायी परिणामः स चोपलब्धुरात्मनो न पुनः प्रधानादेः चैतन्यानुविधायित्वाभाव-

प्रसंगात् । न चासावहेतुको बाह्यस्याभ्यंतरस्य च हेतोर्द्वयस्योपात्तानुपात्तविकल्पस्य सन्निधाने सति भावात् । न चैवं परिणामविशेष उपयोगो मतिज्ञानादिव्यक्तिरूपः प्रतिपादितो भवति यथासंभवमिति वचनात् । ततो दर्शनज्ञानसामान्यमुपयोग इति सूक्तं ।

अकलंक सिद्धान्त अनुसार श्रीविद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि यहां सूत्रमें ग्राह्य, अग्राह्य, संपूर्ण ही चैतन्य या मात्र चेतना नामका अतीन्द्रिय गुण तो उपयोग शब्दसे नहीं पकडे गये हैं । जिससे कि वह सामान्य चैतन्य ही जीवका लक्षण हो जाय तो कौनसा चैतन्य विशेष उपयोग है ? इसका उत्तर तो यह है कि जैसे खडुआ, बाजू, कुण्डल, हंसुली, आदि परिणामोंमें सुवर्णपनेका अन्वय लग रहा है, उसी प्रकार चैतन्यका अन्वय रख रहा परिणामविशेष इस प्रकरणमें उपयोग लिया जाता है, और वह उपयोग परिणाम तो आत्माका है । किन्तु फिर प्रकृति या पृथ्वी आदिक तत्त्वोंका नहीं है । क्योंकि जडद्रव्योंका परिणाम माननेसे उपयोगको चैतन्यका अनुविधान रखनेवालेपनके अभावका प्रसंग होगा तथा वह चैतन्यानुविधायी परिणाम अहेतुक भी नहीं है । उसके हेतु विद्यमान हो रहे हैं । देखिये, उपात्त और अनुपात्त विकल्पोंको धार रहे बहिरंग कारणके द्वय तथा अभ्यंतर कारणके द्वयका सन्निधान होनेपर वह उपयोग उपजता है । उपयोगके बहिरंगकारण आत्मभूत और अनात्मभूत दो प्रकार हैं । घनांगुलके संख्यातवें भाग या असंख्यातवें भाग क्षेत्रको घेर रही पुद्गल निर्मित स्पर्शन रसना, आदि और मन ये इन्द्रियां तो आत्मभूत हैं । प्रदीप, अंजन, उपनेत्र (चश्मा) आदि अनात्मभूत हैं । तथा अन्तरंग कारणोंमें उपयोग लगानेका उपयोगी द्रव्ययोग तो अनात्मभूत कहा जाता है । और भावयोग या क्षयोपशमजन्य लब्धि तो आत्मभूत अभ्यंतर हेतु है । इनमें कितने ही प्रदीप आदि कारण तो उपात्त हैं, और लब्धि आदिक कारण अनुपात्त हैं । एक बात यह भी है कि इस प्रकारका परिणामविशेष उपयोग केवल मतिज्ञान या अवधिज्ञान, आदि अकेली व्यक्तिस्वरूप नहीं कह दिया गया है । क्योंकि पूज्य श्री अकलंकदेवने उपयोगके लक्षणमें " यथासम्भवम् " इस प्रकार पदप्रयोग किया है । तिस लक्षणके वटक अवयव पदसे सामान्यरूप करके सभी दर्शन और यावन्मात्र ज्ञान व्यस्तरूपसे उपयोग हो जाते हैं । यह ढंग बहुत अच्छा कहा गया है । यहांतक सूत्रके उद्देश्य दलका अकलंकलक्षणपूर्वक अच्छा निरूपण कर दिया गया है । सामान्य उपयोगको जीवका लक्षण कहना बहुत अच्छा है ।

किं पुनर्लक्षणं ? परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणं । हेमश्यामिकयोर्वर्णादिविशेषवत् । तद्द्विविधं आत्मभूतानात्मभूतविकल्पात् । तत्रात्मभूतं लक्षणमग्नेरुष्णगुणवत्, अनात्मभूतं देवदत्तस्य दंडवत् । तत्रेहात्मभूतं लक्षणमुपयोगो जीवस्येति प्रतिपत्तव्यं ।

किसीका प्रश्न है कि विधेय दलमें पडे हुये लक्षणका फिर क्या लक्षण है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी उत्तर करते हैं कि परस्परमें एक दूसरेसे बन्धरूप या अबन्ध रूप

सम्मिश्रण हो जानेपर विवक्षित पदार्थका जिस धर्म या धर्मी पदार्थकरके भिन्नपना प्रदर्शित कराया जाता है, वह लक्षण है ; जैसे कि सुवर्ण और कालिमाका वर्ण गुरुत्व, कान्ति, आदिकी विशेषतायें लक्षण हैं । भावार्थ -- सोनेमें चांदी, तांबा, या किट्ट, कालिमा, मिल रही है, ऐसी दशामें न्यारिया विशेष रंग या कसना अथवा तापजन्यकान्ति आदि लक्षणोंसे सुवर्णके भाग और कालिमाके भागकी परीक्षा कर लेता है । ज्ञान या सूर्यप्रकाशके पहिले सभी पदार्थ अज्ञान अन्धकारकी अवस्थामें घुल मिल रहे हैं । उनमेंसे लक्षण द्वारा ही नियत पदार्थोंका परिज्ञान किया जा सकता है । वह लक्षण आत्मभूत और अनात्मभूत विकल्पसे दो प्रकारका है । उन दो प्रकारोंमें अग्निके उष्णत्व गुण (पर्याय) के समान जो वस्तुके शरीरमें तदात्मक होकर प्रविष्ट हो रहा है वह तो आत्मभूत लक्षण है और जो देवदत्तके लक्षण दण्डसमान वस्तुमें तादात्म्य रखकर ओतपोत नहीं हो रहा है, वह अनात्मभूत लक्षण है । तिन आत्मभूत, अनात्मभूत, लक्षणोंमें यहां जीवका उपयोग लक्षण तो आत्मभूत है ऐसा समझना चाहिये ।

नात्मभूतो जीवस्योपयोगो गुणत्वादग्नेरुष्णवदिति चेन्न, एकांतभेदनिराकरणस्योक्तत्वाद्गुणगुणिनोः, गुणिनः कथंचिदभिन्नस्यैव गुणत्वोपपत्तेरन्यथा गुणगुणिभावविरोधात् घटपटादिवत् । सर्वथा भिन्नमेव लक्ष्याल्लक्षणं दंडादिवत् इति चेन्न, अनवस्थाप्रसंगात् । लक्षणाद्धि भिन्नं लक्ष्यं कुतः सिध्येत् ? लक्षणांतराच्चेत्तोऽपि यदि तद्भिन्नं तदा लक्षणांतरादेव सिध्येदित्यनवस्था । सुदूरमपि गत्वा यद्यभिन्नाल्लक्षणात्कुतश्चित्तत्सिध्येत् तदा न सर्वे लक्षणं लक्ष्याद्भिन्नमेव ।

वैशेषिकका जैनोंके ऊपर कटाक्ष है कि जीवका लक्षण उपयोग तो उसका आत्मभूत लक्षण नहीं है । (प्रतिज्ञा वाक्य) गुण होनेसे (हेतु) अग्निके उष्ण गुणसमान (अन्वय दृष्टान्त) अर्थात्—गुणीसे गुण सर्वथा भिन्न होता है । तभी तो आद्यक्षणमें द्रव्यके रहने हुये भी गुण नहीं उपजने पाते हैं । अग्नि द्रव्यसे उष्ण गुण भिन्न है । उसी प्रकार आत्मासे ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग, भिन्न होते हुये अनात्मभूत हैं । कोई लक्षण आत्मभूत नहीं हो सकता है । घटका लक्षण घट या कलश करना व्यर्थ है । अब आचार्य कहते हैं कि यों वैशेषिकोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि गुण और गुणीके एकान्त रूपसे भेद होनेके निराकरणको हम कह चुके हैं । गुणी द्रव्यसे कथंचित् अभेदको प्राप्त हो रहे पदार्थको गुणपना व्यवस्थित होगा । अन्यथा यानी दूसरे प्रकारोंसे गुणगुणीभावका विरोध है । जैसे घटका लक्षण पट नहीं हो सकता है, अथवा सह्यका लक्षण सर्वथा भिन्न पड़ा हुआ विन्ध्य पर्वत नहीं हो सकता है । घटका गुण सर्वथा भिन्न पट नहीं है । सह्यका गुण विन्ध्य पर्वत भी नहीं है । सर्वथा भेद तो जड पदार्थ और चैतन्यका है । किन्तु इनमें लक्ष्यलक्षणभाव या गुणगुणीभाव नहीं माना गया है । इसपर नैयायिक या वैशेषिक यदि यों कहें कि जैसे पुरुषसे दण्ड न्यारा है, देवदत्तसे कुण्डल भिन्न है, इन्द्रदत्तका कालीटोपीके साथ सर्वथा भेद है, किन्तु इनमें लक्ष्य-

लक्षणाभाव है। अतः दण्ड आदिकके समान लक्षण तो लक्ष्यसे सर्वथा भिन्न ही होता है। भला अभिन्न पदार्थ स्वयं अपना ही परिज्ञापक क्या होगा ? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। कारण कि अनवस्था दोष हो जानेका प्रसंग आता है। देखिये, लक्षणसे विशेष रूपकर भिन्न पडा हुआ लक्ष्य भला कैसे सिद्ध होगा ? बताओ, भिन्न लक्षणसे जानोगे ? और प्रकृत लक्ष्यके न्यारे लक्षणको यदि न्यारे अन्य लक्षणों से जानोगे तब तो वह लक्षण भी अपने लक्ष्यरूप लक्षणसे भिन्न ही होगा, फिर उसको भी तीसरे, चौथे, आदि लक्षणोंसे ही सिद्ध कर पाओगे। यही तो अनवस्था दोष है। भिन्नभिन्न पडते चले जा रहे पदार्थों से प्रकरण प्राप्त लक्षणोंकी ज्ञप्ति करना असम्भव बन बैठेगा। हां, बहुत दूर भी जाकर यदि किसी अभिन्न हो रहे लक्षण से उस अप्रसिद्ध लक्षणरूप लक्ष्यको जानोगे तब तो सभी लक्षण लक्ष्यसे भिन्न ही होते हैं, यह तुम वैशेषिकोंका एकान्त आग्रह नहीं व्यवस्थित हुआ। दूर जाकर जैसे लक्ष्यलक्षणमें अभेद मानना अनिवार्य पड गया, उसी प्रकार प्रथम ही से क्यों नहीं कथंचित् भेदाभेदका आश्रय पकड लिया जाता है ? दीर्घदर्शितासे काम लो, दीर्घसूत्रिता से नहीं।

तथा यदि प्रसिद्धं तल्लक्षणं लक्ष्यस्य प्रज्ञापकं तदा कुतस्तत्प्रसिद्धं ? स्वलक्षणांतरादिति चेत्तदपि स्वलक्षणांतरादित्यनवस्था। सुदूरमप्यनुसृत्य यदि लक्षणं स्वरूपत एव प्रसिध्येत्तदा न सकलं भिन्नमेव लक्षणं लक्षणस्य स्वात्मभूतलक्षणत्वात्। न चाऽप्रसिद्धं किंचित्कस्यचिल्लक्षणमिति प्रयोगात्।

दूसरी बात यह है कि सर्वथा भेद पक्षमें लक्ष्य भी लक्षण हो जाय और लक्षण भी लक्ष्य बन बैठे इसको कौन रोक सकता है ? स्वतंत्र हो रहे उदासीन फक्कडोंकी स्वच्छन्दप्रवृत्ति रोके रुकती भी तो नहीं है। यदि यह स्थूल सिद्धान्त माना जाय कि वह प्रसिद्ध पदार्थ ही उस अप्रसिद्ध लक्ष्यका लक्षण हो रहा संता उसका प्रकृष्ट ज्ञान करा देता है, तब तो हम जैन पूछेंगे कि उस लक्षणकी सिद्धी कैसे करोगे ? बताओ, यदि उस लक्षणके स्वकीय लक्षणान्तर से उसको प्रसिद्ध माना जायगा, तब तो वह लक्षणान्तर भी अपने न्यारे लक्षणान्तरसे प्रसिद्ध होगा और उस चौथी कोटिके लक्षणकी प्रसिद्धि भी पांचवे आदि लक्षणोंसे होगी, इस तरह जिज्ञासा बढते बढते अनवस्था बन बैठेगी। अत्यधिक दूर भी चलते चलते अनवस्थाके निवारणार्थ यदि लक्षणको निजस्वरूपसे ही प्रसिद्ध कर लिया जायगा तब तो सम्पूर्ण ही लक्षण भिन्न ही होते हैं, यह आग्रह नहीं चला। दसवीं, बीसवीं कोटिपर जाकर लक्षणका स्वात्मभूत धर्म ही लक्षण हो गया। जो पदार्थ अद्यावधि किसीके यहां प्रसिद्ध नहीं है, वह तो कोई भी किसीका भी लक्षण नहीं हो सकता है। इस प्रकार सब कोई कह रहे हैं। अतः कोई लक्षण भले ही लक्ष्यसे भिन्न होय, किन्तु सभी लक्षण तो लक्ष्यसे भिन्न नहीं हैं।

तयोर्भिन्नमेव लक्ष्याल्लक्षणमग्नेरुष्णादिवदिति चेन्न, विपर्ययप्रसंगात् । तादात्म्याविशेषेप्यात्मोपयोगयोरग्न्यौष्ण्ययोर्वोपयोगादिरेव लक्षणमात्मादेः न पुनरात्मादिरुपयोगादेरिति नियमहेत्वभावात् । प्रसिद्धत्वादुपयोगादिर्लक्षणमिति चेत्, किं पुनरात्मादिरप्रसिद्धः तथोपयोगमेकं कथमात्मोपयोगयोरग्न्युष्णयोर्वा तादात्म्यं प्रसिद्धाप्रसिद्धयोः सर्वथा तादात्म्यविरोधात् ।

कोई अभेद एकांतवादी कहता है कि सर्वथा भेदवादमें दोष आता है, तब तो लक्ष्यसे लक्षण अभिन्न ही मान लिया जाय। जैसे कि अग्निके उष्ण, दाहकत्व, पाचन, आदि लक्षण अभिन्न हैं, जैन जन आत्मासे उपयोगको कथंचित् अभिन्न मानते ही हैं, हमारे कहनेसे सर्वथा अभेद मानलेवें । अब आचार्य कहते हैं, यह तो न कहना । क्योंकि सर्वथा अभेद पक्षमें विपरीत होनेका प्रसंग हो जायगा। लक्ष्य भी लक्षण बन बैठेगा। जब कि दोनों एक ही हैं, आत्मा और उपयोग अथवा अग्नि और उष्णताके तादात्म्यका कोई अन्तर न रहते हुये भी उपयोग, उष्णता आदिक ही आत्मा, अग्नि, आदिकके लक्षण हो जांय, किन्तु फिर उपयोग, उष्णता, आदिके लक्षण आत्मा, अग्नि, आदि न होय इस तुम्हारी बातका नियम करनेवाला तुम्हारे पास कोई हेतु नहीं है । यदि तुम यों कहो कि अभिन्न हो जानेसे क्या हुआ ? प्रसिद्ध होनेसे उपयोग, उष्णता, आदिक ही लक्षण हैं । और अप्रसिद्ध हुये आत्मा, अग्नि, ये लक्ष्य हैं । यों कहनेपर तो हम जैन पूंछेगे कि क्योंजी, फिर आत्मा आदिक क्या अप्रसिद्ध हैं ? उस उपयोगके अनुसार तो ये एक ही हैं । जब कि आपने उपयोग और आत्माका अभेद मान लिया है, तो दोनों ही प्रसिद्ध या दोनों ही अप्रसिद्ध हो सकेंगे । तदात्मक दो पदार्थोंमें एक प्रसिद्ध और दूसरा अप्रसिद्ध यह तो हो नहीं सकता है । दूसरी बात यह है कि प्रसिद्ध हो रहे उपयोग और अप्रसिद्ध हो रहे आत्मा अथवा अप्रसिद्ध हो रही अग्नि और प्रसिद्ध हो रहे उष्ण गुणका भला तादात्म्य भी कैसे हो सकता है ? क्योंकि प्रसिद्ध अप्रसिद्ध दो पदार्थोंमें सर्वथा तादात्म्य होनेका विरोध है । तुमको स्वयं कण्ठोक्त उनका कथंचित् भेद मानना पडा ।

न चैकांतेनाप्रसिद्धस्य लक्ष्यत्वं खरविषाणवत् । नापि प्रसिद्धस्यैव लक्षणवत् कथंचित्प्रसिद्धस्यैव लक्ष्यत्वोपपत्तेः द्रव्यत्वेन प्रसिद्धस्य हि वन्हेरग्नित्वेनाप्रसिद्धस्य लक्ष्यत्वमुपलब्धं द्रव्यस्य च सत्त्वेन प्रसिद्धस्य द्रव्यत्वेनाप्रसिद्धस्य लक्ष्यत्वमुपपद्यते सतोपि वस्तुत्वेन प्रसिद्धस्यासत्त्वव्यतिरेकेणाप्रसिद्धस्य लक्ष्यत्वमुपलक्ष्यते नान्यथा । न चैवमनवस्था कस्यचित्क्वचिन्निर्णयोपलब्धेः । सर्वत्रानिर्णयस्य व्याहतत्वात् तस्यैव स्वरूपेण निर्णयात् । तदनिर्णये वा कथं सर्वत्रानिर्णयसिद्धिः ।

एक बात यह भी है कि तुमने अप्रसिद्धको लक्ष्य और प्रसिद्धको लक्षण कहा था, यह तो ठीक नहीं दीखता है । कारण कि जो पदार्थ एकांत रूपसे यानी सर्वांग स्वरूपसे अप्रसिद्ध है वह तो खरविषाणके समान लक्ष्य नहीं बन सकता है तथा सर्वथा एकान्त रूपसे प्रसिद्ध हो रहे ही पदार्थको लक्ष्यपना नहीं है, जैसे कि प्रकरणमें दोनों वादी प्रतिवादियोंके यहां प्रसिद्ध हो रहा लक्षण उस समय

लक्ष्य नहीं माना जाता है। हां कथंचित् अप्रसिद्ध और किसी अपेक्षा प्रसिद्ध हो रहे ही अर्थको लक्ष्यपना बनता है। देखिये, अग्नि उष्ण है इस प्रकार विशेष व्यक्तियों स्वरूप वह्निका अज्ञान रखनेवाले किसी अव्युत्पन्नके सन्मुख किसी ज्ञानीने अग्निका उष्णत्व लक्षण कहा, यहां द्रव्यपनेसे प्रसिद्ध हो रहे और अग्निपनेसे नहीं प्रसिद्ध हो रहे ही अनलको लक्ष्यपना देखा गया है। पशुपनेसे प्रसिद्ध हो रही गायका लक्षण शृंगसास्नावत्त्व कर दिया जाता है। अग्निको द्रव्य समझ रहे या गायको सामान्यरूपसे पशु या जीव समझ रहे मुग्धके प्रति वक्ता द्वारा उष्णपना या सींग, सास्नासहितपना, लक्षण करना सार्थक है। जो द्रव्यरूपसे या वस्तुरूपसे भी उक्त पदार्थोंको नहीं समझता है उसकी चिकित्सा न्यारी है। ऐसी दशामें अग्निका द्रव्यपना प्रथम समझाने योग्य है। वहां भी सत्पने करके प्रसिद्ध हो रहे और द्रव्यपने करके अप्रसिद्ध हो रहे द्रव्यको लक्ष्यपना बन रहा है। तभी " सद्द्रव्यलक्षणम् " कहना समुचित प्रतीत होगा। यदि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यसे सहितपन रूप सत्त्व भी किसीको ज्ञात न होय तो फिर उस सत्को ही लक्ष्य बनाओ। किन्तु वस्तुपने करके प्रसिद्ध हो रहे और असत्पनकी भिन्नता करके अप्रसिद्ध हो रहे ऐसे सत्को लक्ष्यपना देखा जा रहा है। अन्य प्रकारों से लक्ष्यपना नहीं बनता है। अर्थात्—उद्दिष्ट पदार्थका ही लक्षण किया जा सकता है और नामनिर्देश तो किसी न किसी निर्णीत धर्म से युक्त हो रहे पदार्थका किया जायगा। द्रव्यत्व धर्म से प्रसिद्ध हो रही अग्निका लक्षण उष्णत्व हो सकता है। यदि किसीको अग्निमें उष्णपनके समान द्रव्यत्व भी अप्रसिद्ध होय तो दृश्यमान या सम्भाव्यमान अग्निका सत्पने करके प्रसिद्ध हो चुकना आवश्यक है। जो उस अग्निरूप पदार्थको खरविषाण आदि असत् पदार्थों से भिन्न समझता हुआ सत् समझ रहा है उस सामान्य सत् अर्थको द्रव्यपने करके लक्षित किया जा सकता है। यदि सत्पनेका भी वहां निर्णय नहीं है तो कमसे कम उसमें वस्तुपनेकी प्रसिद्धी तो अवश्य हो चुकनी चाहिये। अवस्तुमें सत्पना नहीं दिखाया जावेगा। वस्तुपना भी यदि निर्णीत न होय तो अर्थ क्रिया-कारित्व लक्षण करके उस सर्वनाम वाच्य अर्थकी प्रसिद्धि हो चुकना आवश्यक है। उत्तरोत्तर दसवीं, बीसवीं, कोटिपर पहुंचते हुये अप्रसिद्धि बनी रहेगी तो ऐसी दशामें उस लक्ष्यका लक्षण नहीं बनना चाहिये। सौमीं कोटिपर जाकर भी यदि लक्ष्य किसी अंशसे प्रसिद्ध होगया है तो उससे उरली ओरके निन्यानवै लक्ष्योंको सुलभतासे कथंचित् प्रसिद्ध बनाया जा सकता है। असंख्य कोटिपर पहुंचकर भी कथमपि नहीं प्रसिद्ध हुयेको तो किन्हीं भी अन्य उपायों करके लक्ष्यपना नहीं बन पाता है। यदि कोई यों कटाक्ष करे कि इस प्रकार चौथी, बीसवीं, सौमी, आदि कोटियोंतक पहुंचते पहुंचते कहीं भी आगे चलकर ठहरना नहीं होने से अनवस्था हो जायगी, आचार्य कहते हैं कि यों तो न कहना। क्योंकि किसी न किसीको आगे चलते हुये कहीं न कहीं तो निर्णय होना देखा जा रहा है। पौंगा मनुष्य बहुत दूर चलकर भी धर्मोंके किसी अंशको नहीं जान पाया है, ऐसा कहनेवाले उस निजलोपी शून्यवादीके गुप्त घरके सन्मुख लक्षणवाक्य बोलना

अरण्यरोदनके समान व्यर्थ है । थोडीसी भी बुद्धिको रखनेवाला जिज्ञासु पुरुष बीसवीं, पंचासवीं, तो क्या चौथी, पांचवी, कोटिपर ही द्रव्यपन, सत्त्व, वस्तुत्व, इन सामान्य धर्मो करके लक्ष्य धर्मीका निर्णय कर चुका प्रतीत हो जाता है । लक्षणीय पदार्थको सत्, द्रव्य, या वस्तु समझ रहे बुभुत्सुके लिये उपकारी वक्ता द्वारा लक्षण वाक्य करके विशेष अंशोंकी व्युत्पत्ति करा दी जाती है । लक्ष्यलक्षणभावको स्वीकार करनेवालोंके यहां सभी पदार्थ, द्रव्य, वस्तु, आदिमें भी अनिर्णय बना रहे यह व्याघात दोषयुक्त वचन है । सबको मानकर पुनः उसमें नहीं निर्णय होनेको कह रहा पुरुष कहीं न कहीं निर्णयको अवश्य स्वीकार करता है । अतः हमको किसीका भी निर्णय नहीं है यों कहनेवाला पुरुष " मेरी माता बन्ध्या " के समान स्ववचनका विघात कर रहा है । उस पुरुषको उस सर्वत्र अनिर्णयका ही अपने अनिर्णयस्वरूप करके निर्णय हो रहा है । यदि उस अनिर्णयका अपने अनिर्णय शील करके भी निर्णय होना नहीं माना जायगा तो सर्वत्र अनिर्णयकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? अर्थात् —सेयमुभयतः पाशारज्जुः, अनिर्णयका अनिर्णय माना जाय तो भी कहीं न कहीं निर्णय होना बन जाता है । अनिर्णयका अनिर्णय ही तो निर्णय है । दो नञ् लगा देनेसे उसका सद्भाव आ जाता है और यदि अनिर्णयका निर्णय माना जाय तब तो सुलभतासे कहीं न कहीं निर्णय हो रहा सध जाता है । अतः सर्वत्र अनिर्णय कहना व्याघात दोषयुक्त होता हुआ उसी प्रकार छलपूर्ण वचन है जैसे कि कोई मीमांसक या बौद्ध विद्वान् वीतराग पुरुषका निषेध करनेके लिये यह युक्ति देता है कि बहुतसे सराग, ढोंगी, बकभक्त, पुरुष भी वीतराग सज्जनके समान चेष्टा करते हैं और वीतराग पुरुष भी कदाचित् पढाते, प्रायश्चित्त देते, प्रमोद भावना भावते हुये, सराग पुरुषोंके समान चेष्टा करते हैं । बात यह है कि यह केवल कपटमात्र है । वह विद्वान् अवश्य ही वीतराग और सरागके अन्तस्तलपर पहुंचकर उनके लक्षणोंको पहिचानता है तभी तो वीतराग भी सरागके समान चेष्टा करते हैं । यह सादृश्य मूलक वाक्यको कहता है । मुलम्मा सोनेके समान दीखता है, चांदी सीपके समान भासती है । कृत्रिम, अकृत्रिम, मुक्ताफल एकसे दीखते हैं, यों बखाननेवाला पुरुष असली, नकलीकी परख करना अवश्य जानता है । सिद्धान्त यह है कि सर्वथा अप्रसिद्ध ही लक्ष्य नहीं है । कथंचित् प्रसिद्ध और कथंचित् अप्रसिद्धको लक्ष्य कहना युक्तिपूर्ण जचता है ।

सर्वथा प्रसिद्धं लक्षणमित्यप्ययुक्तं, वृत्तद्राघिमादिना प्रसिद्धस्य दंडस्य कैश्चिदुरुपलक्ष्यैर्विशेषैरप्रसिद्धस्यापि देवदत्तलक्षणत्वप्रतीतेः । न हि प्रतिक्षणपरिणामः स्वर्गप्रापणशक्त्यादि सर्वथा सर्वस्य केनचिदुपलक्षयितुं शक्यते ।

आक्षेपकारने पहिले यह बात कही थी कि एकान्त रूप से अप्रसिद्ध हो रहा पदार्थ लक्ष्य होता है और सभी प्रकारों से प्रसिद्ध हो रहा पदार्थ लक्षण हुआ करता है । हम पहिले लक्ष्यके सर्वथा अप्रसिद्ध एकान्तवादका निराकरण कर चुके हैं । कथंचित् (बहुभाग) अप्रसिद्ध और कथंचित्

(एकभाग) प्रसिद्ध पदार्थ ही लक्ष्य हो सकता है। कहीं कहीं पदार्थके एक भागको भी लक्ष्य बनाया जा सकता है तथा सभी प्रकारोंसे प्रसिद्ध हो रहे पदार्थको लक्षण कहना इस प्रकार उनका दूसरा आग्रह भी युक्तियोंसे रीता है। क्योंकि गोल आकार, लम्बाई, कठोरता, सुन्दरता आदि धर्मों करके प्रसिद्ध हो रहे फिर भी कठिनता से देखनेमें आवें ऐसे किन्हीं लपलपापन, सारभाग (जौहर) मूल्य, बांसकी जाति, आदिक विशेषताओं करके अप्रसिद्ध भी हो रहे दण्डको देवदत्तका लक्षणपना प्रतीत हो रहा है। तभी तो लक्षण कर चुकनेपर भी परीक्षा करना आवश्यक हो जाता है। देवदत्तका डण्डा कितने मूल्यका है ? किस देशका है ? ठोस है या पोला है ? डण्डेकी इन सभी बातोंको प्रसिद्ध रूपसे जान लेना कठिन कार्य है। बौद्ध मतानुसार सम्पूर्ण पदार्थोंको क्षणिक माना गया है, जैन भी ऋजुसूत्रनयसे सर्वको क्षणवर्ती मानते हैं। दान, पूजन, आदि करनेवाले जीवमें स्वर्ग प्राप्त करनेकी शक्ति मानी गयी है। बीजमें हजारों, लाखों, असंख्य, पीढियोंतक संतान प्रति-संतानरूपसे अंकुरको उत्पन्न करनेकी दुर्बद्रूपल शक्ति मानी गयी है। सभी देखे जा रहे सम्मूर्छिसमुच्चय दृश्यमान स्कन्धोंको बौद्धोंने यथार्थरूपसे परमाणु स्वरूप स्वीकार किया है। भावार्थ—सभी पदार्थोंमें एकान्तरूपसे विशेषतायें घुसी हुई हैं। संसारमें अनेक मायाचारी जीवदयाका प्रयोग करते हैं। न जाने किन किन असंख्य अवक्तव्य अभिप्रायोंको लेकर जीव भ्रमण कर रहे हैं। कोई कपडा दो वर्षतक चलता है तैसे ही कोई वस्त्र दो, चार, दस, बीस दिनतक कमती बढती टिकाऊ होते हैं। कई हृष्ट, पुष्ट, शरीरवाले पुरुषोंकी मृत्युयें सुनीं जाती हैं। और दुर्बल, पतले, चिररोगी, अर्द्धांगग्रस्त लंगडे, कुष्ठी पुरुष बीसों वर्षतक जीवित बने रहते देखे जा रहे हैं। कितनीं ही घडियोंको दस, बीस वर्षतक नहीं सुधरवाना पडता है। साथमें वैसी ही घडियोंको एक एक महीनेमें ठीक कराना पडता है। बनारसका जल किसी किसी व्यक्तिको प्रकृतिके अनुकूल नहीं पडता है। साथमें अन्य व्यक्तिको हृष्ट, पुष्ट, बलिष्ठ, बना देता है। बात यह है कि सम्पूर्ण पदार्थोंके अन्तरंग क्षणस्थायीपन, स्वर्गप्रापणशक्ति, आदि स्वभावोंका सभी प्रकार सभी जीवोंमें किसी भी जीव करके जाननेके लिये सामर्थ्य नहीं है। अतः सर्वथा प्रसिद्ध हो रहे पदार्थको ही लक्षण कहना उचित नहीं है। सर्वज्ञ देवके सन्मुख तो लक्षण कर-नेकी आवश्यकता ही नहीं है। जिनको लक्षणके द्वारा लक्ष्यका बोध कराया जाता है वे प्रतिपाद्य और प्रतिपादक दोनों भी लक्षणके सम्पूर्ण स्वभावोंका निर्णय कर चुकनवाले नहीं होते हैं। अतः लक्षण भी बहुतसे सूक्ष्म अंशोंमें अप्रसिद्ध है, फिर भी स्थूल अंशोंकी प्रसिद्धिके अनुसार वक्ता, श्रोताओंके यहां प्रसिद्ध हो रहा लक्षण मान लिया जाता है। ऊपरसे सदृढ दीख रहे शरीरमें भी कोई रोग या निर्बलताका अंश छिपा हुआ है। अथवा शक्तिशाली प्रबल कारण जुट जानेपर उसी समय परिस्थिति अनुसार बन जाता है। रोगी कोढी जीवोंमें भी आयुष्य कर्म या नियत हड्डिओंका दृढपना वर्त रहा है। काशीके जलवायुमें भी किसी प्रकृतिवाले शरीरको पोषण करनेके अंश विद्यमान हैं और दूसरे शरीरको सरोग बनानेके शक्तिभाग उसमें पाये जाते हैं। सर्वज्ञके अतिरिक्त किसी भी जीवको किसी भी पदार्थके संपूर्ण

अंशोंका परिज्ञान नहीं हो पाता है। न जाने किस निमित्तसे कहां क्या नैमित्तिक भाव उपज बैठे। उष्णता शीतताका मिश्रण विशेष होनेपर किसीको शीघ्र श्लेष्म (जुकाम) हो जाता है। जिससे कि सेरों रस, रुधिर, आदिको नासिका द्वारसे निकालने योग्य बलखर सारिखे कफको बनानेके लिये उपयोगी यंत्रालय (कारखाना) शरीरमें बन जाता है। सर्वथा हृष्टपुष्ट नीरोग शरीरमें प्लेग हैजा, आदि छूत बीमारियोंका प्रसंग मिलनेपर उसी समय शरीरमें महारोग उत्पादक अंश उपज जाते हैं। शुद्ध द्रव्योंके अतिरिक्त अनन्तानन्त शेष रहे जीव और शरीर, अन्न, जल आदिक पदार्थ तो निमित्तोंके मिलते ही झट नैमित्तिक परिणामोंको बनानेके लिये मुंह बांधे बैठे रहते हैं। जैसे कि लोकमें नाईको धोबीकी, धोबीको कोरियाकी, कोरियाको बढईकी, बढईको किसानकी, किसानको साहूकारकी, साहूकारको राजाकी, राजाको अध्यापककी, अध्यापकको दूकानदारकी, दूकानदारको न्यायालयकी, न्यायालयको अपराधियोंकी, इत्यादिक रूपसे परस्परमें एक दूसरेकी आवश्यकतायें पड रहीं हैं, उसी प्रकार जड पदार्थ पुद्गलोंमें भी परस्परकी अपेक्षा रखते हुये अनेक परिणाम हो रहे हैं। बादल आना, वृष्टि होना, बिजली चमकना, ऋतुयें बदलना, सूर्यका एकसौ चौरासी गलियोंपर घूमना, चन्द्रोदय होना, पृथ्वीके गर्भमें विकार होना आंधी, गगनधूरि, कूडा, कचरा, मल मूत्रका सडना इत्यादिक परिणाम अनेक स्कन्धोंको भिन्न भिन्न परिणाम बनानेके उपयोगी निमित्त कारण बना देते हैं। उन निमित्तकारण स्कन्धोंसे जीव या शरीर अथवा जड पदार्थोंमें विभिन्न परिणतियां वर्त्तती रहती हैं जो कि किसी वृक्षके पुष्पोंका उद्गम कराती हैं, कहीं फल लगाती हैं, कहीं पत्तोंको झाडती हैं, ऋतुओंके योग्य कुत्ता, गधा, भैंसा, आदिके कामविकारोंको उत्पन्न कराती हैं। आम, खरबूजा, ककडी, अमरूद, लुकाट, आलूबुखारे, अनार, आदि फलोंको उगाती हैं। कहीं दक्षिण देशमें चैत्रमासमें ज्वार पकती है, जब कि उत्तर प्रान्तमें अगहन मासमें ही पक जाती है। गिरनारजी प्रान्तमें माघ महीनेमें ही खरबूजाका फलकाल (फसल) आ जाता है, किन्तु आगरा, सहारनपूरकी ओर जेठमें और लखनऊमें वैसाख महीनेमें उनका फलकाल है। कितने ही प्रान्तोंमें आमफल चैत्र वैसाख में ही फलित हो जाता है। अनेक स्थानोंपर आषाढ सावनमें उनका पकना प्रारम्भ होता है। कुछ आम्र वृक्षोंकी ऐसी जातियां हैं, जिनमें भादोंमें और आकर कातिकमें पकना प्रारम्भ होता है। कोई कोई आम पूष माहमें भी पकते हैं। इत्यादिक सम्पूर्ण कार्यकारणभाव निमित्त नैमित्तिकोंकी योग्यता मिलनेपर व्यवस्थित हो रहे हैं। जीव या पुद्गलोंमें बडी शक्ति है। " काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या, उत्पातोऽपि यदि स्यात्त्रिलोकसम्भ्रान्तिकरणपटुः " इस वाक्यसे ध्वनित होता है कि एक छोटासा स्कन्ध भी मचलकर तीन लोकको लौट पौट करनेकी सामर्थ्य रखता है। शुद्ध द्रव्योंके अतिरिक्त अनन्तानन्त द्रव्योंको वह उथल पुथल कर सकता है। पदार्थोंमें प्रसिद्ध, अप्रसिद्ध, कार्यकारी, अकार्यकारी अनेक स्वभाव भरे हुये हैं। अतः लक्षणको सर्वथा प्रसिद्ध ही और लक्ष्यको सर्वथा अप्रसिद्ध ही कहना न्यायोचित नहीं है।

यदि पुनर्येन रूपेण प्रसिद्धो दंडादिस्तेन लक्षणं, देवदत्तश्च येन रूपेणाप्रसिद्धस्तेन लक्ष्य इति प्रतीतेः प्रसिद्धस्य लक्षणत्वमप्रसिद्धस्य तु लक्ष्यत्वमिति मतं, तदा कथं लक्ष्यलक्षणयोस्तादात्म्यैकांतः स्याद्विरुद्धधर्माध्यासात् । ततः कथंचिद्भिन्नयोरभिन्नयोश्च लक्ष्यलक्षणभावः प्रतीतिसद्भावात् सर्वथा विरोधाभावात्, अन्यथा लक्ष्यलक्षणशून्यतापत्तेः ।

यदि फिर आक्षेप करनेवाले तुम्हारा यह मन्तव्य होय कि जिस स्वरूप करके दण्ड, टोपी, कुण्डल, आदिक प्रसिद्ध हो रहे हैं, उस प्रसिद्ध स्वरूप करके वे दण्ड आदिक लक्षण हैं, अपने अप्रसिद्ध स्वरूपों करके दण्ड आदिक लक्षण नहीं हैं तथा उसी प्रकार जिस स्वरूपकरके देवदत्त अप्रसिद्ध हो रहा है उस अप्रसिद्ध स्वभावकरके ही देवदत्त लक्ष्य माना गया है, अपने प्रसिद्ध हो रहे स्वभावों करके देवदत्त लक्ष्य नहीं है । क्योंकि इस प्रकार लोकमें बालक, बालिकाओंतकको प्रतीति हो रही है । सम्पूर्ण जन प्रसिद्ध हो रहेको लक्षणपना इष्ट करते हैं और अप्रसिद्ध हो रहेको तो लक्ष्यपना समझा जा रहा है । ऐसा मन्तव्य होनेपर आचार्य कहते हैं कि तब तो आप अच्छा कह रहे हैं, किन्तु ऐसी अभेदकी दशामें अप्रसिद्ध लक्ष्य और प्रसिद्ध लक्षणका एकान्तरूपसे तादात्म्य भला कैसे होगा ? क्योंकि प्रसिद्धि और अप्रसिद्धिकी अपेक्षा लक्षण और लक्ष्यमें विरुद्धधर्मोका अधिकार जम रहा है । तिस कारणसे जैसे प्रसिद्धि अप्रसिद्धिके एकान्तको आपने लक्षण और लक्ष्यमें से उठा लिया है, उसी प्रकार अभेद एकान्तको भी निकाल दीजियेगा । तैसा होजानेसे कथंचित् भिन्न और अभिन्न होरहे दो पदार्थोंमें लक्ष्यलक्षणभाव बनेगा । कथंचित् भिन्न अभिन्न अथवा कथंचित् प्रसिद्ध अप्रसिद्ध पदार्थोंमें ही लक्ष्यलक्षणभावको प्रमाणोंसे सिद्ध करनेवालीं प्रतीतियां विद्यमान हैं । इस सिद्धान्तमें सभी प्रकारोंमेंसे किसी भी प्रकारसे विरोध दोषका अभाव है, अन्यथा यानी उक्त " कथंचित् स्वरूप जीवन रसायनका अतिक्रमण कर दूसरे प्रकारोंसे लक्ष्यलक्षणभाव माना जायगा तब तो लक्ष्य और लक्षण दोनोंके शून्यपनका प्रसंग हो जायगा । जैसे कि अग्नि और उष्णताका भेद माननेपर नैयायिकोंके यहां अग्निस्वरूप आधारके विना निराधार होरही उष्णता तो मर जायगी और उष्णतासे रीती अग्नि भी स्वभावोंसे रहित होरही शून्य हो जायगी । सर्वथा अभेद पक्षमें भी ज्ञानका नाश हो जानेसे आत्माका नाश अवश्यम्भावी है । ऐसी दशामें जगत्से लक्ष्यलक्षणभाव सर्वथा उठ जायगा ।

संवृत्त्या लक्ष्यलक्षणभाव इति चेन्न, संवृत्तेरुपचारत्वे मुख्याभावेऽनुपपत्तेः । मृषात्वे न संवृत्तिर्नाम यया तद्भावः सिध्येत् । विचारतोऽनुपपद्यमाना विकल्पबुद्धिः संवृतिरिति चेत्, कथं तया लक्ष्यलक्षणभावस्तस्य तत्रावभासनादिति चेत् सिद्धस्तर्हि बौद्धो लक्ष्यलक्षणभावः तद्वदबौद्धोपि किं न सिध्येत् ? विकल्पाद्बहिर्भूतस्यासंभवात् इति चेन्न, तस्यासंभवे विकल्पविषयत्वायोगात् । न च सर्वो विकल्पविषयो संभवत्येव सम्भवतोऽपि विकल्पविषयत्वोपपत्तेः प्रत्यक्षविषयवत् सर्वो विकल्पो संभवद्विषयो विकल्पत्वान्मनोराज्यादिविकल्पवदिति चेत्, सर्वं प्रत्यक्ष-

मसंभवद्विषयं प्रत्यक्षत्वात् केशोण्डुकप्रत्यक्षवदिति किं न स्यात् । प्रत्यक्षाभासोऽसंभवद्विषयो दृष्टो न प्रत्यक्षमिति चेत् तर्हि विकल्पाभासोऽसंभवद्विषयो न विकल्प इति समानः परिहारः ।

बौद्ध कहते हैं कि जगत्में से वास्तविक लक्ष्यलक्षणभाव उठजाय कोई क्षति नहीं है । आपत्ति जितनी शीघ्र टले उतनी अच्छी है । स्थूलबुद्धिवाले जीवोंने कल्पना करके लक्ष्यलक्षणभाव गढलिया है । देखो, कभी देवदत्त भी दण्डका लक्षण हो जाता है । देवदत्तको जाननेवाला पुरुष कदाचित् अज्ञात अप्रसिद्ध डण्डेको देवदत्तद्वारा चीन्ह लेता है । अग्नि करके भी अज्ञात उष्णता लक्ष्य हो जाती है । " कहीं नाव लढा पर और कहीं लढा नाव पर " इस नीतिके अनुसार रत्नसे राजा और राजासे रत्नका लक्ष्य कर अथवा गुणसे गुणी और गुणीसे गुणका लक्षण कर लिया जाता है । वचनसे वक्ताकी और वक्तासे वचनकी या पुस्तकनिर्मातासे पुस्तककी और पुस्तकसे पुस्तक निर्माताकी जांच हो जाती है । अतः लक्ष्य या लक्षण कोई नियत पदार्थ नहीं हैं । व्यवहारमें कल्पना चाहे जैसी करलो, कोई बालक अपने काठके खिलौनेको या डण्डेको घोडा कहे एतावता क्या वह वस्तुभूत घोडा होकर अपने ऊपर चढाता हुआ असवारको अभीष्ट स्थानपर ले जा सकता है ? कभी नहीं । अब आचार्य कहते हैं कि यह तो बौद्धोंको नहीं कहना चाहिये । क्योंकि संवृत्ति यदि उपचार स्वरूप मानी जायगी तब तो मुख्यपदार्थको स्वीकार किये विना व्यवहार बनता नहीं है । अतः व्यवहार से लक्ष्यलक्षणभाव मानने वालेको मुख्य लक्ष्यलक्षणभाव भी मान लेना अनिवार्य पडेगा । मुख्य घोडा या सिंह जीवोंके होने पर ही बालक या मदारी खिलौनेमें घोडा, सिंह, हाथी, की कल्पना कर लेता है । सर्वथा असत् खरविषाणका कहीं उपचार होता हुआ नहीं देखा गया है । यदि संवृत्तिका अर्थ बौद्ध झूंठा, असत् पदार्थ करेंगे तब तो वह संवृत्तिकल्पना नाममात्रको भी नहीं हुई, जिस संवृत्तिसे कि वह लक्ष्यलक्षणभाव साध दिया जाय । परमार्थभूत पदार्थसे विपरीत पड जानेके कारण झूंठी संवृत्ति कुछ भी नहीं हो सकती है । यदि बौद्ध विचारोंसे नहीं सिद्ध हो रही विकल्पबुद्धिको संवृत्ति कहेंगे तब तो हम जैन पूछेंगे कि वैसी वस्तुको नहीं विषय करनेवाली उस विकल्पबुद्धिरूप संवृत्तिसे भला लक्ष्यलक्षणभाव कैसे सिद्ध हो सकेगा ? तुम्हीं विचारो । आकाशमें कल्पित भूमिपर उपवन नहीं खडा किया जा सकता है । पुनरपि बौद्ध यदि यों कहें कि हम क्या करें उस विकल्पबुद्धिमें उस लक्ष्यलक्षणभावका व्यवहारी जीवोंको प्रतिभास हो रहा है, यों कहनेपर तो हम जैनोंको कहना पडेगा कि तब तो अन्तरंग बुद्धिमें आरूढ हो रहा लक्ष्यलक्षणभाव सिद्ध हो चुका । बस, उसी दृष्टान्तके अनुसार विकल्पबुद्धिसे अतिरिक्त बहिरंग वस्तुभूत भी लक्ष्य लक्षणभाव क्यों नहीं सिद्ध हो जायगा ? फिर भी बौद्ध यदि यों कहें कि व्यवहार विकल्पनाओंसे बहिर्भूत लक्ष्यलक्षणभावका असम्भव हो जानेसे अबौद्ध लक्ष्यलक्षणभाव कोई नहीं है । ग्रन्थकार यों कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि ज्ञापक विकल्पज्ञानसे बहिर्भूत हो रहे उस लक्ष्यलक्षणभाव ज्ञेयका असम्भव मानोगे तब तो उसको विकल्प ज्ञानकी विषयताका

अयोग हो जायगा। ज्ञेयके विना ज्ञान किसको जानेगा। बौद्धजन विकल्प ज्ञानके विषयभूत पदार्थोंको असम्भव मान बैठे हैं, उसपर हमारा यह कहना है कि विकल्पज्ञानोंके विषय बन रहे सभी विषय असम्भव रहे ही हैं, यह तो नहीं समझना। क्योंकि वास्तविक सम्भव रहे भी पदार्थको विकल्प ज्ञानोंकी विषयता बन रही है, जैसे कि प्रत्यक्षज्ञानका विषयभूत पदार्थ परमार्थरूपसे सम्भव रहा है, इसपर बौद्ध अनुमान बनाकर आक्षेप करते हैं कि सम्पूर्ण विकल्पज्ञान (पक्ष) असम्भव हो रहे विषयोंको जान बैठे हैं (साध्य) विकल्पना होनेसे (हेतु) मनमें राजापना, इन्द्रपन, आदिकी विकल्पनाओंके समान (अन्वय दृष्टान्त) यों करनेपर तो आचार्य महाराज भी कटाक्ष करते हैं कि संपूर्ण प्रत्यक्ष (पक्ष) असम्भव हो रहे विषयोंको जान रहे हैं (साध्य) प्रत्यक्षपना होनेसे (हेतु) सीपमें हुये चांदीके ज्ञान या मृगतृष्णामें हुये जलज्ञान आदि भ्रान्त प्रत्यक्षोंके समान (अन्वयदृष्टान्त) यह व्यवस्था भी क्यों नहीं बन जावेगी ? अर्थात्-एक झूंठे विकल्पको लेकर यदि सभी विकल्प ज्ञानको अपरमार्थभूत माना जायगा तब तो कुछ मिथ्या प्रत्यक्षोंको दृष्टान्त बनाकर सभी सच्चे, झूंठे, प्रत्यक्षोंको निरालम्ब साध दिया जायगा। एक कनैठाके सदृश सभी प्राणी कनैठा हो जायंगे ? यदि बौद्ध यों कहे कि प्रत्यक्षके समान दीख रहा झूंठा प्रत्यक्षाभास तो असम्भव रहे विषयको जान रहा देखा गया है, किन्तु समीचीन प्रत्यक्ष तो असम्भव विषयवाला नहीं है। उसका विषय तो वस्तुभूत स्वलक्षण है, तब तो हम जैन भी कह देंगे कि झूंठा विकल्प ज्ञानाभास तो असम्भव रहे विषयका ग्राहक है। हां, समीचीन विकल्पज्ञान नहीं। प्रमाणात्मक विकल्प-ज्ञानका विषय तो परमार्थभूत सम्भव रहा है। इस प्रकार तुम्हारा प्रत्यक्ष ज्ञानके लिये जो परिहार है वैसा ही हमारा विकल्पज्ञानोंके असम्भव विषयीपनके आरोपका परिहार समान कोटिका है, रेफ मात्र अन्तर नहीं। अतः समीचीन विकल्पज्ञानसे हुआ लक्ष्यलक्षणभाव वास्तविक ठहर जाता है।

कः पुनः सत्यो विकल्पः प्रत्यक्षं किं सत्यमिति समः पर्यनुयोगः। यतः प्रवर्तमानोर्थ-क्रियायां न विसंवाद्यते तत्सम्यक् प्रत्यक्षमिति चेत्, यतो विकल्पादर्थं परिछिद्य प्रवर्तमानोर्थ-क्रियायां न विसंवाद्यते स सत्यमिति किं नानुमन्यसे ?

बौद्ध विद्वान् आचार्योंके प्रति सकटाक्ष प्रश्न करते हैं कि आप जैनोंने समीचीन विकल्प-ज्ञानका विषय परमार्थभूत कहा है, अतः यह बतलाओ कि जगत्में वह विकल्पज्ञान फिर सत्य कौनसा है ? यों पूंछनेपर तो हम जैन भी बौद्धोंसे पूछेंगे कि तुम्हारे यहां वह कौनसा प्रत्यक्षज्ञान सत्य माना गया है जिसका कि विषय वस्तुभूत होय। इस प्रकार तुम्हारे उठाये हुये चोद्यके समान हमारा भी चोद्य तुम्हारे ऊपर समान रूपसे वैसाका वैसा ही लग बैठता है। उक्त चोद्यका यदि बौद्ध यह उत्तर कहें कि जिस प्रत्यक्षप्रमाणसे अर्थको जानता हुआ पुरुष अर्थक्रियाको करनेमें भूल चूक नहीं करता है, वह प्रत्यक्ष समीचीन बोला जाता है। अर्थात्-जैसे जलको जानकर यदि स्नान, पान, अवगाहनरूप क्रिया ठीक ठीक उतरे तो वह जलका प्रत्यक्ष समीचीन समझा जायगा और

जलको जानकर बालू रेत हाथमें आवे या चांदीको जानकर सीपकी अर्थ क्रियायें होने लगें तो वह प्रत्यक्ष असत्य है। बौद्धोंके यों कहने पर तो हम जैन भी उनके चोचका उत्तर यों दे सकते हैं कि जिस विकल्प ज्ञानसे अर्थकी परिच्छित्ति कर प्रवृत्ति कर रहा ज्ञाता यदि अर्थ क्रिया करनेमें विसंवाद (धोका) को प्राप्त नहीं होता है वह विकल्प सत्य है। शेष विसंवाद करानेवाले विकल्पज्ञान असत्य हैं, इस हमारी बातको भी क्यों नहीं मान लेते हो? अर्थात्–अपने हाथके पामरेको बड़ा भारी श्रमोत्पादक कहना और दूसरेके हाथमें थमरहे पामरेको बीजनाके समान हल्का समझना अनुचित है। अतः विकल्पज्ञान और प्रत्यक्षज्ञानके ऊपर किये गये आक्षेप और समाधान दोनों वादी, प्रतिवादियोंके यहां तुल्य हैं।

किं पुनर्विकल्पस्यार्थपरिच्छेदकत्वं? प्रत्यक्षस्य किं? अविचलितस्पष्टार्थावभासित्वमिति चेत्, कस्यचिद्विकल्पस्यापि तदेव, कस्यचित्तु बाधकविधुरास्पष्टार्थावभासित्वमपीति मन्यामहे। अस्पष्टोर्थ एव न भवतीति चेत् कुतस्तस्यानर्थत्वं? पुनरस्पष्टतयानवभासनादिति चेत्, स्पष्टोप्येवमनर्थः स्यात् पुनः स्पष्टतयानवभासनात्। यथैव हि दूरात्पादपादिसामान्यमस्पष्टतया प्रतिभातं पुनर्निकटदेशवर्तितायां तदेवास्पष्टं न प्रतिभाति तद्विशेषस्य तदा प्रतिभासनात्। तथैव हि सन्निहितस्य पादपादिविशिष्टं रूपं स्पष्टतया प्रतिभातं पुनर्दूरतरदेशवर्तितायां न तदेव स्पष्टं प्रतिभासते।

बौद्ध पूंछते हैं कि आप जैन यह बताओ कि तुम्हारे यहां माने गये प्रमाण आत्मक विकल्पज्ञानका अर्थ परिच्छेदकपना क्या है? इस प्रकार बौद्धोंके आक्षेप करनेपर हम जैन भी बौद्धोंसे पूंछते हैं कि तुम्हारे यहां भी प्रमाण माने गये प्रत्यक्षज्ञानकी अर्थ परिच्छेदकता भला फिर क्या मानी गयी है? इसका उत्तर यदि बौद्ध यों कहें कि चलायमान न होकर अर्थका स्पष्टरूपसे प्रकाशकपना ही प्रत्यक्षज्ञानकी अर्थपरिच्छेदकता है, यों कहनेपर तो हम जैन भी यही उत्तर कहेंगे कि किसी किसी साकार प्रत्यक्ष आत्मक विकल्पका भी वह चलनरहित स्पष्ट अर्थका प्रकाशकपना ही अर्थपरिच्छेदकता मान ली जाओ। हां, किसी किसी अनुमान, तर्कज्ञान, आगम, रूप विकल्प ज्ञानोंको तो बाधा रहित होकर अस्पष्ट अर्थका प्रकाशकपना भी उनकी अर्थपरिच्छित्ति मानी गयी है। स्पष्ट, अस्पष्ट, दोनों प्रकारके विकल्प ज्ञानोंको निर्बाध होकर अर्थप्रकाशकपन है। ऐसा हम जैन स्वीकार कर मान रहे हैं, यदि अकेले प्रत्यक्ष द्वारा ही वस्तुभूत स्पष्ट अर्थका विषय होना माननेवाले बौद्ध यों कहें कि जगत्में अस्पष्ट अर्थ तो कोई ही नहीं है। जगत्में जो कुछ है वह स्पष्ट हो रहा प्रत्यक्षज्ञानसे ही विषय कर लिया जाता है। अस्पष्ट सामान्यको जाननेवाले अनुमानका या आगम आदि ज्ञानोंका विषय वस्तुभूत ही नहीं है। अपरमार्थ है, यों बौद्धोंके कहनेपर जैन कहते हैं कि तुमने उस अस्पष्टका वास्तविक अर्थपना कैसे नहीं समझा है? अर्थात्—अस्पष्ट पदार्थ परमार्थभूत न होकर अनर्थ है यह तुमने कैसे जाना? बताओ! इसके उत्तरमें फिर भी तुम यों कहो कि निज स्वरूप माने गये अस्पष्टपने करके उसका प्रतिभास ही नहीं होता है। अतः वह अस्पष्ट अर्थ अवास्तविक है। जैसे कि बन्ध्यापुत्रका बन्ध्याके पुत्रपने करके

प्रतिभासना नहीं होनेसे वह अनर्थ समझा जाता है। अर्थको तो स्पष्ट रूपसे प्रकाशना चाहिये था। बौद्धोंके यों कहनेपर तो हम (जैन) भी कटाक्ष करते हैं कि इस प्रकार तो तुम्हारा माना हुआ स्पष्ट अर्थ भी अनर्थ होजाओ। क्योंकि उसका भी फिर दूर हो जानेपर स्पष्टरूपसे प्रतिभास नहीं होता है। देखो, जिस प्रकार आप बौद्ध अस्पष्टको अनर्थपना सिद्ध करनेके लिए यों कुतर्क देवेंगे कि जिस ही प्रकार दूरसे देखनेपर वृक्ष, ग्राम, आदिके सामान्य धर्म अस्पष्टपने करके जाने जा चुके हैं, किन्तु फिर चलते चलते निकट देशमें वर्त्त जाना होनेपर वही सामान्य अस्पष्ट नहीं दीखता है। क्योंकि निकट चले जानेपर तो उस समय उन वृक्ष, ग्राम, आदिके विशेष धर्मोंका स्पष्ट प्रतिभास होने लग जाता है। अतः अस्पष्ट अर्थ कोई वास्तविक नहीं है। यदि अस्पष्ट अर्थ कोई वास्तविक होता तो समीप जानेपर विशेषोंके समान और भी बढ़िया ढंगसे अस्पष्ट दीखने लग जाता। किन्तु इसके विपरीत निकट देश हो जानेपर उस अस्पष्ट अर्थका खोज ही मिट जाता है। अतः अस्पष्ट अर्थ कोई वास्तविक नहीं है। आचार्य ही कह रहे हैं कि जैसे बौद्ध यह कटाक्ष करते हैं, उस ही प्रकार हम जैन भी कह देंगे कि देखिये निकटवर्ती हो रहे पुरुषको वृक्ष, हवेली, सुवर्ण, आदिका विशेषोंसे घिरा हुआ स्वरूप तो स्पष्टपने करके प्रतिभास चुका है। पुनः ज्ञाता या ज्ञेयके अधिक दूर देशमें वर्त्त जानेपर फिर वही स्पष्टरूप नहीं प्रतिभासता है। एतावता स्पष्ट अर्थ भी अनर्थ बन बैठेगा। कारण यही है कि स्पष्ट अर्थ यदि वास्तविक होता तो दूर देशवर्ती हो जानेपर भी स्पष्ट ही दीखता रहता, जैसे कि चन्द्रमा चन्द्रस्वरूप करके ही दीखता रहता है। देशकी परावृत्ति हो जानेसे अर्थ अपने स्वरूपको नहीं परावृत कर सकता (बदल सकता) है। मूसल यदि स्वर्गमें चला जाय तो वहां भी कूटेगा ही, घण्टा, घडियालों, पर स्वर्गमें भी मोंगरोंकी चोटें पडती हैं। बात यह है कि घोडा दूरसे या पाससे देखनेपर हाथी या ऊंट नहीं हो जाता है। तभी तो जैनोंने स्पष्टता या अस्पष्टताको अर्थके धर्म नहीं मानकर ज्ञानका धर्म इष्ट किया है।

यदि पुनः सन्निहितज्ञानग्राह्यमेव तद्रूपं विशिष्टमिति मतिः तदा दविष्ठादिज्ञानग्राह्यमेव तद्रूपं सामान्यमिति किं न मतं। यथा विशिष्टं पादपादिरूपं स्वामर्थक्रियां निवर्तयति तथा पादपादिसामान्यरूपमपि। प्रतिपत्तुः परितोषकरणं हि यद्यर्थक्रिया तदा तत्सामान्यस्यापि सास्त्येव कस्यचित्तावता परितोषात्। अथ स्वविषयज्ञानजनकत्वं तदपि सामान्यस्यास्ति।

यदि स्पष्टको ही वास्तविक अर्थ कहनेवाले बौद्ध फिर यों कहें कि अधिक निकट अवस्थामें हुये ज्ञानके द्वारा ग्रहण करने योग्य वह स्पष्ट रूप ही तो विशेषाक्रान्त हो रहा यथार्थ है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंकी बुद्धि होगी तब तो जैनोंका भी यह मत क्यों नहीं मान लिया जाय कि दूरवर्ती दशा या विशेषके अनवलक्षकी अवस्था अथवा असाधारण धर्मोंका अदर्शन आदि अवस्थाओंमें हुये ज्ञान द्वारा ग्रहण किया जा रहा ही वह अस्पष्टरूप सामान्य पदार्थ वस्तुभूत है। जिस प्रकार कि तुम बौद्धोंके यहां विशेषाक्रान्त हो रहे वृक्ष, जल, आदिके विशेषरूप अपनी अपनी

योग्य अर्थक्रियाओंको सम्पादन कराते हैं, उस ही प्रकार हमारे यहां वृक्ष, ग्राम, आदि सामान्यरूप भी पदार्थ अपनी योग्य अर्थक्रियाको बनाते रहते हैं। अर्थात्—सभी स्थलोंपर बढिया विद्वान नहीं पाये जाते हैं। किन्तु अनेक धनपति या मण्डलियां छोटे छोटे पण्डितोंसे ही अपने अपने रिक्त स्थानकी पूर्ति कर लेते हैं। सूक्ष्म गवेषण करनेपर यदि यों कहो कि विशेष विद्वान् द्वारा होनेवाले कार्यको सामान्य विद्वान् नहीं कर सकता है तो हमें भी साथमें कहना पडता है कि "पीर बवर्ची भिश्ती खर" की नीति अनुसार सामान्य विद्वान्के द्वारा सम्हाले लिये गये कार्योंको विशेष विद्वान् भी नहीं सम्हाल सकता है। नौकरानीके कार्यको रानी नहीं कर सकती है। यदि बौद्ध यों कहें कि ज्ञाता पुरुषको परितोष करानेवाला पदार्थ तो स्पष्टरूप विशेष ही है। सामान्य गाय, घोडे, दूध देनेमें या असवारी करनेमें उपयोगी नहीं हैं। अतः अच्छा संतोष करा देना ही वस्तुभूत पदार्थकी अर्थक्रिया है जो कि स्पष्ट विशेषसे ही साध्य है, तब तो हम जैन कहेंगे कि वह प्रतिपत्ताको पूर्ण सन्तोषित कर देना रूप अर्थक्रिया तो अस्पष्ट हो रहे सामान्य अर्थकी भी विद्यमान है। भावार्थ—किसी किसी अल्पसन्तोषीको उतने सामान्यमात्रसे ही परितोष होना देखा जाता है। जो अल्प-आरम्भ परिग्रहको धारते हैं वे उदर पूर्तिके लिये रूखासूखा सामान्य भोजन पाकर या मोटा, थोथा, कैसा भी वस्त्र पाकर भरण, आच्छादन, कर प्रसन्न बने रहते हैं। कैसा भी काला, गोरा, मोटा, पतला, मूर्ख, पण्डित, लडका हो माताको वही सामान्य पुत्र प्रसन्नताका हेतु है। गृहकी या आजीविकाकी क्लेश करनेवाली पराधीनताको भुगत रहे पुरुषके लिये जो कुछ भी छोटासा अपना गृह या स्वतंत्रवृत्तिका साधन प्राप्त हो जाता है वही परितोष उत्पादक है। बात यह है कि अधिक परिचय हो जाने से विशेष पदार्थ ही सामान्य हो जाता है। दुर्लभ अवस्थाओंमें सामान्य पदार्थ ही विशेष बन जाता है। रूपको निरखनेवाली कामुक पुरुषोंकी मण्डलीमें अन्य गुण, अवगुणोंकी अपेक्षा नहीं कर जिस सौन्दर्यपर विशेष दृष्टि रखी जाती है, सद्गृहस्थके यहां उसी सौन्दर्य या असुन्दरतापर विशेष लक्ष्य रखते हुये उस व्यक्तिके गुण अवगुणों, की ओर विशेष लक्ष्य रखा जाता है। विद्वानोंके लिये जो सामान्य बातें हैं वही स्थूल बुद्धिवाले समाजके लिये विशेष हो जाती हैं। कदाचित् बहुत से विशेष पदार्थोंका मिल जाना उल्टा टंटा, बखेडा, खडा कर देता है। कहीं कहीं तो विशेषकी अपेक्षा सामान्यसे अधिक सन्तोष होता है। जो वृद्ध पुरुष घोडेपर चढना नहीं जानता है उसके लिये साधारण टट्टू, सन्तोषकारक है। नटखटा, बढिया, घोडा तो उस वृद्धको हिला देगा। दुकानदारको सीधासाधा साधारण ग्राहक लाभ देकर जैसा सन्तोष उत्पन्न कर देता है वैसा चंचल (चलता पुरजा) ग्राहक लाभदायक नहीं है। "घर घर चूल मटियारी है" यह परिभाषा सामान्यवादको पुष्ट कर रही है। तभी तो जैनोंने वास्तविक अर्थको सामान्य, विशेष, आत्मक स्वीकार किया है। अब बौद्ध यदि यों कहें कि अपने विषयमें ज्ञानको उत्पन्न करा देना ही वस्तुभूत अर्थ की अर्थक्रिया है, आचार्य कहते हैं कि अपने विषयमें ज्ञानको पैदा करा देना यह अर्थक्रिया तो

विशेष पदार्थके समान सामान्य पदार्थकी भी विद्यमान है। जो भोला मनुष्य परीक्षक नहीं है वह सभी प्रकारके घोडोंको सामान्य रूपसे घोडा समझ रहा है। आमफल, चावल, मनुष्य, रत्न, पत्थर, सबको एकसा समझ बैठता है, अथवा सभी पदार्थोंके ज्ञानमें विशेषके साथ उसी समय सामान्यका ज्ञान हो रहा देखा जाता है, विशेष घोडेके गुणोंको समझ रहा पुरुष भी उस घोडेको जीव या पशु तो समझ ही रहा है। घोडाको हाथी या जड समझ रहा पुरुष परीक्षक तो क्या अनुन्मत्त कहलानेके योग्य भी नहीं है। यथार्थ बात यह है कि वस्तुके सामान्य और विशेष दोनों अंश वास्तविक होते हुये अपना ज्ञान कराते रहते हैं।

सजातीयार्थकरणमर्थक्रियेति चेत्, सापि सदृशपरिणामस्यास्ति विसदृशपरिणामस्येव सदृशेतरपरिणामात्मकाद्वि बालपादपात् सदृशेतरपरिणामात्मक एव तरुणपादपः प्रादुर्भावमुपलभ्यते। तत्र यथा विसदृशपरिणामाद्विशेषाद्वा विसदृशपरिणामस्तथा सदृशपरिणामात्सामान्यात् सदृशपरिणाम इति सजातीयार्थकरणमर्थक्रिया सिद्धा सामान्यस्य। एतेन विजातीयार्थकरणमर्थक्रिया सामान्यस्य प्रतिपादिता पादपविशेषस्येव पादपसामान्यस्यापि तद्व्यापारात्।

बौद्ध कहते हैं कि उत्तरोत्तर क्षणोंमें अपने समान जातिवाले अर्थको कर देना ही वस्तुभूत अर्थकी अर्थक्रिया है। घट, पट, गाय, घोडा, आदि अपनी जातिवाले उत्तर क्षणोंको उत्पन्न करते रहते हैं, तभी तो उत्तरोत्तर क्षण दूसरे विजातीय पदार्थोंसे विलक्षण परिणामवाले बने रहते हैं। यों बौद्धोंके कहनेपर हम जैन कहते हैं कि वह सजातीय अर्थका सम्पादन करनारूप अर्थक्रिया तो सदृश परिणाम रूप सामान्य अर्थके भी बन रही है, जैसे कि विसदृश परिणामरूप विशेषके वह अर्थक्रिया हो रही है। विचार कर देखा जाय तो विसदृश परिणामसे सजातीय अर्थका करना रूप अर्थ क्रिया वैसी नहीं होती है जैसी कि सदृशपरिणामसे होती है। अर्थक्रियामें सजातीयता लाना सदृश परिणामका ही कार्य है। विशेष तो विजातीय या विलक्षण अर्थोंको करनेका बीज है। सजातीय अर्थ कहते हुये विशेषैकान्तवादी बौद्धोंको इस अवसरपर बहुत झेंपना पडा है। गम्भीर विद्वत्ताको धारनेवाले आचार्य कहते हैं कि सदृश और उससे न्यारे विसदृश परिणामस्वरूप हो रहे ही बाल वृक्षसे सदृश, विसदृश परिणाम स्वरूप ही रहे तरुणवृक्षकी उत्पत्ति हो रही देखी जा रही है। आमका पौदा बढते बढते ऊंट नहीं हो जाता है, वृक्षत्व जातिका सदृश परिणाम उत्तरोत्तर पर्यायोंमें सदा उपजता रहेगा, वहां वृक्षमें भिन्न प्रकार विसदृश परिणामरूप विशेषसे भिन्न भिन्न जातिका विलक्षण परिणाम होता रहता है, उसी प्रकार पूर्ववर्ती सदृशपरिणामरूप सामान्यसे उत्तर क्षणमें सदृशपरिणाम उपजता रहता है। व्यक्तिमुद्रासे विशेष परिणामके समान सामान्य परिणाम भी पूर्व पूर्वपर्यायोंको नाशकर उत्तरोत्तर पर्यायोंको धारता रहता है इस कारण सजातीय अर्थको करना यह अर्थक्रिया तो सामान्यके भी हो रही सिद्ध हो चुकी है। इस उक्त कथनकरके कुछ कुछ विजातीय अर्थको कर देना या सर्वथा विजातीय अर्थका सम्पादन नहीं होने देना यह अर्थक्रिया भी सामान्यके हो रही कही जा चुकी है। जैसे कि वृक्षविशेष कुछ

विजातीय अर्थको करते हुये सर्वथा विजातीय अर्थकी उत्पत्तिको रोक रहे हैं, उसी प्रकार वृक्ष सामान्यका भी उस क्रियाको करनेमें व्यापार हो रहा है। अर्थात् गोसामान्य भी गायको मरण-पर्यंत गायपना रक्षित रखता हुआ घोडा, हाथी, आदि बननेसे रोकता रहता है। सामान्यमनुष्य ही कालान्तरमें अभ्यास करते हुये नामधारी हो जाते हैं। वस्तुके आत्मभूत हो रहे सामान्यको विसदृश अर्थके सम्पादनका अनुपयोगी मत समझो। ऊपरसे साधारण या उदासीन दीख रहे कारण समयपर बडे बडे कामोंको साधते हैं।

एकत्र पादपव्यक्तौ सदृशपरिणामः कथं तस्य द्विष्ठत्वादिति चेत्, किं पुनर्विसदृशपरिणामो न द्विष्ठः। द्वितीयाद्यपेक्षमात्रादेकत्रैव विसदृशपरिणाम इति चेत्, किं पुनर्न सदृशपरिणामोपि। तस्यैवमापेक्षिकत्वादवस्तुत्वमिति चेत् न, विसदृशपरिणामस्याप्यवस्तुत्वप्रसंगात्।

आप जैनियोंने कहा था कि समान, असमान, परिणामस्वरूप बालवृक्षसे सदृश और विसदृश परिणाम आत्मक ही तरुणवृक्ष उपजता है। इसपर हम बौद्धोंका प्रश्न है कि एक ही वृक्षव्यक्तिमें भला सदृश परिणाम कैसे ठहर सकता है? वह सादृश्य तो दो आदिमें पाया जाता है। अन्यथा अनन्वय अलंकार या दोष लग बैठेगा, जो कि कवियोंके अतिरिक्त दार्शनिकोंके यहां अभीष्ट नहीं किया गया है। तद्भिन्नमें तद्गत अनेक सदृश धर्मोंके पाये जानेसे सादृश्य आरोपा जाता है। एक ही व्यक्तिमें रहनेवाले सादृश्यका तो एक किनारेवाली नदीके समान असम्भव है, इस प्रकार बौद्धोंके कहने-पर हम जैन भी बौद्धों से पूंछते हैं कि तुम्हारा माना गया विसदृश परिणाम क्या दो में ठहरनेवाला नहीं है? फिर वह विशेष भला एक व्यक्तिमें कैसे ठहर गया? बताओ। सादृश्य जैसे दो आदिमें रहता है उसी प्रकार वैसादृश्य भी दो आदिमें ही पाया जाता है। अकेलेमें विसमानता नहीं है। गाय से विलक्षण भैंसा है। एक परमाणु दूसरे परमाणुसे विलक्षण है। मनुष्य मनुष्यमें या बुद्धि बुद्धिमें भेद पडा हुआ है। " मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना " । बात यह है कि पदार्थ या पदार्थोंमें ठहरनेकी अपेक्षा सदृशपरिणाम और विसदृश परिणाम समान है। यदि बौद्ध यों कहें कि द्वितीय, तृतीय, आदिकी तो केवल अपेक्षा ही है वस्तुतः विसदृश परिणाम एक ही व्यक्तिमें ठहर जाता है, जैसे कि वैशेषिकोंके यहां दूसरे तीसरे पदार्थकी केवल अपेक्षा कर द्वित्व, त्रित्व, आदि संख्यायें समवायसम्बन्धसे एक ही व्यक्तिमें ठहरती मानी गयी हैं। इस पर आचार्य कहते हैं कि यों तो फिर सदृशपरिणाम भी क्यों नहीं द्वितीय आदिकी अपेक्षा रखने मात्र से केवल एकमें ही ठहर रहा मान लिया जाय। यदि बौद्ध यों कहें कि इस प्रकार द्वितीय आदि व्यक्तियोंकी अपेक्षाको धारने-वाला होने से उस सदृश परिणामको अवस्तुपना हो जायगा। क्योंकि दूरवर्तीपन, निकटवर्तीपन, उरलीपार, परलीपार, आदिक पदार्थोंके समान आपेक्षिक पदार्थ अवस्तु होते हैं। वस्तुभूत पदार्थोंमें तो परिवर्तन नहीं होता है। किन्तु अपेक्षासे होरहे उरलीपार परलीपार आदि धर्म तो इधर उधरके मनुष्योंकी अपेक्षा शट बदल जाते हैं। अतः आपेक्षिक धर्मोंको हम वस्तुभूत नहीं मानते हैं। आचार्य

कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यों तो विसदृश परिणामको भी अवस्तुपनेका प्रसंग होगा। वैसादृश्य भी तो दूसरोंकी अपेक्षासे व्यवहृत हो रहा आपेक्षिक है। पुद्गलके रूप, रस, या जीवके ज्ञान, सुखके तुल्य अपरिवर्त्तनीय नहीं है। दूसरी बात यह है कि यह व्याप्ति किसने बना दी है? कि जो आपेक्षिक है वह अवस्तु है। देखो, नील नीलतर, मधुर मधुरतर, उच्चाचार, नीचाचार, अल्पदुःख महादुःख, ये आपेक्षिक पदार्थ भी वस्तुभूत हैं। अतः द्वितीय आदिककी अपेक्षा रखते हुये भी दोनों सादृश्य, वैसादृश्य, परमार्थ हैं।

प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमानो विसदृशपरिणामो नापेक्षिक इति चेत्, सदृशपरिणामोपि तत्र प्रतिभासमानः परापेक्षिको माभूत्। सदृशपरिणामः प्रत्यक्षे प्रतिभातीति कुतो व्यवस्थाप्यते इति चेत्, विसदृशपरिणामस्तत्र प्रतिभातीति कुतः? प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विसदृशविकल्पादिति चेत् तथाविधात्सदृशविकल्पात्सादृश्यप्रतिभासव्यवस्थास्तु कथमन्यथा यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणतेति घटते।

बौद्ध कहते हैं कि प्रत्यक्षबुद्धिमें स्पष्ट प्रतिभास रहा विसदृश परिणाम तो अन्योंकी अपेक्षासे हुआ नहीं है। अविचारक प्रत्यक्ष द्वारा जान लिया गया जो पदार्थ होगा वह वस्तुभूत होगा। नीलनीलतर या मधुरमधुरतरका प्रकरण होनेपर प्रत्यक्षज्ञान उसको मीठा या अधिक नीला जान रहा है इससे यह अधिक मीठा है, उससे यह न्यून मीठा है। यह पीछे होनेवाली कल्पनायें हैं, किन्तु यह इससे विसदृश है इस बातको प्रत्यक्षज्ञान निरपेक्ष होकर विशदरूपसे जान रहा है। यों कहनेपर तो आचार्य महाराज कहते हैं कि उसी प्रकार उस प्रत्यक्ष बुद्धिमें स्पष्ट प्रतिभास रहा सदृशपरिणाम भी परकी अपेक्षा रखनेवाला नहीं होवे। स्थाणु और पुरुषमें ठहरनेवाली ऊर्ध्वता जैसे प्रत्यक्षसे ही दीख जाती है उसी प्रकार मनुष्यपन, पशुपन, द्रव्यपन, आदिके सदृश परिणाम भी वस्तुके दीख जानेपर ही प्रत्यक्ष द्वारा उसी समय जान लिये जाते हैं। वस्तुके किसी धर्ममें यदि अन्यकी भी अपेक्षा रही आवे तो भी उसका वस्तुभूतपना छीन लिया नहीं जाता है। अग्निकी अपेक्षासे हुआ घटका लाल रंग या पक्कापन उस घटकी वस्तुभूत सम्पत्ति है। परापेक्ष हो जानेसे क्या कोई मर जाता है, तिसपर भी सदृश परिणाम परापेक्ष तो नहीं है अतः परमार्थभूत है। बौद्ध कहते हैं कि अभी जैनोंने यह कहा है कि प्रत्यक्षज्ञानमें सदृशपरिणाम प्रतिभास जाता है, हम पूंछते हैं कि इस प्रकार किस प्रमाणसे व्यवस्था कराई जाती है? अर्थात्—परमार्थग्राही प्रत्यक्षमें सदृशपरिणाम देखा जा चुका है यह कैसे निर्णीत किया जाय? कलको कोई यों भी कह देगा कि घोडेके सिरपर सींग भी प्रत्यक्ष द्वारा दीख रहे हैं। बौद्धोंके यों कहनेपर तो आचार्य सकटाक्ष प्रश्न करते हैं कि तुम बौद्धोंके कथन अनुसार उस प्रत्यक्ष ज्ञानमें विसदृश परिणाम प्रतिभास रहा है यह कैसे जाना जाय? बताओ। इसपर बौद्ध यदि यों उत्तर कहें कि प्रत्यक्षके पीछे होनेवाले और उतने ही प्रत्यक्षगृहीत अंशका निर्णय करनेवाले विसदृशग्राही विकल्पज्ञानसे यह निर्णय कर लिया जाता है कि पूर्ववर्त्ती निर्विकल्पक

प्रत्यक्षने सदृशपरिणामको अवश्य विषय किया है । तभी तो उसके पश्चाद्भावी विकल्पने विसदृश परिणामका अध्यवसाय किया है । ग्रामीण परिभाषा है कि " जो गेंहू खायगा वह गेंहू हंगेगा, " " बोवे बीज बमूरके आम कहांसे होय ? " यों कहनेपर तो आचार्य भी कहते हैं कि तिस ही प्रकार अविचारक प्रत्यक्षके पीछे होनेवाले विचारक सदृशग्राही विकल्पनास्वरूप श्रुतज्ञानसे सादृश्यके प्रतिभासकी व्यवस्था बन जाओ । अर्थात् —मीठे, अधिक मीठेका विचार कर रहे पीछे होनेवाले श्रुतज्ञानोंसे जैसे यह जान लिया जाता है कि मीठेपनको जाननेवाला पूर्वमें प्रत्यक्ष ज्ञान हो चुका है, उसी प्रकार सदृश परिणामोंकी भी पीछे अनेक कल्पनायें उठती हैं । अतः उनके मूल कारण सदृश परिणामको प्रत्यक्ष ज्ञानने अवश्य जान लिया है, यह प्रतीत हो जाता है । अन्यथा यानी प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत नहीं किये गये विषयमें यदि कल्पनायें उठा लीं जावेंगी तो तुम बौद्धोंका यह सिद्धान्त वचन किस प्रकार घटित हो सकेगा कि निर्विकल्पक बुद्धि जिस ही प्रत्यक्ष गृहीत विषयमें इस सविकल्पक बुद्धिको उत्पन्न करायेगी उस ही अंशमें इस निर्विकल्पक ज्ञानको प्रमाणपना व्यवस्थित होता है । भावार्थ—इस तुम्हारे सिद्धान्त वचन से पुष्ट होता है कि प्रत्यक्ष द्वारा विसदृश परिणामके समान सदृश परिणाम भी गृहीत हो चुका है । तभी तो तदनुसार दोनोंको विषय कर रहे पीछे विकल्पज्ञान उपजते हैं ।

नन्वेवमध्यक्षसंविदि प्रतिभासमानः सदृशपरिणामो विशेष एव स्यात् स्पष्टप्रतिभासविषयस्य विशेषत्वादिति चेत् तर्हि प्रत्यक्षे प्रतिभासमानो विशेषः सदृशपरिणाम एव स्यात् स्पष्टावभासगोचरस्य सदृशपरिणामत्वादित्यपि ब्रुवाणः कुतो निषिध्यते ? प्रतीतिविरोधादिति चेत्, तत एव सामान्यस्य विशेषतामापादयन्निषिध्यतां ।

बौद्ध अपने पक्षका अवधारण करते हुये झुंझला कर कहते हैं कि इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञानमें प्रतिभास रहा सदृशपरिणाम तो विशेष ही बन बैठेगा । क्योंकि स्पष्ट हो रहे ज्ञानके विषयको विशेषपना निर्णीत हो रहा है । अर्थात् —प्रत्यक्षप्रमाणका विषय विशेष पदार्थ ही है । जो कुछ भी छूआ, चाटा, सूंघा, देखा, सुना, जाता है या मन इन्द्रिय द्वारा संवेदा जाता है, वह विशेषरूप ही पदार्थ है । सादृश्य या सामान्यको छूआ, सूंघा, या देखा नहीं जा सकता है । अतः सदृशपरिणाम भी विशेष पदार्थ बन बैठा। बौद्धोंके यों कहनेपर तब तो हम यों कहेंगे कि प्रत्यक्षमें प्रतिभास रहा विशेष तो सदृशपरिणाम ही हो जावेगा । क्योंकि स्पष्ट प्रतिभासको विषय हो रहे पदार्थको सदृशपरिणामपना है । सदृशपरिणामसे आक्रान्त हो रहे ही पदार्थका छूना, देखना, सुनना, होता है । सभी प्रकारोंसे दूसरोंके सादृश्यको नहीं पकड रहे खरविषाणके समान पदार्थका अद्यावधि सर्वज्ञको भी प्रत्यक्ष नहीं हो सका है । तिर्यक् सामान्य सभी पदार्थोंमें ओत पोत भरा हुआ है । सजातीयता वस्तुकी गांठकी सम्पत्ति है । इस प्रकार भी कह रहा स्याद्वादी भला किस झक्कडसे रोका जा सकता है ? बात यह है कि पदार्थोंको सर्वथा अनित्य ही कहनेवाले बौद्धोंके प्रति हमारा नित्यत्वको सिद्ध करनेवाला अन्वर्थ

अस्त्र खडा है जब कि प्रत्यक्षमें सदृशपरिणाम और विसदृश परिणाम दोनोंसे घिर रही वस्तुका प्रत्यक्ष हो रहा है तो एक ही के प्रत्यक्ष होनेकी चाल दिखाना बौद्धोंका अपनी सदातन टेवके अनुसार अनुचित कार्य है। यदि बौद्ध यों कहें कि सदृश परिणामको ही विशेष कहना या सदृशपरिणामका प्रत्यक्ष मानना तो प्रतीतियोंसे विरुद्ध पडता है। जिसमें प्रतीतियोंसे विरोध आवे ऐसा अस्त्र स्याद्वादियोंको नहीं उठाना चाहिये, हम स्याद्वादियोंको रोक देंगे। इस प्रकार कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि तिस ही कारणसे यानी प्रतीतियों करके विरोध हो जानेके कारण ही सामान्यको विशेषपनेका आपादन करा रहा बौद्ध भी निषेध दिया जाय। प्रत्यक्षमें प्रतिभास जानेसे सामान्य भी विशेष पदार्थ हो जायगा ऐसा कहनेमें भी प्रतीतियोंसे विरोध आता है। क्योंजी, प्रत्यक्षमें प्रतिभास जानेसे हाथ क्या पांव हो जायगा ? अर्थात्--- नहीं।

प्रत्यक्षे सदृशपरिणामस्याप्रतीतेः सकलजनमनोधिष्ठानत्वात् भ्रांताध्यक्षे सादृश्यप्रतीतिबाधकसद्भावादिति चेत्, किं तद्बाधकं। वृत्तिविकल्पादिदूषणमिति चेन्न, तस्यानेकव्यक्तिव्यापिसामान्यविषयत्वात्। न हि वयं सदृशपरिणाममनेकव्यक्तिव्यापिनं युगपदुपगच्छामोन्यत्रोपचारात्। यतस्तस्य स्वव्यक्तिष्वेकदेशेन वृत्तौ सावयवत्वं, स्वावयवेषु चैकदेशांतरेण वृत्तेरनवस्थानं यतश्च प्रत्येकपरिसमाप्त्या वृत्तौ व्यक्त्यंतराणां निःसामान्यत्वमेकत्र व्यक्तौ कार्त्स्न्येन परिसमाप्तत्वात् सर्वगतत्वाच्च तस्य व्यक्त्यंतराले स्वप्रत्ययकर्तृत्वापत्तिरन्यथा कर्तृत्वाकर्तृत्वयोर्धर्मयोः परस्परविरुद्धयोरध्यासादेकत्रावस्थानं स्वव्यक्तिदेशेभिव्यक्तौ तदंतराले चानभिव्यक्तौ तस्याभिव्यक्तेतराकारप्रसक्तिः सर्वथा नित्यस्यार्थक्रियाविरोधादयश्च दोषाः प्रसज्येरन्।

प्रत्यक्ष ज्ञानमें सदृश परिणामकी प्रतीति नहीं होती रहनेसे पुनरपि प्रत्यक्षमें सदृशपनकी प्रतीति होना मानना भ्रान्तियुक्त है। क्योंकि बाधक प्रमाणोंका सद्भाव है। जिन विपरीत ज्ञानोंके बाधक प्रमाण विद्यमान हैं, वे बाध्य होते हुए भ्रान्त ज्ञान हैं। भले ही संपूर्ण जनोंके मानसिक विचारोंमें अधिष्ठित बने रहनेसे सदृश परिणामोंकी कल्पना हो जाय। किन्तु प्रत्यक्षप्रमाणमें सादृश्य नहीं दीखता है। जब कि वस्तु स्वकीय डौलसे असाधारण या विसदृश है तो विशेष वस्तुमें सादृश्यका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? सीपमें चांदीको जाननेवाले हुये प्रत्यक्षके समान विसदृशोंको सदृश जानने वाला प्रत्यक्ष भी अभ्रान्त नहीं है। यों बौद्धोंके कहनेपर आचार्य पूछते हैं कि भाइयो ! वह कौनसा बाधक प्रमाण उस सदृशपरिणामकी प्रतीतिका बाधक हो रहा है ? बताओ तो सही। यदि आप बौद्ध यों कहें कि सदृश पदार्थोंमें भला सादृश्य कैसे वर्तेगा ? वृत्तिके विकल्प या सर्वगत, असर्वगतपनेके पक्ष उठानेपर अथवा विरुद्ध धर्मोंका आरोप हो जानेसे विरोध हो जाना आदिक अनेक दूषण आजाना ही सादृश्य प्रतीतिका बाधक है। आप जैनजन विचारिये तो सही कि अनेक घट, पट, घोडे, गाय, आदिक विशेषोंमें व्याप रहा वह सदृशपरिणाम भला अपनी आश्रय हो रहीं व्यक्तियोंमें यदि एक

देशसे वर्तेगा तब तो सावयव हो जायगा जैसे कि अनेक खम्मों या टोढोंपर छप्पर लादनेके लिये रखा हुआ बांस एक एक देशसे ठहरता सन्ता सावयव हो रहा है। सदृश परिणाममें गांठके पहिलेसे यदि निज अवयव होंगे तभी तो वह अपने एक एक भागसे अनेकोंमें वर्त जायगा। तथा उन पहिलेके निज अवयवोंमें भी वह सदृश परिणाम दूसरे अपने एक एक देशोंसे वर्तेगा और पुनः अपने उन भागोंमें तीसरे निज भागोंसे ठहरेगा। कहीं भी दूरतक आकांक्षाकी शान्ति न होनेसे अनवस्था हो जायगी तथा अनेकोंमें रहनेवाले सादृश्यको यदि प्रत्येकमें ही परिपूर्ण रूपसे ठहरा दिया जायगा तो अन्य व्यक्तियोंको सादृश्यसे रहितपनेका प्रसंग होगा। क्योंकि एक ही व्यक्तिमें पूर्ण रूपसे सादृश्य भर चुका है फिर भी प्रत्येक सदृश पदार्थमें यदि परिपूर्ण रूपसे सादृश्यकी वृत्ति मानी जायगी तो सादृश्य अनेक हो जावेंगे तथा यदि सादृश्यको सर्वगत माना जायगा तो न्यारे न्यारे स्थानोंपर धरी हुयीं सदृश व्यक्तियोंके मध्यवर्ती अन्तरालमें ठहर रहे सादृश्यको अपना ज्ञान करा देनेका प्रसंग आवेगा जैसे कि यहां से वहांतक दो मनुष्योंके कन्धोंपर रखी हुयी पालकी मध्यमें भी अपना ज्ञान कराती है। अन्यथा व्यक्तियोंमें ज्ञान कराना और अन्तरालमें ज्ञान न कराना ये दो विरुद्ध धर्म एक सादृश्यमें मानने पडेंगे। एकमें तो दो विरुद्ध धर्म ठहरते नहीं हैं। सादृश्यको नित्य माननेपर भी व्यक्ति देशमें अभिव्यक्ती और रीते स्थान अन्तरालमें अनभिव्यक्ति इस ढंगसे विरुद्ध धर्मोंका समावेश हो जानेसे फिर भी विरोध दोष आता है। कहे जावुके अनवस्था या विरोध दोषोंके समान संकर, व्यतिकर, आदिक दोष भी जैनोंके सादृश्यमें लग बैठेंगे, अब आचार्य कहते हैं कि बौद्धोंको इस प्रकार हमारे माने गये सादृश्यमें दूषण नहीं उठाने चाहिये क्योंकि " नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यं " वैशेषिकों द्वारा माने गये एक होकर अनेक व्यक्तियोंमें व्यापनेवाले सामान्य (जाति) में वे दूषण आते हैं (त्रिषयत्वं सप्तम्यर्थः) हमारे सादृश्यमें नहीं। हम जैन उस सदृशपरिणामको एक ही कालमें अनेक व्यक्तियोंमें व्यापनेवाला नहीं स्वीकार करते हैं, उपचारके अतिरिक्त अर्थात्‌ - वैशेषिक जैसे त्रित्व चतुष्टय आदिक संख्याकी समवायसम्बन्धसे एक ही व्यक्तिमें वृत्ति मानते हैं! पर्याप्ति सम्बन्धकी न्यारी बात है, उसी प्रकार हम जैन भी सदृशपरिणामको एक कालमें एक ही व्यक्तिमें ठहरता हुआ मानते हैं। वस्तुभूत धर्म एक वस्तुमें ही ठहरते हैं। अनन्तानन्त वस्तुओंमेंसे किन्हीं भी दो तीन आदि वस्तुओंका द्रव्यरूपसे साझा नहीं है। कल्पना या व्यवहारसे भले ही सादृश्य दो, तीन, चार आदि पदार्थोंका धर्म कह दिया जाय, कोई तुमको रोकता नहीं। अपने अपने नियत हो रहे अनन्तानन्त अंशोंमें तदात्मक होकर व्याप रही वस्तु कथंचित् विशेष रूप ही है। कोई भी वस्तु किसीके भी रोम मात्रको स्वायत्त नहीं कर सकती है। नैयायिकोंके अभिमत सामान्यमें उक्त दोष अवश्य आते हैं, अवयवोंमें अवयवीकी वृत्ति या व्यक्तियोंमें जातिकी वृत्तिके विकल्प उठा कर नैयायिकोंके सिद्धान्तका निराकरण किया जा सकता है। हम जैनोंके यहां माने गये अवयवी या सादृश्य परिणामस्वरूप सामान्यमें ये दोष नहीं आते हैं। सर्वथा

एक पदार्थका एक ही समय अनेक व्यक्तियोंमें व्यापक होकर वर्तना हम नहीं मानते हैं, जिससे कि उस सादृश्यका अपने आधार व्यक्तियोंमें एकदेश करके वर्तना माननेपर सावयवपना प्राप्त हो जाय और फिर उन अपने भिन्न पूर्व अवयवोंमें भी दूसरे अपने एक देशोंसे वृत्ति माननेकी आकांक्षा बढती रहनेसे अनवस्था दोष हो जाता तथा जिस कारणसे कि प्रत्येक आश्रयमें सदृशपरिणामरूप सामान्यकी परिपूर्णरूपसे वृत्ति हो चुकनेपर अन्य व्यक्तियोंको सामान्यरहितपनेका प्रसंग होता। क्योंकि एक ही व्यक्तिमें पूर्ण स्वकीय अंशों करके वह सामान्य परिसमाप्त होकर वर्त चुका है। उसका बालाग्र भी अवशेष नहीं बचा है। तथा वैशेषिकोंके विचार अनुसार उस सादृश्यरूप सामान्यको सर्वगतपना हो जानेसे आश्रय व्यक्तियोंसे रीते बीचके अन्तरालमें सामान्यको अपना ज्ञान करा देने-पनकी आपत्ति आवेगी, अन्यथा यानी अन्तरालमें वह सामान्य ठहर रहा भी यदि अपना ज्ञान नहीं करा पाता है तब तो व्यक्ति देशोंमें ज्ञानका कर्त्तापन और अन्तरालमें ज्ञानका अकर्त्तापन इन परस्पर विरुद्ध दो धर्मोंका युगपत् आक्रमण हो जानेसे एक पदार्थमें अवस्थान मानना पडेगा, जो कि विरोध दोषकी जड है। सर्वथा नित्य हो रहे सामान्यका अपनी आश्रय व्यक्तियोंके देशमें प्रकट होना माना जाय और उन व्यक्तियोंके दस हाथ, सौ हाथ, दश कोस, पांचसौ कोस मध्यवर्ती अन्तराल देशमें नित्य सादृश्यको प्रकट हुआ न माना जाय तब तो उस सामान्यके अभिव्यक्त और उससे न्यारे अनभिव्यक्त इन दो विरुद्ध आकारोंका प्रसंग आता है। सर्वथा कूटस्थ नित्य पदार्थके अर्थक्रिया होनेका विरोध है। वैयधिकरण्य, संशय, आदिक दोषोंका प्रसंग भी जैनोंके ऊपर तभी लागू होता, अन्यथा नहीं। बात यह है कि सर्वथा भेदवादियोंके ऊपर लागू होनेवाले दोष कथंचित् पक्षका आदर करनेवाले हम स्याद्वादियोंके ऊपर नहीं आते हैं। ऐसी दशामें प्रत्यक्षज्ञानके विषय हो रहे सादृश्यरूप सामान्यको जाननेवाली प्रतीतिका कोई बाधकप्रमाण नहीं है, जिससे कि वह अभ्रान्त सिद्ध न होय। अतः सिद्ध हुआ कि विशेषके समान एक एक व्यक्तिमें तदात्मक हो रहा सदृश परिणाम स्पष्ट जाना जा रहा है।

ननु च सदृशपरिणामोपि प्रतिव्यक्तिनियते स्याद्वादिनाभ्युपगम्यमाने तद्वत्त्वापत्तिराव-श्यकी तस्यां च सत्यां स्वसमानपरिणामेष्वप्येकैकव्यक्तिनिष्ठेषु समानप्रत्ययोत्पत्तेः सदृशपरि-णामांतरानुषंगादनवस्था तेषु समानपरिणामांतरमंतरेण समानप्रत्ययोत्पत्तौ खंडादिव्यक्तिष्वपि समानप्रत्ययोत्पत्तिस्तमंतरेण स्यात्ततः सदृशपरिणामकल्पनमयुक्तमेवेति कश्चित्। तस्यापि विसदृशपरिणामकल्पनानुपपत्तिरेतद्दोषानुषंगात्। वैसादृश्येष्वपि हि प्रतिव्यक्तिनियतेषु बहुषु विसदृशप्रत्ययोपजननाद्विसदृशांतरकल्पनायामनवस्थानमवश्यंभावि तेषु वैसादृश्यांतरमंतरेण विसदृशप्रत्ययोत्पत्तौ सर्वत्र वैसादृश्यकल्पनमनर्थकं तेन विनापि विसदृशप्रत्ययसिद्धेरिति कथं विसदृशपरिणामे कल्पनोपपद्येत।

पुनः पूर्वपक्षीका स्वसिद्धान्त अवधारण है कि जब जैनोंने सदृश परिणामको प्रत्येक व्यक्तिमें नियत मान लिया है तो स्याद्वादी विद्वान् करके सहर्ष स्वीकार किये गये प्रत्येक व्यक्तियोंमें नियत हो रहे सदृश परिणाममें भी पुनः उस सदृश परिणामसे सहितपनेकी प्राप्ति होना आवश्यक पड गया अर्थात्—जैसे व्यक्तियोंमें सदृशपरिणाम ठहर रहा माना गया है, यों सदृश परिणाम भी विशेष व्यक्तिरूप जब हो गया तो सदृश परिणामरूप व्यक्तिमें भी पुनः सादृश्य धरना चाहिये और तैसा होनेपर वे दुबारा ठहरे हुये सदृश परिणाम भी घट, पटके, समान व्यक्तिस्वरूप बन बैठेंगे। उनमें पुनः तीसरे सदृश परिणामोंसे सहितपना धरना आवश्यक हो जायगा। ऐसी दशामें एक एक व्यक्तिमें ठहर रहे अपने अपने उन समान परिणामोंमें भी यह सादृश्य इस सादृश्यके समान है, इस ढंगका सादृश्य ज्ञान उपजानेके कारण पुनरपि अन्य अन्य सदृश परिणामोंके सद्भावका प्रसंग आनेसे अनवस्था दोष होगा। यदि जैन जन उन दुबाराके सदृश परिणामोंमें तीसरे समान परिणामोंके विना भी यह इसके समान है इस प्रकार समान ज्ञानकी उत्पत्ति होना मान लेंगे, तब खण्ड, मुण्ड, शाबलेय, बाहु-लेय, आदिक गौकी विशेष व्यक्तियोंमें भी उस सादृश्य परिणामके विना ही " समान है " " समान है, " इस आकारवाले ज्ञानकी उत्पत्ति हो जायगी। तैसा हो जानेसे मूलमें ही सदृश परिणामकी कल्पना करना अनुचित ही पडता है, इस प्रकार बौद्धका पक्ष लेकर कोई एकदेशी कह रहा है। अब आचार्य कहते हैं कि उस किसी बौद्धके यहां वैसा सादृश्य-परिणामकी कल्पना करना भी असिद्ध हो जायगा। क्योंकि उनको भी इसी दोषका प्रसंग आता है। कारण कि प्रत्येक व्यक्तियोंमें नियत हो रहे बहुत वैसादृश्योंमें भी " यह इससे विलक्षण है " " यह इससे विसदृश है " इत्याकारक विसदृशज्ञानोंकी उत्पत्ति हो जानेसे अन्य दूसरे वैसादृश्योंकी कल्पना करते हुये अनवस्था दोष अवश्य होगा। भावार्थ—बौद्धोंने व्यक्तियोंमें जैसे वैसादृश्य प्रत्यय करानेका उपयोगी वैसादृश्य धर्म मान लिया है उस व्यक्तिरूप वैसादृश्यमें भी पुनः विसदृशताका ज्ञान करानेके लिये व्यक्तिरूप वैसादृश्योंकी उत्तरोत्तर कल्पना बढती रहनेसे कहीं भी अवस्थान नहीं हो सकेगा। यदि अनवस्था दोषको हटानेके लिये आप बौद्ध उन बहुतसी उत्तरोत्तर भावी न्यारी न्यारी वैसादृश्य व्यक्तियोंमें अन्य वैसादृश्योंके विना ही विलक्षणपने या विसदृशपनेका ज्ञान उपजालोगे तो फिर मूलसे ही सभी व्यक्तियोंमें वैसादृश्यकी कल्पना करना व्यर्थ है। क्योंकि जब वैसादृश्योंमें उन दूसरे वैसादृश्योंके विना भी विसदृश ज्ञान सिद्ध हो रहा है तो मूलमें वैसादृश्यका बोझ क्यों बढा दिया जाता है। इस प्रकार सदृश परिणामके समान विसदृश परिणाममें भी कैसे विसदृशपनकी कल्पना बन सकेगी? विचारो तो सही। बात यह है कि सादृश्य और वैसादृश्यके साथ वस्तुका कथंचित् भेद, अभेद, होनेसे पुनः सादृश्य और वैसादृश्योंकी धारा नहीं बढानी पडती है। हां, विशेषैकान्तवादी बौद्धके यहां या भेदवादी वैशेषिकके मतमें अनवस्था होगी। जैनसिद्धान्त अनुसार सदृश परिणाम और विसदृश परिणामस्वरूप सामान्य, विशेष आत्मक वस्तुका आबालवृद्ध विदित प्रत्यक्ष हो रहा है। यदि

सदृशपरिणामका अपलाप किया जायगा तो विसदृश परिणाम भी जगत्से उठ जायगा । जहां राग नहीं वहां द्वेष भी नहीं है ।

अत एव सदृशेतरपरिणामविकलमखिलं स्वलक्षणमनिर्देश्यं सर्वथेति चेत् कथमेवम-साद‍ृश्यं न स्यात् । न हि किंचित्तथा पश्यामो यथाङ्गीक्रियते परैः सदृशेतरपरिणामात्मनोन्त-र्बहिर्वा वस्तुनोनुभवात् ।

बौद्ध कहते हैं कि इस ही कारणसे अर्थात्–सादृश्य, वैसादृश्य कल्पनाका झंझट अवास्तविक है, ऐसा होनेसे ही हम बौद्ध सम्पूर्ण वस्तुभूत स्वलक्षणोंको सदृश परिणाम और विसदृश परिणामसे सर्वथा रीते हो रहे अवक्तव्य स्वीकार करते हैं । भावार्थ–स्वलक्षण तत्त्व सम्पूर्ण धर्मोंसे रहित हो रहा किसी भी शब्दसे नहीं कहा जाता है, निर्विकल्प वस्तुमें सभी प्रकारोंसे शब्द योजना नहीं होती है । स्वलक्षणमें विसदृश परिणाम है सदृश परिणाम नहीं है, ये भी सब असत्य कल्पनायें हैं । बहुत बढिया पदार्थकी प्रशंसा नहीं हुआ करती है । चुप रहकर उसके गुणोंका मनन करना ही उसकी तहपर पहुं-चना है । मध्यम श्रेणीके सौन्दर्य, विद्वत्ता, तपस्या, बल, आदिकी प्रशंसाके चाहे जितने बडे पुल बांध लो ठलुआ बैठेको कौन रोके । अतः परमार्थभूत स्वलक्षण तो सादृश्य वैसादृश्यसे रहित होता हुआ परिशेषमें स्वलक्षण शब्दसे भी अवक्तव्य हो जाता है । इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर ग्रन्थकार कहते हैं कि यों कहनेपर तो भला सदृशपना या विसदृशपना कैसे नहीं हो जायगा ? स्वलक्षण पदार्थ ब्रह्माद्वैतके समान एक तो है नहीं, अनेक ही हैं । स्वलक्षणपने करके या अनिर्देश्यपने करके अथवा सादृश्य वैसादृश्यसे रहितपने करके तो उन स्वलक्षणोंमें सदृशता मानी ही जायगी तथा अनेकोंमें विस-दृशपना तो विना परिश्रम ही सध जाता है । तभी अनेकपनकी रक्षा हो सकती है । बात यह है कि जिस प्रकार दूसरे विद्वान् बौद्धों करके वस्तुका स्वरूप अवक्तव्य या सदृशविसदृश परिणामरहितपना अथवा स्वलक्षण अंगीकार किया जाता है, उस प्रकार किसी भी स्वलक्षणको हम नहीं देख रहे हैं । यथार्थमें सदृश और विसदृश परिणाम आत्मक हो रही ही अन्तरंग अथवा बहिरंग वस्तुका अनुभव हो रहा है । ज्ञान, सुख, इच्छा, दुःख, वेदना, चित्तवृत्ति, ब्रह्मचर्य, क्रोध, शक्ति, प्रयत्न, पुरुषार्थ आदि अन्तरंग और घट, पट, पुस्तक, गृह, रुपया, पैसा, आदि बहिरंग पदार्थोंमें सदृश परिणाम और विसदृश परिणतियां हो रहीं सबके अनुभवमें आती हैं ।

यदि पुनर्वैसादृश्यं वस्तुस्वरूपं तत्र विसदृशप्रत्ययो वस्तुन्येव न वस्तुव्यतिरिक्ते वैस-दृश्ये तस्याभावात् कल्पनया तु ततोपोद्धृतेरर्थान्तरतया वैसादृश्ये विसदृशप्रत्यय औपचारिक एव न मुख्यो यतो वैसादृश्यांतरकल्पनप्रसंग इति मतं, तदा सादृश्यमपि वस्तुस्वरूपं तत्र सदृशप्रत्ययो वस्तुन्येव न वस्तुव्यतिरिक्ते सादृश्ये तस्याऽभावादर्थान्तरतयापोद्धृते सदृशपरि-णामे सदृशप्रत्ययो भाक्त एव न मुख्यो यतः सादृश्यांतरकल्पनादनवस्थाप्रसक्तिरिति समा-

धानं वादिप्रतिवादिनोः समानमाक्षेपवदुपलक्ष्यते । ततो वस्तुसत्सामान्यं विशेषवत्तत्र च प्रवर्तमानो विकल्पो वस्तुनिर्भासं संवादकत्वादनुपप्लव एव प्रत्यक्षवत् तादृशाच्च विकल्पाल्लक्ष्यलक्षणभावो व्यवस्थाप्यमानो न बुध्यारूढ एव यतः सांवृतः स्यात् । पारमार्थिकश्च लक्ष्यलक्षणभावः सिद्धः सन्नयं जीवोपयोगयोः कथंचित्तादात्म्यादुपपद्यते अग्न्युष्णवत् ।

यदि फिर बौद्धोंका यह मन्तव्य होय कि विसदृशपना कोई वस्तुका औपाधिक धर्म नहीं है, वह विसदृशपना तो वस्तुका स्वकीय निजरूप है उस वस्तुके स्वरूप माने गये वैसादृश्यमें हो रहा विसदृशपनेका ज्ञान तो वस्तुमें ही होरहा है । वस्तुके अतिरिक्त किसी वैसादृश्य नामके भिन्न धर्मको विषय करनेवाला वह ज्ञान नहीं है । क्योंकि वस्तुसे आतिरिक्त शरीरवाले उन वैसादृश्य धर्मोका अभाव है । अर्थात्—स्वलक्षण या अनिर्देश्य जो कुछ भी वस्तु है वह असाधारण, विशेष, या विसदृश परिणाम स्वरूप ही तो है । हां कल्पना करके तो भले ही उस वस्तुसे भिन्न अर्थपने करके न्यारे कर लिये गये वैसादृश्यमें विसदृशपनेका धर्ममूलक ज्ञान उठालो । किन्तु वह ज्ञान उपचारसे किया गया ही है, मुख्य नहीं है जिससे कि उस वैसादृश्यमें भी विसदृशपनेका ज्ञान करानेके लिये अन्य वैसादृश्योंकी फिर उन वैसादृश्योंमें भी विलक्षणपनेका ज्ञान करानेके लिये न्यारे अनेक वैसादृश्योंकी कल्पना करते रहनेसे अनवस्था दोषका प्रसंग हो जाय । " राहोः शिरः " ऐसी अपोद्धार कल्पना करनेसे राहुसे शिर व्यतिरिक्त समझा जाता है, उसी प्रकार वैसादृश्य कोई वस्तुसे न्यारा धर्म नहीं है । आचार्य कहते हैं कि बौद्धोंका यह मत है तब तो हम कहेंगे कि सादृश्य भी वस्तुका स्वरूप है । उस सादृश्यमें सदृशपनेका ज्ञान होना वस्तुके निज डीलमें ही ज्ञान होना है । वस्तुसे व्यतिरिक्त हो रहे सादृश्यमें वह सादृश प्रत्यय नहीं है । क्योंकि वस्तुसे सादृश्य न्यारा नहीं है । भले ही अर्थान्तरपनेसे न्यारा कल्पित कर उस सदृश परिणाममें " यह इसके सदृश है " " वह इसके समान है " ऐसे सदृशपनेको ग्रहण करनेवाले ज्ञान उठालो, किन्तु वे ज्ञान गौण ही हैं, मुख्य नहीं हैं । " शिलापुत्रकस्य शरीरं " केतुका धड है, सोनेका पासा है, यह भेदका ज्ञान गौण है । जिससे कि व्यक्तिरूप न्यारे सादृश्योंमें भी अन्य सादृश्योंकी कल्पना करते रहनेसे हम जैनोंके ऊपर अनवस्था दोषका प्रसंग होता, इस प्रकार वादी जैन और प्रतिवादी बौद्ध दोनोंका समाधान करना समान दीखता है । जैसे कि पहिले दोनों ओरसे किये गये आक्षेप समान देखे जा चुके हैं हम तो बहुत पहिलेसे ही वस्तुको सामान्य विशेष आत्मक कहते चले आ रहे हैं । तिस कारणसे सिद्ध होता है कि विशेषके समान सादृश्य या सामान्य भी वस्तुभूत होता हुआ सद्रूप है । उस वस्तुभूत सामान्यमें प्रवर्त्त रहा विकल्पज्ञान (पक्ष) वस्तुका ही यथार्थ प्रतिभास करनेवाला है (साध्य) बाधारहितपन या सफलप्रवृत्तिजनकत्वरूप सम्वाद करनेवाला होनेसे (हेतु) प्रत्यक्षके समान (दृष्टान्त) । च्युत नहीं होता हुआ परमार्थभूत वस्तुका ग्राहक है और तैसे वस्तुग्राही विकल्पज्ञानसे लक्ष्यलक्षणभाव व्यवस्थापित किया जाता है । वह वस्तुको स्पर्श नहीं कर केवल कल्पना बुद्धियोंमें ही आरूढ हो

रहा है। यह बौद्धोंको नहीं मान बैठना चाहिये, जिससे कि वह लक्ष्यलक्षणभाव व्यवहारस्वरूप संवृत्तिमें ही कोरा गढ लिया गया माना जाय। अतः तुम बौद्धोंने जो बहुत पहिले आक्षेप किया था कि संवृत्तिसे लक्ष्यलक्षणभाव है। स्वप्नविचारोंके समान बुद्धिमें यों ही गढ लिया गया है। यह तुम्हारा मन्तव्य व्यवस्थित नहीं रहा। यह लक्ष्यलक्षणभाव पारमार्थिक सिद्ध हो रहा संता जीव और उपयोग का कथंचित् तादात्म्यसम्बन्ध हो जानेसे बन जाता है। जैसे कि " अग्निः उष्णः " यह अग्नि और उष्णका कथंचित् तादात्म्य हो जानेसे लक्ष्यलक्षणभाव जगत्प्रसिद्ध हो रहा है।

कश्चिदाह—नोपयोगलक्षणो जीवस्तदात्मकत्वात् विपर्ययप्रसंगादिति, तं प्रत्याह। नातस्तत्सिद्धेः। उभयथापि त्वद्वचनासिद्धेः स्वसमयविरोधात् कैनचिद्विज्ञानात्मकत्वात् तदात्मकस्य तेनैव परिणामदर्शनात् क्षीरनीरवत्। निःपरिणामे त्वतिप्रसंगार्थस्वभावसंकराविति। स चायमाक्षेपसमाधानविधिर्जीवोपयोगयोस्तादात्म्यैकांताश्रयो नयाश्रयश्च प्रतिपत्तव्यः।

कोई वादी पूर्वपक्ष कह रहा है कि जीवका लक्षण उपयोग नहीं हो सकता है। क्योंकि उपयोग और जीवका तदात्मकपना हो रहा है, घट घट ही से उपयुक्त नहीं हो सकता है। तथैव जीव अपने तदात्मक उपयोगसे उपयुज्यमान नहीं बन सकता है। जैनों द्वारा जीव और पुद्गलका अभेद माननेपर विपर्यय हो जानेका प्रसंग हो जायगा, अर्थात्—अभेद पक्षमें उपयोगका लक्षण जीव ही क्यों न बन बैठे। जीवकी हुई उपयोग परिणतिके समान उपयोगकी ही जीवस्वरूप परिणति क्यों न हो जाय, इस प्रकार कहनेवाले उस वादीके प्रति श्री विद्यानन्दस्वामी समाधानको कहते हैं कि उक्त आक्षेप ठीक नहीं है। क्योंकि इस ही से उस उपयोगको लक्षणपनेकी सिद्धि हो जाती है अर्थात्—जिस ही कारणसे तुम अभेदको कह रहे हो इसी कारणसे उपयोग सिद्ध हो जाता है। सर्वथा अभेद पक्षमें जैसे आकाशकी रूपके साथ उपयुक्तता नहीं होती है, उसी प्रकार सर्वथा भेद माननेपर जीव भी ज्ञान दर्शन उपयोगोंसे उपयुक्त नहीं हो सकेगा। देखो, घास, पानी, खल, बिनोला, दरिया, जीरा, आदि कारणोंसे दूध बननेके अभिमुख हो रही दुग्ध शक्ति ही तो उत्तर क्षणमें दूधस्वरूपसे परिणम जाती है। उसी प्रकार आत्मा भी ज्ञान दर्शन स्वभावशक्तियोंके वशसे घटज्ञान, पटज्ञान, स्वरूप उपयोग करके परिणति कर लेता है, इस प्रकार कथंचित् भिन्न अभिन्न हो रहा उपयोग उस जीवका लक्षण बन जाता है। दूसरी बात यह है कि दोनों प्रकारोंसे भी तुम्हारे वचनकी सिद्धि नहीं हो पाती है। अर्थात्—अनेकान्त प्रक्रियाको नहीं समझ कर तुमने जो यह कहा था कि जो जिस स्वरूप है वह उसी करके परिणाम नहीं धार सकता है। इसपर तुम यह विचारो कि तुम्हारे वचन स्वपक्षके साधक और परपक्षके दूषक स्वरूप हैं। स्वपक्ष साधन और परपक्ष दूषण यदि उनका स्वभाव मानो तो तुम्हारा प्रतिज्ञा एकान्त वचन हाथसे निकल गया और हमारा जैनसिद्धान्त पुष्ट हो गया और तद्रूप परिणति नहीं मानो तो भी तुम्हारा वचन असिद्ध हो जाता है। जो प्रतिपक्षमें दूषण नहीं दे सके वह नहीं कहा गया सारिखा है। सर्वत्र सर्वदा सबकी सत्ता साधनेमें क्या प्रयोजन रक्खा है ? तीसरी बात यह है कि

तुमको अपने सिद्धान्तसे विरोध हो जायगा । आपने स्वयं इस बातको इष्ट किया है कि पृथ्वी, अप, तेज, वायु ये महाभूत चार तत्त्व गंध, रस, रूप, स्पर्श, आत्मक होते हुये शुक्लरूप आदिक परिणतियोंको धारते हैं। अतः तुम "जो जिस स्वरूप है वह उस करके ही उपयुक्त नहीं हो सकता है" इस कटाक्षको लौटा लो । आत्मा यदि ज्ञानस्वरूप नहीं होगा तो क्या पत्थरकी परिणति ज्ञान होगी ? देखें बालूकी रोटी बना तो लो । चौथी बात यह है कि जिसके यहां आत्मा सर्वथा ज्ञान आत्मक है उसके यहां धारारूपसे ज्ञानस्वरूप परिणतियां नहीं बन सकती हैं। किंतु जैनसिद्धांत अनुसार किसी अंशसे आत्मा ज्ञानात्मक है तथा अन्य अंशोंसे सुख आत्मक इच्छा आत्मक, भी है । अतः अन्य आत्मक हो रहे आत्माका ज्ञानस्वरूप परिणाम होना उचित है । यदि एकान्त करके आत्माको ज्ञानआत्मक या अन्य इच्छा आदि आत्मक ही मान लिया जायगा तो तिस भवका कभी विराम नहीं होगा । उसका विराम माननेपर आत्मा द्रव्यके विराम होनेका भी प्रसंग आजावेगा जो कि इष्ट नहीं है। अतः आत्मा किसी भी विवक्षित स्वरूपसे उपयोगात्मक है और अन्य स्वरूपोंसे अन्य आत्मक है । ऐसे कथंचित् उपयोगात्मक आत्माका उपयोग धर्म करके उपयुक्तपना बन सकता है । पांचवी बात यह है कि उस आत्मक हो रहे पदार्थका ही उस करके परिणाम हो रहा देखा जाता है । जैसे कि दूध, पानीका उस ही रूपसे परिणाम होता है । देखिये, गीलापन, मीठा, आदि अपने स्वभावोंको नहीं छोडता हुआ दूध, गुड, बूरा, या जलके सम्बन्धसे मीठा दूध, लस्सी, आदि अन्य परिणामोंको प्राप्त हो जाता है । गौके स्तनसे निकलते ही दूध धारोष्ण रहता है थोडी देरमें दूध शीतल हो जाता है । पुनः अग्निके सम्बन्धसे उष्ण या रबडी, खोआ, मलाई, बन जाता है । अतः दूधके दूधरूप विवर्त हैं । दूधका परिणाम घट, पट, नहीं हो सकता है । जल भी शीतल जल अथवा हिम (बरफ) आत्मक होता हुआ उस रूपसे परिणम जाता है । बुद्धिमान् शिशु ही भविष्यमें उत्तम कोटिका विद्वान हो जाता है । कडे स्वरूप होने योग्य सुवर्ण ही खडुआ परिणामको धारता है । चूनकी रोटियां बनती हैं। खांडका पेडा बनता है । भुसका नहीं । तिस ही प्रकार उपयोगस्वरूप आत्मा अपने उपयोग स्वभावको नहीं छोडता हुआ ज्ञानस्वरूप करके परिणमता रहता है । छठी बात यह है कि एक पदार्थका दूसरे पदार्थोंके स्वरूप करके तो परिणाम होता ही नहीं है । यदि तुम्हारे कथन अनुसार निज आत्मक परिणामों करके भी पदार्थकी परिणतियां नहीं मानी जावेगी तो पदार्थ सभी परिणामोंसे रहित होता हुआ कूटस्थ अपरिणामी, हो जायगा । सर्वथा नित्य पदार्थके माननेपर क्रिया, कारक, प्रमाण, फल, आदि व्यवहारका लोप हो जायगा । यदि निज परिणामोंके सिवाय अन्य अर्थोंके परिणाम करके विवक्षित पदार्थकी परिणति मानोगे तो सम्पूर्ण पदार्थोंके स्वभावोंका संकर हो जायगा । जल अपने शीतद्रव्यपनेसे तो परिणति करेगा नहीं । ऐसी दशामें जलका ज्ञान, सुख, रूपसे परिणाम होना बन बैठेगा । आत्माके स्वभाव रूप, रस भी हो जायेंगे । कोई भी अपने

निज स्वभावोंकी रक्षा नहीं रख सकेगा । यदि अपरिणामीपन और स्वभाव सांकर्यको इष्ट नहीं करना चाहते हो तो अपने अपने स्वरूपसे ही अपनी अपनी अपनी परिणति होना इष्ट करना चाहिये । बात यह है कि हम जैन इन जीव और उपयोगका एकान्तरूपसे तादात्म्य सम्बन्ध नहीं मानते हैं । किन्तु द्रव्यार्थिक नयसे अभेद और पर्यायार्थिक नयसे जीव तथा उपयोगका भेद स्वीकार करते हैं । अतः पूर्व प्रकरणोंमें वह आक्षेपकी विधि तो जीव और उपयोगके एकान्तरूपसे तादात्म्यका आश्रय कर उठाई गयी है । तथा द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिक नयका अवलम्ब लेकर आचार्य महाराजने समाधानका विधान कर दिया है । यह शिष्योंको भले प्रकार समझ लेना चाहिये ।

अत्रापरः प्राह—उपयोगस्य लक्षणत्वानुपपत्तिर्लक्ष्यस्यात्मनोऽसत्त्वात् । तथाहि । नास्त्यात्मानुपलंभादकारणत्वादकार्यत्वात् खरविषाणादिवदिति । तदयुक्तं । साधनदोषदर्शनात् । अनुपलंभादयो हि हेतवस्तावदसिद्धाः प्रत्यक्षानुमानागमैरात्मनोऽनाद्यनंतस्योपलंभात् । योगिप्रत्यक्षस्य तदुपलंभकस्यागमस्य च प्रमाणभूतस्य निर्णयात्तदनुपलंभोऽसिद्ध एव वा अनैकांतिकश्च चार्वाकस्य परचेतोवृत्तिविशेषैः ।

यहां कोई चार्वाकमतानुयायी दूसरा विद्वान् सगर्व पूर्वपक्ष कहता है कि उपयोगको जीवका लक्षणपना बन नहीं सकता है । क्योंकि उपयोग नामका लक्षणके लक्ष्य माने जा रहे, आत्माका सद्भाव नहीं है । सद्भूत देवदत्तका लक्षण दण्ड हो सकता है । असत् आकाशपुष्पका कोई भी पदार्थ लक्षण नहीं बन सकता है । जब आत्मा पदार्थ ही कोई नहीं है तो फिर लक्षण किसका किया जारहा है ? दूल्हाके विना यह किसका विवाह रचा जा रहा है ? देखिये, उस आत्माके अभावको हम अनुमान द्वारा यों साधते हैं कि आत्मा (पक्ष) नहीं है (साध्य) उपलब्धि नहीं होनेसे (पहिला हेतु) निजका पूर्ववर्त्ती उत्पादक कारण नहीं होनेसे (दूसरा हेतु) निजका उत्पाद्य उत्तरवर्त्ती कोई कार्य नहीं होनेसे (तीसरा हेतु) खरविषाण, वन्ध्या पुत्र, आदिके समान (अन्वयदृष्टांत), इस प्रकार आत्माका अभाव सिद्ध है । अब आचार्य कहते हैं कि वह भूतवादियोंका कथन युक्तियोंसे रीता है । क्योंकि उनके कहे हुये हेतुओंमें अनेक दोष देखे जाते हैं । अनुपलम्भ, अकारणत्व, आदिक हेतु तो सबसे पहिले असिद्ध हेत्वाभास हैं । क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, प्रमाणों करके अनादि, अनन्त, आत्मा द्रव्यका उपलम्भ हो रहा है । उस आत्माका उपलम्भ करनेवाले प्रमाणभूत सर्वज्ञ प्रत्यक्षका निर्णय हो रहा है । स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष भी सबके पास विद्यमान है तथा आत्माको जाननेवाले प्रमाणभूत अनुमान और आगम का निर्णय हो रहा है । अतः उसका अनुपलम्भ संज्ञक हेतु अपने पक्षमें नहीं ठहरनेसे असिद्ध हेत्वाभास ही है तथा (अथवा) चार्वाककी ओरसे दिया गया अनुपलम्भ हेतु दूसरे पुरुषोंकी विशेष चित्तवृत्तियों करके व्यभिचार दोषयुक्त भी है, अर्थात्—अकेले हम अपनी अपनी स्थूलचित्त वृत्तियोंका प्रत्यक्ष भी करलें किन्तु दूसरोंके मनमें या आत्मामें क्या वर्त रहा है, इसका सर्वज्ञके सिवाय

किसीको उपलम्भ होता नहीं। अनुमान या आगमसे भले ही उनको जानलो। सर्वज्ञका निषेध करनेवाले और इन्द्रियप्रत्यक्षको ही प्रमाण माननेवाले चार्वाकको तो दूसरेकी चित्तवृत्तियोंका कथमपि प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। किन्तु वे हैं तो सही, चाहे उन्हें भूतकदम्ब कहो या सादि चैतन्य मानो भलें ही अनित्य आत्मा कहते फिरो। अकेले चार्वाकके अतिरिक्त उसके माता, पिता, गुरु, अथवा संसारके अन्य प्राणी और उनकी आत्मीय वृत्तियां सभी मर तो नहीं गयी हैं। अतः नास्तित्व साध्यके नहीं रहते हुये अनुपलम्भ हेतुके वर्तजानेसे अनैकान्तिक दोष लग जाता है।

तथा पर्यायार्थादेशात् पूर्वपूर्वपर्यायहेतुकत्वादुत्तरोत्तरात्मपर्यायस्याकारणत्वादित्ययमप्यसिद्धो हेतुः।

तथा आत्मा बालक होकर युवा होता है युवा अवस्थाको छोडकर अर्द्धवृद्ध होता है, अब बूढी अवस्थाको कारण मानकर पीछे वृद्ध हो जाता है, अतृप्त आत्मा भोजन कर लेनेपर तृप्त हो जाता है। मूर्ख पुरुष अभ्यास करते करते पण्डित बन जाता है, रोगी जीव औषध सेवन करता हुआ नीरोग बन बैठता है। मनुष्य मरकर देव हो जाता है। देव पुनः तिर्यंच हो जाता है। इस प्रकार पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा कथन करनेसे पहिली पहिली पर्यायोंको हेतु मानकर उत्तर उत्तरवर्ती आत्माकी पर्यायोंका उत्पाद होता रहता है। इस कारण चार्वाककी ओरसे दिया गया कारणरहितपना यों यह हेतु भी पक्षमें नहीं वर्तनेसे असिद्ध हेत्वाभास है, अर्थात्—पर्याय दृष्टिसे देखनेपर आत्माकी सभी बाल्य, कुमार, देव, मनुष्य, संसारी मुक्त, आदि पर्यायें हीं तो दीख रहीं हैं। उन पर्यायोंकी पूर्व समयवर्ती पर्यायें कारण हैं अतः आत्मा कारणोंसे सहित होगया। कारणरहितपना हेतु पक्षमें नहीं रहा।

द्रव्यार्थादेशाद्विरुद्धश्च। तथाहि। अस्त्यात्मा अनाद्यनंतोऽकारणत्वात् पृथिवीत्वादिवत्। प्रागभावेन व्यभिचार इति चेन्न, तस्य द्रव्यार्थादेशेऽनुपपद्यमानत्वादुत्पादव्ययात्मकत्वात् सर्वद्रव्यस्य। पृथिवीद्रव्यादिभ्योऽर्थांतरभूतस्तु प्रागभावः परस्याप्यसिद्ध एवान्यथा तस्य तत्त्वांतरत्वप्रसंगात्।

चार्वाकोंके अकारणत्व हेतुको असिद्ध बताकर अब उसे विरुद्ध दोषयुक्त भी बनाते हैं कि द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा कथन करनेसे यह अकारणत्व हेतु विरुद्ध भी है। इसी बातको ग्रन्थकार तैसा प्रसिद्ध करते हुये कहते हैं कि आत्मा (पक्ष) अनादि कालसे अनन्त कालतक ठहरनेवाला द्रव्य है (साध्य) अकारणपना होनेसे (हेतु) पृथ्वीत्व या पृथिवी तत्त्व, जलतत्त्व, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त) अर्थात्—पृथिवीत्व जाति या चार्वाकोंके यहां माने गये पृथिवीतत्त्व, जलतत्त्व, तेजस्तत्त्व, वायुतत्त्व, ये चार तत्त्व अनादि अनन्त नित्य हैं। उन्हींके समान चेतन आत्मा तत्त्व नित्य है। इस अनुमान द्वारा अकारणत्व हेतुसे आत्माका नित्यपना साध दिया है। पहिले चार्वाकोंके अनुमान द्वारा आत्माके नास्तित्व साधनेमें प्रयुक्त किया गया अकारणत्व हेतु तो नास्तित्व साध्यसे विपरीत हो रहे नित्यत्व या अनाद्यनन्त अस्तित्वके साथ व्याप्तिको रखता है। अतः विरुद्ध हेत्वाभास हुआ। यहां

किसीकी शंका है कि कारणरहित तो खरविषाण भी है। किन्तु वह नित्य नहीं है। अतः नित्यके लक्षणमें " सदकारणवन्नित्यं " कहकर सत् विशेषण लगाया गया है। जिससे खरविषाणमें अतिव्याप्तिका वारण हो जाता है। वह सत् नहीं है, असत् है। यदि सत् विशेषण न लगाकर केवल अकारणत्व ही कहा जायगा तो वैशेषिकोंके यहां माने गये प्रागभावसे भी व्यभिचार होता है। देखिये, अनादि कालसे चले आये हुये प्रागभावका कोई कारण नहीं है। किन्तु वह अनन्तानन्त नहीं है " अनादिः सान्तः प्रागभावः "। हां, सत् विशेषण लगा देनेसे प्रागभावका निवारण हो सकता था, " न कारणं यस्य " ऐसी निरुक्ति कर पक्ष पर्युदासका अवलम्ब लेनेसे ही अथवा अकारण शब्दसे मतुप् प्रत्यय करते हुये अकारणवत्त्व हेतु कह देनेसे ही खरविषाण आदि सर्वथा असत् हो रहे पदार्थोंका निराकरण भले ही हो जाय, असत्में अकारण उपाधिसे सहितपना नहीं है, किन्तु प्रागभाव करके हुआ व्यभिचार तदवस्थ रहेगा। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि नित्य हो रहे द्रव्य अर्थका कथन करनेपर सम्पूर्ण द्रव्योंको उत्पाद, व्ययोंसे रहित आत्मकपना है। भावार्थ—द्रव्य नित्य है किसी द्रव्यमें उत्पाद, व्यय, नहीं होते हैं। द्रव्यका उत्पाद होता तो उसकी उत्पत्तिके पहिले प्रागभाव माना जाता, और द्रव्यका नाश होने लगता तो द्रव्यके पीछे उसका ध्वंस माना जाता। पर्यायोंका ही उत्पाद व्यय होता हुआ प्रागभाव और ध्वंस माना जाता है। द्रव्योंका नहीं। " नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गलभावतोस्ति। (बृहत्स्वयम्भू) "। तभी तो द्रव्य अर्थकी अपेक्षा हमने अकारणत्व हेतुको विरुद्ध कहा है। अतः प्रागभाव करके व्यभिचार नहीं हो पाता है। दूसरी बात यह है कि वैशेषिकोंने भावोंसे भिन्न प्रागभाव पदार्थ माना है। किन्तु दूसरे चार्वाकोंके यहां तो पृथिवी द्रव्य, जलतत्त्व आदिकोंसे भिन्न हो रहा प्रागभाव सिद्ध ही नहीं है। अन्यथा यानी चार तत्त्वोंसे भिन्न प्रकारका प्रागभावतत्त्व यदि माना जायगा तब तो उस प्रागभावको चार तत्त्वोंसे निराले पांचवें तत्त्वका प्रसंग चार्वाकोंके ऊपर आता है, जो उन्हें इष्ट नहीं है। अतः चार्वाकोंका अकारणत्व हेतु विरुद्ध ही रहा। यहां अकारण शब्द भी साधु है। " न कर्मधारयः स्यान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहि श्चेदर्थप्रतिपत्तिकरः " ऐसा नियम है। हां " सदकारणवन्नित्यं " इस प्राचीन ऋषिवाक्यकी न्यारी बात है।

यश्चाकार्यत्वादिति हेतुः सोप्यसिद्धः सुखोदरात्मकार्यस्य पर्यायार्थार्पणात् प्रसिद्धेः कादाचित्कार्यविशेषस्याभावादकार्यत्वमनैकांतिकं मुर्मुराद्यवस्थेनाग्निना, कार्यत्वाभावोऽकार्यत्वं विरुद्धं। तथाहि–सर्वदास्त्यात्माऽकार्यत्वात् पृथिवीत्वादिवत्। न प्रागभावेतरेतराभावात्यन्ताभावैरनैकांतस्तेषां द्रव्यार्थाश्रयणेनुपपत्तेः। पर्यायार्थाश्रयणे कार्यत्वात्। कुटस्य हि प्रागभावः कुशूलः स च कोशकार्यं कोशस्य च शिवकः स च स्थासांतरकार्यमिति।

और आत्माके नास्तित्वको सिद्ध करनेके लिये चार्वाकोंने तीसरा हेतु जो अकार्यत्व ऐसा दिया था, आचार्य कहते हैं कि वह भी अकार्यत्व हेतु असिद्ध है। क्योंकि पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा कर-

नेसे आत्माके कार्य हो रहे सुखज्ञान, वेदना, पुरुषार्थ, इच्छा या रक्त, वीर्य, उत्पन्न कराना आदि कार्योंकी प्रसिद्धि हो रही है। अतः कार्यरहितपना हेतु आत्मा स्वरूप पक्षमें नहीं ठहरनेसे असिद्ध हेत्वाभास है। पूर्वमें जैसे आत्माके कारणोंको साध दिया था। अब आत्माके उत्तरवर्ती कार्योंको प्रसिद्धकर दिखा दिया है। सन्तानरूपी नदी दोनों ओर अनादि, अनन्त, किनारोंसे घिरी हुई है तथा आत्माके नास्तित्वको सिद्ध करनेके लिये प्रयुक्त किया गया चार्वाकोंका अकार्यत्व हेतु व्यभिचारी हेत्वाभास भी है। मुरमुर या भूभड आदि अवस्थामें पडी हुई अग्नि भविष्यमें किसी भी कार्यको नहीं कर रही है। अतः कभी कभी विशेष कार्यके नहीं करनेसे अकार्यत्व हेतु उस अग्नि करके अनैकान्तिक हो जाता है। जैनसिद्धान्त अनुसार सभी पर्यायें भविष्यमें किसी किसी पर्यायको उत्पन्न कर तब नष्ट होती है। फूसकी आग या फुलिंगा भी कुछ कार्योंको करते हैं। रुई या बारूदमें फुलिंगा आग लगा देता है। शरीरको थोडा गुरसा देता है, कुछ देर उष्णता रखता है, उससे वैसी ही लम्बी चौडी ज्वाला या फुलिंगा ही भविष्यमे सदा उपजता रहे, ऐसा हम जैनोंको एकान्त अभीष्ट नहीं। हां, फूसका दाह हो चुकनेपर पीछेकी बच रही आग कुछ भी कार्य नहीं कर रही है, ऐसा चार्वाक मानते हैं। तृणोंसे रहित बालू रेतमें पडी हुई अग्नि भी जलाना पकाना फफोडा डालना, सोखना, आदि कार्योंको नहीं कर रही मानी है। जैसे कि नैयायिकोंने अन्तके चरम अवयवीका पुनः कोई अवयवीको उत्पन्न कराना कार्य नहीं माना है। अतः चार्वाकोंके अकार्यत्व हेतुको उन्हींके मन्तव्य अनुसार मुरमुर फुलिंगा, आदिकी अग्निसे व्यभिचारी कर दिया है। इस अग्निमें उत्तरवर्ती कार्यको करनेसे रहितपना है। किन्तु असत्त्व साध्य वहां नहीं है, तथा चार्वाकोंका कार्यत्वके अभावस्वरूप अकार्यत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास भी है। उसीको प्रसिद्ध कर दिखाते हैं। आत्मा (पक्ष) सदा विद्यमान रहता है, (साध्य) अकार्यपना होनेसे (हेतु) पृथिवीत्व या पृथिवीतत्त्व आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त) घट, पट, आदि पृथिवी पर्यायोंका नाश हो जानेपर भी चार्वाक पृथिवी तत्त्वका नाश हो जाना नहीं मानते हैं। अतः इस अनुमान द्वारा आत्माको नित्यत्व सिद्ध करनेवाला अकार्यत्व हेतु तो चार्वाकोंके उक्त साध्य नास्तित्वसे विरुद्ध हो रहे सदा अस्तित्वके साथ अविनाभाव रखता है। अतः साध्यसे विपरीत हो रहे के साथ व्याप्तिको रखनेवाला अकार्यत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है। आत्माका सदा अस्तित्व साधनेवाले हमारे अकार्यत्व हेतुका प्रागभाव, इतरेतराभाव या उत्पन्न हुआ अभाव यानि ध्वंस, अथवा अत्यन्ताभाव करके व्यभिचार नहीं आता है। क्योंकि द्रव्य अर्थका आश्रय करनेपर उन प्रागभाव आदि अभावोंकी सिद्धि नहीं हो पाती है। सर्वदा नित्य द्रव्य विद्यमान रहता है। द्रव्यरूपसे किसीका कोई अभाव नहीं है। हां, पर्यायरूप अर्थका आश्रय करनेपर तो वे प्रागभाव, प्रध्वंस, अन्योन्याभाव, अत्यन्ताभाव, कार्य ही हैं। अतः अकार्यत्व हेतुके न रहते हुये असत्त्व साध्य नहीं भी रहा तो कोई क्षति नहीं है। ध्वंस अभावको सभी वादी कार्य मानते हैं। अतः अकार्यत्व हेतुका ध्वंस करके व्यभिचार होना कथमपि सम्भावित नहीं है। अतः उत्पन्नाभावके

स्थानपर अत्यन्ताभाव पाठ अच्छा है। देखिये, पर्याय अर्थोंका अवलम्ब लेनेपर घटकी पूर्ववर्ती कुशूल पर्याय ही घटका प्रागभाव है और वह कुशूल तो उस कुशूलके पूर्ववर्ती कोष पर्यायका कार्य है। अतः कुशूलका प्रागभाव कोष हुआ तथा कोषका प्रागभाव उसकी पूर्व पर्याय शिवक हुआ और वह शिवक दूसरे स्थासका कार्य है। इस ढंगसे पूर्ववर्ती पर्यायोंको ही हम उत्तरवर्ती पर्यायोंका प्रागभाव मानते हैं। इसपर प्रागभावको अनादि माननेवाले वैशेषिक यदि यो कटाक्ष करें कि हमारे यहां तो प्रागभाव माना गया है। अतः अनादिकालसे अबतक कार्यकी उत्पत्तिको रोकता हुआ बैठा है। किन्तु जैनोंके यहां जब पूर्वपर्याय ही का नाम प्रागभाव है तो उस पूर्वपर्यायकी पूर्व अवस्थाओंमें घटकी उत्पत्ति हो जानी चाहिये। क्योंकि घटकी उत्पत्तिका प्रतिबन्धक अभी प्रागभाव तो उपजा ही नहीं है। ध्वंस तो घटके उपज जानेपर पीछे होनेवाला अभाव है। इतरेतराभाव और अत्यन्ताभाव भी घटके उपज चुकनेपर व्यवहार प्राप्त होते हैं। अतः किसी भी प्रतिबन्धक अभावके विद्यमान नहीं होनेसे लम्बी अनादिकालीन पर्यायसन्ततिमें घटकार्यके सद्भावका प्रसंग आता है। अब आचार्य समाधान करते हैं कि वैशेषिकोंका उक्त आक्षेप ठीक नहीं है। क्योंकि प्रागभावके विनाशको ही हम कार्यरूप करके स्वीकार करते हैं। अनादि पूर्वपर्यायकी सन्तानमें अभीतक जब प्रागभाव उत्पन्न ही नहीं हुआ है तो भला उसका ध्वंस कहांसे होय ? अतः प्रागभावके ध्वंसरूप कार्यका पूर्व अवस्थाओंमें सद्भाव हो जानेका प्रसंग नहीं उठा सकते हो। जैसे कि उत्तर अवस्थारूप ध्वंसका ध्वंस हो जानेपर पुनः कार्यके उज्जीवनका प्रसंग नहीं दे सकते हो। भावार्थ—पूर्व अवस्थारूप प्रागभावका ध्वंस हो जाना कार्य सद्भाव है। " कार्योत्पादः क्षयो हेतोः " और कार्यकी उत्तर अवस्थारूप ध्वंसका प्रागभावस्वरूप कार्य सद्भाव है। अतः कार्यसद्भावके आगे पीछेकी पर्यायोंके समयोंमें कार्यसद्भावका आपादन करना उचित नहीं है। ध्वंस और प्रागभावको हम तुच्छ पदार्थ नहीं मानते हैं। किन्तु मीमांसकोंके समान हमारे यहां रिक्तभाव ही अभाव माना गया है।

कुटपटयोरितरेतराभावः कुटपटात्मकत्वात्कार्यः चेतनाचेतनयोरत्यंताभावोपि चेतनाचेतनात्मकत्वात् कार्य इति। परस्य तु पृथिव्यादिभ्योर्थांतरभूताः प्रागभावादयो न संत्येवान्यथा तेषां तत्त्वांतरत्वप्रसंगात्। तथेतरेतराभावात्यंताभावयोः सर्वदास्तीति प्रत्ययविषयत्वात् न ताभ्यामनेकांतः।

आत्माका सदा अस्तित्व साधनेके लिये दिये गये जैनोंके अकार्यत्व हेतुका ही निर्दोषपना दिखाया जा रहा है कि घट और पटमें परस्पर ठहर रहा उनका अन्योन्याभाव तो घट और पट स्वरूप ही है। अतः जब घट, पट कार्य हैं तो उनका तदात्मक अन्योन्याभाव भी कार्य हुआ। अतः अकार्यत्वहेतु अन्योन्याभावमें नहीं ठहरा। ऐसी दशामें साध्य भी नहीं रहे तो हमारे अकार्यत्व हेतुमें (न कि चार्वाकोंके अकार्यत्व हेतुमें) व्यभिचारदोष नहीं चढ बैठेगा। जो पुद्गल या जीवकी पर्याय वर्तमानमें तद्रूप नहीं है, किन्तु आगे पीछे कालोंमें तद्रूप हो सके ऐसी देव, मनुष्य, घोडा,

हाथी, आदि अथवा घट, पट, चौकी, पुस्तक, आदिक जीव या पुद्गलकी पर्यायोंका वर्तमानकालमें अन्योन्याभाव माना गया है। तथा तीनों कालमें जो पर्याय या द्रव्य तद्रूप न हो सके ऐसी जड, चेतन, या धर्मद्रव्य या अधर्मद्रव्यका एक दूसरेमें अत्यन्ताभाव माना गया है, जो कि त्रैकालिक-संसर्गावच्छिन्न है। वैशेषिकोंको भी इसी मार्गका अनुसरण करनेपर निराकुलता मिल सकती है। प्रकरणमें हमारे अकार्यत्वहेतुका अत्यन्ताभाव करके व्यभिचार नहीं आता है। क्योंकि चेतन, अचेतन, पदार्थोंका परस्पर अत्यन्ताभाव भी चेतन, अचेतनपर्यायस्वरूप हो जानेसे कार्य ही है इस कारण अकार्यत्व हेतुके न रहनेपर साध्य नहीं भी रहो कोई त्रुटि नहीं है। हेतुके रहते हुये वहां साध्य नहीं ठहरता तो व्यभिचार दोष उठाया जा सकता था। दूसरी बात यह है कि अभावोंका अपह्नव करनेवाले उन परपक्षभूत चार्वाकोंके यहां तो पृथिवी आदिक चार तत्त्वोंसे कोई अर्थान्तरभूत हो रहे प्रागभाव आदिक माने ही नहीं गये हैं। अन्यथा उन प्रागभाव, अन्योन्याभाव, आदिकोंको चार तत्त्वोंसे अतिरिक्त तत्त्वान्तरपनेका प्रसंग हो जायगा। तथा तीसरा उपाय यह भी है कि व्यभिचार उठानेवाले चार्वाक यदि इतरेतराभाव और अत्यन्ताभावमें किसी ढंगसे अकार्यत्वहेतुको रख देना चाहते हैं तो अच्छी बात है, उन इतरेतराभाव और अत्यन्ताभावमें सदा अस्तिपनके ज्ञानकी विषयता हो जानेसे उन करके व्यभिचार नहीं हुआ, अकार्यत्व हेतु रह गया तो साध्यमें सर्वदा अस्तिपन वह साध्य भी वहां ठहर गया। कुलीन पतिपत्नीके समान साध्य हेतुओंमें अविनाभाव वर्त्त जानेसे व्यभिचारकी शंका भी नहीं रहती है। विषमव्याप्ति न होकर यदि हेतु साध्योंमें जहां समव्याप्ति हो रही है, वहां हेतु तो क्या, एकपत्नीव्रत पतिके समान साध्य भी व्यभिचारी नहीं हो पाता है।

खरविषाणादिदृष्टांतश्च साध्यसाधनविकलः, खरविषाणादेरप्येकांतेन नास्तित्वानुपलभ्यमानत्वाद्यसिद्धेः। गोमस्तकसमवायित्वेन हि यदस्तीति प्रसिद्धं विषाणं तत्खरादिमस्तकसमवायित्वेन नास्तीति निश्चीयते, मेषादिसमवायित्वेन च प्रसिद्धानि रोमाणि, कूर्मसमवायित्वेन च न संति, नोपलभ्यंते च वनस्पतिसमवायित्वेन प्रसिद्धास्तित्वोपलंभं कुसुमं गगनसमवायित्वेन नास्तित्वानुपलभ्यमानत्वधर्माधिकरणं दृष्टं न पुनः सर्वत्र सर्वदा सर्वथा किंचिन्नास्तित्वानुपलंभाधिकरणं प्रसिद्धं विरोधात्। ततो नात्मनः सर्वथा सर्वत्र सर्वदा नास्तित्वे साध्ये तथानुपलंभादिहेतूनां निदर्शनमस्ति साध्यसाधनविकलस्यानिदर्शनत्वात्।

चार्वाकोंने अनुपलम्भ, अकारणत्व, अकार्यत्व, इन तीन हेतुओंसे आत्माके नास्तित्वको साधते हुये जो कि खरविषाण, कच्छपरोम, आदि अन्वयदृष्टान्त कहे थे वे दृष्टान्त भी नास्तित्व साध्य और अनुपलम्भ आदि हेतुओंसे रहित हैं। क्योंकि खरविषाण, वन्ध्यापुत्र, आदि दृष्टान्तोंका एकान्त करके (सर्वथा) नास्तिपन और अनुपलभ्यमानत्व (अनुलम्भ) आदिकी सिद्धि नहीं हो सकी है। देखिये अवयवी गौके मस्तकमें समवायसम्बन्धसे वर्त्तरहेपन करके जो ही सींग प्रसिद्ध हो रहा है, वही सींग तो गधा, घोडा, हाथी, आदिके उत्तमांगों (शिरोभाग) में समवायसम्बन्धसे वर्तमानपने

करके नहीं है। इस प्रकार निश्चय किया जाता है तथा मेंढा, छिरिया, बन्दर, आदिके अवयवी शरीरमें अवयव होकर समवायसहितपने करके प्रसिद्ध हो रहे रोम ही तो कछवेमें समवायीपने करके नहीं है, और नहीं देखे जा रहे हैं। इस ढंगसे तो नास्तित्व साध्य और अनुपलम्भ हेतुको कूर्म रोम धार सकता है, तथा वनस्पतिमें समवायी होकरके प्रसिद्ध हो रहा है अस्तित्व और उपलम्भ जिसका, ऐसा पुष्प ही गगनके समवायीपने करके नास्तित्व (साध्य) और अनुपलभ्यमानत्व (हेतु) धर्मका अधिकरण हो रहा देखा गया है। किन्तु फिर सब ही स्थानोंपर सदा सभी प्रकारोंसे जगत्‌का कोई भी पदार्थ नास्तिपन और अनुपलम्भका अधिकरण हो रहा तो अद्यावधि प्रसिद्ध नहीं है। क्योंकि विरोध दोष आता है। अर्थात्—जो नास्तिपन या अनुपलम्भ धर्मोंका आश्रय होगा वह सत्‌रूपसे ही प्रसिद्ध होगा। धर्म तो सद्रूपधर्मीमें रहते हैं और जो सत् पदार्थ है उसमें नास्तिपन, अनुपलम्भ, कारणरहितपन, कार्यरहितपन, ये धर्म नहीं ठहर सकते हैं। " संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् " अखण्डपदकी संज्ञावाले पदार्थका प्रतिषेध करना प्रतिषेध्यकी सत्ता माने बिना असम्भव है। एक स्थानपर प्रतिषेध्यकी सत्ता सिद्ध होनेपर अन्य स्थानोंपर उसका निषेध किया जा सकता है। अष्टसहस्री ग्रन्थमें " अद्वैत शब्दः स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षी नञ् पूर्वाखण्डपदत्वादहेत्वभिधानवत् " इस अनुमानसे द्वैत, आत्मा, आदि शब्दोंके सद्भावरूप वाच्य अर्थ साध दिये गये हैं। जब कि असम्भव कहे जा रहे खरविषाण आदि समसित पदोंके वाच्य अर्थकी भी सिद्धि करते हुये उनमें सर्वथा नास्तिपन और अनुपलम्भ नहीं साधे जा सकते हैं तो आत्मा या चैतन्यका अस्तित्व साधना तो सुलभसाध्य है। वैशेषिकमत अनुसार अवयवोंमें अवयवी समवाय सम्बन्धसे रहता है। अतः सींग या बालस्वरूप अवयवोंमें भैंसा, मेढा, गाय, आदि अवयवी समवाय सम्बन्धसे वर्त्त रहे सन्ते समवेत कहे जाते हैं। अवयवीके समवायको धार रहे अवयव समवायी माने जाते हैं। किन्तु जैनसिद्धांत अनुसार मढी हुई चूनकी लूंडमें थोड़ा आटा और मिला देनेसे पुनः एक अवयवी बन जाता है। उसी प्रकार प्रकरणप्राप्त अवयवीमें भी कुछ अवयव मिला देनेसे द्वितीय अवयवी उत्पन्न हो जाता है। यानी अवयवीमें भी अवयवका रहना जैनसिद्धान्त अनुसार अभीष्ट है। यहां वैशेषिक यों मान रहे हैं कि मनभर दूधमें छटांक भर दूध मिलानेपर अथवा दश सेर आटे की लूंडमें छटांकभर आटा या न्यारे छटांक भर आटेकी लूंडको मिला देनेसे एवं चालीस गज लम्बे वस्त्रमें एक सूत मिलाने या निकालनेसे अवयवीका नाश हो जाता है। अवयवी पुनः अवयव उसके भी अवयव आदि पञ्चाणुक, चतुरणुक, त्र्यणुक, द्व्यणुक, इस विनाश क्रमसे परमाणु हो जाते हैं। यों पूर्व अवयवीका नाश होकर पुनः सम्मिलित हुये दूसरे अवयवोंके साथ द्व्यणुक, त्र्यणुक, चतुरणुक, पञ्चाणुक, षडणुक, सप्ताणुक, इस क्रमसे अवयव, अवयवी, महावयवी, चरमावयवी, द्रव्यकी पुनः सृष्टि होती है। दो अणुओंसे एक द्व्यणुक बनता है। तीन द्व्यणुकोंसे एक त्र्यणुक बनता है। चार त्र्यणुकोंसे एक चतुरणुक बनता है। पांच चतुरणुकोंसे एक पंचाणुक बनता है। यही ढंग अवयवी पर्यन्त चला जाता है। यह सब

वैशेषिकोंकी उत्पाद विनाश प्रक्रियाका दिखलाना तो बकना मात्र है। इसमें प्रत्यक्षसे ही विरोध आता है। पांच सेर इक्षुरसमें छटाकभर दूसरा इक्षुरस मिला देनेसे तत्काल नवीन अवयवी बन जाता है। " भेदसंघाताभ्यामुत्पद्यन्ते " जैन सिद्धान्तमें भेद और संघात तथा कुछका भेद कुछका संघात इन तीनों प्रकारोंसे अवयवीकी उत्पत्ति मानी गयी है। अतः वैशेषिकोंका कहना प्रत्यक्षविरुद्ध पडता है। अवयवीमें भी अवयवोंके समवेत हो जानेका कोई विरोध नहीं है। वैशेषिकोंने तीन द्व्यणुकोंसे एक त्र्यणुक और चार त्र्यणुकोंसे एक चतुरणुक इत्यादि जो सृष्टिप्रक्रिया मानी है वह भी ठीक नहीं है। तीन अणुओंसे या एक द्व्यणुक और एक अणुसे ही त्र्यणुक पैदा होता है। दो द्व्यणुक या एक त्र्यणुक और एक अणु अथवा चार अणुओंसे ही चतुरणुक स्कन्ध उपजता है। बात यह है कि चतुरणुकमें चार ही अणुयें होनीं चाहिये। पंचाणुकमें द्रव्यरूपसे पांच अणुयें ही पर्याप्त हैं, न्यून अधिक नहीं। शब्दके वाच्य अर्थपर भी दृष्टि डालनी चाहिये। यों चाहे जहां मन चाहा अडंगा लगा देना शोभा नहीं देता। वैशेषिकोंके मतानुसार एक सौ बीस अणुओंका पंचाणुक स्कन्ध और सातसौबीस परमाणु द्रव्योंका बना हुआ एक षडणुक स्कन्ध हम जैनोंको अभीष्ट नहीं है। वैशेषिकोंको यह डर लगा हुआ है कि सृष्टिकी आदिमें ईश्वर इच्छा या अन्यदा अग्निसंयोग, ईश्वर, आदि कारणोंसे जब सभी परमाणुओंके द्व्यणुक बन गये तो अब त्र्यणुक बननेके लिये द्व्यणुकका साथी अकेला परमाणु कहांसे आवे? अथवा वहां रखे हुये सब द्व्यणुकोंके जब त्र्यणुक बन गये तो जैन मतानुसार चतुरणुको बनानेके लिये वहां द्व्यणुक और परमाणुयें कहां रखे हुये हैं? जिनसे कि चार परमाणु या दो द्व्यणुकोंसे झट एक चतुरणुक बना लिया जाय। इसपर हम जैनोंका यह कहना है कि जगत्में अनन्तानन्त द्व्यणुक या परमाणुयें ठसाठस भरे हुये हैं। अनन्ताअनन्त परमाणुयें तो ऐसी पडी हुईं हैं जो अद्यापि स्कन्धस्वरूप नहीं हुयीं और होंगी भी नहीं। जहां घट, पट, षडणुक, पंचाणुक, चतुरणुक बन रहे हैं वहां भी अनेक परमाणुयें, अनन्ते द्व्यणुक, विद्यमान हैं। वहां रखी हुयी सभी परमाणुयें द्व्यणुक नहीं बन जातीं हैं। द्व्यणुक सभी त्र्यणुक नहीं बन जाते हैं। दूरसे भी परमाणुयें खेंची जा सकती हैं। या कारणवशासे वे चली आतीं हैं। अपनी अपनी योग्यता अनुसार ही नियत पुद्गलोंकी नियमित परिणतियां होतीं हैं, आगे चलकर भी तो वैशेषिकोंने दो कपालिकाओंसे एक कपाल और दो कपालोंसे एक घट अवयवीकी उत्पत्ति स्वीकार की है। फिर पहिले षडणुक, सप्ताणुक, स्कन्धोंमें यह अनुचित (बेहुदेपनका) क्रम क्यों बना रखा है? इस बातको जगत्में डेड बुद्धिको मानकर अपने ही एक पूरी बुद्धिको समझ बैठे औलूक्य मतानुयायी वैशेषिक ही जानें। प्रकरणमें यह कहना है कि खरविषाण भी नास्ति और अनुपलभ्यमान नहीं है। चार पांववाला गधा पशु प्रसिद्ध है। सींग भी गाय, भैंसामें प्रसिद्ध होरहे केवल गधा और सींगका समवाय हो जाना धर्म ही नहीं देखा जा रहा है। तब तो खरविषाणका एक छोटासा धर्ममात्र ही अप्रसिद्ध हुआ। सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा, खरविषाण पदार्थ तो नास्ति और अनुपलम्भका अधिकरण नहीं है। इसी प्रकार कछुवेके रोम या आकाशका फूल भी सर्वथा अप्रसिद्ध

नहीं है। मण्डूकशिखण्डक भी अस्ति होकर जाना जा रहा एक ढंगसे प्रसिद्ध है। देखो, कथंचित् असत् हो रहे पदार्थके ही अस्तित्व और उपलम्भ धर्म हैं तथा कथंचित् सत् पदार्थके ही नास्तिपन और अनुपलम्भ माने गये हैं। न तो सभी प्रकारोंसे सत् हो रहे पदार्थके ही अस्तित्व और उपलम्भ धर्म हैं। क्योंकि यों तो घटका पट रूपसे या जीवरूपसे भी सद्भाव बन बैठेगा। यों चाहे जो पदार्थ चाहे जिस पदार्थस्वरूप होता हुआ सर्वसंकरदोष ग्रस्त हो जायगा। यदि सर्वथा असत्के ये नास्तित्व या अनुपलम्भ धर्म माने जायंगे तब तो सर्वशून्यवादमें बोलने, सुनने, समझने, समझाने, का व्यवहार ही नष्ट हो जायगा। " स्याद्वादो विजयतेतरां "। संचितकर्मोंकी पराधीनतासे चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करते हुये जीवको मण्डूक (मैंडका) भवकी प्राप्ति हो चुकनेपर पुनः वह जीव मनुष्य गतिमें कुमारी अवस्थाको धारण करता है, उस समय उस स्त्रीके जो कौआके पंख समान केश रचना विशेष है वह कुमारी लडकीकी चोटी या वेनी पूर्वमण्डूककी कही जा सकती है। देवदत्तकी दुकान बिक जानेपर भी किसी अपेक्षा देवदत्तकी कही जा सकती है। पार्श्वनाथके पहिले भवोंके कर्तव्योंको पार्श्वनाथकी कृति बखाना जाता है। जब फूलको आकाश अवगाह दे रहा है तो आकाशका पुष्प कहनेमें क्या क्षति है ? देखो वृक्षमें जितनी देर या जितने अंशसे पुष्प संयुक्त हो रहा है, उससे कहीं अधिक देरतक सर्वांगरूपसे आकाशके साथ पुष्पका संयोग बन रहा है। वृक्षसे वियुक्त हो गया भी फूल कभी आकाशसे प्रच्युत नहीं होता है। इस प्रकार जबतक पुष्प विद्यमान रहेगा आकाशके साथ उसका सम्बन्ध नहीं छूट सकता है। थोडा माता, पिताका पुत्रके साथ हुये सम्बन्धको अथवा देवदत्तका धन या खेत अथवा शत्रुसे हुये सम्बन्धको निरख लो। जब ऐसे स्तोक सम्बन्धवाले स्थलोंमें षष्ठी विभक्ति आसक्त होकर उतर आती है तो शशविषाण, वन्ध्यापुत्र, मृगतृष्णा-जल आदिमें विचारशाली वैयाकरणोंके द्वारा समासके प्रथम उतार ली जा चुकी सम्बन्धवाचक षष्ठी विभक्तिको निर्मूल क्यों कहते हो ? बात यह है कि " सिद्धिरनेकान्तात् " अनेकान्तसे पदार्थोंकी सिद्धि हो रही है। खरविषाण आदिमें भी नास्तित्व साध्य और अनुपलम्भ आदि हेतु विद्यमान नहीं हैं। तिस कारणसे चार्वाकों द्वारा आत्मद्रव्यका सभी प्रकारोंसे सर्वत्र सदा नास्तिपन साध्य करते सन्ते तिस प्रकार अनुमानमें कहे गये अनुपलम्भ, अकारणत्व, अकार्यत्व, सम्भवद्बाधकत्व, आदि हेतुओंका जगत्वर्ती कोई पदार्थ अन्वयदृष्टान्त नहीं है। जो चार्वाकोंने खरविषाण आदि दृष्टान्त उपात्त किये थे, वे तो साध्य और साधन दोनोंसे रहित हो रहे सिद्ध कर दिये गये हैं। जो साध्य और साधनसे विकल है (खाली है) वह अन्वयदृष्टान्त नहीं हुआ करता है, अन्वयदृष्टान्तमें ही हेतु और साध्यकी व्याप्तिका प्रदर्शन कर ही चार्वाक अपना आत्माके नास्तित्व सिद्धिका प्रयोजन साध सकते थे। अब तो उन चार्वाकोंके पास कोई उपाय शेष नहीं है। जब कि प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवाक्यसे आत्माका अस्तित्व प्रतीत हो रहा है, तो ऐसी दशामें आत्माका नास्तित्व सिद्ध करना चार्वाकोंका स्वयं अपनेको अवस्तु साधनेका निन्द्य प्रयत्न है।

तथात्मा नास्तीति पक्षश्च प्रत्यक्षानुमानागमबाधितोऽवगम्यत इति साधनं कालात्ययापदिष्टम् नातः साधनादात्मनिन्हवसिद्धिर्यतोऽस्य नोपयोगो लक्षणं स्यात् ।

तथा चार्वाकोंने आत्माके अभावको साधनेके लिये जो अनुमान बनाया था, उस अनुमानका आत्मा नहीं है । इस प्रकार पक्ष (प्रतिज्ञा) भी तो प्रत्यक्ष अनुमान और आगम प्रमाणोंसे बाधित हो रहा जाना गया है । पूर्व प्रकरणोंमें साध दिये गये केवलज्ञानसे संपूर्ण मुक्त, संसारी, आत्माओंका प्रत्यक्ष हो रहा है । अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान द्वारा भी संसारी बद्ध आत्माका विकल प्रत्यक्ष हो जाता है, तथा स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, ज्ञ हूं, आदि आकारोंका उल्लेख करते हुये आत्माका स्वतः प्रत्यक्ष हो रहा है । एवं बाधकोंका असम्भव या हित, अहितके प्राप्तिपरिहारकी क्रिया आदि हेतुद्वारा आत्माका अनुमान हो जाता है, सर्वज्ञकी आम्नायसे चले आ रहे " जीवोत्थि, जीवो उपओगमओ, गुणजीवा पज्जत्ती, इत्यादि आगमवाक्योंसे आत्माका अस्तित्व निर्णीत है । अतः प्रमाणोंसे बाधित होकर जाने जा रहे साध्यके निर्देश अनन्तर प्रयुक्त हो जानेसे चार्वाकोंका हेतु कालात्ययापदिष्ट है । इस प्रकार चार्वाकोंद्वारा कहे गये अनुपलम्भ आदि हेतुओंमें असिद्ध व्यभिचार विरुद्ध, बाधित, इन दोषोंके दीख जानेके कारण इन हेतुओंसे आत्माके अपलाप (होती हुई वस्तुके लिये मुकर जाना) की सिद्धि नहीं हो सकती है । जिससे कि इस आत्माका लक्षण उपयोग न हो सके । अर्थात्—चार्वाकोंने पहिले जो ये कहा था कि लक्ष्य बनाये जा रहे आत्माका असत्त्व होनेसे उसका लक्षण उपयोग नहीं घटित होता है, यह उनका कहना ठीक नहीं पड़ा । आत्मतत्त्वकी सिद्धि कर दी गयी है । अतः उपयोग उसका लक्षण बन सकता है । कोई आपत्ति नहीं है ।

किं च, स एवाहं द्रष्टा, स्पृष्टा, स्वादयिता, घ्राता, श्रोतानुस्मर्तेत्यनुसंधानप्रत्ययो गृहीतृकृतः करणजविज्ञानेषु चाऽसंभाव्यमानत्वात् तेषां स्वविषयनियतत्वात् परस्परविषय-संक्रमाभावात् ।

आत्मतत्त्वकी सिद्धि करनेका एक विचार यह भी है कि जो ही मैं चक्षुसे देखनेवाला हूं, वही मैं छू रहा हूं वही मैं स्वाद ले रहा हूं, सूंघ रहा हूं, अथवा सुननेवाला हूं, इन्द्रियों या मनसे अनुभव कर चुकनेपर धारणा ज्ञानद्वारा वही मैं स्मरण करनेवाला हूं । इस प्रकारके अनुसंधान करने-वाले ज्ञान (पक्ष) गृहीता आत्मा करके बनाये गये हैं (साध्य) क्योंकि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुये अविचारक विज्ञानोंमें उक्त प्रकारके अनुसंधान होनेका असम्भव हो रहा है (हेतु) वे स्पर्शन आदिक इन्द्रियां अपने अपने नियत विषय हो रहे स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, सञ्चेतना, को जानकर चरितार्थ हो जाती हैं । छः मासका छोटा बच्चा या, असंज्ञी या चौइन्द्रिय जीव दर्पणमें अपने प्रति बिम्बको चक्षुसे देख लेता है, किन्तु यह मेरी छाया है इसके अनुसार मुझे अपने मुखका धब्बा मिटा डालना चाहिये इत्यादि विचार नहीं कर पाता है । चक्षु केवल रूपको देख लेगी । रसना रसको

चाट लेगी । किन्तु ये इन्द्रियां ऐसे प्रत्यवमर्शोको नहीं कर सकती हैं कि यह वही सूंघा जा रहा है जो कि पापड पहिले देखा या खाया था यह उससे अधिक भुरभुरा है, यह उससे न्यून लक्षणवान् है। यह शब्द उस शब्दसे गम्भीर है, तीक्ष्ण है, कर्कश है। जैसे कि टेलिफोनोंके यहां वहां जाने, आने, सम्बन्ध मिलाने का संयोजक एक प्रधान कार्यालय होता है, उसी प्रकार इन्द्रियों द्वारा आगे पीछे हुये ज्ञानोंका अधिकारी एक विमर्शक आत्मा ही उपयोग लगाकर उनका अनुसंधान कर सकता है। इन्द्रियां इस कार्यको कालत्रयमें नहीं कर सकतीं हैं। क्योंकि उनके द्वारा ग्रहण किये जा चुके विषयोंका परस्परमें संक्रमण नहीं हो पाता है। रुपया स्वयं अपना परिवर्तन (एक्सचेंज) नहीं कर लेता है। इस कार्यके लिये चारों ओर का भाव निरख कर ठीक ठीक व्यवस्था कर देने वाले कोषाध्यक्ष (बैंकर) की आवश्यकता है। इससे इन्द्रियज्ञानों या विचारक ज्ञानोंका अनुसंधान रखनेवाला गृहीता आत्मा सिद्ध हो जाता है।

गर्भादिमरणपर्यंतो महांश्चैतन्यविवर्तो दर्शनस्पर्शनास्वादनाघ्राणश्रवणानुस्मरणलक्षणचैतन्यविशेषाश्रयो गृहीता तद्धेतुरिति चेन्न, तस्यैवात्मत्वेन साधितत्वादनाद्यनंतत्वोपपत्तेः। न चायं निर्हेतुकः कादाचित्कत्वादिति परिशेषादात्मसिद्धेश्च नात्मनोभावो युक्तः।

चार्वाक कहते हैं कि आत्मा तत्त्व अनादि अनन्त नहीं है। गर्भसे आदि लेकर मरण पर्यन्त लम्बा चौडा महान् चैतन्य परिणाम ही देखना, छूना, चाखना, सूंघना, सुनना, पीछे स्मरण करना, ऐसे लक्षणवाले विशेष चैतन्योंका आश्रय है वही गृहीता है और गर्भसे मरणतक ही ठहरनेवाला आत्मा उस अनुसंधान ज्ञान करनेका हेतु है। गर्भसे प्रथम और मरणके पश्चात् भी उसका अन्वय मानते जाना उचित नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उस महान् चैतन्य विवर्तको ही आत्मपने करके साध दिया गया है, उस चैतन्यका अनादि कालसे लेकर अनन्त कालतक द्रव्यरूपसे ठहरना बन जाता है। यह चैतन्य विशेष या अनुसंधानज्ञान भला हेतुओंसे रहित तो नहीं है। क्योंकि कभी कभी होता है। जो कार्य कभी कभी होते हैं उनका कोई नियत हेतु अवश्य है। विशेष चैतन्यका हेतु यह शरीर तो नहीं है। मृत शरीरमें व्यभिचार हो जायगा। इन्द्रियां भी चैतन्यका हेतु नहीं हैं। क्योंकि चक्षु या श्रवण इन्द्रियका घात हो जानेपर भी देखे सुने हुओंका स्मरण हो रहा देखा जाता है। शरीर, इन्द्रिय, नोइन्द्रिय, ये जड पदार्थ तो घट, पट, आदिके समान विचार नहीं कर सकते हैं। चार्वाकों द्वारा माने गये पृथिवि, जल, तेज, वायु, चार तत्त्वोंके बूते उक्त कार्य करना अशक्य है। अतः परिशेष न्यायसे चैतन्यविशेषका हेतु आत्माद्रव्य सिद्ध हो जाता है। इस कारण चार्वाकोंको आत्माका अभाव कर देना समुचित नहीं है। गर्भसे प्रारम्भ कर चैतन्य विशेषकी जो उत्पत्ति मानी गयी है वह उपादान कारणसे ही सध सकती है। उपादानके विना किसीकी उत्पत्ति नहीं होती है। शब्द, बिजली, आदिके भी अदृश्य उपादान वर्त्त रहे हैं तथा मरणके पश्चात् किसी उपादेयको उत्पन्न कर ही चैतन्य टूट सकता है। उत्तर अधिकारीको नहीं

उत्पन्न कर किसी भी गुणगरिष्ठको नष्ट होनेका अधिकार नहीं है। आद्य प्रकरणमें विस्तारके साथ आत्माके अनादि अनन्तपनकी सिद्धि की जा चुकी है। अलं विस्तरेण।

किंच, अस्मदादेरात्मास्तीति प्रत्ययः संशयो विपर्ययो यथार्थनिश्चयो वा स्यात्? संशयश्चेत् सिद्धः प्रागात्मा अन्यथा तत्संशयायोगात्। कदाचिदप्रसिद्धस्थाणुपुरुषस्य प्रतिपत्तुस्तत्संशयायोगवत्। विपर्ययश्चेत्तथाप्यात्मसिद्धिः कदाचिदात्मनि विपर्ययस्य तन्निर्णयपूर्वकत्वात्। ततो यथार्थनिर्णय एवायमात्मासिद्धिः।

चार्वाकोंके प्रति आचार्य महाराज प्रश्न करते हैं कि क्योंजी, हम जैन या मीमांसक, नैयायिक आदिकोंके यहां हो रहा "आत्मा है" इस प्रकारका ज्ञान क्या संशयज्ञान स्वरूप है? या विपर्ययज्ञान स्वरूप है! अथवा क्या यथार्थ वस्तुका निर्णय समझा जाय? बताओ। प्रथम पक्ष अनुसार आत्मा तत्त्व विद्यमान है, इस ज्ञानको यदि संशय माना जायगा तब तो चार्वाकोंके यहां पहिले आत्मा तत्त्व सिद्ध हो चुका कहना चाहिये। अन्यथा यानी आत्माका कहीं न कहीं अस्तित्व माने बिना अन्यत्र उसके संशय होनेका अयोग है। जैसे कि तलघरमें उपजकर पले हुये जिस प्रतिपत्ताको आजतक कभी ठूंठ और पुरुषकी यदि प्रसिद्धि नहीं हो सकी है, उस पुरुषको उन स्थाणु और पुरुषको विषय करनेवाले संशय ज्ञान होनेका अयोग है। अर्थात्—जो जिसका संशय करता है वह उसका कहीं न कहीं निश्चय अवश्य कर चुका है। साधारण धर्मोंका दर्शन और विशेष अंशोंकी स्मृति हो जानेपर संशय ज्ञानकी उत्पत्ति सबने मानी है। अवस्तुको विषय करनेवाला संशय नहीं होता है। तथा आत्मा है इस ज्ञानको चार्वाक द्वितीय विकल्प अनुसार यदि विपर्यय ज्ञान मानेंगे तिस प्रकार होनेपर भी आत्मतत्त्वकी सिद्धि हो जाती है। क्योंकि कभी कभी आत्मामें उसका विपर्यय ज्ञान तभी होगा, जब कि कहीं न कहीं पूर्वमें उस आत्माका निर्णय किया जा चुका होगा। सीपमें रजतकी भ्रान्ति उसी पुरुषको उपजती है जो कि कभी कहीं यथार्थ चांदीका सम्यग्ज्ञान कर चुका है। इससे भी न्यारे आत्मतत्त्वकी सिद्धि हो जाती है। तिस कारणसे तृतीय विकल्प अनुसार "आत्मा है" यह ज्ञान यथार्थ निर्णय स्वरूपी है। यों बडी सुलभतासे सभी विकल्पोंमें आत्मा द्रव्यकी सिद्धि हो जाती है।

नन्वेवं सर्वस्य स्वेष्टसिद्धिः स्यात् प्रधानादिप्रत्ययस्यापि सर्वविकल्पेषु प्रधानाद्यस्तित्वसाधनात्। तस्यैतदसाधनत्वे कथमात्मास्तीति प्रत्ययस्यात्मास्तित्वसाधनत्वमिति कश्चित्। तदसत्। प्रधानस्य सत्त्वरजस्तमोरूपस्याविरुद्धत्वात् तद्धर्मस्यैव नित्यैकत्वादेर्निराकरणात्। एवमीश्वरस्यात्मविशेषस्य अस्मदादेरभिमतत्वात् तद्धर्मस्य जगत्कर्तृत्वादेरपाकरणात् सर्वथैकांतस्यापि सर्वथैकांतरूपतया कदाचित्प्रसिद्धेस्तस्य सम्यक्त्वेन श्रद्धानस्य निराचिकीर्षितत्वात्। सर्वथा सर्वस्य सर्वत्र संशयविपर्ययानुपपत्तेः।

चार्वाकोंका स्वपक्ष अवधारणके लिये आचार्योंके ऊपर कटाक्ष है कि इस प्रकार विकल्प उठानेपर तो सभी प्रवादियोंके यहां अपने अपने अभीष्ट तत्त्वोंकी सिद्धि हो जायगी सांख्योंकी मानी हुई प्रकृति, या नैयायिकोंका ईश्वर, अथवा एकान्त, वैशेषिकोंका सातवां पदार्थ अभाव, अद्वैतवादियोंका ब्रह्मतत्त्व, आदि पदार्थोंकी भी सिद्धी बन बैठेगी। क्योंकि " प्रधान है " " ईश्वर है " इत्याकारक ज्ञानको संशय या विपर्यय अथवा यथार्थ निर्णय माननेपर सभी विकल्पोंमें सिद्ध कर लिये आत्मतत्त्वके समान प्रधान आदिके अस्तित्वका भी साधन हो जाता है। प्रधानके ज्ञानको संशय होनेपर भी प्रधानका कहीं सद्भाव बन चुकता है। या विपर्यय माननेपर भी कचित् अस्तित्व मानना आवश्यक हो जाता है। यथार्थ निर्णय तो उनकी सिद्धिका सर्वमान्य प्रयत्न है। यदि जैन उन विकल्पोंके अनुसार उस प्रधान आदिके ज्ञानको उन प्रधान, ईश्वर, आदिका साधन करनेवाला नहीं मानोगे तब तो " आत्मा है " इस ज्ञानको भी कैसे सर्व विकल्पोंमें आत्माके अस्तित्वका साधकपना बन सकता है ? यों यहांतक कोई चार्वाक मतानुयायी कह रहा है। आचार्य कहते हैं कि उसका यह कहना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि प्रधान, ईश्वर, आदिको हम जैन स्वीकार करते हैं। सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, स्वरूप प्रधानके साथ हमारा कोई विरोध नहीं है। हां, कापिलोंके यहां उस प्रधानके मान लिये गये नित्यत्व, एकपन, बुद्धि, सुख, दुःख, आदि धर्मोंका ही हम निराकरण करते हैं। लघुपना, प्रकाशपना, प्रेरकपना, सक्रियपना, भारीपन, प्रतिबन्धकपन, आदि स्वरूपोंसे तदात्मक हो रहे पुद्गल नामधारी प्रधानका खंडन हम थोडे ही करते हैं ? इसी प्रकार एक विशेष आत्मा ईश्वरको अथवा ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सुगत, अद्वैत, (अनुपम) आत्मा, खुदा, हुसैन, ईसा, आदि विशेष व्यक्तियोंको हम जैन स्वीकार करते हैं। हां केवल उन पौराणिक, अद्वैतवादी, यवन, आदि द्वारा माने गये उन ईश्वर आदिके जगत्कर्तापन, व्यापकपन आदि धर्मोंका निराकरण करते हैं। खुदा असत् द्रव्योंका उत्पाद नहीं कर सकता है। ईश्वर् असम्भवको सम्भव नहीं कर सकता है। वृक्षपर फल फूलके समान मनुष्य लगकर नहीं उपजते हैं। उपादान कारण या निमित्त कारणोंके विना कोई भी कार्य कोरे अतिशय, माया या ईश्वरक्रीडा-मात्रसे ही नहीं उपन्न हो सकते हैं। कोई भी आत्मा सर्वव्यापक नहीं हो सकता है। ब्रह्मा, सुगत, सात्यकि, ये अपने माता पिताओंके रजोवीर्यसे उत्पन्न हुये हैं। तपश्चरण कर इन्होंने कार्यकारणभावका अतिक्रमण नहीं करते हुये अनेक ऋद्धियां, सिद्धियां प्राप्त की हैं। किन्तु ऐसी सृष्टि प्रक्रिया युक्तिओंसे वाधित है कि विष्णुकी नाभिसे उत्पन्न हुये कमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति है और ब्रह्माने सबसे पहिले (सर्गत्यादावपोऽसृजत् या सृष्टिः स्रष्टुराद्या) जलको बनाया पीछे पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमा, आदिका निर्माण किया। क्योंजी, पृथिवी या आकाशके बिना ब्रह्माने कहां बैठकर जल बनाया ? समुद्र जलमें विराजमान विष्णु भगवान् और कमल तो ब्रह्माके जन्मसे प्रथम ही बन चुके होंगे इत्यादिक अनेक प्रकारोंसे दूषणगण आते हैं। इस कारण ईश्वर या ब्रह्माका जगत् कर्त्तापन आदिक

धर्म नहीं सध पाते हैं। तथा बौद्ध, सांख्य, मीमांसक, आदि द्वारा सर्वथा क्षणिकपन, नित्यपन, आदि एकान्तोंके भी सर्वथा एकान्तस्वरूप करके कभी कभी हम प्रसिद्धि मानते हैं। हां, केवल उन एकान्तोंका ही समीचीनपने करके श्रद्धान करनेके निराकरणकी अभिलाषा हमारे हो चुकी है। ऋजुसूत्रनयाभास, संग्रहाभास नयों करके सर्वथा क्षणिकपन और सर्वथा नित्यपन धर्म भ्रान्तज्ञानों द्वारा कदाचित् जाने जाते हैं। तभी तो उनका समीचीन रूपसे श्रद्धान करनेका निराकरण हमें अभीष्ट हो रहा है। बात यह है कि सभी प्रकारोंसे सभी स्थलोंपर सम्पूर्ण प्राणियोंको किसी भी विषयका संशय, विपर्यय होना नहीं बन सकता है। कहीं प्रसिद्ध हो रहे ही धर्मका अन्यत्र, अन्यदा, संशयज्ञान, विपर्ययज्ञान, होना सम्भवता है। अतः आत्मतत्त्वका सद्भाव बिना खटके मान लेना चाहिये।

नन्वेवमात्मनि सत्यपि नोपयोगस्य लक्षणत्वमनवस्थानादिति चेन्न, उपयोगसामान्यस्यावस्थापितत्वात्। परापरोपयोगविशेषस्य चानुपरमात्तस्य लक्षणत्वोपपत्तेः सर्वथोपरमे पुनरनुस्मरणाद्यभावप्रसक्तेः।

यहां आत्मद्रव्यको न माननेवाले चार्वाक या किसी बौद्धकी शंका है कि इस प्रकार युक्तिपूर्वक आत्माका सद्भाव सिद्ध हो जानेपर भी तो उपयोगको लक्षणपना नहीं बन पाता है। क्योंकि ज्ञानस्वरूप या दर्शनस्वरूप उपयोग क्षणिक है। क्षणस्थायी पदार्थ तो कालान्तरतक ठहरता नहीं है। प्रतिपादक वक्ताके बताये अनुसार शिष्य जबतक आत्माको पहिचाननेके लिये लपकेगा तबतक क्षणस्थायी उपयोग बिगड जायगा। दौडती हुई डांक गाडीमें तीर या बन्दूकका चिन्ह साधना अतीव कठिन है। देवदत्तके घरको कौआकी स्थितिसे चीन्हना नहीं बनेगा। कारण कि कौआके उड जानेपर वह लक्षणयुक्त घर ही एक प्रकारसे बिगड जाता है। अतः अस्थायी पदार्थको किसीका लक्षण बनाना ठीक नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह शंका तो नहीं करना। क्योंकि सामान्यरूपसे कोई न कोई उपयोग आत्मामें सदा उपस्थित रहता साध दिया गया है। एक उपयोगके बिगड जानेपर भी उत्तरोत्तर सन्तानरूपसे होनेवाले अन्य विशेष उपयोगोंका कभी विराम नहीं हो पाता है। उपयोगकी परम्परा बनी रहती है। इस कारण उस उपयोगको लक्षणपना बन जाता है। यदि सभी प्रकारोंसे पर, अपर, सभी विशेष उपयोगोंका आत्मामें अभाव मान लोगे फिर तो पश्चात् स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, इष्ट, साधनताज्ञान, कृतिसाध्यता ज्ञान आदि होनेके अभावका प्रसंग हो जायगा। जसे कि विशेष व्यक्तियोंके मर जानेपर भारतवर्षमें यदि उत्तरोत्तर जन्म धार रहे अन्य विशेष मनुष्योंका भी अभाव मान लिया जायगा तो ऐसी दशामें भारतवर्ष सर्वथा मनुष्योंसे खाली हो जायगा। किन्तु ऐसा होना अलीक है। आत्माके भी उपयोगका सर्वथा अभाव मान लिया जाय तो जड आत्मा पीछेसे स्मरण नहीं कर सकेगा। स्मरण तो उपयोगअवस्थामें किसी विशेष उपयोगका ही होता है। अज्ञान जड पदार्थको अनुपयोग दशामें स्मरण नहीं हो पाता है। जो आत्मा पूर्व कालमें

अनुभव कर चुका है, वही पीछे अनुभूत अर्थका स्मरण कर सकता है। दूसरे व्यक्तिसे अनुभूत अर्थका स्मरण नहीं कर पाता है।

संतानैकत्वादनुस्मरणादिरिति चेन्न, तस्यात्मनिन्हवे संवृतिसतोनुस्मरणादि हेतुत्वायोगात्। परमार्थसत्त्वे वा नाममात्रभेदात्।

यदि शंकाकार यों कहे कि उपयोगोंको क्षणिक मानते हुये भी उपयोगोंकी लडी बंधजानारूप सन्तानका एकपना होनेसे अनुस्मरण, परामर्श, आदिक हो जायगे। लोहेकी सांकलमें अनेक कडियोंके न्यारे न्यारे होते हुये भी एक दूसरेका सम्बन्ध बना रहता है। एक कडीके खींचनेपर पूरी सांकल खिंचती, लटकती, बंधी, रहती है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि तुम बौद्धोंने अन्वयी आत्म द्रव्यको छिपाया है, माना नहीं है, और सन्तानको संवृत्ति यानी व्यवहारसे सत् माना है। वस्तुतः संवृत्तिको असत् पदार्थ बतलाया है। ऐसी दशामें आत्मतत्त्वका अपलाप करनेपर केवल व्यवहारसे सत् हो रही, उस सन्तानको अनुस्मरण आदिका हेतुपना घटित नहीं होता है। हां, यदि बौद्ध उस संतानका परमार्थरूपसे सद्भाव स्वीकार कर ले, तब तो हमारे आत्मतत्त्व और तुम्हारे वस्तुभूत सन्तानमें केवल नामका ही भेद हो रहा कहना चाहिये। अर्थमें कोई भेद या विवाद नहीं रहा। सम्पूर्ण उपयोग विशेषोंमें आत्मद्रव्य अन्वित हो रहा है, जैसे कि सांकलकी कडीमें कडी सन्तानरूपसे पुव रही है। उपयोगका सर्वथा विनाश नहीं हो पाया है। किन्तु कथंचित् विनाश और कथंचित् स्थिति है, इस बातको हम अनेक बार कह चुके हैं।

उपयोगसंबंधो लक्षणं जीवस्य नोपयोग इति चेत्, स तर्हि जीवस्यार्थांतरभूतेनोपयोगेन स संबंधो यदि जीवादन्यस्तदा न लक्षणमर्थांतरवत्, अन्यथोपयोगस्यापि लक्षणत्वसिद्धेरविशेषात्। अर्थांतरभूतेन संबंधेनाप्यपरः संबंधो लक्षणमिति मतं, कथमनवस्थापरिहारः? सुदूरमपि गत्वा यदि संबंधः संबंधिनः कथंचिदनन्यत्वाल्लक्षणमिष्यते तदोपयोग एवात्मनो लक्षणमिष्यतां तस्य कथंचित्तादात्म्योपपत्तेः।

यहां वैशेषिकका कटाक्ष है कि उपयोगके सम्बन्ध हो जानेको जीवका लक्षण कहना चाहिये। उपयोग तो जीवका लक्षण नहीं सम्भवता है। जिस चिन्ह करके लक्ष्य व्यावृत्त कर लिया जाय वह चिन्ह लक्षण कहा जाता है। कौनेमें रखा हुआ दण्ड तो देवदत्तका लक्षण नहीं है, किन्तु पुरुषके साथ दंडका संयोग सम्बन्ध हो जाना पुरुषका लक्षण है। तभी वह संसर्ग ही दण्डरहित पुरुषोंसे दण्डी पुरुषकी व्यावृत्ति कराता हुआ ज्ञापक लक्षण हो जाता है। उसी प्रकार भिन्न पडे हुये उपयोगको जीवका लक्षण नहीं कहकर उपयोगके समवायसम्बन्धको जीवका ज्ञापक लक्षण मानना चाहिये। भोज्य पदार्थका उदरमें संसर्ग हो जाना तृप्तिका हेतु है, थालीमें रखा हुआ भोज्य पदार्थ नहीं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार यदि वैशेषिक कहेंगे तब तो हमारा यह विचार

है कि तुम्हारे मन्तव्य अनुसार जीवसे सर्वथा भिन्न हो रहे उपयोगके साथ जीवका हो रहा सम्बन्ध यदि जीवसे भिन्न है तब तो वह सर्वथा भिन्न हो रहे पदार्थके समान वह सम्बन्ध भी लक्षण नहीं हो सकता है। अन्यथा यानी भिन्न हो रहे भी सम्बन्धको यदि लक्षण मान लिया जाय, तब तो विचारे उपयोगको भी लक्षणपनकी सिद्धि हो जायगी, कोई अन्तर नहीं है। अर्थात् —भेदवादी वैशेषिकोंके यहां दण्डद्रव्यका पुरुषके साथ हो रहा संयोग तो गुण पदार्थ माना गया है और संयोगका दण्डमें न्यारा हो रहा समवायसम्बन्ध तो छठवां स्वतंत्र पदार्थ माना गया है। उसी प्रकार उपयोगका समवाय सम्बन्ध भी तो जीवसे अर्थान्तरभूत ही पडेगा। अतः जिस भेद हो जानेके डरसे तुम वैशेषिकोंने उपयोगको छोडकर उपयोग सम्बन्धकी शरण ली थी, वह भय तो तदवस्थ ही है। उपयोगके न्यारे समवाय सम्बन्धको जोडनेके लिये स्वरूप सम्बन्धकी और पुनः न्यारे स्वरूप सम्बन्धका योग करनेके लिये अन्य सम्बन्धकी आवश्यकता होती जाती है। फिर भी सर्वथा भिन्न हो रहे सम्बन्धके साथ भी उसका न्यारा सम्बन्ध लक्षण माना जायगा तब तो उस न्यारे सम्बन्धका भी मिलाप करनेके लिये अन्य सम्बन्धोंकी आकांक्षा बढती चली जायेगी। यों भेदवादियोंके मतमें अनवस्था दोषका परिहार कैसे हो सकता है ? सो तुम्हीं जानो। हां, यदि उपयोगको भी मानते हुये उपयोगके सम्बन्धको वैशेषिक अभिन्न मान लेते होते तब तो यह उनका कटाक्ष करना हमको और उनको दोनोंको लाभदायक होता। किन्तु वे तो सम्बन्ध और सम्बन्धियोंका सर्वथा भेद माननेकी सौगन्ध ले चुके हैं। अनवस्थाके निवारणार्थ यदि बहुत कुछ दूर भी दशवीं, पचासवीं, कोटिपर जाकर स्वसम्बन्धीके साथ कथंचित् अभेद हो जानेसे सम्बन्धको लक्षण अभीष्ट किया जायगा तब तो उपयोग ही आत्माका लक्षण अभीष्ट कर लिया जाओ। क्योंकि जैन सिद्धान्तमें उस उपयोगका अपने सम्बन्धी लक्ष्यभूत आत्माके साथ कथंचित् तदात्मकपना युक्तियोंसे सिद्ध हो रहा है। अतः जीवका आत्मभूत हो रहा उपयोग समीचीन लक्षण है, कोई दोष नहीं है।

तस्योपयोगस्य भेदप्रतिपादनार्थमाह।

जीवके लक्षण उस उपयोगके भेदोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये जिज्ञासु शिष्यके प्रति श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥

वह प्रसिद्ध हो रहा उपयोग दो प्रकारका है एक ज्ञानोपयोग, दूसरा दर्शनोपयोग, तिनमें पहिला ज्ञानोपयोग आठ भेदवाला है, और दूसरे दर्शनोपयोगके चार भेद हैं।

स उपयोगो द्विविधस्तावत्, साकारो ज्ञानोपयोगः सविशेषार्थविषयत्वात्, निराकारो दर्शनोपयोगः सामान्यविषयत्वात्। तत्राद्योऽष्टभेदश्चतुर्भेदोऽन्य इति संख्याविशेषोपादानात्पूर्वं ज्ञानमुक्तं अभ्यर्हितत्वाभिधीयते। एतत्सूत्रवचनादेव।

सूत्रके अर्थको श्री विद्यानन्द स्वामी यों कहते हैं कि वह उपयोग दो प्रकारवाला है । सबसे प्रथम तो आकारसहित होरहा ज्ञानोपयोग है । विशेष अंशोंसे सहित हो रहे अर्थको विषय करनेवाला होनेसे ज्ञानोपयोग साकार कहा जाता है। यहां आकारका अर्थ प्रतिबिंब पडना नहीं है । किन्तु ज्ञेय अर्थकी विकल्पना करना है । " ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ताः सल्लक्षणाङ्किताः । सामान्याद्वा विशेषाद्वा सर्वे नाकारमातृकाः । आकारोर्थविकल्पस्स्यादर्थः स्वपरगोचरः । सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्विलक्षणम् " यत्सामान्यमनाकारं साकारं यद्विशेषभाक् " इत्यादि पंचाध्यायीके वाक्योंसे भी ज्ञानमें सविकल्पकपना ही आकार निर्णीत किया गया है । ज्ञानके सिवाय अन्य गुणोंकी केवल स्वांशमें स्वसत्ता मात्र अनुभूति होती रहती है । ज्ञान ही स्व, परका विशेष रूपकरके उल्लेख करता है। अतः ज्ञानोपयोग साकार है तथा केवल महासत्ता सामान्यको विषय करनेवाला होनेसे दर्शनोपयोग निराकार या निर्विकल्पक माना जाता है । उन दो भेदवाले उपयोगोंमें आदिके उपात्त ज्ञानोपयोगके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, कुमति, कुश्रुत, विभंग, इस प्रकार आठ प्रभेद हैं । तथा ज्ञानोपयोगसे दूसरा भिन्न दर्शनोपयोग तो चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन, इस प्रकार चार प्रभेदोंको धार रहा है । यद्यपि मूलसूत्रमें पहिले ज्ञान शब्द और पीछे दर्शन शब्दका सूत्रकारने कण्ठोक्त प्रयोग नहीं किया है, तो भी विशेषसंख्या आठका वाचक अष्ट शब्दका सूत्रमें उपादान करनेसे ज्ञानोपयोगका प्रथम ग्रहण करना ही लक्षित हो जाता है । ज्ञानके ही आठ भेद हैं। आलोचन करना स्वरूप दर्शनसे अधिक पूज्य होनेके कारण सूत्रमें ज्ञान पहिले कहा गया है, ऐसा इस सूत्रके वचनसे ही निर्णीत हो रहा है। अन्यथा आठ और चार संख्याका द्वन्द्वसमास होनेपर " संख्याया अल्पीयस्याः " इस सूत्र अनुसार चतुर् शब्दका पूर्वमें निपात हो जाता । जब कि अष्टशब्दका प्रयोग पहिले दीख रहा है, तब तो पूज्य होनेसे ज्ञान ही पहिले कहा गया है, यह निर्णीत है ।

यथोक्तोपयोगव्यक्तिव्यापि सामान्यमुपयोगोऽस्य लक्षणमिति दर्शयति ।

यद्यपि सम्यग्ज्ञान पांच ही हैं, फिर भी उपयोगका प्रकरण होनेसे तीन विपरीतज्ञान भी पकड लिये जाते हैं। सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि जीव सदा ज्ञान करते समय आठ उपयोगोंमेंसे किसी एक उपयोगसे उपयुक्त अवश्य होगा। इस प्रकार सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार सूत्रमें ठीक कहे जा चुके आठ उपयोग व्यक्तियोंमें व्याप रहा सामान्य उपयोग तो इस जीवका लक्षण है । इस बातको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा शिष्योंके सन्मुख दिखलाते हैं ।

स द्विविधोष्टचतुर्भेद इत्युक्तेः सूरिणा स्वयम् ।
शेषभावत्रयात्मत्वस्यैतल्लक्ष्यत्वसिद्धितः ॥ १ ॥

वह उपयोग आठ और चार प्रभेदोंके क्रमसे धार रहा दो प्रकार है, यों श्री उमास्वामी आचार्य करके स्वयं कण्ठोक्त कथन कर देनेसे यह निर्णीत हुआ समझो कि शेष बचे तीनों भाव स्वरूप जीवको इस उपयोगका लक्ष्यपना सिद्ध हो जाता है। क्षायिक और क्षायोपशमिकोंके शेष पन्द्रह और तीनोंकि अन्य छब्बीस यों इकतालीसका पिण्ड हो रहा जीव लक्ष्य है। अर्थात्--दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगके साथ जीवका तदात्मक सम्बन्ध मान लेनेपर प्रश्न उठ सकता है कि ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके अतिरिक्त आत्माका शील क्या बच रहता है, जिसको कि उपयोग नामक लक्षणका लक्ष्य बनाया जाय ? इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि अग्निका लक्षण उष्णता करनेपर शेष रहे रूप, तेजस्विता, दाहकत्व, पाचकत्व, आदि गुणोंका पिण्ड हो रहा अग्नि लक्ष्य हो जाता है। शाखाके बोझसे वृक्ष टूट पडा है, देवदत्त दो पैरोंसे चलता है, इन्द्रदत्त हाथों करके मुखमें खाता है, जिनदत्तको पण्डिताई शोभती है। यहां उन गुणों या अवयवोंसे शेष बचा हुआ पिण्ड जैसे उद्देश्य या लक्ष्य हो जाता है। उसी प्रकार कुछ क्षायोपशमिक और कुछ क्षायिक भावोंसे शेष बच रहे औपशमिक औदयिक और पारणामिक भावोंसे तदात्मक हो रहे जीवको लक्ष्य समझ लिया जाता है।

जीवस्योपयोगसामान्यमिह लक्षणं निश्चीयते इति शेषः, स द्विविध इत्यादिसूत्रेण तद्विशेषकथनात्। अष्टाभ्यां ज्ञानव्यक्तिभ्यश्चतसृभ्यो दर्शनव्यक्तिभ्यश्चान्ये शेषा अष्टौ क्षायोपशमिकभेदाः सप्त च क्षायिकभेदाः परिगृह्यंते। भावत्रयं पुनरौपशमिकौदयिकपारिणामिकविकल्पं प्रत्येयं। शेषाश्च भावत्रयं च शेषभावत्रयं तदात्मा स्वभावो यस्य जीवस्य स शेषभावत्रयात्मा तस्य भावः शेषभावत्रयात्मत्वं तस्यैतल्लक्ष्यत्वसिद्धेः प्रतिपादितोपयोगव्यक्तिगतसामान्येन लक्षणत्वोपपत्तेरित्यर्थः।

उक्त कारिकामें " लक्ष्यत्व सिद्धितः, ऐसा हेतुपरक वाक्य होनेसे जीवका उपयोग सामान्य यहां लक्षण निश्चित हो रहा है। इस प्रकार प्रतिज्ञा वाक्य शेष रह गया है। अतः प्रतिज्ञावाक्य और हेतुको मिलाकर वाक्यार्थ कर लेना चाहिये। " स द्विविधः " इत्यादि सूत्र करके उस उपयोगके विशेषोंका कथन हो जानेसे जान लिया जाता है कि इससे पूर्व सूत्रमें किया गया जीवका लक्षण उपयोग सामान्य है। वार्त्तिकके पूर्वार्द्धका विवरण हो चुका। उत्तरार्द्धकी व्याख्या इस प्रकार है कि आठ संख्यावाली ज्ञान व्यक्तियोंसे और चारदर्शन व्यक्तियोंसे भिन्न शेष बच रहे क्षायोपशमिकके आठ भेद और क्षायिकभावके सात भेद पकडकर ग्रहण कर लिये जाते हैं। अर्थात्—बारह प्रकारके उपयोगमें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, कुमति, कुश्रुत, विभंग, ये सात ज्ञान और चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन ये तीन दर्शन इस प्रकार दश भेद तो क्षायोपशमिक भावोंके हैं और केवलज्ञान, केवलदर्शन ये दो उपयोग क्षायिक भावोंमें गिनाये गये हैं। सम्पूर्ण अठारह क्षायोपशमिक भावोंमेंसे पूर्वोक्त दश भावोंका उपयोगमें परिग्रह कर लेनेसे शेष पांच लब्धियां, सम्यक्त्व चारित्र संयमासंयम ये आठ क्षायोपशमिकभाव बचे रह

जाते हैं। और नौ क्षायिक भावोंमेंसे केवलज्ञान और केवलदर्शन ले लिये गये तो पांच लब्धियां, सम्यक्त्व, चारित्र ये सात क्षायिक भाव शेष रह जाते हैं। तथा पुनः दो भेदवाले औपशमिक, इक्कीस भेदवाले औदयिक, और तीन या अनेक विकल्पोंको धार रहे पारिणामिकभाव ये तीनों भाव समझ लेने चाहिये। शेष शब्द और भावत्रय शब्दोंका समाहार द्वन्द्वकर जिस जीवके क्षयोपशमिक और क्षायिकभावोंमेंसे शेष बच रहे पन्द्रहभाव तथा औपशमिक, औदयिक, और पारिणामिक ये तीनों भाव तदात्मक होकर स्वभाव हो रहे हैं, वह शेष भावत्रयात्मा है, उसका भाव अर्थमें त्व प्रत्यय करने पर शेष भावत्रयात्मकपना अर्थ हो जाता है। वे शेष पन्द्रहभाव और औपशमिक आदिके छव्वीस भाव यों इकतालीस भावोंके साथ तदात्मक हो रहे उस जीवको इस उपयोग लक्षणका लक्ष्यपना सिद्ध है। भिन्न भिन्न समझा दिये गये बारह उपयोग व्यक्तियोंमें प्राप्त हो रहे सामन्य धर्मकरके उपयोगको लक्षणपना बन रहा है। यह वार्तिकका अर्थ है। भावार्थ—कारिकामें कहे गये शेष शब्दका भावत्रयके साथ कर्मधारय समास नहीं करना चाहिये। किन्तु द्वन्द्व समास कीजियेगा, यह श्रीविद्यानन्दस्वामीका स्वोपज्ञ विवरण है। सम्यग्ज्ञान प्रमाण है, यह लक्ष्यलक्षणभाव एक ढंगका है, तथा अग्नि उष्ण है, सींग सासनावाली गौ होती है, यह लक्ष्यलक्षणभाव दूसरे ढंगका है। यहां अग्निका उष्णपना लक्षण करनेपर अग्निके शेष गुण या स्वभाव लक्ष्यभूत माने जाते हैं। सींग और सासना (गलकंबल) को लक्षण मान लेनेपर शेष हाथ, पैर, पेट मस्तक पींठ, आदि अवयवोंको धार रही गाय लक्ष्य हो जाती है। इसी प्रकार त्रेपन भावोंसे तन्मय होकर सद्भूत हो रहे जीव पदार्थके तदात्मक बारह भाव तो लक्षण हैं। और इकतालीस भावोंका तदात्मक पिण्ड हो रहा जीव पदार्थ लक्ष्य है। एक बात यह भी ग्रन्थकार कह रहे हैं कि सामान्यरूपसे बारह उपयोगको हमने जीवका लक्षण कहा है, जिस जीवके जितने उपयोग सम्भव होय वैसा लक्षण घटित कर लेना। वैसे तो छद्मस्थ जीवोंके एक समयमें एक ही उपयोग सम्भवता है। हां, केवलज्ञानीके एक साथ दो उपयोग सध जाते हैं। यह भी युगपत्पना ज्ञानावरण दर्शनावरणोंका क्षय हो जानेसे कह दिया जाता है। वस्तुतः सामान्य विशेषात्मक सम्पूर्ण पदार्थोंको जान रहे केवल ज्ञानके चमकते रहनेपर महासत्ताका आलोचन करनेवाला केवलदर्शन नगण्य है। एक गुणकी एक समयमें एक ही पर्याय होनेका नियम सर्वत्र सर्वदा सबके लिये लागू है, केवलज्ञानी जीवका चेतना गुण भी उसी नियमके अनुसार परिणमेगा। तथा इकतालीस भावोंके पिण्डस्वरूप जीवको लक्ष्यपना भी सामान्यरूपसे कहा गया है। विशेष रूप से तो इकतालीस भावोंमें जितना भी जिस जीवके सम्भवने योग्य हैं, उतने भावोंके समुदायात्मक जीवको लक्ष्य बनाना चाहिये। जैसे बारहों उपयोगोंका एक जीवमें एकदा सद्भाव पाया जाना असम्भव है, उसी प्रकार इकतालीसों भावोंका एकदा पिण्ड बन जाना भी असम्भव है। क्षायोपशमिक ज्ञानका क्षायिक ज्ञानके साथ जैसा विरोध है, वैसे ही औपशमिक सम्यक्त्वका क्षायिक सम्यक्त्वके साथ या क्षायोपशमिक चारित्रका क्षायिक लब्धियोंके साथ विरोध है। उपयोगमें गिनाये गये

मनःपर्यय ज्ञानका लक्ष्य जीवके अवयव हो रहे उपशम सम्यक्त्वके साथ विरोध है। अतः कथंचित् भेद, अभेदको रखते हुये जीव और उपयोगका लक्ष्यलक्षणभाव सिद्ध कर दिया है।

एवं सूत्रद्वयेनोक्तं लक्षणं लक्षयेन्नरं।
कायाद्भेदेन संश्लेषमापन्नादपि तत्त्वतः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्री उमास्वामी महाराजने "उपयोगो लक्षणं" और "स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः" इन दो सूत्रों करके जीवका लक्षण कह दिया है। परस्परमें संसर्गको प्राप्त हो रहे भी शरीरसे वह लक्षण वास्तविक रूपसे जीवका भिन्नपने करके परिचय करा देवेगा। अर्थात्—पुद्गलतत्त्व और जीवतत्त्व दोनोंसे मिलकर बने हुये शरीरधारी जीवमें अनुभूत हो रहा उपयोग उस जीवको तात्त्विक रूपसे न्यारा न्यारा चिन्हा देगा। जैसे कि न्यारिया तांबा मिले हुये सोनेको विशेष लक्षण द्वारा सुवर्णपने करके न्यारा परख लेता है।

यथा जलानलयोः संश्लेषमापन्नयोरप्युष्णोदकावस्थायां द्रवोष्णस्वभावलक्षणं भिन्नं भेदं साधयति तथा कायात्मनोः संश्लेषमापन्नयोरपि सूत्रद्वयोक्तं लक्षणं भेदं लक्षयेत्सर्वत्र लक्षणभेदस्यैव भेदव्यवस्थाहेतुत्वात्। तदभावे प्रतिभासभेदादेरभेदकत्वात्।

जिस प्रकार कि अग्नि द्वारा उष्ण किये गये तप्तजलकी अवस्थामें एकम एक संसर्गको प्राप्त हो रहे जल और अग्निका बहने योग्य पतलापन स्वभाव और उष्णस्वभाव ये दो भिन्न भिन्न लक्षण उन जल अग्नियोंके भेदको साध देते हैं, तिसी प्रकार एकत्वबुद्धिजनक सम्बन्धरूप बन्धको प्राप्त हो रहे भी काय और आत्माका पूर्वोक्त दो सूत्रोंमें कहा गया लक्षण, उनके भेदको मान प्रेरणापूर्वक चिन्हा देवेगा। सभी दार्शनिकोंके यहां लक्षण द्वारा किये गये भेदको ही भेदकी व्यवस्था करा देनेका हेतुपना प्राप्त है। यदि किसीका वह लक्षण भिन्न भिन्न नहीं है तो ऐसी दशामें न्यारा न्यारा प्रतिभास होना या न्यारे देशमें रहना आदि तो लक्ष्य पदार्थोंका भेद करानेवाले नहीं हो सकते हैं। बात यह है कि जैन सिद्धान्त अनुसार उष्ण जलमें कोई अग्नितत्त्व और जलतत्त्व दो न्यारे न्यारे मिल रहे पदार्थ नहीं हैं। पौद्गलिक अग्निका निमित्त मिलनेपर जल ही उष्ण स्पर्शवाला बन जाता है। निमित्तके हट जानेपर कुछ देर पश्चात् अपेक्षाकृत शीतल हो जाता है। किन्तु चार्वाक या वैशेषिकके सिद्धान्त अनुसार आचार्य महाराजने उनके सन्मुख उन्हींका दृष्टान्त धर दिया है। हां, दूधमें घुले हुये पानीके समान अग्निके कण तो जलमें घुल नहीं सकते हैं। क्योंकि जल और ईंधनकी अग्नि दोनोंमें वध्य घातक विरोध है। देखो समुद्रकी अग्नि बडवानलकी जाति न्यारी है। वह भी योग्य परिमाणमें जलको जलाती रहती है। और जल भी उसको बुझाता रहता है। पेटकी आग उदराग्निकी भी ऐसी अवस्था है। पदार्थोंके नैमित्तिक परिणमनोंकी विचित्र पद्धति है। बहुभाग व्यक्तियोंको उचित पानी पी लेनेपर ही उदराग्निद्वारा अन्नका अच्छा परिपाक होता है। दाल भी पानी डालनेपर सीझती है, सूखी दाल नहीं

पकती है। किसी अवसरपर विवादापन्न विषयको शीघ्र निपटानेके लिये आचार्य महाराज प्रतिवादियोंमें प्रसिद्ध हो रहे दृष्टान्तसे ही उनके सन्मुख अपने अभीष्ट तत्त्वको साध देते हैं। लक्षणके भेदसे ही लक्ष्यका भेद समझना न्यायमार्ग है। प्रतिभासके भेदसे लक्ष्योंका भेद नहीं हो सकता है। देखिये, दूरसे, निकटसे, अतिनिकटसे, देखनेपर एक ही वृक्षके अनेक प्रतिभास (ज्ञान) हो जाते हैं। एक ही अग्निको आगम, अनुमान, प्रत्यक्ष ज्ञानोंसे जाना जा सकता है। सादृश्यवश या भ्रान्तिवश अनेक लक्ष्योंका भी प्रतिभास कभी कभी भेदरहित हो जाता है। ऐसे ही देशभेद या कालभेद अथवा आकारभेदसे भी लक्ष्योंका भेद नहीं सध पाता है। एक देशमें वात, आतप, के समान अनेक पदार्थ ठहर जाते हैं। एक बांस या लम्बा विद्यार्थी कई काष्ठासनोंको घेर सकता है। एक कालमें अनेक पदार्थ वर्त्त रहे हैं। एक पदार्थ भी कालान्तरतक स्थायी रह जाता है। आकारोंके भेदको लक्ष्यका व्यावर्त्तक माननेपर भी ऐसे ही अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेक व्यभिचार आते हैं। अतः प्रकरणमें जीवका लक्षण उपयोग साध दिया गया है।

के पुनर्जीवस्य भेदा इत्याह।

अब आगेके सूत्रका अवतार दिखानेके लिये श्री विद्यानन्द स्वामी संगतिको समझाते हैं। किसी शिष्यका प्रश्न है कि फिर यह बताओ कि उपयोग लक्षणको धारनेवाले जीवके भेद कितने हैं। ऐसी जिज्ञासाको प्रकट कर रहे प्रतिपाद्यके प्रति श्री उमास्वामी महाराज समाधानके वचन कहते हैं।

संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, काल परिवर्तन, भवपरिवर्तन, और भावपरिवर्तन, इन पांच प्रकारके संसारको धार रहे संसारी जीव और पांचो प्रकारके संसारसे छूट चुके मुक्त जीव इस प्रकार सामान्यरूपसे जीव दो भेदोंमें विभक्त हैं। अर्थात्---जीवके संसारी और मुक्त दो भेद हैं। संसारी जीव बहुत यानी अक्षय अनन्तानन्त हैं तथा मुक्तजीव उन संसारिओंसे यद्यपि अनन्तवे भाग स्वल्प हैं, फिर भी अनन्तानन्त गिनाये गये हैं।

जीवस्येत्यनुवर्तनाद्भेदा भवंतीत्यध्याहारः। आत्मोपचितकर्मवशादात्मनो भवांतरावाप्तिः संसारः तत्संबंधात् संसारिणो जीवविशेषाः। निरस्तद्रव्यभावबंधा मुक्तास्ते जीवस्य सामान्यतोभिहितस्य भेदा भवंतीति सूत्रार्थः। ततो नोपयोगेन लक्षणेनैक एव जीवो लक्ष्य इत्यावेदयति।

द्वितीय अध्यायके प्रथम सूत्रमेंसे " जीवस्य " इस शब्दकी अनुवृत्ति कर लेनेसे संसारी और मुक्त ये दो भेद जीवके हो जाते हैं। इस प्रकार " भेदा " और " भवन्ति " इन शब्दोंका अध्याहार करते हुये अर्थ बन जाता है। अपने ही द्वारा उपार्जित किये आठ प्रकारके कर्मोंकी अधीनतासे आत्माकी अन्य अन्य भवोंमें प्राप्ति होना संसार कहा जाता है। उस संसारका सम्बन्ध हो जानेसे

अनन्तानन्त जीवविशेष संसारी बन रहे हैं तथा जिन जीवोंका पौद्गलिक द्रव्यबन्ध और राग, द्वेष, अज्ञान, मूर्ति, गुरु, लघुपना, आदि भावबन्ध अपने पुरुषार्थद्वारा अनन्तकालतकके लिये निरस्त कर दिया गया है, वे मुक्त हैं। इस प्रकार सामान्यरूपसे कह दिये गये जीवके ये दो भेद संसारी और मुक्त हो जाते हैं। यों सूत्रका अर्थ घटित हो जाता है, तिस कारणसे सिद्ध हुआ कि उपयोग नामके लक्षण करके एक अद्वैत जीव ही लक्ष्य नहीं है, किन्तु द्रव्यरूपकरके अनन्तानन्त संख्याको धार रहे जीव ही उपयोगकरके चीन्हे जाते हैं। इसी बातको श्रीविद्यानन्दस्वामी सम्पूर्ण विद्वानोंके सन्मुख निवेदन करे देते हैं, उसको समझ लीजियेगा।

लक्ष्याः संसारिणो जीवा मुक्ताश्च बहवोन्यथा।
तदेकत्वप्रवादः स्यात्स च दृष्टेष्टबाधितः ॥ १ ॥

इस उपयोगके प्रकरणमें मुक्तोंसे अनन्त गुणे बहुतसे संसारी जीव और बहुत अनन्तानन्त मुक्त जीव इस उपयोगके लक्ष्य हो रहे हैं। अन्यथा यानी उपयोग लक्षणसे व्याप्त हो रहे बहुत जीव न माने जाकर दूसरे प्रकारसे अद्वैत ब्रह्म ही माना जायगा तब तो उस जीव तत्त्वके एकपनका प्रवाद फैल जायगा, और वह ब्रह्माद्वैत वादियों द्वारा ढोल पीटकर प्रसिद्ध कर दिया गया आत्माके एकपनका प्रवाद तो दृष्टप्रमाण यानी प्रत्यक्षप्रमाण और इष्टप्रमाण अनुमान आदिसे बाधित हो रहा है।

संसारिण इति बहुत्वनिर्देशाद्बहवो जीवा लक्षणीयास्तथा मुक्ताश्चेति वचनाचतो न द्वंद्वनिर्देशो युक्तः संसारिमुक्ताविति। तन्निर्देशे हि संसार्येक एव मुक्तश्चैकः परमात्मेति प्रवादः प्रसज्येत। न चासौ श्रेयान् दृष्टेष्टबाधितत्वात्।

इस कारिकाका विवरण यों है कि गुरूणां गुरु श्री उमास्वामी महाराजने इस सूत्रमें संसारिणः ऐसा बहुत्व संख्याको कहनेवाली जिस विभक्तिको धार रहे " संसारिणः " इस प्रकार बहुवचन शब्द स्वरूपका कथन किया है। इससे प्रतीत होता है कि एक नहीं किन्तु बहुतसे जीव इस उपयोग लक्षणसे लक्ष्य बनाने योग्य हैं। तथा " मुक्ताः " इस प्रकार बहुवचनान्त मुक्त शब्दका कथन करनेसे बहुतसे मुक्त जीव उस उपयोगके लक्ष्य हैं, यह निर्णीत हो जाता है। तिस ही कारणसे लाघव गुणका विचार कर " संसारी च मुक्तश्च " यों द्वंद्व समास कर " संसारिमुक्तौ " ऐसा सूत्र कथन करना श्री उमास्वामी महाराजको समुचित नहीं जचा। यदि अर्थको विघात करनेवाली कोरी लघुताका विचार कर यह संसारी एक और मुक्त एक यों उन दो ही जीवोंका निर्देश किया जाता, तब तो नियमसे संसारी जीव एक ही है और मुक्त जीव परमात्मा एक ही है, इस प्रकारके प्रवादका प्रसंग प्राप्त हो जाता। किन्तु वह प्रवाद तो श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि उस सिद्धान्तमें प्रत्यक्ष, अनुमान, आदि प्रमाणोंसे अनेक बाधायें प्राप्त हो रहीं हैं। उन्हीं बाधाओंको दिखाते हैं।

संसारिणस्तावदेकत्वे जननमरणकरणादिप्रतिनियमो नोपपद्यते । भ्रांतोसाविति चेन्न, भवत इव सर्वस्य तद्भ्रांतत्वनिश्चयप्रसंगात् । ममैव तन्निश्चयस्तदविद्याप्रक्षयादिति चेन्न, सर्वस्य तदविद्याप्रक्षयप्रसंगात् । अन्यथा त्वत्तो भेदप्रसक्तिर्विरुद्धधर्माध्यासात् ।

देखो, पहिले कहे गये संसारी जीवको यदि एक ही माना जायगा तो जन्म लेना मरण करना, आदिका प्रत्येक आत्मामें नियम हो रहा नहीं बन सकता है । अर्थात्–देवदत्तका जन्म हुआ है भवदत्तने मरण किया है, इन्द्रदत्त अपनी आंखोंसे देखता है, जयचन्द्र अपने मनमें विचारता है, एक पण्डित है, दूसरा मूर्ख है, तीसरा नीरोग है, चौथा सुखी है, इत्यादिक प्रत्येक प्रत्येक जीवकी नियत हो रहीं व्यवस्थायें नहीं बन सकती हैं । जैसे कि आकाशको सर्वथा एक माननेपर अनेक द्रव्योंमें सम्भवनेवाले अनेक विरुद्धधर्म उसमें नहीं ठहर पाते हैं । संसारी जीवोंको एक ही जीव मान लेनेपर एकके उपज जानेपर सबका जन्म हो जायगा और एकके मर जानेपर सब मर जायेंगे । एकके पण्डित, सुखी, पुल्लिंग, क्रोधी, तत्त्वज्ञानी, बन जानेपर सभी पण्डित आदि बन बैठेंगे । भेदमात्र मिट जायगा । यदि एक ही संसारी जीवको माननेवाला पण्डित यों कहे कि वह जन्म, मरण, आदिका प्रतिनियम करना तो भ्रान्त है, जैसे कि स्वप्नके व्यवहार भ्रान्त है । आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि वह प्रतिनियम यदि भ्रान्त है तो आपके समान सभी जीवोंको उसकी भ्रान्तताका निश्चय हो जाना चाहिये । जैसे कि सूर्यविमान या चन्द्रविमानके अल्पपरिमाणको विषय करनेवाले ज्ञानका भ्रान्तपना सबको निर्णीत हो रहा है । स्वप्नकी विकल्पनाओंको सभी जीव भ्रान्त माननेके लिये उद्युक्त हैं । किन्तु जन्म, मरण, बुढापा, युवावस्था, मनुष्य, पशु, आदि प्रतिनियत अवस्थाओंको आप अद्वैतवादी भले ही भ्रान्त कहते फिरें, किन्तु सभी विद्वान् तो उसके भ्रान्तपनका अनुभव नहीं कर रहे हैं । यदि तुम अद्वैतवादी यों कहो कि सभी विद्वानोंको उस प्रति नियमके भ्रान्तपनके निश्चयका प्रसंग यों नहीं आता है कि उनको अविद्या लगी हुई है । सभी बालक अपने अपने डण्डेमें घोडा जाननेकी भ्रान्तिको अभ्रम जान बैठे हैं । हां, अविद्याका प्रकृष्ट क्षय हो जानेसे मुझे अद्वैतवादीको ही उन विशेष व्यवस्थाओंके भ्रांतपनका निश्चय हो सका है । आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना, जब कि आत्मा एक ही है तो तुम्हारे समान सभी जीवोंको उसमें हो रही अविद्याके प्रकर्षरूपसे क्षय हो जानेका प्रसंग हो जायगा । अन्यथा यानी तुम अपनेमें तो अविद्याका क्षय मानो और दूसरोंके अविद्याका प्रक्षय न मानो इस अन्य ढंगसे तो तुमसे उन अन्य जीवोंको भिन्न हो जानेका प्रसंग आया । क्योंकि विरुद्ध धर्मोंका अधिकार हो जानेसे भेद होना ही चाहिये । तुममें अविद्याका प्रक्षय है और अन्य सब जीवोंमें अविद्या घुस रही है । यह स्पष्टरूपसे विरुद्धधर्म अधिकार किये बैठे हैं । जो अनेक आत्माओंका भिन्नपना साध देंगे । तुम बालक नहीं हो, इस बातको स्वयं विचार सकते हो ।

ममाविद्याप्रक्षयो नान्येषामित्यप्यविद्याविलसितमेवेति चेत्, सर्वोप्येवं संप्रतिपद्यते तथैव इत्थं प्रतिपत्तौ परेषामप्रतिपत्तौ तु न कदाचिद्विरुद्धधर्माध्यासान्मुच्यते। ततोयं प्रत्यात्म-दृष्टेनात्मभेदेन बाधितः संसार्यात्मैकत्ववादः।

यदि अद्वैतवादी यों कहें कि मैं जो यह मान रहा हूं कि मेरे ही अविद्याका प्रक्षय हो रहा है, अन्य जीवोंके अविद्याका प्रक्षय नहीं है, सच पूछो तो यह भी अविद्याका विलास ही हुआ कहना चाहिये। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि क्योंजी, जब कि सभी संसारी जीव एक ही हैं तो सभी जीव इस प्रकार भला समझ बैठेंगे कि मुझे ही अविद्याका प्रक्षय हो गया है। अन्योंके नहीं। यह अविद्याकी चेष्टा है। किन्तु हम देखते हैं कि तुम्हारे विचार अनुसार कोई भी जीव ऐसा नहीं समझ बैठा है, और जब कि तुमको ही इस प्रकारकी प्रतिपत्ति हो रही है, अन्य जीवोंके तो ऐसा विश्वास नहीं हो रहा है, तब तो आप कभी भी विरुद्ध धर्मोंके आरूढ हो जानेसे नहीं छुट्टी पा सकते हैं। भावार्थ-तुम्हारी आत्मामें ही यह श्रद्धा जम गयी है कि किसी जीवके अविद्याका क्षय और किसी जीवके अविद्याका क्षय नहीं, यह सब भेदव्यवहार अविद्याका ही नग्ननृत्य है। वास्तविक नहीं है। किन्तु फिर दूसरी आत्माओंमें ऐसी अन्धश्रद्धा हो रही नहीं देखी जाती है। अतः यही तो आत्माओंमें परस्पर भेदके साधक हो रहे विरुद्ध धर्मोंका अधिकार जमा लेना है। तिस कारणसे प्रत्येक आत्मामें स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष द्वारा देखे जा रहे आत्माके विभिन्नपनेकरके यह सम्पूर्ण संसारी आत्माओंके एकपनका पक्ष परिग्रह करना बाधाग्रसित हो जाता है। यहांतक कारिकामें कहे गये " दृष्टबाधित " अंशका व्याख्यान कर दिया जा चुका है। अब उस एकत्वके प्रवादको " इष्ट " प्रमाणोंसे बाधित बना रहे हैं।

तथेष्टेनापि प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावादिनेति प्रदर्शितप्रायं।

तिसी प्रकार अद्वैतवादियोंका यह संसारी आत्माओंके एकपनका सिद्धान्त इष्ट हो रहे प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव, पितृपुत्रभाव, आदि करके भी बाधा प्राप्त हो जाता है। इस बातको कई बार बढिया ढंगसे पहिले प्रकरणोंमें हम दिखला चुके हैं। अर्थात्-कोई समझाये जाने योग्य शिष्य है, दूसरा समझानेवाला गुरु है, एक राजा है, दूसरा प्रजा है, संसारमें एक जीव न्याय करनेका अधिकारी है, दूसरा अपराध करनेवाला अभियुक्त है, इत्यादिक रूपसे इष्ट हो रहे भेदभावसे यह संसारी जीवोंके एकपनका कदाग्रह बाधित हो जाता है। अनेक अनुमान या युक्तियोंसे भी उक्त एकपनेमें बाधायें प्राप्त हो जाती हैं।

तथा मुक्तात्मनोप्येकत्वे मोक्षसाधनाभ्यासवैफल्यं, ततोन्यस्य मुक्तस्यासंभवात्। संभवे वा मुक्तानेकत्वसिद्धिः। यो यः संसारी निर्वाति स स परमात्मन्येकत्र लीयत इत्यप्ययुक्तं, तस्यानित्यत्वप्रसंगात्। तथा च कृत्स्नस्तदेकत्वप्रवादः इत्यसावपि दृष्टेष्टबाधितः।

जैसे संसारी जीवोंके एकपनका पक्ष पकड लेना प्रमाणोंसे बाधित है, तिसी प्रकार मुक्त आत्माका एकपना माननेपर भी मोक्षके कारणोंका अभ्यास करना निष्फल पडेगा। क्योंकि उस अभ्यास करनेवाले जीवसे अन्य हो रहे मुक्तात्माका असम्भव है। वह बिचारा किसके लिये व्यर्थ परिश्रम उठावे। जो बम्बईमें बैठा है वह बम्बई जानेका कष्ट क्यों उठाने लगा ? फिर भी मुमुक्षु जीवसे मुक्त जीवको यदि न्यारे होनेकी सम्भावना करोगे तो अनेक मुक्तात्माओंकी सिद्धि हो जाती है। अर्थात्–मुक्तात्मा जब एक ही है और दूसरा कोई मुक्त हो नहीं सकता है तो ऐसी दशामें कोई उदासीन जीव मोक्षके साधन बन रहे स्वाध्याय, दीक्षा, तपस्या, ध्यान, आदिका अभ्यास क्यों करेगा ? यदि श्रवण, मनन, आदि द्वारा चाहे किसी जीवके मुक्तिके साधनोंका अभ्यास करना मान लिया जायगा तो ऐसी दशामें असंख्य जीव मुक्तिके साधनोंको साधते हुये मुक्त हो जायंगे और यही मुक्तोंकी अनंतसंख्या मानना जैन सिद्धान्त है। कितनी ही कठिन परीक्षा क्यों न हो, यदि उसका पठनक्रम बना हुआ है और अध्यापक, विद्यालय, आदिका समुचित प्रबन्ध है, तब वर्षमें एक सहस्र या बारहसौ सोलहसौ विद्यार्थी तो परीक्षा देकर उत्तीर्ण हो ही जायंगे। अभ्यासी, ज्ञानवान्‌के लिये कोई काम असम्भव नहीं है। यदि अद्वैतवादी यों कहें कि जो जो संसारी जीव मुक्तिके साधनोंका अभ्यास करता हुआ निर्वाणको प्राप्त हो जाता है वह वह जीव परमब्रह्म एक अद्वैत आत्मामें लीन हो जाता है, जैसे कि घट उपाधिके फूट जानेपर घटाकाश महान् आकाशमें लयको प्राप्त हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि यह कहना भी युक्तियोंसे रीता है। क्योंकि यों तो उस मुक्त जीवके अनित्यपनका प्रसंग आयेगा। अनादि कालसे चले आरहे आत्माका मुक्त हो जानेपर खोज मिट जायगा। अतः आत्माके मुक्त अवस्थामें सर्वथा नष्ट हो जानेसे अनित्यपनकी आपत्ति हुई। इससे तो पहिले सुख, दुःख, कैसी भी अवस्थामें जीवित बना रहना कहीं अच्छा था। कौन विचारशील पुरुष अपना खोज खो देनेके लिये ऐसी प्रलयकारिणी मुक्तिकी अभिलाषा करेगा ? करोडों, असंख्यों, रुपयोंका पारितोषिक देनेपर भी कोई दरिद्रातिदरिद्र जीव भी अपना जीवन अर्पण करनेके लिये उद्युक्त नहीं होता है। क्योंकि पारितोषिकका भोग भोगनेके लिये उसका जीवन ही नहीं रहा। तिस कारणसे सम्पूर्ण मुक्त जीवोंके उस एकपनका प्रवाद बकते रहना यों यह भी सिद्धान्त बिचारा दृष्ट और इष्ट प्रमाणोंसे बाधित हो जाता है।

यदि पुनः संसारिमुक्ता इति द्वन्द्वो निर्दिश्यते तदाप्यर्थांतरप्रतिपत्तिः प्रसज्येत संसारिण एव मुक्ताः संसारिमुक्ता इति, तथा संसारिमुक्तैकत्वप्रवादः स्यात् स च दृष्टेष्टबाधितः, संसारिणां मुक्तस्वभावानाश्रयसंवेदनात् संसारित्वेनैवानुभवात् मुक्तिसाधनाभ्युपगमविरोधाच्च मुक्तस्यापि संसार्यात्मकत्वाप्रच्युतेः।

यदि फिर कोई यों कहे कि " संसारिमुक्तौ " यों द्वन्द्व करनेपर तो सभी संसारी जीव एक और सभी मुक्त जीवोंके एक हो जानेका प्रसंग आता है। किन्तु " संसारिमुक्ताः " ऐसा सूत्र कर

देनेपर तो संसारी और मुक्त जीवोंका बहुपना रक्षित हो जाता है। ऐसी दशामें पांच स्वरवाले वर्णोका सूत्र न बनाकर श्री उमास्वामी महाराजने सात स्वरोंवाले वर्णोंका बडा सूत्र क्यों बनाया ? सूत्रकारको न्यूनसे न्यून शब्दोंके कथनका सर्वदा विचार रखना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि " संसारिणश्च मुक्ताश्च इति संसारिमुक्ताः " अनेक संसारी और अनेक मुक्त जितने भी अनन्तानन्त जीव हैं वे सब " संसारिमुक्ताः " कहे जाते हैं। इस प्रकार यदि द्वन्द्वसमासका निर्देश किया जायगा तो भी एक निराले अर्थकी प्रतिपत्ति हो जानेपर प्रसंग बन बैठेगा। संसारी ही मुक्त हैं यों कर्मधारय समास द्वारा एक विलक्षण अर्थ ही निकल सकता था जो कि सिद्धान्तभुजसे अनिष्ट है। संसारी ही जीव तो उसी समय मुक्त नहीं हैं। विद्यार्थी मण्डलको गुरुसंघ कहना या पशुसमूहको नरेशमण्डल कहना जैसे अलीक है, उसी प्रकार संसारी जीवोंको ही मुक्तजीव कहना अनिष्ट पडेगा। और जिस प्रकार दोनोंको एक मान लेनेपर शुद्धाद्वैत वादियोंका संसारी और मुक्त जीवोंके एकपनका पक्ष पकडना बन बैठेगा। किन्तु वह एकत्वका प्रवाद तो दृष्ट और इष्ट प्रमाणोंसे बाधा प्राप्त हो रहा साधा जा चुका है। फिर भी उस बाधाको सुन लीजियेगा। घोडा, गाय, स्त्री, पुरुष, आदिक संसारी जीवोंको अपनी अपनी आत्मामें मुक्तस्वभावके आश्रयरहितपनेका स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष हो रहा है, जैसे किसी रोगी या दरिद्रको स्वयं स्वस्थपने या सेठपनेका अनुभव नहीं है। यह प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधा हुई। तथा संसारी जीवोंको ही यदि मुक्त मान लिया जायगा तो मोक्षके उपाय हो रहे श्रवण, मनन, तत्त्वज्ञान, संन्यास आदिके स्वीकार करनेका विरोध हो जायगा। पाठशालामें प्रवेश करते ही विद्यार्थी यदि महान् पण्डित हो जाता है तो परदेशनिवास, कुटुम्बी जनोंका परित्याग, घोषण, अनुमनन, जागरण, भोगोपभोगमें उदासीनता आदि साधनोंका मिलाना भला कौन चाहेगा ? यह इष्टविरोध हुआ। दूसरी बात यह है कि संसारी और मुक्तोंके एकपनके सिद्धान्तमें मुक्तजीवोंका भी संसारी आत्मकपना कथमपि छूट नहीं सकता है, जैसे कि विद्यार्थी और पण्डितके सर्वथा एक हो जानेपर महान् पण्डितोंका भी अ आ इ ई पढना या " अ इ उ ण् " " अचोऽन्त्यादि ण् " की रटन्त लगानेसे पिण्ड नहीं छूट सकता है। नमस्करणीय आचार्य महाराज महान् उपकारी पुरुष हैं। शिष्योंको विप्रलम्भ न होकर सुलभतासे सुखपूर्वक स्पष्ट प्रतिपत्ति हो जाय इसलिये उन्होंने समासवृत्तिको नहीं कर " संसारिणो मुक्ताश्च " ऐसा असन्देहार्थ सूत्र कह दिया है। कण्टकाकीर्ण और हिंसक प्राणियुक्त मार्गको एक दिनमें पूरा कर लेनेकी अपेक्षा सुखपूर्वक निरुपद्रव मार्ग द्वारा दो दिनमें इष्ट स्थानपर पहुंचना बहुत अच्छा है। निरापद पद्धतिका अन्वेषण करो।

संसारिमुक्तमिति द्वंद्वनिर्देशेपि संसार्येव मुक्तं जीवतत्त्वमित्यनिष्टार्थप्रतीतिप्रसंगात् तदेकत्वप्रवाद एव स्यात्, स च दृष्टेष्टबाधित इत्युक्तं ।

संसारी और मुक्त इन दो पदोंका समाहार द्वन्द्व कर देनेसे " संसारिमुक्तं " इस प्रकार द्वन्द्वसमास द्वारा कथन करनेपर भी संसारी जीव ही मुक्त जीवस्वरूप तत्त्व है, इस प्रकार नहीं अभीष्ट हो रहे

अर्थकी प्रतीति हो जानेका प्रसंग आजानेसे वह का वही दोनों जीवोंके एकपनका कुत्सित आग्रह ही पुनः उपस्थित हो जायगा और वह एकत्व पक्ष तो दृष्ट और इष्टसे बाधित है, इस बातको हम दो, तीन, चार कह चुके हैं। लाघवका विचार कर यदि संसारी और मुक्त इन दो पदोंका द्वंद्व किया जाता तो अल्पअक्षर और पूज्यपना होनेसे मुक्त शब्दका पूर्व निपात हो जानेपर " मुक्तसंसारिणः " ऐसा पद बन जाता। और ऐसी दशामें छोड दिया है संसार जिसने वह मुक्त संसार स्वरूपभाव है, और तद्विशिष्ट मुक्त जीवोंको ही उपयोग सहितपना प्राप्त होता। शेष उन मुक्तोंसे अनन्त गुणे संसारी जीव छूट जाते। अतः " स्पष्टवक्ता न वंचकः " इस नीतिके आधारपर श्री उमास्वामी महाराजने इष्ट अर्थकी छोली जलानेवाले समासके झगडेमें न पडकर न्यारे न्यारे पदोंवाला सूत्र रच दिया है।

च शब्दोनर्थक इति चेन्न, इष्टविशेषसमुच्चयार्थत्वात्। नोसंसारिणः सयोगकेवलिनः संसारिनोसंसार्यसंसारित्वव्यपेतास्त्वयोगकेवलिनोभीष्टास्ते येन समुच्चीयंते। नोसंसारिणः संसारिण एवेति चेन्न, तेषां संसारिवैधर्म्यार्धवतारावाप्तेरभावात्। मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषायाणां संसारकारणानामभावात्। न चैवमसंसारिण एव ते, योगमात्रस्य संसारकारणस्य कर्मागमनहेतोः सद्भावात्। क्षीणकषायाः संयोगकेवलिवन्नोसंसारिण एवेति चेन्न किंचिदनिष्टं।

किसीकी शंका है कि इस सूत्रमें च शब्द व्यर्थ है। क्योंकि पृथग्विभक्तिवाले बहुवचनान्त दो पदोंका प्रयोग कर देनेसे ही संसारी और मुक्त जीवोंमें अर्थभेद सिद्ध हो जाता है। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। कारण कि इष्ट हो रहे विशेष आत्माओंका समुच्चय करनेके लिये सूत्रकारने च शब्दका प्रयोग किया है। समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग, समाहार, इस प्रकार चकारकी अर्थचौकडीमेंसे यहां च का अर्थ समुच्चय पकडा गया है। जिन जीवोंका संसारमें निवास अत्यल्प शेष रह गया है, अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्षसे कमती एक कोटि पूर्व वर्ष इतना अधिकसे अधिक संसार शेष है, ऐसे तेरहवें गुणस्थानवर्त्ती सयोगकेवली भगवान् नोसंसारी जीव हैं। गर्भके नौ मास मिलाकर आठ वर्षका अर्थ पौने नौ वर्ष करना चाहिये। भोगभूमियोंमें मनुष्योंके उनंचास दिनमें सम्यक्त्व हो सकता है और भोगभूमिके तिर्यंचोंके सात आठ दिनमें सम्यक्त्व हो सकता है। इसमें भी गर्भवासके दिन और जोड लेने चाहिये। इसी प्रकार कर्मभूमिके तिर्यंचमें छह महीने पश्चात् सम्यक्त्व या व्रतधारण करनेकी योग्यता हो जाती है। यहां भी गर्भके दिनोंको अधिक जोड लेना चाहिये। कई ग्रन्थोंमें मनुष्य तिर्यंचोंके आठ वर्ष या उनंचास दिन और छह महीने या सात आठ दिन लिख दिये हैं। उनमें गर्भके दिनोंको जोडनेकी विवक्षा नहीं की गयी है। किन्तु उनका जोडना आवश्यक है। तथा पहिले गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान या बारहवें गुणस्थानतकके संसारी जीव और तेरहवें गुणस्थानवर्त्ती नोसंसारी जीव तथा संसारीपनेसे सर्वथा छूट गये सिद्धजीव इन तीनों प्रकारके जीवोंसे रहित हो रहे चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली जीव भी तो हमें अभीष्ट

हैं। वे तेरहवें, चौदहवें, गुणस्थानवर्ती जीव जिस च शब्द करके समुच्चय प्रस्त कर लिये जाते हैं। अतः वह " च " शब्द सार्थक है। यहां कोई कहे कि ईषत् संसारको धारनेवाले तेरहवें गुणस्थान वर्ती नोसंसारी जीव तो संसारी ही हैं। जबतक कोई जीव संसारमें ठहरेगा उसका संसारी जीवोंमें अन्तर्भाव किया जायगा, आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उन सयोगकेवलियोंका पंच-परिवर्तन करनेवाले संसारीजीवोंसे विधर्मपना है। कारण कि संसारीजीव तो अनेक दूसरे दूसरे भवोंको प्राप्त होते रहते हैं। किन्तु सयोगकेवली जीवोंको पुनः दूसरे भवकी प्राप्ति होना रूप संसारका अभाव है। ऐसी दशामें उनको संसारी कहनेमें जी हिचकिचाता है। लात, चने, लड्डू, सब एक कोटिमें नहीं गिने जाते हैं। संसारके कारण हो रहे मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, इनका सयोग केवलियोंमें अभाव है। इन चारोंकी सहायताके विना केवल योग विचारा एक समय स्थितिको रखनेवाले सातावेदनीय कर्म मात्रका आस्रव करता है, जो कि आकिंचित्कर है। यदि यहां कोई यों कह बैठे कि जब सयोग केवलीके अन्य भवोंकी प्राप्तिरूप संसार नहीं है और संसारके मिथ्या-दर्शन, अविरति, प्रमाद, और कषाय ये चार कारण भी नहीं हैं, तब तो इस प्रकार वे सयोगकेवली असंसारी ही हो गये। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह प्रसंग नहीं उठाना चाहिये। क्योंकि विशेषरूपसे संसारका कारण हो रहे और कर्मोंके आगमनका हेतु बन रहे केवल योगका सद्भाव सयोगकेवलीके पाया जाता है। उस योगके द्वारा शरीर, भाषा और मनको बनानेके उपयोगी नोकर्मद्रव्यका और साता वेदनीयकर्मका प्रतिक्षण आगमन होता रहता है। अतः संसारी और असंसार (सिद्ध) दोनों प्रकारके जीवोंसे रहित तेरवें गुणस्थानवाले जीव नोसंसारी हैं। यहां पुनः किसीका कटाक्ष है कि क्षपक श्रेणीवालोंको छोडकर ग्यारहवें गुणस्थानतकके जीव भले ही संसार परिभ्रमण करते हुये संसारी कहे जांय, किन्तु जिनकी कषायें क्षयको प्राप्त हो चुकीं हैं, ऐसे बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव तो सयोगकेवलियोंके समान नोसंसारी ही कहे जावगे। तुम जैनोंको अभीष्ट हो रहे नोसंसारीपनके लक्षणका क्षीणकषाय जीवोंमें सद्भाव है। संसारके चार प्रधान कारणों और अन्य भवोंकी प्राप्तिका उनके अभाव है। आचार्य कहते हैं कि यों कहनेपर तो हमको कुछ अनिष्ट नहीं पडता है। भले ही बारहवें गुणस्थानवालोंको भी नोसंसारी कह दो। उनका भी च शब्द करके समुच्चय कर लिया जायगा। " बालादपि हितं ग्राह्यं युक्तियुक्तं मनीषिभिः " इस नीतिके अनुसार किसीकी भी युक्तिपूर्ण बातको माननेके लिये हम सन्नद्ध हैं।

अयोगकेवलिनो मुक्ता एवेति चेन्न, तेषां पंचाशीतिकर्मप्रकृतिसद्भावात्, कृत्स्नकर्म-विप्रमोक्षाभावादसंसारित्वायोगात्। न चैवं ते नोसंसारिणः केवलिनः संसारिनोसंसार्य-संसारित्वव्यपेताश्चायोगकेवलिनो हीष्टास्ते संसारकारणस्य योगमात्रस्याप्यभावात् तत एव न संसारिणस्त्रित्वितयव्यपेतास्तु निश्चीयंते।

कोई पण्डित यहां आक्षेप करता है कि चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली भगवान् तो मुक्त ही हैं। अ इ उ ऋ ऌ इन पांच लघु अक्षरोंका जितने कालमें उच्चारण होय उतने ही कालतक संसारमें ठहरना तो कोई ठहरना नहीं है। अतः अयोगकेवलीयोंका मुक्तोंमें ही अन्तर्भाव करलेना चाहिये। पंचपरिवर्तनरूप संसारका और संसारके कारण योगतकका भी उनके अभाव है। श्री विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उन अयोगकेवलियोंके पिचासी कर्म प्रकृतियोंका सद्भाव है। अतः सम्पूर्ण कर्मोंका विप्रमोक्ष हो जाना रूप मुक्तिका अभी अभाव हो जानेसे चौदहवें गुणस्थानवालोंको असंसारीपन यानी मुक्तपनका अयोग है। सम्पूर्ण प्रकृतियां एकसौ अडतालीस हैं। उनमें आधीसे अधिक प्रकृतियां चौदहवें गुणस्थानमें आत्माको परतंत्र कर रही हैं। घातिया कर्मोंकी सैंतालीस प्रकृतियां तो बारहवें गुणस्थानके अन्ततक नष्ट हो चुकी हैं। तिनमें क्षायिक सम्यक्त्वको ग्रहण करते समय चौथेसे सातवें गुणस्थानतक कहीं भी चार अनन्तानुबन्धियोंका विसंयोजन और तीन दर्शनमोहनीयका क्षय हो जाता है और नवमें गुणस्थानमें स्त्यानगृद्धित्रिक, अप्रत्याख्यानावरण चार, प्रत्याख्यानावरण चार, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्यादि छह नो कषाय, पुरुषवेद, और संज्वलन तीनका क्षय हो जाता है। दशवेंमें लोभ नष्ट हो जाता है। बारहवेंमें ज्ञानावरण पांच, दर्शनावरण चार, अन्तराय पांच, निद्रा, प्रचला, इन सोलह प्रकृतियोंका क्षय हो जाता है। चरमशरीरी जीवके नरक आयु, तिर्यगायु और देवायुका सद्भाव ही नहीं है। नामकर्मकी तेरह प्रकृतियां नवमें गुणस्थानके पहिले भागमें क्षयको प्राप्त हो जाती हैं। अतः नामकर्मकी शेषप्रकृतियां पांच शरीर, पांच बंधन, पांच संघात, छह संस्थान, छह संहनन, तीन अंगोपांग, आठ स्पर्श, पांच रस, दो गंध, पांचवर्ण, स्थिरद्विक, शुभद्विक, स्वरद्विक, देवगति, देवगत्यानुपूर्व्य, प्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, निर्माण, अयशस्कीर्त्ति, अनादेय, प्रत्येक, अपर्याप्त, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, इस प्रकार ये सत्तर प्रकृतियां और वेदनीयकर्मकी दोनोंमेंसे अनुदय रूप एक, तथा नीचगोत्र ये बहत्तर प्रकृतियां अयोगकेवलीके उपान्त्य समयमें नष्ट होतीं हैं और अयोगकेवलीके अन्त समयमें वेदनीयकी कोई एक तथा नामकर्मकी मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्ति, आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थंकर, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य, ये दस प्रकृतियां, आयुओंमें मनुष्य आयु तथा उच्चगोत्र इस प्रकार तेरह प्रकृतियां अन्त समयमें छूटतीं हैं। इस ढंगसे अयोगियोंके पिचासी प्रकृतियोंका सद्भाव माना गया है। अतः वे मुक्त जीवोंमें नहीं गिने जा सकते हैं। फिर भी कोई यों कहे कि इस प्रकार होनेपर तो सयोगकेवलियोंके समान वे अयोगकेवली भी तो संसारी गिन लिये जांय। चौथी जातिके जीवोंको माननेकी क्या आवश्यकता है ? आचार्य कहते हैं कि यह विक्षेप नहीं डाल सकते हो। क्योंकि संसारीपन, नोसंसारीपन और असंसारीपन, (सिद्धत्व) इन तीन जातियोंसे रहित हो रहे चौथी जातिवाले वे अयोगकेवली भगवान् अभीष्ट किये गये हैं। संसारके कारण हो रहे केवल योगका भी अभाव हो जानेसे वे तेरहवें

गुणस्थानवर्ती भगवान् नोसंसारी जीवोंमें नहीं गिने जा सकते हैं। तथा तिस ही कारणसे यानी संसार और संसारके पांचों कारणका अभाव हो जानेसे वे अयोगी महाराज संसारी भी नहीं हैं। हां, उन संसारी, नोसंसारी और असंसारी इन तीनों जातिके जीवोंसे पृथग्भूत हो रहे तो वे निश्चय किये जा रहे हैं। अतः च शब्द करके विशेष रूपसे इष्ट हो रहे तेरहवें गुणस्थानवर्ती (बारहवें गुणस्थानवर्ती भी) और चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीवोंका समुच्चय हो जाता है। " न कर्मधारयः स्यान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेदर्थप्रतिपत्तिकरः " यह परिभाषा अनित्य है। अतः असंसारी और नोसंसारी ये शब्द भी साधु समझे जाय। "

तथान्ये वर्णयंति–मुक्तानां परिणामांतरसंक्रमाभावादुपयोगस्य गुणभावप्रदर्शनार्थं च शब्दोपादानमिति, तन्न बुध्यामहे तेषां नित्योपयोगसिद्धेः पुनरुपसंहारप्रादुर्भावाभावात्। तत्रोपयोगव्यवहाराभावात् गुणीभूतोऽत्र तूपयोग इति चेति।

तथा श्री अकलंकदेवके सिद्धान्त अनुसार अन्य दूसरे पण्डित यों वर्णन करते हैं कि मुक्त जीवोंके अन्य दूसरे दूसरे परिणामोंका संक्रमण होता नहीं है। इस कारण उन मुक्तोंके गौणरूपसे उपयोगका सद्भाव बढिया दिखलानेके लिये श्री उमास्वामी महाराजने इस सूत्रमें च शब्दका ग्रहण किया है। अर्थात्––संसारी जीवोंके तो दर्शनोपयोगके पश्चात् ज्ञानोपयोग या चाक्षुषप्रत्यक्षके पीछे रासनप्रत्यक्ष और उसके भी पीछे श्रुतज्ञान इत्यादिरूपसे एक उपयोगको बदल कर दूसरे उपयोगमें लग जाना घटित हो जाता है। तभी तो मेरा इस पदार्थमें उपयोग लगा हुआ है, अमुक पदार्थमें उपयोग नहीं लगता है, मुनिजन आत्मतत्त्वमें बहुत देरतक उपयोग लगाये रहते हैं, आखें खुली रहते हुये भी उसकी ओर उपयोग न होनेसे मैं उस पुरुषको नहीं देख सका, न्याय ग्रन्थोंके पढनेमें उपयोग लगाओ, इत्यादिक व्यवहार प्रसिद्ध हो रहे देखे जाते हैं। किन्तु केवलज्ञानी मुक्त जीवोंके किसी उपयुक्त दशाको छोडकर अन्य दूसरे पदार्थमें उपयोग लगना नहीं है। त्रिलोक त्रिकालवर्ती पदार्थ सर्वदा उनके ज्ञानमें झलकते रहते हैं। ऐसी दशामें कहांसे हट कर उपयोग कहां दूसरे विषयमें लगे ? विद्यमान स्थानोंपर सर्वत्र व्याप रहा आकाश यदि जावे भी तो कहांसे खिसक कर कहां जावे ? इसी प्रकार एक विषयको छोडकर दूसरे विषयको पकडनेवाला मुख्य उपयोग केवलज्ञानियोंमें नहीं माना गया है। अतः मुक्तजीवोंके उपयोगकी गौणता दिखलानेके लिये व्यवच्छेदक च शब्द सूत्रमें डालना आवश्यक है, यों कह चुकनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि उस अकलंकदेवके रहस्यको हम नहीं समझ रहे हैं। उन मुक्तजीवोंके नित्य ही उपयोगकी सिद्धि हो रही है। पुनः पुनः न्यारी जातिके उपयोगोंका निकटवर्ती संहार या प्रादुर्भाव नहीं होता है। एकसा सदा चमक रहा केवलज्ञान वर्त्त रहा है। उसमें लोकप्रसिद्ध हो रहे उपयोगके व्यवहारका अभाव है। अतः इन मुक्त जीवोंमें तो उपयोग अप्रधानभूत बना बनाया है। इसके लिये च शब्दकी आवश्यकता नहीं दीखती। व्यर्थ होकर भी च शब्द इस अप्रकृत अर्थका ज्ञापन नहीं कर सकता है। जैसे कि

एक अर्थमें अपनी चित्तवृत्तिका निरोध कर लेना ध्यान है। छद्मस्थ जीवोंमें यह ध्यान मुख्यरूपसे घट जाता है। इधर उधर अनेक स्थानोंपर चिन्ताको फैंकनेवाला जीव पुरुषार्थद्वारा कुछ देरतक मानसिक प्रवृत्तिको यहां वहांसे हटा कर वहीं एक पदार्थमें मनको ठहरा सकता है। किन्तु सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, जीवन्मुक्तके ध्यान मानना उपचार मात्र है। तिस ही प्रकार उपयोगकी प्रवृत्ति भी मुक्तोंमें गौणरूप मानी गयी है। इस विषयकी व्याख्यान द्वारा विशेष प्रतिपत्ति हो जाती है। च शद्ब तो अपने चार अर्थोंमेंसे किसी एक अर्थका द्योतक हो जाता है।

संसारिग्रहणमादौ कुत इति चेत्, संसारिणां बहुविकल्पत्वात्सत्पूर्वकत्वान्मुक्तेः। स्वयंवेद्यत्वाच्चेत्येके, उत्तरत्र प्रथमं संसारिप्रपंचप्रतिपादनार्थं चेत्यन्ये।

यहां किसीकी शंका है कि बताओ, सूत्रमें संसारी जीवोंका ग्रहण आदिमें किस कारणसे किया गया है ? द्वन्द्व समास न होते हुये भी न्यारे न्यारे पदोंका उच्चारण करो तो भी पूज्यजीव माने गये मुक्तोंका पहिले निर्देश करना उचित था। यों कहनेपर तो कोई एक आचार्य यह समाधान करते हैं कि संसारी जीवोंके बहुत भेद प्रभेद हैं तथा मोक्षको संसारपूर्वकपना है। पहिले संसार है पीछे मोक्ष होती है। अतः वाच्यकी प्रवृत्ति अनुसार वाचक शद्ब कहने चाहिये। तीसरी बात यह है कि ग्रन्थकार श्री उमास्वामी महाराज स्वयं संसारी जीव हैं, जिसका दिन रात सम्वेदन होता रहता है, उसकी बिना बुलाये शीघ्र उपस्थिति हो जाती है। संसारीपनका उनको स्वयं सम्वेदन होता रहता है। संसारी जीव ही ग्रन्थोंके निर्माता, श्रोता, प्रचारक, हैं। अतः एक अपेक्षा यहां संसारियोंकी मान्यता है। कृतकृत्य हो चुके मुक्तजीव अपनी स्वात्मसिद्धिमें पगे हुये हैं, वे यहां अत्यन्त परोक्ष होनेसे गौण विवक्षित किये गये हैं। दूसरे अन्य आचार्य उक्त शंकाका समाधान यों करते हैं कि उत्तरवर्ती ग्रन्थमें सबसे प्रथम संसारी जीवोंके भेद, प्रभेद, जन्म, शरीर, आदिक प्रपंचका प्रतिपादन करनेके लिये सूत्रमें पहिले संसारी शद्बका ग्रहण है। श्री विद्यानन्द स्वामीको एक आचार्य और दूसरे अन्य आचार्य दोनोंका मन्तव्य अभीष्ट हो रहा दीखता है।

यद्येवं किं विशिष्टाः संसारिण इत्याह सूत्रं।

किसीका प्रश्न है कि यदि इस प्रकार बहुत विकल्पवाले संसारी जीव हैं तो बताओ, वे संसारी जीव किन किन विशेषणोंसे घिरे हुये हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको स्पष्ट कर रहे हैं।

समनस्कामनस्काः ॥ ११ ॥

उन संसारी जीवोंमें कुछ जीव तो मनसे सहित हो रहे समनस्क हैं और शेष एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञिपंचेन्द्रिय पर्यन्त गिनाये जा रहे संसारी जीव अमनस्क हैं, यों संसारी जीवोंकी दो बडी मण्डलियां हैं।

मनसो द्रव्यभावभेदस्य सन्निधानात्समनस्काः तदसंनिधानादमनस्काः । समनस्काश्चामनस्काश्च समनस्कामनस्का इति समनस्कग्रहणमादौ युक्तमभ्यर्हितत्वात् । संसारिमुक्तप्रकरणात् यथासंख्यप्रसंग इति चेत् तथेष्टं संसारिणामेव समनस्कत्वान्मुक्तानाममनस्कत्वादित्येके । तदयुक्तं । सर्वसंसारिणां समनस्कत्वप्रसंगात् ।

आठ पत्रवाले कमलके समान द्रव्यमन तो संज्ञी जीवके हृदयस्थलमें होता है । पांच पौद्गलिक इन्द्रियोंके समान वह मन भी अतीन्द्रिय है, जो कि अंगोपांग नामकर्मका उदय होनेपर मनोवर्गणासे निष्पन्न होता है । तथा वीर्यान्तराय कर्म और नोइन्द्रियावरण नामक मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेवाली जीवकी विशुद्धि तो भावमन है । इन द्रव्य, भाव, दो भेदोंको धार रहे मनकी सन्निकटतासे जीव समनस्क माने जाते हैं और उन दोनों मनोंके सन्निधान नहीं होनेसे अनेक जीव अमनस्क कहे जाते हैं । समनस्क जीव अमनस्क जीव यों इतरेतर द्वंद्व करनेपर " समनस्कामनस्का " ऐसा वाक्य बन जाता है । सूत्रकारद्वारा समनस्क जीवोंका सूत्रके आदिमें ग्रहण करना पूज्य होनेसे समुचित ही है । यहां कोई आक्षेप करता है कि पूर्व सूत्र अनुसार संसारी और मुक्त जीवोंका प्रकरण होनेसे इस सूत्रमें यथाक्रम दो संख्याके अनुसार संसारी समनस्क होते हैं और मुक्त अमनस्क हैं ऐसे अर्थ करनेका प्रसंग हो जायगा । यों प्रसंग उठानेपर कोई एक पण्डित उत्तर देनेके लिये बीचमें अनाधिकार कूद बैठते हैं कि तिस प्रकार अर्थ करना इष्ट है । क्योंकि संसारी जीवोंको ही मनसहितपना है और मुक्तोंको अमनस्कपना है । पूर्वसूत्रका इस सूत्रके साथ यथासंख्य अन्वय करनेमें कोई क्षति नहीं दीखती है । अब श्री विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि उन एक पण्डितजीका कहना युक्तियोंसे रीता है । क्योंकि यों तो सम्पूर्ण एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और असंज्ञिपंचेन्द्रिय इन संसारीजीवोंको भी मनसहितपना बन बैठेगा, जो कि इष्ट नहीं है ।

कुतस्तर्हि यथासंख्याऽप्रसंगः, पृथग्योगकरणात् । यथासंख्यं तदभिसंबंधेष्टौ संसारिणो मुक्ताश्च समनस्कामनस्का इत्येकयोगः क्रियेत उपरि संसारिवचनमत्यासत्तेश्च । संसारिणस्त्रसस्थावरा इत्यत्र हि संसारिण इति वचनं समनस्कामनस्का इत्यत्र संबध्यते त्रसस्थावरा इत्यत्र च मध्यस्थत्वात् ततो न यथासंख्यसंप्रत्ययः ।

किसीका प्रश्न है कि यों है तब तो बताओ कि यहां यथासंख्यका प्रसंग कैसे नहीं हुआ ? कोरा मनमाना सिद्धान्त इष्ट कर लेनेसे किसी न्यायप्राप्त प्रसंगका निवारण नहीं हो सकता है । इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि पृथक् पृथक् योग करनेसे यानी न्यारा सूत्र बनानेसे वह प्रसंग नहीं हो पाता है । इस सूत्रमें संसारी जीवका ही सम्बन्ध हो रहा है । यदि सूत्रकारको आक्षेपकारके विचार अनुसार यथासंख्य रूपसे उन पूर्व सूत्रोक्त उद्देश्योंका और इस सूत्रमें कहे गये विधेयोंका सम्बन्ध अभीष्ट

होता तो " संसारिणो मुक्ताश्च समनस्कामनस्का " इस प्रकार दोनों सूत्र मिलाकर एकयोग कर दिया जाता। यों कर देनेपर बडी सरलतासे आक्षेपकारको अभिप्रेत हो रहे संसारी जीव समनस्क हैं और मुक्त जीव अमनस्क हैं, इस अर्थकी प्राप्ति हो जाती थी। इस सूत्रमें संसारी जीवोंका ही सम्बन्ध है, इसके लिये दूसरी बात यह है कि अगले वक्ष्यमाण ऊपरके सूत्रमें संसारी शद्बकी निकटता हो रही है। भविष्यके " संसारिणस्त्रसस्थावरा, " ऐसे इस सूत्रमें नियमसे संसारिणः ऐसा शद्ब प्रयोग हो रहा है। वही " संसारिणः " यह शद्ब " समनस्कामनस्काः " इत्याकारक इस सूत्रमें और त्रसस्थावरा इस उत्तरवर्ती सूत्रमें मध्यस्थ होनेके कारण सम्बन्धको प्राप्त हो जाता है। " देहली दीपक " न्यायसे " संसारिणः " शद्बका दोनों ओर अन्वय है। तिस कारणसे यथासंख्यका भले प्रकार प्रसंग या ज्ञान हो जाना नहीं बन पाता है।

अथवा संसारिणो मुक्ताश्चेत्यत्र संसारिण इति वचनमनेन संबध्यते न मुक्ता इति तेषां प्रधानशिष्टत्वान्मुक्तानामप्रधानशिष्टत्वात्। तथा सति समनस्कामनस्काः त्रसस्थावरा इति यथासंख्याप्रयोगः, सर्वत्रसानां समनस्कत्वासिद्धेः मध्यस्थसंसारिग्रहणाभिसंबंधेपि वा पृथग्योगकरणाच्च त्रसस्थावरयथासंख्याभिसंबंधः स्यात् अन्यथैकमेव योगं कुर्वीत, तथा च द्विःसंसारिग्रहणं न स्यात्। ततः संसारिण एव केचित्समनस्काः केचिदमनस्का इति सूत्रार्थो व्यवतिष्ठते।

अथवा एक बात यह भी है कि " संसारिणो मुक्ताश्च " इस पूर्ववर्त्ती सूत्रमेंसे " संसारिणः " ये वचन ही इस समनस्कामनस्काः इस सूत्रके साथ सम्बन्धित हो जाता है। " मुक्ता " इस शद्बका इस सूत्रके साथ सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि " प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने सम्प्रत्ययः " प्रधान और अप्रधानका अवसर आनेपर प्रधान अर्थमें ही सुलभतासे ज्ञान उपज बैठता है। इस प्रकरणमें प्रधान हो रहे उन संसारी जीवोंको प्रधान रूपसे शिष्टपना है तथा मुक्तोंको अप्रधान रूपसे परिशेष न्याय द्वारा शिष्टपना है अर्थात्–विधेयप्रतिपादक उत्तरवर्ती न्यारे सूत्रमें पूर्व सूत्रोक्त उद्देश्योंका उद्देश्यके रीते स्थानको भरनेके लिये " अवशेष न्याय " करके ही सम्मेलन हो सकता था। अतः प्रधानरूपसे अवशिष्ट हो रहे उद्देश्यका ही अन्वय इस सूत्रमें माना जायगा। तैसा होनेपर " समनस्कामनस्काः " इस सूत्रका उत्तरवर्ती " त्रसस्थावराः " इस सूत्रके साथ भी यथासंख्यसे प्रयोग नहीं हो सकता है। यानी त्रस समनस्क हैं और स्थावर जीव मनोरहित हैं, ऐसा यथासंख्य भी सिद्धान्तसे बाधित है। सम्पूर्ण द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, आदि त्रसोंको समनस्कपना असिद्ध है केवल संज्ञी पंचेन्द्रिय त्रस ही मनसे सहित हैं। इच्छाके वशसे सम्बन्ध हुआ करता है। इस सूत्रमें उत्तरसूत्रके संसारी पदका ही सम्बन्ध करना, त्रस स्थावरका नहीं। मध्यमें स्थित हो रहे संसारी शब्दके ग्रहणका ठीक सम्बन्ध होनेपर भी पृथक्सूत्र योगके करनेसे त्रस और स्थावरके साथ इस सूत्रका यथासंख्यरूपकरके पूरा सम्बन्ध नहीं हो सकेगा

अन्यथा यानी सूत्रकारको त्रसस्थावर ग्रहणके साथ भी यदि इस सूत्रका सम्बन्ध अभीष्ट होता तो वे दोनों सूत्रोंको मिलाकर एक योग कर देते। और जैसा " समनस्कामनस्काः संसारिणस्त्रस-स्थावराः " यों एक योग कर देनेपर दो बार संसारीका ग्रहण नहीं करना पडता। लाघव हो जाता। किन्तु ऐसा एकयोग नहीं किया है। अतः सिद्ध है कि पहिले कहे जा चुके संसारी मुक्त ग्रहणका और भविष्यके त्रसस्थावर ग्रहणका इस सूत्रके साथ सम्बन्ध नहीं जुडता है। जिस कारणसे सिद्ध है कि संसारी ही कोई कोई समनस्क हैं और बहुभाग कितने ही संसारी जीव अमनस्क हैं, इस प्रकार सूत्रका अर्थ व्यवस्थित हो जाता है।

कुतस्ते तथा मता इत्याह।

किसीका प्रश्न है कि किस कारणसे वे संसारी जीव तिस प्रकार मनसहित अथवा मनरहित दो प्रकारके माने गये हैं ? अच्छा होता कि वैशेषिक मत अनुसार सभी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, आदि प्रत्येक जीवोंमें एक एक मन मान लिया जाता अथवा चार्वाक मत अनुसार किसी भी जीवके एक अतीन्द्रिय मनकी कल्पना न की जाय। जैनोंने भी तो मुक्त जीवोंके मन नहीं माना है। ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

समनस्कामनस्कास्ते मताः संसारिणो द्विधा।
तद्वेदनस्य कार्यस्य सिद्धेरिष्टविशेषतः ॥ १ ॥

वे संसारी जीव कुछ मन इन्द्रियसे सहित हैं और शेष मन इन्द्रियसे रहित हैं, यों दो प्रकार माने गये हैं। क्योंकि इस विचारशाली मनके द्वारा बनाये गये विशेष ज्ञानरूप कार्यकी किन्हीं जीवोंमें प्रसिद्धि हो रही है। या मनसे रहित दशामें होनेवाले विलक्षण ज्ञान यानी अविचारक बुद्धि रूप कार्यकी किन्हीं जीवोंमें प्रसिद्धि हो रही है। तथा विशेष रूपसे इष्ट हो रहे आगमप्रमाणसे भी मनसे सहित और मनोरहित दो प्रकारके संसारी जीवोंकी व्यवस्था बन रही है।

समनस्काः केचित्संसारिणः शिक्षाक्रियालापग्रहणसंवेदनस्य कार्यस्य सिद्धेरन्यथानुपपत्तेः, केचित्पुनरमनस्काः शिक्षाद्यग्राहिवेदनकार्यस्य सिद्धेरन्यथानुपपत्तेः। इत्येतावता द्विविधाः संसारिणः सिद्धाः।

कोई तोता, मैना, घोडा, हाथी, मनुष्य, स्त्री, देव, देवी, आदिक संसारी जीव (पक्ष) नो इन्द्रिय मनसे सहित हैं (साध्य)। क्योंकि शिक्षापूर्वक क्रिया करना, आलाप करना, कथन अनुसार समझकर उठाना, धरना, इत्यादिक ज्ञानस्वरूप कार्यकी सिद्धि होना अन्यथा यानी मनको माने विना बन नहीं सकता है। अर्थात्—घोडा, हाथी, बैल, कुत्ता, विद्यार्थी, कन्या, ये जीव कहे हुये को सीख लेते हैं। इनका कोई विशेष नाम धर देनेपर तदनुसार आ जाते हैं, चले जाते हैं, उठाने,

करते हैं, उपदेश सुनते हैं, इस प्रकार विचारपूर्वक ज्ञान और उसके अन्य भी कार्य अन्तरंग मन इन्द्रियको माने विना अन्य प्रकारोंसे नहीं हो पाते हैं। अतः अतीन्द्रिय मनकी उसके कार्य द्वारा सिद्धि कर दी जाती है। तथा वृक्ष, चींटी, मक्खी, आदि कितने ही जीव (पक्ष) फिर अमनस्क हैं (साध्य) शिक्षा आदिको नहीं ग्रहण करनेवाले साधारण ज्ञान होना स्वरूप कार्यकी सिद्धि अन्यथा यानी अमनस्क हुये विना दूसरे ढंगों करके नहीं बन सकती है। मक्खी या चींटीको कोई शिक्षा दी जाय उसको वह नहीं समझ पाती है। कल्पित नाम रखनेपर तदनुसार आती जाती नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि वट आदि जीवोंके विचारकपन नहीं है। इस प्रकार इतनेसे इन दो हेतुओं करके दो प्रकारके संसारी जीव सिद्ध हो जाते हैं।

इष्टविशेषतश्च। इष्टं हि प्रवचनं तस्य विशेषः समनस्केतरजीवप्रवचनं तस्य विशेषः समनस्केतरजीवप्रकाशि वाक्यं, संति संज्ञिनो जीवाः संत्यसंज्ञिन इति। ततश्च ते व्यवतिष्ठंते सर्वथा बाधकाभावात्।

तथा इष्टविशेषसे भी दो प्रकारके जीवोंकी सिद्धि हो जाती है। यहां प्रकरणमें इष्टपदसे प्रकृष्ट वचन यानी आगम लिया जाता है। सर्वज्ञकी आम्नायसे चले आ रहे उस आगमका विशेष हो रहा समनस्क और अमनस्क जीवोंको कहनेवाला शास्त्र है। उस शास्त्रका भी विशेष हो रहा समनस्क और उससे न्यारे अमनस्क जीवोंको प्रकाश रहा एक वाक्य है। जो कि इस प्रकार है कि संसारमें संज्ञी जीव हैं और असंज्ञी जीव भी हैं। जयधवल सिद्धांत आदि प्राचीन ग्रन्थोंमें अनेक वाक्य हैं। गोम्मटसारमें भी लिखा है " सिक्खाकिरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण, जो जीवो सो सण्णी तब्विवरीओ असण्णी दु ॥ १ ॥ " मीमंसदि जो पुव्वं कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च। सिक्खदि णामेणेदिय समणो अमणो य विवरीदो ॥ २ ॥ द्रव्यसंग्रहमें कहा गया है कि समणा अमणा णेया पंचेंदिय णिम्मणा परे सव्वे "। अतः तिस आगमप्रमाणसे भी ये संज्ञी, असंज्ञी जीव व्यवस्थित हो रहे हैं। सभी प्रकारोंसे कोई बाधक प्रमाण नहीं है। जगत्में अनन्तानन्त पदार्थ हैं। जिनमें बहुभाग हम लोगोंके स्थूल ज्ञानसे छिपे पडे हुये हैं। उनकी सिद्धिका सरल उपाय बाधक प्रमाणोंका असम्भव ही ठीक पडता है। किसको इतना अवकाश या सूक्ष्म योग्यता प्राप्त है जो कि सबको विशेष विशेष रूपसे देखता फिरे। संज्ञी, असंज्ञी, जीवोंकी सिद्धिका बाधक कोई प्रमाण नहीं है। " असम्भवद्बाधकप्रमाणत्व " हेतुसे चाहे किसी भी पदार्थकी सिद्धि हो जाती है। धनिकोंके रुपयोंको सभी मनुष्य नहीं गिन पाते हैं। फिर भी उनको सेठजी कहते हैं। ठोस विद्वान्‌की गम्भीर पण्डिताईको कौन टटोलता फिरता है, तपस्वियोंकी भावनाओंको कौन परखै, कुल, जातिका सूक्ष्म गवेषण कौन कर पाता है, केवल बाधाओंके असद्भावसे उनका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

अत्र त्रसा एव संसारिणः समनस्कामनस्का इति केषांचिदाकूतं, तदपसारणायाह।

यहां किन्हीं विद्वानोंकी ऐसी चेष्टा हो रही है कि त्रस जीव ही संसारी जीव हैं, संसारवर्ती त्रसोंके ही समनस्क और अमनस्क ये दो भेद हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति, इन शरीरोंको धारनेवाला कोई जीव संसारमें नहीं है। इस कुचेष्टाका निराकरण करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज स्पष्टरूपसे अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

संसारी जीव दूसरे ढंगसे त्रस और स्थावर इन दो बडे भेदोंको धार रहे हैं। अर्थात्— समनस्क और अमनस्क इन दो भेदोंमें सभी संसारी जीव गर्भित हो जाते हैं, उसी प्रकार त्रस और स्थावर दो भेदोंमें भी संसारी जीव अन्तःप्रविष्ट हो जाते हैं। लोक या शास्त्रमें जिस प्रकार संसारी जीवोंके भेद प्रसिद्ध हैं उस ढंगसे यहां भेदव्यवस्था कर दी गयी है।

त्रसनामकर्मोदयापादितवृत्तयस्त्रसाः प्रत्येतव्याः न पुनस्त्रस्यंतीति त्रसाः पवनादीनां त्रसत्वप्रसंगात् गर्भादिष्वत्रसत्वानुषंगाच्च, स्थावरनामकर्मोदयोपजनितविशेषाः स्थावराः। स्थानशीलाः स्थावरा इति चेन्न, वाय्वादीनामस्थावरत्वप्रसंगात्। इष्टमेवेति चेन्न, समयार्थानवबोधात्। न हि वाय्वादयस्त्रसा इति समयार्थः।

कितने ही मोटी बुद्धिवाले चलने फिरनेवाले जीवोंको त्रस और एक स्थानपर ठहरनेवाले जीवोंको स्थावर कह देते हैं किन्तु यह मन्तव्य सिद्धान्तविरुद्ध है। जिन जीवोंकी आत्मसम्बन्धी या शरीरसम्बन्धी प्रवृत्तियां त्रस नामक नामकर्मके उदयसे सम्पादित की गयी हैं, वे जीव त्रस समझ लेने चाहिये। फिर जो उद्वेगको प्राप्त होते रहते हैं भागते दौडते हैं इस निरुक्ति द्वारा प्राप्त हुये अर्थ करके त्रस नहीं विश्वस्त कर लेने चाहिये। यों यौगिक अर्थका आदर किया जायगा तो चलते, फिरते, पवनको या बहते हुये जल अथवा रेलगाडी, मोटर कार, आदि पदार्थोंको भी त्रसपनेका प्रसंग होगा। यह अतिव्याप्ति या आपत्ति हुई और साथमें अव्याप्ति या अनुपपत्ति भी है कि गर्भ अवस्था, मूर्छित अवस्था, अण्डदशा आदिमें त्रस जीवोंको भी त्रसरहितपनेका प्रसंग हो जायगा। त्रसकर्मका उदय होनेपर मनुष्य या तिर्यंचकी आत्मामें रक्त, मांस, हड्डी, चर्म, मज्जा आदि धातुओंको उत्पन्न करनेके लिये व्यक्त, अव्यक्त, पुरुषार्थ हो जाते हैं। देव नारकियोंके धातुरहित वैक्रियिक शरीरके सम्पादक प्रयत्न हो जाते हैं। किन्तु स्थावर जीवोंमें तादृश पुरुषार्थ नहीं हो पाते हैं। स्थावरोंका शरीर रक्त, मांस, हड्डीमय नहीं है। तथा नाम कर्मकी विशेष हो रही जीवमें स्वकीय अनुभव देनेवाली स्थावर प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न हुये विशेष जीव तो स्थावर कहे जाते हैं। किन्तु तिष्ठन्ति इति स्थावराः इस प्रकार शब्दकी निरुक्ति कर ठहरना स्वभावको रखनेवाले जीव स्थावर हैं यह स्थावर जीवका लक्षण नहीं है। क्योंकि इधर उधर तिरछा बहनेवाले

वायु जीव, नीचे प्रदेशकी ओर ढुलक जानेवाले जल जीव, ज्वालारूप अग्नि अवस्थामें ऊर्ध्व ज्वलन करनेवाले अग्निकायिक इत्यादि जीवोंको स्थावर रहितपनेका प्रसंग हो जावेगा। यदि कोई स्थूल बुद्धिवाला ग्रामीण पंडित यों कह देवे कि इस प्रकार तो हमको इष्ट ही है। अर्थात्—वायु जलके जीव भले ही स्थावर न होकर त्रस हो जाओ, पृथिवी कायिक वनस्पति कायिक जीव स्थावर बने रहेंगे। श्वेताम्बर भी तेज और वायुको त्रस मान बैठे हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि आम्नायसे चले आरहे सर्वज्ञप्रतिपादित शास्त्रोंके अर्थको तुम नहीं समझते हो। व्याकरणके चक्रमें पड़कर व्याघ्र, कुशल, सम्यग्दर्शन आदि शब्दोंके समान स्थावर शब्दकी भी निरुक्ति कर देनेसे ही पारिभाषिक अर्थ प्राप्त नहीं हो जाता है। वायु, जल, आदिके जीव त्रस हैं, ऐसा ऋषिप्रोक्त शास्त्रोंका अर्थ नहीं है। द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर चौदहवें गुणस्थानतकके जीव त्रस माने गये हैं। अतः त्रस और स्थावर कर्मके उदयसे ही त्रस स्थावर जीवोंको लक्षण युक्त करना ठीक पड़ेगा, चलने और नहीं चलनेकी अपेक्षा त्रसस्थावरपना नहीं है। यौगिक अर्थसे रूढि अर्थ और उससे भी पारिभाषिक अर्थ बलवान् होता है।

त्रसाश्च स्थावराश्च त्रसस्थावराः। त्रसग्रहणमादावल्पाक्षरत्वादभ्यर्हितत्वाच्च। संसारिण एव त्रसस्थावरा इत्यवधारणान्मुक्तानां तद्भावव्युदासः, त्रसस्थावरा एव संसारिण इत्यवधारणाद्विकल्पांतरनिवृत्तिः।

त्रस और स्थावर अथवा स्थावर और त्रस भी चाहे जैसा भी विग्रह करो, दोनों पदोंका समास हो जानेपर " त्रसस्थावराः " पद बन जायगा। अल्प अक्षर होनेके कारण और पूज्यपना होनेसे शब्दशक्तिद्वारा त्रसका ग्रहण आदिमें आजाता है। संसारी इस उद्देश्य दलके साथ अन्ययोग व्यवच्छेदक एवकार लगा देनेसे संसारीजीव ही त्रस और स्थावर दो भेदवाले हैं। अतः पूर्वोक्त दूसरे मुक्त जीवोंके त्रसपन और स्थावरपनका व्यवच्छेद हो जाता है तथा संसारी जीव तो त्रस स्थावर ही हैं। इस प्रकार विधेय दलमें अयोग व्यवच्छेदक एवकार द्वारा अवधारण कर देनेसे अन्य विकल्पों यानी भेदोंकी निवृत्ति हो जाती है। अर्थात्—सभी संसारी जीव त्रस और स्थावर दो भेदोंमें ही गर्भित हो जाते हैं। अन्य विकल्पोंकी आकांक्षा नहीं रहती है।

कुत पुनरेवं प्रकाराः संसारिणो व्यवतिष्ठंत इत्याह।

किसी शिष्यकी जिज्ञासा है कि यों त्रस और स्थावर यों दो प्रकारोंको धार रहे संसारी जीव भला किस प्रमाणसे व्यवस्थित हो रहे हैं ? बताओ, ऐसी विनीत प्रतिपाद्यकी प्रतिपित्सा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

त्रसास्ते स्थावराश्चापि तदन्यतरनिन्हवे।
जीवतत्त्वप्रभेदानां व्यवस्थानाप्रसिद्धितः॥ १ ॥

वे संसारी जीव त्रस हैं और स्थावर भी हैं। यदि उन दोनोंमेंसे किसी भी एकका अविश्वास या अपलाप किया जायगा तब तो जीवतत्त्वके प्रभेदोंकी व्यवस्था करना अप्रसिद्ध हो जायगा। भावार्थ जीवतत्त्व आकाशतत्त्वके समान अकेला नहीं है। किन्तु उसके संसारी और मुक्त दो भेद हैं। संसारी जीवोंके त्रस और स्थावर एवं त्रसोंके भी द्विइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तथा स्थावरोंके पृथिवीकायिक, जलकायिक, आदि प्रभेद हैं। इन प्रभेदोंकी प्रमाणों द्वारा सिद्धि हो रही है। हिताहित पूर्वक क्रिया, जन्म, मरण, संस्मरण, पुरुषार्थ, आदिक कार्योंको कर रहे त्रस जीव न्यारे न्यारे अनेक प्रसिद्ध ही हैं। तथा पृथिवी या वृक्ष आदि वनस्पतियोंमें भी युक्तियोंसे जीवसिद्धि कर दी जाती है। कोई कोई वैज्ञानिक वृक्षोंमें स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षुः, श्रोत्र, इन पांचों इन्द्रियोंको सिद्ध करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। किन्तु उनका यह प्रयत्न व्यर्थ पडेगा। भले ही वनस्पति जीवोंमें चक्षुः, कर्ण, आदि इन्द्रियों द्वारा होनेवाले कार्यसरिखे परिणाम पाये जांय। चींटियां, मक्खी, आदि छोटे छोटे कीट पतंग भी मेघ बरसनेके पहिले बिलोंमें या घरोंमें घुसकर अपनी रक्षाका उपाय कर लेते हैं, सूहर, काक, कितनी ही देर पहिलेसे आंधी आनेका अव्यर्थ, अचूक, ज्ञान कर लेते हैं। एतावता वे कीट पतंग या पशुपक्षी बिचारे ज्योतिषशास्त्र या निमित्तशास्त्रोंके ज्ञाता नहीं कहे जा सकते हैं। बात यह है कि जगत्के पदार्थोंमें प्रतिक्षण अनेक परिणाम होते रहते हैं। वृष्टिके पहिले वायु या पृथिवीमें ऐसी परिणतियां हो जाती हैं जिनको कि अपनी प्राप्त एक या दो तीन इन्द्रियों द्वारा अनुभव कर वे जीव अहित मार्गसे अपनी रक्षा कर लेते हैं। वृक्षकी जड गीले स्थल या पानी अथवा गढे हुये धन की ओर अधिक जाती है। इतनेसे ही यह आंखवाला नहीं कहा जा सकता है। छुई मुई नामक वनस्पतिको छू लेनेसे कुछ देरके लिये मुरझा जाती है, एतावता उसको लज्जाशील कुलीन स्त्रीके समान मनइन्द्रियवाली नहीं कह सकते हैं। जीव पदार्थ तो क्या, जड पदार्थ भी निमित्तोंके मिल जानेपर नाना परिणतियोंको धार लेते हैं। जो कि चेतन जीवोंको भी विस्मयकारक हो रही है। वृक्षमें मट्टी, खात या जलसे बन गया रस यहां वहां वृक्षसम्बन्धी आत्माके अव्यक्त अस्वसंवेद्य पुरुषार्थद्वारा फल, पत्ते, शाखायें, छाल आदिके उपयोगी होकर भेजा जा रहा है। किन्तु वहां आंखें नहीं हैं। चक्षुष्मान् मनुष्य या पशुओंके पेटमेंसे भी अन्य शरीरके अवयवोंकी पुष्टिके लिये रस रुधिर, आदि रवाने किये जाते हैं, किन्तु वहां पेटके भीतर चक्षुका व्यापार नहीं है। वैज्ञानिकोंके घरमें रक्खे हुये यंत्र भी वृष्टि, भूकम्प, ग्रहगतिको बता देते हैं, किन्तु वे जड पदार्थ अष्टाङ्ग निमित्तके ज्ञाता विद्वान् नहीं हैं। घडी, थर्मामेटर, आदि विशेष यंत्रों करके समयका परिज्ञान या उष्णता (गर्मी) शीतता (सर्दी) का ज्ञान हो जाता है। तराजू या कांटा अथवा फुटा जितना ठीक पदार्थको तौल देते हैं, बडा भारी नैयायिक या सिद्धान्तशास्त्री भी उतनी ठीक ठीक तौल या नापको नहीं बता सकता है। छोटे बच्चेके अण्डकोषोंकी सिकुडन या ढीलेपनसे ठंड और उष्णताकी परीक्षा हो जाती है। हाथीकी ठीक तौल कर ली जाती है। नदीमें बहा देनेसे ठीक गोल डण्डेके

कीटका उपरला, नीचला भाग जान लिया जाता है । बात यह है कि जगत्‌वर्ती सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिक्षण आश्चर्यकारक परिणतियोंका सम्पादन कर रहे हैं । न जाने किस परिणतिसे अचिन्त्य निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धद्वारा कहां जड या चेतनद्वारा कैसा कैसा भाव उपज बैठे हैं । यह पक्का सिद्धान्त है कि कारणके बिना कार्य नहीं होता है । साइन्स, न्याय, और गणित इसी राद्धान्तपर अवलम्बित हैं। जिनशासनमें कार्यकारणभावकी पोल नहीं चलती है । अतः उन ज्ञान हो जानेरूप कार्योंमें मात्र तत्त्वोंके परिणाम कारण हैं, इन्द्रियां नहीं । माताके उदरमें बच्चा बन जाता है, इतने ही से उस पेटको विश्वकर्मा नहीं कह दिया जाता है । इसी प्रकार वृक्षोंमें अन्तरंग, बहिरंग, कारणों द्वारा हुये परिणामोंके कार्योंको चक्षुः, रसना, कान, इन इन्द्रियोंका कर्त्तव्य नहीं गढ-लेना चाहिये । पांच स्थावर काय जीवोंके एक ही स्पर्शन इन्द्रिय है, अधिक नहीं । गिडार आदि त्रसोंमें दो आदिक इन्द्रियां हैं । गिडारे, दीमकें अपने रहनेके स्थानोंको बना लेती हैं । चींटियां योग्य ऋतुओंमें धान्योंका संग्रह कर लेती हैं । संचित धान्य बिगडे नहीं इसलिये वे धान्यको बाहर निकाल-कर उचित घाम, वायु, चन्द्रिका, लगा देती हैं । पुनः भीतर धर देती हैं । बर्रे, भौंरी, मधु, मक्खी, ये अपने छत्तोंको बनाती हैं । बच्चोंके शरीरके उपयोगी पुद्गल पिण्ड या झींगुर, लटों को लाकर स्वकीय जातिके प्राणियोंको बनालेती हैं । भिन्न भिन्न ऋतुओंमें एक स्थानको छोडकर अन्य उपयोगी स्थानपर पहुंच जाती हैं । पुनः उसी स्थानपर आजाती हैं । मकडी चालाकीसे जीवोंको फसानेके लिये जाला पूरती है । एक प्रकारका छोटासा कीट रेतमें चारों ओरसे लुढकाऊ गोल गड्ढा बनाकर उसमें छिपा रहता है और रपटकर खड्डेमें गिर पडे, चींटियां, गुबरीले, आदिको भक्षण कर लेता है । वनकी झाडियोंमें या किन्हीं किन्हीं ज्वार, बाजरा या मेंदीके वृक्षोंपर एक मायाचारी, भयालु कीट विशेष अपने चारों ओर गाढे चेंपवाले फसूकुरको फैलाकर मध्यमें बैठ जाता है । और यहां वहांसे आकर फसूकुरमें चुपटकर फंसगये कीट पतंगोंको खाजाता है । कोई वृक्ष भी कीट, पतंग, या पक्षियोंको पकडकर फंसा लेते हैं । ये सब कार्य विचारनेवाले मनके द्वारा होनेवाले कार्यसरिखे दीखते हैं । किन्तु उक्त कीट पतंगोंके मन नहीं माना गया है । बात यह है कि ज्ञान भी बहुत बडे बडे कार्योंको साधता है । कीट पतंगोंके ज्ञान, इच्छा, राग, द्वेष, कषायें विद्यमान हैं । उनके द्वारा उक्त कार्य क्या इनसे भी अत्यधिक विस्मयकारक कार्य हो सकते हैं । जैन न्यायशास्त्रमें "हिताहितप्राप्तिपरिहार-समर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्" इस सूत्र अनुसार हितकी प्राप्ति कर लेना और अहितका परिहार करते रहना ज्ञानका ही कार्य बताया गया है । जड कर्म भी बहुत कार्य कर देते हैं । शरीरमें प्रविष्ट होकर औषधि वहां ऊधम मचा देती है । आम्र रस रेचक है । दूध भी रेचक है । किन्तु आम खाकर दूध पीलिया जाय तो मल बंध जाता है । खरबूजा रेचन करता है, सरबत भी मलको पतला कर देता है । हां, खरबूजा खाकर बूरेका सरबत पीलेनेसे पाचन हो जाता है । आत्माके अनेक क्रियाओंमें जडकर्मका भी हाथ है । यहां प्रकरणमें इतना ही कहना है कि अनेक प्रकारके त्रस और स्थावर जीवोंकी व्यवस्था प्रसिद्ध हो रही है

स्थावराः एव सर्वे जीवाः परममहत्त्वेन निष्क्रियाणां चलनासंभवात्त्रसत्वानुपपत्तेरिति त्रसनिन्हवस्तावन्न युक्तः, स्वयमिष्टानां जीवतत्त्वप्रभेदानां व्यवस्थानाप्रसिद्धिप्रसंगात् सर्वगतात्मन्येकत्रैव नानात्मकार्यपरिसमाप्तिः । सकृन्नानात्मनः संयोगो हि नानात्मकार्यं तच्चैकत्रापि प्रयुज्यते नभसि नानाघटादिसंयोगवत् । एतेन युगपन्नानाशरीरेंद्रियसंयोगः प्रतिपादितः ।

वैशेषिक या किसी अन्य विद्वान्का कुत्सित पक्ष है कि जगत्के सम्पूर्ण जीव स्थावर ही हैं । क्योंकि परम महा परिमाण होनेके कारण क्रियारहित हो रहे व्यापक जीवोंका देश देशान्तरमें चलाय मान होना असम्भव है। जो जीव यहां, वहां, नहीं चल सकता है, उसको त्रसपना नहीं बन सकता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार त्रसजीवोंका अपलाप (निषेध) कर देना तो युक्तिपूर्ण नहीं है । क्योंकि यों तो स्वयं उनको अभीष्ट हो रहे जीवतत्त्वके प्रभेदोंकी व्यवस्थाके अप्रसिद्ध हो जानेका प्रसंग आवेगा, जो कि इष्ट नहीं पडेगा। अर्थात्—आत्माको व्यापक मान लेनेपर फिर अनेक जीवोंके माननेकी व्यवस्था नहीं बन सकती है । सर्वस्थानोंपर प्राप्त होकर व्याप्त हो रहे एक ही आत्मामें अनेक आत्माके कार्योंकी परिपूर्ण रूपसे समाप्ति हो जायगी । अतः अनेक आत्माओंकी कल्पना करना व्यर्थ पडेगा । देखिये एक ही वारमें अनेक आत्माओंका संयोग हो जाना ही तो अनेक आत्माओंका कार्य माना गया है। किंतु वह कार्य तो एक व्यापक आत्मामें भी प्रयुक्त किया जा सकता है। जैसे कि एक व्यापक आकाशमें अनेक घट, पट, आदि पदार्थोंका संयोग होना युक्तिघटित हो जाता है, इस उक्त कथन करके ग्रन्थकारने यह भी समझा दिया है कि व्यापक एक आत्मामें युगपत् अनेक शरीर और अनेक इन्द्रियोंका संयोग हो जाना भी बन जाता है, ताकि वैशेषिक यों न कह सके कि एक आत्माके माननेपर अनेक शरीर और नाना इन्द्रियोंका एक साथ संयोग कैसे हो सकेगा ? । सुदक्ष ग्रन्थकार स्थावरजीवोंका ही एकान्त माननेवाले पण्डितके सन्मुख व्यापक एक आत्माका ही आपादन कर अभीष्ट अर्थको मनवाना चाहते हैं । अन्य मतका खण्डन और अपने मतका स्थापन इसके कई मार्ग हैं । सभी स्थलोंपर एक ही औषधि कार्यको नहीं साधती है ।

युगपन्नानाशरीरेष्वात्मसमवायिनां सुखदुःखादीनामनुपपत्तिर्विरोधात् इति चेत्, युगपन्नानाभेर्यादिष्वाकाशसमवायिनां विततादिशब्दानामनुपपत्तिप्रसंगात् तद्विरोधस्याविशेषात् । तथाविधशब्दकारणभेदान्न तदनुपपत्तिरिति चेत् सुखादिकारणभेदात्तदनुपपत्तिरप्येकत्रात्मनि माभूत् विशेषाभावात् । विरुद्धधर्माध्यासादात्मनो नानात्वमिति चेत्, तत एवाकाशनानात्वमस्तु । प्रदेशभेदोपचाराददोष इति चेत्, तत एवात्मन्यदोषः । जननमरणादिनियमोपि सर्वगतात्मवादिनां नात्मबहुत्वं साधयेत्, एकत्रापि तदुपपत्तेर्घटाकाशादिजननविनाशवत् । नहि घटाकाशस्योत्पत्तौ पटाद्याकाशस्योत्पत्तिरेव तदा विनाशस्यापि दर्शनात्। विनाशे वा न विनाश एव जननस्यापि तदोपलंभात् स्थितौ वा न स्थितिरेव विनाशोत्पादयोरपि तदा समीक्षणात् ।

यदि अनेक व्यापक आत्माओंको माननेवाले नैयायिक यों कहें कि एक ही व्यापक आत्माके माननेपर तो नाना शरीररूपी उपाधियोंमें आत्मस्थ होकर समवाय सम्बन्धसे ठहर रहे सुख, दुःख, द्वेष, प्रेम, शयन, जागरण, आदिकी युगपत् सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि विरोध है। अनेक आत्माओंके माननेपर तो किसीमें सुख है, अन्य जीवमें दुःख है, तीसरा सोता है, चौथा जागता है, इत्यादि अनेक कार्य सध जाते हैं। किन्तु एक ही आत्मामें व्यापक मान लेनेपर भी एक साथ विरुद्ध कार्य नहीं हो सकते हैं, यों कहनेपर तो थोडी देरके लिये विनोदपूर्वक एक ही आत्माकी पुष्टि करने-वाले आचार्य कहते हैं कि तब तो अकेले आकाशमें भी एक ही साथ अनेक नगाडे, ढोल, तुरई, आदि उपाधियोंमें अवच्छिन्न हो रहे आकाशमें समवायको धारनेवाले वितत, घन, सुषिर, निषाद, आदि शब्दोंकी असिद्धि हो जाने (सिद्धि नहीं हो सकने) का प्रसंग होगा। उस विरोध और इस विरोधका कोई अन्तर नहीं है। अर्थात्—एक आकाशमें यदि भिन्न जातिके मन्द, तीक्ष्ण, कर्कश, मृदु, पंचम, मध्यम, आदि अनेक शब्दोंको मान लोगे तो उसी प्रकार एक ही आत्मामें नाना शरीरोंकी उपाधिके भेदसे सुख, दुःख, आदि होना बन जावेगा। यदि एक आत्मामें भिन्न जातिके सुख, दुःख, आदिकी सिद्धिका विरोध मानो तो एक आकाशमें नाना, मृदंग, शतरंगी (सारंगी) आदि उपाधियों द्वारा वितत, घन, आदि शब्दोंकी सिद्धिका भी वैसा ही विरोध बन बैठेगा। यदि वैशेषिक या नैयायिक यों कहें कि तिस प्रकारके वितत आदि शब्दोंके कारण हो रहे वादित्र, बाजे, तार, चर्म, आदि पदार्थोंके भेदसे हुये नाना शब्दोंको अकेला आकाश धार लेता है। अतः उन अनेक शब्दोंकी आकाशमें असिद्धि नहीं है। यों कहनेपर आचार्य कहते हैं कि सुख, दुःख, आदिके न्यारे न्यारे कारण बन रहे पदार्थोंके भेदसे एक साथ एक आत्मामें भी सुख, दुःख, आदि हो जावेंगे, उनकी भी असिद्धि नहीं होने पावे। उपाधिभेदसे एक साथ अनेक समवेत गुणोंको धार लेनेकी अपेक्षा आकाश और आत्मामें कोई विशेषता नहीं है। यदि तुम वैशेषिक यों कहो कि कोई पण्डित है, अन्य ग्रामीण मूर्ख है, एक नागरिक धनिक है, चौथा अपव्ययी दरिद्र हो गया है, एक सराग है, दूसरा वीतराग है, कोई शृंगार रसका अनुरागी है, दूसरा शांतिरसमें निमग्न है, एक दाता है, दूसरा पात्र है, कोई सुखी है, कोई दुःखी है, इत्यादिक विरुद्ध धर्मोके आरूढ हो जानेसे जीव तत्त्वको अनेकपना साध दिया जाता है। यों कहनेपर तो आक्षेपकार हम जैन भी कह देंगे कि तिस ही कारणसे आकाश द्रव्य भी नाना हो जाओ। आकाशमें भी अनेक विरुद्ध धर्मोका अध्यास हो रहा है। कहीं मन्द शब्द है, कहीं तीव्र शब्द है, कचित् छोटा, बडा, शब्द गूंज रहा है। यदि वैशेषिक यों कहें कि एक अखण्ड आकाशमें भी उपचारसे भिन्न भिन्न प्रदेश मान लिये जाते हैं। अतः आकाशके किसी प्रदेशमें ढोलका शब्द है अन्य प्रदेशमें तूतीका शब्द है। तीसरे प्रदेशमें घन है। चौथे प्रदेशमें वितत है। यों कहनेपर तो हम जैन कह देंगे कि तिस ही कारणसे आत्मामें भी कोई दोष नहीं आता है, अर्थात्—सर्वव्यापक एक ही अखण्ड आत्माके उपचारसे

प्रदेश भेदोंको मानकर कहीं सुख, अन्यत्र दुःख, क्वचित् मूर्खता, कहीं कहीं पण्डिताई इन धर्मोका सम्बन्ध बन जाता है। आत्माको सर्वगत कहनेवाले वादियोंके यहां जन्म लेना, मरना, बंध जाना, मुक्त हो जाना, आदि नियम भी आत्माके बहुतपनको नहीं साध सकेंगे। क्योंकि एक भी आत्मामें उपाधियोंके भेदसे उन जन्म लेना, मरण करना, आदिकी सिद्धि बन जाती है, जैसे कि एक आत्मामें घटाकाशका उपज जाना और कपाल आकाश या पटाकाशका विनाश होना युगपत् सिद्ध हो जाता है। घट उपाधिसे नापे गये आकाशकी उत्पत्ति हो जानेपर पट उपाधिवाले आकाश या कपाल उपाधिवाले आकाशकी भी उत्पत्ति ही होवे, ऐसा कोई नियम नहीं है। उस समय एक उपाधिवाले आकाशकी उत्पत्ति होनेपर अन्य उपाधिवाले आकाशके विनाशका भी दर्शन हो रहा है अथवा किसी विशेषणसे अवच्छिन्न हो रहे आकाशका विनाश हो जानेपर सभी विशेषणोंवाले अन्य अन्य आकाशका भी विनाश ही हो जाय ऐसा नहीं है। किन्तु उस विनाश होनेके समय अन्य कार्यावच्छिन्न आकाशकी उत्पत्ति भी देखी जा रही है। किसी उपाधिवाले आकाशकी स्थिति होनेपर सभी उपाधिवाले आकाशकी स्थिति ही नहीं होती रहती है। उस स्थितिके समयमें विनाश और उत्पादका भी भला दर्शन हो रहा है। बात यह है कि आकाशको एक माननेपर जीव तत्त्व भी एक ही मानना अनिवार्य पडेगा। यदि जीवतत्त्वको अनेक मानोगे तो आकाश तत्त्व भी अनेक मानने पडेंगे। न्यायमार्गमें किसीका पक्षपात नहीं चलता है।

सति बंधे न मोक्षः सति वा मोक्षे न बंधः स्यादेकत्रात्मनि विरोधादिति चेन्न, आकाशेपि सति घटबंधे घटांतरमोक्षाभावप्रसंगात्। सति वा घटविश्लेषे घटांतरविश्लेषप्रसंगात्। प्रदेशभेदोपचारान्न तत्प्रसंग इति चेत्, तत एवात्मनि न तत्प्रसंगः। कथमेक एवात्मा बद्धो मुक्तश्च विरोधादिति चेत्, कथमेकमाकाशं घटादिना बद्धं मुक्तं च युगपदिति समानमेतच्चोद्यम्। नभसः प्रदेशभेदोपगमे जीवस्याप्येकस्य प्रदेशभेदोस्त्विति कुतो जीवतत्त्वप्रभेदव्यवस्था। तत-स्तामिच्छता क्रियावंतो जीवाश्चलनतो असर्वगता एवाभ्युपगंतव्या इति प्रससिद्धिः।

यदि पूर्वपक्षी वैशेषिक यों कहें कि एक ही आत्माके स्वीकार करनेपर तो एक आत्माका बन्ध हो जानेपर मोक्ष न हो सकेगी अथवा मोक्ष हो जानेपर बन्ध नहीं हो सकेगा। क्योंकि एक ही आत्मामें विरुद्ध माने गये बन्ध या मोक्ष दोनोंके होनेका विरोध है। किन्तु जगत्में बहुतसी आत्माओंके बन्ध हो रहा है और अनेक आत्माओंको मुक्ति प्राप्त हो रही है। आचार्य कहते हैं कि यह उपाय तो नहीं रचना। क्योंकि यों तो एक आकाशके माननेपर भी आकाशको घटसहितपना होनेपर अन्य घटोंसे या पट आदिसे मोक्ष होनेके अभावका प्रसंग होवेगा। अथवा प्रकरणप्राप्त घटका आकाशके साथ विश्लेष हो जानेपर अन्य घटोंके साथ भी विश्लेषण हो जानेका प्रसंग बन बैठेगा। अर्थात्—जब आकाश एक ही है तो घटके साथ संयोग हो जानेपर सभी घटोंके साथ संयोग ही

बना रहना चाहिये या गृहमें आकाशके साथ घटका विभाग हो जानेपर अन्य घट, पट, आदिके साथ भी विभाग हो जायगा। एक अखण्ड आकाशमें किसीके साथ विश्लेष और अन्यके साथ संयोग मानना तो विरुद्ध पड़ेगा। यदि वैशेषिक उपचारसे आकाशके छोटे छोटे प्रदेशोंके भेदको मानकर उस प्रसंगका निवारण करेंगे, तब तो उस ही कारणसे यानी अखण्ड, एक, व्यापक, आत्मामें उपचारसे प्रदेशभेदोंकी कल्पना कर उस बन्ध या मोक्षके प्रसंगका भी निषेध हो जाता है तो फिर आत्माको आकाशके समान एक माननेमें अथवा अनेक आत्माओंके समान आकाशको भी अनेक माननेमें क्यों आपत्तियां उठाई जाती हैं ?। यदि पूर्वपक्षी यों कहे कि एक ही आत्मा भला बद्ध और मुक्त भी कैसे हो सकता है ? क्योंकि सहानवस्थान नामका विरोध है। जिस आत्मामें बद्धपना है वहां मुक्ति नहीं और जहां मुक्तपना है वहां बद्धपना नहीं घटित हो पाता है। यों कहनेपर तो जैन भी कटाक्ष कर सकते हैं कि एक ही आकाश विचारा घट, पट, आदि करके बंध रहा और उसी समय दूसरोंसे छूट रहा भला युगपत् किस ढंगसे साधा जा सकता है ? इस प्रकार एक आत्माका पक्ष ले लेनेपर हमारे ऊपर उठाया गया वह आपत्ति या अनुपपत्तिरूप चोद्य आकाशको सर्वथा एक माननेवाले तुम्हारे ऊपर भी समान रूपसे लागू हो जाता है। हां, यदि तुम आकाशके प्रदेशोंको भिन्न भिन्न स्वीकार कर लोगे तब तो हमारे यहां एक ही जीवके भी प्रदेशोंका भेद हो जाओ। इस प्रकार जीव तत्त्वके भेद प्रभेदोंकी व्यवस्था भला कैसे हो सकेगी ? मनुष्य, पशु, पक्षी, माता, पिता, गुरु, बहिन, बेटी, ये सब अनेक प्रकारके जीव तुम्हारे यहां माने गये हैं। तिस कारण उस जीव तत्त्वके प्रभेदोंकी व्यवस्थाको चाहनेवाले तुम करके क्रियासहित हो रहे जीव चलने, फिरनेकी अपेक्षासे असर्वगत ही स्वीकार कर लेने चाहिये। कीट, पतंग, पशु, पक्षी, सब चलते, घूमते, अव्यापक ही देखे जा रहे हैं। इस युक्तिसे त्रस जीवोंकी सिद्धि हो जाती है। " स्थावरा एव " यहांसे लेकर " त्रससिद्धिः " तक प्रकरण द्वारा स्थावर जीवोंके एकान्तका निराकरण कर त्रसजीवोंको भी साध दिया है।

त्रसा एव न स्थावरा इति स्थावरनिन्हवोपि न श्रेयान्, जीवतत्त्वप्रभेदानां व्यवस्थानाप्रसिद्धिप्रसंगात्। जीवतत्त्वसंतानांतराणि हि व्यवस्थापयन्न प्रत्यक्षाद्व्यवस्थापयितुमर्हति तस्य तत्राप्रवृत्तेः। व्यापारव्याहारलिंगात्साधयतीति चेत् न, सुषुप्तमूर्छिताण्डकाद्यवस्थानां संतानांतराणामव्यवस्थानुषंगात्तत्र तदभावात्। आकारविशेषात्तत्सिद्धिरिति चेत्, तत एव वनस्पतिकायिकादीनां स्थावराणां प्रसिद्धिरस्तु।

कोई एकान्तवादी कह रहे हैं कि संसारमें सब जीव त्रस ही हैं। स्थावर जीव कोई भी नहीं है, ग्रन्थकार कहते हैं कि यों अन्यायी राजाकी आज्ञाके समान स्थावरजीवोंका अपलाप करना (होते हुओंका निषेध करना) श्रेष्ठ नहीं है। हेतु हमारा वही है जोकि वार्तिकके उत्तरार्धमें कहा गया है। अर्थात् जीव तत्त्वके प्रभेदोंकी व्यवस्थाके अप्रसिद्ध हो जानेका प्रसंग तुम्हारे ऊपर उठा दिया जावेगा।

देखिये, जीव तत्त्वके प्रभेद स्वरूप गुरु, माता, पिता, मित्र, पशु, पक्षी आदिकी भिन्न भिन्न सन्तानोंके नियमसे व्यवस्था करा रहे आप या और कोई आपका मित्र भला प्रत्यक्षसे तो उनकी व्यवस्था करानेके लिये समर्थ नहीं हो सकता है। क्योंकि उस युष्मदादिकोंके प्रत्यक्ष प्रमाणकी उन अनेक सन्तानोंके जाननेमें प्रवृत्ति नहीं हो रही है। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष तो जड पदार्थोंके रूप, रस, आदिको ही जान पाता है। और मानस प्रत्यक्ष केवल अपनी आत्मा या उसके सुख, दुःख, आदिकोंकी संवित्ति कर लेता है। अन्य आत्माओंकी व्यवस्था करनेमें प्रत्यक्षकी सामर्थ्य नहीं है। हां, यदि तुम शारीरिक व्यापार करना, वचन बोलना, हित अहित क्रिया करना, आदि ज्ञापक हेतुओंसे उन अन्य संतानोंकी सिद्धि कराओगे सो उस अनुमानका हेतु तो ठीक नहीं पड़ेगा। भागासिद्ध हेत्वाभास हो जायगा। क्योंकि यों गाढरूपसे सोजानेकी अवस्था या मूर्छा प्राप्त हो जानेकी, अव्यवस्था, अथवा अण्डेकी दशा आदिक अवस्थाओंको प्राप्त हो रहे सन्तानान्तरोंकी व्यवस्था नहीं हो सकनेका प्रसंग होगा। क्योंकि उन सुषुप्त आदिक दशाओंमें जीव है, किन्तु उन दशाओंमें उन शरीरक्रिया, वचन, उच्चारण, आदिक ज्ञापक लिंगोंका अभाव है। यदि भागासिद्ध हेतुका परित्याग कर जीवित अवस्थामें होनेवाले आकारविशेषसे सुषुप्त आदि दशाओंमें भी उन सन्तानान्तरोंके जीवितत्त्वोंकी व्यवस्था करोगे तब तो उस ही आकार विशेषसे वनस्पतिकायिक, पृथिवीकायिक, आदिक स्थावर जीवोंकी भी प्रसिद्धि हो जाओ। मनुष्य, पशु, पक्षी, पतंग, कीटके समान घास, मट्टी, आदिमें भी चैतन्यका साधक आकार विशेष पाया जाता है। भग्नक्षत संरोहण हो रहा देखा जाता है।

कः पुनराकारविशेषो वनस्पतीनां आहारलाभालाभयोः पुष्टिग्लानलक्षणः ततो यदि वनस्पतीनामसिद्धिरात्मनां तदा संतानांतराणामपि मूर्छितादीनां कुतः सिद्धिरिति जीवतत्त्वप्रभेदं व्यवस्थापयता त्रसस्थावरयोरन्यतरनिन्हवो न विधेयः।

सन्मुख बैठा हुआ एकान्तवादी पूंछता है कि वनस्पति जीवोंके कौनसा आकार विशेष है, जो कि उनको जीवतत्त्वका प्रभेद साध देगा? इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि आहारके लाभ और अलाभ होने पर पुष्टि और ग्लानि हो जाना यही उनके आकार विशेषका लक्षण है। अर्थात्— वनस्पतियोंको खात, जल, मृत्तिका, वायु, आदिका आहार प्राप्त हो जाता है, तब तो वे हरे, भरे, पुष्ट, दीखते हैं और योग्य आहार नहीं मिलनेपर उनमें म्लानता आ जाती है, कोई कोई तो सूखकर मर जाते हैं। इस बातको वर्तमानके विज्ञानवेत्ताओंने भी युक्तियोंसे साध दिया है। मेघ, जल, सूर्यकिरणें, स्वच्छ वायु, इनका आहार करना समान होनेपर भी कई जातिकी वनस्पतियां भिन्न भिन्न प्रकारके खातोंकी अपेक्षा रखती हैं। कोई कोई वनस्पति तो रक्त, मांसका खात मिलनेपर परिपुष्ट होती हैं। कई वनस्पतियां अग्नि द्वारा तपानेपर शीतबाधाके मिट जानेसे पुष्ट होती हैं। शाखा, उपशाखाके टूट जानेपर पुनः प्ररोह हो जाता है। अतः वृक्ष, बेल, घास, आदि वनस्पति-

योंमें अनुमान प्रमाण द्वारा जीव तत्त्वको साध लेना चाहिये। पर्वतों या खानोंमें भी आकार विशेष पाया जाता है। अग्नि, जल, वायुमें भी युक्ति और आगमसे जीव तत्त्वको साध लेना चाहिये। विज्ञान (साइन्स) के प्रयोगोंकी वृद्धि होनेपर इनमें भी जीवके साधक अनेक उपाय प्राप्त हो सकते हैं। तिस कारणसे यदि वनस्पति जीवोंकी उस आकारविशेषसे सिद्धि नहीं मानोगे तब तो मूर्छित या गाढ सोरहे आदि जीवोंके न्यारी न्यारी चैतन्य सन्तानोंकी भी सिद्धि भला कैसे कर सकोगे ? सन्तानान्तर या मूर्छित, गर्भस्थ, आदिके जीव तत्त्वोंकी व्यवस्थाका जो उपाय है वही स्थावर जीवोंका भी निर्णायक है। इस प्रकार जीव तत्त्वके प्रभेद हो रहे सन्तानान्तर या सुषुप्त आदिक प्रभेदोंकी व्यवस्था करानेवाले विद्वान् करके त्रस और स्थावर दोनों प्रकारके जीवोंमेंसे किसी भी एकका निन्हव नहीं करना चाहिये। यहांतक त्रस और स्थावर जीवोंकी सिद्धि कर दी गयी है।

कोत्र विशेष ? स्थावरा इत्याह।

इन सामान्य रूपसे जान लिये गये त्रस, स्थावर जीवोंमें कौन कौन विशेष प्रभेद हैं ? ऐसा प्रश्न होनेपर प्रथम ही स्थावरोंके विशेष हो रहे भिन्न भिन्न जातिके जो स्थावर हैं, इस बातको ग्रन्थकार श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र द्वारा स्पष्ट कह रहे हैं। त्रस जीवोंका व्याख्यान अधिक करना है। अतः आनुपूर्वीकी अपेक्षा नहीं कर " सूचीकटाह " न्याय अनुसार पहिले स्थावर जीव ही कहे जा रहे हैं। लुहारके पास एक मनुष्य पहिले कैरैया बनवाने आया। उसके पीछे दूसरा लडका सुई बनवाने आया। यहां क्रमका उल्लंघन कर लुहार पहिले सुईवालेको निपटा देता है। इस क्रियाका नाम " सूचीकटाह न्याय " है। सुई पाव घडीमें बनती है, कैरैया बनानेमें दिन भर लग जायगा।

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु, वनस्पति ये पांच प्रकारके स्थावर जीव हैं। यहां पृथिवीजीव, पृथिवीकायिक, जलजीव, जलकायिक, तेजोजीव, तैजस्कायिक, वायुजीव, वायुकायिक, वनस्पतिजीव, वनस्पतिकायिक, ये स्थावर जीव माने जाते हैं।

पृथिवीकायिकादिनामकर्मोदयवशात्पृथिव्यादयो जीवाः पृथिवीकायिकादयः स्थावराः प्रत्येतव्या न पुनरजीवास्तेषामप्रस्तुतत्वात्।

मूल प्रकृति माने गये नामकर्मकी उत्तर प्रकृति स्थावर नामक कर्म है। उसके भेद हो रहे पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, आदि नामकर्मके उदयकी अधीनतासे अथवा असंख्याते उत्तरभेदोंको धारनेवाली गति नामक प्रकृतिकी विशेष हो रही तिर्यग्गतिके प्रभेदोंके उदयसे पृथिवी आदिक जीव ही पृथिवीकायिक, जलकायिक, आदिक स्थावर समझ लेने चाहिये। किन्तु फिर पृथिवी,

पृथिवीकाय, जल, जलकाय, आदि अजीव पदार्थ तो स्थावर नहीं हैं। क्योंकि जीव तत्त्वके भेद प्रभेदोंको गिनानेके अवसरपर उन अजीवोंका प्रस्ताव प्राप्त नहीं हैं। अर्थात्—ऋषिप्रोक्त शास्त्रोंमें इन प्रत्येकके पृथिवी आदिक चार भेद कहे हैं। पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक, पृथिवीजीव, एवं जल, जलकाय, जलकायिक, जलजीव, इत्यादि समझ लेना। मोटी, कठिनता, आदि गुण स्वरूप हो रही अचेतन मिट्टी, पत्थर, लकडी, गेरू, कंकड, रत्न ये तो सामान्य रूपसे पृथिवी हैं। पृथिवीकायिक जीव द्वारा मरकर शीघ्र छोड दिया गया जडपिण्ड तो पृथिवीकाय बोला जाता है। जैसे कि मनुष्य मरता हुआ अपने शवको छोड देता है। वर्तमानमें जिस जीवके पृथिवीकाय वर्त रही है वह जीव पृथिवीकायिक है, जिसका कि अपनी आयुपर्यन्त उस कायसे सम्बन्ध बना रहता है। और जिस जीवके पृथिवीकायिक नामकर्मका उदय प्राप्त हो गया है, किन्तु अभीतक विग्रह गतिमें पडा हुआ कार्मण काय योगमें स्थित है, जबतक वह पृथिवीको नोकर्म शरीररूप करके ग्रहण नहीं करता है तबतक वह पृथिवीजीव है। यही ढंग अन्य जल आदि चारों भेदोंमे लगा लेना। पहिलेके पृथिवी और पृथिवीकाय ये दो भेद तो अजीव स्वरूप हैं। और तीसरे चौथे ये दो भेद जीवतत्त्व हैं। अथवा पहिले दो भेदोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं है, कुछ देर पहिले मरे हुये और बहुत दिन पहिले मरे हुये सब श्मशान भूमिमें गर्भित हो जाते हैं। अतः पृथिवीको सामान्य मान कर उत्तरवर्त्ती तीनों भेदोंमें उसका अन्वय कर लेना चाहिये। पृथिवीकाय और पृथिवीकायिक, जलकाय और जलकायिक, तेजस्काय और तेजस्कायिक, वायुकाय और वायुकायिक वनस्पतिकाय और वनस्पति कायिक ये स्थावर जीव हैं। शेष पृथिवी या पृथिवीकाय आदि जडोंको यहां स्थावरोंमें गिनना नहीं चाहिये।

कुतस्तेऽवबोद्धव्या इत्याह।

वे पृथिवीकायिक आदिक जीव कैसे किस प्रमाणसे समझ लेने चाहिये? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य समाधानको कहते हैं। उसको दत्तावधान होकर श्रवण करो।

जीवाः पृथ्वीमुखास्तत्र स्थावरा परमागमात्।
सुनिर्बाधात्प्रबोद्धव्या युक्त्या एकेंद्रिया हि ते॥ १॥

उन जीवोंमें पृथिवीकायिक, जलकायिक, आदिक जीव स्थावर हैं। ये सिद्धान्त प्ररूपित जीव तो भले प्रकार बाधाओंसे रहित हो रहे सर्वज्ञ उक्त, उत्कृष्ट, आगमसे अच्छे समझ लेने चाहिये। वे पृथिवीकायिक आदि जीव नियमसे युक्तियों करके भी एक स्पर्शन इन्द्रियवाले साध दिये जाते हैं। अर्थात्—सर्वज्ञकी प्रवाह धारासे चले आ रहे आगम द्वारा स्थावरोंकी सिद्धि प्रधान रूपसे हो जाती है तथा वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा युक्ति करके भी पृथिवी, जल, आदि शरीरोंको धारनेवाले जीवोंकी सिद्धि हो जाती है। सूक्ष्म यंत्रोंसे मट्टी या जलमें छोटे छोटे रेंगते हुये जो कीट दीखते हैं वे सब त्रस

जीव हैं। किन्तु मिट्टी या जल ही जिन जीवोंका शरीर है वे स्थावर जीव हैं। एक मिट्टीकी छोटी डेली लाखों करोडों वस्तुतः असंख्याते जीवोंका औदारिक शरीर पिण्ड है। इसी प्रकार एक जलकी बूंद भी असंख्य जलकायके जीवोंके ग्रहण किये हुये शरीर हैं। अग्नि, वायु, वनस्पतिके शरीरोंको भी अनेक एकेंद्रिय जीवोंने ग्रहण कर रक्खा है। घनाङ्गुलके संख्यातवें भाग या असंख्यातवें भाग एक जीवकी अवगाहना है। हां, वनस्पतिजीव घास वृक्ष आदि थोडेसे तो संख्यात घनाङ्गुल प्रमाण भी हैं। किन्तु बहुभाग घनाङ्गुलके असंख्यातवें या संख्यातवें भाग छोटी अवगाहनावाले हैं।

संति पृथिवीकायिकादयो जीवा इत्यागमात् पृथिवीकायिकादिसिद्धिः। कुतस्तदागमस्य प्रामाण्यनिश्चय इति चेत्, सर्वथा बाधकरहितत्वात्। न ह्यस्य प्रत्यक्षं बाधकं तदविषयत्वात्।

उक्त कारिकाका विवरण यों है कि " पृथिवीकायिक, जलकायिक, आदि जीव विद्यमान हैं " इस प्रकारके आगमवाक्यसे पृथिवीकायिक, आदि जीवोंकी अच्छी सिद्धि हो जाती है। कोई प्रश्न करता है कि उस आगमको प्रमाणपनेका निश्चय कैसे किया जाय ? जिसमें कि पृथिवीकायिक आदि जीवोंका सद्भाव माना गया है। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि सभी प्रकार बाधक प्रमाणोंका रहितपना होनेसे आप्त पुरुष करके उपज्ञ हो रहे आगमका प्रमाणपना जान लिया जाता है। देखिये, " सुहुमणिवातेआभूवातेआपुणिपदिट्ठिदं इदरं। " " पुढविदगागणिमारुदसाहारणथूल सुहुमपत्तेया " " पुढवीआऊतेऊवाऊ कम्मोदयेण तत्थेव, णियवण्णचउक्कजुदो ताणं देहो हवे णियमा " इत्यादिक इन आगम वाक्यों या इनसे भी प्राचीन आर्ष ग्रन्थोंको बाधा देनेवाला प्रत्यक्षप्रमाण तो नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण उन अतीन्द्रिय पदार्थोंको विषय नहीं करता है। जो प्रमाण जिस विषयमें नहीं चलता है वह उसका साधक या बाधक नहीं समझा जाता है। जो ग्रामीण भोला किसान वैद्य विद्याको नहीं जानता है, उसमें उसका सपक्ष या विपक्ष रूपसे टांग अडाना अनुचित है।

पृथिव्यादयो अचेतना एव व्यापारव्याहाररहितत्वाद्भस्मादिवत् इत्यनुमानं बाधकमिति चेन्न, अस्य सुषुप्तादिनानेकांतात्। तस्यापि पक्षीकरणमयुक्तं समाधिस्थेनानेकांतात्, पक्षस्य प्रमाणबाधानुषंगात्। सांख्यस्य मुक्तात्मना व्यभिचारात्।

कोई कटाक्ष कर रहा है कि पृथिवी, जल, आदिक (पक्ष) अचेतन ही हैं (साध्य)। क्योंकि वे शारीरिक व्यापार करना, बोलना, विचारना, इष्टमें प्रवर्तना, अनिष्टसे निवृत्त हो जाना, आदि क्रियाओंसे रहित हैं, (हेतु) भस्म, रेता, उष्णजल, सूखा काठ, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस प्रकारका अनुमानप्रमाण तुम्हारे आगमका बाधक है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि इस अनुमानमें कहे गये हेतुका अचेत सो रहे मनुष्य या मूर्छाप्राप्त जीव, अण्डस्थ जीव, आदि करके व्यभिचार दोष आता है। अर्थात् निर्भर सो रहे या मूर्च्छित मनुष्यके

कोई शारीरिक क्रिया, वचनव्यवहार, आदिक नहीं हैं। किन्तु वे चेतन हैं। अतः हेतुके ठहर जानेपर साध्यकी स्थिति नहीं होनेसे तुम्हारा हेतु व्यभिचारी हो जाता है। उस सोते हुये या मूर्छित हो रहे को भी पक्ष कोटिमें कर लेना तो उचित नहीं है। क्योंकि समाधि या ध्यानमें स्थित हो रहे जीवकरके व्यभिचार आ जावेगा। अतः प्रतिज्ञास्वरूप पक्षकी प्रमाणोंसे बाधा हो जानेका प्रसंग होगा। ऐसी दशामें तुम्हारा हेतु बाधित भी बन बैठेगा। भावार्थ—सोते हुये या मूर्छित पुरुषको भी यदि व्यापार आदि नहीं होनेसे अचेतन मान लिया जायगा तो भी ध्यान लगाकर बैठे हुये पुरुषसे व्यभिचार दोष तदवस्थ रहेगा। सोते हुये पुरुषको मरा हुआ कहना बाधित है। दूसरी बात यह है कि सांख्यमतियोंके यहां प्रकृतिका संसर्ग छूट जानेसे व्यापार करना, बोलना, आदि क्रियाओंसे छूट चुके मुक्तजीव करके व्यभिचार आता है। अर्थात्—वैशेषिक भले ही मुक्त अवस्थामें जीवको अचेतन कह दें, किन्तु कपिलमतके अनुयायी तो मुक्तजीवोंको बहुत अच्छा चेतन कह रहे हैं। वहां हेतुके रह जानेपर भी अचेतनपना साध्य नहीं है। विपक्षमें हेतुका वर्तजाना व्यभिचार है।

प्रत्यागमो बाधक इति चेन्न, तस्याप्रमाणत्वापादनात् स्याद्वादस्य प्रमाणभूतस्य व्यवस्थापनात्। तदेवमागमात्सुनिर्बाधात् पृथिवीप्रमुखाः स्थावराः प्राणिनो बोद्धव्याः।

यदि कोई यों कहे कि जैनोंके आगमसे प्रतिकूल हो रहा दूसरा चार्वाक आदिका आगम उस जिनागमका बाधक है, आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उस स्थावर जीवोंका निषेध करनेवाले आगमको अप्रमाणताका अपादान किया गया है। अप्रमाणसे प्रमाणको कोई ठेस नहीं पहुंच पाती है। हां, स्याद्वाद सिद्धान्तको ही प्रमाणभूत होनेकी व्यवस्था पूर्वप्रकरणोंमें कर दी गई है। तिस कारण इस प्रकार भले ढंगपूर्वक बाधाओंसे रहित हो रहे आगमप्रमाणसे पृथिवी, आदिक स्थावर प्राणी समझ लेनी चाहिये। सुखपूर्वक ग्रहणका हेतु होनेसे तथा मोटी मूर्ति होनेसे अथवा भोजन, गृह, वस्त्र, अलंकार, आदि रूप करके बहुत उपकार करनेवाली होनेसे पांचों स्थावरोंमें पृथिवीको प्रमुख माना गया है। उसके अनन्तर जल, तेज, वायु, और वनस्पतिका वचन करना भी साभिप्राय है।

युक्तेश्च, ज्ञानं क्वचिदात्मनि परमाऽपकर्षमायाति अपकृष्यमाणविशेषत्वात् परिमाणवदित्यतो यत्र तदपकर्षपर्यंतस्तेऽस्माकमेकेंद्रियः स्थावरा एव युक्त्या संभाविताः।

तथा युक्तिसे भी स्थावर जीवोंको समझ लिया जाता है। सुन लीजिये। ज्ञान (पक्ष) किसी न किसी आत्मामें अत्यधिक अपकर्ष (हीनता) को प्राप्त हो जाता है (साध्य) विशेष रूपसे कमती कमती हो रहा होनेसे (हेतु) परिमाणके समान (अन्वयदृष्टान्त) अर्थात्—आकाश, लोक, सुमेरुपर्वत, सम्मेदशिखर, गृह, घर, नारियल, बेल, बेर, कालीमिर्च, पोस्त, आदिमें उत्तरोत्तर घट रहा परिमाण जैसे परमाणुमें पहुंचकर अन्तिम अपकर्षको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार केवलज्ञान, श्रुतज्ञान, आचार्यका ज्ञान, शास्त्रीका ज्ञान, साधारण पण्डितका ज्ञान, पशु, पक्षी, पतंग, कीट, इनका ज्ञान यों

उत्तरोत्तर घटते घटते ज्ञान भी कहीं न कहीं अन्तिम धटीको पहुंच जाता है। ऐसे इस अनुमानसे जहां कहीं जीवोंमें उस ज्ञानकी न्यूनताका अन्तिम आधार है। वे ही हम स्याद्वादियोंके यहां एक स्पर्शन इन्द्रियवाले स्थावर जीव माने गये हैं। इस प्रकार अनुमानस्वरूप युक्तिकरके स्थावर जीवोंके सद्भावकी सम्भावना की जा चुकी है।

ननु च भस्मादावनात्मन्येव विज्ञानस्यात्यंतिकापकर्षस्य सिद्धेर्न स्थावरसिद्धिरिति चेन्न, स्वाश्रय एव ज्ञानापकर्षदर्शनात् अनात्मनि तस्यासंभवादेव हान्यनुपपत्तेः। प्रध्वंसो हि हानिः सत एवोपपद्यते नासतोऽनुत्पन्नस्य वंध्यापुत्रवत्।

उक्त अनुमान द्वारा स्थावर जीवोंकी सिद्धि कर रहे आचार्यके ऊपर स्थावर जीवोंको नहीं माननेवाले किसी पण्डितकी ओरसे पुनः स्वपक्षका अवधारण है कि जीवतत्त्वसे भिन्न हो रहे जड, भस्म, पीतल, ईंट, आदि पदार्थोंमें ही विज्ञानके अत्यन्त रूपसे होनेवाले अपकर्षकी सिद्धि हो रही है। अतः स्थावर जीवोंकी सिद्धि न हो सकी। मन्दबुद्धि जीवोंमें ज्ञानकी कमी होते होते जड राखमें सर्वथा ज्ञानका अत्यन्त अभाव हो गया है। अपकर्षका बढिया आधार जब मिल गया है तो उस अनुमानसे भला स्थावर जीवोंकी सिद्धि कहां हुयी ? आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि ज्ञानके निज आश्रयमें ही ज्ञानका अपकर्ष हो रहा देखा जाता है। आत्मतत्त्वसे सर्वथा भिन्न हो रहे जडमें उस ज्ञानका असम्भव हो जानेसे ही हानिकी सिद्धि नहीं बन सकती है। हानिका अर्थ यहां नियमसे अच्छा ध्वंस हो जाना है। वह ध्वंस तो प्रतियोगीकी सत्तावाले पदार्थका ही बन सकता है। जो असत् पदार्थ है या उत्पन्न ही नहीं हुआ है, बन्ध्यापुत्रके समान, उस पदार्थकी हानि नहीं हो सकती है। रोगकी हानि जीवके बन सकती है, जडके नहीं। जहां प्रतियोगीका सद्भाव है वहां ही उसका ध्वंस है। वैशेषिकोंने भी ध्वंसका प्रतियोगीके समवायी देशमें नियत होकर रहना माना है। घटका ध्वंस कपालोंमें और पटका ध्वंस तन्तुओंमें ठहरता है। भस्ममें तो ज्ञानका अत्यन्ताभाव है और हम ज्ञानके ध्वंस या न्यूनपनको साध रहे हैं। वह एकेन्द्रिय जीवोंमें ही पाया जावेगा। किसी मनुष्यको ही निर्धन या अपढ कहा जाता है, पत्थर या डेलको नहीं।

क्वचिदात्मन्यप्यत्यंतनाशो ज्ञानस्यास्तीति चेन्न, सतो वस्तुन उत्पत्तिविनाशानुपपत्तेः।

पुनः कोई वैशेषिकका पक्ष लेकर कहता है कि भस्ममें नहीं सही, किन्तु किसी किसी आत्मा (मुक्तजीव) में भी तो ज्ञानका अत्यन्त रूपसे नाश विद्यमान है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि अनादि अनन्त सद्रूप हो रही वस्तुके उत्पत्ति और विनाश बन नहीं सकते हैं। अर्थात्– " नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः " " नैवासतो जन्म सतो न नाशो "। जैसे पुद्गल द्रव्यमें रूप, रस, आदि गुण अनादि कालसे अनन्त कालतक विद्यमान रहते हैं, कोई नया गुण उपजता नहीं है और न किसी सत् गुणका विनाश होता है। यदि नया गुण उपजने लगे तो जड

द्रव्यमें ज्ञान, सुख, गुण भी उपज जायेंगे। ऐसी दशामें जड और चेतनका विभाग करना अशक्य हो जायगा। तथा यदि विद्यमान गुणोंका विनाश होने लगे तो किसी दिन संपूर्ण गुणोंका अभाव हो जानेसे वस्तुका ही अभाव हो जायगा। गुणोंका समुदाय ही तो द्रव्य है। हां, विद्यमान हो रहे गुणोंकी पर्यायोंमें अविभाग प्रतिच्छेदोंकी न्यूनता, अधिकता, या विभावपरिणाम होते रहते हैं। तभी तो ज्ञानगुणकी अत्यन्त हानि होते हुये भी सूक्ष्मनिगोदिया लब्धि अपर्याप्तक जीवमें अक्षरके अनन्तवें भाग नित्य प्रकाशनेवाला निरावरण ज्ञान माना गया है। मनुष्य भी कितना ही पागल, मूर्छित, मूर्ख, पौंगा, दुःखित, क्यों न हो जावे, उसमें थोडा ज्ञान तो अवश्य ही बना रहता है। पण्डिताईके ज्ञानोंका ध्वंस मूर्खता पूर्वक हुये ज्ञानोंके विद्यमान होनेपर पाया जाता है। एकेन्द्रिय दशामें सामान्य अत्यल्पज्ञान होनेपर विशिष्ट ज्ञानोंकी हानि मानी जाती है, ज्ञानका सर्वथा नाश कहीं नहीं हो पाता है।

कर्मणां कथमत्यंतविनाश इति चेत्, क एवमाह ? तेषामत्यंतविनाश इति। कर्मरूपाणां हि पुद्गलानामकर्मरूपतापत्तिर्विनाशः सुवर्णस्य कटकाकारस्याकटकरूपतापत्तिवत्। ततो गगनपरिमाणादारभ्यापकृष्यमाणविशेषं परिमाणं यथा परमाणौ परमापकर्षपर्यंतमाप्तं सिद्धं तथा ज्ञानमपि केवलादारभ्यापकृष्यमाणविशेषमेकेंद्रियेषु परमापकर्षपर्यंतमाप्तमवसीयते। इति युक्तिमत्पृथिवीकायिकादिस्थावरजीवप्रतिपादनं।

पूर्वपक्षवाला कहता है कि बताओ कर्मोंका अत्यन्तरूपसे विनाश भला कैसे हो जाता है ? मुक्त जीवोंमें भी ज्ञानके समान थोडे, बहुत, कर्म विद्यमान रहे आवेंगे। आप जैनोंने अभी कहा था कि सत्‌का विनाश नहीं हो पाता है। यों कहनेपर आचार्य उत्तर देते हैं कि, कौन अविचारी इस प्रकार कह रहा है कि उन कर्मोंका अत्यंतरूपसे विनाश हो जाता है कि कर्मस्वरूप हो रहे पुद्गलोंकी अकर्मस्वरूपपने करके प्राप्ति हो जाना ही विनाश है। जैसे कि कडोंके आकारको धारनेवाले सोनेकी कडे रहित हो रहे कुन्डल, केयूर, आदि अलंकाररूपसे प्राप्ति हो जाना ही सोनेका ध्वंस माना जाता है। सोनेका समूलचूल नाश नहीं होता है। मैले वस्त्रको निर्मल कर देनेपर मलकी पानीमें कीचडरूप अवस्थासे स्थिति बनी रहती है। साबुन, तेजाब, आग, किसीसे भी शुद्धि करो, जगत् से मल उठा दिया जाय, ऐसा मलका सत्यानाश कभी नहीं हो सकता है। आत्मासे सम्बन्ध छूटकर कर्म भी अन्य पुद्गलकी अवस्थामें अन्यत्र बने रहते हैं। अर्थात्—मुक्तिके लक्षणमें कर्मोंका देशसे देशान्तर हो जानारूप विभाग और कर्म अवस्थासे अकर्म अवस्था हो जाना अभीष्ट है। तिस कारण सबसे बडे आकाशके परिमाणसे प्रारम्भकर कमती कमती हो रही विशेषताको लिये हुये परिमाण जैसे परमाणुमें उत्कृष्टरूपसे अपकर्षके पर्यंतको प्राप्त हो चुका सिद्ध है, उसी प्रकार ज्ञान भी केवलज्ञानसे प्रारम्भ कर विशेषविशेषरूपसे घट रहा संता एकेन्द्रिय जीवोंमें सबसे बढिया हीनताके पर्यन्तको प्राप्त हो चुका जान लिया जाता है। इस प्रकार पृथिवीकायिक, जलकायिक, आदि स्थावर जीवोंका सूत्रकार द्वारा प्रतिपादन करना युक्तियोंसे सहित है।

के पुनर्विशेषतस्त्रसा इत्याह ।

श्री उमास्वामी महाराजने संसारी जीवोंके त्रस और स्थावर ये दो भेद कहे थे, उनमेंसे स्थावर विशेषोंका वर्णन किया जा चुका है। पुनः अब ये बताओ कि विशेषरूपसे त्रस जीव कौन कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर सूत्रकार महाराज उत्तर वचन कहते हैं ।

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥ १४ ॥

दो स्पर्शन, रसना, इन्द्रियोंको धारनेवाले और स्पर्शन, रसना, घ्राण, इन तीन इन्द्रियोंको धारनेवाले आदिक जीव त्रस हैं ।

द्वे स्पर्शनरसने इंद्रिये येषां ते द्वींद्रियाः कृम्यादयस्ते आद्यो येषां ते इमे द्वींद्रियादय इति व्यवस्थावाचिनादिशब्देन तद्गुणसंविज्ञानलक्षणान्यपदार्था वृत्तिरवयवेन विग्रहो समुदायस्य वृत्त्यर्थत्वात् ।

जिन जीवोंके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां विद्यमान हैं, वे लट, जौंक, गेंडुआ, संख, सीप, आदिक द्वीन्द्रिय जीव हैं । वे द्वीन्द्रिय जीव जिन जीवोंके आदिभूत हैं वे जीव ये द्वीन्द्रिय आदिक हैं, इस प्रकार आगममें हो रही व्यवस्थाको कहनेवाले आदि शद्बके साथ अन्य पदार्थको प्रधान रखने-वाली बहुव्रीहि समास नामकी वृत्ति है । समासमें पडे हुये उन शद्बोंके गुण (अर्थ) का अच्छा विज्ञान करादेना जिस वृत्तिका स्वरूप है अथवा एक देश हो रहे अवयवके साथ समासका पूर्ववर्त्ती विग्रह कर लिया जाता है और समासवृत्तिका अर्थ समुदाय हो जाता है। भावार्थ-—समासघटित पदोंके अर्थसे अन्य अर्थको प्रधानरूपसे कहनेवाली बहुव्रीहि समास नामक वृत्ति है जैसे कि " दृष्टसागरमानय " जिसने समुद्रको देखा है ऐसे पुरुषको लाओ, यहां समासमें पडा हुआ पदका अर्थ न समुद्र लाया जाता है न देखना लाया जाता है किन्तु जो मनुष्य पहिले कभी समुद्रको देख चुका है वह पुरुष लाया जाता है, जो कि इन दो पदोंमेंसे किसीका भी अर्थ नहीं है । ऐसी दशामें जिन जीवोंके आदिमें द्वीन्द्रिय जीव हैं ऐसी वृत्ति करनेपर त्रीन्द्रिय आदि जीव तो पकड लिये जावेंगे। किन्तु द्वीन्द्रिय जीवोंका ग्रहण नहीं हो सकेगा, जैसे कि पर्वतसे आदि लेकर परली ओर देवदत्तके खेत हैं, इस वाक्यमें खेतोंमें पर्वत नहीं गिन लिया जाता है । बात यह है कि " तद्गुणसंविज्ञान " और अतद्गुण संविज्ञान " ये दो बहुव्रीहि समासके भेद हैं । जहां समासघटित पदोंका अर्थ भी वाच्य हो जाता है वह तद्गुण संविज्ञान है, जैसे कि " लम्बकर्णमानय " जिसके लम्बे कान हैं उसको लाओ, इस वाक्यके अनुसार लम्बे कानवाला मनुष्य लाया जाता है। यहां लम्बे कानका भी ले आना या ग्रहण हो जाता है । इसी प्रकार तद्गुण संविज्ञानसे (अनुसार) द्वीन्द्रिय जीवका भी अन्तर्भाव हो जाता है। द्वीन्द्रियको भी ग्रहण करनेका दूसरा उपाय यह है कि पूर्णराशिमेंसे एक अवयवके साथ

विग्रह करो और समासवृत्तिका अर्थसमुदाय कर लो। जैसे कि " सर्व " आदि शब्द सर्वनाम माने जाते हैं, यहां अकेले सर्वको कहकर सभी विश्व, उभ, उभय, आदिका संग्रह हो जाता है। " सर्वपद " छोड़ नहीं दिया जाता है। " जम्बूद्वीप लवणोदादयः " इस सूत्रमें भी ये ही उपाय करने पड़ेंगे।

ते च प्रमाणतः सिद्धा एवेत्याह।

तथा वे त्रसजीव तो प्रमाणोंसे सिद्ध ही हो रहे हैं, इसी बातको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा कहते हैं।

त्रसाः पुनः समाख्याताः प्रसिद्धा द्वीन्द्रियादयः।
इत्येवं पंचभिः सूत्रैः सर्वसंसारिसंग्रहः॥ १॥

स्थावर जीवोंसे न्यारे फिर त्रसजीव तो भले प्रकार व्याख्यान किये जा चुके द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, आदिक प्रसिद्ध ही हैं। बालक, बालिका, भी दो इन्द्रियवाले लट, सीप, जोंक, आदिको जान रहे हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, इन तीन इन्द्रियोंको रखनेवाले चींटी, बिच्छू, खटमल, लीख, जूंआ, दीमक, आदि प्रसिद्ध हैं। स्पर्शन, रसना, नाक, आंखे इन चार इन्द्रियोंके धारी भौंरा, पतंगा, मक्खी, बर्र, झींगुर, मकड़ी आदि विख्यात हैं। पशु, पक्षी, मनुष्य, देव, ये सब पांचों इन्द्रियोंको लिये हुये हैं। इनके कान भी विद्यमान हैं। यहांतक " संसारिणो मुक्ताश्च " समनस्काऽमनस्काः, संसारिणस्त्रसस्थावराः, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः, द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः, इस प्रकार पांच सूत्रों करके सम्पूर्ण संसारी जीवोंका संग्रह सूत्रकारने कर लिया है। गुणस्थान या मार्गणाओं द्वारा किये गये भेद, प्रभेदोंका इन्हींमें अन्तर्भाव हो जाता है।

विग्रहगत्यापन्नस्य संसारिणोऽसंग्रह इति चेन्न, तस्यापि त्रसस्थावरनामकर्मोदयरहितस्यासंभवात् तद्वचनेन संगृहीतत्वात्। सोपि नैकेंद्रियत्वं द्वींद्रियादित्वं वातिक्रामति मुक्तत्वप्रसंगात्। ततो भवत्येव पंचभिः सूत्रैः सर्वसंसारिसंग्रहः।

कोई शंका करता है कि एक शरीरको छोडकर दूसरे शरीरके ग्रहण करनेके लिये हुयी विग्रहगतिको प्राप्त हो रहे संसारी जीवका संग्रह नहीं हो पाया है। क्योंकि इन्द्रियोंकी शक्ति पूर्णता या चार, छह, आदि प्राणोंकी प्राप्ति तो दूसरा शरीर ग्रहण कर चुकनेपर होगी। तभी त्रस या स्थावरका व्यवहार शोभता है। आचार्य कहते हैं कि यों नहीं कहना। कारण कि उस नवीन शरीरको ग्रहण करनेके लिये उद्यम कर रहे कार्मणकाय योगवाले जीवके भी त्रस नामकर्म और स्थावरनामकर्मका उदय विद्यमान है। पूर्व शरीरका सम्बन्ध छूटते ही जीवके उत्तरभवकी आयुके उदयके साथ त्रस या स्थावर इनमेंसे किसी भी एक प्रकृतिका उदय अवश्य हो जाता है। त्रस और स्थावर नामकर्मके उदयसे रहित हो रहे किसी भी संसारी जीवका जगत्में असम्भव है। अतः उस त्रस या स्थावरके वचन करके

विग्रह गतिवाले जीवका संग्रह कर लिया जाता है। पहिला शरीर छूट चुका है और दूसरा नोकर्म शरीर अभीतक गृहीत नहीं हुआ है, ऐसी बीचकी विग्रहगतीमें ज्ञानावरणका क्षयोपशम विद्यमान होनेसे लब्धिरूप इन्द्रियां हैं। इन्द्रियजन्य मति, श्रुतज्ञान भी हैं। अतः वह जीव भी एक इन्द्रिय धारीपन या दो इन्द्रिय धारकपनका अतिक्रमण नहीं कर पाता है। यदि विग्रहगतिमें इन्द्रियां न मानी जायगीं तो उस जीवको मुक्तपनेका प्रसंग हो जावेगा। " णवि इन्दियकरण जुदा " इन्द्रियोंसे रहित तो सिद्ध भगवान् ही हैं। इन्द्रियसहितपन या त्रसस्थावरपनका व्यवहार तो संसारी जीवोंमें ही है। तिस कारणसे उक्त पांच सूत्रोंकरके यहां सम्पूर्ण संसारी जीवोंका संग्रह हो जाता ही है।

न कानिचिदिंद्रियाणि नियतानि संति यत्संबंधादेकेंद्रियादयो व्यवतिष्ठंत इत्याशंकां निराकर्तुकामः सूरिरिदमाह।

किसीकी शंका है कि इन्द्रियां कितनी हैं? यह कोई नियत व्यवस्था नहीं है। पांच, छह, ग्यारह, भी इन्द्रियां मानी जा रही हैं अथवा कोई भी इन्द्रियां क्रमसे नियत नहीं हैं। जिनके कि सम्बन्धसे एक इन्द्रियवाले या दो इन्द्रियवाले आदिक जीव आगम अनुसार व्यवस्थित हो जावें? इस प्रकार हुयी आशंकाका निराकरण करनेके लिये अभिलाषा रख रहे श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

पंचेंद्रियाणि ॥ १५ ॥

इन्द्रियां पांच ही हैं अर्थात्–पहिले सूत्रमें द्वीन्द्रियको आदि लेकर त्रसजीवोंका निर्देश किया था। इन्द्रियोंकी अंतिम संख्या नहीं बतलाई थी जिनको कि अधिकसे अधिक धारण कर वहांतकके जीव " त्रस " समझ लिये जांय? अतः इन्द्रियोंकी संख्याके परिमाणको नियत करते हुये श्री उमास्वामी आचार्य पांच इन्द्रियोंका निरूपण करते हैं। वे स्पर्शन आदिके क्रमसे व्यवस्थित हो रही पांच हैं।

संसारिणो जीवस्य संतीति वाक्यार्थः। किं पुनरिंद्रियं? इंद्रेण कर्मणा सृष्टमिंद्रियं स्पर्शनादींद्रियनामकर्मोदयनिमित्तत्वात्। इंद्रस्यात्मनो लिंगमिंद्रियं इति वा कर्ममलीमसस्यात्मनः स्वयमर्थानुपलब्धुमसमर्थस्य हि यदर्थोपलब्धौ लिंगं निमित्तं तदिंद्रियमिति भाष्यते।

" संसारिणः " इस पदकी अनुवृत्ति कर संसारी जीवके पांच इन्द्रियां हो सकती हैं, इस प्रकार इस सूत्रके वाक्यका अर्थ हो जाता है। यहां, किसीका प्रश्न है कि फिर इन्द्रिय पदार्थ क्या है? वैशेषिकोंने तो " शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वम् इन्द्रियत्वम् " ऐसा लक्षण बांधा है। अब इस विषयमें जैन सिद्धान्त क्या है? सो बताओ। श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं कि परमशक्तिशाली इन्द्र अर्थात् पौद्गलिक कर्म करके जो रची जाय वह इन्द्रिय है। यह " तेन

निर्वृत्तं " इस सूत्र द्वारा घ प्रत्यय कर शद्बनिरुक्तिसे अर्थ निकलता है। गति नामकर्म या अंगोपांग नामकर्मकी उत्तरोत्तरभेदवाली विशेष प्रकृति हो रहीं स्पर्शन, रसना, आदि इन्द्रियनामक नामकर्मके उदयको निमित्त पाकर स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियां बन जाती हैं। यहां नामकर्म निमित्त हेतु है और इन्द्रियां हेतुमान् कार्य हैं अथवा आत्मा ही अनन्त शक्तियोंको धार रहा परमेश्वर इंद्र है। उस आत्माका ज्ञापक लिंग इन्द्रिय है। इस निरुक्तिका भाष्य इस प्रकार है कि कर्म सम्बन्धसे मलिन हो रहे और इसी कारण स्वयं अकेले ही अर्थोंको ग्रहण करनेके लिये असमर्थ हो रहे आत्माको अर्थकी उपलब्धि करनेमें जो निमित्त हेतु है वह इन्द्रिय है, अर्थात्—उपभोक्ता आत्मा अनन्तशक्तियोंसे भरपूर है। स्वाभाविक अवस्था प्राप्त हो जानेपर पदार्थोंके जाननेमें उसको किसी अन्य सहायककी अपेक्षा नहीं है। फिर भी कर्मोंके आघात करके अधिक मलिन हो रहा आत्मा स्वयं अकेला पदार्थोंकी उपलब्धि नहीं कर सकता है। यों उसके सहायक कारणोंको इन्द्रिय कहते हैं। सम्भव है स्वामी समन्तभद्र आचार्यकृत गन्धहस्तिमहाभाष्यमें यों इन्द्रियशब्दका निर्वचन किया गया होय। " ऐतिह्यान्वेषका विद्वान्सो मार्गयन्तु "।

नन्वेवमात्मनोर्थज्ञानमिंद्रियलिंगादुपजायमानमनुमानं स्यात्। तथायुक्तं। लिंगस्यापरिज्ञानेनुमानानुदयात्। तस्यानुमानांतरात्परिज्ञानेऽनवस्थानुषंगादिति कश्चित्। तदसत्। भावेंद्रियस्योपयोगलक्षणस्य स्वसंविदितत्वात्तदवलंबिनोर्थज्ञानस्य सिद्धेः। न चैतदनुमानं परोक्षविशेषरूपं, विशदत्वेन देशतः प्रत्यक्षत्वविरोधात्। परोक्षसामान्यमन्यत्तु मुख्यतस्तादिष्टमेव परप्रत्ययापेक्षस्य परोक्षत्ववचनात्।

यहां कोई शंका उठाता है कि इस प्रकार तो आत्माके उत्पन्न हो रहा पदार्थोंका ज्ञान तो इन्द्रिय नामक लिंगसे उत्पन्न होनेके कारण अनुमान हो जायगा। और वह मानना तो युक्त नहीं है। क्योंकि इन्द्रियां अतीन्द्रिय हैं। पौद्गलिक बाह्य निर्वृत्ति ही इन्द्रिय है जिसका कि इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। ज्ञापक हेतुका परिज्ञान नहीं होनेपर अनुमानकी उत्पत्ति नहीं होपाती है। यदि उस अतीन्द्रिय इन्द्रिय हेतुको पुनः साध्य बनाकर अनुमानान्तरसे परिज्ञान करोगे तब तो उस हेतुको भी जाननेके लिये तीसरे, चौथे आदि हेतुओंकी कल्पना करते करते अनवस्था दोषका प्रसंग होगा, यहांतक कोई कटाक्ष कर रहा है। आचार्य कहते हैं कि यह कथन प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि " लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् " उपयोगस्वरूप भावइन्द्रियां स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष द्वारा प्रत्यक्ष कर ली जा चुकी हैं। अतः उन प्रत्यक्ष की जाचुकीं इन्द्रियोंका जनकपनेसे अवलम्ब लेनेवाले पदार्थज्ञानकी सिद्धि हो जाती है। आत्मा और भावेन्द्रियां अभिन्न हैं। अतः पर्याय और पर्यायीकी भेद विवक्षा कर इन्द्रिय द्वारा हुआ अर्थज्ञान अनुमान नहीं कहा जा सकता है। वह विशद हो रहा प्रत्यक्ष है। जहां साध्यसे भिन्न मान लिये गये हेतुसे व्याप्तिस्मरणपूर्वक अविशद साध्य

ज्ञान होता है, वह अनुमान कहा जाता है, अर्थको जाननेमें इन्द्रियां निमित्त हो रहीं कारक हेतु हैं। ज्ञापक हेतु नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि यह कोई कोई अनुमान जैनसिद्धान्त अनुसार विशेषरूपसे परोक्षज्ञान स्वरूप ही नहीं है। एकदेशसे विशदपना होनेसे अनुमानको प्रत्यक्ष-पनेका कोई विरोध नहीं है। अर्थसे अर्थान्तरको जान लेना रूप परार्थानुमान भले ही सर्वथा परोक्ष होवे। किन्तु आभिनिबोधरूप स्वार्थानुमान तो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी हो सकता है। हां, सामान्य-रूपसे परोक्ष हो रहे अन्य अनुमान ज्ञानोंको तो मुख्यरूपसे वह परोक्षपना हम स्याद्वादियोंके यहां अभीष्ट ही किया गया है। क्योंकि जो अपनी उत्पत्तिमें अन्य ज्ञानोंकी अपेक्षा रखता है उस ज्ञानको परोक्षपना कहा गया है। पहिले प्रकरणोंमें भी इसका विचार हो चुका है।

कथं पुनः पंचैवेंद्रियाणि जीवस्येत्याह।

कोई जिज्ञासु पूंछता है कि आचार्य महाराज! फिर यह बताओ कि जीवके पांच ही इन्द्रियां हैं, यह सिद्धान्त किस प्रकार प्रमाणसिद्ध माना जावे ? ऐसी अभिलाषा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

पंचेंद्रियाणि जीवस्य मनसोनिंद्रियत्वतः।
बुद्ध्यहंकारयोरात्मरूपयोस्तत्फलत्वतः॥ १॥
वागादीनामतो भेदासिद्धेर्धीसाधनत्वतः।
स्पर्शादिज्ञानकार्याणामेवंविधविनिर्णयात्॥ २॥

संसारी जीवके इन्द्रियां पांच ही हैं। क्योंकि द्रव्यमन तो अनिन्द्रिय है तथा बुद्धि और "अहं अहं" मैं मैं इस प्रतीतिका उल्लेख करनेवाला अहंकार भी तो आत्मास्वरूप है। वे बुद्धि और अहंकार तो इन्द्रिय और मनके कार्य हो रहे फल हैं। हां, वचन बनानेवाले अवयव (जबां) हाथ, पांव, आदिक अवयवोंको इस स्पर्शन इन्द्रियसे भिन्न मानना असिद्ध है ज्ञानका साधन होनेसे स्पर्श, रस, आदिके ज्ञानोंको कार्य बना रहीं स्पर्शन आदि इन्द्रियोंका ही इस प्रकार पांच भेद रूपसे शेषतया निर्णय किया गया है। कर्मेन्द्रियां मानीं गयीं वाक् आदिक भले ही क्रियाओंकी साधन हो जांय, किन्तु ज्ञानको करानेमें उन वाक् आदिका कोई उपयोग नहीं है। तभी तो ज्ञान इन्द्रियां पांच ही मानी गयीं हैं।

न हि मनः षष्ठमिंद्रियं तस्येंद्रियवैधर्म्यादनिंद्रियत्वसिद्धेः। नियतविषयाणींद्रियाणि, मनः पुनरनियतविषयमिति तद्वैधर्म्यं प्रसिद्धमेव। करणत्वादिंद्रलिंगत्वादिंद्रियं मन इति चेत्, तदत्र धूमादिनानेकांतात्। तदपि हि करणमात्मनोर्थोपलब्धौ लिंगं च भवति न चेंद्रियमिति। बुद्ध्यहंकारयोरिंद्रियत्वान्न पंचैवेंद्रियाणीति चेत् न, तयोरात्मपरिणामयोरिंद्रियानिंद्रियफलत्वात्।

सूत्रकार द्वारा स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कान, इन पांच इन्द्रियोंका कथन कर चुकनेपर कोई विचारशाली पुरुष अपने मनमें खटका उत्पन्न करता है कि छठी इन्द्रिय मन भी तो है, आचार्य कहते हैं कि सो नहीं समझना। क्योंकि पांच इन्द्रियोंसे विधर्मापन होनेके कारण मनको इन्द्रिय भिन्न अनिन्द्रियपना सिद्ध है। पांच इन्द्रियोंके विषय स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द ये नियत हो रहे हैं। किन्तु फिर मनका विषय कोई नियत नहीं है। सभी विषयोंमें मनकी प्रवृत्ति योग्यतानुसार मानी गयी है। इस कारण " नोइन्द्रियं अनिन्द्रियं, न्या न इन्द्रियं " यों इन्द्रियका ईषत् प्रतिषेध करनेसे उन इन्द्रियोंका विधर्मपना मनमें प्रसिद्ध हो ही जाता है। यदि कोई यों कहे कि अर्थकी उपलब्धि करनेमें कर्ता आत्माका कारण होनेसे मन छठा इन्द्रिय मान लेना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि वह करणत्व या इन्द्रियलिंगत्व हेतु तो यहां धूम, शब्द, आदिक करके व्यभिचार दोष हो जानेसे आदर नहीं पावेंगे। देखिये, वे धूम आदिक भी आत्माको अर्थकी उपलब्धि करनेमें साधकतम हो रहे करण हैं और ज्ञापक हेतु भी हैं। किन्तु वे इन्द्रिय नहीं हैं। हेतु रह गया साध्य नहीं रहा अतः व्यभिचारदोष आया। फिर भी कोई कहे कि बुद्धि और अहंकारको इन्द्रियपना होनेसे पांच ही इन्द्रियां नहीं रहीं, सात हो गयीं, ग्रन्थकार कहते हैं कि यों तो नहीं समझ बैठना। कारण कि आत्माके परिणाम हो रहे वे बुद्धि और अहंकार तो इन्द्रिय और अनिन्द्रियके फल हैं। विचारमें प्राप्त हो रहीं इन्द्रियां जड होती हुयीं, करण हैं। यों महान् अन्तर है।

वाक्पाणिपादपायूपस्थानां कर्मेंद्रियत्वात्र पंचैवेत्यप्ययुक्तं, तेषां स्पर्शनांतर्भावात्। तत्रानंतर्भावेतिप्रसंगात्।

कपिल मतानुयायीकी शंका है कि वचनक्रियाका निमित्त हो रही वाक् इन्द्रिय, हाथ, पांव, गुदास्थान, जननेन्द्रिय ये पांच कर्मेन्द्रिय भी हैं। अतः पांच ही इन्द्रियां नहीं हुयीं, ग्यारह हो गयीं। श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि सांख्योंका यह कहना भी अयुक्त है। क्योंकि उन कर्मेन्द्रियोंका स्पर्शन इन्द्रियमें अन्तर्भाव हो जाता है। हाथ, पग, आदि सब त्वचाके अवयव हैं। यदि हाथ, पैर, आदिका उस त्वचा इन्द्रियमें अन्तर्भाव नहीं करोगे तो अतिप्रसंग हो जायगा अर्थात्—कर्म यानी क्रियाओंको करनेवाले ओठ, अंगुली, नितंब, सिर, मोयें, ग्रीवा, आदिको भी पृथक् इन्द्रियां मानना पडेगा, जो कि हम तुम किसीको भी इष्ट नहीं है।

पंचानामेव बुद्धिसाधनत्वाचेंद्रियाणां पांचविध्यनिर्णयः कर्तव्यः स्पर्शादिज्ञानकार्याणि हि तानि। तथाहि—स्पर्शादिज्ञानानि करणसाधनानि क्रियात्वादिंद्रियक्रियावत्। स्वसंवित्तिक्रिययानेकांत इति चेन्न, तस्या अपि समनस्कानामंतःकरणकारणत्वात् परेषां स्वशक्तिविशेषकरणत्वात्। न चैकत्रात्मनि कर्तृकरणरूपविरोधः प्रतीतिसिद्धत्वादिति निरूपितं प्राक्। ततः स्पर्शादिज्ञानेभ्यः कार्यविशेषेभ्यः पंचभ्यः पंचेन्द्रियाणीति सामर्थ्यात् मनोनिंद्रियं षष्ठमिति सूत्रकारेण निवेदितं भवति। तेनैतेर्व्यवस्थितैर्योगा द्वित्रिचतुःपंचेंद्रियाः संज्ञिनश्च त्रसा इति निश्चीयते।

दूसरी बात यह है कि यहां उपयोगका प्रकरण है। अतः बुद्धिको साधनेवालीं होनेसे पांच ही ज्ञानेन्द्रियां हैं। तुमको भी बुद्धि इन्द्रियोंके पांच प्रकारपनका निर्णय करना होगा वे पांच ही इन्द्रियां स्पर्श, आदि पांच विषयोंके ज्ञानस्वरूप कार्योंको करती हैं। उसीको स्पष्ट कर यों कहा जाता है। स्पर्श, रस, आदिके ज्ञान (पक्ष) करणसे साधे गये कार्य हैं (साध्य) क्रिया होनेसे (हेतु) इन्द्रियोंकी क्रियाके समान (अन्वयदृष्टांत)। कोई इस अनुमानमें दोष उठाता है कि ज्ञानकी स्वयं अपने आप संविति हो जाती है। किसी अन्य करणकी आवश्यकता नहीं है। यों स्वसंविति क्रियामें क्रियात्व हेतु तो रह गया, किन्तु करणसे साधन होना यह साध्य नहीं रहा। अतः हेतुका व्यभिचारदोष हुआ। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि ज्ञान स्वयंको अपने आप जानता है। उस स्वसंविति क्रियाकी भी मनवाले जीवोंके यहां अन्तरंग करण हो रहे मन इन्द्रिय को कारण मानकर उत्पत्ति हो रही है। हां, दूसरे मनरहित जीवोंके अपनी शक्तिविशेषको करण मान कर ज्ञानका स्वयं सम्वेदन हो जाता है, अर्थात्—मनवाले जीवोंके ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा आदि चेतनात्मक पदार्थोंका ज्ञान तो नोइन्द्रियमनसे होता है और एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों-तक ज्ञान, सुख, वेदना, इच्छा आदिका ज्ञान उस अन्तरंग विशेष क्षयोपशमरूप करणशक्तिसे उपज जाता है। वह करणशक्ति आत्मासे अभिन्न हो रही आत्माका ही परिणाम है। एक आत्मामें कर्तापनका और करणस्वरूप इन दो धर्मोके ठहरनेका विरोध नहीं है। क्योंकि प्रतीतियोंसे एकमें कई स्वभावोंका स्थित रहना सिद्ध होचुका है। अग्नि अपने दाहपरिणाम करके ईंधनको जलाती है, दीपक अपनी प्रभासे प्रकाश रहा है, वृक्ष अपने बोझसे आप ही झुक गया है, यहां परिणाम और परिणा-मीकी भेदविवक्षासे कर्तापन और करणपन एक ही पदार्थमें ठहर जाता है। इस बातको हम पहिले प्रकरणमें विस्तारपूर्वक कह चुके हैं। तिस कारणसे सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज करके यह सिद्धांत निवेदन कर दिया गया हो जाता है कि इन्द्रियोंके विशेषरूप करके कार्य हो रहे स्पर्श आदि सम्बन्धी पांच ज्ञानोंसे पांच इन्द्रियां जान ली जाती हैं तथा पूर्वापर सूत्रोंकी सामर्थ्यसे छठा अवस्थित होनेसे अनिन्द्रिय कहा जानेवाला मन भी इन्द्रिय है। तिस कारण जीवोंका इन व्यवस्थाको प्राप्त हो चुकीं पांच इन्द्रियोंकरके सम्बन्ध हो जाता है। दो इन्द्रियोंका योग हो जानेसे सीप, शंख आदि दो इन्द्रिय जीव जान लिये जाते हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, तीन इन्द्रियोंके योगसे जूआं, खटमल आदि त्रीन्द्रिय जीव हैं। उक्त तीन इन्द्रियोंमें चक्षुको मिला देनेसे भौंरा, मक्खी, आदिक चतुरिन्द्रिय प्राणी हैं। त्वचा, जिह्वा, नाक, आंखें, कान, इन पांचों इन्द्रियोंके सम्बन्धसे छोटी छोटी मेंडकी, मछली, आदि असंज्ञी पंचेंद्रियजीव हैं। पांचों वे और छठे मनको धार रहे घोडा, बैल, तोता, मैना, मनुष्य आदि संज्ञी पंचेंद्रिय जीव हैं। ऐसा युक्ति, आगम, अनुभव और प्रत्यक्ष प्रमाणसे निश्चय किया जा रहा है।

तानि पुनरिंद्रियाणि पौद्गलिकान्येकविधान्येवेति कस्याचिदाकूतमपाकुर्वन्नाह ।

ये पांच इन्द्रियां फिर जड पुद्गलसे ही निर्मित की गयीं हैं। आत्म परिणामरूप नहीं है तथा वे एक प्रकार ही हैं, इस प्रकार हुये किसी वैशेषिक या अन्य तटस्थ पण्डितकी कुचेष्टाका निराकरण कर रहे, सन्ते श्री उमास्वामी आचार्य आर्हत सिद्धान्तको अग्रिमसूत्र द्वारा स्पष्ट कहते हैं।

द्विविधानि ॥ १६ ॥

वे पांचों भी इन्द्रियां द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय इन भेदोंसे प्रत्येक दो प्रकारवाली हैं।

द्विः प्रकाराणीत्यर्थः प्रकारवाचित्वाद्विधशब्दस्य। शक्तींद्रियाणि व्यक्तींद्रियाणि चेति द्विविधानि केचिन्मन्यते, मूर्तान्यमूर्तानि चेत्यपरे। सूत्रकारास्तु द्रव्येंद्रियाणि भावेंद्रियाणि चेति चेतसि निधायैवमाहुः।

विध शब्दके विधान, प्रकार, युक्त, गत ऐसे कई अर्थ होते हैं। किन्तु इस सूत्रमें प्रकार अर्थको कहनेवाले विध शब्दका ग्रहण किया गया है। अतः प्रत्येक इन्द्रियां दो दो प्रकारवाली हैं। यह वाक्यका अर्थ हो जाता है। कोई मीमांसक यों मान रहे हैं कि शक्तिरूप इन्द्रियां और व्यक्तिरूप इन्द्रियां इस ढंगसे इन्द्रियोंके दो प्रकार हैं अथवा दूसरे कोई पण्डित मूर्त इन्द्रियां और अमूर्त इन्द्रियां इस प्रकार इन्द्रियोंके दो भेद बखान रहे हैं। कान, आकाशस्वरूप होनेसे अमूर्त हैं शेष चार इन्द्रियां और मन मूर्त हैं, किन्तु यहां तत्त्वार्थसूत्रको बनानेवाले श्री उमास्वामी महाराज तो प्रत्येक इन्द्रियां द्रव्य इन्द्रियस्वरूप और भाव इन्द्रिय स्वरूप हैं, इस प्रकार चित्तमें धारण कर इस " द्विविधानि " सूत्रको कह रहे हैं। अर्थात्—किन्हीं वैशेषिक या अन्य विद्वानोंके मतका हम विरोध नहीं करते हैं। लब्धिरूप शक्ति इन्द्रिय और व्यक्ति रूप उपयोग अथवा शक्तिरूप इन्द्रियावच्छिन्न आत्मप्रदेश और पौद्गलिक रचनास्वरूप व्यक्त इन्द्रिय हमको भी अभीष्ट हैं। इन्द्रियोंके मूर्त अमूर्त भेदोंका भी हम तिरस्कार नहीं करते हैं। लब्धि, उपयोग, ये भावेन्द्रियां और आत्म प्रदेशरूप निर्वृत्तिको जैन सिद्धान्तमें अमूर्त माना गया है। हां, उन आत्म प्रदेशोंपर रचे गये इन्द्रियाकार पौद्गलिक परिणामको मूर्त इन्द्रिय इष्ट किया है। किन्तु ये और इनसे न्यारे अन्य भी भेद, प्रभेद, इन्हीं दो द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय भेदोंमें गतार्थ हो जाते हैं। सूत्रकारका यह अभिप्राय ध्वनित हो रहा है।

यद्येवं कानि द्रव्येंद्रियाणीत्याह।

कोई प्रश्न करता है कि यदि इस प्रकार द्रव्येंद्रिय और भावेन्द्रिय दो भेद हैं, तो इन्द्रियोंका पहिला भेद द्रव्येन्द्रियां कौन हैं? बताओ। ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज समाधान-कारक सूत्रको कहते हैं।

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येंद्रियम् ॥ १७ ॥

पौद्गलिक कर्मको प्रेरक निमित्त पाकर कर्त्ता आत्मा जिस आत्मसम्बन्धी या पुद्गलसम्बन्धी परिणामको बनाता है वह निर्वृत्ति है तथा निर्वृत्तिका उपकार करनेवाला उपकरण होता है। यों निर्वृत्ति और उपकरण यों दो दो भेदस्वरूप पांचों द्रव्येन्द्रियां हैं।

निर्वर्त्यत इति निर्वृत्तिः सा द्वेधा बाह्याभ्यंतरभेदात्। तत्र विशुद्धात्मप्रदेशवृत्तिरभ्यंतरा तस्यामेव कर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयो बाह्या।

अप्रेरक निमित्त हो रहे आत्मा कर्त्ताको परवश करनेवाले प्रेरक निमित्त नाम कर्म करके आत्म पुरुषार्थ द्वारा जो आत्मा या पुद्गलकी परिणतियां बनवाई जाती हैं वे निर्वृत्तिस्वरूप इन्द्रियां हैं। इस प्रकार अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव, दोषोंका निवारण करनेवाले कई विशेषणोंको लगाकर निर्वृत्ति शब्दकी निरुक्तिसे निर्दोष अर्थ निकाल लिया गया है। वह निर्वृत्ति बाह्य और अभ्यंतर भेदोंसे दो प्रकार है। तिन दो प्रकारोंमें विशुद्ध आत्माके प्रदेशोंका वर्त्तना तो अभ्यन्तर निर्वृत्ति है। और उन आत्मप्रदेश स्वरूप अभ्यन्तर निर्वृत्तिमें ही कर्मोंके उदयसे विशेष अवस्थाको प्राप्त कराया गया पुद्गल पिण्ड तो बाह्यनिर्वृत्ति है। अर्थात्—अंगुलके असंख्यातवें भाग या संख्यातवें भाग अथवा संख्यात घनांगुल परिमित विशुद्ध आत्मप्रदेशोंकी चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, त्वचा, स्वरूप रचना हो जाना अभ्यन्तर निर्वृत्ति है। यह जीवतत्त्व आत्मक पदार्थ है तथा योग द्वारा ग्रहण की गयीं आहारवर्गणाओंमेंसे शरीर और श्वासोच्छ्वासके उपयोगी द्रव्यसे शेष बचे हुये स्वल्प बढिया पुद्गल द्रव्यकी मसूर, यवनाली, तिलपुष्प, (या धतूर पुष्प,) खुरपा अथवा अपने अपने शरीर अनुसार अनेक प्रकार स्पर्शन इन्द्रिय आकृति ऐसी रचनाको धार रहा पुद्गल प्रचय तो बाह्यनिर्वृत्ति है। यह पुद्गल तत्त्व है, जैसे कि आंखोंके भीतर इन्द्रिय आकारवाले आत्माके चेतन प्रदेश आंखइन्द्रियकी अभ्यन्तर निर्वृत्ति है। और उन आत्मप्रदेशोंपर उपादान कारण आहारवर्गणाद्वारा इन्द्रिय पर्याप्तिस्वरूप आत्मपुरुषार्थ द्वारा बना दिया गया मसूर सारिखा अतीन्द्रिय पुद्गल विवर्त तो आंखकी बाह्य निर्वृत्ति है। यह द्रव्येन्द्रिय अतीन्द्रिय है। अन्य दर्शनोंमें प्रायः यही इन्द्रिय बखानी गयी है। शेष इन्द्रिय भेदोंकी गहराईतक वे नहीं पहुंच पाये हैं।

उपक्रियतेनेनेत्युपकरणं। तदपि द्विविधं बाह्याभ्यंतरभेदात्। तत्र बाह्यं पक्ष्मपुटादि, कृष्णसारमंडलाद्यभ्यंतरं। निर्वृत्तिश्चोपकरणं च निर्वृत्युपकरणे द्रव्येंद्रियमिति जात्यपेक्षयैकवचनं।

जिस अवयव करके विशेष आत्म प्रदेश और विशेष पुद्गल रचनास्वरूप निर्वृत्तिका उपकार किया जाता है वह उपकरण इन्द्रिय है। वह उपकरण भी बाह्य और अभ्यन्तर भेदसे दो प्रकारका है। उनमें बाह्य उपकरण तो नेत्रइन्द्रियके दोनों पलक, रोमावली, आदि हैं तथा नेत्रके भीतरका शुक्ल भाग और उसके भी बीचमें पडा हुआ गोल काला या तिल अंश ये सब नेत्र इन्द्रियके अभ्यन्तर उप-करण हैं। कृष्णसारका अर्थ चक्षुर्गोलक किया जाय। निर्वृत्ति और उपकरण यों इतरेतर योग द्वन्द्व करने

पर निर्वृत्ति और उपकरण ये दो द्रव्येन्द्रिय हैं। यों जातिकी अपेक्षा द्रव्येन्द्रिय शब्दमें एक वचन कह दिया गया है। अन्यथा निर्वृत्ति और उपकरण इस द्विवचनान्त उद्देश्य दलका सामानाधिकरण होनेसे द्विवचन " द्रव्येन्द्रिये " कहना चाहिये था। अथवा पांचों इन्द्रियोंको द्रव्येन्द्रियकी विधि करनेकी अपेक्षा द्रव्येन्द्रियाणि यह बहुवचनपद प्रयोग उपयोगी पडता। किन्तु जाति शब्द मानकर एक वचन कह देनेसे सभी प्रयोजन सिद्ध होजाते हैं। गेंहू मन्दा है, चना तेज है, यहां जातिमें एक वचनका प्रयोग है। वैसा ही सूत्रमें जान लेना।

कुतः पुनस्तानि प्रतिपद्यंत इत्याह।

वे निर्वृत्ति और उपकरणस्वरूप इन्द्रियां फिर किस प्रमाणसे जानलीं जातीं हैं? बताइये, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

द्विविधान्येव निर्वृत्तिस्वभावान्यनुमिन्वते।
सिद्धोपकरणात्मानि तच्च्युतौ तद्विदश्च्युतेः॥ १॥

बाह्य, अभ्यन्तर, निर्वृत्ति स्वरूप और प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे सिद्ध हो रहे बहिरंग अन्तरंग उपकरण स्वरूप दो प्रकारकी ही इन्द्रियोंको विद्वान् अनुमान द्वारा जान रहे हैं, यहां व्यतिरेक घट जाता है। यदि उन इन्द्रियोंकी च्युति कर दी जायगी तो उन निर्वृत्ति और उपकरणसे उत्पन्न हुई संवित्तिओं-की भी च्युति हो जायगी।

बाह्याभ्यंतरोपकरणेंद्रियाणि तावत्प्रसिद्धान्येव तद्व्यापारान्वयव्यतिरेकानुविधायिनां स्पर्शादिज्ञानानामुपलंभात्। बाह्याभ्यंतरनिर्वृत्तिस्वभावानि चेंद्रियाणि तत एवानुमीयंते व्यापारवत्स्वप्युपकरणेंद्रियेषु विषयालोकमनस्सु च संनिहितेषु सत्स्वपि च भावेंद्रिये कदाचित्स्पर्शादिज्ञानानुत्पत्तेरन्यथानुपपत्तेस्तच्च्युतावेव तद्विदश्च्युतिसिद्धेः।

सबसे प्रथम बाह्य उपकरण और अभ्यन्तर उपकरण स्वरूप इन्द्रियां तो बालक बालिकाओं, पशु पक्षियों, तकको प्रसिद्ध हो ही रहीं हैं। क्योंकि उन बहिरंग, अन्तरंग, उपकरणोंके व्यापारके साथ अन्वय, व्यतिरेकका अनुविधान करनेवाले स्पर्श, रस, आदि ज्ञानोंकी उपलब्धि हो रही है। कारणके होनेपर कार्यका होना अन्वय है और नियत किये जानेवाले कारणके विना कार्यका न होन व्यतिरेक है। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्दके ज्ञानोंका उपकरण इन्द्रियोंके साथ अन्वयव्यतिरेक बन रहा है। आत्माको अर्थकी उपलब्धि करनेमें जो निमित्तकारण पडेगा वह इन्द्रिय है। यह लक्षण पहिले बांधा जा चुका है। तथा तिस ही हेतुसे यानी स्पर्श, आदिके ज्ञानोंकी अन्यथानुपपत्ति होनेसे ही बाह्यनिर्वृत्ति और अभ्यन्तरनिर्वृत्ति स्वरूप इन्द्रियोंका भी अनुमान कर लिया जाता है। देखिये, व्यापारको धार रहीं भी उपकरण इन्द्रियोंके होनेपर और स्पर्श, स्पर्शवान्, रस, रसवान्

आदि विषयोंको जाननेके लिये उत्सुक हो रहे मनके सन्निहित होनेपर भी तथा लब्धिस्वरूप भावेंद्रियके होते हुये भी कभी कभी स्पर्श आदिके ज्ञान नहीं उपज पाते हैं। वह ज्ञानकी अनुत्पत्ति अन्यथा यानी निर्वृत्तिस्वरूप इन्द्रियोंको माने विना नहीं बन पाती है। अतः निर्वृत्ति स्वरूप इन्द्रियोंकी च्युति होनेपर ही उन स्पर्श आदिके ज्ञानोंकी च्युति हो जाना सिद्ध है। इस प्रकार अविनाभावी हेतुसे निर्वृत्ति इन्द्रियां सिद्ध कर दी गयी हैं। पांचों इन्द्रियोंमें और मनमें भी दोनों प्रकारके निर्वृत्ति और उपकरणोंको समझ लेना चाहिये।

कानि पुनर्भावेन्द्रियाणीत्याह।

दो प्रकारकी इन्द्रियोंमें पिछली भावेन्द्रियां फिर कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥

लब्धि और उपयोग स्वरूप भावेंद्रियां हैं। भावार्थ—पांचों इन्द्रियां और छठे मनके भावेंद्रिय रूपसे प्रत्येकके लब्धि और उपयोग ये दो दो भेद हो रहे हैं।

इन्द्रियनिर्वृत्तिहेतुः क्षयोपशमविशेषो लब्धिः तन्निमित्तः परिणामविशेष उपयोगः लब्धिश्चोपयोगश्च लब्ध्युपयोगौ भावेंद्रियमिति जात्यपेक्षयैकवचनं।

द्रव्य इन्द्रियोंकी निर्वृत्ति (बनाने) का निमित्त कारण हो रहा क्षयोपशम विशेष तो लब्धि है। अर्थात्—ज्ञानावरण कर्मोंके क्षयोपशमसे हुयी विशुद्धि द्वारा आत्मा द्रव्येंद्रियोंका सम्पादन करता है। जिस आत्माके पास स्पर्शन इन्द्रियावरण कर्मका क्षयोपशम होगा उस आत्माके केवल एक ही स्पर्शन द्रव्य इन्द्रिय बनेगी। मनुष्य जीवके विग्रहगतिमें छऊ इन्द्रियोंका क्षयोपशम हो रहा है। अतः गर्भावस्थामें जन्म लेते ही छऊ द्रव्येंद्रियोंका बनना प्रारम्भ हो जाता है तथा उस लब्धिको निमित्त मानकर हुआ आत्माका परिणामविशेष तो उपयोग है। लब्धि और उपयोग यों द्वन्द्व समास करनेपर " लब्ध्युपयोगौ " यह पद बन जाता है। ये दोनों भाव इन्द्रिय हैं, ऐसा वाक्यार्थ कर लिया जाता है। छह इन्द्रियोंके दो दो भेद होकर बारह भावेंद्रियां हैं। फिर भी जातिकी अपेक्षा करके "भावेंद्रियम्" ऐसा वचन सूत्रमें कह दिया है। एकेंद्रियसे लेकर संज्ञी पञ्चेंद्रियपर्यंत अनेक लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंके भी द्रव्येंद्रियोंका बनना प्रारम्भ हो जाता है। पूर्णता नहीं हो पाती है। तदनुसार उनके लब्धिरूप इन्द्रियां मानी जाती हैं।

कुतः पुनस्तानि परीक्षका जानत इत्याह।

परीक्षक विद्वान् फिर उन भावेंद्रियोंको किस प्रमाणसे जानते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानंद स्वामी उत्तर कहते हैं।

भावेन्द्रियाणि लब्ध्यात्मोपयोगात्मानि जानते ।
स्वार्थसंविदि योग्यत्वाद्व्यापृतत्वाच्च संविदः ॥ १ ॥

लब्धिस्वरूप और उपयोगस्वरूप हो रहीं भावेंद्रियोंको पण्डितजन जान रहे हैं (प्रतिज्ञा वाक्य) स्व और अर्थके ज्ञानमें योग्यता होनेसे तथा सम्वित्तिके व्यापार युक्त होनेसे (हेतु) अर्थात्—स्वार्थसम्वित्तिकी योग्यतासे लब्धिस्वरूप भावेंद्रियका अनुमान हो जाता है और सम्वित्तिके व्यापारसे उपयोग आत्मक इन्द्रियोंका अनुमान कर लिया जाता है ।

लब्धिस्वभावानि तावद्भावेंद्रियाणि स्वार्थसंविदौ योग्यत्वादात्मनः प्रतिपद्यंते । न हि तत्रायोग्यस्यात्मनस्तदुत्पत्तिराकाशवत् स्वार्थसंविद्योग्यतैव च लब्धिरिति लब्धींद्रियसिद्धिः । उपयोगस्वभावानि पुनः स्वार्थसंविदो व्यापृतत्वान्निश्चिन्वंति । न ह्यव्यापृतानि स्पर्शादिसंवेदनानि पुंसः स्पर्शादिप्रकाशकानि भवितुमर्हंति सुषुप्तादीनामपि तत्प्रकाशनप्रसंगात् ।

प्रथम ही लब्धिस्वरूप छह भावेन्द्रियां तो स्वार्थोंकी संवित्ति करनेमें योग्यतासे आत्माके हो रहीं समझ ली जातीं हैं या विद्वान् इन्द्रियोंको समझ लेते हैं । उस स्वार्थसम्वेदनमें अयोग्य हो रहे आत्माके उन विशुद्धिस्वरूप लब्धियोंकी उत्पत्ति नहीं हो पाती है । जैसे कि आकाश द्रव्यके क्षयोपशम विशेष नहीं उपजता है । और स्वार्थसम्वित्तिकी योग्यता ही तो लब्धि है । इस प्रकार अनुमान प्रमाणसे लब्धि स्वरूप इन्द्रियोंकी सिद्धि हो जाती है तथा फिर उपयोगस्वरूप दूसरीं भावेन्द्रियोंको स्वार्थसम्वित्तिका व्यापार करनेसे पण्डितजन निर्णीत कर लेते हैं । व्यापाररहित हो रहे स्पर्श आदिके सम्वेदन तो आत्माको स्पर्श आदिके प्रकाशक नहीं हो सकते हैं । अन्यथा गाढ सोती हुयी अवस्थावाले या मूर्छित हो रहे आदि पुरुषोंको भी उन स्पर्श आदिके प्रकाश जानेका प्रसंग हो जायगा । अतः व्यापार कर-स्पर्श आदिकी प्रकाश रहे ज्ञान या दर्शन तो उपयोगस्वरूप भावेन्द्रियां हैं ।

स्वार्थप्रकाशने व्यापृतस्य संवेदनस्योपयोगत्वे फलत्वादिंद्रियत्वानुपपत्तिरिति चेन्न, कारणधर्मस्य कार्यानुवृत्तेः । न हि पावकस्य प्रकाशकत्वे तत्कार्यस्य प्रदीपस्य प्रकाशकत्वं विरुध्यते । न च येनैव स्वभावेनोपयोगस्येंद्रियत्वं तेनैव फलत्वमिष्यते यतो विरोधः स्यात्, साधकतमत्वस्वभावेन हि तस्येंद्रियव्यपदेशः क्रियारूपतया तु फलत्वं प्रदीपवत् । प्रदीपः प्रकाशात्मना प्रकाशयतीत्यत्र हि साधकतमः प्रकाशात्मा करणं क्रियात्मा फलं स्वतंत्रात्मा कर्तेति प्ररूपितप्रायं ।

किसीकी शंका है कि स्वार्थोंके प्रकाशनेमें व्यापार युक्त हो रहे सम्वेदनको उपयोगपना माननेपर फल होजानेके कारण इन्द्रियपना नहीं बन सकता है, अर्थात्—इन्द्रियोंका फल उपयोग है, वह भला करणस्वरूप इन्द्रिय कैसे हो सकता है ? आचार्य कहते हैं यह तो न कहना । क्योंकि कारणोंके

धर्मकी कार्योंमें अनुवृत्ति हो जाती है। कारणमें इन्द्रियपना है तो उसके कार्य बन रहे उपयोगमें भी इन्द्रियपनेका व्यवहार हो जाता है। देखो, अग्निको प्रकाशकपना माननेपर उस अग्निके कार्य हो रहे दीपकको प्रकाशकपना विरुद्ध नहीं पडता है। एक बात यह है कि जिस ही स्वभाव करके उपयोगको इन्द्रियपना कहा जाता है उस ही स्वभाव करके फलपना इष्ट नहीं किया जाता है, जिससे कि विरोध दोष हो जाय। देखो, स्वार्थसम्वित्ति क्रियाको करनेमें प्रकृष्ट साधकपन स्वभाव करके ही उस उपयोगको इन्द्रियत्वका व्यपदेश है और क्रियास्वरूप होनेसे उपयोगको फलपनेका निरूपण है। प्रदीपके समान। एक पदार्थमें भी करणपना और फलपना घटित हो जाता है, अर्थात्—प्रदीप (कर्ता) अपने प्रकाश स्वभाव करके (करण) पदार्थोंको या स्वयंको (कर्म) प्रकाश रहा है (क्रिया)। यहां इस वाक्यमें प्रकाशन क्रियाका साधकतम हो रहा प्रकाशस्वरूप करण है और प्रकाशन क्रियास्वरूप फल है तथा स्वतंत्र हो रहा प्रदीप आत्मक कर्ता है। इस बातको हम कई बार निरूपण कर चुके हैं। इन्द्रिय शब्दका अर्थ उपयोगमें प्रधानतासे विद्यमान है। कथंचित् भेद, अभेद, होनेसे उपयोगमें कितने ही अनेक स्वभाव घटित हो जाते हैं।

किं व्यपदेशलक्षणानि तानींद्रियाणीत्याह ।

किसीका प्रश्न है कि उन इन्द्रियोंका नाम निर्देश क्या है ? और किस लक्षणवालीं वे इन्द्रियां हैं ? इस प्रकार बुभुत्सा होनेपर शिष्यके प्रति श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र द्वारा इन्द्रियोंके नाम कीर्त्तन, आनुपूर्वी और निरुक्तिपूर्वक लक्षणको कह रहे हैं।

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ १९ ॥

जिससे छुआ जाय ऐसी स्पर्शन इन्द्रिय १ आत्मा जिससे रसको चाटे यानी पुद्गलके स्वादको जाने ऐसी रसना इन्द्रिय २ सूंघनेमें आत्माका हेतु बन रही घ्राण इन्द्रिय ३ अर्थोंको देखनेमें आत्माका निमित्त हो रही चक्षुः ४ तथा आत्माको शब्द सुनानेवाला कान ५ इस प्रकार पांच इन्द्रियां हैं।

स्पर्शनादीनां करणसाधनत्वं पारतंत्र्यात् कर्तृसाधनत्वं च स्वातंत्र्याद्बहुलवचनात् । तेनान्वर्थसंज्ञाकरणादेवंव्यपदेशान्येवंलक्षणानि च पंचेंद्रियाणीत्यभिसंबंधः कर्तव्यः ।

सूत्रमें कहे गये स्पर्श आदि शब्दोंको करणसाधनपना है। क्योंकि वे परतंत्र हैं और स्वतंत्रता होनेसे स्पर्शन आदि शब्द कर्तामें भी साध लिये जाते हैं। भावार्थ—तुदादि गणकी "स्पृश संस्पर्शने" धातुसे करणमें युट् प्रत्यय करनेपर स्पर्शन शब्द साध लिया जाता है। चुरादि गणकी " रस आस्वादन-स्नेहनयोः " धातुसे करणमें युट् प्रत्यय कर देनेपर रसन शब्द बन जाता है। भ्वादि गणकी " घ्रा गन्धोपादाने " धातुसे युट् प्रत्यय करनेपर घ्राण शब्द सध जाता है। अदादि गणकी ' चक्षीङ् व्यक्तायां वाचि " धातुसे उसि प्रत्यय कर देनेसे चक्षुः शब्द साधु हो जाता है। भ्वादि

गणीय " श्रु श्रवणे " धातुसे त्रल् प्रत्यय करनेपर श्रोत्र शद्बकी सिद्धि हो जाती है । ज्ञानकी उत्पत्तिमें इन्द्रियां करण है । अतः परतंत्रपनेकी विवक्षासे करणमें युट् आदि प्रत्ययोंको कर लेना। हां, स्पर्शन इन्द्रिय छू रही है, रसना इन्द्रिय चाट रही है, यों स्वतंत्रताकी विवक्षा होनेपर कर्त्तामें भी उक्त पांचों शद्बोंको साध लिया जाता है। " युड्भ्यां बहुलम् " यहां " बहुल " वचनसे कर्त्तामें भी युट् प्रत्ययकी विधि हो जाती है तिस कारण इन स्पर्शन आदिकोंकी शद्ब निरुक्तिके अनुसार अर्थवाचक संज्ञा कर देनेसे इस प्रकार स्पर्शन, रसन, आदि व्यपदेशको धारनेवाली ये इन्द्रियां हैं । यों शद्बार्थ कर लिया जाय तथा निरुक्ति अनुसार निर्दोष लक्षण घट जानेसे इस प्रकार लक्षणवाली भी पांच इन्द्रियां हैं। इस ढंगसे पूर्व सूत्रोंको मिलाकर वाक्यार्थका सम्बन्ध कर लेना चाहिये।

स्पर्शनस्य ग्रहणमादौ शरीरव्यापित्वात्, वनस्पत्यंतानामेकमित्यत्राभीष्टत्वात् सर्वसंसारिषूपलब्धेश्च । ततो रसनघ्राणचक्षुषां क्रमवचनमुत्तरोत्तराल्पत्वात्, श्रोत्रस्यांते वचनं बहूपकारित्वात् । रसनमपि वक्तृत्वेन बहूपकारीति चेत् न तेन श्रोत्रप्रणालिकापादितस्योपदेशस्योच्चारणात् तत्पारतंत्र्यस्वीकरणात् । सर्वज्ञे तदभाव इति चेन्न, इन्द्रियाधिकारात् । न हि सर्वज्ञस्य शब्दोच्चारणे रसनव्यापारोस्ति तीर्थकरत्वनामकर्मोदयोपजनितत्वात् भगवत्तीर्थकरावगमस्य करणव्यापारापेक्षत्वे क्रमप्रवृत्तिप्रसंगात् । सकलवीर्यांतरायक्षयात्र क्रमप्रवृत्तिस्तस्येति चेत्, तत एव करणापेक्षापि मा भूत् । ततः सूक्तं श्रोत्रस्यांते वचनं बहूपकारित्वादिति ।

सम्पूर्ण पौद्गलिक शरीरमें ओत, पोत, व्याप रही होनेसे स्पर्शन इन्द्रियका सम्पूर्ण इन्द्रियोंके आदिमें ग्रहण किया गया है और " पृथ्वीसे लेकर वनस्पतिपर्यंत जीवोंके एक, प्रधान, या प्रथम स्पर्शन इन्द्रिय है, " इस प्रकार यहां भविष्य सूत्रमें अभीष्ट होनेसे भी सबके पहिले स्पर्शन इन्द्रियका ग्रहण है । सबसे बडी बात तीसरी यह है कि संपूर्ण संसारी जीवोंमे स्पर्शन इन्द्रियकी उपलब्धि हो रही है । अतः नाना जीवोंकी अपेक्षा व्यापक होनेसे आदिमें स्पर्शनका उपादान सूत्रकारने किया है। उसके पीछे रसना, घ्राण, और चक्षुः इन तीन इन्द्रियोंका क्रमसे वचन किया है । क्योंकि उत्तर उत्तर थोडे प्रदेश अथवा थोडे थोडे स्वामी हैं । अर्थात्--"चक्खू सोदं घाणं जिब्भायारं मसूरजवणाली । अतिमुत्तखुरप्पसमं फासं तु अणेय संठाणं ॥ अंगुलअसंखभागं संखेज्जगुणं तदो विसेसहियं । तत्तो असंखगुणिदं अंगुलसंखेज्जयं तत्तु " इन गोम्मटसार जीवकाण्डकी दो गाथाओंके अनुसार सब से थोडे प्रदेश चक्षुःके माने हैं । चक्षुःसे श्रोत्र इन्द्रियके प्रदेश संख्यात गुणे हैं । श्रोत्र इन्द्रियने जितने आत्मप्रदेशोंको घेरा है, उनसे पल्यके असंख्यातमें भाग अधिक आत्मप्रदेशोंको घ्राण इन्द्रियने घेरा है। घ्राण इन्द्रियसे जिह्वाका अवगाह असंख्यात गुणा है । इस प्रकार रसना, घ्राण, और चक्षुःमें प्रदेशोंकी संख्या उत्तरोत्तर अल्प है। हां, श्रोत्रके प्रदेश चक्षुसे अधिक हैं। उसका अभी कथन ही नहीं है । तथा " बितिचपमाणमसंखेणवहिदपदरंगुलेणहिदपदरं " इस गाथा अनुसार द्वीन्द्रियोंकी अपेक्षा

त्रीन्द्रिय जीव और त्रीन्द्रियोंकी अपेक्षा चतुरिन्द्रियोंके धारी जीव भी थोडे थोडे हैं। सर्व इन्द्रियोंके अंतमें कर्ण इन्द्रियका कथन यों किया गया है कि सभी इन्द्रियोंकी अपेक्षा श्रोत्र इन्द्रिय इस जीवका बहुत उपकारी है। कानोंसे उपदेशको सुनकर अनेक जीव हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार कर लेते हैं। उत्कृष्ट ज्ञानी या तत्त्वज्ञानी बन जाना कानोंसे ही साध्य हो रहा कार्य है। सभी मोक्षगामी जीव कानोंसे उपदेशको सुनकर देशनालब्धि द्वारा साक्षात् या परम्परासे मुक्तिलाभ कर सके हैं। जीवको विशेषज्ञ बनानेवाला श्रोत्र ही है। यहां किसीकी शंका है कि रसना इन्द्रिय भी तो वक्तापने करके बहुत उपकारी हो रही है। स्वर्ग या मोक्षके उपयोगी पदोंका उच्चारण करना, अध्ययन करना, जाप्य देना, इनमें रसना इन्द्रिय कारण है। अतः रसना ही अन्तमें कहनी चाहिये। आचार्य कहते हैं यह तो न कहना। क्योंकि तुमने श्रोत्रको बहुत उपकारी स्वीकार कर पुनः रसनाका भी बहुत उपकारीपना आपादान किया है। अतः तुम्हारे मुखसे ही हमारी बातका समर्थन हो जाता है। एक बात यह भी है कि श्रोत्रकी प्रणालिकासे विषयको निर्णीत कर पुनः उस रसनासे उपदेशका उच्चारण होता है। अतः रसनाको श्रोत्रकी परतंत्रता तुमको स्वीकार करनी पडेगी। यहां रसन शब्दसे जिह्वाका खुरपाके समान लम्बा, चौडा, मोटा उपकरण लेना, कर्मेन्द्रियोंको माननेवाले जिसको कि वाक् शब्दसे पकडते हैं। सच पूछो तो रसना केवल स्वाद लेनेमें चरितार्थ हो रही है। हां, चर्मकी जिव्हा वक्तापनेमें व्यापार करती है। यों बोलनेमें उपकरण हो रही जिव्हाने श्रोत्र इन्द्रियकी पराधीनता अङ्गीकार कर रक्खी है। पुनः यहां कोई यों शंका करता है कि सर्वज्ञमें उस श्रोत्रकी परतंत्रताका अभाव है। अर्थात्—सर्वज्ञ भगवान् तो श्रोत्रेन्द्रियके बलाधानसे अन्य वक्ताओंसे पदार्थका निर्णय कर पुनः वक्तापनको प्राप्त नहीं होते हैं। किन्तु सर्वज्ञदेव तो ज्ञानावरणका क्षय हो जानेसे केवलज्ञानको उपजाकर वक्तापन करके सम्पूर्ण शास्त्रोंका उपदेश कर देते हैं। अतः रसना ही बहुत उपकारक प्रतीत होती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि यहां प्रकरणमें इन्द्रियोंका अधिकार चला आ रहा है। अतः जिन जीवोंमें इन्द्रियोंसे किया गया हित, अहित, उपदेश है, उन जीवोंके प्रति श्रोत्र इन्द्रिय अधिक उपकारी मानी गयी है। अतीन्द्रियज्ञानधारी सर्वज्ञ देवकी बात न्यारी है। सामान्य पुरुषोंमें देखी गयी टेवका विशिष्ट पुरुषोंमें भी आपादान नहीं करना चाहिये। दूसरी बात यह है कि उच्चारण करनेमें सर्वज्ञके रसना इन्द्रियका व्यापार नहीं है। नामकर्मकी विशेष प्रकृति तीर्थकरत्वके उदयसे भगवान्के सर्व अंगोंसे निकल रही मेघगर्जनके समान दिव्यध्वनि भव्योंके भाग्यवश उपज जाती है। अतः सर्वज्ञकी वक्तृत्व कलामें रसनाका कोई व्यापार नहीं है। हां, अन्य वक्ताओंकी वचनकलामें रसनाको श्रोत्रकी पराधीनता अनिवार्य है। वे वक्ता पहिले अपने गुरुओंसे स्वकीय श्रोत्र द्वारा वाच्यार्थका निर्णय कर पश्चात् जिव्हासे उपदेश देते हैं। भगवान् तीर्थकरके ज्ञानको यदि इन्द्रियोंके व्यापारकी अपेक्षा मानी जावेगी तो ज्ञानकी क्रम क्रमसे प्रवृत्ति होनेका प्रसंग होगा। जोकि किसी भी सर्वज्ञवादीको

इष्ट नहीं है। सर्वज्ञ देव युगपत् त्रिलोक त्रिकालवर्ती पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान कर रहे हैं। यदि कोई यों कहें कि सम्पूर्ण वीर्यान्तराय कर्मोंका क्षय हो जानेसे उन सर्वज्ञके ज्ञानकी क्रमसे प्रवृत्ति नहीं होगी। अनन्तशक्तिद्वारा सबका ज्ञान युगपत् हो जायगा। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि तिस ही कारणसे अर्थात्-वीर्यान्तरायका क्षय हो जानेसे ही सर्वज्ञके ज्ञानको इन्द्रियोंकी अपेक्षा भी नहीं होवे। सर्वज्ञके ज्ञानमें प्रथम इन्द्रियोंकी अपेक्षा मान कर पीछे अनन्त वीर्य होनेसे क्रम प्रवृत्तिका रोकना क्लिष्ट कल्पना है। तिस ही से तो हमने बहुत अच्छा यों कहा था कि बहुत उपकारी होनेसे उमास्वामी महाराजने सर्व इन्द्रियोंके अन्तमें श्रोत्रका कथन किया है। इस प्रकार प्रकरणको समाप्त कर दो तो अच्छा है।

एकैकवृद्धिज्ञापनार्थं वा स्पर्शनादिक्रमवचनं ।

अथवा यह सिद्धान्त उत्तर सबसे अच्छा है कि भविष्य चौथे सूत्रमें लट, चींटी, भौंरा, मनुष्य, आदिकोंके एक एक बढी हुयीं इन्द्रियां कहीं जावेंगी। अतः एक एक इन्द्रियकी योग्यतानुसार वृद्धिको समझानेके लिये स्पर्शन, रसन, आदि इन्द्रियोंका क्रमसे वचन किया गया है। अन्यथा द्वन्द्व करनेपर अल्प अक्षरवाली या पूज्य इन्द्रियका पहिले प्रयोग हो जाता। बात यह है कि जीवोंके इन्द्रियोंकी वृद्धि जिस जिस क्रमसे हुई है, उसी ढंगसे सूत्रमें इन्द्रियोंका पाठक्रम है।

कुतः पुनः स्पर्शनादीनि जीवस्य करणान्यर्थोपलब्धावित्याह ।

यहां कोई जिज्ञासु पुनः पूछता है कि जीवके अर्थकी उपलब्धि करनेमें स्पर्शन आदिक इन्द्रियां करण हो रहीं हैं, यह किस प्रमाणसे निर्णय किया जाय ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्तिक द्वारा समाधानको कहते हैं।

स्पर्शनादीनि तान्याहुः कर्तुः सांनिध्यवृत्तितः ।
क्रियायां करणानीह कर्मवैचित्र्यतस्तथा ॥ १ ॥

कर्ता आत्माके सन्निकट वर्तीपनसे प्रवृत्ति करनेसे आचार्य उन स्पर्शन आदिकोंको ज्ञप्ति क्रियामें करण कह रहे हैं तथा कर्मोंकी विचित्रतासे वे इन्द्रियां भावेन्द्रिय हो रहीं हैं, अर्थात्—नामकर्मकी विचित्रतासे उत्पन्न हुयीं द्रव्य इन्द्रियां तो ज्ञान करनेमें आत्माकी करण हो जाती हैं और ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तरायके क्षयोपशमकी विचित्रतासे वे इन्द्रियां भावेन्द्रिय हो जाती हैं।

स्पर्शनादीनि द्रव्येंद्रियाणि तावन्नामकर्मणो वैचित्र्यादुपलब्धेरात्मनः स्पर्शादिपरिच्छेदनक्रियायां व्याध्रियमाणस्य सांनिध्येन वृत्तेः करणानि लोके प्रतीयंते । भावेंद्रियाणि पुनस्तदावरणवीर्यांतरायक्षयोपशमस्य वैचित्र्यादिति मंतव्यं ।

जगत्के विधाता नामकर्मकी विचित्रता, चमत्कृति, आदि देखी जा रही है। अतः स्पर्शन आदिक पांच द्रव्येंद्रियां तो स्पर्श, रस, आदिकी परिच्छित्ति क्रियाको करनेमें साधकतम हो रही कर्ता

आत्माकी सहायक कारण हैं। क्योंकि परिच्छित्ति क्रियामें व्यापार कर रहे आत्माके निकटवर्तीपने करके वर्तनेके कारण वे इन्द्रियां लोकमें आत्मा ही नहीं जानी जाती हैं। हां, फिर उन उन स्पर्शज्ञान, रसज्ञान, आदिका आवरण करनेवाले ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मोंके क्षयोपशमकी विचित्रतासे वे इन्द्रियां आत्मपरिणति स्वरूप भावेन्द्रियां हैं, ऐसा मान लेना चाहिये।

तेषां परस्परं तद्वतश्च भेदाभेदं प्रत्यनेकांतोपपत्तेः। न हि परस्परं तावदिंद्रियाणामभेदैकांतः स्पर्शनेन स्पर्शस्येव रसादीनामपि ग्रहणप्रसक्तेरिंद्रियांतरप्रकल्पनानर्थक्यात्। कस्यचिद्वैकल्ये साकल्ये वा सर्वेषां वैकल्यस्य साकल्यस्य वा प्रसंगात्। नापि भेदैकांतस्तेषामेकत्वसंकलनज्ञान-जनकत्वाभावप्रसंगात्। संतानांतरेंद्रियवत्। मनस्तस्य जनकमिति चेन्न, इंद्रियनिरपेक्षस्य तज्ज-नकत्वासंभवात्। इंद्रियापेक्षं मनोनुसंधानस्य जनकमिति चेत्, संतानांतरेंद्रियापेक्षं कुतो न जनकं? प्रत्यासत्तेरभावादिति चेत्, अत्र का प्रत्यासत्तिः? अन्यत्रैकात्मतादात्म्याद्देशकालभाव-प्रत्यासत्तीनां व्यभिचारात्। ततः स्पर्शनादीनां परस्परं स्यादभेदो द्रव्यार्थादेशात्, स्याद्भेदः पर्यायार्थादेशात्।

उन स्पर्शन आदि इन्द्रियोंका परस्परमें और उस उस इन्द्रियवाले आत्माके साथ भेद तथा अभेदके प्रति अनेकान्त बन रहा है। अर्थात्—इन्द्रियोंका परस्परमें कथंचित् भेद, अभेद है तथा इन्द्रिय वाले आत्माके साथ भी इन्द्रियोंका कथंचित् भेद अभेद है। सर्वथा भेद या सर्वथा अभेद नहीं है। देखिये, इन्द्रियोंका परस्परमें एक दूसरेके साथ एकान्त रूपसे अभेद मानना तो ठीक नहीं पडेगा। क्योंकि स्पर्शन इन्द्रियसे जैसे स्पर्शका ग्रहण हो रहा है, वैसे ही अकेली स्पर्शनसे रस, गन्ध, आदिकों-के भी ग्रहण हो जानेका प्रसंग होगा। जब स्पर्श, रसना, घ्राण, आदि सभी इन्द्रियां अभिन्न हैं तो ऐसी दशामें स्पर्शनके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियोंकी कल्पना करना व्यर्थ पडेगा। दूसरी बात यह है कि किसी एक इन्द्रियकी विकलता या सकलता हो जानेपर सभी इन्द्रियोंकी विकलता या सफलता हो जाने-का प्रसंग होगा। आंख या कानके टूट जानेपर सभी इन्द्रियां नष्ट भ्रष्ट हो जायंगी, एकेन्द्रिय जीवके भी पांचों इन्द्रियां बन बैठेंगी। अतः इन्द्रियोंका परस्परमें सर्वथा अभेद मानना उचित नहीं। तथा उन इन्द्रियोंका परस्परमें एकान्त रूपसे भेद भी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि एकपन और सकलन रूपसे ज्ञानकी उत्पत्ति करानेके अभावका प्रसंग हो जायगा। जैसे कि अन्य सन्तान यानी दूसरी दूसरी आत्माओंकी इन्द्रियोंमें एकत्व रूपसे संकलन ज्ञान नहीं हो पाता है। भावार्थ—देवदत्तसे जिन दत्त सर्वथा भिन्न है। देवदत्तने अपनी चक्षुसे घटको देखा, जिनदत्तने स्वकीय स्पर्शन इन्द्रियसे घटको छूआ, ऐसी दशामें जिनदत्त यों नहीं कह सकता है कि जो ही मैं देखनेवाला था वही मैं घटको छू रहा हूं। कारण कि सर्वथा भिन्न ज्ञाताओंमें या उनकी इन्द्रियों द्वारा हुये ज्ञानोंमें जोडनेवाला संकलन ज्ञान नहीं बनता है। उसी प्रकार इन्द्रियोंका भेद माननेपर जो ही मैं देख चुका हूं वही मैं छू रहा

है, ऐसा एकत्व प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकेगा। यदि कोई यों कहे कि दर्शन और स्मरणको कारण मान कर हुये उस प्रत्यभिज्ञानका जनक तो मन है। इन्द्रियोंका अधिष्ठापक मन परस्परकी योजना कर देता है। आचार्य कहते हैं कि वह तो न कहना, क्योंकि इन्द्रियोंकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले मनको उस प्रत्यभिज्ञानका जनकपना असम्भव है। यदि वैशेषिक यों कहें कि इन्द्रियोंकी अपेक्षा रख रहा मन तो प्रत्यभिज्ञानका जनक हो जायगा। यों कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि तब तो सर्वथा भेद पक्षमें अन्य आत्माओंके इन्द्रियोंकी अपेक्षा रख रहा मन भला क्यों नहीं प्रत्यभिज्ञानका जनक हो जाय ? अर्थात्—देवदत्तके देखे हुयेका यज्ञदत्तको अनुसन्धान हो जाना चाहिये। एक आत्माकी भिन्न भिन्न इन्द्रियोंके समान दूसरे आत्माओंकी इन्द्रियोंका अधिष्ठायक मन हो जाय। यदि भेदवादी वैशेषिक यों कहें कि सम्बन्ध विशेषके न होनेसे वह मन अन्य आत्माओंके इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं रख सकता है। हां, प्रकरणप्राप्त आत्माकी पांचों इन्द्रियोंके साथ इस मनका कोई विशेष नाता है। अतः उन इन्द्रियोंके विषयोंको अन्वित कर देता है, अन्यके विषयोंको नहीं, यों कहनेपर तो हम जैन पूछेंगे कि भाई, एक आत्मद्रव्यके साथ तदात्मकपन हो जानेके अतिरिक्त यहां प्रकरणमें दूसरी भला क्या प्रत्यासत्ति (नाता या सम्बन्ध) हो सकती है ? देशप्रत्यासत्ति, काल प्रत्यासत्ति, भावप्रत्यासत्ति, इनका तो व्यभिचार देखा जाता है। अर्थात्—पांचों इन्द्रियोंकी एक द्रव्य (आत्मा) प्रत्यासत्ति माननेपर तो देवदत्तकी पांचों इन्द्रियोंमें अनुसंधान होना घट जाता है। साथमें सन्तानान्तरोंकी इन्द्रियोंमें परस्पर अनुसन्धान होनेका भी निराकरण हो जाता है। किन्तु देशप्रत्यासत्ति मान लेनेसे इष्टकी सिद्धि और अनिष्टका दूषण ये नहीं बन पाते हैं। एक परीक्षा भवनमें बैठे हुये एक देशवर्ती अनेक छात्रोंमें परस्पर अनुसन्धान हो रहा नहीं देखा गया है। हां, यदि सूक्ष्मतासे विचार करोगे तब तो एक देवदत्तके शरीरमें आंख, कान, नाक, जीभका भी न्यारा न्यारा स्थान नियत है। उनमें अनुसंधान नहीं हो सकेगा। अतः देशप्रत्यासत्ति द्वारा अनुसन्धान होना माननेमें अन्वय व्यभिचार और व्यतिरेक व्यभिचारदोष आते हैं। कालप्रत्यासत्तिमें भी उक्त दोष आते हैं। अर्थात्—एक ही कालमें वर्त रहे अनेक जीवोंमें कालप्रत्यासत्ति होते हुये भी परस्पर अनुसन्धान ज्ञान नहीं हो रहा है। साथमें उसी बालक, युवा, वृद्ध, देवदत्तमें कालप्रत्यासत्तिके विना भी संकलन ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार भावप्रत्यासत्तियोंके भी व्यभिचार आते हैं। समान ज्ञान या सुख, दुःखको धारनेवाले जीवोंमें भाव प्रत्यासत्ति होते हुये भी परस्पर देखे, सुने, छुये, चाटे, सूंघेका विषयगमन होकर अनुसन्धान नहीं हो रहा है। परिशेषमें द्रव्यप्रत्यासत्ति ही निर्दोष ठहरती है। तिस कारण द्रव्यार्थिकनयद्वारा कथन करनेसे स्पर्शन आदि इन्द्रियोंका परस्परमें कथंचित् अभेद है और पर्यायार्थिकनयकी विवक्षासे स्पर्शन आदिकोंका कथंचित् भेद है।

एतेन तेषां तद्वतो भेदाभेदैकांतौ प्रत्युक्तौ। आत्मनः करणानामभेदैकांते कर्तृत्वप्रसंगादात्मवत्। आत्मनो वा करणत्वप्रसंगः, उभयोरुभयात्मकत्वप्रसंगो वा विशेषाभावात्।

तत्स्तेषां भेदैकांते चात्मनः करणत्वाभावः संतानांतरकरणवत् विपर्ययो वेत्यनेकांत एवाश्रयणीयः, प्रतीतिसद्भावाद्बाधकाभावाच्च । तथा द्रव्येंद्रियाणामपि परस्परं स्वारंभकपुद्गलद्रव्याच्च भेदाभेदं प्रत्यनेकांतोवबोद्धव्यः पुद्गलद्रव्यार्थादेशादभेदोपपत्तेः । प्रतिनियतपर्यायार्थादेशात्तेषां भेदोपपत्तेश्च ।

इस उक्त कथनकरके उन इन्द्रियोंका उस इन्द्रियवान् आत्माके साथ सर्वथा भेद और एकान्त अभेदका भी खण्डन कर दिया गया है । देखो, आत्माका इन्द्रियोंके साथ यदि एकान्तरूपसे अभेद माना जायगा तो आत्माके समान इन्द्रियोंको भी कर्तापनका प्रसंग हो जायगा । ऐसी दशामें इन्द्रियां करण नहीं हो सकेंगी अथवा आत्मा और इन्द्रियोंका अभेद माननेपर इन्द्रियोंके समान आत्माको भी करण बन जानेका प्रसंग होगा । तथा आत्मा, इन्द्रिय, दोनोंको कर्त्ता, करण, दोनों आत्मकपनका प्रसंग हो जावेगा । क्योंकि सर्वथा अभेदपक्षको पकड लेनेपर किसीमें कोई विशेष प्रकारका अन्तर नहीं है । तथा उन इन्द्रियोंका तद्वान् उस आत्माके साथ यदि सर्वथा भेद माना जायगा तो अन्य आत्माओंकी इन्द्रियोंके समान प्रकरण प्राप्त आत्माकी भी ये इन्द्रियां करण नहीं हो सकेंगी । अर्थात्—दूसरेकी इन्द्रियां सर्वथा भिन्न हो रहीं जैसे हमारे ज्ञानमें करण नहीं हो पाती हैं, उसी प्रकार भिन्न हो रहीं हमारी आत्मासे भी हमारी इन्द्रियां करण नहीं हो सकेंगी अथवा विपर्यय ही हो जावेगा । यानी हमारी भिन्न इन्द्रियोंके समान दूसरोंकी इन्द्रियां भी हमारे ज्ञानमें करण बन बैठेंगी । इस कारण कथंचित् भेद, अभेदस्वरूप अनेकान्तका ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये । कथंचित् भेद, अभेदके स्याद्वाद सिद्धांतमें प्रमाणसिद्ध प्रतीतियोंका सद्भाव है और बाधक प्रमाणोंका अभाव है । तिसी प्रकार उक्त भावेंद्रियोंके समान पांचों द्रव्येंद्रियोंका भी परस्परमें और अपनेको बनानेवाले पुद्गल द्रव्यसे हो रहे भेद अभेदके प्रति अनेकान्त समझ लेना चाहिये । द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नयका सर्वत्र अधिकार है । पुद्गल द्रव्यस्वरूप अर्थकी विशेष अपेक्षासे तो द्रव्येंद्रियोंका अभेद बन रहा है और स्पर्शन, रसना, आदि प्रत्येकके लिये नियत हो रही पर्यायस्वरूप अर्थकी अपेक्षा उन द्रव्येन्द्रियोंका भेद सिद्ध हो रहा है । सप्तभंगी अनुसार एकत्व और नानात्वसे अतिरिक्त आगेके पांच भंग भी लगा लेना । अभ्यन्तरनिर्वृत्ति स्वरूप द्रव्येंद्रियोंका परस्पर या उपादान कारण आत्माके साथ कथंचित् भेदाभेद है ।

इतींद्रियाणि भेदेन व्याख्यातानि मतांतरं ।
व्यवच्छित्सुभिः पंचसूत्र्या युक्त्यागमान्वितैः ॥ २ ॥

यों यहांतक युक्ति और आगम प्रमाणसे अन्वित हो रहे तथा इन्द्रियोंकी एक, दो, ग्यारह, इन संख्याओंको माननेवाले अन्य मतोंके व्यवच्छेद करनेकी इच्छा रखनेवाले श्री उमास्वामी महाराजने पांच सूत्रोंके समुदाय द्वारा भिन्न भिन्न करके पांच इन्द्रियोंको बखान दिया है । अर्थात्—" पंचेंद्रियाणि "

द्विविधानि, निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्, लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्, स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि " इन पांच सूत्रों करके नियत पांच इन्द्रियोंका व्याख्यान किया गया है ।

इदानीमिंद्रियानिंद्रियविषयप्रदर्शने कर्तव्ये, के तावदिंद्रियार्थविषया इत्याह ।

अब इस समय इन्द्रियों और अनिन्द्रियके द्वारा जानने योग्य विषय अर्थका प्रदर्शन करना कर्त्तव्य होनेपर शिष्यकी " इन्द्रियोंके विषय तो भला कौन है ? " ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

स्पर्शरसगंधवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥ २० ॥

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द ये उनके इन्द्रियों द्वारा ज्ञातव्य विषय हैं । अर्थात्--स्पर्शन इन्द्रियसे पुद्गलका स्पर्श जाना जाता है, रसना इन्द्रियसे पुद्गलका रस चखा जाता है । घ्राण इन्द्रियसे पुद्गलका गंध सूंघा जाता है । चक्षुःइन्द्रियसे पुद्गलका रूप देखा जाता है और कर्ण इन्द्रिय द्वारा पुद्गलकी पर्याय हो रहा शब्द सुना जाता है । गुण, और गुणीका अभेद होनेसे स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा स्पर्शवान् पुद्गल भी छूआ जाता है, रसनेंद्रिय द्वारा रसवान् पुद्गल भी चखा जाता है आदि ।

स्पर्शादीनां कर्मभावसाधनत्वं द्रव्यपर्यायविवक्षोपपत्तेः । तच्छब्दादिंद्रियपरामर्शः तेषामर्थास्तदर्थाः स्पर्शनादीनां कर्मविषयः स्पर्शादय इत्यर्थः । तदर्था इति वृत्त्यनुपपत्तिरसामर्थ्यादिति चेत्, न चात्र गमकत्वात् नित्यसापेक्षेषु संबंधिशब्दवत् । य एव हि वाक्यार्थः संप्रतीयते स एव वृत्ताविति गमकत्वं नित्यसापेक्षेषु संबंधिशब्देषु कथितं, यथा देवदत्तस्य गुरुकुलं देवदत्तस्य गुरुपुत्रः देवदत्तस्य दासभार्येति । तथेहापि तच्छब्दस्य स्पर्शनादिसापेक्षत्वेपि गमकत्वात् वृत्तिर्वेदितव्या ।

द्रव्य और पर्यायकी विवक्षा बन जानेसे स्पर्श, रस, आदिक शब्द तो कर्म और भाव अर्थमें साध लिये जाते हैं, अर्थात्--जब प्रधान रूपसे द्रव्य विवक्षित होता है, तब इन्द्रिय करके विषय हो रहा द्रव्य ही पकडा जाता है । इस पुद्गल द्रव्यसे न्यारे कोई स्पर्श आदिक नहीं हैं । इन्द्रिय करके जो छूआ जाय वह स्पर्श है, चखा जाय वह रस है, सूंघा जाय वह गंध है, देखा जाय सो वर्ण है, जो बोला जाय वह शब्द है, इस प्रकार स्पर्श आदिक शब्दोंकी कर्मसाधन निरुक्ति कर दी गयी है । किन्तु जब प्रधान रूपसे पर्याय विवक्षित है, तब भेद बन रहा है । उदासीनपनेसे अवस्थित हो रहे भावका कथन हो जाता है, तब छूना ही स्पर्श है, चखना रस है, सूंघना गंध है, देखना मात्र वर्ण है, उच्चारण या सुनना शब्द है, इस ढंगसे स्पर्श आदि शब्दोंकी भावमें प्रत्यय कर सिद्धि कर दी गयी है । सूत्रमें पडे हुये पूर्वका परामर्श करनेवाले तत् शब्दसे इन्द्रियोंका परामर्श करलेना चाहिये । तब यों अर्थ हुआ कि उन इन्द्रियोंके विषयभूत अर्थ यहां तदर्थ कहे जाते हैं । स्पर्शन, रसना, आदि इन्द्रियोंके ज्ञातव्य बनने योग्य विषय वे स्पर्श

आदिक हैं । यों उद्देश्य, विधेय, वाक्योंका मिलाकर वाच्यार्थ हो जाता है । किसीकी यहां शंका है कि " समर्थः पदविधिः " समर्थ अवयवोंकी समासवृत्ति हो सकती है । यहां सामर्थ्य नहीं है, इस कारण तेषां इन्द्रियाणां अर्थाः यों तदर्थाः यहां षष्ठीतत्पुरुषसमास नहीं हो सकता है । पूर्व सूत्रोंमें इन्द्रियोंका स्वतंत्र (प्रथमांत) निर्देश है, तदर्थाः ऐसा समास कर वे इन्द्रियां गौण नहीं की जा सकती हैं। अतः " तेषां अर्थाः " यों व्यस्तपदकी ही बने रहेंगे । इस ढंगसे शंका करनेपर तो आचार्य कहते हैं कि यह दोष हमारे ऊपर नहीं आता है । क्योंकि गमकपन होनेसे नित्य ही एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाले पदोंमें समास हो जाता है । जैसे कि सम्बन्धी शद्बोंमें समास हो जाता है । देखो, जो ही अर्थ वाक्यमें भले प्रकार जाना जा रहा है वही अर्थ समासवृत्ति करनेपर भी स्थिर रहता है । इस प्रकार नित्य अपेक्षासहित हो रहे संबंधी शद्बोंमें गमकपना कह दिया गया है। जैसे कि देवदत्तका गुरुकुल है, इसका अर्थ देवदत्तके गुरुका यह कुल है, इस प्रकार है। देवदत्तका गुरुकुल है, यह अर्थ नहीं है । देवदत्तका गुरुपुत्र इसका अर्थ देवदत्तके गुरुका वह लडका हो जाता है । " देवदत्तस्य दासभार्या " इसका अर्थ देवदत्तके दास की यह पत्नी है । यहां गुरु शद्ब नित्य ही शिष्यकी अपेक्षा रखता है। अतः देवदत्त शिष्य है उसके गुरुका कुल अर्थ करना आवश्यक है । अन्यथा यह वाक्य ही अशुद्ध हो जायगा । दीक्षक आचार्यके अधीन हो रहे पाठक, शिष्य तथा अन्य कर्मचारियोंका समुदाय कुल कहा जाता है । समासमें पडे हुये गुरुके साथ देवदत्तका अभेद करना भी अनुचित है । तथैव दास शद्ब भी स्वामीकी अपेक्षा रखता है । अतः देवदत्त स्वरूप स्वामीके दासकी स्त्री यह अर्थ हो जाता है । " पटोलपत्रं पित्तघ्नं नाडी तस्य कफापहा " यहां पटोलकी नाडी (नसें) कफ दोषको हरती हैं । यों संबंधी शद्ब अनुसार व्यवस्था की जाती है। तिसी प्रकार यहां भी स्पर्शन आदि इन्द्रियोंकी अपेक्षा धारते हुये भी तत् शद्बको गमकपना है । अतः सामर्थ्य हो जानेसे " तदर्थाः " यहां षष्ठीतत्पुरुषवृत्ति हुयी समझ लेनी चाहिये ।

स्पर्शादीनामानुपूर्व्येण निर्देशः इन्द्रियक्रमाभिसंबंधार्थः ।

इस सूत्रमें स्पर्श, रस, आदिकोंका आनुपूर्वीपने करके कथन करना तो इन्द्रियोंका क्रमपूर्वक एक एक विषयके साथ संबंध करानेके लिये है । अर्थात्—पहिले कही गयी स्पर्शन इन्द्रियसे स्पर्श जाना जाता है, दूसरी रसना इन्द्रियसे रस जाना जाता है, इत्यादि सम्पूर्ण इन्द्रियोंके ग्राह्य विषयोंमें लगा लेना चाहिये । तब तो द्वन्द्व समास किया जानेपर " अल्पाच्तर, अभ्यर्हित, स्वंत आदि पदोंके पूर्वमें प्रयुक्त किये जानेका झंझट नहीं लगाता है । शद्ब संबंधी न्यायसे अर्थसंबंधी न्याय प्रधान है ।

किं पुनः स्पर्शादयो द्रव्यात्मका एव पर्यायात्मका एव चेति दुराशंकां निराकरोति ।

क्या स्पर्श, रस, आदिक विषय ये द्रव्यस्वरूप ही हैं ? अथवा क्या पर्यायस्वरूप ही हैं ? ऐसी खोटी शंकाका निराकरण श्री विद्यानन्द वार्तिको द्वारा करते हैं ।

स्पर्शादयस्तदर्थाः स्युर्द्रव्यपर्यायकात्मकाः ।
द्रव्यैकांते क्रियापायात्सर्वथा कूर्मरोमवत् ॥ १ ॥
तथैव पर्ययैकांते भेदैकांतेऽनयोरपि ।
अनेकांतात्मना तेषां निर्बाधमुपलब्धितः ॥ २ ॥

उन इन्द्रियोंके विषय हो रहे स्पर्श आदिक अर्थ तो द्रव्य आत्मक और पर्यायआत्मक नियुक्त हैं वे स्पर्श आदिक न केवल द्रव्यस्वरूप हैं और केवल पर्यायस्वरूप भी वे नहीं हैं। यदि उनको सर्वथा द्रव्य होनेका एकांत माना जायगा तो कूर्मरोम (कछुवेके बाल) के समान असत् हो रहे नित्य कूटस्थ द्रव्यमें क्रिया उपजना इष्ट हो जायगा। " नित्यत्वैकांतपक्षेपि विक्रिया नोपपद्यते " (श्री-समंतभद्रः) तिस ही प्रकार स्पर्शादिकोंको एकांत रूपसे यदि पर्याय ही माना जायगा तो भी द्रव्यके विना कच्छपरोमके समान असत् हो रहे पर्यायोंका विवर्त नहीं हो सकेगा तथा इन द्रव्य और पर्याय दोनोंको एकांत रूपसे भेद माननेपर ही दोनोंका असत्त्व हो जाता है। अग्निके विना अकेली उष्णता नहीं ठहरती हुयी असत् हो जाती है और उष्णता पर्यायके विना स्कंधद्रव्य अग्नि भी असत् हो जाता है। अतः अनेक धर्मआत्मकपने करके उन स्पर्श आदिकोंकी बाधाओंसे रहित उप-लब्धि होजानेसे स्पर्श आदिक द्रव्य पर्याय उभयात्मक हैं।

ततो अनेकात्मन एव स्पर्शादयः स्पर्शनादीनां विषयभावमनुभवंति नान्यथा प्रतीत्यभावात् ।

तिस कारणसे सिद्ध हुआ कि एकत्व, पृथक्त्व, या भेद, अभेद, अथवा द्रव्यपन, पर्यायपन, आदिक अनेक धर्मोंके साथ तदात्मक एकरस हो रहे स्पर्श आदिक ज्ञेय ही स्पर्शन आदि इन्द्रियोंके विषय हो जानेका अनुभव करते हैं। अन्यथा यानी दूसरे प्रकारसे एक ही धर्म आत्मक हो रहे स्पर्श आदिक उन स्पर्शन आदि इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं। क्योंकि पदार्थोंको द्रव्यस्वरूप ही या पर्यायस्वरूप ही इस प्रकार एक ही धर्म आत्मक सिद्ध करनेवाली प्रतीतियोंका अभाव है।

अथानिंद्रियस्य को विषय इत्याह ।

बहिरंग पांच इन्द्रियोंका विषय कहा जा चुका है। अब अनिन्द्रिय छठे मनका विषय क्या है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज समाधानकारक अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

श्रुतमनिंद्रियस्य ॥ २१ ॥

चक्षु आदि इन्द्रियोंके समान नियत देश, विषय, अवस्थान, नहीं होनेसे इन्द्रिय भिन्न ईषत् इन्द्रिय हो रहे मनका ज्ञेय विषय तो श्रुतज्ञानगम्य पदार्थ है। अर्थात्--मतिज्ञानसे पदार्थको जानकर पुनः

अर्थांतरका विशेषतया अवधारण करना या विचार करना अंतरंग इन्द्रिय मनके द्वारा होता है। अन्यथा नहीं। उक्त कार्य पांचों बहिरंग इन्द्रियोंसे साध्य नहीं है। शब्दको सुनकर उसके वाच्यार्थका ज्ञान करना, हिताहित विचारपूर्वक क्रिया करना, शिक्षा या उपदेश ग्रहण करना, तथा कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य या तत्त्व, अतत्त्वकी मीमांसा करना ये सब विचारक मन इन्द्रियके कार्य हैं।

अर्थ इत्यभिसंबंधः सामर्थ्यात्। ननु चाश्रूयमाणमनिंद्रियमत्र तत्कथं तस्य विषयो निरूप्यते इत्याह।

पूर्वसूत्रमें पडे हुये " तदर्थाः " शब्दसे अकेले अर्थकी अनुवृत्ति कर लेना। पूर्वापर सम्बन्ध रखनेवाले वाक्यार्थकी सामर्थ्यसे " तत् " और बहुवचनांत " अर्थाः " की अनुवृत्ति नहीं कर केवल अर्थ शब्दका ही अनुवर्तन किया जायगा। यहां शंका है कि अनींद्रिय मन तो यहां प्रकरणमें नहीं सुना जा रहा है तो फिर यहां कैसे उस अप्रकृत मनका विषयनिरूपण किया जाता है ? बताओ, ऐसी आशंका होनेपर श्री विद्यानंद आचार्य उत्तरको कहते हैं, सावधान होकर सुनिये।

सामर्थ्याद्गम्यमानस्यानिंद्रियस्येह सूत्रितः।
श्रुतमर्थः श्रुतज्ञानगम्यं वस्तु तदुच्यते ॥ १ ॥

जब कि इन्द्रियोंके विषय प्रतिपादनका प्रकरण है पूर्वापार कथनकी सामर्थ्यसे जान लिये जा रहे मनका विषय श्रुत है, यों यहां सूत्र द्वारा निरूपण किया गया है। " मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् " इस सूत्रमें श्रुतका अर्थ श्रुतज्ञान है। किंतु इस सूत्रमें श्रुतज्ञानद्वारा जानी जा रही वस्तु वह श्रुत कही जा रही है।

पंचेंद्रियाणीति वदता मनोनिंद्रियमंतःकरणं सामर्थ्यादित्युक्तं भवति तस्य च विषयः श्रुतमितीह सूत्रयतो न सूत्रकारस्य विरोधः। श्रुतं पुनः श्रुतज्ञानसमधिगम्यं वस्तूच्यते विषये विषयिण उपचारात्।

" पंचेंद्रियाणि " इस सूत्र द्वारा पांच ही बहिरंग इन्द्रियोंको कह रहे सूत्रकार करके ईषत् इन्द्रिय हो रहा अंतरंग करण मन तो सामर्थ्यसे ही प्राप्त हुआ, यों कह दिया जाता है। अतः उस मनका विषय श्रुत है। इस प्रकार यहां स्वतंत्र सूत्र बनाकर कह रहे सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजको कोई विरोध प्राप्त नहीं होता है। अर्थात्-पहिले अध्यायमें " तदिंद्रियानिंद्रियनिमित्तम् " मनःपर्ययज्ञानं, " न चक्षुरनिंद्रियाभ्याम् " ये कथन किये हैं। दूसरे अध्यायमें भी अभी " समनस्काऽमनस्काः " कहा है। एतावता अंतरंग करण तो मन इन्द्रिय है, ऐसा कह दिया गया प्राप्त हो जाता है। बहिरंग इन्द्रियोंके प्रकरणमें मनको नहीं कहा तो क्या हुआ ?। मनके भी दोनों प्रकार निर्वृत्ति उपकरण और लब्धि

उपयोग ये भेद अभीष्ट हैं। हां, मनका विषय अभीतक नहीं बताया था, प्रकरणकी सामर्थ्यसे भी नहीं जाना जा सकता है। उसके लिये विषय निरूपणके प्रकरणमें अन्य इन्द्रियोंके साथ लगे हाथ इस सूत्र द्वारा मनका विषय कण्ठोक्त किया है। सूत्रमें पडे हुये श्रुत शब्दका अर्थ फिर श्रुतज्ञान नहीं करना। किंतु श्रुतज्ञानसे भले प्रकार जान लिया गया पदार्थ कहा गया है। विषयमें विषयीका उपचार है। जैसे कि प्रत्यक्ष ज्ञानके विषय हो रहे घटको प्रत्यक्ष कह देते हैं, वैसे यहां भी श्रुतज्ञानसे जानने योग्य विषयको श्रुत कह दिया है। विषयी हो रहे ज्ञानका धर्म श्रुतपना विषयमें धर दिया है।

मतिज्ञानपरिच्छेद्यं वस्तु कथमनिन्द्रियस्य विषय इति चेन्न, तस्यापि श्रुतज्ञानपरिच्छेद्यत्वानतिक्रमात्। अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानपरिच्छेद्यमपि श्रुतज्ञानपरिच्छेद्यत्वादनिंद्रियस्य विषयः स्यादिति चेत्, न किंचिदनिष्टं। तथा हि—

यहां कोई शंका करता है कि जब श्रुतज्ञानका विषय ही मनसे जाना जायगा तो मतिज्ञानसे जान लिये गये दुःख, इच्छा, पीडा, आदिक पदार्थ भला मनके विषय किस प्रकार हो सकेंगे ? बताओ। ग्रंथकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि मतिज्ञानसे जाने हुये उस पदार्थको भी श्रुतज्ञान द्वारा जानने योग्यपनका अतिक्रमण नहीं होता है। अर्थात्—जो मतिज्ञानसे जाना गया है वह श्रुतज्ञानसे अवश्य जाना जा सकता है। हां, श्रुतज्ञानसे जान लिया गया विषय तो बहुभाग मतिज्ञान द्वारा जानने योग्य नहीं है। देखो श्रुतज्ञान द्वारा परोक्षरूपसे विषय की गयीं अनेक अर्थपर्यायोंको मतिज्ञान नहीं छू पाता है। अतः श्रुतज्ञानके विषयको मन जानता है। इतने कथनसे ही मतिज्ञानके विषयको भी मन विचार लेता है, यह विना कहे अर्थापत्ति द्वारा कह दिया जाता है। अकाण्ड ताण्डव बढाना व्यर्थ है। पुनः कोई कटाक्ष करता है कि यों तो अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, और केवलज्ञान करके जानने योग्य अर्थ भी श्रुतज्ञान द्वारा जानने योग्य होनेसे मनका विषय बन बैठेगा। क्योंकि अवधि द्वारा प्रत्यक्ष किये हुये पदार्थमें भी श्रुतज्ञान करके विकल्पनायें उठाई जाती हैं। जैसे मतिज्ञान द्वारा रूप, रस, आदिका एकदेश प्रत्यक्ष होकर उनमें अर्थान्तरोंको विचारनेवाला श्रुतज्ञान प्रवर्तता है उसी प्रकार मनःपर्यय और केवलज्ञान द्वारा पूर्ण विशद जाने जारहे पदार्थोंमें भी श्रुतज्ञान प्रवर्तता है। अतः सभी ज्ञानोंके विषय इस मन इन्द्रियके अर्थ हो जायंगे। ग्रंथकार कहते हैं कि यों कहनेपर तो हमको कुछ भी अनिष्ट नहीं पडता है। इसी बातको स्पष्ट कर वार्तिकद्वारा कहे देते हैं।

मनोमात्रनिमित्तत्वात् श्रुतज्ञानस्य कार्त्स्न्यतः।
स्पर्शनादींद्रियज्ञेयस्तदर्थो हि नियम्यते ॥ २ ॥

पदार्थोंको सम्पूर्णरूपसे विषय करनेवाले श्रुतज्ञानका निमित्तकारण केवल मन है। उक्त दो सूत्रोंमें स्पर्शन आदि इन्द्रियोंद्वारा जानने योग्य स्पर्श आदिक ही उन इन्द्रियोंके अर्थ हैं। ऐसा नियम

किया जा रहा है । अर्थात् स्पर्शन आदि इन्द्रियोंके विषय तो नियत हैं । मनका विषय कोई नियत नहीं है, सभी ज्ञानोंद्वारा जानने योग्य विषयोंको श्रुतज्ञानसे जाननेके अवसरपर मन निमित्त हो जाता है । "सुदकेवलं च णाणं दोण्णिवि सरिसाणि होंति बोहादो। सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं" (गोम्मटसार) यों श्रुतज्ञानको केवलज्ञानका छुटभाता माना जाता है ।

अत्र स्पर्शनादींद्रियपरिच्छेद्यः स्पर्शादिरेवेति नियम्यते न पुनरनिंद्रियपरिच्छेद्यः तस्यानियतत्वात् । साकल्येन श्रुतज्ञानमात्रनिमित्तात् परिच्छिद्यमानस्य वस्तुनः श्रुतशब्देनाभिधानात् । नन्वेवं सर्वमनिंद्रियस्येति वक्तव्यं स्पष्टत्वादिति चेन्न, परोक्षत्वज्ञापनार्थत्वाच्छ्रुतवचनस्य । न हि यथा केवलं सर्वं साक्षात् परिच्छिनत्ति तथानिंद्रियं तस्याविशदरूपतयार्थपरिच्छेदकत्वात् । ततः सूक्तं श्रुतमनिंद्रियस्येति ।

यहां इन्द्रियोंका विषय निरूपण करनेवाले प्रकरणमें स्पर्शन आदि पांच बहिरंग इन्द्रियोंसे जानने योग्य स्पर्श, रस आदिक ही हैं, यह नियम किया जा रहा है । किंतु फिर अनिंद्रिय यानी मनसे जानने योग्य श्रुत ही है ऐसा नियम नहीं किया है । क्योंकि मन इन्द्रियसे जानने योग्य वह श्रुत ही नियत नहीं है । सभी ज्ञानोंके ज्ञेयको श्रुतज्ञानसे जाननेपर मन निमित्तकारण बन जाता है। पहिले सूत्रमें अवधारण करना इस सूत्रमें नहीं । क्योंकि पांचों ज्ञानद्वारा सम्पूर्ण रूपसे जानने योग्य वस्तुओंको यहां सूत्रमें श्रुत शब्द करके उपलक्षणतया कहा जाता है । रहस्य यह है कि जगत्के सम्पूर्ण पदार्थोंको जाननेमें अकेला श्रुतज्ञान निमित्त हो सकता है। पुनः किसीका कटाक्ष है कि " श्रुतमनिंद्रियस्य । " ऐसा सूत्र न कह कर " सर्वमनिंद्रियस्य " यों स्पष्टपनेसे सूत्र कहना चाहिये, जिससे कि व्यामोह नहीं होकर सम्पूर्ण प्राणियोंकी " मनके विषय सम्पूर्ण पदार्थ हैं " यह स्पष्ट प्रतिपत्ति हो जाय । आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि परोक्षपना समझानेके लिये सूत्रमें श्रुत शब्द कहा है । जिस प्रकार केवलज्ञान सम्पूर्ण पदार्थोंको पूर्ण विशद रूपसे प्रत्यक्ष जान लेता है, उस प्रकार मन विशदरूपसे सबको नहीं जान पाता है। वह मन अविशद रूपसे सम्पूर्ण अर्थोंका परिच्छेदक है, यह बात श्रुत कहनेसे ही व्यञ्जित हो सकती है । तिसी कारणसे सूत्रकारने यों बहुत अच्छा कहा था कि श्रुतज्ञान द्वारा ज्ञेय पदार्थ सभी मनका विषय है ।

किमर्थमिन्द्रियमनसां विषयप्ररूपणमत्र कृतमित्याह ।

यहां तत्त्वार्थ सूत्रमें पांच इन्द्रिय और छठे मनके विषयोंका निरूपण किस लिये किया गया है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं ।

इति सूत्रद्वयेनाक्षमनोर्थानां प्ररूपणं ।
कृतं तज्जन्मविज्ञाननिरालंबनताछिदे ॥ ३ ॥

इस प्रकार " स्पर्शरसगंधवर्णशब्दास्तदर्थाः, श्रुतमनिंद्रियस्य " इन दोनों सूत्रों करके इन्द्रिय और मनके विषय हो रहे अर्थोंका निरूपण किया गया है, जो कि उस अर्थसे विज्ञानका जन्म स्वीकार करनेवाले बौद्धमतका खण्डन करनेके लिये है और ज्ञानके निरालम्बनपनका निराकरण करनेके लिये है। भावार्थ—बौद्ध पण्डित विषयजन्य ज्ञानको प्रमाण मानते हैं। घटका ज्ञान घटसे जन्य है। पटका ज्ञान पटसे जन्य है। किन्तु उनका यह मन्तव्य निर्दोष नहीं है। इन्द्रिय और अदृष्टसे व्यभिचार हो जाता है। देखो, इन्द्रियोंसे या कर्मोंके क्षयोपशमसे ज्ञान जन्य है, किन्तु इनको विषय नहीं करता है। स्पर्शका ज्ञान स्पर्शन इन्द्रियसे जन्य है, फिर भी वह अतींद्रिय हो रही स्पर्शन इन्द्रियको नहीं जानता हुआ स्पर्शको ही जान रहा है। अतः इन्द्रियोंके विषयका निरूपण करनेसे ज्ञानकी अर्थजन्यताका निराकरण हो जाता है। तथा ज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध सम्पूर्ण ज्ञानोंको निरालम्बन स्वीकार करते हैं। घटज्ञानका विषय कोई बहिर्भूत कम्बुग्रीवा वाला जड पदार्थ नहीं है, सभी ज्ञान निर्विषय हैं। यों इन बौद्धोंका प्रत्याख्यान करनेके लिये इन्द्रियजन्य ज्ञानोंका स्वतंत्र विषय निरूपण किया गया है। भ्रान्त ज्ञानोंको छोडकर सभी सम्यग्ज्ञान सविषय हैं। यदि विषयको ज्ञानका कारण माना जायगा तो भूत, भविष्य, पदार्थोंको सर्वज्ञ नहीं जान सकेंगे। केवल अव्यवहित पूर्वसमयवर्ती पदार्थोंका ही ज्ञान उपज सकेगा। एवं ज्ञानोंके विषय नहीं माननेपर सम्पूर्ण जीवोंके अनुभव सिद्ध हो रहे लौकिक, पारलौकिक, कर्तव्य अलीक हो जायेंगे।

केषां पुनः प्राणिनां किमिंद्रियमित्याह।

कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि कौन कौनसे प्राणियोंके कौन इन्द्रिय है? ऐसी आकांक्षा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र द्वारा उत्तर वचन कहते हैं।

वनस्पत्यंतानामेकम् ॥ २२ ॥

अन्त शब्दके अवयव, धर्म, अवसान, समीप, पिछला, कई अर्थ हैं। उनमेंसे यहां अवसान अर्थ अभीष्ट है। एक शब्दके भी असहाय, भिन्न, केवल, अन्य, संख्या, विशेष, प्रधान, प्रथम, कश्चित्, ये अनेक अर्थ हैं। किन्तु यहां प्रकरण अनुसार एक शब्दका प्रथम अर्थ लिया गया है। पृथिवीको आदि लेकर वनस्पतिपर्यंत जीवोंके पहिली स्पर्शन इन्द्रिय है।

वनस्पतिरंतोवसानं येषां ते वनस्पत्यंताः सामर्थ्यात्पृथिव्यादय इति गम्यंते तेषामेकं प्रथममिंद्रियं स्पर्शनमिति प्रतिपत्तव्यम्।

जिन जीवोंके वनस्पति अन्त अर्थात्—अवसानमें है वे जीव " वनस्पति अन्त " कहे जाते हैं। अन्त शब्द आदिकी अपेक्षा रखता है। अतः सामर्थ्यसे पृथ्वीको आदि लेकर वनस्पति पर्यन्त जीव यों जान लिये जाते हैं। उन पांच कायके जीवोंके एक पहिली स्पर्शन इन्द्रिय है, यह समझ

लेना चाहिये । पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, इन पांचों स्थावर जीवोंके एक त्वचा इन्द्रिय ही है ।

कुत इत्याह ।

किसीका प्रश्न है कि वनस्पति पर्यन्त जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय है । यह सिद्धान्त किस प्रमाणसे निर्णीत कर लिया जाय ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिमवार्त्तिक द्वारा युक्तिको कहते हैं ।

वनस्पत्यंतजीवानामेकं स्पर्शनमिंद्रियं ।
तज्ज्ञाननिमित्तायाः प्रवृत्तेरुपलंभनात् ॥ १ ॥

वनस्पतिपर्यन्त जीवोंके (पक्ष) एक स्पर्शन इन्द्रिय है (साध्य) उस स्पर्शन इन्द्रियसे उत्पन्न हुये ज्ञानको निमित्त पाकर हो रही प्रवृत्तिका उपलम्भ होनेसे (हेतु) । भावार्थ—वृक्षोंमें स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञानसे हुयीं प्रवृत्तियां देखी जाती हैं । जैसा वृक्ष, मेंदी वृक्षके रजका संपर्क पाकर फलता है । यद्यपि सम्पूर्ण वृक्ष नपुंसक लिंग हैं । फिर भी कवि जनोंके अलंकार या कोषकारकी लिंगव्यवस्था अनुसार कितने ही मनुष्योंने उनमें स्त्रीपन या पुरुषपनकी झूंठी कल्पना गढ ली है । वनस्पतिकायकी दस लाख जातियां हैं, अट्ठाईस लाख करोड कुल हैं, यह जाति कुलव्यवस्था उस कल्पनाकी भित्ति है । योग्य प्रकरण मिलनेपर केला, अमरूद, आम, आदिकी उत्पत्ति हो जाती है । यदि इसको कारक पक्ष माना जाय तो ज्ञापकपक्षके भी उदाहरण मिलते हैं । कई वृक्ष आहार करने योग्य जड या चेतन पदार्थोको पकड लेते हैं । जल या गीली मिट्टीकी ओर जरों (अपनी जडों) को फैलाते हैं । योग्य खातको ग्रहण कर अपने अधीन कर लेते हैं । मट्टीकी खान, कङ्कड, पत्थरके कोयलेकी खान, पर्वत इन पृथिवी कायके जीवोंमें भी स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञान द्वारा प्रवृत्ति होती हुई देखी जाती है । जल बिंदु दूसरी जलबिन्दुकी ओर झुक जाती है । अग्निज्वाला भी सजातीय दूसरी अग्नि ज्वालामें मिलनेको उत्सुक रहती हैं । निकटवर्ती वृक्ष या लकडीको सहारा पानेके लिये बेलें उनकी ओर झुकपडती हैं । इत्यादि युक्तियोंसे स्थावर जीवोंमें एक स्पर्शन इन्द्रिय सिद्ध हो जाती है ।

यथास्मदादीनां स्पर्शनजज्ञाननिमित्ताद्धिताहितस्य संग्रहणपरित्यागलक्षणा प्रवृत्तिरुपलभ्यते तथा वनस्पतीनामपि सोपलभ्यमाना स्पर्शनजज्ञानपूर्वकत्वं च साधयति तज्जं च ज्ञानं स्पर्शनमिंद्रियमिति निर्धार्यं । तद्वत्पृथिव्यादिजीवानामेकमिंद्रियं संभाव्यते बाधकाभावात् ।

जिस प्रकार हम लोगोंके स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञानको निमित्त पाकर होती हुई हितकर पदार्थ का संग्रह करना और अहितपदार्थका परित्याग करना स्वरूप प्रवृत्ति देखी जा रही है, तिसी प्रकार अन्वय दृष्टान्त अनुसार वनस्पति जीवोंके भी वह प्रवृत्ति देखी जा रही सन्ती स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञान

पूर्वकपनको साध देती है और वह स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञान तो स्पर्शन इन्द्रियको साध देता है। इस कारण बाधारहित होकर उन वनस्पति जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय सध जाती है। उस वनस्पतिके समान पृथिवी, जल, आदि जीवोंके भी एक स्पर्शन इन्द्रियकी सत्य संभावना की जाती है। कोई बाधक प्रमाण नहीं है।

केषां व्यादींद्रियमित्याह ।

अब महाराज, यह बताओ कि किन किन जीवोंके फिर दो, तीन, आदि इन्द्रियां हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥ २३ ॥

लट आदिक, चींटी आदिक, भौंरा आदिक, मनुष्य आदिक, इन जीवोंके स्पर्शनको मूल मानकर रसनासे प्रारम्भ कर एक एक बढ रही इन्द्रियां हैं। कृमि आदिकोंके रसनासे बढ रही स्पर्शन हैं, चींटी आदिकोंके घ्राणसे बढ चुकी स्पर्शन और रसना हैं। इत्यादि लगा लेना।

एकैकमिति वीप्सानिर्देशाद्वृद्धानीति बहुत्वनिर्देशाच्च वाक्यांतरोपप्लवं कथमित्याह ।

सूत्रमें एक एक इस प्रकार कई बार आवृत्त होकर कहा जा चुकनेवाला वीप्सा निर्देश किया है और वृद्धानि इस प्रकार बहुत्व संख्याको कहनेवाला बहुवचन निर्देश किया है। अतः अन्य वाक्योंका उपप्लव (प्रवाहरचना) कर लिया जाता है। वे वाक्य किस प्रकार बढा लिये जाते हैं। ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्रीविद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्त्तिकोंको कहते हैं।

तथा कृमिप्रकाराणां रसनेनाधिकं मतं ।
वृद्धे पिपीलिकादीनां ते घ्राणेन निरूप्यते ॥ १ ॥
चक्षुषा तानि वृद्धानि भ्रमरादिशरीरिणां ।
श्रोत्रेण तु मनुष्यादिजीवानां तानि निश्चयात् ॥ २ ॥
तत्तद्धेतुकविज्ञानमूलानामुपलब्धितः ।
विषयेषु प्रवृत्तीनां स्वस्मिन्निव विपश्चिताम् ॥ ३ ॥

तिस प्रकार दूसरे दूसरे वाक्योंका उपप्लव करनेपर यों अर्थ हो जाता है कि लट, गेंडुआ, जौंक, सीप, आदि प्रकारवाले जीवोंके वह स्पर्शन इन्द्रिय तो दूसरी रसना इन्द्रियसे अधिक हो रही मानी है। अर्थात्–लट आदिक क्षुद्र कीडोंके स्पर्शन और रसना दो इन्द्रियां हैं। ये स्पर्शनसे शीत,

उष्ण, आदिको जानते हैं, जीभसे चावल, गेहूं, रस, मट्ठी, आदिका स्वाद लेते हैं। और चींटी, खटमल, जूआं, दीमक, आदि जीवोंके वे स्पर्शन, रसना, दो इन्द्रियां बढ चुकी तीसरी नासिका इन्द्रियसे अधिक हैं। ऐसा मन्तव्य कहा जाता है। भौंरा, मक्खी, मकडी, मच्छर, पतंगा आदि शरीरधारी तथा जीवोंके वे स्पर्शन, रसना, घ्राण, इन्द्रियां चौथी चक्षु इन्द्रियसे बढ रहीं मानी गयी हैं। एवं मनुष्य, घोडे, बैल, देव, आदि जीवोंके तो वे स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु इन्द्रियां, पांचवीं श्रोत्र इन्द्रियसे बढ रहीं विद्यमान हैं। ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण और युक्तियोंसे निश्चय हो रहा है। देखिये, उन उन जीवोंके नियत हो रहीं दो, तीन, चार, या पांच इन्द्रियोंको कारण मानकर हुये विज्ञानके मूलपर होनेवाली विषयोंमें प्रवृत्तियां देखी जा रहीं हैं। विद्वानोंके यहां अपनेमें किसी भी नियत इन्द्रियजन्य ज्ञानकी भित्तिपर हुयी प्रवृत्तिकी उपलब्धि हो जानेसे जैसे उस इन्द्रियका सद्भाव मान लिया जाता है। हम देखकर पुस्तकको उठा रहे हैं, अतः हमारे चक्षु इन्द्रिय अवश्य है, शब्दोंका श्रवणकर प्रवृत्ति होरही दीखती है, अतः श्रोत्र इन्द्रियका सद्भाव है, उसी प्रकार कृमि आदिक, पिपीलिका आदिक, भ्रमर आदिक, मनुष्य आदिक जीवोंके अतीन्द्रिय इन्द्रियां जान ली जाती हैं, उपकरण इन्द्रियोंका बहुत अंशोंमें प्रत्यक्ष भी हो रहा है।

के पुनः संसारिणः समनस्काः के वाऽमनस्का इत्याह ।

पूज्य गुरुजी महाराज, अब यह बताओ कि कौनसे संसारी जीव फिर मनकरके सहित हैं ? और कौनसे संसारी जीव मनसे रहित हैं। इस प्रकार विनीत शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज सूत्र द्वारा उत्तर कहते हैं।

संज्ञिनः समनस्काः ॥ २४ ॥

हितप्राप्ति, अहित परिहार, तथा गुण अथवा दोषको विचार करना स्वरूप संज्ञा जिनके पायी जाती है वे जीव मनसहित हैं।

सामर्थ्यादसंज्ञिनो अमनस्का इति सूचितं, तेनामनस्का एव सर्वे संसारिणः सर्वे समनस्का एवेति निरस्तं भवति । कुतः पुनः संज्ञिनां समनस्कत्वं सिद्धमित्युपदर्शयति ।

संज्ञावान् जीवोंको विधिमुखसे समनस्क कह दिया गया है। अतः परिशेष न्यायकी सामर्थ्यसे असंज्ञी जीव अमनस्क हैं, यह भी सूत्रद्वारा कहा जा चुका है। तिस कथन करके सम्पूर्ण संसारी जीव मनरहित ही हैं अथवा सभी संसारी जीव मनसहित ही हैं, इस प्रकार एकान्तमन्तव्य खण्डित हो जाता है। कोई कोई दार्शनिक तो किसी भी आत्माके मनइन्द्रियको नहीं मानते हैं और वैशेषिक तो प्रत्येक आत्माको मनसहित स्वीकार करते हैं। जितनी ही आत्मायें हैं उतने ही उनके एक एक नियत हो रहे अनन्ते मन हैं। ये दोनों ही एकांत युक्तियोंसे बाधित हैं। जैसे कि सबको निर्धन या

धनिकपन माननेका एकांत पकडना गर्हित है। किसीका प्रश्न है कि फिर यह बताओ कि संज्ञावाले जीवोंका मनसहितपना भला किस प्रमाणसे सिद्ध है ? ऐसी आकांक्षा होनेपर श्री विद्यानंद स्वामी वार्त्तिकों द्वारा युक्तियोंको दिखलाते हैं।

संज्ञिनां समनस्कत्वं संज्ञायाः प्रतिपत्तितः।
सा हि शिक्षाक्रियालापग्रहणं मुनिभिर्मता ॥ १ ॥
नानादिभवसंभूतविषयानुभवोद्भवा।
सामान्यधारणाहारसंज्ञादीनामधीरपि ॥ २ ॥

संज्ञी जीवोंके (पक्ष) मनसहितपना है (साध्य) विचारआत्मक बुद्धिकी प्रतिपत्ति होनेसे (हेतु) और वह संज्ञा जो निश्चयसे मुनियों करके शिक्षा क्रिया करना, आलाप करना, ग्रहण करना, मानी गयी है। अर्थात्—बंदर, घोडा, मैना, तोता, सर्प, आदिक प्राणी सिखाये अनुसार क्रिया करते हैं, कल्पित नाम रख लेनेपर तदनुसार आते जाते हैं, सतर्क रहते हैं, मंगानेपर पदार्थोंको ले आते हैं। अतः संज्ञाकी प्रतिपत्ति होनेसे बहुतसे पशु, पक्षी, तथा मनुष्य, स्त्री, देव, देवी, ये सब मनसहित जीव हैं। किंतु अनादिकालकी जन्मपरम्परासे हुये विषयोंके अनुभवसे उत्पन्न हुयी सामान्य धारणा, सामान्य अवाय, आदिक और आहार संज्ञा, भय संज्ञा आदिक तो यहां प्रकरणमें संज्ञा नहीं मानी गयी हैं। नाम मतिज्ञान भी यहां संज्ञा नहीं है। अर्थात्—" अनाद्यविद्यादोषोत्थ-चतुःसंज्ञाज्वरातुराः " आहार आदिक चार संज्ञायें तो सम्पूर्ण जीवोंके अनादि कालसे लग रही हैं तथा मधुमक्षिका, भोंरी, चींटियां, दीमक, मकडी, आदिक कीट पतंग भी सामान्यधारणारूप संज्ञाके अनुसार गृह बनाना, बच्चे बनाना, बच्चोंका मोह करना, खाद्य एकत्रित करना, ठहरने योग्य रक्षाका स्थान बनाना आदि विस्मय जनक कार्योंको कर रहे हैं। मधु मक्खी, ततै या बर्र, घरघुली, तो यहां वहां जाकर अपने खाद्य पदार्थोंको और घर बनानेके लिये मट्टी या काठको लाकर पुनः अपने नियत उसी स्थानपर लौट आते हैं। ये कार्य तो मनके बिना अनादि कालीन विषयानुभवकी तृष्णासे बना लिये जाते हैं। किसीका नाम रख लेना या सामान्यरूपसे ज्ञान करना भी संज्ञा सिद्ध है। किन्तु यहां इन संज्ञाओंका ग्रहण करने पर तो सभी संसारी जीव समनस्क हो जायेंगे। कोई असंज्ञी होनेके लिये नहीं बचेगा। अतः इन संज्ञाओंका ग्रहण नहीं करना। किन्तु " सिक्खाकिरियु-वदेसालावग्गाही मणोवलंबेण जो जीवो सो सण्णी, तव्विवरीओ असण्णी दु "। शिक्षा, किया, उपदेश, आलाप, को मनके अवलम्बसे ग्रहण करनेवाले बैल, हाथी, तोता, आदि जीव संज्ञी हैं। ठीक हितका ग्रहण और अहितका त्याग जिससे हो सके वह शिक्षा है, इच्छा अनुसार हाथ, पांव, आदिको चलाना क्रिया है, वचन, कोडा, आदि द्वारा उपदेश देकर कर्तव्य पालन करना उपदेश है, श्लोक आदिका

पाठ आलाप है तथा जो कार्य अकार्यको विचारता है तत्त्व, अतत्त्व, की शिक्षा लेता है, नाम लेकर बुलाया गया चला आता है, वह समनस्क है। शेष संसारी जीव अमनस्क हैं।

न ह्यमनस्कानां शिक्षाक्रियालापग्रहणलक्षणा संज्ञा संभवति यतस्तदुपलब्धेः केषांचित्समनस्कत्वं न सिध्येत्। न चामनस्कानां स्मरणसामान्याभावोऽनादिभवसंभूतविषयानुभवोद्भावायाः सामान्यधारणायास्तद्धेतोः सद्भावात् आहारसंज्ञादिसिद्धेः प्रवृत्तिविशेषोपलब्धेः। न च सैव संज्ञा मुनिभिरिष्टा स्मृतिविशेषनिमित्तायास्तस्याः प्रकाशनात्।

मनरहित एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, जीवोंके वह शिक्षा, क्रिया, आलापोंको ग्रहण करना स्वरूप संज्ञा नहीं सम्भवती है। जिससे कि उस संज्ञाकी उपलब्धि रूप हेतुसे किन्हीं दूसरे विचारक जीवोंके मनसहितपना सिद्ध नहीं होता, अर्थात्–घोडा, मनुष्य, आदि जीवोंमें हेतुके वर्तजानेसे समनस्कपना सिद्ध होजाता है। यहां कोई आक्षेप करे कि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, आदि जीवोंके भी आहार, जल, निवासस्थान, आदिमें प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः उनके आहार संज्ञा आदिक और उनका कारण धारणा या स्मृति, माननी पडेगी। स्मृति तो मनवाले जीवके होते हैं। अतः द्वीन्द्रिय आदिके भी मनकी सम्भावना है। आचार्य महाराज कहते हैं कि मनरहित जीवोंके सामान्य रूपसे हुये स्मरणका अभाव नहीं है। अनादि संसार परम्परामें प्राप्त हुये विषयोंके अनुभवसे उत्पन्न हुयी सामान्यधारणा रूप उसके हेतुका सद्भाव अमनस्क जीवोंके भी पाया जाता है। उससे आहार संज्ञा, भयसंज्ञा, आदिकी सिद्धि हो जानेसे अमनस्कोंकी विशेष प्रवृत्तियां हो रही दीख रहीं हैं। किन्तु वह आहारसंज्ञा या सामान्य धारणा ही तो यहां मुनिवर उमास्वामी महाराज करके संज्ञा अभीष्ट नहीं की गयी है। विशेष रूपसे स्मृतिका निमित्त हो रही उस धारणाका यहां प्रकाश किया है। भावार्थ–सामान्य धारणापूर्वक हुयी सामान्य स्मृति तो मनरहित जीवोंके भी हो जाती है। किन्तु विशेष धारणा हेतुक स्मरण तो मनसहित जीवोंके ही होता है। सामान्य ईहा पूर्वक अवाय और सामान्य अवाय पूर्वक धारणा तथा सामान्य धारणा पूर्वक हुये स्मरण ज्ञानोंसे मनरहित जीव भी आहार आदि विषयोंकी प्राप्तिके लिये प्रवृत्ति कर रहे देखे जाते हैं। ज्ञानकी सामर्थ्य भी कुछ कम नहीं है। कोई भी ज्ञान अपने अपने अभीष्ट हो रहे हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार कर देता है। इस सामान्य क्रियामें मनकी कोई आवश्यकता नहीं है।

एतेन यदुक्तं कैश्चिदमनस्कानां स्मरणाभावेप्यभिलाषसिद्धेस्तदहर्जातदारकस्य स्तन्याभिमुखं मुखमर्जयतोभिलाषः स्मरणपूर्वकोऽभिलाषत्वात् अस्मदाद्यभिलाषवदित्यत्र हेतोरनैकांतिकत्वात् परलोकासिद्धिः। तथा च " न स्मृतेरभिलाषोस्ति विना सापि न दर्शनात्। तद्धि जन्मांतरात्तदहर्जातमात्रेपि लक्ष्यते " इत्यकलंकवचनमविचारचतुरमायातं इति। तदपि प्रत्याख्यातं, स्मरणसामान्यमंतरेण क्वचिदप्यभिलाषासंभवात् तद्धेतोरनैकांतिकत्वानुपपत्तेः।

इस उक्त कथनकरके जो किन्हीने दो तीन पंक्तियोंद्वारा यों कहा था वह भी निराकृत कर दिया गया है कि देखो मनरहित जीवोंके स्मरणके विना भी आहार आदिकी अभिलाषायें सिद्ध हो रही हैं। अतः दूधयुक्त स्तनके अभिमुख अपने मुखको उसीमें कर रहे, उसी दिनके उपजे हुये बालककी अभिलाषा (पक्ष) स्मरणपूर्वक है (साध्य) अभिलाषा होनेसे (हेतु) अस्मदादिकोंकी अभिलाषाके समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस प्रकार यहां अनुमानमें कहे गये हेतुका व्यभिचार दोष हो जानेसे परलोककी सिद्धि नहीं हुयी और तैसा होनेपर स्मृति होनेसे ही अभिलाषाका सद्भाव नहीं बना। अतः अकलंकदेवने जो अनुष्टुप छन्दद्वारा कहा था कि स्मृतिके विना जीवोंके अभिलाषा नहीं उपजती है, और वह स्मृति भी अनुभवस्वरूपदर्शनके विना नहीं होती है। और वह दर्शन तो उसी दिनके उत्पन्न हुये बच्चेमें भी पूर्व जन्मांतरोंसे हुआ लक्षित किया जाता है। इस प्रकार श्रीअकलंकदेवका वचन विचारपूर्वक चातुर्यको लिये हुये नहीं है यह प्राप्त हुआ। भावार्थ-मक्खी, वर्र, आदि मनरहित जीवोंके स्मरणके विना भी अभिलाषा हो जाती है। इसी प्रकार उसी दिनके हुये मनसहित बच्चेमें माताके स्तनकी ओर मुख करते हुये उतावलेपनके साथ अभिलाषा करना भी जन्मान्तरके अनुभूत विषयोंकी स्मृतिके विना ही हो जायगा। ऐसी दशामें आत्मा विचारा अनादि अनन्त सिद्ध नहीं हो सकता है। श्रीअकलंकदेवने स्वकीय ग्रन्थमें जो परलोकी, अनाद्यनन्त, जीवको सिद्ध करनेके लिये युक्ति दी है, विचार करनेपर उसमें चातुर्य नहीं दीखता है। कश्चित्से लेकर "आयातम्" तक चार्वाक कह चुके हैं। अब ग्रन्थकार कहते हैं कि वह चार्वाकका कहना भी हमने खण्डित कर दिया है। क्योंकि स्मरणसामान्यके विना असंज्ञी या संज्ञी किसी भी जीवमें अभिलाषा होनेका असम्भव है। अतः उस अभिलाषत्व हेतुका अनैकान्तिकपना नहीं बन पाता है। हमारा स्मरण पूर्वकपना सिद्ध करनेको दिया गया अभिलाषत्व हेतु निर्दोष है। अमनस्क जीवोंके सामान्यस्मरणपूर्वक अभिलाषायें होकर विशेष प्रवृत्तियां हो जाती हैं। हां, मनःसहित संज्ञी जीवोंके विशेष स्मरणपूर्वक विलक्षण अभिलाषाओंसे मनः द्वारा ही शिक्षा, क्रिया, अलाप, ग्रहण, करनारूप संज्ञा सम्भवती है। संज्ञी, असंज्ञी, दोनों प्रकारके जीवोंके परलोककी सिद्धि अनिवार्य है। पूर्वजन्मोंकी वासना अनुसार ही असंज्ञिओंके चमत्कारक कार्य देखे जाते हैं। कार्यकारणभाव तो तर्कके अगोचर है।

न चामनस्केषु स्मरणसामान्यसद्भावात्स्मरणविशेषस्य सिद्धिः तस्य तेनाविनाभावाभावात्। न हि यस्यानुभूतस्मरणसामान्यमस्ति तस्य स्मरणविशेषो नियमादुपलभ्यते विशेषसमयाभावप्रसंगात्। विशेषमात्राविनाभावेपि वा न शिक्षाक्रियालापग्रहणनिमित्तस्मरणविशेषाविनाभावः सिध्येत् प्राणिमात्रस्य तत्प्रसंगात्। ततो नाममतिवदाहारादिसंज्ञा तद्धेतुश्च स्मृतिसामान्यं धारणासामान्यं च तन्निमित्तमवायसामान्यमीहासामान्यमवग्रहसामान्यं च सर्वप्राणिसाधारणमनादिभवाभ्याससंभूतमभ्युपगंतव्यं, न पुनः क्षयोपशमनिमित्तम् भावमनः तस्य प्रतिनियतप्राणिविषयतयानुभूयमानत्वात्। अन्यथा सर्वत्र भावमनसो व्यवस्थापयितुमशक्तेः।

कोई कह रहा है कि मनरहित जीवोंमें सामान्यरूपसे स्मरणका सद्भाव आप जैनोंने स्वीकार किया ही है । उस सामान्य स्मरणसे विशेष स्मरणकी भी मनरहित जीवोंमें सिद्धि हो जायगी । आचार्य कहते हैं कि यह तुम नहीं कह सकते हो, क्योंकि उस सामान्यस्मरणका उस विशेषस्मरणके साथ अविनाभाव नहीं है । देखो, जिस मनुष्यके अनुभव किये हुये पदार्थका सामान्यरूपसे स्मरण है, उस मनुष्यके उस अनुभूत पदार्थका स्मरणविशेष भी होय, ऐसा नियमसे नहीं देखा गया है । अन्यथा विशेषरूपसे संकेत ग्रहण करना पुनः पुनः पर्यालोचन, पुनः विशेषरूपसे धारण करना, इनके अभावका प्रसंग हो जायगा । स्थूलबुद्धिवाले विद्यार्थियोंको भी सामान्यरूपसे ग्रन्थका स्मरण बना रहता है । किन्तु उन उन प्रकरणोंका विशेषतया स्मरण नहीं होनेसे वे परीक्षामें उत्तीर्ण नहीं पाते हैं । तभी तो उनको उत्कट अभ्यास, दृढ परामर्श, करनेकी आवश्यकता समझी जाती है । दूसरी बात यह है कि स्मरणसामान्यका जैसे न जैसे ही केवल विशेषस्मरणके साथ अविनाभाव मान भी लिया जाय तो भी स्मरणसामान्यका शिक्षा, क्रिया, आलापके ग्रहणके निमित्त हो रहे स्मरण विशेषसे अविनाभाव तो कथमपि सिद्ध नहीं होगा । अन्यथा सभी कीट, पतंग, वनस्पति, यावत् प्राणियोंके उन शिक्षा क्रिया आदिके ग्रहण करनेमें निमित्त हो रहे स्मरणविशेषका प्रसंग हो जायगा । किन्तु कीट आदिकोंके शिक्षा, क्रिया, या स्मरणविशेषका मानना किसी भी वादीको अभीष्ट नहीं है । प्रत्यक्षबाधित या अनुमानबाधित पोले सिद्धान्तको भला कौन विचारचतुर पुरुष स्वीकार कर लेगा । तिस कारण सिद्ध होता है कि किसीका देवदत्त, जिनदत्त आदि संज्ञापूर्वक नामनिर्देश करलेने अथवा संज्ञानरूप ज्ञानसामान्यको यदि संज्ञा माना जायगा तो सभी प्राणियोंमें समनस्कपना प्राप्त हो जायगा । इस विशेषणसे किसी विशेष जीवकी व्यावृत्ति नहीं हो सकेगी । केला, आम, शीशम, पत्थर, मट्टी, ज्वाला, जल, व्यंजनपवन, गेंडुआ, चींटी, मक्खी, इत्यादि सभी जीवोंका रूढि संज्ञाओंद्वारा स्वकीय नाम कथन किया जाता है । वृक्ष, चींटी, आदि जीवोंके ज्ञान भी यथायोग्य पाया जाता है । आहार आदि संज्ञायें तो सभी संज्ञी, असंज्ञी, जीवोंके विद्यमान हैं । कतिपय निर्ग्रन्थोंके यदि नहीं हुयीं तो इससे कोई दोष नहीं घट सकता है । उन आहार, भय, आदि संज्ञाओंके हेतु हो रहे स्मरण सामान्य भी सब जीवोंके पाये जाते हैं । धारणाज्ञानके विना स्मृति नहीं हो पाती है । अतः सामान्यधारणा भी स्मरणका कारण सब जीवोंके इष्ट किया जाता है । उस संस्कारस्वरूप धारणा ज्ञानका निमित्त अवाय-ज्ञान सामान्य और उसका भी कारण ईहा सामान्य तथा ईहाका भी कारण अवग्रहसामान्य ये सम्पूर्ण प्राणियोंमें साधारण रूपसे विद्यमान हैं । अनादि काल की जन्मपरम्परामें हुये अभ्याससे उपज रहे वे अवग्रह आदि सामान्य स्वीकार कर लेने चाहिये । भावार्थ नामनिर्देश और सामान्य मतिज्ञानके समान आहार भय, आदि संज्ञा और उनकी कारणपरम्परामें पडे हुये स्मरण, धारणा, ईहा अवाय, अवग्रह ये सभी संज्ञी, असंज्ञी, जीवोंमें साधारण हो रहे मानने चाहिये । किन्तु फिर विशेषक्षयोपशमको निमित्त पाकर हुआ भावमन तो सभी जीवोंका साधारण स्वभाव नहीं है । वह भावमन तो प्रत्येक प्रत्येक

नियत हो रहे विचारशाली मनःसहित प्राणियोंमें वर्त रहा ही अनुभवा जाता है। अन्यथा यानी विशेष क्षयोपशमपूर्वक होनेवाले स्मरणविशेष, धारणाविशेष, अवायविशेष, आदिके विना ही विचारने वाले भावमनकी सिद्धि कर लोगे तो सभी संज्ञी प्राणियोंमें या सभी दार्शनिकोंके यहां भावमनकी व्यवस्था नहीं हो सकती है। अतः विशेषक्षयोपशमसे हुये भावमनःस्वरूप रूप, शिक्षा, क्रिया, आलाप उपदेशग्रहणरूप संज्ञाको धारनेवाले जीव समनस्क हैं शेष प्राणी अमनस्क हैं। यह सिद्धान्त व्यवस्थित हो जाता है।

भावमनोऽन्यथानुपपत्त्या द्रव्यमनोपि सिध्यतीत्याह।

भावमनकी अन्यथा यानी द्रव्यमनको स्वीकार किये विना असिद्धि है। इस कारण द्रव्यमन भी उन मनःसहित जीवोंके सिद्ध हो जाता है, इसी बातको श्री विद्यानन्दस्वामी वार्तिकद्वारा कह रहे हैं।

क्षयोपशमभेदेन युक्तो जीवोनुमन्यते।
सद्भिर्भावमनस्तावत् कैश्चित्संज्ञाविशेषतः ॥ ३ ॥
तत्सद्द्रव्यमनो युक्तमात्मनः करणत्वतः।
स्वार्थोपलंभने भावस्पर्शनादिवदत्र नः ॥ ४ ॥

विशेष हो रहे क्षयोपश करके युक्त हो रहा जीव किन्हीं सज्जन पुरुषों करके शिक्षा, क्रिया, आलाप, ग्रहणरूप संज्ञा विशेष हेतुसे अनुमान द्वारा भावमन तो जान लिया ही जाता है। वह विद्यमान हो रहा भावमन (पक्ष) द्रव्य मनसे युक्त है (साध्य) स्व और अर्थकी उपलब्धि करनेमें आत्माका कारण होनेसे (हेतु) भावस्पर्शन इन्द्रिय आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त)। हम स्याद्वादियोंके यहां इस प्रकरणमें दोनों प्रकारके मन अभीष्ट हैं, जो कि संज्ञी जीवोंके पाये जाते हैं। अर्थात्— एकेंद्रिय जीवोंके लब्धि, उपयोग, स्वरूप भावस्पर्शन इन्द्रिय है। तथा आत्मप्रदेश और पौद्गलिक पिंडस्वरूप द्रव्य स्पर्शन इन्द्रिय भी है। उसी प्रकार मनवाले जीवोंके घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण आत्मप्रदेश (अभ्यन्तरनिर्वृत्ति) और मनोवर्गणासे बनाया गया छोटा पौद्गलिक पिण्ड स्वरूप द्रव्यमन (बाह्यनिर्वृति) तथा मानस मतिज्ञानावरण एवं विशेष श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे हुई विशुद्धि (लब्धि) और अनुभव या विचाररूप उपयोग भावमन ये विद्यमान हैं।

न हि संज्ञाविशेषादृते क्षयोपशमविशेषेण युक्तो जीव एव भावमनः कैश्चिदनुमातुं शक्यते। प्रज्ञामेधादेः कार्यविशेषादनुमिताच्छक्यत एवेति चेन्न, तस्यापि संज्ञाविशेषरूपत्वात्। ऊहापोहात्मिका हि प्रज्ञा शिक्षादिक्रियाग्रहणलक्षणैव, मेधा पुनः पाठग्रहणलक्षणालापग्रहरूपैवेति। ततो भावमनः स्वार्थोपलब्धेः सिद्धं द्रव्यमनो वाकर्षयति। तथाहि—भावमनः स्वार्थोपलब्धौ द्रव्यकरणापेक्षं भावकरणत्वात् स्पर्शनादिभावकरणवत्।

" क्षयोपशम विशेष करके युक्त हो रहा जीव ही भावमन है " यह किन्हीं विद्वानों करके संज्ञा विशेषके विना अनुमान करनेके लिये शक्य नहीं है । भावार्थ—कर्मोंका विशेषक्षयोपशम अतीन्द्रिय है । शिक्षा, क्रिया, आदि संज्ञा विशेषोंसे ही क्षयोपशम और तद्विशिष्ट जीवका अनुमान किया जा सकता है । यदि कोई यों कहे कि क्षयोपशमसे जन्य कार्यविशेषों द्वारा अनुमान किये जा चुके प्रज्ञा, मेधा, प्रतिभा, मनीषा, आदि हेतुओंसे भावमनका अनुमान किया जा सकता है । संज्ञा विशेषकी आवश्यकता नहीं है, आचार्य कहते हैं यह तो न कहना । क्योंकि उन प्रज्ञा या धारणाशालिनी बुद्धि मेधा, अथवा नवीन नवीन उन्मेषवाली प्रतिभा आदिको भी विशेषसंज्ञा स्वरूपपना है । देखिये तर्क, वितर्कणा, स्वरूप प्रज्ञा भला शिक्षा आदि क्रियाको ग्रहण करना स्वरूप ही है । फिर मेधा तो पाठका ग्रहण करना स्वरूप या आलापका ग्रहण करना स्वरूप ही है । इस कारण ये विशेष संज्ञा ही हैं । तिस कारण स्व और अर्थकी उपलब्धि हो जानेसे सिद्ध हो चुका भावमन पुनः पौद्गलिक द्रव्यमनका आकर्षण करा लेता है । उसी बातको अनुमानद्वारा स्पष्ट कर दिखलाते हैं कि स्वार्थोंकी उपलब्धि करनेमें भावमन (पक्ष) द्रव्यकरणकी अपेक्षा रखता है (साध्य) । भावस्वरूपकरण होनेसे (हेतु) स्पर्शन आदि भावकरणों (इन्द्रियां) के समान (अन्वयदृष्टान्त) ।

मनसोऽनिंद्रियत्वात्करणत्वमसिद्धमिति चेन्न, अन्तःकरणत्वेन प्रसिद्धेः । अनिंद्रियत्वं तु पुनस्तस्यानियतविषयत्वादिंद्रियवैधर्म्यात् नाकरणत्वात्, स्वार्थोपलब्धौ साधकतमत्वेन करणत्वोपपत्तेः । न चैवं सूत्रविरोधः, पंचेन्द्रियाणि द्विविधानि द्रव्यभावविकल्पादित्यत्रानिंद्रियस्यापि द्विविधस्य सामर्थ्यसिद्धत्वात् । शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानामित्यत्र सूत्रे पौद्गलिकस्य द्रव्यमनसः सूत्रकारेण स्वयमभिधानात् ।

कोई कहता है कि मन तो इन्द्रिय नहीं है । अतःकरणपना हेतु पक्षमें नहीं वर्तनेसे असिद्ध हेत्वाभास है । आचार्य कहते हैं यह तो न कहना । क्योंकि अन्तरंगके करणपने करके मनकी प्रसिद्धि हो रही है । हां, फिर अनिन्द्रियपना तो उस मनका नियत विषय नहीं होनेके कारण इन्द्रियोंके विधर्मपनसे है, करणरहितपनेसे नहीं । अर्थात्–इन्द्रियां करण हैं और मन इन्द्रियोंसे भिन्न अनिन्द्रिय है। अतःकरण नहीं होगा, यह नहीं समझ बैठना । देखो, बात यह है कि स्पर्शनादि पांचों बहिरंग इन्द्रियोंके विषय स्पर्श, रस, आदिक नियत हैं और मनका कोई विषय विशेषरूपसे नियत नहीं किया गया है । प्रायः सम्पूर्ण विषयोंमें मनकी प्रवृत्ति सबने मानी है । अतः इन्द्रियोंके धर्म नियत विषयत्वसे वैधर्म्य रखनेवाले अनियत विषयत्व हो जानेसे मनमें अनिन्द्रियपना है । अन्य इन्द्रियोंके समान मनमें भी स्वार्थोंकी उपलब्धिमें प्रकृष्ट उपकारक होनेसे करणपना समुचित बन रहा है । यदि कोई यों कहें कि यों मनको भी करणपना माननेपर सूत्रसे विरोध हो जायगा । सूत्रमें पांच इन्द्रियां ही करण मानीं गयीं हैं । आचार्य कहते हैं कि यों कोई सूत्रसे विरोध नहीं आता है । क्योंकि " पंचेंद्रियाणि,

द्विविधानि " ये दो सूत्र हैं । पांच इन्द्रियां हैं वे द्रव्य और भाव भेदसे प्रत्येक दो प्रकारवाली हैं इस प्रकार यहां दो प्रकारके मनकी भी विना कहे ही सामर्थ्यसे सिद्धि हो जाती है । " तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् " इस सूत्रमें इन्द्रियोंके साथ अनिन्द्रिय भी प्रधानरूपसे कहा गया है तथा पांचमें अध्यायके " शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् " इस सूत्रमें सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजने पुद्गल निर्मित द्रव्यमनका स्वयं कण्ठोक्त निरूपण किया है ।

तस्मादिंद्रियमनसी विज्ञानस्य कारणं नार्थोपीत्यकलंकैरपि द्विविधेंद्रियसामान्यवाक्यत्वेन द्विविधस्य मनसोभीष्टत्वात् । द्रव्यमनःप्रतिषेधिवचनाभावाच्च तत्प्रतिषेधे प्रमाणाभावाद्युक्त्यागमविरोधाच्च । तत्राहोपुरुषिकामात्रं केषांचिदविभावितसिद्धांतत्वमाविर्भावयति ।

तिस ही कारणसे सम्माननीय श्री अकलंक महाराजने भी यों कहकर कि इन्द्रिय और मन दोनों ही विज्ञानके कारण हैं, किंतु विषय हो रहा अर्थ भी विज्ञानका कारण नहीं है । इस कथन द्वारा दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंके प्रतिपादक सामान्य वाक्य होनेसे द्रव्यमन और भावमन दोनों प्रकारके मनको अभीष्ट किया है । तथा द्रव्यमनका प्रतिषेध करनेवाले वचनका अभाव है, उस द्रव्यमनका निषेध करनेमें कोई प्रमाण नहीं है । युक्ति और आगमसे भी विरोध आता है । फिर भी वहां द्रव्यमनका निषेध करनेमें आश्चर्य दिखलाते हुये नग्न, निर्लज्ज, पुरुषकीसी केवल चेष्टायें करना तो किन्हीं चार्वाक सदृशवादियोंके सिद्धांतविषयक विचाररहितपनको प्रकट करा रहा है । अर्थात्—द्रव्यमनका निषेध करनेवाले चार्वाक विचारे सिद्धान्तरहस्यका परामर्श नहीं कर सकते हैं । यहांतक ग्रन्थकारने भावमनके साथ द्रव्यमनको भी सिद्ध कर दिया है । मैं ही पुरुष हूं यों अभिमानजन्य अपनेमें उत्कर्ष सम्भावना (बहादुर) तो आहोपुरुषिका है ।

कश्चिदाह—द्रव्यमन एव भावमनोस्ति तच्चात्मपुद्गलव्यतिरिक्तं द्रव्यांतरमिति तदप्यपसारयति ।

कोई वैशेषिक या नैयायिक यों कह रहा है कि द्रव्यमन ही भावमन है और वह द्रव्यमन तो आत्मा और पुद्गल दोनों द्रव्योंसे अतिरिक्त हो रहा न्यारा नौवां द्रव्य है । " पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि " यों कणादमुनिप्रणीत सूत्र है । इस प्रकार उस वैशेषिकसिद्धान्तका भी निराकरण श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्तिक द्वारा करते हैं ।

आत्मपुद्गलपर्यायव्यतिरिक्तं मनो न तु ।
द्रव्यमस्ति परैरुक्तं प्रमाणाभावतस्तथा ॥ ५ ॥

अन्तरंग निर्वृत्ति और लब्धि, उपयोग, रूप मन तो आत्मद्रव्यस्वरूप है तथा बहिरंगनिर्वृत्ति और अष्टदलकमलरूप, उपकरण स्वरूप मन तो पुद्गलकी पर्याय है । आत्मा पर्याय और पुद्गल

पर्यायसे व्यतिरिक्त हो रहा कोई मन नामक नौमा द्रव्य नहीं है, जो कि दूसरे विद्वान् वैशेषिकोंने न्यारा कहा था। क्योंकि तिस प्रकार मनको स्वतंत्र नौमा द्रव्य माननेमें साधक प्रमाणोंका अभाव है।

भावमनो ह्यात्मपर्यायः तस्य लब्ध्युपयोगत्वात्। सत्यपि द्रव्यमनसि तदभावे स्वार्थपरिच्छेदप्रादुर्भावायोगात्तत्त्वसिद्धेः। द्रव्यमनः पुद्गलपर्यायस्तदुपकरणात् द्रव्येंद्रियवत्। तद्व्यतिरिक्तं तु द्रव्यांतरं मनो न शक्यं परैः साधयितुं तथा प्रमाणाभावात्। युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगमिति चेन्न, ततो मनोमात्रस्य प्रतिपत्तिस्तद्द्रव्यांतरत्वासिद्धेः। पृथिव्यादिद्रव्यत्वनिषेधात्परिशेषात् तस्य द्रव्यांतरत्वसिद्धिरिति चेन्नैतत्, निषेधासिद्धेः। तथाहि स्पर्शवद्द्रव्यं मनोऽसर्वगतद्रव्यत्वात् पवनवदिति पुद्गलद्रव्यत्वसिद्धेः। कुतः परिशेषात्तस्य द्रव्यांतरत्वं समर्थयिष्यते च तस्याग्रतः पौद्गलिकत्वमित्यलं प्रसंगात्।

चूंकि भाव मन तो आत्माकी पर्याय है। क्योंकि वह भावमन तो लब्धि और उपयोग स्वरूप है। हृदयमें आठ पत्तेवाले कमलके समान द्रव्यमनके होते संते भी उस भावमनका अभाव हो जानेपर स्वार्थोंकी ज्ञप्ति प्रकट नहीं हो पाती है। अतः उस भावमनकी युक्तिप्रमाणसे प्रसिद्धि हो जाती है। हां, दूसरा द्रव्यमन तो (पक्ष) पुद्गलकी पर्याय है (साध्य) क्योंकि उस भावमनका उपकार करनेवाला करण है (हेतु) जैसे कि स्पर्शन आदिक द्रव्येन्द्रियां उपकारक कारण होनेसे पुद्गलकी पर्याय हैं। (अन्वयदृष्टान्त)। हां, दूसरे वैशेषिकों करके उन आत्मपर्याय और पुद्गलपर्यायसे व्यतिरिक्त तो दूसरे द्रव्यको मन नहीं साधा जा सकता है। उनके पास मनको न्यारा द्रव्य साधनेवाले प्रमाणका अभाव है। यदि वैशेषिकोंके सिद्धान्त अनुसार यह प्रमाण प्रस्तुत करो कि " ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः " आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिंगम् (वैशेषिकदर्शनम्) प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम् " " युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम् " एक बारमें कई ज्ञानोंका नहीं उपजना ही ज्ञापक लिंग है। मुरमुरी कचौडी या पापड, खानेपर भी पांचों ज्ञान क्रमसे ही होते हैं। आचार्य कहते हैं कि वह तो न कहना। उससे तो केवल मनकी विश्वासपूर्वक ज्ञप्ति हो जाती है। उस मनको स्वतंत्र न्यारा द्रव्यपना सिद्ध नहीं हो पाता है। वैशेषिक कहते हैं कि मनकी प्रतिपत्ति हो जानेपर पुनः पृथिवी, जल, आदि आठ द्रव्यपनका निषेध हो जानेसे परिशेष न्यायद्वारा उस मनको भिन्न स्वतंत्र द्रव्यपना सिद्ध ही हो जावेगा। अर्थात्--स्पर्शनवाले पृथिवी, जल, तेज, वायु, इन चार द्रव्योंका परिणाम तो मन हो नहीं सकता है। क्योंकि सुख, दुःख, ज्ञान, आदिके असमवायी कारण हो रहे संयोगके आश्रय (उद्देश्य) चार स्पर्शवान् द्रव्य तो नहीं हैं (विधेय) तथा सुख, दुःखके साक्षात्कारमें आकाश भी करण नहीं हो सकता है। मनपदार्थ छोटा फिर काल, दिशा, आत्मास्वरूप भी नहीं है। अतः पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, इन आठ द्रव्योंका निषेध हो जानेसे मनको न्यारा नौमा द्रव्यपना सिद्ध हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न

कहना। क्योंकि मनको पृथिवी आदि आठ द्रव्यपनका निषेध करना असिद्ध है। उसी निषेधकी असिद्धि को हम अनुमानद्वारा स्पष्ट कर दिखलाते हैं। मन (पक्ष) स्पर्श गुणवाला द्रव्य है (साध्य) अव्यापक द्रव्य होनेसे (हेतु) वायुके समान (अन्वयदृष्टांत) इस ढंगसे मनको पुद्गल द्रव्यपना सिद्ध हो जाता है। फिर तुमने उस मनको आठ द्रव्योंसे अतिरिक्त परिशेषसे नौमा द्रव्यपना कैसे सिद्ध कर दिया था ? बताओ। हम जैन सिद्धान्ती उस उस मनके पुद्गल निर्मितपनका आगे समर्थन कर देवेंगे। " शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानां " इस सूत्र द्वारा मनको पुद्गलका बनाया हुआ साध दिया जावेगा। इस प्रकरणमें इतने ही प्रसंग अनुसार कथन पर्याप्त है। यहां मनके पुद्गल रचितपनके प्रसंगका बढाना अनुचित है। विद्वानोंको इशारा ही काफी है।

अत्रान्ये द्रव्यमनो भावमनःसहितं द्रव्यं करणत्वात् स्पर्शनादिद्रव्यकरणवदित्याचक्षते। तदयुक्तं, योगिद्रव्यमनसानैकांतात्। योगिनो हि द्रव्यमनः सदपि न भावमनःसहितं द्रव्येंद्रियं च न भावेंद्रिययुक्तं क्षायिकज्ञानेन सह क्षायोपशमिकस्य भावमनोक्षस्य विरोधात्। न च केवलिनो द्रव्यमनोक्षाणि न संति " बहिरंतरप्युभयथा च करणमविघातीति, वचनात्। ततो विज्ञानविशेषादेव भावमनः साधनीयं, सिद्धाच्च भावमनसो द्रव्यमनसः सिद्धिरित्यनवद्यं।

यहां कोई दूसरे पण्डित यों निवेदन कर रहे हैं कि द्रव्यमन (पक्ष) भावमनसे सहित हो रहा ही द्रव्य है (साध्यदल) करण होनेसे (हेतु) स्पर्शन आदिक द्रव्यकरणों (इन्द्रियां) के समान (अन्वयदृष्टांत)। इनका अभिप्राय द्रव्य मनके साथ भावमनका अविनाभाव नियत रखनेका है। आचार्य कहते हैं कि वह उनका कहना युक्तिरहित है। क्योंकि यों योगियोंके द्रव्यमनसे हेतुमें व्यभिचार दोष आता है। त्रिकाल त्रिलोकवर्त्ती पदार्थोंका युगपत् प्रत्यक्ष करनेवाले योगीका द्रव्यमन विद्यमान हो रहा सन्ता भी भावमनसे सहित नहीं है तथा तेरहमे, चौदहमे गुणस्थानवर्त्ती सर्वज्ञके विद्यमान न हो रहीं पांच द्रव्येंद्रियां भी भावेन्द्रियोंसे युक्त नहीं हैं। ज्ञानावरण कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुये क्षायिक केवलज्ञानके साथ ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुये भावमन और भावइन्द्रियोंके होनेका विरोध है। जिन जीवोंके पास क्षायोपशमिक ज्ञान है उनके भावेंद्रियां सम्भवती हैं। द्रव्येन्द्रियां तो तेरहमे गुणस्थानवाले योगियोंके और चौदहमे गुणस्थानवाले अयोगी महाराजके भी पाई जाती हैं। केवली भगवान्के पांच बहिरंग द्रव्य इन्द्रियां और छठा अन्तरंग द्रव्यमन नहीं है, यह नहीं समझ बैठना। क्योंकि गुरुजी महाराज श्री समन्तभद्राचार्यने बृहत् स्वयंभूस्तोत्रमें नेमिनाथ भगवान्की स्तुति करते समय यों कहा है कि " बहिरन्तरप्युभयथा च करणमविघाति नार्थकृत्, नाथ युगपदखिलं च सदा त्वमिदं तलामलकवद्विवेदिथ " अर्थात्—हे नाथ! बहिरंग इन्द्रियां और अन्तरंग इन्द्रियां भी दोनों प्रकारके करण आपमें हैं किन्तु तुम्हारे ज्ञानका विघात करनेवाले नहीं हैं, वे छहों द्रव्येंद्रियां तो इन्द्रियजन्य कार्य करना,

क्रमसे ज्ञान कराना, एक साथ ज्ञान न होने देना, आदि प्रयोजनोंको तुममें करानेवाली नहीं है। हे नेमिनाथ भगवन्! तुम इस सम्पूर्ण जगत्को हथेलीपर रक्खे हुये आमलेके समान सदा कभीके जान चुके थे। असहाय केवलज्ञानका प्रकाश हो जानेपर फिर कोई भी द्रव्येन्द्रिय अपने कार्य भावेन्द्रियका सम्पादन नहीं कर पाती हैं। तिस कारण विज्ञानविशेषसे ही भावमनको साधना चाहिये। हां, भावमनके सिद्ध हो जानेसे द्रव्यमनकी सिद्धि हो जाती है यह निर्दोष व्यवस्था करना है। जिन जीवोंके भावमन पाया जाता है उनके द्रव्यमन अवश्य होगा। किन्तु जिनके द्रव्यमन है उनके भावमन होय, नहीं भी होय, इस प्रकार भावमन और द्रव्यमनमें कार्यकारणभावगर्भित व्याप्य-व्यापकभाव सम्बन्ध है।

येषां तु प्राणिनां शिक्षाक्रियालापग्रहणविज्ञानविशेषाभावः शश्वत्तद्भवे निश्चितस्तेषां संज्ञित्वाभावाच्च भावमनोस्ति तदभावाच्च द्रव्यमनोऽनुमीयत इत्यमनस्कास्ते ततो युक्तं संज्ञित्वासंज्ञित्वाभ्यां समनस्कामनस्कत्वं व्यवस्थापयितुम्।

हां, जिन प्राणियोंके तो उस भवमें सर्वदा शिक्षा, क्रिया, आलाप, ग्रहण करनेवाले विज्ञान विशेषोंका अभाव निश्चित हो रहा है, उन मक्खी, चींटी, कोई कोई पशु, पक्षी भी आदि जीवोंके संज्ञीपनका अभाव हो जानेसे भावमन नहीं है और उस भावमनका अभाव हो जानेसे द्रव्यमनके सद्भावका भी अनुमान नहीं किया जा सकता है। कार्यसे कारणका अनुमान हो सकता था। अर्थात्—भावमन इतना परोक्ष नहीं जितना द्रव्यमन परोक्ष है। हमको अपने भावमनका प्रत्यक्ष भी हो जाता है। दूसरेके भावमनका अनुमान सुलभतासे हो जाता है। अतः भावमनके अभावसे द्रव्यमनका अभाव साध लिया है। व्यापकके अभाव (व्याप्य) से व्याप्यका अभाव (व्यापक) अनुमित हो जाता है। जैसे कि वन्ह्यभावसे धूमाभावका अनुमान कर लिया जाता है। व्यापक वस्तुका अभाव व्याप्य यानी अल्पदेशवृत्ती हो जाता है और व्याप्य पदार्थका अभाव व्यापक यानी बहुदेशवृत्ती हो जाता है। यों इस हेतुसे वे असंज्ञी जीव अमनस्क जाने जाते हैं। तिस कारण संज्ञीपन और असंज्ञीपनसे जीवोंका समनस्कपना और अमनस्कपना व्यवस्था करानेके लिये युक्तिपूर्ण है।

इति सूत्रत्रयेणाक्षमनसां स्वामिनिश्चयः।
संज्ञासंज्ञिविभागश्च सामर्थ्याद्विहितोंजसा ॥ ६ ॥

इस प्रकार तीन सूत्रों करके इन्द्रिय और मनके स्वामी हो रहे जीवोंका निश्चय कर दिया गया है। तथा संज्ञी जीवोंका विभाग करते हुये परिशेष न्यायकी सामर्थ्यसे असंज्ञी जीवोंका विभाग भी झटिति कर दिया गया समझ लेना चाहिये। अर्थात्—" वनस्पत्यंतानामेकम् " " कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि " इन दोनों सूत्रोंसे पांचों या छऊ इन्द्रियोंके अधिकारी या स्वामी

हो रहे जीवोंका वर्णन किया है तथा तीसरे "संज्ञिनः समनस्काः" इस सूत्रसे संज्ञी, असंज्ञी, जीवोंका पृथग्भाव श्री उमास्वामी महाराजने कह दिया है । एक एक सूत्रमें अपरिमित वाच्यार्थ भरा पड़ा है ।

यथा स्पर्शनस्य वनस्पत्यंताः स्वामिनः, कृम्यादयः तस्य रसनवृद्धस्य, पिपीलिकादयस्तयोर्घ्राणवृद्धयोः, भ्रमरादयस्तेषां चक्षुर्वृद्धानां, मनुष्यादयस्तेषामपि श्रोत्रवृद्धानां तथा संज्ञिनो मनस इति प्रतिपत्तव्यं । ये तु मनसोऽस्वामिनः संसारिणस्ते न संज्ञिनः इति संज्ञ्यसंज्ञिविभागश्च परमार्थतो विहितः ।

तिस प्रकारकी पहिली स्पर्शन इन्द्रियके पृथिवीसे प्रारम्भ कर वनस्पतिपर्यंत जीव स्वामी हैं, और रसना इन्द्रियसे वृद्धिको प्राप्त हो रही उस स्पर्शन इन्द्रियके स्वामी लट, जौंक आदिक जीव हैं । तथा घ्राण इन्द्रियसे बढ़ रही उन स्पर्शन और रसना यों दो मिलकर तीन इन्द्रियोंके स्वामी चींटी, खटमल, आदिक जीव हैं एवं चौथी चक्षुःइन्द्रियसे बढ़ चुकीं तीनों उन स्पर्शन, रसना, घ्राण, इन्द्रियोंके स्वामी भौंरा, मक्खी, पतंगा, आदि प्राणी हैं, तथैव पांचवी श्रोत्र इन्द्रियसे अधिक हो रहीं उन स्पर्शन, रसना, घ्राण, और चक्षुके स्वामी तो मनुष्य, घोड़ा, हाथी, आदि जीव हैं । तिस प्रकार ही संज्ञी जीव उन पांचोंके और मनके स्वामी हैं, यों समझ लेना चाहिये । यहां यथाके साथ तथाका अन्वय कर पंक्तिका अर्थ लगा देना । और जो जीव मनके स्वामी नहीं हैं वे संसारी जीव तो संज्ञी नहीं हैं । इस प्रकार वास्तविक रूपसे संज्ञी और असंज्ञी जीवोंके विभागका विधान इस सूत्रद्वारा किया जा चुका है । केवलज्ञानी जीवोंमें संज्ञीपन, असंज्ञीपनका भेद नहीं है । वे दोनों अवस्थाओंसे रहित हैं ।

तदेवमान्हिकार्थमुपसंहरन्नाह ।

तिस कारण इस प्रकार प्रकरणोंके समुदायभूत आन्हिकके अर्थका उपसंहार (संकोच) कर रहे श्री विद्यानन्द महाराज अग्रिम वार्तिकको वंशस्थ छंदद्वारा स्पष्ट कहते हैं ।

इति स्वतत्त्वादिविशेषरूपतो निवेदितं तु व्यवहारतो नयात् ।
तदेव सामान्यमवांतरोदितात्स्वसंग्रहात्तद्द्वितयप्रमाणतः ॥ ७ ॥

द्वितीय अध्यायके आदिमें इस उक्त प्रकार जीवके निजतत्त्व, लक्षण भेद, इन्द्रिय, आदिका सामान्य रूपसे कथन कर पुनः व्यवहार नय करके विशेष रूपसे उन स्वतत्त्व आदिका इन प्रकरणोंमें सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजद्वारा दार्शनिक और भव्यजीवोंके सन्मुख निवेदन किया जा चुका है । वह सामान्य निरूपण ही व्याप्य विशेषको कहनेवाले स्वकीय, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, नयोंद्वारा विशेष रूपसे कह दिया जाता है तथा दोनों सामान्य विशेष आत्मक वस्तुको विषय करनेवाले प्रमाणसे सब कह दिया गया समझ लेना चाहिये । नय और प्रमाणोंके विषय हो रहे धर्म, धर्मियों, करके जीवतत्त्व गुम्फित हो रहा है । प्रत्यक्ष परोक्षस्वरूप दोनों प्रमाणोंसे सम्पूर्ण विषय परिज्ञात होजाते हैं ।

प्रमाणनयैरधिगम इत्युक्तं तत्र जीवस्य स्वतत्त्वमिह सामान्यं संग्रहादवांतरोक्तादधिगतं निवेदितं तद्भेदाः परौपशमिकादयो व्यवहारनयात् यज्जीवस्य स्वतत्त्वं तदौपशमिकादिभेदरूपमिति। पुनरप्यौपशमिकादिसामान्यं तत्संग्रहात् तद्भेदो व्यवहारात्। यदौपशमिकसामान्यं तद्द्विभेदं, यत्क्षायिकसामान्यं तन्नवभेदः यन्मिश्रसामान्यं तदष्टादशभेदं, यदौदयिकसामान्यं तदेकविंशतिभेदं, यत्पारिणामिकं सामान्यं तत्त्रिभेदं इति। पुनरपि सम्यक्त्वादिसामान्यं तत्संग्रहात् तद्भेदो व्यवहारादिति संग्रहव्यवहारनिरूपणपरंपरा प्रागृजुसूत्रादवगंतव्या। सामान्यविशेषात्मकं तु स्वतत्त्वं सकलं प्रधानभावात् प्रमाणतोऽधिगतं निवेदितं सूत्रकारेण। एवं जीवस्य लक्षणं भेद इन्द्रियं मनस्तद्विषयः तत्स्वामी च सामान्यतः संग्रहाद्विशेषतो व्यवहारात् प्रधानभावार्पितसामान्यविशेषतः प्रमाणादधिगम्यते।

प्रमाण और नयोंकरके जीवादि पदार्थोंका अधिगम होता है। यह पहिले अध्यायमें कहा जा चुका है। उन सात तत्त्वोंमेंसे जीवतत्त्वका निजतत्त्व तो यहां द्वितीय अध्यायके पहिले सूत्रमें जो सामान्य कहा गया है, वह नयके अवान्तर व्याप्य भेदोंमें कहे गये संग्रहनयसे जान लिया गया कहा जा चुका है। हां, जीवके स्वतत्त्वके भेद हो रहे दूसरे औपशमिक, क्षायिक, आदि भाव तो व्यवहार नयसे यों गिनाये गये हैं कि जीवके जो स्वतत्त्व हैं वे औपशमिक, क्षायिक, आदि भेदस्वरूप हैं। फिर भी उस औपशमिक आदि सामान्यको संग्रहनयसे जानकर उन औपशमिक आदिके भेदोंका अधिगम व्यवहारनयसे यों जान लिया कह दिया है कि जो औपशमिक सामान्य है, वह दो भेदवाला तत्त्व है, और जो क्षायिक सामान्य स्वतत्त्व है, वह नौ भेदोंको धार रहा है, तथा जो जीवका निजतत्त्व मिश्र सामान्य है, वह अठारह भेदोंमें विभक्त है, एवं जो संग्रहनयसे सामान्य अनुसार एक ही औदयिक निजतत्त्व है, वह व्यवहारनयसे इकईस भेदोंमें बटा हुआ है। जो पारिणामिक सामान्य भाव है, वह व्यवहारनयसे यह तीन भेदवान् है, इस प्रकार संग्रह और व्यवहारनयसे स्वतत्त्वके भेद प्रभेदोंका निरूपण आदिके सात सूत्रोंमें किया गया है, फिर भी वहीं सम्यक्त्व आदि सामान्यको जो संग्रहसे जाना गया है, उसके भेद व्यवहारसे जान लिये जाते हैं। व्यवहारनयसे जाने चुकेके ऋजुसूत्रनयसे पुनः प्रभेद जान लिये जाते हैं। इस ढंगसे संग्रह और व्यवहारद्वारा निरूपण करनेकी परम्परा सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयसे पहिलेतक समझ लेनी चाहिये। अर्थात्—जबतक एक समयवर्त्ती सूक्ष्म एक ही पर्यायतक नहीं पहुंचे, तबतक पहिलेके भेद प्रभेदोंको संग्रह और व्यवहारमें ही खतियाना चाहिये, जैसे कि प्रासादके दृढ भाण्डागारमें बडा सन्दूक है, वहां बडी तिजोरीमें डिब्बा रक्खा है। डिब्बेमें डिबिआ और डिबिआमें वस्त्रवेष्टित हो रहे रत्नभूषण सुरक्षित हैं। उसी प्रकार पहिले व्यवहारसे जाने गयेको संग्रहका विषय बनाकर पुनः उसके व्याप्य विषयको व्यवहारसे जानो, फिर भी यदि विषयोंके परतोंमें छोटे छोटे अनेक परत दीखें तो उस व्यवहारनयके विषयको

संग्रहनयद्वारा जानकर उसके भी व्याप्यको पुन व्यवहारनयसे जानो, जबतक ऋजुसूत्र नयका विषय दृष्टिगोचर न होय तबतक संग्रह, व्यवहार नयोंकी परम्पराको बढाये जावो। जीव पदार्थका सम्पूर्ण निजतत्त्व तो सामान्य विशेषात्मक है, नयोंद्वारा कोई भी एक धर्म या धर्मी प्रधान विवक्षित हो जाता है। शेष अंश अप्रधान समझा जाता है। हां, प्रमाणद्वारा तो संपूर्ण सामान्यविशेष आत्मक स्वतत्त्व प्रधानरूपसे जान लिया गया। सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज करके निवेदन कर दिया गया है। इस प्रकार सात सूत्रोंद्वारा जीवका स्वतत्त्व और दो सूत्रद्वारा जीवका लक्षण तथा पांच सूत्रोंद्वारा जीवके भेद एवं अग्रिम पांच सूत्रोंकरके जीवकी इन्द्रियां और मन भी तथा आगेके दो सूत्रोंकरके जीवकी छह इन्द्रियोंके विषय तथैव तीन सूत्रों करके जीवकी छह इन्द्रियोंके स्वामी ये सब जान लिये जाते हैं। यहांतक द्वितीय अध्यायके चौवीस सूत्रोंका निरूप्य अर्थ बता दिया है। सामान्यरूप करके संग्रहनयसे उक्त विषय जाना जाता है और विशेष रूप करके व्यवहारनयसे उक्त स्वतत्त्व लक्षण आदिको जान लिया जाता है तथा सामान्य और विशेष दोनोंको प्रधानरूपसे विवक्षा प्राप्त करनेपर प्रमाणसे उक्त सिद्धान्त निर्णीत कर लिया जाता है।

इति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे द्वितीयाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्।

यहांतक तत्त्वार्थसूत्रके अलंकारस्वरूप तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थमें द्वितीय अध्यायका श्री विद्यानन्द स्वामी कृत पहिला आह्निक समाप्त हुआ।

ॐ ह्रीं श्रीं द्वादशाङ्गप्रभृतिकमनघं मन्त्रमुच्चारयन्तः।
शुक्लध्यानात्मिकां यां मतिमवधिमनःपर्ययौ चावहेल्य।
शब्दाद्यष्टाङ्गपूर्णामनुपदमृषयो भावयन्त्युग्रभक्त्या
पायाज्जीवस्वतत्त्वाद्यधिगतिकुशला सार्हती भारती नः॥ १॥

—×**×—

इसके अनन्तर जिज्ञासा होती है कि संसारी जीवके मर जानेपर यानी भुज्यमान आयुःकर्मके भुगत चुकनेपर पूर्वजन्म सम्बन्धी शरीरके नष्ट होते सन्ते विचारक द्रव्यमनका भी विनाश हो चुका है, ऐसी दशामें असहाय आत्माकी भविष्यमें जन्म लेने योग्य क्षेत्रके प्रति अभिमुखपने करके प्रवृत्ति भला कैसे होगी? बताओ। ईश्वर, खुदा, यमदूत आदि तो जैनसिद्धान्त अनुसार क्षेत्रान्तरमें ले जाकर जन्म करा देनेवाले माने नहीं गये हैं। उनके पक्षपाती पण्डितोंने जैसे वे माने हैं वैसे ईश्वर आदि प्रमाण सिद्ध भी नहीं हैं। इस प्रकार सप्रतारण जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्रका अवतार करते हैं।

विग्रहगतौ कर्मयोगः॥ २५॥

सम्पूर्ण शरीरोंके प्ररोहका बीजभूत वह ज्ञानावरण आदि अष्टकर्मोंका समुदायभूत कार्मण शरीर ही यहां कर्म कहा जाता है। मन वचन कायके उपयोगी वर्गणाओंमेंसे किसी भी एकका निमित्त पाकर हुआ आत्मप्रदेशोंका सकम्पना योग माना जाता है। उत्तरभव सम्बन्धी शरीरके ग्रहण करनेके लिये हो रही गतिमें कर्मयोग निमित्त हो जाता है। अर्थात्– उत्तर भवमें जन्म लेनेके लिये आकाश प्रदेश श्रेणियोंमें चले जा रहे जीवके कार्मणयोग हो रहा गतिका सम्पादक है। जगतमें जड पदार्थ बहुत विस्मयजनक कार्योंको कर रहे हैं। चेतनको अनेक वर्षोंतक उनकी शिष्यता प्राप्त करना मानो आवश्यक हो जाता है। वैज्ञानिक विद्वानोंद्वारा जडके चमत्कारक कार्यदृष्टि गोचर करा दिये जाते हैं। चेतन तो मूर्ख सरीखा उनके सन्मुख देखता ही रह जाता है। चेतनके भूक, प्यास, शीत, उष्णता, बाधा, रोग आदिको जड ही मेटता है जीवित शरीरमें भी चेतन जीव पोंगा सरीखा खडा रहता है, जिस समय कि शारीरिक प्रकृति अनेक आश्चर्यकारक कार्योंका सम्पादन कर रही है अतः जीवकी शरीरके लिये गतिमें अथवा पुद्गलके आधानके निरोधके साथ हो रही गतिमें कर्मयोग प्रेरक निमित्त हो रहा है।

विग्रहो देहः गतिर्गमनक्रिया विग्रहाय गतिः विग्रहगतिः अश्वघासादिवदत्र वृत्तिः कर्म कार्मणं शरीरं कर्मैव योगः। कार्मणशरीरालंबनात्मप्रदेशपरिस्पंदरूपा क्रियेत्यर्थः। विग्रहगतौ कर्मयोगोस्तीति प्रतिपत्तव्यं, तेन पूर्वं शरीरं परित्यज्योत्तरशरीराभिमुखं गच्छतो जीवास्यांतराले कर्मादानसिद्धिः।

विग्रह शब्दके अर्थ देह, राजनीति सम्बन्धी छह गुणोंमें एक गुण, युद्ध, विस्तार, ये कई हैं। किन्तु यहां सूत्रमें पडे हुये विग्रह शब्दका अर्थ देह पकडना चाहिये गति शब्दके गमन, मुक्ति, ज्ञप्ति, प्राप्ति, अर्थोंमेंसे यहां गमन करना स्वरूप क्रिया अर्थ लेना चाहिये। विग्रहके लिये जो गति होती है वह विग्रहगति होती है। यहां कोई प्रश्न करे कि " रथाय दारुः रथदारुः कटकाय सुवर्णं कटकसुवर्णं " रथके लिये काठ है, कडेके लिये सोना है, इस प्रकार " प्रकृतिविकृतिभाव " सम्बन्ध होनेपर उसके लिये इस अर्थमें चतुर्थी तत्पुरुष समासवृत्ति हो सकती है। किन्तु यहां तो शरीरको बनानेके लिये गति कोई प्रकृति नहीं है। अतः समास होना कठिन है। इसके लिये प्रथमसे ही आचार्य कह देते हैं कि विग्रहगतौ यहां " अश्वघास, छात्रान्न, इत्यादिके समान समासवृत्ति कर लेनी चाहिये, घोडेके लिये घास है, विद्यार्थीके लिये अन्न रखा है, यहां प्रकृति विकृति भाव नहीं होते हुये भी तदर्थपनेको कह रही चतुर्थी समासवृत्ति हो जाती है। तथा कर्मका अर्थ आत्मामें प्रवाह रूपसे उपचित हो रहा कार्मण शरीर है। कर्मस्वरूप ही जो योग है वह कर्मयोग है। यानी कार्मण शरीरका अवलम्ब लेकर हुयी आत्मप्रदेश कम्पन स्वरूप क्रिया इस कर्मयोगका अर्थ है, विग्रहके लिये गतिमें कर्मका योग है यह समझ लेना चाहिये। तिस कारण पूर्वशरीरको छोडकर उत्तरभव सम्बन्धी शरीरके अभिमुख गमन कर रहे जीवके मध्यवर्ती अन्तरालमें कर्मोंके ग्रहण करनेकी सिद्धि हो जाती है। कार्मणकाय योगद्वारा उस समय भी कार्मण वर्गणाओंका आकर्षण होकर जीवके ज्ञानावरणादि कर्म बनते रहते हैं।

कुतः पुनर्विग्रहगतौ जीवस्य कर्मयोगोस्तीति निश्चीयत इत्याह ।

फिर यह बताओ कि विग्रहगतिमें जीवके कर्मयोग विद्यमान है, यह किस प्रमाणसे निश्चित किया जाता है ? इस प्रकार प्रश्नस्वरूप बाणके छूटनेपर बालबालकी रक्षा करते हुये श्री विद्यानन्द स्वामी वज्रकवचरूप समाधान वचनको कहते हैं ।

गतौ तु विग्रहार्थायां कर्मयोगो मतोन्यथा ।
तेन संबंधवैधुर्याद्व्योमवन्निर्वृतात्मवत् ॥ १ ॥

विग्रहके उपार्जन अर्थ हो रही गतिमें तो कर्मयोग प्रेरक कारण माना गया है, अन्यथा यानी कर्मयोग नहीं माननेपर उस समय उन कर्मोंके सम्बन्धसे रीते रह जानेके कारण यह जीव आकाशके समान सर्वथा कर्मशून्य हो जायगा अथवा कर्मयुक्त हो रहा जीव मुक्तजीवोंके समान बन बैठेगा । ऐसी दशामें तो मर जानेपर सभी जीवोंको कर्मरिक्ति हो जानेसे मुक्तिलाभ प्राप्त हो जायगा । संसारपरिवर्तन नहीं हो सकेगा, जोकि किसी भी आस्तिकके यहां अभीष्ट नहीं किया गया है ।

येषां विग्रहनिमित्तायां गतौ जीवस्य कर्मयोगो नाभिमतस्तेषां तदा पश्चाद्वा नात्मा पूर्वकर्मसंबंधवान्कर्मयोगरहितत्वादाकाशवन्मुक्तात्मवच्च विपर्ययप्रसंगो वा ।

जिन प्रतिवादियोंके यहां शरीरके निमित्त हो रही जीवकी गतिमें कर्मयोगको कारण नहीं माना गया है उनके यहां उस समय अथवा पीछे भी आत्मा (पक्ष) पूर्व कर्मोंके सम्बन्धवाला नहीं सम्भवता है (साध्य) कर्मयोगसे रहित होनेके कारण (हेतु) आकाशके समान और मुक्त आत्माके समान (दो अन्वयदृष्टान्त) पहिला दृष्टान्त तो सर्वथा कर्मोंके अत्यन्ताभावको साध रहा है और दूसरा दृष्टान्त कर्मोंके सद्भावपूर्वक रिक्तता (ध्वंस) को पुष्ट करता है । अथवा दूसरी बात यह भी है कि विपर्यय हो जानेका भी प्रसंग होगा । अर्थात्—मरते समय कर्मोंसे सर्वथा रीता हो गया आत्मा पुनः जन्मान्तरोंके फलोपयोगी कर्मोंका नवीन ढंगसे यदि उपार्जन कर लेता है तो कर्मोंके भूत, वर्तमान, भविष्य, त्रिकाल, संसर्गावच्छिन्न अत्यन्ताभावको धार रहा आकाश अथवा कर्मोंके वर्तमान, भविष्य, कालद्वय संसर्गावच्छिन्न ध्वंसको धार रहा मुक्त आत्मा भी पुनः कर्म लिप्त हो जायगा, जो कि इष्ट नहीं है ।

आत्मनः परममहत्त्वात् गतिमत्त्वाभावाद्विग्रहगतिरसिद्धा । तथोत्तरशरीरयोग एव पूर्वशरीरवियोग इत्येककालत्वात्तयोर्नान्तरालमदृष्टयोगरहितं यतो पूर्वकर्मसंबंधभागात्मा न स्यादिति कश्चित् । तं प्रत्याह ।

यहां कोई वैशेषिक कह रहा है कि विभु द्रव्योंमें पाये जानेवाले परम महत्त्व परिमाणका धारी होनेसे आत्माके गतिमान्पनेका अभाव है । अतः विग्रहके लिये गति करना जीवके असिद्ध है तथा एक बात यह भी है कि उत्तर शरीरके साथ सम्बन्ध हो जाना ही तो पूर्वशरीरका वियोग है । इस प्रकार पूर्वभवकी मृत्यु और उत्तर भवके जन्मका एककाल होनेसे उन दोनोंका अन्तराल तो पूर्ववर्ती

अदृष्टके योगसे रहित नहीं है। जिससे कि आत्मा पूर्वकर्मके सम्बन्धको धारनेवाला न हो सके। अर्थात्—आत्मा व्यापक है, उत्तरभवके जन्मस्थानोंमें पहिलेसे ही ठहरा हुआ है। अतः उत्तर शरीरको ग्रहण करनेके लिये गमनकी कोई आवश्यकता नहीं है। पहिलेके योग और कर्मबन्ध सब वैसेके वैसे ही बने रह सकते हैं। फिर हमारे ऊपर आकाश या मुक्तात्माके समान कर्मरहितपनेका प्रसंग अथवा विपर्यय हो जानेका प्रसंग व्यर्थमें क्यों उठाया जाता है? यहांतक कोई कटाक्ष कर रहा है। उस वैशेषिकके प्रति श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिकों द्वारा समाधान कहते हैं।

गतिमत्त्वं पुनस्तस्य क्रियाहेतुगुणत्वतः।
लोष्ठवद्धेतुधर्मोस्ति तत्र कायक्रियेक्षणात् ॥ २ ॥

उस जीवकी गतिसहितपना तो क्रियाके हेतु, गुण, से युक्त होनेके कारण सिद्ध हो जाता है, जैसे कि फेंके जा रहे डेलमें क्रियाका हेतु वेगगुण विद्यमान है, उसी प्रकार आत्मामें क्रिया करनेका हेतु प्रयत्न या जीवविपाकी गतिकर्मके उदयसे होनेवाला गतिभावनामक गुण (पर्याय) विद्यमान है। अब हेतुके असिद्ध हो जानेकी शंका हो जानेपर पुनः हेतुको साध्य कोटिपर लाया जाता है कि उस आत्मामें हेतु धर्म हो रहा क्रियाका हेतुभूत गुण विद्यमान है। क्योंकि शरीरमें उसके द्वारा की गयी क्रिया देखी जाती है। अर्थात्—देखो, जिस समय देवदत्त हाथको ऊपर उठा रहा है या चल रहा है उस समय आत्मामें क्रियाका उत्पादक प्रयत्न गुण अवश्य है। अन्यथा शरीरके अवयवोंमें उठाना या पावोंका चलाना आदि क्रियायें नहीं देखी जा सकती थी। हाथ या पावोंमें ओतपोत हो रही आत्मा ही उठती चलती फिरती है। उसके साथ शरीर या उसके अवयव तो खिच जाते हैं। जैसे कि घसिहारे मनुष्यके चलनेपर उसके सिरपर रखी हुई घासकी पोटरी भी उसके साथ घिसटती चली जाती है। इस ढंगसे दो हेतुओं द्वारा आत्माकी गतिको साध दिया गया है।

सर्वगत्वाद्गतिः पुंसः खवन्नास्तीति ये विदुः।
तेषां हेतुरसिद्धोस्य कायमात्रत्ववेदनात् ॥ ३ ॥

आत्माके (पक्ष) देशसे देशान्तर होनारूप गति नहीं है (साध्य) जगत्के सभी स्थानोंमें प्राप्त हो चुका होनेसे (हेतु) विभु आकाशके समान (अन्वयदृष्टान्त), इस प्रकार जो नैयायिक मान बैठे हैं, उनके यहांका स्वीकृत सर्वगत्व हेतु असिद्ध है। पक्षमें नहीं वर्तता है। क्योंकि इस जीवका केवल गृहीत शरीरमें ही उतने ही लम्बे चौडे, मोटे परिमाणको विषय कर रहा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हो रहा है। अपने अपने शरीरके बाहर आत्माका सम्वेदन किसीको नहीं होता है। अतः आत्मा अणुपरिमाण या महापरिमाण दोनोंसे रीता हो रहा मध्यम परिमाणवाला है। अन्यथा व्यापक मान लेनेपर बडा भारी व्यवहारसांकर्य होकर गुटाला मच जायगा। " सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वं" यह विभुपना आत्मामें नहीं है।

विभुः पुमानमूर्तत्वे सति नित्यत्वतः खवत् ।
इत्यादि हेतवोप्येवं प्रत्यक्षहतगोचराः ॥ ४ ॥

फिर वैशेषिक पंडित अनुमान करते हैं कि आत्मा (पक्ष) व्यापक है (साध्य) पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन इन पांच मूर्तोंसे भिन्न होते सन्ते नित्य होनेसे (हेतु) आकाशके समान (अन्वयदृष्टान्त) तथा आत्मा व्यापक है (प्रतिज्ञा) क्योंकि अणुपरिमाणका अधिकरण नहीं हो रहा सन्ता नित्यद्रव्य है (हेतु), जैसे कि आकाश व्यापक है (दृष्टांत) । अथवा देवदत्तकी अंगनाका शरीर या देवदत्तके सैकडों हजारों कोस दूर बन रहे वस्त्र, अलंकार, कांटे, विष, अंगूर, सेव, आदिक पदार्थ (पक्ष) संयुक्त हो रहे देवदत्तकी आत्माके गुणोंद्वारा सम्पादित किये जाते हैं (साध्य) क्योंकि कार्य होते हुये वे उस देवदत्तके उपकारक हैं (हेतु) जैसे कि कौर, गायन, अध्ययन, आदिक हैं । इस अनुमानसे भी आत्माके व्यापक सिद्ध हो जानेपर ही देशान्तरवर्त्ती भोग्य, उपभोग्य पदार्थोंसे संयुक्त होकर क्रिया कराना बन पाता है । तथा पुण्य पाप (पक्ष) अपने आश्रय आत्माके साथ संयुक्त (समवेत) हो रहे सन्ते ही दूसरे आश्रयोंमें क्रियाका आरम्भ करते हैं (साध्य), क्योंकि एक द्रव्यके गुण होते हुये वे क्रियाके हेतुभूत गुण हैं (हेतु), प्रयत्नके समान (अन्वय दृष्टांत) । एवं आत्मा (पक्ष) सर्वव्यापक है (साध्य), सर्वत्र जाने जा रहे गुणोंका आधार होनेसे (हेतु) आकाशके समान (दृष्टांत) तथा बुद्धिका अधिकरण हो रहा आत्मा द्रव्य व्यापक है (साध्य), क्योंकि नित्य होते हुये असमदादिकोंके द्वारा जानने योग्य गुणोंका अधिष्ठान होनेसे (हेतु) आकाशके समान (अन्वयदृष्टांत) और भी आत्मा सर्वगत है (प्रतिज्ञा), द्रव्य होते हुए अमूर्त होनेसे (हेतु) आकाशके समान । अन्य भी अनुमान लीजिये । आत्मा व्यापक है (प्रतिज्ञा) मनसे भिन्न होता हुआ स्पर्शरहित द्रव्य होनेसे (हेतु) आकाशके समान । अत्र आचार्य कहते हैं कि आत्माको व्यापकत्व सिद्ध करनेमें दिये गये इसी प्रकार अमूर्त होते हुये नित्यपना आदिक हेतु तो प्रत्यक्षबाधित साध्यको विषय कर चुकनेपर प्रयुक्त हो रहे हैं । अतः बाधित हेत्वाभास हैं । जब कि रासनप्रत्यक्षसे मिश्रीका मीठापन प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा गृहीत हो रहा है, ऐसी दशामें दो चार तो क्या सहस्रों हेतु भी मिश्रीको कटु सिद्ध करनेके लिये समर्थ नहीं हैं । उसी प्रकार शरीरमें ही आत्माका स्वसम्वेदन हो रहा है । अतः आत्माके व्यापकत्वको साधनेवाले सभी हेतु अकिंचित्कर हैं । तथा आत्मा (पक्ष) परममहा परिमाणवान् नहीं है (साध्य) क्योंकि द्रव्यांतरोंसे उस साधारण हो रहे सामान्यका आधार हो रहा सन्ता अनेक हैं (हेतु) घट, पट, आदिके समान (अन्वयदृष्टांत) तथा आत्मा सर्वगत नहीं है, दिक्, काल, आकाशसे भिन्न होता हुआ द्रव्य होनेसे पुस्तकके समान । एवं आत्मा विभु नहीं है, क्रियावान् होनेसे बाण आदिके समान । इत्यादिक अनुमानोंसे भी आत्माका व्यापकत्व बिगाड दिया जाता है । तब तो पूर्वोक्त सभी हेतु सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास हो जाते हैं ।

हेतुरीश्वरबोधेन व्यभिचारी च कीर्तितः ।
तस्यामूर्तत्वनित्यत्वसिद्धेरविभुता मृतः ॥ ५ ॥
अनित्यो भावबोधश्चेन्न स्यात्तस्य प्रमाणता ।
गृहीतग्रहणान्नो चेत् स्मृत्यादेः शास्त्रबाधिता ॥ ६ ॥

आचार्य महाराज दूसरी बात कहते हैं कि वैशेषिकोंद्वारा आत्माके विभुत्वको साधनेमें प्रयुक्त किया गया हेतु तो ईश्वरज्ञान करके व्यभिचार दोषवान् भी प्रसिद्ध हो रहा है । देखिये, वैशेषिकोंके यहां दिक्, काल, आत्मा, आकाश, ये चार द्रव्य व्यापक माने गये हैं । इनके गुण तो परम महापरिमाणवाले नहीं हैं । क्योंकि गुणमें पुनः दूसरे गुण नहीं ठहरते हैं, ज्ञान गुणमें परिमाण गुण नहीं वर्तता है " गुणो गुणानंगीकारात् । " " निर्गुणा गुणाः " । जबकि पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन, इन पांच मूर्तद्रव्योंसे भिन्न हो रहा वह ईश्वर ज्ञान अमूर्त है, और नित्य भी सिद्ध है, किन्तु अव्यापकत्वको धारनेवाले उस ज्ञानको व्यापकपना नहीं माना गया है, अतः ईश्वरज्ञानमें हेतुके अविकल ठहर जानेसे और साध्यके नहीं वर्तनेसे व्यभिचार दोष हुआ । इस व्यभिचार दोषको हटानेके लिये वैशेषिक यदि ईश्वरज्ञानको अनित्य कहें तब तो गृहीतग्राही होनेसे उस ईश्वरज्ञानको धारावाही ज्ञानके समान प्रमाणता नहीं हो पायगी । पहिले ज्ञानने जिन पदार्थोंको विषय किया था दूसरे ज्ञानने भी भी नवीन उपज कर उन्हीं पदार्थोंको जाना, यह गृहीतोंका ही ग्रहण हुआ । हां, ईश्वर ज्ञानको नित्य, एक, मान लेनेपर तो गृहीतको ही पुनः दूसरे ज्ञानसे भी ग्रहण करना यह प्रसंग उठानेका अवसर ही नहीं आता है । यदि तुम वैशेषिक गृहीतग्राही होनेपर भी ईश्वरज्ञानकी अप्रमाणता नहीं मानोगे तब तो स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, धारावाहि ज्ञान आदिको भी प्रमाणता आ टपकेगी, जोकि तुम्हारे शास्त्रोंसे बाधित है, साथमें आत्माका व्यापकपना तो सर्वांगीण निर्दोष उन धर्मी ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे बाधित हो रहा है । यह समझे रहो ।

गतिमानात्मा क्रियाहेतुगुणसंबंधाल्लोष्ठवत् । क्रियाहेतुगुणसंबंधोऽस्यात्मनि काये तत्कृतक्रियोपलंभात् । यत्र यत्कृतक्रियोपलंभः तत्र क्रियाहेतुगुणसंबंधोस्ति यथा वनस्पतौ वायुकृतक्रियोपलंभाद्वायौ तथा चात्मकृतक्रियोपलंभः काये तस्मादात्मनि क्रियाहेतुगुणसंबंधोस्ति इति निश्चीयते । कः पुनरसावात्मनि क्रियाहेतुगुणः ? प्रयत्नादिः । प्रयत्नवता ह्यात्मना बुद्धिपूर्विका क्रिया काये क्रियते, अबुद्धिपूर्विका तु धर्माधर्मवतान्यथा तदयोगात् ।

आत्मा (पक्ष) गमन करना रूप क्रियावाला है (साध्य) क्रियाके हेतु हो रहे गुणोंका सम्बन्ध रखनेवाला होनेसे (हेतु) डेल या गोलीके समान (अन्वयदृष्टान्त) । पुनः आचार्य हेतु दलको साधते हैं कि आत्मामें (पक्ष) क्रियाके हेतुभूत गुणोंका सम्बन्ध हो रहा है (साध्य)

शरीरमें उन गुणोंसे की गई क्रियाका प्रत्यक्ष ज्ञान होनेसे (हेतु) जहां जिसके द्वारा की गयी क्रियाका उपलम्भ हो रहा है, वहां क्रियाके हेतुभूत गुणका सम्बन्ध है । या क्रिया हेतुभूतगुणके समवायी द्रव्यका सम्बन्ध विद्यमान है (अन्वयदृष्टान्त) जैसे कि वृक्षस्वरूप वनस्पतिमें वायु द्वारा की गई क्रियाका उपलम्भ होनेसे वायुमें क्रियाहेतुगुण वेग या कँपानेवाला ईरण (धक्का देना) विद्यमान है (अन्वयदृष्टान्त) तिसी प्रकार कायमें आत्मा द्वारा की गयी क्रियाका उपलम्भ हो रहा है (उपनय) तिस कारणसे शरीरी आत्मामें क्रियाके हेतुभूत गुणोंका सम्बन्ध है (निगमन) । यों अनुमानसे निश्चय-कर लिया जाता है । यहां कोई प्रश्न करता है कि फिर यह बताओ ? कि आत्मामें क्रियाका हेतु हो रहा वह गुण कौनसा है ? आचार्य उत्तर कहते हैं कि प्रयत्न, वीर्य, उत्साह, बल, आदिक गुण आत्मामें क्रियाके सम्पादक हैं । चूंकि प्रयत्नवाले आत्मा करके कायमें बुद्धिपूर्वक क्रिया की जाती है जिससे कि खाना, पीना, चलना, घूमना, उछलना, भित्ती (कुश्ती), गिरना, शास्त्र लिखना, खेलना, सीमना, कसीदा काढना, आदि क्रियायें हो जाती हैं । हां, शरीरमें हुईं अबुद्धिपूर्वक क्रियायें तो पुण्य पापवाले आत्मा करके अव्यक्त पुरुषार्थ द्वारा बनाली जाती हैं, जिससे नख, केश, आदिकी वृद्धि होना, रक्त संचार, अन्न परिपाक, मल उपमलोंका बनना, आदि क्रियाओंका सम्पादन हो जाता है । अन्यथा यानी प्रयत्नवान् आत्माके विना शरीरमें उन बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक हुई क्रियाओंकी निष्पत्ति होनेका अयोग है । अतः क्रियाके सम्पादक गुणोंका सम्बन्ध हो रहा होनेसे आत्मामें गति क्रिया सिद्ध हो जाती है ।

ननु च क्रियाहेतुगुणयुक्तः कश्चिदन्यत्र क्रियामारभमाणः क्रियावान् दृष्टो यथा वेगेन युक्तो वायुर्वनस्पतौ, कश्चित्पुनरक्रियो यथाकाशं पतत्रिणि तथात्मा क्रियाहेतुगुणयुक्तश्च स्याद-क्रियश्चेति नायं हेतुः क्रियावत्त्वं साधयेदाकाशेन व्यभिचारात् इति कश्चित्, सोत्रैवं पर्यनुयो-क्तव्यः । केन क्रियाहेतुना गुणेन युक्तमाकाशमिति ? वायुसंयोगेनेति चेन्न, तस्य क्रियाहेतुत्वा-सिद्धेः । वनस्पतौ वायुसंयोगात् क्रियाहेतुरसाविति चेन्न, तस्मिन् सत्यप्यभावात् । विशिष्टो वायुसंयोगः क्रियाहेतुरिति चेत् , कः पुनरसौ ? नोदनमभिघातश्चेति । किं पुनर्नोदनं कश्चाभि-घातः ? वेगवद्द्रव्यसंयोग इति चेत्, तर्हि वेग एव क्रियाहेतुस्तद्भावे भावात् तदभावे चाभा-वात् न खाकाशस्य वेगोस्तीति न क्रियाहेतुगुणयुक्तमाकाशं ततो न तेन साधनस्य व्यभिचारः।

यहां कोई वैशेषिक मतका अनुयायी अपने आत्माके क्रियारहितपन मन्तव्यका और भी अव-धारण कर रहा है कि कोई कोई पदार्थ तो क्रियाके हेतुभूत गुणसे युक्त हो रहा अन्य पदार्थोंमें क्रियाका आरम्भ कर रहा सन्ता वह क्रियावान् देखा गया है, जैसे कि क्रियाके कारण वेग गुणसे सहित हो रहा वायु दूसरे वनस्पतियोंमें हलन, कम्पन, क्रियाओंको उपजाता है । किन्तु कोई कोई पदार्थ तो फिर क्रियारहित होता हुआ ही दूसरे पदार्थोंमें क्रियाका आरम्भ कर देता है । जैसे कि आकाश द्रव्य

दूसरे पक्षी या पतंगेमें क्रियाको करा देता है। तिसी प्रकार आत्मा क्रियाके कारण गुणोंसे युक्त भी बना रहे और क्रिया रहित भी बना रहे कोई क्षति नहीं है। इस कारण अनुकूल तर्कका अभाव हो जानेसे तुम जैनोंका यह " क्रियाकारणगुणत्व " हेतु तो आत्मामें गमनक्रियासहितपनको नहीं साध सकेगा। क्योंकि आकाशके साथ व्यभिचार दोष हो रहा है। पूर्व प्रकरणोंमें वायु वनस्पतिके संयोगके सदृश वायु आकाश संयोग आकाशमें वर्त रहा क्रियाहेतुगुण साधा जा चुका है। किन्तु आकाश क्रियावान् नहीं है। यहांतक कोई प्रतिवादी कह चुका है, अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कह रहा वह प्रतिवादी यहां यों पर्यनुयोग लगाने योग्य है। अर्थात्—उसके ऊपर यह अभियोग लगा देना चाहिये कि भाई बताओ, क्रियाके हेतुभूत किस गुणसे युक्त आकाश हो रहा है ? हम तो समझते हैं कि आकाशमें कोई भी क्रियाका हेतु गुण नहीं है। यदि तुम वैशेषिक यों कहो कि वायुसंयोग नामक क्रियाहेतु गुणसे युक्त आकाश है सो यह तो नहीं कह सकते हो। क्योंकि उस आकाशवर्ती वायुसंयोगको क्रियाका हेतुपना असिद्ध है। यदि तुम वैशेषिक पुनः यह कहो कि वनस्पतिमें वायु संयोगसे क्रिया हो जाती है। अतः वह वायुसंयोग क्रियाका हेतुभूत मान लिया जाय। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस वायुसंयोगके होनेपर भी वृक्षमें क्रियाका अभाव हो रहा है। अर्धरात्रिमें वायुका मन्द संचार होनेपर भी वृक्ष अकम्प रहे आते हैं। यदि तुम विशेषताको प्राप्त हो रहे वायुसंयोगको क्रियाका कारण मानोगे यों कहनेपर तो हम पूछेंगे कि तुम्हारे यहां " अभिघातो नोदनञ्च शब्दहेतुरिहादिमः, शब्दाहेतुर्द्वितीयः स्यात् " इस प्रकार संयोगके दो भेद माने गये हैं। अब फिर तुम यह बताओ कि कौनसा वह नोदन अथवा अभिघात नामका विशिष्टसंयोग भला क्रियाका कारण है ? तथा यह भी बताओ कि फिर वह नोदन क्या है ? और अभिघात क्या है ? इसके उत्तरमें यदि तुम यों कहो कि शब्दका हेतुभूत संयोग अभिघात है, जैसे कि आट करते हुये ताली बजाते समय हाथोंका अभिघात संयोग है और शब्दको नहीं उपजानेवाला संयोग तो नोदन है। शब्द किये विना हाथको चुपकेसे दूसरे हाथसे मिला देना नोदन है। यहां वेगवाले द्रव्यके साथ अन्यद्रव्यका विशिष्ट संयोग ही क्रियाका हेतु इष्ट है, तब तो हम जैन कहेंगे कि वेग ही क्रियाका हेतु हुआ। संयोग गुण तो क्रिया संपादक नहीं बना। क्योंकि उस वेगके होनेपर क्रियाकी उत्पत्तिका अभाव है। यह अन्वयव्यतिरेक पूर्वक वेग और क्रियाका कार्यकारण भाव सिद्ध है। किन्तु आकाशद्रव्यके तो वे गुण नहीं हैं। " क्षितिर्जलं तथा तेजः, पवनो मन एव च। परापरत्वमूर्तत्वक्रियावेगाश्रया अमी " इस सिद्धांत अनुसार तुमने पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन इन पांच द्रव्योंमें ही वेगगुण माना है। आकाशमें वेग नहीं है " षडेव चाम्बरे " आकाशमें संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, शब्द, ये छह गुण माने गये हैं। अतः वेगके नहीं होनेसे क्रियाके हेतुभूत गुणसे युक्त आकाश नहीं है। तिस कारण उस आकाशसे हमारे हेतुका व्यभिचार दोष नहीं लगता है। क्रियाहेतुगुणकत्व इस निर्दोष हेतुसे आत्माका गतिसहितपना सिद्ध हो जाता है।

अथ मतं न गतिमानात्मा सर्वगतत्वादाकाशवदित्यनुमानाद्गतिमत्त्वस्य प्रतिषेधादनुमानविरुद्धः पक्ष इति । तदयुक्तं, पुंसः सर्वगतत्वासिद्धेः कार्ये एव तस्य संवेदनात् ततो बहिः संवित्त्यभावात् । सर्वगतः पुमान् नित्यत्वे सत्यमूर्तत्वादाकाशवदिति चेन्न, अस्य कालात्ययापदिष्टत्वात् साधनस्य धर्मिग्राहकप्रमाणबाधितत्वात् प्रत्यक्षविरुद्धपक्षनिर्देशानंतरप्रयुक्तत्वात् शीतोऽग्निर्द्रव्यत्वात् जलवदित्यादिवत् ।

अब यदि वैशेषिकोंका यह मन्तव्य होय कि आत्मा (पक्ष) गमनक्रियावाला नहीं है, (साध्य) सर्वत्र व्यापरहा होनेसे (हेतु) आकाशके समान (अन्वयदृष्टान्त) यों आत्माके गतिसहितपनका बढिया निषेध हो जानेसे तुम जैनोंका आत्माको क्रियाका साधक प्रतिज्ञास्वरूप पक्ष तो इस अनुमानसे विरुद्ध पड गया । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तुम्हारा यह कहना युक्तिरहित है । क्योंकि आत्माका सर्वगतपना असिद्ध है । शरीरमें ही उस आत्माका सम्वेदन हो रहा है। उससे बाहर दूसरे शरीरमें या घट, पट, अथवा अन्तरालमें आत्माकी सम्वित्ति नहीं हो रही है । अतः तुम्हारे हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है । यदि वैशेषिक पुनः अनुमान उठाकर हेतुको यों सिद्ध करें कि आत्मा (पक्ष) सर्वत्र व्यापक है (साध्य) नित्य होते सन्ते अमूर्तपना होनेसे (हेतु) आकाशके समान (दृष्टांत) । अकेला नित्यत्व हेतु देनेसे पृथिवी आदिकी परमाणुयें और मनसे व्यभिचार हो जाता । अतः अमूर्तत्व भी कहना पडा । क्योंकि ये मूर्त हैं और यदि अमूर्तत्व ही हेतु कहा जाता तो अनित्य गुणोंसे व्यभिचार आता । अतः " नित्यत्वे सति अमूर्तत्व " इतना हेतु दिया गया है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि यह तुम्हारा साधन तो शरीरमें ही आत्मा नामक धर्मीके ग्राहक प्रमाणसे बाधित हो जानेके कारण प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरुद्ध हो रहे पक्षके निर्देश अनन्तर प्रयुक्त होनेसे कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास है, जैसे कि अग्नि शीतल है, द्रव्य होनेसे जलके समान, अथवा आकाश अल्पपरिमाणवाला है, द्रव्य होनेसे, घटके समान, इत्यादिक अनुमानोंके हेतु बाधित हेत्वाभास हैं ।

एतेनामूर्तद्रव्यत्वात्सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वादित्येवमादयो हेतवः प्रत्याख्याताः प्रत्यक्षबाधितविषयत्वाविशेषात् । किं च, नित्यत्वे सत्यमूर्तत्वादित्ययं हेतुरीश्वरज्ञानेन अनैकांतिकः तस्यासर्वगतस्यापि नित्यत्वामूर्तत्वसिद्धेः नित्यं हीश्वरज्ञानमनाद्यनंतत्वात् खुरत्वमिवत् । तस्य सादिपर्यंतत्वे सति महेश्वरस्य सर्वार्थपरिच्छेदविरोधात् ।

वैशेषिकोंने आत्माको व्यापक साधनेके लिये अमूर्तद्रव्यपन हेतु दिया है । उनके यहां पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन, ये पांच द्रव्य मूर्त माने गये हैं । शेष आकाश, काल, दिशा, आत्मा, ये चार द्रव्य व्यापक ही हैं । तीसरा हेतु सर्वत्र देखे जा रहे गुणसे सहितपना दिया है । चौथा हेतु " अणु-

परिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वात् " दिया है । इत्यादि इस प्रकारके अन्य भी व्यापकत्व-साधकहेतुओंका इस उक्त कथनसे प्रत्याख्यान कर दिया गया है । जब कि निजशरीरमें ही मध्यम परिमाणको धार रहे आत्माका बालिका, पशु, पक्षियोंतकको प्रत्यक्ष प्रमाणद्वारा सम्वेदन हो रहा है, तो नित्यत्वे सति अमूर्तत्व हेतुके समान इन हेतुओंमें भी प्रत्यक्षबाधित विषयका साधकपना अन्तर-रहित है । अतः ये सब हेतुबाधित हेत्वाभास हैं । दूसरा दोष यह भी कि नित्य होते सन्ते अमूर्तपना यों विशेषण विशेष्यदलवाला यह हेतु तो ईश्वरज्ञान करके व्यभिचार दोषवान् है । देखिये, अभीष्ट-साध्यसे शून्य हो रहे, अव्यापक भी उस ईश्वरज्ञानको नित्यपना और अमूर्तपना सिद्ध है । पांच मूर्त द्रव्योंके अतिरिक्त सभी द्रव्य या गुण, कर्म, आदिक पदार्थ तुम्हारे मतमें अमूर्त माने गये हैं । अमूर्तद्रव्यत्व लगानेसे सम्भवतः तुम्हारी कुछ रक्षा हो सकती थी । किन्तु इसका विचार पहिले कर दिया गया है । ईश्वरका ज्ञान नित्य तो है ही । यदि नहीं मानना चाहते हो तो इस अनुमानद्वारा मानना ही पडेगा कि ईश्वरका ज्ञान (पक्ष) नित्य है (साध्य), अनादिकालसे अनन्तकालतक प्रवर्त्त रहा होनेसे (हेतु) देवोंका मार्ग यानी आकाशके समान (अन्वयदृष्टान्त) । यदि उस ईश्वर ज्ञानको सादि, सान्त, मानोगे तो हमारा हेतु अवश्य असिद्ध हेत्वाभास हो जायगा । किन्तु साथमें तुम्हारे अभीष्ट देवता महेश्वरको सम्पूर्ण अर्थोंकी ज्ञप्ति करनेका विरोध हो जायगा । पदार्थोंके अधीन होकर दूसरे दूसरे क्षणमें उपजने, नशनेवाले ज्ञान द्वारा लाखों या असंख्याते वर्षोंमें भी ईश्वर सम्पूर्ण पदार्थोंको जान नहीं सकता है । अतः आत्माके व्यापकत्वको साधनेवाला तुम्हारा हेतु व्यभिचारी है ।

योप्याह, अनित्यमीश्वरज्ञानमुत्पत्तिमत्त्वात् कलशादिवत् उत्पत्तिमत्तदात्मांतःकरण-संयोगापेक्षत्वादस्मदादिज्ञानवत् । योगजधर्मानुग्रहीतेन हि मनसेश्वरस्य संयोगे सति सर्वार्थे ज्ञानमुत्पाद्यते । न चैवं, तदादिपर्यंतवत् संतानरूपतयानादिपर्यंतत्वोपपत्तेः । योगसंतानो हि महेशस्यानादिपर्यंतः सदा रागादिमलैरस्पृष्टत्वात् । अनादिशुद्धयधिष्ठानत्वात्ततश्च धर्मविशेषः तदनुग्रहश्च मनसः तेन संयोगश्चेति तन्निमित्तं सर्वार्थज्ञानमनादिपर्यंतमुपपद्यते प्रमाणफलत्वा-च्चेश्वरज्ञानमनित्यं नित्यत्वे तस्य प्रमाणफलत्वविरोधात् विशेषगुणत्वाच्च तदनित्यं सुखादि-वदिति, तस्यापि गृहीतग्राहीश्वरज्ञानमायातं । ततश्च न प्रमाणं स्मरणादिवत् गृहीतग्राहिणोपि तस्य प्रमाणत्वे प्रमाणसंप्लववादिनामनुभूतार्थे स्मरणादेः प्रमाणत्वानुषंगः केन निवार्येत ।

वैशेषिकके मतको पुष्ट कर रहा जो भी कोई यों कह रहा है कि ईश्वरका ज्ञान (पक्ष) अनित्य है (साध्यदल) उत्पत्तिवाला होनेसे (हेतु) कलश, कपडा, आदिके समान, (अन्वयदृष्टान्त) । पुनः हेतुके स्वरूपासिद्ध हो जानेकी कोई शंका न करे । अतः वैशेषिक इस हेतुको साध्यकोटिपर लाते हैं कि वह ईश्वरज्ञान (पक्ष) उत्पत्तिवाला है (साध्य) आत्मा और मनके संयोगकी अपेक्षा

रखनेवाला होनेसे (हेतु) हम आदिकोंके ज्ञानसमान (अन्वयदृष्टान्त)। देखिये, योगाभ्याससे उत्पन्न हुये श्रुति, पुराण, प्रसिद्ध धर्मसे अनुगृहीत हो रहे मनके साथ ईश्वर आत्माका संयोग हो जानेपर ईश्वरको सम्पूर्ण अर्थोंमें ज्ञान उपजा दिया जाता है। इस प्रकार ज्ञानको उत्पत्तिमान् साध देनेसे वह ज्ञान आदि, अन्तवाला हो जावेगा, यह नहीं समझ बैठना। हम बीजाङ्कुर न्याय अनुसार सन्तानरूपसे ईश्वरज्ञानको अनादि अनन्तपना उचित बताते हैं। कारण कि महेश्वरके योगकी सन्तान धाराप्रवाह अनादिकालसे अनन्तकालतक बह रही है। क्योंकि ईश्वर सदा ही राग, क्लेश, विपाकाशय, आदि मलों करके अछूता रहा है, अनादिकालसे शुद्धिका अधिष्ठान है। अतः यों उस योगसन्तानसे विशेष चमत्कारक धर्म उत्पन्न होता है और उस धर्मका अनुग्रह मनके ऊपर हो जाता है। पश्चात् उसी मनका ईश्वर आत्माके साथ संयोग होता है। उस ईश्वर मनःसंयोगको निमित्त पाकर अनादि, अनन्त, कालतक, ईश्वरके सम्पूर्ण अर्थोंका ज्ञान होना बन जाता है। ईश्वर ज्ञानको अनित्य सिद्ध करनेके लिये दूसरा तर्क यह भी है कि ईश्वरका ज्ञान अनित्य है (प्रतिज्ञा) प्रमाणका फल होनेसे (हेतु) देखिये, कारणोंसे उत्पन्न हो रहे सभी फल अनित्य होते हैं। यदि उस ईश्वर ज्ञानको नित्य माना जायगा तब तो उसको प्रमाणके फलपनका विरोध होगा। तीसरी बात यह भी है कि वह ईश्वरज्ञान विशेषगुण होनेसे अनित्य है जैसे कि आत्माके सुख आदि गुण (अन्वयदृष्टांत)। हमने आत्मामें संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग ये पांच सामान्य गुण और बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना ये नौ विशेष गुण यों चौदह गुण माने हैं। ईश्वरमें भी पांच सामान्य गुण और ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न ये तीन विशेष गुण यों आठ गुण इष्ट किये हैं। आत्मा द्रव्यमें सभी विशेषगुण अनित्य हैं। " योपि " से प्रारंभ कर यहांतक वैशेषिक कह चुका। अब आचार्य कहते हैं कि उस वैशेषिकके यहां भी यों तो ईश्वरका ज्ञान ग्रहीतका ही ग्रहण करनेवाला प्राप्त हुआ और तिस कारणसे यानी गृहीतग्राही होनेसे वह ज्ञान विचारा स्मरण, धारावाहि ज्ञान आदिके समान प्रमाण नहीं हो सका है। नैयायिक या वैशेषिकोंने गृहीत विषयको ही पुनरपि उतना ही विषय करनेवाले ज्ञानको प्रमाण नहीं माना है। फिर भी भक्तिवश यदि उस गृहीतग्राहक ज्ञानको प्रमाण मानोगे तब तो प्रमाणसंप्लववादी नैयायिक, वैशेषिक, जैन, मीमांसक, आदि विद्वानोंके यहां अनुभव किये जा चुके विषयमें प्रवर्त रहे स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, आदिको भी प्रमाणपनेका प्रसंग भला किसके द्वारा रोका जा सकेगा? अर्थात् अर्थमें विशेष अंशोंको जाननेवाले अनेक प्रमाणोंकी प्रवृत्ति हो जानेको प्रमाणसम्प्लव कहते हैं। नैयायिक " प्रमाणसम्प्लव " को इष्ट करते हैं। अतः कुछ अंश जाने जा चुकेका भी पुनः अन्य प्रमाणोंद्वारा सम्वेदन हो सकता है। ऐसी दशामें स्मरण आदिको भी प्रमाणता बन बैठेगी। कोई माईका लाल रोक नहीं सकता है।

स्यान्मतं, प्रमाणांतरेणाग्रहीतस्य सकलसूक्ष्माद्यर्थस्य महेश्वरज्ञानसंतानेन ग्रहणान्न तस्य ग्रहीतग्राहित्वमिति। तदसत्। धारावाहिज्ञानस्याप्येवं गृहीतग्राहित्वाभावात् प्रमाणतापत्तेः।

तत्प्रमाणत्वोपगमे तथैव प्रमाणांतरागृहीतग्राह्यनुभवस्मरणप्रत्यभिज्ञानादिसंतानस्य प्रवर्तमानस्या-गृहीतग्राहित्वात् प्रमाणत्वमस्तु । यदि पुनरनुभवादीनामेकसंतानत्वेप्यनुभवगृहीतेर्थे स्मरणादेः प्रवृत्तेरप्रमाणत्वं तदा प्रथमज्ञानेन परिच्छिन्नेर्थे तदुत्तरोत्तरधारावाहिविज्ञानानां कुतः प्रमाणत्वं ! तदुपयोगविशेषादिति चेत्, तत एव स्मृत्यादीनां प्रमाणत्वमस्तु सर्वथा विशेषाभावात् । तथा सति प्रमाणसंख्यानियमो न व्यवतिष्ठेतेत्युक्तं पुरस्तात् । तस्मादनेन गृहीतग्राहित्वात्कस्यचिद्विज्ञानस्याप्रमाणत्वमुररीकुर्वता महेश्वरज्ञानस्याप्युत्तरोत्तरस्य पूर्वज्ञानपरिच्छिन्नार्थग्राहित्वादप्रमाणत्वं दुःशकं परिहर्तुं ।

यदि इसपर वैशेषिक अपना मन्तव्य यों बतावें कि दूसरे दूसरे प्रमाणोंसे नहीं जाने जा चुके सम्पूर्ण सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट, आदि अर्थोंका महेश्वरकी ज्ञानसन्तान करके ग्रहण हो रहा है। अतः वह ईश्वर ज्ञानकी संतान गृहीतग्राही नहीं है, अगृहीत विषयोंका ग्राहक है, यों कह चुकनेपर आचार्य कहते हैं कि वह वैशेषिकोंका मन्तव्य प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि इस प्रकार तो घट है, घट है, घट है, ऐसे धारावाहिक ज्ञानको भी गृहीतग्राहीपना न होनेसे प्रमाणपनेका प्रसंग आ जावेगा। धारावाही ज्ञानमें भी ज्ञानोंकी लम्बी सन्तान अगृहीत विषयका ग्रहण कर रही है । यदि उस धारावाहि ज्ञानकी सन्तानका प्रमाण होना स्वीकार कर लोगे, तब उस ही प्रकार प्रमाणान्तरोंसे नहीं गृहीत हो चुके अर्थोंका ग्रहण करनेवाले अनुभव, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, आदि ज्ञानोंकी प्रवर्तरही सन्तानको भी अगृहीत-ग्राहक होनेसे प्रमाणपना हो जाओ । यदि फिर तुम वैशेषिक यों कहो कि अनुभव, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, आदि ज्ञानोंकी एक सन्तान होनेपर भी अनुभव द्वारा ग्रहण किये जा चुके अर्थमें स्मरणकी और स्मरणसे जाने जा चुके अर्थमें प्रत्यभिज्ञान आदिकी प्रवृत्ति हो रही है। अतः वे स्मरण आदिक गृहीत-ग्राही होनेसे प्रमाण नहीं हैं, तब तो हम जैन कहेंगे कि प्रथम ज्ञान करके जाने जा चुके अर्थमें उसके उत्तर और उसके भी पीछे पीछे अनेक बह रहे धारावाही विज्ञानोंको प्रमाणपना कैसे आ सकता है ? अर्थात्—कैसे भी नहीं । यदि तुम वैशेषिक उसमें विशेष उपयोग होनेसे प्रमाणपना लाओगे तब तो उस ही कारणसे यानी विशेष विशेष उपयोग होनेसे ही स्मृति आदिकोंको भी प्रमाणपना हो जाओ । सभी प्रकारोंसे कोई विशेषता नहीं है। प्रत्युत धारावाही ज्ञानोंकी अपेक्षा अनुभव, स्मरण, प्रत्यभिज्ञानोंमें विशेष उपयोग हो रहा अच्छा जाना जा रहा है । और तिस प्रकार स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, आदिको अतिरिक्त प्रमाण माननेपर तुम्हारी नियत की गयी प्रमाणोंकी संख्या व्यवस्थित नहीं हो सकेगी, इसको हम पहिले प्रकरणोंमें कह चुके हैं। तिस कारण गृहीतग्राही होनेसे किसी भी विज्ञानको अप्रमाणपना स्वीकार करनेवाले इस वैशेषिक पण्डित करके पूर्वसमयवर्ती ज्ञान द्वारा जाने जा चुके अर्थोंका ग्राहक होनेसे महेश्वरके उत्तरोत्तरसमयवर्ती ज्ञानोंका अप्रमाणपना कठिनतासे भी नहीं हटाया जा सकता है । अतः महेश्वरके ज्ञानको अनित्य माननेमें अनेक विपत्तियां खडी हो जायंगी ।

यदप्युक्तं, महेश्वरज्ञानस्य नित्यत्वे प्रमाणफलत्वाभाव इति, तदप्ययुक्तं। तस्योपचारतः प्रमाणफलत्वोपपत्तेः। यथैव ईश्वरस्यांतःकरणसंयोगादिसामग्री नित्यज्ञानस्याभिव्यञ्जिकत्वादुपचारतः प्रमाणं तथा तद्व्यंग्यत्वान्नित्यस्यापीश्वरज्ञानस्योपचारतः प्रमाणफलत्वमुपपद्यत एव। न चाभिव्यक्तिरुत्पत्तिरेव सामान्यादेः स्वव्यक्तिभिरभिव्यंग्यस्योत्पत्तिमत्त्वप्रसंगात्। ततो नित्यमेवेश्वरज्ञानमिति। तेन हेतोर्व्यभिचार एव।

और भी वैशेषिकोंने जो यह कहा था कि महेश्वरका ज्ञान यदि नित्य माना जायगा तो वह प्रमाणका फल नहीं हो सकेगा। आचार्य कहते हैं कि यों वह कहना भी युक्तियोंसे रीता है। कारण कि ईश्वरज्ञानको उपचारसे प्रमाणका फलपना सधता है। जिस ही प्रकार तुम्हारे यहां ईश्वरके साथ अंतःकरणका संयोग होजाना आदि सामग्री ईश्वरके नित्यज्ञानकी अभिव्यञ्जक होनेसे उपचारसे प्रमाण मान ही रखी है, उसी प्रकार उस सामग्रीसे व्यंग्य होनेसे नित्य भी ईश्वरज्ञानको उपचारसे प्रमाणका फलपना बन जाता ही है, सर्वज्ञके ज्ञानमें प्रमाणपना और फलपना अभिन्न ही है, उपचारसे भले ही न्यारा न्यारा कल्पित कर लो। ज्ञप्ति सामग्रीको प्रमाण कह लो, साथमें ज्ञप्तिको फल कहलो। सामग्रीद्वारा अभिव्यक्ति होजाना ही ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं है। अन्यथा अपनी अभिव्यंजक आश्रय व्यक्तियोंसे प्रकट होने योग्य सामान्य (जाति) समवाय, आदिको भी उत्पत्तिमान् हो जानेका प्रसंग होगा। किन्तु सामान्य और समवाय पदार्थको तुमने नित्य माना है। तिस कारणसे सिद्ध होता है कि ईश्वरका ज्ञान नित्य ही है। ऐसा होनेपर उस ईश्वर ज्ञानकरके तुम्हारे आत्माको व्यापक साधनेके लिये दिये गये नित्य होते हुये अमूर्तपन हेतुका व्यभिचार दोष तदवस्थ ही रहा। ईश्वरका ज्ञान नित्य है। अमूर्त भी है किन्तु व्यापक नहीं है। आत्माको व्यापक माननेवाले वैशेषिकोंने आत्माके ज्ञानगुणको व्यापक नहीं माना है, शरीरावच्छेदेन आत्मामें ज्ञान है, घटावच्छेदेन आत्मामें ज्ञान नहीं है। ऐसा उनका अभिमत है।

भवतु वा महेश्वरज्ञानमनित्यं तथापि सलिलपरमाणुरूपादिभिरस्यानैकांतिकता दुष्परिहरेत्यलं प्रसंगेन, सर्वथात्मनो गतिमत्त्वस्य प्रतिषेद्धुमशक्तेः।

अथवा तुम्हारे मन्तव्य अनुसार भले ही महेश्वरका ज्ञान अनित्य हो जाओ। अतः पूरा हेतु नहीं घटनेसे ईश्वर ज्ञानकरके व्यभिचार दोष नहीं हो सकता है तो भी जल परमाणुके या अग्निपरमाणुके रूप रस आदि करके इस प्रकृतहेतुका व्यभिचार दोष आना कथमपि टाला नहीं टल सकता है। पृथिवीके परमाणुओंके रूप, रस, आदिक अनित्य हैं। वे पाकज माने गये हैं। किन्तु जल, तेज, वायुके परमाणुओंके रूप, रस, आदि गुण नित्य हैं। साथमें जलपरमाणु या अग्नि परमाणु भले ही मूर्त होय, किन्तु इनके गुण तो मूर्त नहीं हैं। अमूर्त हैं। अतः नित्यत्वे सति अमूर्तत्व हेतुका पूरा शरीर घटित हो जानेसे और व्यापकत्व साध्यके नहीं ठहरनेसे,

व्यभिचार दोष तदवस्थ रहा। अब अधिक प्रसंग बढानेसे कोई विशेष प्रयोजन नहीं निकलता है। तुम्हारे आक्षेपोंका मुख, पराङ्मुख, उत्तर हो चुका है। अब तुम्हारे बूते आत्माका गतिमान्पना सभी प्रकारोंसे निषेध नहीं किया जा सकता है। क्रियाहेतु गुणके सम्बन्धसे आत्मा गतिमान् डेलके समान सिद्ध करा दिया जाता है, कोई प्रत्यूह नहीं रहा।

कथं पुनरशरीरस्यात्मनो गतिरित्याह।

महाराज जी! यह बताओ, कि शरीर सम्बन्धवाले आत्माकी गति तो प्रसिद्ध ही है। किन्तु मरकर शरीररहित हो गये आत्माकी गति फिर किस प्रकार होती है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥

लोकके बीचसे प्रारम्भ कर पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे, छहऊ दिशाओंमें बरफीके समान छह पैलवाली अखण्ड परमाणुसे नापे गये सम संख्यावाले प्रदेश इस अखण्ड लोकाकाशमें तदात्मक होकर जड रहे हैं। दोनों ओर समसंख्यावाले पदार्थोंका सबसे छोटा ठीक बीच दो होता है। चारों ओर सम संख्यामें फैल रहे पदार्थोंका बीच चार होता है तथा छहऊ ओर सम संख्यावाले पदार्थोंका बीच आठ होता है। लोकके ठीक मध्य सुदर्शन मेरुकी जडमें स्थित हो रहे गोस्तन आकारवाले आठ प्रदेशोंसे छहऊ ओर अखण्ड आकाशमें प्रदेशोंकी श्रेणियां गढ ली जाती हैं। उस श्रेणीके आनुपूर्व्य करके जीवोंकी अन्य भवोंका संक्रमण करनेपर मरणकालमें गति होती है।

आकाशप्रदेशपंक्तिः श्रेणिः अनोरानुपूर्व्ये वृत्तिः श्रेणेरानुपूर्व्येणानुश्रेणि जीवस्य पुद्गलस्य च गतिरिति प्रतिपत्तव्यं। जीवाधिकारात्पुद्गलस्यासंप्रत्ययः इति चेन्न, पुनर्गतिग्रहणात्तत्संप्रत्ययात् क्रियांतरनिवृत्त्यर्थमिह गतिग्रहणमिति चेन्न, अवस्थानाद्यसंभवात् क्रियांतरनिवृत्तिसिद्धेः। उत्तरसूत्रे जीवग्रहणाच्चेह शरीरपुद्गलस्य जीवस्यानुश्रेणिगतिः संप्रतीयते।

लोक, अलोक, पूरे आकाशमें प्रदेशोंकी लम्बी पंक्ति बन रही श्रेणि कही जाती है। अनु-अव्ययका अनुपूर्वीपना अर्थ होनेपर श्रेणिपदकी अनु उपसर्गके साथ अव्ययीभाव समास वृत्ति हो जाती है। श्रेणिके आनुपूर्व्य करके जीव और पुद्गलकी श्रेणि अनुसार गति हो जाती है। यह समझ लेना चाहिये। कोई आक्षेप करता है कि यहां प्रकरणमें जीवद्रव्यका अधिकार होनेसे पुद्गलकी भी श्रेणि अनुसार गति होनेका समीचीनज्ञान नहीं हो सकता है। आचार्य कहते हैं यह तो न कहना। क्योंकि " विग्रहगतौ कर्मयोगः " इस सूत्रसे गतिका अधिकार चला ही आरहा था। पुनः इस सूत्रमें गति शब्दका ग्रहण किया है। इससे उस पुद्गलकी गतिका संप्रत्यय हो जाता है। अन्यथा यदि जीवकी ही श्रेणि अनुसार गति इष्ट होती तो पुनः गति शब्दका प्रयोग करना व्यर्थ

पडता । अत्यल्प बोलनेवाले सूत्रकारके वचन व्यर्थ नहीं हो सकते हैं । अतः यहां सम्पूर्ण गतिवाले पदार्थोका ग्रहण कर लिया जाता है । कोई पण्डित गति ग्रहणका प्रयोजन यों कह रहा है कि अन्य क्रियाओंकी निवृत्तिके लिये यहां सूत्रमें गति कहा गया है, जिससे जीवकी गतिक्रिया ही ली जाय, अन्य क्रियायें नहीं पकडी जायं । आचार्य कहते हैं कि यह प्रयोजन तो ठीक नहीं है । क्योंकि दूसरे शरीरको ग्रहण करनेके लिये उद्युक्त हो रहे जीवके बैठना, सोना, बढना, जगना, नमना, पढना आदि क्रियाओंकी तो संभावना ही नहीं है । अतः स्वतः ही अन्य क्रियाओंकी निवृत्ति सिद्ध है । " सम्भव-व्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत् " । दूसरी बात यह है कि अव्यवहित उत्तरकालमें कहे जानेवाले " अविग्रहा जीवस्य " सूत्रमें जीवका ग्रहण है । अतः इस सूत्रमें शरीर या पुद्गल और जीवकी भी श्रेणि अनुसार गति हो रही अच्छी जानी जा रही है ।

ननु च कुतो जीवस्य पुद्गलस्य चानुश्रेणिगतिर्निश्चिता ज्योतिरादीनां विश्रेणिगतिदर्शनात् तन्नियमानुपपत्तेरिति कश्चित् । तं प्रत्याह ।

यहां शंका उठती है कि जीव और पुद्गलकी गति श्रेणि अनुसार ही है, यह सिद्धान्त कैसे निर्णीत कर लिया जाय ? जब कि सूर्य, चंद्रमा आदि ज्योतिष्क विमान, चक्र, व्यजन, आदि अथवा विद्याधर या खिलाडी बालकों आदिकी श्रेणिका व्यतिक्रम कर भी टेडी, मेडी, घूमती, फुदकती, आदि अनेक प्रकारकी गतियां देखी जारही हैं । अतः आकाशकी ठीक बनी हुयी श्रेणियोंके अनुसार सीधी रेखामें ही गति होनेका नियम नहीं बन सकता है, यहांतक कोई कह रहा है, जिसका कि नाम या मत अनिर्वचनीय है । उसके प्रति श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं ।

सिद्धा गतिरनुश्रेणि देहिनः परमागमात् ।
लोकांतरं प्रतिज्ञेयं पुद्गलस्य च नान्यथा ॥ ७ ॥

जीवकी मरण समय या मुक्त अवस्था होनेपर अन्य लोक या सिद्ध लोकके प्रति और पुद्गलोंको भी लोकपर्यंत प्राप्त करानेवाली गति श्रेणि अनुसार होती है, यह मन्तव्य सर्वज्ञोक्त परम आगमसे सिद्ध है । अन्य प्रकारोंसे नियम नहीं हैं, यह समझ लेना चाहिये । अर्थात्–श्रेणि अनुसार ही गति होती है, इसमें काल और देशका नियम है । कालनियम तो यह है कि संसारी जीवोंकी मरणकालमें अन्य भवका संक्रमण करते समय और मुक्त जीवोंकी ऊर्ध्व लोकके तनुवातवलयमें स्थित सिद्धालयतक गमन करते समय प्रदेशपंक्तियोंके अनुसार सरल रेखा बनाती हुयी गति होती है । तथा देशका नियम भी यह है कि ऊर्ध्व लोकसे अधोलोकमें जानेपर या अधोलोकसे ऊर्ध्व लोकमें गति करनेपर अथवा तिर्यग् लोकसे अधोगति या ऊर्ध्व गति जहां होगी वह श्रेणि अनुसार ही होगी । इसी प्रकार पुद्गलोंकी लोकके अन्ततक प्राप्त करानेवाली गति भी श्रेणी अनुसार ही होगी । हां, नियमसे अतिरिक्त दशामें घूमना, नाचना, आदि गतियां भी हो सकती हैं ।

कः पुनरसौ परमागमस्तदावेदकः कुतो वास्य प्रमाणत्वमित्याह ।

फिर कौनसा उत्कृष्ट आगम भला उस गतिका निवेदन करनेवाला है ? बताओ और उस आगमको प्रमाणपना कैसे सिद्ध है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर भी विद्यानन्द स्वामी वार्तिकको कहते हैं ।

षोढा प्रक्रमयुक्तोयमात्मेति वचनं प्रमम् ।
संप्रदायात्सुनिर्णीतासंभवद्बाधकत्वतः ॥ ८ ॥

यह जीव छह प्रकारके गमन करना स्वरूप प्रक्रमसे युक्त हो रहा है यह वचन प्रमासहित है। क्योंकि सर्वज्ञकी परम्परासे संप्रदाय चला आरहा है और बाधक प्रमाणोंके असंभव होनेका भले प्रकार निर्णय कर लिया गया है। अर्थात्—जीवका ऊपरसे नीचे जाना या ऊपरसे ठीक नीचे जाना अथवा पश्चिमसे पूर्व या पूर्वसे पश्चिम एवं दक्षिणसे उत्तर और उत्तरसे दक्षिण ये छह प्रकारके गमनोंको कहनेवाला वचनप्रमाण है। इस सत्य सिद्धांतका कोई बाधक नहीं है।

षट्प्रक्रमयुक्तो जीव इति परमागमः स्वतः संप्रदायाविच्छेदात्प्रमाणं सुनिर्णीतासंभव-द्बाधकत्वाद्वा मोक्षमार्गवदिति निरूपितप्रायं । ततो जीवस्य पुद्गलस्य च देशकालनियमादनु-श्रेणि गतिः सिद्धा बोद्धव्या ।

छह प्रक्रमोंसे युक्त हो रहा जीव है यह परम आगम (पक्ष) स्वतः प्रमाण है (साध्य) सर्वज्ञ युक्त सम्प्रदायका विच्छेद नहीं होनेसे (पहिला हेतु) अथवा बाधकोंके असम्भवका अच्छा निर्णय हो चुका होनेसे (दूसरा हेतु) सभी आस्तिकोंके यहां प्रसिद्ध हो रहे अतीन्द्रिय मोक्ष मार्गके समान (अन्वयदृष्टांत) इस बातको हम पूर्व प्रकरणोंमें बहुलतासे कह चुके हैं। तिस कारण जीव और पुद्गलकी विशेष देश और विशेष कालका नियम कर देनेसे श्रेणि अनुसार ही गति सिद्ध हो चुकी समझ लेनी चाहिये ।

मुक्तस्यात्मनः कीदृशी गतिरित्याह ।

त्रिविध कर्मोंसे अनन्तकालतकके लिये छूट चुके मुक्त आत्माकी गति कैसी है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज भविष्य सूत्रको समाधानार्थ उतारते हैं उसको झेलियेगा ।

अविग्रहा जीवस्य ॥ २७ ॥

मुक्त जीवोंकी गति कुटिलता कर रहित है अर्थात्—ऊर्ध्व लोकके ठीक बीचमें पैंतालीस लाख योजन लंबा चौडा गोल सिद्ध क्षेत्र है और उतना ही लंबा चौडा मनुष्य क्षेत्र मध्य लोकमें है। मनुष्य लोकमें कहींसे भी मोक्ष होगी उसी समय वह जीव ठीक ऊपर सीधा सिद्धलोक प्रति गमन कर जाता है। कर्मभूमिके तपस्या स्थानोंके अतिरिक्त सभी समुद्र, पर्वत, भोगभूमि, सुमेरु आदि स्थलोंसे

संहरण अपेक्षा जीवोंकी मोक्ष हो चुकी है। सिद्ध लोक सर्वत्र ठुस रहा है। एकप्रदेश मात्र भी सिद्ध आत्माओंसे खाली नहीं है। प्रत्युत प्रत्येक स्थल या परमात्माओंमें अनन्तानन्त मुक्तजीव निराबाध संप्रविष्ट हो रहे हैं, तब कहीं सिद्धलोक अनादिकालीन अमूर्त सिद्धोंका आश्रय बन चुका है और वर्तमान इन सिद्धोंसे अनन्तानन्त गुणे सिद्धपरमेष्ठी भविष्यकालमें होकर वहां विराजमान होनेवाले हैं। उनमें और आकाशमें अनन्त अवगाह शक्ति है। आकाशके एक प्रदेशपर भी संपूर्ण जीवोंसे अनंत-गुणी पुद्गल परमाणुयें बैठ सकती हैं, फिर अमूर्तद्रव्योंका तो कहना ही क्या है।

उत्तरसूत्रे संसारिग्रहणादिह मुक्तस्य गतिः। विग्रहो व्याघातः कौटिल्यमिति यावत्, न विद्यते विग्रहोऽस्या इत्यविग्रहा मुक्तस्य जीवस्य गतिरित्यभिसंबंधः। कुतः इत्याह।

उत्तरवर्ती " विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः " इस सूत्रमें संसारी जीवोंका ग्रहण हो जानेसे यहां मुक्तजीवकी गति समझी जाती है। विग्रहका अर्थ व्याघात हो जाना है, कुटिलता करना, यह विग्रहका तात्पर्य अर्थ है। जिस गतिमें विग्रह यानी कुटिलता नहीं विद्यमान होय इस प्रकारकी मुक्त जीवकी गति अविग्रह है, यों आवश्यक पदोंका उपस्कार कर सूत्रका वाक्यार्थ करते हुये पदोंका चारों ओरसे सम्बन्ध करलेना चाहिये। कोई पूछता है कि मुक्तजीवकी गति कुटिलतारहित है, यह कैसे समझा जाय ? इसके लिये ग्रंथकार समाधानवचन कहते हैं।

गतिर्मुक्तस्य जीवस्याविग्रहा वक्रतां प्रति।
निमित्ताभावतस्तस्य स्वभावेनोर्ध्वगत्वतः॥ १॥

चौदहमें गुणस्थानके अंत समयमें सम्पूर्ण द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मोंका नाश कर उत्तर क्षणमें मुक्त हो रहे जीवकी गति कुटिलतारहित है। कारण कि गतिकी वक्रताके प्रति होनेवाले निमित्तकारणोंका अभाव है। क्योंकि उस मुक्तजीवका स्वभाव करके ही ऊर्ध्व लोक प्रति गमन कर-नेका परिणाम विद्यमान है। जैसे कि अग्निकी ज्वाला स्वभावसे ही ऊपरको जाती है। हां, सुनार या पाचककी फूंकनी द्वारा प्रेरी गयी वायुका निमित्त पाकर भले ही तिरछी, नींची, लौ चली जाय। इसी प्रकार वक्रताका निमित्त कारण शेष नहीं रहनेसे ऊर्ध्वगतिस्वभाववाले जीवकी मुक्त हो जानेपर कुटिलता रहित ऋजुगति होजाती है।

ऊर्ध्वव्रज्यास्वभावो जीव इति युक्त्यागमाभ्यामुत्तरत्र निर्णेष्यते, ततो मुक्तस्यान्यत्र गमने तद्वक्रीभावे च कारणाभावाद्वक्रीभावाभावादविग्रहा गतिः।

यह जीवद्रव्य ऊर्ध्व गमन करनेके स्वभावको सर्वदा लिये हुये है, इस सिद्धांतका उत्तरवर्ती ग्रन्थमें युक्ति और आगमप्रमाण करके निर्णय कर दिया जावेगा। तिस कारण मुक्तजीवका अन्य स्थानोंमें तिरछा, ऊंचा, नीचा, गमन करनेमें और उस गमनके अनुसार वक्रता होनेमें कोई प्रेरक

निमित्त कारण अवशिष्ट नहीं रहा है । अतः अकुटिलको कुटिल होनेका अभाव हो जानेसे मुक्तजीवका गमन बाणके समान कुटिलता रहित है ।

संसारिणः कीदृशी गतिरित्याह ।

कोई जिज्ञासु कह रहा है कि मुक्तजीवकी गतिका अवधारण किया । हे कृपासिन्धो ! अब यह बताओ कि संसारी जीवकी गति पूर्वभवका आयुष्य पूर्ण हो जानेपर कैसी ? यानी टेढी या घूमती अथवा इतराती चलती कैसी होती है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज उत्तर-सूत्रको कहते हैं ।

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २८ ॥

मर कर उत्तरभवसम्बन्धी आयुका उदय आ जानेपर संसारी जीवकी चार समयोंसे पहिले अर्थात्——तीन समयतक कुटिलतावाली भी गति हो जाती है । अर्थात्——जीवको ऊपर, नीचे या तिरछे देशमें ठीक पंक्तिके अनुसार यदि जन्म लेना है तब तो इषुगति है । हां, यदि उससे कुछ नीचा ऊंचा या बगलमें जन्म लेना होगा तो एक मोडा लग जायगा । यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके, अधीन कुछ और भी टेडी विदिशामें जन्म लेना पडे, तो जीवको वहां जानेमें दो मोडे लग जायंगे । हां, ऊर्ध्वलोकमें मृदंग (पखवाज) और अधोलोकमें आधे मृदंगके आकारवाले लोकमें जीवको ब्रह्मलोकके निकटवर्ती तिरछे डेढ राजू परली ओरके स्थावर लोकमेंसे यदि नीचे महातमःप्रभाके निकटवर्ती दो राजू परे स्थावरलोकमें कुछ बगलमें चलकर जन्म लेना है, ऐसी दशामें वह जीव ऊर्ध्व लोकसे एक दम सीधा अधोलोकमें नहीं उतर सकता है । क्योंकि मध्यमें अलोकाकाश पडता है । वहां गमनका उदासीनकारण धर्मद्रव्य नहीं है । अतः ऊर्ध्वलोकके स्थावर लोकसे वह जीव तिरछा चलकर पहिले समय ब्रह्मलोकमें आयगा । वहांसे पहिला मोडा लेकर त्रसनालीमें उतरता हुआ सातवीं पृथिवीपर आ जायगा । वहांसे दूसरा मोडा लेकर तिरछा चलता हुआ सातवें नरकके पार्श्ववर्ती स्थावरलोकमें आ जायगा । वहांसे तीसरा मोडा लेकर कुछ इधर उधर चारों दिशाओंमें किसी विवक्षित दिशाके स्थानपर चौथे समयमें जन्म लेता हुआ आहार कर लेता है । एक समयमें चौदह राजूतक सीधी छलांग मार सकनेवाले जीवके लिये लोकमें चौथा मोडा लेनेके लिये कोई स्थान शेष नहीं है । अधिकसे अधिक तीन मोडेमें ही जीवकी कहींपि भी किसी भी स्थानतक अव्याघात गति हो जाती है ।

च शब्दादविग्रहा चेति समुच्चयः तेन संसारिणो जीवस्य नाविग्रहगतेरपवादो, विग्रहवत्या विधानादिति संप्रत्ययः कालपरिच्छेदार्थः प्राक् चतुर्भ्यः इति वचनं । आङो ग्रहणं लघ्वर्थं कर्तव्यमिति चेन्न, अभिविधिप्रसंगात् । उभयसंभवे व्याख्यानतो मर्यादासंप्रत्यय इति चेन्न, प्रतिपत्तिगौरवात् । प्रतिपत्तिगौरवाद्वरं ग्रंथगौरवं इति वचनाच्च प्राग्ग्रहणमस्तु ।

सूत्रमें पडे हुये च शद्बका अर्थ समुच्चय है । इस कारण च शद्बसे अकुटिल गति भी पकडी जाती है । तिस कारण संसारीजीवकी कुटिलतावाली गतिका विधान कर देनेसे अकुटिल गति होनेका अपवाद नहीं हो जाता है । हां, च अव्ययके स्थानमें एव होता तो अकुटिल गतिकी व्यावृत्ति हो जाती, जो कि इष्ट नहीं है । इस प्रकार यहां समीचीन विश्वास कर लेना चाहिये । कालकी मर्यादा करनेके लिये सूत्रमें चार समयसे पहिले ऐसा वचन पढा गया है । कोरे लाघवकी ओर टकटकी लगाकर बैठा हुआ कोई वावदूक आक्षेप करता है कि लाघवगुणके लिये सूत्रकारको आङ्का ग्रहण करना चाहिये था । अर्थात्—" प्राक् चतुर्भ्यः " के स्थानपर " आचतुर्भ्यः " कह देनेसे परिमाणकृत लाघव है । यदि पतले शरीरवाले चंचल मनुष्यसे कार्य बन सके तो स्थूलकाय पुरुषको दुर्बल टट्टूपर चढाकर ग्रामान्तरके प्रति भेजना अनुचित है । आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि आङ् अव्ययके, ईषत्अर्थ, अभिव्याप्ति, मर्यादा, अभिविधि ऐसे कई अर्थ हैं । तेन विना मर्यादा, तत्सहितोऽभिविधिः, उससे रहित मर्यादा होती है और अभिविधि उस विवक्षितसे सहित होती है । आङ् कह देनेसे अभिविधि अर्थ भी लिया जा सकता था । ऐसी दशामें चौथा समय भी वक्रता करनेमें घिर जाता है । यों जीवको पांचवें समयमें आहार करनेका प्रसंग आवेगा, जो कि इष्ट नहीं है । यदि कोई यों कहे कि मर्यादा और अभिविधि इन दोनों अर्थोंके सम्भव होनेपर व्याख्यान करनेसे आङ्के अर्थ मर्यादाका ही सम्प्रत्यय हो जायगा । पचासों स्थलोंपर विवादापन्न विषयका व्याख्यान कर देनेसे निर्णय कर लिया जाता है । " व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणं " । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि यों पहिले संशयापन्न कहना, फिर कटाक्षोंका आघात सहना, उसको दूर करनेके लिये व्याख्यानका मठ बढाना, ऐसा करनेसे प्रतिपत्ति होनेमें व्यर्थ गौरव हो जाता है । अतः प्रतिपत्तिके व्यर्थगौरवसे ग्रन्थका गौरव करना कई गुणा श्रेष्ठ है । ऐसा सभी विद्वानोंके यहां कहा भी गया है । तिस कारण झगडेके बीज आङ् प्रयोगकी अपेक्षा प्रशान्तिवर्द्धक प्राक् पदका ग्रहण ही स्पष्टार्थ बना रहो ।

कुतश्चतुर्भ्यः समयेभ्यः प्रागेव विग्रहवती गतिः संसारिणो न पुनश्चतुर्थे समये परत्रेत्याशंकायामिदमाह ।

कोई शिष्य पूंछता है कि चार समयोंसे पहिले ही यानी तीन समयतक संसारी जीवकी गति वक्रतावाली है । क्योंजी ! फिर चौथे समयमें या परले समयोंमें मोड क्यों नहीं लेती है ? जब कि नर्त्तकी या खिलाडी बालक पचासों मोडे लेकर गमन करता है, ऐसी आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा इस समाधानको कहते हैं ।

संसारिणः पुनर्वक्रीभावयुक्ता च सा मता ।
चतुर्भ्यः समयेभ्यः प्राक परतस्तदसंभवात् ॥ १ ॥

चार समयोंसे पहिले पहिले संसारी जीवकी वह गति फिर कुटिलपन करके युक्त मानी गयी है। क्योंकि चौथे समयमें या उससे परले समयोंमें उस कुटिलगतिके होनेका असम्भव है।

त्रिवक्रगतिसंभवः कुत इत्याह।

तीन मोडेवाली गतिका सम्भव किस ढंगसे है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिकको कहते हैं।

निष्कुटक्षेत्रसंसिद्धेस्त्रिवक्रगतिसंभवः।
एकद्विवक्रया गत्या क्वचिदुत्पत्त्ययोगतः ॥ २ ॥

बात यह है कि छह पैल आठ कोनवाले बरफीके समान सम्पूर्ण अलोकाकाशके ठीक बीचमें अनादिनिधन लोकका विन्यास यों हो रहा है कि पूर्व, पश्चिम, दिशाकी ओर नीचे सात राजू है क्रमसे घटता हुआ सात राजू ऊपर चढकर एक राजू चौडा रह गया है। पुनः क्रमसे बढता हुआ साडे दस राजू ऊपर चढकर पांच राजू चौडा है, फिर अनुक्रमसे घटता हुआ चौदह राजूकी ऊंचाईपर एक राजू हो गया है। दक्षिण, उत्तरमें, सर्वत्र सात राजू मोटा है। जीव और पुद्गलको गमनमें सहायक हो रहा धर्मद्रव्य तो लोकमें ही व्यापक है। इस कारण अलोकमें कोई भी जीव गमन नहीं कर पाता है। जीवको सीधे जानेमें अलोकाकाश पडे ऐसे निष्कुट क्षेत्रमें, टेढा, मेढा, जन्म लेनेका जब अवसर आ जाता है, तब जीवको तीन मोडा, लग जाते हैं। यह लोक सर्वथा गोल या अण्डाके समान लम्बा गोल अथवा चौकोर, तिकोर, नहीं है। अतः टेढे कोठावर्ती क्षेत्रसे तिरछे कोनवाले क्षेत्रतककी रचनाको धारनेवाले निष्कुट क्षेत्रकी अबाधित जिनागम द्वारा निर्दोषसिद्धि हो जानेसे तीन वक्रतावाली गति हो जानेका सम्भव है। कहीं कहीं टेढमें पड गये उस निष्कुट क्षेत्रमें एक मोडा, या दो मोडावाली गति करके उपजनेका अयोग है। अतः वहां जन्म लेनेवाले जीवको तीन मोडावाली गति करनी पडती है।

यदि ह्येकवक्रा गतिः स्याद् द्विवक्रैव वा तदा वेत्रासनाद्याकारे लोके निष्कुटक्षेत्रे कचित्प्रदेशे जीवस्य कुतश्चिद्देशांतरादागतस्योत्पत्तिर्न स्यात्।

यदि शंकाकारके विचारानुसार एक मोडावाली अथवा दो मोडावाली ही गति मानी जाय, तब तो अधोलोकमें वेत्रासन (मूढा या स्टूल) और मध्यलोकमें झल्लरी (बजाये जानेवाली विशेष ढंगकी थाली) तथा ऊर्ध्व लोकमें मृदंग (पखवाज या छोटे मुंह बडे पेटवाली ढोलक) ऐसे आकारवाले लोकमें किसी किसी निष्कुट क्षेत्र बन चुके प्रदेशमें किसी भी देशान्तरसे आये हुये जीवकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। अतः तीन मोडेवाली गतिका आश्रय लेना समुचित है।

सूक्ष्मबादरकैर्जीवैः सर्वो लोको निरंतरं ।
निश्चितः सर्वदेत्येतद्वचः क्वास्तु तथा सति ॥ ३ ॥

अनन्तानन्त सूक्ष्मजीव तथा अनंत और असंख्यात लोक प्रमाण बादर जीवोंकरके सर्वदा यह संपूर्ण लोक छिद्ररहित ठसाठस भरा हुआ है, यह परम आगम सिद्धान्तोंका वचन है। यदि तिस प्रकार एक या दो मोडेवाली गतियां ही मानी जायंगी तो तैसा होनेपर यह वचन कहां रक्षित रहा। अर्थात्–सूक्ष्म या बादर जीव भला जन्म, मरणसे रहित तो नहीं है। लोकमें किसी भी स्थानसे चाहे किसी भी स्थानपर जन्म ले सकते हैं। लोकमें टेढे, मेढे कोनेवाले अनेक स्थल आगये हैं। अतः वहां तीन मोडेवाली गतिसे ही जन्म लेना सधता है। एक दो मोडेवाली गतिसे वहां वक्रस्थानोंमें पहुंचना नहीं बन सकता है।

सूक्ष्मैर्जीवैः सर्वलोको निरंतरं निचितः बादरैश्च यथासंभवमिति परमागमवचनं। तथैकेन जीवेन सर्वलोकः प्रतिप्रदेशं क्षेत्रीकृत इति वक्रावक्रमलभत। ननु द्विवक्रया गत्या यतो यत्र व्याप्तिः संभवति ततस्तत्र जीवस्योत्पत्तेः सर्वमसमंजसमेतद्वचनमिति चेत्, सर्वस्माल्लोकप्रदेशात्सर्वस्मिन् लोकप्रदेशांतरे जीवस्य गतिरिति सिद्धान्तव्याहतिप्रसंगात्।

यह सम्पूर्ण लोक सूक्ष्मजीवों करके खचाखच छेदरहित ठुस रहा है और बादर जीवों करके भी वहां ही यथायोग्य स्थानपर सम्भवते अनुसार भरपूर हो रहा है। यह सर्वज्ञधारासे चले आ रहे ऋषिप्रोक्त परम आगमका वचन है। तथा पंच परावर्तनोंमें क्षेत्रपरिवर्त्तन करते समय एक जीवने भी प्रत्येक प्रदेशोंका स्पर्श करते हुये सम्पूर्ण लोकको अपना जन्म क्षेत्र कर लिया है। इस कारण जीवका गमन वक्रपन और अवक्रपनको प्राप्त हो चुका है। यहां यदि कोई शंका यों करे कि दो मोडेवाली गति करके जहांसे जहां क्षेत्रतक व्यापना सम्भवता है, वहांसे वहांतक जीवकी उत्पत्ति हो जायगी। दो, तीन, चार जन्म लेकर निष्कुट क्षेत्रमें भी उपज जायगा, एक ही जन्ममें निष्कुट क्षेत्रतक पहुंचनेकी क्या आवश्यकता पडी है ? जब कि एक दो मोडेवाली गतिसे ही निर्वाह हो सकता है, तो ये सब परमागमके वचन न्यायोचित नहीं हैं। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि यों तो " सभी लोकाकाशके प्रदेशोंसे चाहे जहां सभी लोकके अन्य प्रदेशोंमें जन्म लेते हुये जीवकी गति हो जाती है " इस प्रकार सिद्धान्त वचनोंके व्याघात हो जानेका प्रसंग होगा। चाहे जहांसे लोकमें चाहे जहां कहीं भी जन्म हो जाता है, यह सिद्धांत अटूट है।

येषां च चतुरस्रः स्याल्लोको वृत्तोपि वा मतः ।
निष्कुटत्वविनिर्मुक्तस्तेषां सा न त्रिवक्रता ॥ ४ ॥

किन्तु जिन प्रवादियोंके यहां लोक चौकोर अथवा गोल भी माना गया होय उनके यहां तो टेढे कौनदार या पैल्दार स्वरूप निष्कुटपनेसे सर्वथा रीता यह लोक हुआ। अतः उनके यहां तीन वक्रपना नहीं बनता है। एक दो वक्रताओंसे कहींसे भी किसी भी स्थानमें जीवकी गति बन जाती है। एक समयमें एक ओर चाहे जितना सीधा चलनेवाले जीवको यदि अपने समतलसे ऊपर नीचे टेढे स्थानमें जन्म लेना है तो दो मोडे अवश्य लगेंगे। इससे अधिककी आवश्यकता नहीं है। हां, परमागम अनुसार लोकरचना मान लेनेपर निष्कुट क्षेत्रमें गति करना तो तीन मोडा लेकर ही सम्भवता है।

मा भूदित्ययुक्तं, तथा पाणिमुक्ता लांगलिका गोमूत्रिका चैकद्वित्रिवक्रा संसारिणां गतिरिति सिद्धांतविरोधात्। तदविरुद्धमनुरुध्यमानैः त्रिवक्रा तु गतिरभ्युपगंतव्या, न चासौ निष्कुटत्वविनिर्मुक्ते चतुरस्रे वृत्ते वा लोके संभवतीति न तदुपदेशसंभवः।

यदि कोई अतिसाहसी प्रवादी यों कह देवे कि जीवकी गतिमें तीन मोडे भले ही नहीं होवें, हमारी क्या क्षति है। टेढेपनको कमकर जीवमें जितनी सरलता बढे उतना ही अच्छा है। आचार्य कहते हैं कि यों सिद्धांतवाक्यका अतिक्रमण कर भलमानुषी दिखाते हुये प्रशंसा लूटना अनुचित है। क्योंकि तिस प्रकार त्रिवक्रपनेका अभाव मान लेनेपर इस सिद्धान्तग्रन्थसे विरोध हो जायगा कि संसारी जीवकी लम्बे बाहु या हाथको ऊपर झुका देनेपर तत्सदृश हुई पाणिमुक्ता गति तो एक मोडेवाली है और दो स्थानोंपर टेढे झुक रहे हलके समान आकारवाली लांगलिका गति तो दो वक्रतावाली है तथा चलते हुये बैलके मूत्र समान आकारवाली गोमूत्रिका गति तो तीन वक्रताओंको धारती है, ये सिद्धान्तके वचन अक्षुण्ण हैं। निर्दोष निर्बाध उन सिद्धान्त वचनोंके अविरुद्ध अनुरोध मानकर प्रवर्त्तनेवाले विद्वानों करके तीन मोडेवाली गति तो अवश्य स्वीकार कर लेनी चाहिये और वह तीन मोडेवाली गति निष्कुटपनसे सर्वथा निर्मुक्त हो रहे चौकोर अथवा गोल लोकमें नहीं सम्भवती है। इस कारण लोकके चौकोरपन या गोलपनका वह उपदेश देना सम्भव नहीं है।

कियत्समया पुनरवक्रा गतिरित्याह।

गुरुजी महाराज! अब यह बताओ, फिर नहीं मोडा लेनेवाली गति भला कितने समयोंमें पूरी होती है? ऐसी शिष्यकी तीव्र आकांक्षा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

एकसमयाविग्रहा ॥ २९ ॥

गतिवाले जीव पुद्गलोंकी जिस गतिमें मोडा नहीं है वह लोकपर्यन्त भी हो रही गति एक समयवाली है। अर्थात् सरलरूपसे गमन करनेका अवसर मिल जानेपर जीव और पुद्गल एक समयमें असंख्यात योजनोंवाले चौदह राजूतक चले जाते हैं। गतिका उदासीन कारण धर्मद्रव्य यदि लोकके बाहर भी होता तो असंख्याते राजुओंपर्यन्त जा सकते थे। किन्तु परवश हो जानेके कारण चौदह राजूसे अधिक गमन करना निषिद्ध हो जाता है।

गतिरित्यनुवर्तनेन सामानाधिकरण्यात्स्त्रीलिंगनिर्देशः कृतः । एकः समयोऽस्या इत्येकसमया, न विद्यते विग्रहो व्याघातोऽस्या इत्यविग्रहा ऋज्वी गतिरित्यर्थः । कुतश्चैवमित्याह ।

" अनुश्रेणिगतिः " इस सूत्रसे गति इस शब्दकी अनुवृत्ति करके समान अधिकरणपना हो जानेसे गतिकी अपेक्षा एक समया और अविग्रहा शब्दोंका स्त्रीलिंगमें कथन किया गया है । जिस गतिका समय एक ही है इस कारण वह एक समय कही जाती है । इस एक समयमें होनेवाली गतिका विग्रह अर्थात् —आघात यानी कुटिलता नहीं विद्यमान है । इस अविग्रहाका अर्थ यह हुआ कि एक समयमें होनेवाली गति बाणगमनके समान सरल है । कोई पूंछता है कि इस प्रकार गतिका सरलपना कैसे निर्णीत किया जाय ? यों आकांक्षा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधानकारक अग्रिम वार्तिकको कहते हैं ।

अविग्रहा गतिस्तत्र प्रोक्तैकसमयाखिला ।
प्राप्तिः समयमात्रेण लोकाग्रस्य तनोरपि ॥ १ ॥

उन गतियोंमें एक समयवाली सम्पूर्ण गतियां तो कुटिलता रहित हो रही सरल हैं । कारण कि केवल एक समय करके ही लोकके अग्रवर्ती दूसरे शरीरकी भी प्राप्ति हो जाती है । अर्थात् ऊर्ध्व लोकमें सबसे ऊपर स्थित हो रहे पन्द्रहसौ पिचत्तर बडे धनुष मोटे तनुवातवलयके ऊपरके पन्द्रहसौमें भागमें उसी समय जाकर मुक्तजीव लोकाग्रमें विराज जाते हैं । सबसे बडी सिद्धोंकी अवगाहना पांचसौ पचीस छोटे धनुषकी है और सबसे छोटी अवगाहना साडे तीन हाथकी है । पन्द्रहसौ पिचत्तर धनुषके उपरिम तनुवातवलयको पांचसौसे गुणा कर देनेपर छोटे धनुष हो जाते हैं । उनमें बडी अवगाहनाका भाग देनेसे पन्द्रह सौ लब्ध आते हैं तथा साडे तीन हाथ यानी सात बटे आठ धनुषकी छोटी अवगाहनाका भाग देनेसे नौ लाख लब्ध आते हैं । तनुवातवलयके पन्द्रहसैमे भागमें बडी अवगाहनाके सिद्ध हैं और नौ लाखमें भागमें छोटी अवगाहनाके सिद्ध हैं । मध्यवर्ती अवगाहनाओंके अनेक भेद हैं । मध्ये तिष्ठन्ति मध्यमाः ।

लोकाग्रप्रापणी गतिर्मुक्तस्य तावदेकसमया समाविर्भूतानंतवीर्यस्य तस्यैकसमयमात्रेण लोकाग्रप्राप्त्युपपत्तेः । पूर्वतनुपरित्यागेन तन्वंतरप्रापणी ऋजुगतिरेकसमयैव संसारिणोपि, संप्राप्ततादृग्वीर्यांतरायक्षयोपशमस्य लोकांतरवर्तिन्याः तनोरपि समयमात्रेण प्राप्तिघटनात् । ततः सकलाप्यविग्रहा गतिरेकसमयेत्युपपन्नं । सामर्थ्यादेकवक्रा द्विसमया, द्विवक्रा त्रिसमया, त्रिवक्रा चतुःसमयेति सिद्धं ।

मुक्तजीवकी लोकके उपरिम अग्रभागमें प्राप्त करानेवाली गति तो एक समयमें पूरी हो जाती है । क्योंकि वीर्यान्तराय कर्मका क्षय हो जानेसे जिस मुक्त जीवके अनन्तवीर्यगुण भले प्रकार प्रकट

हो गया है, उस जीवकी केवल एक समयमें ही लोकके अग्रभागमें प्राप्ति हो जाना बन जाता है। हां, संसारी भी जीवकी पूर्वशरीरका परित्याग करके दूसरे भवके शरीरान्तरको प्राप्त करानेवाली ऋजु गति भी एक समयवाली ही है। तिस प्रकारका राजुओंतकका लम्बा उछलनेके उपयोगी वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम जिस जीवको भले प्रकार प्राप्त हो गया है उसको एक ही समयमें लोकान्तमें वर्त रहे शरीरकी भी प्राप्ति हो जाना घटित हो जाता है। अर्थात्—ऊर्ध्व लोकके तनुवातवलयमें स्थित वात कायिक जीव मरकर उसी समय अधोलोकके वातवलयमें चौदहराजू नीचे जन्म ले लेता है या नीचेके वातवलयका जीव चौदह राजू ऊपर जाकर ऊपरके वातवलयमें उसी समय जनम जाता है। सातों पृथिवियोंमें दक्षिणकी ओर मरकर पृथिवीकायिक जीव उसी समय सात राजू चल सातों पृथिवियोंमें उत्तरकी ओर जन्म ले लेता है। क्योंकि लोक सर्वत्र दक्षिण उत्तर सात राजू मोटा है। कोई भी एकेंद्रिय जीव एक ओरसे दूसरी ओर एक समयमें ऊंचा, नीचा, तिरछा, सीधा सात राजू गमन कर जाता है। उतने अनन्त अविभागप्रतिच्छेदोंको धार रहा उसके वीर्यगुणका विकास हो रहा है। सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके जघन्य ज्ञानमें अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं और अनन्त चतुष्टय धारीके केवलज्ञानमें भी अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं। हां, यह अनन्त उस अनन्त संख्यासे अनन्तानन्तगुणा बडा है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय जीवके जघन्य वीर्य गुणमें अनन्त शक्त्यंश हैं और अनन्तचतुष्टयधारी जीवन्मुक्त या मुक्तजीवके भी वीर्य गुणमें भी अनन्तानन्त शक्त्यंश वर्त रहे हैं। भले ही वे पहिले अंशोंसे अनन्तानन्त गुणे अधिक हैं। एकेन्द्रिय जीव भी चौदह राजू ऊपर या नीचेतक गमन करनेकी शक्तिको रक्षित रखता है। पूर्वभव सम्बन्धी मरण और वहांसे उत्तरभवके लिये चौदह राजूतक गमन करना तथा वहां जाकर नवीन शरीरका ग्रहण कर लेना ये सब एक ही समयमें हो जानेवाले कार्य हैं। हां, पहिले पीछे होते हैं। किन्तु समयभेद नहीं है एक समयमें भी असंख्यातासंख्यात शक्त्यंश हैं। तिस कारणसे सम्पूर्ण भी कुटिलतारहित गतियां एक समयमें ही निष्पन्न कर ली जाती हैं, यह सिद्धान्त बन चुका है। साथमें विना कहे ही सामर्थ्यसे यह भी सिद्ध हो चुका है कि एक मोडेवाली गति में दो समय विरते हैं, दो मोडेवाली गति तीन समयमें संपादित होती है, तीन मोडेको धारनेवाली गति तो चार समयमें निष्पन्न होती है।

यद्येवं सर्वत्राहारको जीवः प्रसक्त इत्याकूतं प्रतिषेधयन्नाह ।

यदि उस प्रकार अविग्रहागतिमें जीव सदा आहारक बना रहता है, यानी पहिले समयमें भी आहार करता हुआ मरा था और अग्रिम समयमें झट वहां पहुंचकर उसी समय नोकर्मका आहार कर लिया, उसी प्रकार सभी एकवका, द्विवका, त्रिवका, गतियोंमें भी जीवको आहारी बना रहनेका प्रसंग प्राप्त हुआ। इस प्रकारके सिद्धांतविरुद्ध कुचेष्टितका निषेध करते हुये श्री उमास्वामी महाराज अग्रवर्ती सूत्रको स्पष्ट कहते हैं।

एकं द्वौ त्रीन् वानाहारकः ॥ ३० ॥

एक, दो, तीन, मोडेवाली गतियोंमें यह संसारी जीव यथाक्रमसे एक या दो अथवा तीन समयोंतक अनाहारक रहता है। अर्थात्–कार्माण काययोगद्वारा केवल आयुरहित सप्तविध कर्मोंका ही ग्रहण करता रहता है। नोकर्मका ग्रहण नहीं कर पाता है। वहां पहुंचकर जन्म लेनेके अगले समयमें आहारक बनता है। उसके पहिले एक, दो, तीन, समयतक वह जीव आहारी नहीं है।

एकं वा समयं द्वौ वा समयौ त्रीन् वा समयाननाहारक इति संप्रत्येयं, प्रत्यासत्तेः समयस्याभिसंबंधात्, वा शब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तेश्च। सप्तमी प्रसंग इति चेन्न, अत्यंतसंयोगस्य विवक्षितत्वात्।

वा शब्दका अर्थ यहां विकल्प है। उसका एक, दो, तीन, प्रत्येकमें परिसमाप्तिसे अन्वय कर देना चाहिये। निकटवर्ती होनेसे। "एकसमयाविग्रहा" इस सूत्रसे अनुवृत्ति कर प्राप्त हुये समय शब्दका यहां तीनोंमें सम्बन्ध हो जाता है। अतः चाहे एक समय अथवा दो समयतक किम्वा तीन समयतक संसारी जीव अनाहारक रहता है, यह पक्का विश्वास रखना चाहिये। यहां किसीकी शंका है कि आहार क्रियाका काल तो अधिकरण है। अतः एक, दो, तीन, इन संख्या वाचक शब्दोंमें सप्तमी विभक्तीकी प्राप्ति हो जानेका प्रसंग आता है, आचार्य कहते हैं यह तो नहीं कहना। क्योंकि यहां अत्यन्त संयोग की विवक्षा हो रही है। जहां अति अधिक संयोग विवक्षित होता है वहां सप्तमीका अपवाद कर द्वितीया विभक्ति कर दी जाती है।

कः पुनराहारो नाम येनाहारको जीवः स्यादित्यभिधीयते–त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलग्रहणमाहारः तदभावाद्विग्रहगतावनाहारकः न हि तस्यामाहारकशरीरस्य संभवः, नाप्यौदारिकवैक्रियिकशरीरयोः षण्णां पर्याप्तीनां व्याघातात्। पुनरात्मैकसमयं द्वौ त्रीन् वानाहारको न पुनश्चतुर्थमपीत्याह।

कोई पूछता है कि फिर यह बताओ कि आहार भला क्या पदार्थ है ? जिस आहार करके कि जीव आहारी हो जावेगा, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी करके यों उत्तर कहा जाता है कि औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, इन तीन शरीरों और आहारपर्याप्ति १ शरीरपर्याप्ति २ इन्द्रियपर्याप्ति ३ श्वासत् उश्वास पर्याप्ति ४ भाषापर्याप्ति ५ मनःपर्याप्ति ६ इन छह पर्याप्तियोंके योग्य हो रहे पुद्गलद्रव्यका ग्रहण करना आहार है। यानी जैसे भूख, प्यास, लगनेपर यह जीव पित्त अग्नि द्वारा अन्न, जलका आहार कर लेता है। उसी प्रकार विशेष कर्मोंका उदय होनेपर योग द्वारा यह जीव अतीन्द्रिय नोकर्म वर्गणाओंका आहार करता है। कारण नहीं मिलनेपर विग्रहगतिमें उस आहारका अभाव हो जानेसे जीव अनाहारक माना जाता है। उस विग्रहगतिमें तीसरे आहारक शरीरकी तो

सम्भावना ही नहीं है। क्योंकि आहारकशरीर नामक नामकर्मका उदय होनेपर असंयमका परिहार या गूढविषयोंमें उपजे हुये सन्देहको दूर करनेके लिये छठे गुणस्थानवर्त्ती किसी ऋद्धि प्राप्त मुनिके ध्यान करते समय आहारक शरीर निपजता है। अधिकसे अधिक चौथे गुणस्थानमें हो रही विग्रह-गतिकी दशामें आहारक शरीरके उपजनेकी योग्यता प्राप्त नहीं है। अतः उस समय आहारक शरीरका ग्रहण नहीं है। तथा औदारिक, वैक्रियिक शरीरोंका ग्रहण करना भी असम्भव है। क्योंकि व्याघात है। मोडा लेते समय आहारक्रिया कथमपि नहीं हो सकती है। इसी प्रकार छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गल द्रव्यके ग्रहणका भी व्याघात है। अर्थात्—जैसे कि कोई बहुत पिट रहा या अत्यधिक परिश्रम कर रहा अथवा परवश अधिक दौड रहा मनुष्य खाना पीना भूल जाता है। उसी प्रकार विग्रह गतिमें नोकर्म आहारका व्याघात है। उस समय तो फिर आत्मा एक मोडा लेनेपर एक समयमें अथवा दो मोडेवाली गतिमें दो समयतक तथा तीन मोडेवाली गतिमें तीन समयतक अनाहारक रहता है। फिर चौथे समयमें भी अनाहारक नहीं है। आहार अवश्य कर लेता है, इसी बातको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिकों द्वारा कह रहे हैं कि—

एकं समयमात्मा द्वौ त्रीन् वा नाहारयत्ययं।
शरीरत्रयपर्याप्तिप्रायोग्यान् पुद्गलानिमान् ॥ १ ॥
चतुर्थे समयेवश्यमाहारस्य प्रसिद्धितः।
ऋज्वामिषुगतौ प्राच्ये पुंसः संसारचारिणः ॥ २ ॥
द्वितीये पाणिमुक्तायां लांगलायां तृतीयके।
यथा तद्वत्त्रिवक्रायां चतुर्थे विग्रहग्रहः ॥ ३ ॥

यह संसारी जीव एक समयतक या दो समयतक अथवा तीन समयतक इन तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके स्वयोग्य होरहे नोकर्मवर्गणास्वरूप पुद्गलोंका आहार नहीं कर पाता है। चौथे समयमें अवश्य ही आहारकी सिद्धि होजाती है। धनुषपरसे फेंक दिये गये बाणकी गतिके समान सरल (सीधी) ऋजुगतिमें तो इस संसारभ्रमण करनेवाले जीवका पूर्वसमयमें ही आहार होजाता है। पूर्वभवका वियोग, उत्तरभवके प्रति गमन, वहां जाकर नोकर्मवर्गणाओंका आहार करलेना और पर्याप्तियोंका कार्य प्रारंभ होजाना ये सब कार्य एक समयमें ही सम्पन्न होजाते हैं। मुडे हुये हाथके समान एक मोडेवाली पाणिमुक्ता नामकी गतिमें तो दूसरे समयमें जीवको आहारकी प्राप्ति होजाती है। हल या सिंहपुच्छके समान दो मोडेवाली लांगलिका गतिमें जैसे तीसरे समयमें नोकर्म आहारकी प्राप्ति हो जाती है उसीके समान तीन मोडेवाली गोमूत्रिका गतिमें चौथे समयमें जाकर शरीरका ग्रहण किया जाता है।

संप्रति क्षणिकाद्येकांतव्यवच्छेदेन स्याद्वादपक्ष एव विग्रहगतिर्जीवस्य संभवतीत्याह ।

अब इस समय क्षणिकपन, नित्यपन, आदि एकान्त पक्षोंके व्यवच्छेद करके स्याद्वाद पक्षमें ही जीवकी विग्रह गति होना सम्भवता है, इस रहस्यको श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिमवार्त्तिकों द्वारा स्पष्ट खोल कर कहते हैं ।

क्षणिकं निष्क्रियं चित्तं स्वशरीरप्रदेशतः ।
भिन्नं चित्तांतरं नैव प्रारभेत सविग्रहं ॥ ४ ॥
सर्वकारणशून्ये हि देशे कार्यस्य जन्मनि ।
काले वा न कचिज्ज्ञातुमस्य जन्मन सिद्ध्यति ॥ ५ ॥

पहिले क्षणमें उत्पन्न होकर दूसरे क्षणमें समूल चूल, नष्ट हो गया, क्रियारहित क्षणिक चित्त तो अपने शरीर प्रदेशसे भिन्न दूसरे शरीरसहित चित्तको नहीं उत्पन्न कर सकेगा। सम्पूर्ण कारणोंसे शून्य हो रहे देशमें अथवा कारणविकल कालमें यदि कार्यका जन्म माना जायगा तब तो कहीं भी देश या कालमें इस कार्यका जन्म नहीं जाना जा सकता है। अतः किस कारणसे किसका जन्म हुआ ? यों कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं हो सकता है । अर्थात् --बौद्ध आत्मद्रव्यको क्षणिक, निष्क्रिय, अणु, विज्ञान स्वरूप मानते हैं। पहिले समयका चित्त सर्वथा नष्ट हो जाता है। दूसरे समयमें सर्वथा नवीन चित्त उपजता है। उनके यहांकी यह दशा बालक, युवा, वृद्ध, अवस्थाओंमे भी घटना कठिन है। क्षणिक चित्त जन्मान्तरमें जाकर उपज जाय, यह तो असम्भव ही है। बौद्ध तो बाणका भी देशांतरमें पहुंच जाना नहीं मानते हैं। पूर्व प्रदेशोंपर स्थित हो रहा बाणस्वरूप अवयवोंकी राशि सर्वथा नष्ट हो जाती है। अगले प्रदेशोंपर दूसरे समयमें अन्य ही बाण उपजता है। यही उत्पादविनाशका क्रम लक्ष्यदेशकी प्राप्ति तक बना रहता है। वह का वही बाण लक्ष्यतक नहीं पहुंच पाता है। बौद्धोंको असत्‌के उत्पाद और सत्‌के विनश जानेका डर नहीं है। घूमते हुये चाकमें भी वे क्रियाको न मानकर प्रत्येक प्रदेशपर नवीन नवीन चाकका उत्पाद विनाश स्वीकार करते हैं। ऐसा सिद्धान्त माननेपर निष्क्रिय चित्त भला जन्मान्तरमें जाकर दूसरे चित्तको नहीं उत्पन्न करा सकता है। अतः बौद्धोंके यहां विग्रहगति नहीं सम्भवती है।

कूटस्थोपि पुमान्नैव जहाति प्राच्यविग्रहं ।
न गृह्णात्युत्तरं कायमनित्यत्वप्रसंगतः ॥ ६ ॥

सर्वथा नित्यपक्ष लेनेपर कूटस्थ आत्मा भी पूर्वजन्मके शरीरको नहीं छोड पाता है और उत्तरभवसम्बन्धी कायको नहीं ग्रहण कर सकता है। क्योंकि यों तो अनित्यपनेका प्रसंग हो

जावेगा, किसीका ग्रहण करना अन्यका त्याग करना तो कथंचित् अनित्य पदार्थके ही सम्भवता है, कूटस्थके नहीं ।

परिणामी यथा कालं गतिमानाहरत्यतः ।
स्वोपात्तकर्मसृष्टेष्टदेशादीन् पुद्गलान्तरं ॥ ७ ॥

अतः न तो क्षणिक और न कूटस्थ, किन्तु परिणामी जीव गतिमान् हो रहा सन्ता अपने पूर्वजन्मोंमें ग्रहण किये गये कर्मों द्वारा रचे गये इष्ट देश, इष्ट फल, आहार्य पदार्थ आदिकोंका यथासमय आहार कर लेता है तथा अपने योग्य अन्यपुद्गलोंका भी आहार कर लेता है। अर्थात्—एक दो अथवा तीन समयोंको टालकर अपने पुण्य, पाप, अनुसार यह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, स्वरूपपरिणामका धारी और देशसे देशान्तरको जानेवाला जीव अनेक जातिके न्यारे न्यारे पुद्गलोंका आहार कर लेता है ।

इति विग्रहसंप्राप्त्यै गतिर्जीवस्य युज्यते ।
षड्भिः सूत्रैः सुनिर्णीता निर्बाधं जैनदर्शने ॥ ८ ॥

इस प्रकार शरीरकी भले प्रकार प्राप्ति करनेके लिये संसारी जीवकी गति होना युक्त हो जाता है। श्री अरहन्त देव द्वारा आद्य प्रतिपादन किये गये जैनदर्शनमें अथवा स्वरचित "तत्त्वार्थशास्त्र" नामक जैनदर्शन ग्रन्थमें "विग्रहगतौ कर्मयोगः, अनुश्रेणि गतिः, अविग्रहा जीवस्य, विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः, एक समयाविग्रहा, एकं द्वौ त्रीन् वानाहारकः" इन छह सूत्रों करके श्री उमास्वामी महाराजने जीवकी गतिका बाधारहित अच्छा निर्णय कर दिया है । कोई खटका नहीं रह जाता है ।

अथैवं निरूपितगतेर्जीवस्य नियतकालात्मलाभस्य षष्ठिकाद्यात्मलाभवत्संभाव्यमानस्य जन्मभेदप्रतिपादनार्थमाह ।

अब इसके अनन्तर जिस जीवकी गतिका इस प्रकार निरूपण किया जा चुका है, नियत किये गये कालमें आत्मलाभ कर रहे और साठी, चावल, बाजरा, कांगुनी, आदिके आत्मलाभ समान सम्भावना किये जा रहे उस जीवके जन्मभेदोंका प्रतिपादन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं । भावार्थ—साठी चावल जैसे साठ दिनमें पकते हैं, न्यून अधिक समयमें नहीं, इस प्रकार कई धान्य और अनेक फलोंके परिपाकका समय नियत है । गायें, भैंसे, तथा किन्हीं किन्हीं स्त्रियोंके गर्भधारणका समय भी नियमित रहता है। उसी प्रकार जीव भी नियत कालमें अपने उत्पत्ति क्षेत्रको प्राप्त कर लेता है । वहां जाकर जीवके कितने प्रकार जन्म होते हैं ? उसका निर्णायक सूत्र यह है । इसको अब समझियेगा ।

संमूर्छनगर्भोपपादा जन्म ॥ ३१ ॥

सम्मूर्छन, गर्भ, और उपपाद ये तीन संसारी जीवोंके जन्मके प्रकार हैं ।

समंततो मूर्छनं शरीराकारतया सर्वतः पुद्गलानां सम्मूर्छनं, शुक्रशोणितमरणाद्गर्भः मातृप्रयुक्ताहारात्मसात्करणाद्वा, उपेत्य पद्यतेस्मिन्नित्युपपादः । एतेषामितरेतरयोगे द्वन्द्वे संमूर्छनस्य ग्रहणमादावतिस्थूलत्वात् अल्पकालजीवित्वात् तत्कार्यकारणप्रत्यक्षत्वाच्च, तदनंतरं गर्भस्य ग्रहणं कालप्रकर्षनिष्पत्तेः, उपपादस्य ग्रहणमंते दीर्घजीवित्वात् । त एते जीवस्य जन्मेति प्रत्येयं ।

तीनों लोकमें ऊपर, नीचे, तिरछे, कहींसे भी चारों ओरसे भी देहके अवयवोंको रच लेना संमूर्छन है । पुद्गलोंका सब ओरसे शरीरके आकारपने करके अवयव गढ जाना सम्मूर्छन जन्म है । जैसे कि सडे हुये मल, मूत्र, फल, रोटी, दाल, आदिमें जीव, आकर चारों ओरसे उन्हीं पदार्थोंका शरीर रच लेता है । स्त्रीके उदरमें पुरुषके शुक्र और माताके रक्तका मिश्रण हो जानेसे गर्भ नामका जन्म होता है अथवा माताके द्वारा खाये गये आहारको अपने अधीन करनेसे गर्भ माना जाता है । गर्भमें हाथी, घोडे, बालक, बालिका, तोता, मैना, हिरण, बन्दर, आदिक जीव अपनी माताके खाये हुये आहारको अपने शरीररूप मिलाते रहते हैं । जिन कोमल शय्यास्थान या मकर मुख, आदि स्थानोंको प्राप्त होकर इनमें जन्मा जाय, इस कारण यह उपपाद है । देव या नारकियोंके उत्पत्ति स्थानकी विशेषसंज्ञा उपपाद है । इन सम्मूर्छन, गर्भ, उपपादोंका चाहे कैसे भी आगे पीछे रखकर इतरेतर योग नामक द्वन्द्व समास करनेपर सम्मूर्छन शद्बका आदिमें ग्रहण हो जाता है । कारण कि सम्मूर्छन शरीर अधिक स्थूल है, अर्थात्—हजार योजन ऊंचा कमल, बारह योजन लंबा संख, तीन कोस लंबी गिंजाई, चार कोस लंबा भौरा और हजार योजन लंबा राघव मत्स्य ये सब जीव मोटे सम्मूर्छन शरीरको धार रहे हैं । कमलका क्षेत्रफल सातसौ पचास योजन है । संखका घनफल तीनसौ पैंसठ योजन है । गिंजाईका क्षेत्रफल सत्ताईस योजनके इक्यासी सौ बानवैमे भाग है । भ्रमरका क्षेत्रफल तीन बटे आठ योजन है । स्वयंभूरमण समुद्रमें निवास करनेवाले मत्स्यका घनफल साडे बारह करोड योजन है । इन जीवोंके सम्मूर्छन जन्म है । नारकियोंका वैक्रियिक शरीर अधिकसे अधिक पांचसौ धनुष है । देवोंका भी मूलशरीर पच्चीस धनुषसे अधिक नहीं है, उत्कृष्ट भोगभूमिके भी मनुष्योंका शरीर तीन कोस लम्बा है । यहां कर्मभूमिमें मनुष्य शरीरकी अपेक्षा घोडे, वृक्ष आदिमें जो वृद्धिका तारतम्य है, वही तारतम्य भोगभूमिमें लगाया जा सकता है । अतः गर्भज, और उपपादजकी अपेक्षा सम्मूर्छन शरीर अधिक मोटा है, तथा वैसे भी सम्मूर्छन शरीरकी गढंत गर्भ, उपपादवालोंकी अपेक्षा मोटी है । ग्रन्थकार स्वयं " परम्परं सूक्ष्मं " आगे कहनेवाले हैं । दूसरी बात यह है कि गर्भजन्मवाले और उपपादजन्मवाले जीवोंकी अपेक्षा सम्मूर्छन प्राणी अल्पकाल जीवित रहते हैं । देखो, सम्मूर्छन मत्स्यकी आयु सातहजार छप्पनके ऊपर सत्रह बिन्दी लगाकर जितनी संख्या होती है उतने वर्ष प्रमाण

अर्थात्—कोटि पूर्ववर्षकी उत्कृष्ट है। किन्तु गर्भजन्मवाले मनुष्यकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्य है और उपपाद जन्मवाले देव, नारकियोंकी आयु तेतीस सागर उत्कृष्ट है। जिनमें कि असंख्याते वर्ष कोटेसे पड़े हुये हैं। उपपाद जन्मवाले की जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है और गर्भजन्मवालोंकी जघन्य आयु कुछ बडा अन्तर्मुहूर्त्त है। किन्तु सम्मूर्छन जीवोंकी जघन्य आयु नाडीगति कालके अठारहमें भाग है। अतः अल्पकालतक जीवनेवाले विचारे सम्मूर्छन जन्मवालोंका आदिमें ग्रहण करना उचित है। तीसरी बात यह है कि गर्भ और उपपाद जन्मके कार्य और कारणका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। किन्तु उस सम्मूर्छन जन्मके कार्यकारण दोनोंका बहिरंग इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष हो भी जाता है। सम्मूर्छन शरीरके कारण गले सडे पदार्थों या बीज, शाखा, आदिका लोकमें प्रत्यक्ष हो रहा है। तथा उनके कार्य बन गये लट, गिराड, अंकुर आदिका भी प्रायः प्रत्यक्ष हो जाता है। उस सम्मूर्छनके पश्चात् गर्भका ग्रहण है। क्योंकि सम्मूर्छनकी अपेक्षा अधिक बढे हुये कालमें गर्भजन्मकी निष्पत्ति होती है। सम्मूर्छन शरीर तो अन्तर्मुहूर्त्तमें भी बन जाता है। किन्तु गर्भके लिए चिरैय्या मुर्गी छिरिआ, कुत्ती, स्त्री, घोडी भैंस आदिके शरीरमें मास, दो मास, छह मास, नौ मास, बारह मास, तक बननेकी अपेक्षा है। सबके अन्तमें दीर्घकालतक जीवित बना रहना होनेसे उपपादका ग्रहण किया है। वे सब इस जीवके जन्म हैं, यह विश्वास रखना चाहिये।

संमूर्छनादिभेदात् जन्मभेदे वचनभेदप्रसंग इति चेन्न, जन्मसामान्योपादानात्तदेकत्वोपपत्तेः।

यहां किसीकी शंका है कि सम्मूर्छन आदिके भेदसे जब जन्मके तीन भेद हैं, तब तो जन्मशद्बके बहुवचन रूपसे भेद करनेका प्रसंग आता है। अर्थात्—जब जन्मके प्रकार तीन हैं तो " जन्मानि " यों बहुवचन होना चाहिये। तभी सामानाधिकरण्य बनेगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि जाति अर्थमें प्रयुक्त किये गये जन्म शद्ब करके जन्म सामान्यका उपादान है। अतः उस जन्मशद्बकी एकवचन रूपसे सिद्धि हो जाती है। सामान्यको कहनेमें एक वचन कहा जाता है। जैसे कि " जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वं " यहां विधेय दलमें एक वचनान्त तत्त्व शद्बका ग्रहण करना साधु है।

कुतः पुनः संमूर्छनादय एव जन्मभेदा इत्याह।

स्वामीजी महाराज ! फिर यह बताओ कि संमूर्छन आदिक ही जन्मके भेद किस कारणसे हो जाते हैं ? अर्थात्—सम्मूर्छन आदिक तीन ही जन्मके प्रकार हैं, अधिक क्यों नहीं हैं ? तथा ऐसे जन्मोंका कारण क्या है सो स्पष्ट कहिये, ऐसी विनीत शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य वार्त्तिकको कहते हैं।

संमूर्छनादयो जन्म पुंसो भेदेन संग्रहात्।
सतोपि जन्मभेदस्य परस्यांतर्गतेरिह ॥ १ ॥

सामान्य रूपसे जन्मका एक भेद ही है। विशेषतया सैकडों, हजारों, जन्मके भेद हैं। हां, कतिपय भेदों करके ही संग्रह करनेसे जीवके सम्मूर्छन आदिक तीन जन्म कहे गये हैं। यद्यपि दूसरे दूसरे भी जन्मके विशेष भेद विद्यमान हैं, किन्तु उन विशेष भेद, प्रभेदोंका, इन तीन जन्मोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। अतः अतिरिक्त प्रकारोंके माननेकी आवश्यकता नहीं है।

संस्वेदोद्भेदादयः परे जन्मभेदाः संमूर्छनात् तेषां तत्रैवांतर्गमनात्। भेदेन तु संगृह्यमाणं जन्म त्रिविधं व्यवतिष्ठते संमूर्छनादिभेदः पुनर्जीवस्य तत्कारणकर्मभेदात्, सोपि स्वनिमित्ताध्यवसायभेदादिति प्रतिपत्तव्यं।

लट, डांस, जुआं, आदिक जीव पसीनासे उत्पन्न हो जाते हैं, इनका स्वेदज जन्म कहा जाता है। वृक्ष, बेलि, आदिक उद्भिज्ज हैं। शरीरमें पुष्पमाला पहिननेसे पुष्पोंके रूप आदिकी परावृत्ति हो जाती है। अतः अनुमान किया जाता है कि ऊष्मा या स्वेद निकलता रहता है, जिससे कि जीवोंकी उत्पत्ति हो जाती है तथा भूमिको भेद कर ऊपर निकल आये उद्भित्से जन्म लेनेवाले वृक्ष, घास, आदि हैं। इस प्रकार संस्वेद, उद्भेद, आदिक दूसरे भी जन्मके भेद हैं। किन्तु समन्तात् मूर्छन, होनेसे उन अतिरिक्त प्रकारोंका उन तीन जन्मोंमें ही अन्तर्गमन हो जाता है। हां, भेदकरके संग्रह किये जा रहे जन्म तो तीन प्रकारके ही व्यवस्थित हो रहे हैं। हां, फिर जीवके सम्मूर्छन आदिक जन्मभेद तो उनके कारण कर्मोंके विशेष भेदोंके अनुसार हो जाते हैं और वह कर्मोंका भेद भी अपने निमित्त कारण हो रहे कषायोंके अध्यवसाय स्थानोंके भेदसे बन बैठता है। भावार्थ—जीवोंके परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण हैं। उनको निमित्त पाकर कर्मबन्धोंके असंख्याते विकल्प हो जाते हैं। उन कर्मोंके फल अनुसार सम्मूर्छन आदिक जन्मके तीन प्रकार हो जाते हैं। विशेषतया विचारनेपर उन्हीं कर्मोंके अनुसार संख्यात और असंख्यात भी जन्मके प्रकार हैं। जो कि पूर्णरूपसे श्रुतज्ञान या केवल ज्ञानद्वारा गम्य हैं। इस प्रकार समझ लेना चाहिये।

तद्योनिप्रतिपादनार्थमाह।

उन जन्मोंके योनिस्थानोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको स्पष्ट कह रहे हैं।

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥

सचित्त १ शीत २ संवृत ३ और इनसे इतर अर्थात्—अचित्त ४ उष्ण ५ विवृत ६ तथा इनके मिले हुये यानी सचित्तअचित्त ७ शीतोष्ण ८ सम्वृत विवृत ९ ये नौ उन जन्मोंकी एक एककी योनियां हैं। अर्थात्—सचित्त आदि स्थल विशेषोंमें जीव उन तीनों जन्मोंको यथायोग्य धारते हैं।

आत्मनः परिणामविशेषश्चित्तं, शीतः स्पर्शविशेषः, संवृतो दुरुपलक्ष्यः । सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तः, शीतोऽस्यास्तीति शीतः, संव्रियते संवृतः । सचित्तश्च शीतश्च संवृतश्च सचित्तशीतसंवृताः सहेतरैरचित्तोष्णविवृतैर्वर्तंते इति सेतराः सप्रतिपक्षाः, मिश्रग्रहणमुभयात्मसंग्रहार्थं ।

आत्माके चैतन्यान्वित विशेषपरिणामको चित्त कहते हैं। आठ प्रकारके स्पर्शोंमें शीत एक स्पर्शविशेष है, जो कि प्रसिद्ध ही है। संवृतका अर्थ भले प्रकार आच्छादित हो रहा यह जो प्रदेश बडी कठिनतासे देखा जा सके या नहीं देखा जा सके वह संवृत है। चित्तके साथ जो वर्तता है, इस कारण वह सचित्त कहा जाता है, शीतस्पर्श नामक गुण जिसके विद्यमान हैं, इस कारण यह योनिस्थान शीत है, गुणवाचक शीत शब्दसे मत्वर्थीय अच् प्रत्यय कर लेना। जो भले प्रकार ढक दिया जाय वह संवृत है। सचित्त और शीत तथा संवृत इस प्रकार इतरेतर योग द्वन्द्व समास करने पर " सचित्तशीतसंवृताः " पद बन जाता है। ये सचित्त, शीत, संवृत, यदि इतर हो रहे, अचित्त, उष्ण, विवृतोंके साथ वर्त जाते हैं, इस कारण सेतर यानी प्रतिपक्षसहित हो जाते हैं। इस सूत्रमें मिश्रका ग्रहण करना तो सचित, अचित्तका उभय और शीत उष्ण दो अवयववाला उभय तथा संवृत, विवृत इन दोनों आत्मक उभयका संग्रह करनेके लिये है।

च शब्दः प्रत्येकं समुच्चयार्थ इत्येके, तदयुक्तं, तमंतरेणापि तत्प्रतीतेः, पृथिव्यप्तेजोवायुरिति यथा । इतरयोनिभेदसमुच्चयार्थस्तु युक्तश्चशब्दः, एकशो ग्रहणं क्रममिश्रप्रतिपत्त्यर्थं तेन सचित्तोचित्तौ मिश्रश्च शीतउष्णौ मिश्रश्च संवृतो विवृतो मिश्रश्चेति नवयोनिभेदास्तस्य जन्मनः प्रतीयंते तच्छद्बस्य प्रकृतापेक्षत्वात् ।

कोई एक विद्वान् यों कह रहे हैं कि सूत्रमें पडा हुआ च शब्द तो प्रत्येकका समुच्चय करनेके लिये है। अर्थात्–प्रत्येकके साथ च शब्द लगा देनेपर ही नौ भेद हो सकते हैं। अन्यथा यानी च शब्द नहीं डाला जायगा तो सचित्त, शीत, संवृत, जब सेतर होकर मिल जांय, तब योनियां हो जाती हैं, यह अर्थ निकल पडेगा। और च शब्द कर देनेसे प्रत्येक प्रत्येक योनि हो जाती हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि उनका कहना युक्तिरहित हैं। क्योंकि उस च शब्दके विना भी प्रत्येकका समुच्चय हो सकता है। जैसे कि " पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि " यहां च शब्दके विना ही और बहुवचनान्त प्रयोगके विना ही पृथिवी, जल, तेज, वायु, ये प्रत्येक प्रत्येक होकर चार तत्व हैं, यह अर्थ निकल आता है। हां, संक्षेप प्रतिपादक सूत्रमें योनियोंके जो अन्य भेद नहीं कहे गये हैं, उनका समुचय करनेके लिये तो च शद्बका प्रयोग करना समुचित है। इस सूत्रमें एक एक इस प्रकार वीप्सामें शस् प्रत्यय कर एकशः शद्बका ग्रहण करना तो क्रमपूर्वक मिश्र योनियोंकी प्रतिपत्तिके लिये है। तिस " एकशः " शद्ब करके सचित्त और अचित्त रूप मिश्र तथा शीत और उष्ण

रूप मिश्र एवं संवृत और विवृत रूप मिश्र यों जान लिया जाता है। सचित्त शीतका मिला हुआ या शीत और संवृतका मिला हुआ मिश्र नहीं समझ बैठना चाहिये। इस प्रकार उस जन्मकी योनियोंके नौ भेद प्रतीत हो रहे हैं। सूत्रमें पडा हुआ तत् शब्द तो प्रकरण प्राप्त सम्मूर्छन आदि जन्मोंकी अपेक्षा रख रहा है।

सचित्तादीनां द्वंद्वे पुंवद्भावाभावो भिन्नाश्रयत्वादित्येके, तदयुक्तं। पुल्लिंगस्य योनिशब्दस्येहाश्रयणात्तस्योभयलिंगत्वात्। स्त्रीलिंगस्य वा प्रयोग औत्तरपदिकह्रस्वत्वस्य विधानात् द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलंबितयोरुपसंख्यानमित्यत्र द्वंद्वेपि तस्य दर्शनात्।

कोई एक पण्डित यहां कह रहे हैं कि सचित्ता, अचित्ता, आदि स्त्रीलिंग पदोंका द्वन्द्व समास करनेपर विभिन्न आश्रय होनेसे पुंवद्भाव होकर ह्रस्व नहीं हो सकता है। यानी जब कि सचित्ता योनि न्यारी है और शीता योनि भिन्न है तो एकाश्रय नहीं बनता है। हां, सचित्तस्वरूप ही जो अचित्ता यों सामानाधिकरण्य होता तो पुंवद्भाव हो सकता था। आचार्य कहते हैं कि वह उनका कहना अयुक्त है। क्योंकि "योनिर्द्वयो" यों अमरकोषके वाक्य अनुसार वह योनि शब्द पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिंग दोनों लिंगोंमें प्रवर्तता है। यहां पुल्लिङ्गके योनि शब्दका आश्रय किया गया है। अतः सचित्तः, शीतः, संवृतः, यों पुल्लिङ्ग शब्दोंका समास कर "सचित्तशीतसंवृताः" शब्द बना लेना चाहिये। अथवा स्त्रीलिङ् भी योनि शब्दका प्रयोग करनेपर उत्तर पदके अनुसार ह्रस्व होनेका विधान है। मध्यमा च विलंबिता च "मध्यमविलंबिते" यहां द्रुतायान्तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानं इस वार्त्तिक अनुसार उत्तरपदके परे रहते उस ह्रस्व हो जानेका विधान देखा जाता है।

योनिजन्मनोरविशेष इति चेन्न, आधाराधेयभेदाद्विशेषोपपत्तेः। सचित्तग्रहणमादौ तस्य चेतनात्मकत्वात्तदनंतरं शीताभिधानं तदाप्यायनहेतुत्वात्। अंते संवृतग्रहणं गुप्तरूपत्वात् तत्राचित्तयोनयो देवनारकाः, गर्भजा मिश्रयोनयः, शेषास्त्रिविकल्पाः।

कोई आक्षेप करता है कि योनि और जन्ममें कोई अन्तर नहीं है। जो ही जन्म है वही योनि है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं समझ बैठना। क्योंकि आधार और आधेयके भेदसे योनि और जन्ममें विशेषता बन रही है। योनि आधार है, जन्म आधेय है। सचित्त आदि योनियोंमें जीव सम्मूर्छन आदि जन्मों करके पुद्गलोंका ग्रहण करता है। यहां सूत्रके आदिमें प्रधान चेतन आत्मक होनेसे सचित्तका ग्रहण किया है। उसके पश्चात् उस सचित्त अर्थकी वृद्धिका कारण होनेसे शीतका कथन किया गया है। अन्तमें गुप्तरूप होनेसे संवृतका ग्रहण है। उन नौ योनियोंमें देव और नारकी जीवोंकी योनि अचित्त है। क्योंकि उनके उपपाद स्थानोंमें किसी भी जीवका सम्बन्ध नहीं है। गर्भज जीवोंकी योनि सचित्त, अचित्त मिली हुयी है। अर्थात्—माताके उदरमें शुक्र, शोणित, तो अचित्त हैं। किन्तु गर्भाशयका स्थान जीवित हो रहा सचित्त है। मरे हुये गर्भाशयमें यदि शुक्र, शोणित, रख दिये जांय

तो बालक या अण्ड आदिकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है तथा शेष द्वीन्द्रिय या वृक्ष, आदिक जीव तीनों भेदवाले हैं। अर्थात्—किसीकी योनि सचित्त है, अन्य किसीकी योनि अचित्त है तथा अन्योंकी सचित्त, अचित्त है।

शीतोष्णयोनयो देवनारकाः, उष्णयोनिस्तेजस्कायिकः, इतरे त्रिप्रकाराः, देवनारकैकेंद्रियाः संवृतयोनयः, विकलेंद्रिया विवृतयोनयः, मिश्रयोनयो गर्भजाः तद्भेदाश्चशब्दसमुच्चिताः प्रत्यक्षज्ञानदृष्टाः, इतरेषामागमगम्याश्चतुरशीतिशतसहस्रसंख्याः। तदुक्तं–"णिचिदरधादुसत्तय-तरुदसवियलिंदिए दो दो अ। सुरणिरयतिरियचदुरो चोदस मणुए सदसहस्सा"।

देव और नारकियोंके योनि स्थान कुछ शीत प्रदेशवाले हैं और कुछ उष्ण प्रदेशवाले हैं। जैसे कि चौथे नरकतक उन स्थानोंमें उष्णता अधिक है और छठे, सातमें, नरकमें शीत वेदनावाले ही प्रदेश हैं। पांचमें नरकमें ऊपर दो लाख बिले उष्ण स्थान हैं, और नीचेके एक लाख बिलोंमें शीत अत्यधिक है, देवोंके योनिस्थानोंमें भी सुखकी उत्पादक कहीं शीत व्यवस्था है, और कचित् मनोहर उष्णता है। तैजस्कायिक जीवोंके योनिस्थान उष्ण हैं, दियासलाईके रगडते ही लौ उठनेपर झट उस उष्णस्थानमें तेजस्कायिक जीव जन्म ले लेते हैं। इसी प्रकार लकडीके जलनेपर या तारमें बिजलीका प्रवाह बहकर चमक जानेपर उस उष्णस्थलमें अग्निकायके जीव उत्पन्न हो जाते हैं। अन्य शेष जीव कोई तो उष्ण प्रदेशोंमें उपजते हैं। इनसे भिन्न कोई शीत या शीतोष्ण स्थलोंमें जन्म धारते हैं। तथा देव, नारकी और एकेन्द्रिय इन जीवोंकी योनियां संवृत हैं। जन्मते समय इनके उत्पादस्थान गुप्त रहते हैं। हां, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय इनके योनिस्थल स्फुट हैं। गोबर, मल, द्विदल, सडा-फल, इनमें त्रसजीव उपज रहे शीघ्र प्रतीत हो जाते हैं। हां, गर्भज जीवोंकी उत्पादस्थान संवृत, विवृत, मिले हुये हैं। समुच्चय अर्थको कहनेवाले च शब्द करके उन नौ योनियोंके भेद प्रभेद संग्रहीत कर लिये जाते हैं। उन चौरासी लाख संख्यावाली योनियोंको विशदरूपसे केवलज्ञानियोंने प्रत्यक्षज्ञान द्वारा देख लिया है। हां, अन्य संज्ञी जीवोंमेंसे किसी किसीको योनियोंके भेद, प्रभेदका ज्ञान आगमप्रमाणद्वारा परोक्षरूपसे हो जाता है। उन्हीं प्रभेदोंको सिद्धान्तग्रन्थोंमें यों कहा है कि वनस्पति कायके भेद हो रहे नित्यनिगोद और इतर गति निगोदवाले जीवोंकी सात सात लाख योनियां हैं, पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, जीवोंकी भी सात सात लाख योनियां हैं। वनस्पतिकायमें प्रत्येक जीवोंकी दस लाख योनियां हैं, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय जीवोंकी दो लाख योनियां हैं। देव और नारकियों तथा पंचेंद्रिय तिर्यंचोंकी न्यारी न्यारी चार चार लाख योनियां हैं। मनुष्योंकी चौदह लाख योनियां हैं।

अथैतेषां योनिभेदानां सद्भावे युक्तिमुपदर्शयति।

इसके अनन्तर योनियोंके इन भेदोंका सद्भाव साधनेमें श्रीविद्यानन्द आचार्य युक्तिको अग्रिम-वार्तिकोंद्वारा दिखलाते हैं।

तस्यापि योनयः संति सचित्ताद्या यथोदिताः ।
स्वाधारेण विना जन्म क्रियाया जात्वनीक्षणात् ॥ १ ॥
तद्वैचित्र्यं पुनः कर्मवैचित्र्याद्विनियम्यते ।
कार्यवैचित्र्यसिद्धेस्तु कर्मवैचित्र्यनिर्णयः ॥ २ ॥

उस जन्मके भी इस सूत्रमें कह चुके अनुसार सचित्त आदिक योनियां हैं (प्रतिज्ञा) अपने (जन्मको) ढकनेवाले (योनिस्थान) के विना जन्म लेना रूप क्रियाका कदाचित् भी देखना नहीं होता है (हेतु) उन योनियों और जन्मकी विचित्रता तो फिर अन्तरंग कारण हो रहे कर्मोंकी विचित्रतासे हो जाती है । यों विशेषरूपसे नियम किया जा रहा है और सुख, दुःख आदिक कार्योंके विचित्रपनकी सिद्धिसे तो कर्मोंकी विचित्रताका निर्णय हो रहा है । भावार्थ—परिदृष्ट कारणोंका व्यभिचार हो जानेपर अतींद्रिय कारणोंकी सिद्धि हो जाती है । जब कि सुख, दुःख आदि अनेक प्रकारके विलक्षण पदार्थ दखि रहे हैं, अतः योनि, कुल, कर्म, आदिकी युक्तियोंसे सिद्ध कर ली जाती है ।

न हि स्वभावत एव प्राणिनां सुखदुःखानुभवादिकार्यवैचित्र्यं नियमाभावप्रसंगात् । कालादेवेति चायुक्तं, एकस्मिन्नपि काले तद्वैचित्र्यानुभवात् । भूतवैचित्र्यात्सुखादिवैचित्र्यमिति चेत् न, सुखादेः भूतकार्यत्वनिषेधात् । ततः कर्मवैचित्र्यमेव सुखादिकार्यवैचित्र्यं गमयति, तद्व्यतिरेकेण दृष्टकारणसाकल्येपि कदाचिदनुत्पत्तेः, तच्च कर्मवैचित्र्यमस्य जन्मनिमित्तमिति पर्याप्तं प्रपंचेन ।

अनेक प्राणियोंका सुख, दुःखके अनुभव या धन, पुत्र, आदिकी प्राप्ति अथवा शोक, हास्य, आदिकी दशामें डूबे रहना, उत्कृष्ट विद्वान् या मूर्ख बने रहना इत्यादिक कार्योंकी देखी जा रही विचित्रतायें स्वभाव ही से तो नहीं हो जाती हैं । दूसरे निमित्त कारणोंके विना ही सुख, दुःख, आदिकी उत्पत्ति माननेपर तो नियमके अभावका प्रसंग होता है । चाहे कोई भी जीव सुलभतासे विद्वान्, रोगी, मूर्ख, धनवान्, सुकुलवान्, दरिद्र, आदि बन बैठेगा । कोई देश, काल, व्यक्ति, आदिका नियम नहीं बन सकेगा । किन्तु उक्त कार्योंके होनेमें नियम देखा जा रहा है । अतः ये कार्य स्वभावसे ही न होकर किन्हीं अतीन्द्रिय निमित्तोंसे होरहे मानने पड़ते हैं । कालसे ही सुखदुःख, आदि कार्योंकी विचित्रता बन बैठती है यह कहना तो युक्त नहीं है । क्योंकि एक भी किसी कालमें उन कार्योंकी विचित्रताका अनुभव हो रहा है । अर्थात्—उसी समयमें किसीको लाभ होता है अन्यको व्यापारमें हानि हो रही है । कोई बीमार हो रहा है, कोई उसी समय नीरोग, बलिष्ठ, खड़ा हुआ है, एक ऋतुमें कोई वृक्ष फलता फूलता है, दूसरा वृक्ष सूख जाता है, यहांतक कि अकौआ, खरबूजाकी बेल, रास्ना, बायसुरई, आदिक

वनस्पतियां वर्षाकालमें सूख जाती हैं, जब कि अन्य असंख्य वनस्पतियां हरीं भरी रहतीं हैं। अतः काल साधारण कारण भले ही होय किन्तु असाधारण कारण काल नहीं है। यदि कोई यों कहे कि पृथिवी, जल, तेज, इन भूतोंकी विचित्रतासे सुख आदि कार्योंकी विचित्रता बन जाती है, जैसा जहां भूतद्रव्य होगा वैसा वहां सुख, दुःख, ज्ञान, आदि हो जावेगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि भूतके कार्य सुख, दुःख, आदि हैं। इसका पूर्वप्रकरणोंमें निषेध किया जा चुका है। अतः अन्वय, व्यभिचार, व्यतिरेक व्यभिचार, दोष आजानेसे काल, भूत, दुग्ध, व्यापार, गुरु, स्थान, औषधि, आदि पदार्थ तो सुखादि कार्योंके विचित्रपनका अव्यर्थ संपादन नहीं कर पाते हैं। तिस कारण परिशेष न्यायसे कर्मोंकी विचित्रता ही को सुखादि कार्योंका विचित्रपना ज्ञापित कराता है। उस कर्मकी विचित्रताके विना दृष्टकारणोंकी पूर्णता होनेपर भी कभी, कहीं, उन कार्योंकी उत्पत्ति नहीं देखी जा रही है। वही कर्मोंकी विचित्रता यहां प्रकरणमें इस जन्म या योनियोंका निमित्त कारण समझी जाती है पूर्व प्रकरणोंमें पौद्गलिक कर्मोंकी विलक्षण शक्तियोंका हम निरूपण कर चुके हैं। यहां अधिक विस्तार-लिखनेकी अपेक्षा इतनेसे ही पूरा पडो। अधिक प्रकाश करानेसे कुछ विशेष प्रयोजन नहीं सधता है।

केषां पुनर्गर्भजन्मेत्याह।

संसारवर्ती कौन कौन प्राणियोंके गर्भ नामका जन्म होता है ? अथवा, क्या सम्पूर्ण प्राणियोंके नियम विना चाहे कोई भी जन्म हो जाता है ? बताओ, इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको उतारते हैं।

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥ ३३ ॥

जरायुमें उत्पन्न हुये मनुष्य, बछरा, पडरा, आदि प्राणियोंके और अण्डेसे उत्पन्न हुये तोता' मैना, कबूतर, आदि जीवोंके तथा उदरसे निकलते ही उछलने दौडनेवाले हिरण आदि पोत तिर्यचोंके गर्भ नामक जन्म होता है।

जालवत्प्राणिपरिवरणं जरायुः जरायौ जाता जरायुजाः, शुक्रशोणितपरिवरणमुपात्तकाठिन्यं नखत्वक्सदृशं परिमंडलमंडं, अंडे जाता अंडजाः, पूर्णावयवः परिस्पंदादिसामर्थ्योपलक्षितः पोतः। पोतज इत्ययुक्तमर्थभेदाभावात्। आत्मा पोतज इति चेन्न, तस्यापि पोतपरिणामादात्मनः पोतत्वात्। जरायुजाश्च अंडजाश्च पोताश्च जरायुजांडजपोता इति सिद्धं।

प्राणियोंके ऊपर जालके समान चारों ओरसे ढकनेवाला झिल्ली स्वरूप पदार्थ जरायु कहा जाता है, जो कि फैले हुये मांस और शोणितका पत्तर है। जरायुमें जो उपजते हैं वे जीव जरायुज हैं। पुल्लिंग तिर्यंचका वीर्य और स्त्रीलिंग तिर्यंचका रक्त अपनी अवस्थाको बदलकर काठिन्यको ग्रहण करता हुआ नखके बकला सरीखा कुछ लम्बाई लेता हुआ गोल पदार्थ अण्ड कहा जाता है।

अर्थात्—शुक्र और रक्तसे जीवका आद्य नोकर्म शरीर बनता है। उनके कुछ बचे हुये भागसे लीची फलके छिल्का समान अण्डेका उपरिम कठोर भाग बन जाता है। पश्चात् वह अन्य आहार्य पदार्थोंसे भी बनकर बढता रहता है। उस अण्डेमें उत्पन्न हुये जीव अण्डज कहे जाते हैं। किसी ढक्कनके बिना ही परिपूर्ण अवयववाला होता हुआ योनिसे निकलते ही चलना, फिरना, आदि क्रियाओंके करनेकी सामर्थ्यसे युक्त हो रहा शरीरी पोत कहा जाता है। कोई कोई जरायुज और अण्डजके समान पोतज शब्द झट मुंहसे निकाल बैठते हैं, उनका कथन अयुक्त है। क्योंकि पोत और पोतजमें कोई अर्थका भेद नहीं है। यदि तुम यों कहो कि पोत तो शरीर है और उस पोतमें उत्पन्न हुआ आत्मा पोतज है, यों अर्थका भेद बन गया। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि पोतजन्मधारी शरीरके अनुसार उस आत्माका भी पोत परिणतिसे परिणाम हो जाता है। अतः आत्मा भी पोत समझा जाता है, पोतज नहीं। जरायुज और अण्डज तथा पोत इस प्रकार इतरेतरयोग नामक द्वन्द्व समास करनेपर "जरायुजाण्डजपोताः" यह सूत्र उक्तपद सिद्ध हो जाता है।

द्वंद्वे जरायुजग्रहणमादावभ्यर्हितत्वात् क्रियारंभशक्तियोगात् केषांचिन्महाप्रभावत्वान्मार्गफलाभिसंबंधाच्च। तदनंतरमंडजग्रहणं पोतेभ्योऽभ्यर्हितत्वात्। एतेषां गर्भ एव जन्मेति सूत्रार्थः।

जरायुज, अण्डज, पोत, इन तीनों पदोंको चाहे कैसे भी आगे पीछे बोलकर द्वन्द्व समास करने पर पूज्य होनेसे जरायुज शब्दका ग्रहण आदिमें प्रयुक्त हो जाता है। जरायुज जीवोंके पूज्य होनेमें ये तीन कारण हैं कि बढिया क्रियाओंके आरम्भ करनेकी शक्तिका योग जरायुज जीवोंमें है। अर्थात्—उत्तम भाषा बोलना, अध्ययन करना, बडे बडे आविष्कार करना, अनेक ऋद्धियें प्राप्त करना, ये अतुल क्रियायें जरायुजोंमें हैं तथा जरायुजोंमें सभी तो नहीं किन्तु कोई कोई चक्रवर्ती, वासुदेव, रुद्र तपस्वी आदि जरायुज जीव महान् प्रभाववाले होते हैं। तीसरे सम्यग्दर्शन आदिक मोक्ष मार्गके फल हो रहे मोक्षसुखका परिपूर्ण सम्बन्ध जरायुजोंके ही पाया जाता है। अन्य जीव मोक्षके साक्षात् अधिकारी नहीं हैं। उस जरायुजके अव्यवहित पीछे अण्डज जीवोंका ग्रहण है। क्योंकि पोत जीवोंसे अण्डज जीव अभ्यर्हित हैं। अण्डजोंमें तोता, मैना, आदिक तो अक्षरोंका उच्चारणतक करते हैं। कबूतर, हंस, आदिक जीव तो कदाचित् दूतका कार्य भी कर देते हैं। कतिपय पक्षी तो शत्रुके सद्भाव या ठीक प्रातःकाल समयको बता देना, आंधीकी सूचना देना, आदि कर्म करनेमें कुशल समझे जाते हैं। इन तीन प्रकारके जीवोंके गर्भ नामका ही जन्म होता है, यह इस सूत्रका अर्थ है।

उद्देशे च निर्देशो युक्त इति चेन्न, गौरवप्रसंगात्। शेषाणां संमूर्छनमिति लघुनोपायेन गर्भोपपादानंतरं वचनोपपत्तेः।

कोई शंका करता है कि उद्देशके अनुसार ही निर्देश करना उचित था। जब कि जन्मोंमें ही सम्मूर्छन जन्म पहिले कहा गया है तो सम्मूर्छन जन्मवाले जीवोंका सूत्रकारको प्रथम निरूपण करना

चाहिये। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों कहनेसे बडे भारी ग्रन्थगौरव दोष हो जानेका प्रसंग होगा। गर्भजन्म और उपपाद जन्मके अनन्तर शेषजीवोंके सम्मूर्छन जन्म होता है, इस प्रकार लघु उपाय करके निर्देश करना अच्छा बन जाता है। अर्थात्—यदि आदिमें सम्मूर्छन जन्मवाले जीवोंका कथन किया जाता तो एकेंद्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा कितने ही बहु भाग पंचेन्द्रिय तिर्यंच और लब्ध्यपर्याप्त मनुष्यके सम्मूर्छन जन्म होता है। इतना लम्बा सूत्र कहनेसे शास्त्रका व्यर्थ बोझ बढ जाता। किन्तु दो प्रकारके जीवोंका निरूपण कर, पुनः शेषोंके सम्मूर्छन जन्म होता है, यों थोडेसे अक्षरोंमें ही अधिक प्रयोजन सध जाता है।

कुतः पुनर्जरायुजादीनां गर्भ एव युक्त इत्याह।

जरायुज आदिक जीवोंके गर्भ ही होता है यों विधेय दलमें एवकार लगाना, फिर किस प्रमाणसे युक्त सिद्ध कर दिया गया है? बतलाइयेगा, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि—

युक्तो जरायुजादीनामेव गर्भोवधारणात्।
देवनारकशेषाणां गर्भाभावविभावनात् ॥ १ ॥

जरायुज आदिक जीवोंके ही गर्भ जन्म मानना युक्त है। क्योंकि यों उद्देश्य दलमें एवकार द्वारा अवधारण कर देनेसे देव और नारकी तथा शेष एकेन्द्रियादि जीवोंके गर्भके अभावका विचार कर लिया जाता है। तथा विधेय दलमें एवकार लगानेसे जरायुज आदि जीवोंके गर्भसे अतिरिक्त उपपाद और सम्मूर्छन जन्मोंका निषेध हो जाता है। अतः अन्ययोगव्यवच्छेदक और अयोग व्यवच्छेदक दो एवकारों द्वारा दोनों ओर ताले लगाकर अवधारण कर दिया है अथवा पहिला अवधारण ही लगाना ठीक है। " देवनारकाणामुपपादः " और " शेषाणां संमूर्छनं " इन सूत्रोंके उद्देश्य दलमें एवकार लगाना आवश्यक ही होगा। उसीसे ही यहांके " गर्भ एव " इस अवधारण द्वारा होने योग्य कार्यको साध लिया जावेगा।

यदि हि जरायुजादीनां गर्भ एवेत्यवधारणं स्यात्तदा जरायुजादयो गर्भनियताः स्युः गर्भस्तु तेष्वनियत इति देवनारकेषु शेषेषु सम्प्रसज्येत। यदा तु जरायुजादीनामेवेत्यवधारणं तदा तेषु गर्भाभावो विभाव्यत इति युक्तो जरायुजादीनामेव गर्भः।

कारण कि जरायुज आदिक जीवोंके गर्भ ही होता है, यदि इसी प्रकार विधेय दलके साथ एवकार लगाकर अवधारण किया जाता तब तो जरायुज आदिक जीव अकेले गर्भ जन्मसे ही नियत होते, उनके सम्मूर्छन जन्म और उपपाद जन्मकी व्यावृत्ति हो जाती, किन्तु उन ही जीवोंमें गर्भ तो नियत न होता। अतः देव और नारकी तथा शेष एकइन्द्रियादि जीवोंके भी वह गर्भजन्म प्रसंग प्राप्त हो जाता जोकि इष्ट नहीं है। हां, जब जरायुजादिकोंके ही गर्भ होता है यों पूर्व दलमें एव लगाकर अवधारण

किया जाता तब तो उन देवनारक और शेष जीवोंमें गर्भका अभाव निर्णीत किया जा सकता है। इस कारण जरायुज आदिक जीवोंके ही गर्भ होता है, यह अवधारण कर कथन करना युक्तिपूर्ण है।

केवलमुपपादेपि जरायुजादीनां प्रसक्तौ तन्निवारणार्थमिदमाह।

अथवा " जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः " इस सूत्रमें पूर्व अवधारण कर जरायुज, अण्डज, पोत, जीवोंके ही गर्भ होता है, यों अर्थ करलिया जाय, तब तो केवल जरायुज आदिकोंके ही गर्भ हुआ, देव नारकियोंके गर्भके प्रसंगका निवारण होगया, किन्तु जरायुज आदि जीवोंके दूसरे उपपादमें भी जन्म लेनेका प्रसंग आता है। क्योंकि विधेय दलमें अवधारण तो है नहीं। अतः उस प्रसंगका निवारण करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

देवनारकाणामुपपादः ॥ ३४ ॥

देव और नारकी जीवोंके उपपाद नामका जन्म होता है।

स्याद्देवनारकाणामुपपादो नियतस्तथा।
तस्याभावात्ततोन्येषां तेषां जन्मांतरच्युतेः ॥ १ ॥

देव और नारक जीवोंके तिस प्रकार उपपाद जन्म ही नियत हो जायगा। क्योंकि उन देव नारकियोंसे भिन्न हो रहे दूसरे जीवोंके उस उपपाद जन्मका अभाव है। तिस कारण उन देव नारकियोंके उपपादसे अतिरिक्त अन्य गर्भ, सम्मूर्छन जन्मोंकी निवृत्ति सिद्ध हो जाती है।

देवनारकाणामेवोपपाद इति हि नियमे देवनारकेषु नियत उपपादः देवनारकास्तूपपादे न नियता इति गर्भसंमूर्छनयोरपि प्रसक्ताः पूर्वोत्तरसूत्रावधारणात् तत्र निरवधारणोसौ। उपपाद एव देवनारका अवतिष्ठंते न गर्भे संमूर्छने वा प्रसज्यंते, ततस्तेषां जन्मांतरच्युतिसिद्धेरुपपाद एव।

चूंकि देव और नारकियोंके ही उपपाद जन्म होता है, ऐसा नियम कर देनेपर देव और नारकियोंमें ही उपपाद जन्म नियत हो जाता है। ऐसा होनेपर जरायुज आदिक और शेष जीवोंके उपपाद जन्मकी व्यावृत्ति हो जाती है। किन्तु देव और नारक जीव तो उपपाद जन्ममें नियत नहीं हुये। इस कारण गर्भ और सम्मूर्छन जन्मोंमें भी देव और नारकियोंके उपज जानेका प्रसंग आ जाता है। हां, वहां पूर्वसूत्र " जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः " और उत्तर सूत्र " शेषाणां संमूर्छनं " इनमें उद्देश्यदलमें अवधारण लगा देनेसे वह उपपाद जन्म अवधारणरहित होता हुआ ही प्रसंगको टाल देता है। आगे पीछेके सूत्रोंमें अवधारण लगा देनेसे देव और नारकी उपपाद जन्ममें ही उपस्थित रहते हैं।

गर्भ अथवा संमूर्छनमें जन्म लेनेके लिये प्रसंग प्राप्त नहीं हो पाते हैं। तिस कारण उन देवनारकियोंके उपपादके सिवाय अन्य जन्मोंकी च्युतिकी सिद्धि हो जानेसे उपपाद जन्म ही नियत हो जाता है। इस सूत्रके विधेय दलमें एवकार लगानेकी आवश्यकता नहीं है, जैसे कि पूर्व सूत्रके विधेय दलमें एवकार लगानेकी आवश्यकता नहीं पडी थी।

नन्वेवं जरायुजादीनां देवनारकाणां च संमूर्छनेपि प्रसक्तिरित्याख्यातं प्रतिघ्नन्नाह।

यहां शंका है कि जब गर्भ एव, उपपाद एव, इस प्रकार दोनों सूत्रोंके विधेय दलमें एवकार नहीं लगाया गया है तब तो जरायुज, अण्डज, आदि जीवोंका और देव नारकियोंका संमूर्छन जन्म होनेमें भी प्रसंग आता है। भले ही उक्त दोनों सूत्रोंके उद्देश्य दलमें एवकार लगाकर जरायुजादिकोंके उपपाद जन्मका निराकरण कर दिया जाय और देवनारकियोंके गर्भजन्मका निवारण कर दिया जाय। किन्तु इन जीवोंके सम्मूर्छन जन्मका निवारण उन एवकारोंसे हो नहीं सकता है। इस प्रकारके भाषितका साटोप खण्डन करते हुये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको स्पष्ट कह रहे हैं।

शेषाणां संमूर्छनं ॥ ३५ ॥

गर्भ जन्मवाले जीव और उपपाद जन्म धारनेवाले जीवोंसे शेष बच रहे एकेंद्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जीवोंके सम्मूर्छन जन्म होता है।

शेषाणामेव संमूर्छनमित्यवधारणीयं। के पुनः शेषाः कुतो वा तेषामेव संमूर्छनमित्याह।

पूर्वोक्त दो सूत्रोंके समान इस सूत्रके उद्देश्य दलमें भी एवकार लगाकर शेष जीवोंके ही सम्मूर्छन जन्म होता है यों अवधारण कर लेना चाहिये। कोई जिज्ञासु पूंछता है कि महाराज बताओ, वे शेष जीव फिर कौन हैं? और क्या कारण है कि उनके ही सम्मूर्छन जन्म माना गया है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्तिकको कहते हैं।

निर्दिष्टेभ्यस्तु शेषाणां युक्तं संमूर्छनं सदा।
गर्भोपपादयोस्तत्र प्रतीत्यनुपपत्तितः ॥ १ ॥

निर्दिष्ट कर दिये गये जरायुज आदिकोंसे और देवनारकोंसे अतिरिक्त शेष बच रहे एकेन्द्रि आदि जीवोंके सर्वदा सम्मूर्छन जन्म होना ही युक्तिपूर्ण है। क्योंकि उन एकेन्द्रियादि जीवोंमें गर्भ जन्म और उपपाद जन्मकी प्रतीति हो जाना सिद्ध नहीं है।

उक्तेभ्यो जरायुजादिभ्यो देवनारकेभ्यश्च अन्ये शेषास्तेषामेव संमूर्छनं युक्तं सदा गर्भोपपादयोस्तत्र प्रतीत्यनुपपत्तेः। तर्हि संस्वेदजादीनां जन्मप्रकारोन्यः सूत्रयितव्य इत्याशंकामपसारयन्नाह।

कहे जा चुके जरायुज आदिक और देवनारक जीवोंसे अन्य बच रहे जीव यहां शेष जीव माने जाते हैं उन शेष जीवोंके ही सम्मूर्छन जन्म मानना समुचित है। क्योंकि उनमें गर्भ और उपपाद जन्मकी प्रतीति होना सर्वदा नहीं बनता है। यहां कोई पुनः शंका उठाता है कि तब तो नीचोंसे अच्छा उपजानेवाले पसीना, कीच, आदिसे उपजने हुये स्वेदज, लट, जुंआ, डांस, आदि और ... फोडकर निकले हुये उद्भिज्ज, वृक्ष गुल्म आदि जीवोंका भिन्न चौथा जन्मका प्रकार न्यारे सूत्र द्वारा उमास्वामी महाराज करके कहना चाहिये ? इस प्रकारकी आशंकाका निराकरण करते हुये श्री विद्यानन्द स्वामी अगली वार्तिकको कहते हैं।

तथा संस्वेदजादीनामपि संमूर्छनं मतं ।
जन्मेति नापरो जन्मप्रकारो सूत्रितोस्ति नः ॥ २ ॥

तिन एकेंद्रियादि शेष जीवोंके समान उस ही प्रकारसे स्वेदज आदिक जीवोंके भी सम्मूर्छन जन्म माना गया है। इस कारण जन्मके तीन प्रकारोंसे अन्य कोई चौथा, पांचवां, प्रकार हमारे ... सिद्धान्तमें नहीं है। अतः सूत्रद्वारा हमने सूचित नहीं किया है।

इत्येवं पंचभिः सूत्रैः सूत्रितं जन्मजन्मिनां ।
भेदप्रभेदतश्चिंत्यं युक्त्यागमसमाश्रयं ॥ ३ ॥

यहांतक इस प्रकारके " संमूर्छन गर्भोपपादा जन्म, सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः, जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः, देवनारकाणामुपपादः, शेषाणां संमूर्छनं " इन पांच सूत्रों करके जन्मवाले संसारी प्राणियोंका सूचन किया जा चुका है। युक्तिप्रमाण और आगम प्रमाणका अच्छा आश्रय रखते हुये विद्वानों करके भेद, प्रभेद, रूपसे उस जन्मका अन्य भी परामर्श कर लेना चाहिये। सूत्रमें तो संक्षेपसे ही प्रमेय कहा जा सकता है।

अथ जीवस्य कति शरीराणीत्याह ।

हे करुणानिधान ! अब यह बताओ कि संसारी जीवके कितने शरीर होते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको स्पष्टरूपसे कह रहे हैं।

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ।३६।

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, और कार्मण ये पांच शरीर हैं।

शरीरनामकर्मोदये सति शीर्यंत इति शरीराणि । शरणक्रियात्र व्युत्पत्तिनिमित्तं यद्यपि निमित्तं तु शरीरनामकर्मोदय एवोदितः शरीरत्वपरिणामः न पुनरर्थांतरभूतशरीरत्वसामान्यं तस्य विचार्यमाणस्यायोगात् ।

नामकर्मकी उत्तरप्रकृतियोंमें गिनाये गये शरीर नामक कर्मका उदय होनेपर जो छिदने, भिदनेवाले पिण्ड बन जाते हैं, इस कारण ये पांच शरीर कहे जाते हैं। यहां शरीर शद्बमें शरण क्रिया तो व्याकरण द्वारा शद्बकी साधुता प्रतिपादक व्युत्पत्ति करनेका ही निमित्त है। रूढौ क्रिया व्युत्पत्यर्थैव, किन्तु प्रवृत्तिका निमित्तकारण तो शरीर नामक अतीन्द्रिय हो रहे नामकर्मका उदय ही कहा गया है, जो कि जैनसिद्धान्त अनुसार शरीरपना स्वरूप परिणाम है। जैनसिद्धान्तमें पौद्गलिक शरीरसे सर्वथा भिन्न हो रहा नित्य एक और अनेकमें समवेत ऐसा शरीरत्व नामका सामान्य (जाति) नहीं माना गया है। क्योंकि उस वैशेषिकोंके यहां माने गये सामान्यका यदि विचार चलाया जाय तो उसकी सिद्धि होनेका योग नहीं बैठता है। भावार्थ—शॄ हिंसायाम् धातुसे शरीर शद्ब बनता है इसका अर्थ छिदना, भिदना, पिटना, नष्ट हो जाना है। यदि शद्बकी निरुक्तिको ही लक्षण मान लिया जाय तो घट, पटमें अतिव्याप्ति हो जायगी। अतः रूढि शद्बोंमें धात्वर्थरूप क्रिया केवल व्युत्पत्तिके लिये ही मानी गयी है। वस्तुतः रूढ्यर्थका बीज तो शरीर नाम कर्मका उदय ही है। वैशेषिकोंने शरीरत्वको एक विशेष जाति माना है, जो कि व्यापक, नित्य, एक और अनेकोंमें समवाय सम्बन्ध द्वारा वर्तती है। पश्चात् संकरदोष आजानेके भयसे " चेष्टाश्रयत्वं शरीरत्वं " चेष्टाश्रयपनको शरीरत्व मानकर सखण्डोपाधि निर्णीत किया है। किन्तु जैन सिद्धान्त अनुसार सदृश परिणाम ही सामान्य है, जो कि शरीरसे अभिन्न है। सदृश परिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् (परीक्षामुख)।

केन पुनः कारणेन जन्मांतरं शरीराण्याहुरित्युच्यते ।

किसीका प्रश्न है कि महाराजजी! यह बताओ कि किस कारणसे अन्य जन्म लेनेको प्राणियोंके शरीर कह देते हैं? ऐसी आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य द्वारा यों समाधान कहा जाता है।

स्वयोनौ जन्म जीवस्य शरीरोत्पत्तिरिष्यते ।
तेनात्रौदारिकादीनि शरीराणि प्रचक्षते ॥ १ ॥

अपने अपने योग्य योनिमें जीवका जन्म लेना ही यहां शरीरकी उत्पत्ति मानी जाती है। कारण औदारिक, वैक्रियिक, आदिक शरीर हैं यों आचार्य महाराज बढिया ढंगसे स्पष्ट कह देते हैं।

औदारिकादिशरीरनामकर्मविशेषोदयापादितानि पंचैवौदारिकादीनि शरीराणि जीवस्य यदुत्पत्तिः स्वयोनौ जन्मोक्तं, न हि गतिनामोदयमात्रं जन्म, अनुत्पन्नशरीरस्यापि तत्प्रसंगात् ।

नामकर्मकी उत्तर प्रकृति शरीरसंज्ञक है। उस शरीर प्रकृतिके उत्तर भेद १ औदारिक शरीर नामकर्म २ वैक्रियिक शरीर नामकर्म ३ आहारक शरीर नामकर्म ४ तैजस नामकर्म और ५ कार्मण नामकर्म, ये पांच हैं। आहार वर्गणाको उपादान कारण मानकर और औदारिक नामकर्म, वैक्रियिक नामकर्म, आहारक नामकर्म, इन पौद्गलिक अतीन्द्रिय प्रकृतियोंको अंतरंग निमित्त पाकर व्यक्त, अव्यक्त,

पुरुषार्थ द्वारा जीवके औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, ये तीन शरीर बन जाते हैं। तैजस नामकर्मका अन्तरंग निमित्त पाकर तैजसवर्गणा जीवके अव्यक्त पुरुषार्थ द्वारा तैजस शरीररूप परिणत हो जाता है। तथा आत्मामें बंधे हुये पूर्वकाल संचित कार्मण शरीर नामक नामकर्मका उदय होनेपर जीवके अव्यक्त पुरुषार्थसे योगद्वारा गृहीत हुई कार्मण वर्गणायें ही कार्मण शरीर बन बैठती हैं, यों औदारिक आदि शरीर नामकर्मविशेषोंके उदय होनेपर आत्मलाभ कर चुके, औदारिक आदि पांच ही शरीर जीवके हैं। जिनकी कि उत्पत्ति हो जाना ही जीवका स्वकीय योनिमें जन्म कहा जा चुका है। केवल गतिनामकर्मका उदय ही जन्म नहीं है, अन्यथा यानी गतिनामकर्मके उदयको यदि जन्म मान लिया जायगा तो विग्रह गतिमें जिस जीवके नोकर्म शरीर उत्पन्न नहीं हुआ है, उसके भी जन्म होनेका प्रसंग हो जायगा। यद्यपि पूर्वशरीरको छोडते ही झट परभवकी आयुका उदय हो जाता है। विग्रहगतिमें जो एक दो या तीन समय लगते हैं, वे परभव सम्बन्धी गिनतीके आयुष्य निषेकोंमें परिगणित हैं। फिर भी स्वयोनियोंमें नोकर्मशरीरकी उत्पत्ति प्रारम्भ हो जानेपर जीवका जन्म माना गया है, गतिका उदय तो जन्म हो चुकनेपर मध्य अवस्थामें भी है। किन्तु जन्म और मरणके बीचमें तो पुनः जन्म नहीं माने जाते हैं।

तत्रोदारं स्थूलं प्रयोजनमस्येत्यौदारिकं उदारे भवमिति वा, विक्रिया प्रयोजनमस्येति वैक्रियिकमाह्रियते तदित्याहारकं, तेजोनिमित्तत्वात्तैजसं, कर्मणामिदं कार्मणं तत्समूहो वा एतेषां द्वंद्वे, पूर्वमौदारिकस्य ग्रहणमतिस्थूलत्वात् उत्तरेषां क्रमवचनं सूक्ष्मक्रमप्रतिपत्त्यर्थं।

उन शरीरोंमें पहिले औदारिक शरीरकी व्युत्पत्ति यों करनी चाहिये कि उदार शब्दका अर्थ स्थूल है, जिस शरीरका प्रयोजन स्थूलपन है इस कारण वह औदारिक है अथवा उदार यानी स्थूल में जो उपजनेवाला है इस कारण वह औदारिक शरीर है। उदार शब्दसे प्रयोजन अर्थ अथवा भव अर्थमें ठञ प्रत्यय कर औदारिक शब्द बना लेना चाहिये। छोटा बडा, लम्बा, नाना प्रकार शरीर कर लेना, विक्रिया है। जिस शरीरका प्रयोजन विक्रिया करना है इस कारण वह वैक्रियिक है। विक्रिया शब्दसे प्रयोजन अर्थमें ठञ प्रत्यय कर वैक्रियिक शब्दको साध लेना चाहिये। छटे गुणस्थान वर्ती मुनि करके तत्वमें सन्देह होनेपर निर्णय करनेके लिये जो शरीर आहार प्राप्त किया जाता है, इस कारण वह आहारक शरीर है। आङ्पूर्वक हृ धातुसे कर्ममें ण्वुल् प्रत्यय करनेपर आहारक शब्द बन जाता है। शरीरमें तेज उपजानेका निमित्त होनेसे तैजस शरीर है, तथा कर्मोंका बनाया हुआ यह ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म समुदायरूप शरीर अथवा उन कर्मोंका समूह कार्मण है। तेजस् शब्द और कर्मन् शब्दसे अण् प्रत्ययकर तैजस और कार्मण शब्दोंकी सिद्धि कर लेना चाहिये। इन औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण, पदोंका इतरेतरयोगद्वन्द्वसमास करनेपर सबके आदिमें औदारिकपदका ग्रहण हो जाता है। क्योंकि यह औदारिक शरीर अधिक स्थूल है। घोडा, बैल, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, मनुष्य आदिके स्थूल शरीरोंका बहिरंग इन्द्रियों द्वारा ग्रहण हो जाता

है। हां, उत्तरवर्ती वैक्रियिक आदिकोंका क्रमशः पाठ पढना तो क्रम क्रमसे सूक्ष्मताकी प्रतिपत्तिके लिये है, जो कि अग्रिम सूत्र द्वारा उत्तरोत्तर शरीरोंको सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम, अतिसूक्ष्म, रूपसे कहा ही जावगा।

कार्मणग्रहणमादौ युक्तमौदारिकादिशरीराणां तत्कार्यत्वादिति चेन्न, तस्यात्यंतपरोक्षत्वात्। औदारिकमपि परोक्षमिति चेन्न, तस्य केषांचित्प्रत्यक्षत्वात्। तथाहि—

किसीकी शंका है कि सभी शरीरोंका अधिष्ठाता, निमित्त, जनक, आदि होनेसे पिताके समान प्रधान कार्मणशरीरका आदिमें ग्रहण करना समुचित है। क्योंकि औदारिक आदिक पांचों शरीर उसके कार्य हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि वह कार्मणशरीर अत्यन्त परोक्ष है। जैसे प्रत्यक्ष योग्य घट आदि कार्यो करके अतीन्द्रिय सूक्ष्म परमाणुओंका अनुमान कर लिया जाता है, उसी प्रकार औदारिक आदि अथवा सुख, दुःख, आदिकी विचित्रताओंकी उपलब्धिसे अतीन्द्रिय कार्मण शरीरका अनुमान कर लिया जाता है। अतः ऐसे सूक्ष्म या अतीन्द्रिय पदार्थकी सर्व साधारण प्राणियोंमें प्रधानता नहीं मानी जाती है। अतः अधिक मोटा औदारिक ही सबको प्रधान, भाग्यशाली, प्रतीत हो रहा है। कोई पुनः शंका करता है कि साधारण जीवों या सूक्ष्म जीवों अथवा छोटे छोटे द्वीन्द्रिय आदिकोंके औदारिक शरीर भी तो परोक्ष हैं। इनमें बहुतसे बहिरिन्द्रियों द्वारा नहीं देखे जा सकते हैं ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस औदारिकका किन्हीं किन्हीं जीवोंको तो प्रत्यक्ष हो ही जाता है। अथवा किन्हीं किन्हीं बहुतसे तिर्यंचों या मनुष्योंके उस औदारिक शरीरका प्रत्यक्ष हो ही जाता है। इसी बातको प्रमाण द्वारा साधते हुये ग्रन्थकार यों प्रसिद्ध कर दिखाते हैं।

सिद्धमौदारिकं तिर्यङ्मानुषाणामनेकधा।
शरीरं तत्र तन्नामकर्मवैचित्र्यतो बृहत् ॥ २ ॥

उन शरीरोंमें सृष्टा नामकर्मकी विचित्रतासे अनेक प्रकारका और मोटा हो रहा वह तिर्यंच और मनुष्योंका औदारिक शरीर सिद्ध ही है।

बृहद्धि शरीरमौदारिकं मनुष्याणां तिरश्चां च प्रत्यक्षतः सिद्धं तेषु शरीरेषु मध्ये। तच्चानेकधा तन्नामकर्मणोनेकविधत्वात्।

कारण कि उन पांच शरीरोंके मध्यमें प्रथम प्रोक्त मनुष्य और तिर्यंचोंका मोटा औदारिक शरीर तो प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध ही है और वह औदारिक शरीर वृक्ष, वेल, पशु, पक्षी, मनुष्य, कीट, पतंगा, मिट्टी, जल, आदि ढंगका अनेक प्रकार है। क्योंकि उसके कारण हो रहे नामकर्मके अनेक प्रकार हैं। कारणोंकी विचित्रतासे विचित्र कार्य उपज जाते हैं।

शेषाणि कुतः सिद्धानीत्याह।

किन्हीं किन्हीं जीवोंका मोटा औदारिक शरीर तो प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध किया किन्तु शेष वैक्रियिक आदि शरीर कौनसे किस प्रमाणसे सिद्ध हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्रीविद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा समाधानको कहते हैं ।

संभाव्यानि ततोन्यानि बाधकाभावनिर्णयात् ।
परमागमसिद्धानि युक्तितोपि च कार्मणं ॥ ३ ॥

उस स्थूल औदारिकसे भिन्न हो रहे सूक्ष्म औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर और कार्मण शरीर तो बाधक प्रमाणोंके अभावका निर्णय हो जानेसे संभावना करलेने योग्य हैं , अर्थात् अनुमान प्रमाणसे सिद्ध हैं, तथा वे शरीर आप्तोक्त परम आगमसे भी सिद्ध हैं, और कार्मणशरीर तो युक्तियोंसे भी सिद्ध हो जाता है ।

ननु कर्मणामिदं कार्मणमित्यस्मिन् पक्षे सर्वमौदारिकादि कार्मणं प्रसक्तमिति चेन्न, प्रतिनियतकर्मनिमित्तत्वात् तेषां भेदोपपत्तेः । कर्मसामान्यकृतत्वादभेद इति चेन्न, एकमृदादिकारणपूर्वकस्यापि घटोदंचनादेर्भेददर्शनात् कार्मणप्रणालिकया च तन्निष्पत्तिः स्वोपादानभेदाद्भेदः प्रसिद्धः ।

यहां किसीकी शंका है कि अतीन्द्रिय कर्मोंके द्वारा बनाया गया यह कार्मण शरीर है, " तस्येदम् " इस सूत्र करके तद्धितमें कर्मन् शब्दसे अण् प्रत्यय करनेपर " कार्मण " शब्द साध-जाता है। यों इस पक्षमें सभी औदारिक, वैक्रियिक, आदि शरीरोंको बडे अच्छे ढंगसे एकसा कार्मण शरीर बनजानेका प्रसंग प्राप्त हुआ । क्योंकि सभी शरीर पूर्वोपार्जित कर्मोंकी सामर्थ्यसे गढे गये हैं । आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि प्रत्येकके लिये न्यारे न्यारे नियत हो रहे कर्मोको निमित्त मानकर उपजना होनेसे उन शरीरोंका भेद सिद्ध हो जाता है। भावार्थ—इस दृश्यमाण औदा-रिक शरीरका निमित्तभूत न्यारा अदृश्य औदारिक शरीर नामकर्म है और वैक्रियिकका निमित्त पृथक् ही वैक्रियिक शरीरकर्म है, आहारकका निमित्त आहारक शरीरकर्म है । तैजस शरीरका निर्मा-पक निमित्त अलग ही तैजसशरीर नामकर्म है और एकसौ अडतालीस प्रकृतियोंका पिण्ड हो रहे कार्मण शरीरका निमित्त तो एकसौ अडतालीस प्रकृतियोंमेंसे एक कार्मण शरीरनामक नामकर्म है । मूंजका पूरा मूंजसे ही बांधा जाता है । पुनः किसीकी शंका है कि सामान्यरूपसे कर्मोद्वारा किये जा चुके होनेसे उन शरीरोंका परस्परमें अभेद हो जायगा । ग्रंथकार कहते हैं यह तो नहीं कहना क्योंकि मट्टी, कुम्हार, चाक, डोरा, आदि एक कारणोंद्वारा पूर्ववर्ती होकर बनाये गये घडा, घडिया, दीवला, सकोरा, मोलुआ, आदिका भेद देखा जाता है। कारणोंकी विशेषताओंसे हो रहे न्यारे न्यारे कार्योंको सामान्य कारण फिर अभेदकी ओर नहीं झुका सकता है । वस्तुतः भिन्न भिन्न कारणोंसे ही न्यारे न्यारे कार्य उपजते

हैं। कार्मणशरीरकी प्रणालिका (द्वार) करके उन शरीरोंकी निष्पत्ति हो जाती है। अतः निमित्त नैमित्तिक भेदसे उन शरीरोंका पृथग्भाव है। और एक बात है कि अपने अपने उपादान कारणोंके भेदसे उन शरीरोंका भेद प्रसिद्ध हो रहा है। अर्थात्—उपादानकारण आहार वर्गणासे जीवका औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर बन जाता है। तैजोवर्गणाका निवर्त्त्य तैजस शरीर है और कार्मणवर्गणाका उपादेय कार्मण शरीर है।

पृथगुपलंभप्रसंग इति चेन्न, विश्रसोपचयेन स्थानात् क्लिन्नगुडरेणुश्लेषवदौदारिकादीनां कार्मणनिमित्तत्वे कार्मणं किं निमित्तमिति वाच्यं ? न तावन्निर्निमित्तं तदनिर्मोक्षप्रसंगादभावप्रसंगाद्वा शरीरांतरनिमित्तत्वे तु तस्याप्यन्यशरीरनिमित्तत्वेऽनवस्थापत्तिरिति चेन्न, तस्यैव निमित्तभावात्। पूर्वं हि कार्मणं कार्मणस्य निमित्तं तदपि तदुत्तरस्येति निमित्तनैमित्तिकभावोऽविरुध्यते, न चैवमनवस्थापत्तिः कार्यकारणभावेन तत्संतानस्यानादेरविरोधात्।

यहां कोई आक्षेप करता है कि न्यारे न्यारे उपादान कारणोंसे जब पांच शरीर भिन्न भिन्न निष्पन्न (तैयार) हुये हैं तो उनके पृथक् पृथक् उपलम्भ हो जानेका प्रसंग आवेगा। किन्तु यथासम्भव पाये जानेवाले औदारिक, तैजस, कार्मण, या वैक्रियिक, तैजस, कार्मण, आदि शरीर पृथक् पृथक् तो नहीं दीख रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि यह कटाक्ष नहीं करना। क्योंकि विस्रसोपचय करके उन शरीरोंका अवस्थान हो रहा है। जैसे कि स्वाभाविक परिणामसे गीले गुडपर छोटी छोटी धूल चुपटकर अवस्थित हो जाती है, उसी प्रकार कार्मण शरीरमें औदारिक आदिकोंका विस्रसोपचयरूपसे अवस्थान हो रहा है, अतः उनमें नानापन सिद्ध है। भावार्थ—जैसे गीले गुडमें धूल चुपट जाती है, उसी प्रकार प्रवाहरूपसे अनादिकालीन संचित हो रहे कार्मण शरीरमें नोकर्म शरीर लग बैठते हैं। पुनरपि कर्म, नोकर्म, शरीरोंके ऊपर " जीवादोणन्तगुणा पडिपरमाणुम्हि विस्ससोवचया, जीवेण य समवेदा एक्केक्कं पडिसमाणा हु " इस गाथानुसार विस्रसोपचय लदा रहता है। पुनः किसीका आक्षेप है कि औदारिक, वैक्रियिक, आदि शरीरोंका निमित्तकारण यदि कार्मण शरीर माना जायगा तो फिर कार्मण शरीरका निमित्त कारण क्या होगा ? यह कहो। वह कार्मण विचारा निमित्तकारणसे रहित तो नहीं है। अन्यथा यानी कार्मणको निमित्तरहित माननेपर उसकी मोक्ष नहीं होनेका प्रसंग आवेगा। जिस सत् पदार्थका हेतु नहीं है, उस नित्य पदार्थका कभी विनाश नहीं हो सकता है। ऐसी दशामें किसी भी जीवकी मोक्ष नहीं हो सकेगी। सदा कर्म चिपके रहेंगे। तथा एक बार कर्मपिण्डसे मुक्ति पा जानेपर भी पुनः कर्म चिपट जायंगे। उनका कोई निमित्तकारण मिथ्यादर्शनादि तो अपेक्षणीय है ही नहीं। क्योंकि आप उन कर्मोंको निर्निमित्त मान चुके हैं अथवा कार्मण शरीरका निमित्त यदि कोई हेतु नहीं माना जायगा तो खरविषाणके समान उस कार्मण शरीरके अभावका प्रसंग होगा। इन दो दोषोंको टालनेके लिये कार्मणशरीरका निमित्त यदि दूसरा शरीर माना जायगा तब तो उस

दूसरे शरीरका भी निमित्तकारण न्यारा तीसरा शरीर एवं तीसरेको चौथा और चौथेको पांचवां आदि निमित्त कारणोंकी कल्पना करते करते कहीं दूरतक भी ठहरना नहीं होनेसे अनवस्था दोष हो जानेकी आपत्ति है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह आक्षेप नहीं करना। क्योंकि कार्मण शरीरका निमित्त वही कार्मण शरीर है। वर्तमान कार्मण शरीरका निमित्त पूर्वसंचित कार्मण और वह वर्तमान कार्मण शरीर भी उसके उत्तरकालमें होनेवाले कार्मणशरीरका निमित्त बन जाता है। इस ढंगसे संतानरूप करके निमित्त नैमित्तिक भाव होनेमें कोई विरोध नहीं आता है। रुपयोंमें रुपया उपजता है। मनुष्य मनुष्यका निमित्त है। पठन पाठन व्यवस्था बहुत दिनसे चली आ रही है। इसी प्रकार बीजांकुर न्यायसे कार्मण शरीरकी धारा बहरही है। यदि कोई यों पूंछ बैठे कि इस प्रकार तो अनवस्था दोष हो जानेकी आपत्ति है, आचार्य कहते हैं कि यह अनवस्था दोष नहीं है। क्योंकि उन कर्मोंकी धारावाहिक अनादिकालीन सन्तानका कार्यकारणभाव करके चले आनेमें कोई विरोध नहीं है। अर्थात्—अनवस्था सर्वत्र दोष नहीं है। कचित् गुण भी है। व्यसन या पापोंको छोडकर प्रायः सभी दोष लौकिक अवस्थाओंमें कदाचित् गुणस्वरूप परिणम जाते हैं। अन्योन्याश्रय, अनवस्था, संकर, विरोध, अभिमान, संशय, अज्ञान, धनाभाव, इत्यादिक दोषाभास कई स्थलोंपर गुण हो जाते हैं तथा पण्डिताई, एकता, धन, शीघ्रता, कार्यदक्षता, प्रशंसा, यौवन, अधिकार दीर्घदर्शिता ये लौकिकगुण अनेक स्थलोंपर दोष गिने जाते हैं। कार्यकारण भावकी रक्षा कर रही अनवस्था यहां गुण है।

मिथ्यादर्शनादिनिमित्तत्वाच्च नानिमित्तं कार्मणं ततो नानिर्मोक्षप्रसंगः। तच्चैवंविधं परमागमात्सिद्धं वैक्रियिकादिवत् युक्तितश्च यथाप्रदेशं साधयिष्यते।

एक बात यह भी है कि मिथ्यादर्शन, अविरति, आदि निमित्तकारणों द्वारा उपजना होनेसे कार्मण शरीर निमित्तरहित नहीं है, तिस कारण उसके निश्शेष रूपसे मोक्ष नहीं होनेका प्रसंग नहीं आता है। अर्थात्—कार्मण यदि निमित्तरहित होता तो किसीकी भी मोक्ष नहीं हो पाती यह प्रसंग टल गया और तिस कारण इस प्रकारका वैक्रियिक आदिके समान वह कार्मण शरीर सर्वज्ञप्रतिपादित परम आगमसे सिद्ध हो जाता है तथा युक्तियोंसे भी सिद्ध हो जाता है। प्रकरण आनेपर यथायोग्य प्रदेश ग्रन्थस्थलमें वह कार्मणशरीर युक्तियोंसे साध भी दिया जायगा। शीघ्रता न करो।

ननु यद्यौदारिकं स्थूलं तदा परं परं कीदृशमित्याह।

यहां किसीका प्रश्न है कि यदि औदारिक शरीर स्थूल है तो परले परले वैक्रियिक आदिक शरीर भला कैसे हैं ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

सूत्रमें पढे गये अनुसार औदारिकसे परले, परले, वैक्रियिक आदिक शरीर गढन्तकी अपेक्षा सूक्ष्म सूक्ष्म हैं। औदारिकसे सूक्ष्म वैक्रियिक है और वैक्रियिकसे आहारक सूक्ष्म है। आहारकसे तैजस और तैजससे कार्मण अतिशय सूक्ष्म हैं।

परशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातो व्यवस्थार्थगतिः पृथग्भूतानां सूक्ष्मगुणेन वीप्सानिर्देशः तेनौदारिकात्परं वैक्रियिकं सूक्ष्मं न स्थूलतरं, ततोप्याहारकं, ततोपि तैजसं सूक्ष्मं, ततोपि कार्मणमिति संप्रतीयते।

पर शद्बके व्यवस्था, भिन्न, प्रधान, इष्ट, शत्रु, ऐसे कई अर्थ हैं। किन्तु अनेक अर्थ होनेपर भी यहां विवक्षासे व्यवस्था अर्थ जाना जाता है। संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन, संख्या, आदि करके पृथक् पृथक् हो चुके भी शरीरोंका सूक्ष्म गुणके साथ वीप्सा करके कथन किया गया है। उस वीप्सा निर्देशसे यों भले प्रकार प्रतीति कर ली जाती है कि औदारिकसे परले ओरका वैक्रियिक शरीर सूक्ष्म है, किन्तु मोटे औदारिकसे वैक्रियिक शरीर और भी अधिक मोटा नहीं है, उस वैक्रियिकसे भी आहारक शरीर सूक्ष्म ढंगसे रचा गया है, उस आहारकसे भी तैजसशरीर सूक्ष्म है तथा उस तैजससे भी कार्मण शरीर सूक्ष्म है। रुई, तेल, वायु, अग्निज्वाला, विद्युत्प्रभा, बिजलीका करन्ट, की पौद्गलिक रचनाओंमें जिस प्रकार सूक्ष्मपना प्रसिद्ध है, उसी प्रकार शरीरोंमें लगा लेना चाहिये।

प्रदेशतः परं परं कीदृगित्याह।

पुनः किसीका प्रश्न है कि पांचों शरीर उत्तरोत्तर जब सूक्ष्म हैं, तब तो परले परले शरीर विचारे प्रदेशोंसे भी न्यून होवेंगे। यदि प्रदेशोंसे न्यून नहीं है तो बताओ प्रदेशोंकी अपेक्षा परले परले शरीर किस ढंगके रचे हुये हैं? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं। कर्णकुहरको पवित्र करते हुये उसको सुनियेगा।

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात् ॥ ३८ ॥

अवगाहकी अपेक्षा नहीं किन्तु परमाणुस्वरूप प्रदेशों करके उत्तरोत्तरशरीर ये तैजस शरीरसे पहिले पहिले असंख्यात गुणे हैं। अर्थात्—पल्यका असंख्यातवां भागरूप असंख्यात यहां असंख्यात शद्बसे पकडा गया है। औदारिक शरीरमें जितने परमाणु हैं उनसे असंख्यात गुणे परमाणु वैक्रियिक शरीरमें हैं, और वैक्रियिक शरीरमेंके परमाणुओंसे आहारक शरीरके परमाणु असंख्यात गुणे अधिक हैं।

प्रदेशाः परमाणवस्ततोऽसंख्येयगुणं परंपरमित्यभिसंबंधः। प्राक्तैजसादिति वचनात् न तैजसकार्मणयोरसंख्येयगुणत्वं। किं तर्हि? औदारिकाद्वैक्रियिकं प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं ततोप्याहारकमिति निश्चयः॥

जिन करके आकाश आदिकोंका क्षेत्रविभाग संकेतित किया जाय अथवा जो स्वयं घट आदिकोंमें अवयवपने करके निर्दिष्ट किये जायं वे परमाणु यहां प्रदेश कहे जाते हैं, परले परले उत्तरोत्तर शरीर उन प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यात गुणे हैं। इस प्रकार वाक्यका दोनों ओरसे सम्बन्ध कर लेना चाहिये । सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजने " तैजस शरीरके पहिले " यों कण्ठोक्त निरूपण किया है। इस कारण तैजस और कार्मण शरीरमें असंख्यात गुणपन नहीं है तो फिर सूत्रकारका अभिप्राय क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर यों निश्चय करलेना चाहिये कि औदारिकसे वैक्रियिक शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यात गुणा है, और उस वैक्रियिकसे भी आहारक शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यात गुणा अधिक है।

तैजसकार्मणे किंगुणे इत्याह ।

आदिके तीन शरीरोंमें वर्तनेवाले दो असंख्यात गुणोंका निरूपण किया, अब यह बताओ कि अन्तके तैजस और कार्मणशरीर भला प्रदेशोंकी अपेक्षा किस गुणाकारको धार रहे हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको स्पष्ट रूपसे कहते हैं।

अनंतगुणे परे ॥ ३९ ॥

प्रदेशोंकी अपेक्षा आहारकशरीरसे तैजस शरीरमें परमाणु अनन्तगुणे हैं और तैजस शरीर जितने परमाणुओंसे बना हुआ है उनसे अनन्तगुणे परमाणुओं करके कार्मणशरीर सम्पन्न हुआ है यहां अनन्तका अर्थ अभव्य जीवोंसे अनन्तगुणा और सिद्ध जीवोंके अनन्तमें भागस्वरूप कोई मध्यवर्ती जिनदृष्ट अनन्त (संख्या) लिया गया है। अतः पिछले दो तैजस और कार्मण शरीर परमाणुओंके सद्भावकी अपेक्षा अनन्त गुणे हैं।

प्रदेशतः इत्यनुवर्तते परं परमिति च, तेनाहारकात्परं तैजसं प्रदेशतोऽनंतगुणं ततोपि कार्मणमनंतगुणमिति विज्ञायते । तत एव नोभयोस्तुल्यत्वमाहारकादनंतगुणत्वाभावात् । अन्यदेव हि आहारकादनंतगुणत्वं तैजसस्य, तैजसाचान्यत् कार्मणस्य तस्यानंतविकल्पत्वात् ।

पूर्वके " प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात् " सूत्रसे प्रदेशतः इस पदकी अनुवृत्ति कर ली जाती है। और " परं परं सूक्ष्मं " सूत्रसे " परं परं " इस पदकी अनुवृत्ति हो जाती है । तिस कारण सूत्रवाक्यका अर्थ विशेषरूपसे यों जान लिया जाता है कि आहारक शरीरसे परला तैजस शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा अनंतगुणा है और उन तैजस शरीरसे भी परला कार्मणशरीर उसके आरम्भक परमाणुओंकी गणना करनेपर अनन्त गुणा है । तिस ही कारणसे दोनोंकी तुल्यता नहीं हुयी । क्योंकि आहारकसे अनन्तगुणपना दोनोंमें एकसा नहीं है। अर्थात्—परला परला कह देनेसे तैजस और कार्मण दोनों शरीरोंमें परमाणुओंकी संख्या तुल्य नहीं ठहरती है । आहारकसे अनन्तगुणा

तैजस है, किन्तु आहारकसे अनन्तानन्तगुणा कार्मण है। भले ही सामान्यरूपसे कार्मण शरीरको आहारक या तैजससे अनन्तगुणा कह दिया जाय, किन्तु उस अनन्तके प्रकार अनंतानन्त हैं। आहारक शरीरसे तैजसशरीरका अनन्तगुणपना भिन्न ही है और तैजस शरीरसे कार्मणशरीरका अनन्तगुणा निराला ही है। पांच रुपयोंसे एक हजार हो जानेपर सैकडों गुणी वृद्धि कही जाती है। और चार हजार हो जानेपर भी सैकडों गुणी बढवारी समझी जाती है।

परस्मिन् सत्यारातीयस्यापरत्वात्परे इति निर्देशो न प्रसज्यते बुद्धिविषयव्यापारादुभयोरपि परत्वोपपत्तेः। व्यवहितेपि वा परशब्दप्रयोगात्।

यहां किसी जिज्ञासुका आक्षेप है कि भले ही सैकडों, हजारों, पदार्थ क्यों नहीं होय, परशब्दसे अन्तका एक ही पकडा जावेगा, जैसे कि लाखोंमेंसे आद्य एक ही लिया जाता है। अतः " आद्ये " या " परे " इस प्रकार द्विवचनान्त पदका प्रयोग करना ही अलीक है। " परापरे " कह सकते हो। परले एक कार्मण शरीरके होते सन्ते उसके निकट पूर्ववर्ती तैजस शरीरको परपना नहीं प्राप्त होता है। इस कारण तैजस और कार्मणके लिये सूत्रमें सूत्रकार द्वारा प्रयुक्त किया गया द्विवचनान्त "परे" शब्द यों कथन करना प्रसंगप्राप्त नहीं हो पाता है। एक वचनांत " परम् " शब्द कहना चाहिये। अब आचार्य कहते हैं कि यह प्रसंग उठाना ठीक नहीं है। क्योंकि बुद्धिके विषय हो रहे व्यापारसे दोनों तैजस, कार्मण शरीरोंको भी परपना बन जाता है। अर्थात्—पदार्थोंकी परिणति तुम कहते हो वैसी ही है। आद्य पदार्थ या पर पदार्थ एक ही हो सकता है। किन्तु अपनी अपनी बुद्धिके विचार अनुसार दो, चार, दस, बीस, पदार्थ भी आद्य या पर कहे जा सकते हैं। जैसा मनमें विचार लिया जाता है वैसा बहिरंगमें व्यवहार कर दिया जाता है। अपनी अपनी बुद्धि विचारोंके सभी जीव स्वायत्त शासन करनेवाले राजा हैं। अतः दोनों शरीरोंमें भी बुद्धिकृत परत्व सध जाता है। बुद्धिमें तिरछा फैलाकर आहारसे परले दो तैजस, कार्मण, शरीरोंको " अनन्त गुणेका " व्यपदेश है। शब्दके उच्चारणके क्रमसे दो में परपना कथमपि नहीं आ सकता है। दूसरी बात यह है कि व्यवधान युक्त पदार्थमें भी पर शब्दका प्रयोग हो रहा देखा जाता है। जैसे कि काशीसे सम्मेदशिखर तीर्थ परे है, उसी प्रकार यहां आहारकसे तैजसको परत्व समुचित है। साथमें तैजससे व्यवधानको प्राप्त हो रहे भी कार्मणको आहारककी अपेक्षा परपना है।

ननु च यदि प्रदेशापेक्षया परं परमसंख्येयगुणमनंतगुणं चोच्यते सूक्ष्मं कथमित्याह।

यहां कोई शंका करता है कि प्रदेशोंकी अपेक्षा करके यदि परले, परले, शरीरोंको असंख्यात गुणा और अनन्तगुणा कहा जाता है तो ऐसी दशामें वे परले परले शरीर सूक्ष्म कैसे कहे जा सकेंगे? परमाणुओंके बढ जानेसे परले, परले शरीर लम्बे चौडे महान् बन बैठेंगे, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य वार्त्तिक द्वारा समाधानको कहते हैं।

क्षेत्रावगाहनापेक्षां कृत्वा सूक्ष्मं परं परं ।
तैजसात्प्रागसंख्येयगुणं ज्ञेयं प्रदेशतः ॥ १ ॥
स्थूलमाहारकं विद्धि क्षेत्रमेकं विधीयते ।
तथानंतगुणे ज्ञेये परे तैजसकार्मणे ॥ २ ॥

यद्यपि प्रदेशोंकी अपेक्षा तैजससे पहिलेके औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर उत्तरोत्तर असंख्यात गुणे हैं तो भी क्षेत्रके अवगाहकी अपेक्षा करके परले परले शरीर सूक्ष्म समझ लेने चाहिये। औदारिक शरीर स्थूल है, इससे वैक्रियिक सूक्ष्म है, और वैक्रियिक तो स्थूल है। इससे आहारक सूक्ष्म है। तथा हस्तप्रमाण एक क्षेत्रको अनन्तानन्त परमाणुओं द्वारा बनकर अपना आधार कर रहे आहारक शरीरको स्थूल समझो। इसकी अपेक्षा परले तैजस और कार्मण शरीर अनन्तगुणे समझ लेने चाहिये। अर्थात्— जैसे कि पांच सेर रुईको कितना भी दबा दिया फिर भी दश सेर लोहेका गोला बहुत प्रदेश होनेपर भी अल्प परिमाणवाला रहता है। लोहेसे सोना, या पारा छोटे परिमाणवाला है। अतः परमाणुओंके अत्यधिक होनेपर भी अवगाहनकी अपेक्षा छोटे क्षेत्रोंमें वे समाजाते हैं। जस्तेको अग्निमें जलाकर फूला हुआ बहुत सफेदा बना लिया जाता है।

तर्हि सप्रतिघाते ते प्राप्ते इत्याह ।

किसीका प्रश्न है कि तैजस और कार्मण शरीरमें जब परमाणुएं ठसाठस खचित हो रही हैं, तब तो वे तैजस और कार्मण शरीर प्रतिघात सहित प्राप्त हुये। देखिये, मूर्तिमान् सघन बाण यदि वृक्ष या पाषाणसे टकरा जाता है तो वेग अनुसार थोडा घुसकर पुनः रुक जाता है। इसी प्रकार तैजस और कार्मण भी मूर्तिमान् द्रव्यसे टक्कर खाकर रुक जावेंगे ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको उतारते हैं। इस सूत्रका अर्थ समझियेगा।

अप्रतीघाते ॥ ४० ॥

किसी मोटेसे मोटे भी पदार्थका अमूर्त पदार्थके साथ व्याघात होता नहीं है। किन्तु सूक्ष्म परिणाम होनेसे मूर्त भी तैजस और कार्मण शरीरका किसी मूर्तिमान् पदार्थके साथ भी व्याघात नहीं हो पाता है। पर्वत, नदी, भूमियां, वज्रपटल, सूर्य, चन्द्रमा, आदिको व्याघात नहीं पहुंचा कर और स्वयं छिन्न, भिन्न, नहीं होते हुये तैजस, कार्मण, शरीर सर्वत्र चले जा सकते हैं। मरकर केवल तैजस और कार्मण शरीरको धार रहे संसारी जीवकी तीन लोकमें कहींसे कहीं भी गति रुक नहीं सकती है। अतः तैजस और कार्मणशरीर प्रतीघातरहित हैं।

प्रतीघातो मूर्त्यंतरव्याघातः स न विद्यते ययोस्तेऽप्रतीघाते तैजसकार्मणे। कुत इत्याह।

प्रतीघात शब्दका अर्थ अन्य मूर्त पदार्थोंसे टकरा कर व्याघातको प्राप्त हो जाना है। यह गिर जाना या छिन्न भिन्न हो जाना अथवा रुक जाना कोई सा भी प्रतीघात जिन शरीरोंके विद्यमान नहीं है वे तैजस और कार्मणशरीर "अप्रतीघात" माने जाते हैं। कोई सविनय प्रश्न करता है कि यह अप्रतीघात किस कारणसे है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तरवार्तिकको कहते हैं।

सर्वतोप्यप्रतीघाते परिणामनिमित्ततः।
न सर्वतो प्रतीघाते परिणामविशेषतः॥ १॥

तैजस और कार्मणशरीरका परिमाण इस ढंगका सूक्ष्म है जिस कारण कि निमित्तसे वे तैजस, कार्मण शरीर सभी स्थानोंमें प्रतीघात रहित हैं, परिणाम विशेष होनेसे। दूसरे वैक्रियिक और आहारक शरीर सर्वतः प्रतीघातरहित नहीं हैं। अर्थात्—वैक्रियिक शरीर त्रसनालीमें यथायोग्य कुछ योजन या डेढ राजू चार, पांच, छह, राजू, तेरह राजूतक गमन करनेकी शक्ति रखता है। आहारक शरीर ढाई द्वीपमें सर्वत्र अप्रत्याहत जा सकता है, इससे बाहर जानेपर वैक्रियिक या आहारक शरीर टूट, फूटकर, नष्ट भ्रष्ट हो जायगा, जा ही नहीं सकेगा। किन्तु तैजस और कार्मण शरीरकी परिणति उन सूक्ष्म विशेषताओंको लिये हुये हैं, जिनसे कि वे लोकमें सर्वत्र विना रोक टोकके अक्षुण्ण चले जाते हैं।

वैक्रियिकाहारकयोरप्यप्रतीघातत्वमिति न मंतव्यं, सर्वतोऽप्रतीघातस्य तयोरभावात्। न हि वैक्रियिकं सर्वतोऽप्रतीघातमाहारकं वा प्रतिनियतविषयत्वात्तदप्रतीघातस्य। तैजसकार्मणे पुनः सर्वस्य संसारिणः सर्वतोप्रतीघाते ताभ्यां सह सर्वत्रोत्पादान्यथानुपपत्तेः।

कोई मान बैठा है कि स्थूल औदारिक भले ही पर्वत, वज्रपटल, आदिसे रुक जावे, किन्तु वैक्रियिक या आहारक शरीरका तो पर्वत, भित्ति, सूर्य, विमान, आदिमें (से) कोई प्रतीघात नहीं होता है। अतः तैजस, कार्मणके समान वैक्रियिक और आहारकको भी प्रतीघातरहितपना है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये। क्योंकि लोकमें सब ओरसे सभी स्थलोंमें उनके अप्रतीघातका अभाव है। देखिये, वैक्रियिक अथवा आहारक शरीर सर्व स्थलोंमें प्रतीघात रहित नहीं हैं। क्योंकि उनका अप्रतीघात तो प्रतिनियत स्थानोंमें मर्यादित हो रहा है। त्रसनालीके बाहर स्थावर लोकमें आहारक या वैक्रियिक शरीर नहीं जा पाते हैं। किन्तु फिर सम्पूर्ण संसारियोंके तैजस और कार्मण तो सभी स्थानोंसे सभी स्थलोंके लिये जाने, आने, में प्रतीघातरहित हैं। क्योंकि उन तैजस और कार्मण शरीरके साथ इस संसारी जीवकी सभी स्थलोंमें उत्पत्ति होना अन्यथा यानी तैजस कार्मण को अप्रतीघात माने विना बन नहीं सकता है। जबतक संसार है तबतक तैजस और कार्मण तो लगे ही रहेंगे। इनके साथ ही जीवका आना, जाना, हो सकता है।

ततस्तर्हि सूत्रे सर्वतो ग्रहणं कर्तव्यमिति चेत् न, मुख्यस्य प्रतीघातस्यात्र विवक्षितत्वात् । कुतः पुनस्तादृशोऽप्रतीघात इति चेत्, सूक्ष्मपरिणामविशेषादयस्पिंडे तेजोनुप्रवेशवत् ।

कोई पण्डित आक्षेप करता है कि वैसा होनेसे यानी सर्वत्र अप्रतीघातकी विवक्षा करनेपर तब तो इस सूत्रमें सर्वतः यह पदग्रहण करना चाहिये, जब कि सर्व स्थलोंसे लोकके सभी स्थलोंमें वे प्रतीघातरहित हैं ? आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि मुख्य प्रतीघातकी यहां विवक्षा प्राप्त हो रही है । अतः विना कहे ही " सर्वत्र अप्रतीघात " यह अर्थ कह दिया जाता है । यों थोडी थोडी दूरके स्थानोंमें तो स्थूल औदारिकका भी अप्रतीघात बन रहा है, इससे क्या हुआ ? सूत्रकारको यहां मुख्य प्रतीघातकी विवक्षा हो रही है । तैजस और कार्मण शरीरमें परिपूर्णरूपसे मुख्य प्रतीघात नहीं है । पुनः यहां कोई पूंछता है कि क्या कारण है ? जिससे तैजस और कार्मण शरीरका तिस प्रकारका सर्वत्र अप्रतीघात है ? कहीं भी इनको कोई रोक नहीं सकता है ? यों कहनेपर तो आचार्य समाधान करते हैं कि लोहपिण्डमें जैसे तेजोद्रव्यका अनुप्रवेश हो जाता है, तवेमें नीचेसे अग्नि घुसकर ऊपरकी रोटीमें संयुक्त हो जाती है, उसी प्रकार सूक्ष्म विशेषपरिणाम होनेसे उनका कहीं भी प्रतीघात नहीं होता है । भावार्थ—घडेमें भीतर पानी भर देनेपर कुछ आर्द्रता ऊपर झलक आती है । पाषाणमें तेल घुस जाता है । ताडपीनका तेल चर्ममें प्रविष्ट होकर परली ओर निकल जाता है । चौमासेकी सील सात सन्दूकोंके भीतर घुस जाती है । जब स्थूलपरिमाणवाले पदार्थ भी नियत पदार्थोंमें अन्तःप्रविष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार सूक्ष्मपरिणति विशेष हो जानेसे तैजस और कार्मण शरीर सर्वत्र अप्रत्याहत चले जा सकते हैं । जैनसिद्धान्तमें कारण अनुसार कार्यव्यवस्था मानी गयी है । कोई पोल नहीं है । जिस पदार्थमें जैसा जैसा जहां जहां प्रतीघात, अप्रतीघात, होनेका परिणामविशेष होगा, वह पदार्थ वहांतक प्रतीघातवाला या अप्रतीघातवाला माना जायगा । दीपक या मसालका प्रकाश चर्म, मांस, कपडा, पत्र, आदिको भेदकर भीतर नहीं घुस सकता है । किन्तु " ऐक्सरे " नामक यंत्रद्वारा बिजलीका प्रकाश तो चर्म आदिको पार कर जाता है । खद्दरमेंसे पानी छन जाता है, प्रकाश नहीं । किन्तु कांचमेंसे प्रकाश निकल जाता है, पानी नहीं ।

ये त्वाहुः, पूर्वं पूर्वं सूक्ष्मं युक्तं प्रदेशतोल्पत्वादिति तान् प्रत्याह ।

जो भी कोई विद्वान् यों कह रहे हैं कि परमाणुओंकी संख्याके अल्प, अल्प, होनेसे तो पहिले पहिले शरीरोंको सूक्ष्म कहना युक्त है । उनके प्रति तो श्री विद्यानन्द आचार्य यों समाधान कहते हैं ।

प्रदेशतोल्पतातारतम्यं कायेषु ये विदुः ।
सूक्ष्मतातारतम्यस्य साधनं ते कुतार्किकाः ॥ २ ॥

तस्य कार्पासपिंडेनानेकांताच्छिथिलात्मना ।
प्रदेशबहुतातारतम्यवत्स्थौल्यबंधने ॥ ३ ॥

प्रदेशोंकी अपेक्षा अल्पपनेका तारतम्य ही शरीरोंमें सूक्ष्मपनेके तारतम्यका ज्ञापक हेतु है, इस प्रकार जो नैयायिक समझ बैठे हैं वे खोटी तर्कको धारनेवाले हैं । क्योंकि उस हेतुका शिथिलस्वरूप फूल रहे रुईके पिण्ड करके व्यभिचार दोष हो जाता है । जैसे कि स्थूलपनके बन्धनको साधनेमें प्रयुक्त किये गये प्रदेशबहुतपनेका तारतम्य हेतु रुईसे व्यभिचारी हो जाता है । अर्थात्—जिसमें प्रदेश बहुत होते हैं, वह स्थूल होता है । यह हेतु लोहपिण्डसे व्यभिचारी है । उसी प्रकार जिसमें प्रदेश थोडे होते हैं वह अल्पपरिमाणवाला सूक्ष्म पदार्थ है । इस व्याप्तिका हेतु भी धुनी हुई रुईसे व्यभिचार दोषको धार रहा है । थोडे प्रदेश होनेपर भी शिथिल रुई लम्बे चौडे स्थानको घेर रही है, जब कि बहुप्रदेशी लोहपिण्ड छोटे स्थानमें समजाता है ।

यथैव प्रदेशबहुत्वतारतम्यमुत्तरोत्तरशरीरेषु स्थूलत्वप्रकर्षे साध्ये निबिडावयवसंयोगपरिणामेनायस्पिंडेनानैकांतिकमिति न तत्र स्थूलतातारतम्यं साधयति तथा प्रदेशाल्पत्वतारतम्यमपि पूर्वशरीरेषु न सूक्ष्मतातारतम्यमिति स्वहेतुविशेषसांनिध्यात् तैजसकार्मणयोरनंतगुणत्वेपि पूर्वकायात्सूक्ष्मपरिणामः सिद्धः सर्वतोप्रतीघातत्वं साधयत्येवायस्पिंडे तेजोनुप्रवेशवदिति सूक्तं । न हि तेजसोयस्पिंडेन प्रतीघाते तत्रानुप्रवेशो युज्यते ।

जिस ही प्रकार पिछले पिछले शरीरोंमें स्थूलताके प्रकर्षको साध्य करनेपर प्रयुक्त किया गया प्रदेशोंके बहुतपनेका तारतम्य रूप हेतु तो अवयवोंके सघन संयोग हो जाना रूप परिणामको धारनेवाले लोहपिण्डकरके व्यभिचारी है, इस कारण वह हेतु उन उत्तरोत्तर शरीरोंमें स्थूलपनके तारतम्यको नहीं साध पाता है, तिसी प्रकार प्रदेशोंकी अल्पताका तारतम्य होना रूप ज्ञापक हेतु भी पूर्व पूर्व शरीरोंमें सूक्ष्मताके तारतम्यको नहीं साध पाता है । इस कारण अपने अपने हेतु विशेषोंकी सन्निकटतासे तैजस और कार्मणको अनन्तगुणा होते हुये भी पूर्वशरीरसे सूक्ष्म परिणाम सहितपना सिद्ध हो जाता है, जो कि सब ओरसे उन दोनोंके अप्रतीघातपनेको साध ही देता है, जैसे कि लोह पिण्डमें तेजोद्रव्यका अनुप्रवेश हो जाता है । तभी तो इस बातको हम पहिली वार्तिकोंमें बहुत अच्छा कह चुके हैं । यदि तेजोद्रव्यका लोहपिण्ड करके प्रतीघात माना जायगा तो ऐसी दशामें वहां लोहेमें अग्निका प्रवेश नहीं हो सकेगा । किन्तु लोहेके तवेमें या पीतल, तांबे के पात्रमें तेजोद्रव्य घुस जाता दीखता है, बिजली तो हजारों मील लम्बे ठोस तारमें घुसी चली जाती है ।

स्यान्मतं, तेजसः संयोगविशेषादयस्पिंडावयवेषु कर्मोत्पद्यते ततो विभागस्ततः संयोगविनाशस्ततोपि तस्यायस्पिंडावयविनो विनाशस्ततोग्न्यौष्ण्यापेक्षादग्निसंयोगात्तदवयवेष्वनुष्णा-

शीतस्पर्शविनाशः परस्मादग्निसंयोगादुष्णस्पर्शोत्पत्तिः ततस्तदुपभोक्तुरदृष्टविशेषवशाद्व्यणुकादि प्रक्रमेण तादृशस्यैवायस्पिंडस्योत्पत्तिः । एवं च नायस्पिंडे तदवस्थे तैजसोनुप्रवेशोस्ति यतोऽप्रतीघातस्य विधाने निदर्शनीक्रियेतेति । तदयुक्तं, प्रतीतिविरोधात् । स एवायमयस्पिंडस्तेजोभ्यासः प्रतिभाति यः पूर्वमनुष्णः समुपलब्ध इति प्रतीतेः । परत्र प्रक्रियामात्रस्य जातुचिदप्रतीतेर्न भ्रांतत्वं । सदृशापरोत्पत्तेस्तथा प्रतीतिरिति चेन्न, एकत्वादिवत् । न हि किंचिन्मूर्तमति प्रविशदमूर्तं दृष्टं । व्योमदृष्टमिति चेन्न, तत्र मूर्तमति मूर्तेष्वपि तथा प्रसंगात् । तथा च तत्कथंचित्प्रत्यभिज्ञानादेकत्वसिद्धिः । बाधकरहितात्ततस्तत्सिद्धौ कथमयस्पिंडेपि प्रत्यभिज्ञानादेकत्वं न सिध्येत् ? न हि तत्र किंचिद्बाधकमस्ति ।

यदि यहां वैशेषिकोंका मन्तव्य ऐसा होवे कि लोहेके तवेमें अग्नि नहीं घुसती है । किन्तु लाल तपा हुआ तवा एक नया पदार्थ ही उत्पन्न हो जाता है । पहिला तवा रहता ही नहीं है । वह पहिले तवेके नाशकी और नये लोहपिण्डके उत्पादकी प्रक्रिया इस प्रकार है कि तेजोद्रव्यके विशेषसंयोगसे लोहपिण्डके अवयवोंमें पहिले क्रिया उपजती है । क्रिया या अनेक क्रियाओंके उपज-जानेके पीछे दूसरे समयमें उन लोहअवयवोंका विभाग हो जाता है । अर्थात्–मिले हुये अवयव उस क्रियाके द्वारा पृथक् पृथक् टुकडे हो जाते हैं । विभागगुण संयोगगुणका नाशक है । अतः पहिले हो रहे संयोगका विभागकरके तीसरे समयमें नाश हो जाता है । उसके भी पीछे संयोगका नाश हो चुकनेपर उस लोहपिण्ड अवयवीका विनाश हो जाता है । स्थूल अवयवोंका भी नाश होते होते परमाणु रह जाते हैं । उसके पीछे उष्णताकी अपेक्षा रखनेवाले अग्निसंयोगसे उन परमाणुस्वरूप लोह अवयवोंमें अनुष्णाशीत स्पर्शका विनाश हो जाता है । अर्थात्—वैशेषिकोंने पृथिवीमें अनुष्णाशीत स्पर्श माना है । जब कि लोहा पृथिवी है । अतः उसका स्पर्श अनुष्णाशीत था, अगले क्षणमें अनुष्णाशीत स्पर्शका नाश हो गया । साथमें उन क्रियाओंका भी नाश हो गया । वैशेषिकोंके यहां क्रिया चार क्षणसे अधिक नहीं ठहरती है । पहिले क्षणमें क्रिया हुई दूसरे क्षणमें उसने विभागको किया, तीसरे क्षणमें पूर्व संयोगका नाश, चौथे क्षणमें उसी क्रियासे उत्तरदेश संयोग होकर पांच क्षणमें क्रियाका नाश हो जाता है । पुनः अन्य क्रियायें उत्पन्न होती रहती हैं । यहांतक अवयवी उसके अवयव उसके भी छोटे छोटे अवयव इस ढंगसे लोहपिण्डके परमाणुयें हो गये हैं । यों अबतक पूर्वपिण्डका विनाश हो चुका । अब नवीन पिण्डका उत्पाद सुनिये । पुनः दूसरे अग्निसंयोगसे उन परमाणुओंमें नवीनस्पर्शकी उत्पत्ति होती है, उसके पश्चात् उस उष्णलोहपिण्डद्वारा रसोई जीमना, भुरस जाना, आदिका उपभोग करनेवाले जीवोंके विशेष पुण्य, या पापकी अधीनतासे परमाणुओंमें क्रिया होनेसे क्षेत्रसे क्षेत्रान्तररूप होना विभाग उपजाता है । विभागसे अन्य क्षेत्रके साथ हो रहे पूर्वसंयोगका विनाश हो जाता है । पीछे दूसरे परमाणुके साथ संयोग हो जाता है । दो दो परमाणुओंका संयोग

हो चुकनेपर पीछे व्यणुकोंकी उत्पत्ति होजाती है। तीन, तीन द्व्यणुकोंसे वहां सब लोह अवयवोंके त्र्यणुक बन जाते हैं। चार चार त्र्यणुकोंके सब चतुरणुक बन जाते हैं, यों पंचाणुक, षडणुक, इस क्रमसे एक वैसे ही अनुष्ण नवीन लोहपिण्डकी उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार हम वैशेषिकोंके यहां वैसाका वैसे ही लोहपिण्डके अवस्थित बने रहनेपर तेजोद्रव्यका अनुप्रवेश नहीं माना गया है। जिससे कि अप्रतीघातका विधान करनेमें आप जैनलोग लोहपिण्डमें अग्निके प्रवेशको दृष्टान्त कर सकें। यहांतक वैशेषिक कह चुके हैं। अब आचार्य कहते हैं कि यह कथन युक्तिविरुद्ध है। क्योंकि प्रतीतिओंसे विरोध आता है। यह वही लोहपिण्ड भला तेजोद्रव्यसे व्याप्त हो रहा प्रतिभासता है, जो लोहपिण्ड पहिले अनुष्ण भले प्रकार दीख चुका था, ऐसी बालक, बालिकाओंतकको प्रतीति हो रही है। दूसरे वैशेषिकोंके यहां जो उत्पादविनाशकी केवल प्रक्रिया गढ दी गयी है, उसकी तो किसीको कभी प्रतीति नहीं होती है। यदि नीचे अग्नि जलानेसे अनुष्ण लोहा या तांबेका बर्तन टूट फूट जाता तो उसमें का दूध या घी फैल जाता, किन्तु ऐसा नहीं हो रहा है। किन्तु यह वही लोहपिण्ड है, वहका वही बर्तन है, यह प्रतीति हो रही है, जो कि भ्रान्तिस्वरूप नहीं है। यदि यहां वैशेषिक यों कहें कि सदृश ही दूसरे दूसरे लोहपिण्डोंकी उत्पत्ति हो जानेसे तुमको तिस प्रकार " यह वही है " ऐसी प्रतीति हो गयी है, जैसे कि दीपकलिकाओंमें या किसी चूर्णमें यह वही है, यह सादृश्यको कारण मानकर प्रतीति हो जाती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि घटके एकपन तदेवपन, आदिके समान लोहपिण्डमें एकत्व प्रतीति भी समीचीन है। मूर्तिमान् पदार्थोंमें प्रवेश कर रहा कोई अमूर्त पदार्थ नहीं देखा गया है। यदि कोई यहां यों कहे कि अमूर्त आकाश तो मूर्तिमान घटादि में प्रवेश कर जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस आकाशके मूर्तिमान् होते सन्ते ही घट, पट, आदि मूर्त पदार्थोंमें भी तिस प्रकारका प्रसंग हो जावेगा। अर्थात्—आकाश मूर्त नहीं है, क्रियावान् भी नहीं है। अतः वह मूर्तोंमें प्रविष्ट नहीं हो सकता है। (यहांका यह पाठ कुछ अप्रकृतसा दीखता है विशेष बुद्धिमान् पुरुष पूर्वापार संदर्भको ठीक मिला लेवें)। और तैसा होनेपर कथंचित् एकत्वको विषय करनेवाले प्रत्यभिज्ञानसे एकपनेकी सिद्धि होजाती है, बाधक प्रमाणोंसे रहित हो रहे उस प्रत्यभिज्ञान द्वारा उस एकपनकी सिद्धि होना मान चुकनेपर लोहपिण्डमें भी एकत्व प्रत्यभिज्ञानसे भला एकत्व क्यों नहीं सिद्ध हो जायगा ? कारण कि वहां भी तो कोई बाधक प्रमाण विद्यमान नहीं है।

स्यान्मतं, तेजोऽयःपिंडे तदवस्थे नानुप्रविशति मूर्तत्वाल्लोष्टवदित्येतद्बाधकमिति तदसद्धेतोः संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वात् सर्वज्ञत्वाभावे वक्तृत्वादिवत्। न हि किंचिन्मूर्तिमति प्रविशदमूर्तं दृष्टं। व्योम दृष्टमिति चेत्, तत्र मूर्तिमतोनुप्रवेशास्तथा प्रतीतेरबाधत्वादित्यलं प्रसंगेन।

यदि वैशेषिक पण्डित " यह वही लोह पिण्ड है " इस प्रत्यभिज्ञानमें बाधकप्रमाण उपस्थित करते हुये अपना मन्तव्य यों प्रकाशित करें कि लोहपिण्डकी ठीक वैसीकी वैसी ही अवस्था बनी

रहनेपर उसमें तेजोद्रव्य प्रवेश नहीं कर सकता है (प्रतिज्ञा) मूर्त होनेसे (हेतु) डेलके समान (अन्वय दृष्टान्त) अर्थात्–डेल जिसमें प्रवेश करता है वह पदार्थ वैसाका वैसा ही नहीं बना रहता है। इसी प्रकार लोहमें अग्निके घुस जानेपर लोहा विनष्ट होकर दूसरा बदल जाता है। यह तुम्हारे एकत्व प्रत्यभिज्ञानका बाधक प्रमाण खडा हुआ है। आचार्य कहते हैं कि उन वैशेषिकोंका इस प्रकार कहना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि उनके हेतुकी विपक्षमें व्यावृत्ति होना संदिग्ध हो रहा है, जैसे कि अर्हन् या बुद्धको सर्वज्ञपनेका अभाव साधते समय दिये गये वक्तृत्व, पुरुषत्व, हाथ पांव सहितपन आदि हेतुओंकी विपक्षसे व्यावृत्ति होना संदिग्ध है। अर्थात्--अर्हन्त (पक्ष) सर्वज्ञ नहीं हो सकते हैं (साध्य) वक्ता होनेसे (हेतु) गलीके मनुष्य समान (अन्वय दृष्टान्त) इस अनुमानका वक्तापन हेतु संदिग्धव्यभिचारी है। क्योंकि सर्वज्ञमें भी वक्तापन संभावित है। ज्ञानके प्रकर्ष होनेपर कोई वक्तापनका अपकर्ष हो रहा नहीं देखा जाता है। बल्कि ज्ञानके बढनेपर वक्तृत्व शक्ति बढ रही प्रतीत होती है। अथवा विपक्ष हो रहे सर्वज्ञमें पुरुषपना भी वर्त्त सकता है। इसी प्रकार मूर्तत्व हेतु भी संदिग्ध व्यभिचारी है। अतः वहका वही मूर्त पदार्थ बना रहनेपर भी तेजोद्रव्य प्रवेश कर सकता है। छेदोंवाली भीतमें डेला प्रवेश कर जाता है, किन्तु भीत वह की वही बनी रहती है। गढमें गोली घुस जानेसे सहसा अवस्था नहीं बदल जाती है। पेटमें अन्न, पान, का प्रवेश करलेने पर देवदत्तके शरीरकी सर्वथा परावृत्ति नहीं हो जाती है। मूर्तिमान पदार्थमें मूर्तपदार्थ प्रवेश करता है। मूर्तमें कोई भी अमूर्त प्रवेश करता हुआ नहीं देखा गया है। आकाश, धर्म, अधर्म, और काल ये अमूर्त, पदार्थ तो जहांके तहां अवस्थित हैं। ये कहीं जाकर प्रवेश नहीं करते। इनमें भले ही कोई मूर्त पदार्थ प्रवेश कर जाय। हां, शुद्ध जीव मोक्षगमन करते समय ऊर्ध्वलोक प्रति गमन करता है। वह कोई बाण, डेल आदिके समान प्रवेश करनेवाला नहीं माना गया है। शेष संसारी जीव तो कर्म बन्धकी अपेक्षा मूर्त ही बने बनाये हैं। यदि यहां कोई यों आक्षेप करे कि देखो आकाशद्रव्य अमूर्त हो रहा मूर्तपुद्गलोंमें प्रवेश कर रहा देखा गया है। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि वहां भी आकाशमें मूर्तिमान्का प्रवेश है। मूर्तिमान्में आकाशका प्रवेश नहीं है। आकाश तो व्यापक है कहांसे कहां जाय? बादलोंके चलनेपर किसी किसीको चन्द्रमा चलता दीखता है। कभी काले बादलोंमें चंद्रमा घुसता दीखता है, यह सब भ्रांति है। अतः लोहपिण्डमें तिस प्रकारकी एकत्व प्रतीतिका कोई बाधक नहीं है। बाधारहित एकत्व प्रत्यभिज्ञानसे वहां एकत्व सिद्ध हो जाता है। वावदूक वैशेषिकोंके सन्मुख हमने सारभूत कथन कह दिया है। अधिक प्रसंग बढानेसे कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकेगा। उनका उत्पाद विनाश प्रक्रियाको दिखलाना कोरा फटाटोप मात्र है।

ननु कर्मैव कार्मणमित्यस्मिन् पक्षे न तच्छरीरं पुरुषविशेषगुणत्वाद्बुध्यादिवदिति कश्चित्प्रत्याह।

यहां नैयायिक या वैशेषिकोंकी ओरसे स्वपक्षका अवधारण है कि स्वार्थमें अण् प्रत्यय करनेपर कर्म ही कार्मण शरीर है यों इस पक्षमें वह कार्मण तो कोई शरीर नहीं है, प्रत्युत वह अदृष्ट तो बुद्धि, सुख, दुःख आदिके समान पुरुषका विशेष गुण है, जिसको आप जैन कर्म कहते हैं। उसको हमारे यहां अदृष्ट यानी पुण्य, पाप, कहा गया है। इस प्रकार अनुमान बनाकर कोई वैशेषिक कह रहा है, उसके प्रति आचार्य महाराज वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं, उसको सुनिये।

कर्मैव कार्मणं तन्न शरीरं नृगुणत्वतः।
इत्यसद्द्रव्यरूपेण तस्य पौद्गलिकत्वतः ॥ ३ ॥

कर्म ही कार्मण है जो कि धर्म, अधर्म, कहे जाते हैं वह कर्म (पक्ष) शरीर नहीं है, (साध्य) आत्माका विशेष गुण होनेसे (हेतु) बुद्धिके समान (अन्वयदृष्टान्त) यों वैशेषिकोंका कहना सत्यार्थ नहीं है। क्योंकि उस कर्मको द्रव्यरूपसे पुद्गलों करके निर्मितपना सिद्ध हो रहा है। अर्थात्—कर्म यदि आत्माके गुण होते तो आत्माको पराधीन नहीं कर सकते थे। जो जिसका गुण होता है वही उसको परतन्त्र नहीं बना देता है। जब कि यह संसारी जीव परवश हो रहा है, अतः सिद्ध हो जाता है कि कर्म विजातीय पौद्गलिक द्रव्य है। द्रव्यका निज गुण उसको विभाव अवस्थामें नहीं पटक देता है। निजगुणोंकी नाश करनेके लिये मुमुक्षुका प्रयत्न नहीं होता है। अन्यथा आत्म द्रव्यका ही नाश हो जायगा।

न हि कर्म धर्माधर्मरूपमदृष्टसंज्ञकं पुरुषविशेषगुणस्तस्य द्रव्यात्मना पौद्गलिकत्वात्ततो नाशरीरत्वसिद्धिः।

वैशेषिकोंके यहां जिनकी संज्ञा अदृष्ट मानी गयी है, ऐसे धर्म, अधर्मस्वरूप कर्म तो आत्माके विशेष गुण नहीं हैं। क्योंकि द्रव्यस्वरूपसे वे पुद्गलके गढे हुये हैं। तिस कारण कर्मोंको शरीर रहितपनकी सिद्धि नहीं है। संसारी आत्माका सूक्ष्मशरीर पौद्गलिककर्म है, जो कि आत्मद्रव्यसे भिन्न द्रव्यपुद्गलका बन रहा औपाधिक शरीर है, जैसे कि अस्थिमांस रक्तमय यह दृश्यमान स्थूल शरीर पुद्गल निर्मित है।

भावकर्मैवात्मगुणरूपं न द्रव्यकर्म पुद्गलपर्यायत्वमात्मसात्कुर्वत्प्रसिद्धमिति मन्यमानं मत्याह।

वैशेषिक कहते हैं कि जैन पण्डित भी राग, द्वेष, अज्ञान, ईर्ष्या, अनुत्साहको भावकर्म मानते हुये आत्माका गुण (विभावपरिणाम) मानते ही हैं। सच पूछो तो आत्मामें अज्ञान, राग, द्वेष, आदि भावकर्म ही आत्माके गुणस्वरूप हो रहे विद्यमान हैं। पुण्यकर्म तो पुद्गलके पर्यायपनको अपने अधीन करता हुआ कोई आजतक प्रसिद्ध नहीं है। कोई भी दार्शनिक विचारा अमूर्त आत्माके

ऊपर जम रहे पौद्गलिक कर्मोंको नहीं स्वीकार कर रहा है। इस प्रकार मान रहे वैशेषिकोंके प्रति आचार्य महाराज समाधानवचन कहते हैं।

कर्म पुद्गलपर्यायो जीवस्य प्रतिपद्यते ।
पारतंत्र्यनिमित्तत्वात्कारागारादिबंधवत् ॥ ४ ॥

जीवके कर्म तो पुद्गलकी पर्याय समझे जा रहे हैं (प्रतिज्ञा) जीवकी परतंत्रताके निमित्त कारण होनेसे (हेतु) कारागार (जेलखाना) सांकल, लेज, आदिके बंध समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्—देवदत्त या गायको जेल घर या सांकलमें बांध दिया जाय ऐसी दशामें वह बंधन उन आत्माओंका निजगुण नहीं है, किन्तु पौद्गलिक है। इसी प्रकार जीवकी परतंत्रताका निमित्तकारण हो रहा कर्म पदार्थ भी आत्मासे विजातीय द्रव्य माने गये पुद्गलकी पर्याय है।

क्रोधादिभिर्व्यभिचार इति चेन्न, तेषामपि जीवस्य पारतंत्र्यनिमित्तत्वे पौद्गलिकत्वोपपत्तेः। चिद्रूपतया संवेद्यमानाः क्रोधादयः कथं पौद्गलिकाः प्रतीतिविरोधादिति चेद् न, निर्हेतोर्व्यभिचारायोगात् तेषां पारतंत्र्यनिमित्तत्वाभावात्। द्रव्यक्रोधादय एव हि जीवस्य पारतंत्र्यनिमित्तं न भावक्रोधादयस्तेषां स्वयं पारतंत्र्यरूपत्वाद्द्रव्यक्रोधादिकर्मोदये हि सति भावक्रोधाद्युत्पत्तिरेव जीवस्य पारतंत्र्यं न पुनस्तत्कृतमन्यत्किंचिदित्यव्यभिचारी हेतुर्गमकः सदा।

यदि कोई यों कहे कि क्रोध, अभिमान, आदि करके आप जैनोंके हेतुका व्यभिचारदोष आता है। देखो, क्रोध आदिक भाव भला जीवको परतंत्र करनेके निमित्त तो हैं, किन्तु पुद्गलकी पर्याय नहीं हैं। जीवके औदयिकभाव वे क्रोधआदिक तो स्वतत्त्व माने गये हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि जीवकी पराधीनताके निमित्त होनेपर उन क्रोध आदिकोंको भी पुद्गल निर्मितपना बन जाता है। हेतुके रहनेपर साध्य भी रहजाय ऐसी दशामें व्यभिचारदोष नहीं आता है। कहीं तो पुद्गल निमित्त है, कचित् पुद्गल उपादान कारण है, वे सभी कार्य पौद्गलिक हैं। यदि वैशेषिक फिर यों कहें कि क्रोध आदिक तो जीवके निज चैतन्य रूप करके सम्वेदन किये जा रहे हैं, वे आत्मीय पदार्थ भला कैसे पुद्गलके परिणाम माने जा सकते हैं ? क्योंकि प्रतीतियोंसे विरोध हो जायेगा, यानी क्रोध आदिक यदि पुद्गलकी पर्याय होते तो घट, पट, आदिके समान बहिर्भूत देखे जाते और साधारण जीव भी उनको बहिरंग इन्द्रियों द्वारा देख लेते। किन्तु देवदत्तके क्रोधका उसीके अंतरंगमें चेतन आत्मकपने करके सम्वेदन हो रहा है। दूसरे जीवोंको देवदत्तके क्रोधका इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष हो नहीं पाता है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह आक्षेप नहीं करना। क्योंकि हेतुके नहीं ठहरनेसे व्यभिचार नहीं हो पाता है। जहां हेतु तो ठहर जाय और साध्य नहीं ठहरे वहां व्यभिचार दिया जा सकता है।

हेतुके नहीं ठहरते हुये साध्यके नहीं ठहरनेपर व्यभिचार दोष नहीं लग पाता है। देखिये, उन क्रोधादिकोंको परतंत्रताके निमित्त कारण होनेका अभाव है, पुद्गलकी कार्मणवर्गणाओंसे बनाये गये द्रव्य क्रोध, द्रव्यमान आदिक ही जीवकी परतंत्रताके निमित्त हैं। उन द्रव्यक्रोध आदिके निमित्तसे हुये जीवके भाव क्रोध, अभिमान आदिक जीवपर्याय तो परतंत्रताके निमित्त नहीं हैं। वे भावक्रोध आदिक तो स्वयं परतंत्रता स्वरूप हैं। क्योंकि पुद्गल द्रव्यके बने हुये क्रोध आदिक कर्मोंका उदय होते सन्ते ही भाव क्रोध आदि जीव परिणामोंकी उत्पत्ति हो रही जीवकी परतंत्रता है। उन पुद्गल निर्मित द्रव्य क्रोध आदि द्वारा की गयी फिर अन्य कोई भी पदार्थ परतंत्रता नहीं है। अर्थात्—क्षमास्वरूप जीवका क्रोध रूप हो जाना ही पराधीनता है। सबको जान लेना इस स्वभावको धारनेवाले जीवका पौद्गलिक ज्ञानावरण कर्मके उदय होनेपर अज्ञानभाव हो जाना ही तो जीवकी पराधीनता है। इस कारण हेतुके नहीं घटित होनेपर और साध्यके भी नहीं ठहरनेपर भावक्रोध द्वारा व्यभिचार नहीं हो सकता है। हमारा प्रयुक्त किया गया परतंत्रताका निमित्तपना हेतु व्यभिचार दोषरहित है। अतः सर्वदा अगमक नहीं है। किन्तु पुद्गल पर्यायपन साध्यका सर्वदा ज्ञापक है।

अत्रापरः स्वप्नांतिकं शरीरं परिकल्पयति तमपसारयन्नाह ।

यहां कोई दूसरा बौद्ध उक्त पांच शरीरोंमें अतिरिक्त स्वप्नमें होनेवाले स्वप्नान्तिक शरीरकी परिकल्पना कर रहा है उसके मतका निराकरण करते हुये श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्तिकको कहते हैं।

स्वप्नोपभोगसिध्यर्थं कायं स्वप्नान्तिकं तु ये ।
प्राहुस्तेषां निवार्यंते भोग्याः स्वप्नांतिकाः कथम् ॥ ५ ॥
भोग्यवासनया भोग्याभासं चेत्स्वप्नवेदिनां ।
शरीरवासनामात्राच्छरीराभासनं न किम् ॥ ६ ॥

स्वप्न दशामें अनेक प्रकारके सुख दुःख भोगने पडते हैं। कभी कुयेमें गिर पडता है, कभी भोजन करनेका स्वप्न आता है, कभी नावमें बैठकर जाता है, इत्यादिक स्वप्नके उपभोगोंकी सिद्धिकी प्राप्ति करनेके लिये जो बौद्धपण्डित एक स्वप्नान्तिक शरीरको अच्छा कह रहे हैं, उनके यहां तो स्वप्न दशामें होनेवाले स्वप्नान्तिक भोग्यपदार्थ भला कैसे निवारे जा सकते हैं? अर्थात्—स्वप्नान्तिक शरीरके समान स्वप्नान्तिक घोडा, नाव, धन, कूप, नदी, भोजन, अलंकार, आदिक भोग्य पदार्थ भी मानने चाहिये। जैसे कि यह स्थूल शरीर खाटपर सो जाता है, कहीं बाहर नाव, घोडापर, चढ नहीं सकता है, खाता, पीता, चलता, फिरता नहीं है, हां, दूसरा स्वप्नान्तिक शरीर उक्त क्रियाओंको सुलभतासे कर लेता है, उसी प्रकार निकटवर्ती भोग्य पदार्थ तो यथास्थान रखे रहते हैं। स्वप्न अवस्थामें

न्यारे ही घोडे, भोजन, वस्त्र, स्त्री, धन, आदिक भोग्य पदार्थ गढ लेने चाहिये। इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि स्वप्नका ज्ञान करनेवाले जीवोंके पूर्वकालसे लगी आ रही भोग्यपदार्थोंकी वासना करके भोग्यपदार्थोंका प्रतिभास हो जाता है। मिथ्यावासना द्वारा अनेक झूंठे पदार्थोंका रोगी, उन्मत्त, मूर्छित, जीवोंके ज्ञान हो रहा देखा जाता है। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि तब तो शरीरकी भी केवल वासनासे ही शरीरका आभास हो जावो, वास्तवमें वहां कोई न्यारा शरीर नहीं है, जैसे कि भोग्य पदार्थ नदी, उपवन, पर्वत, मृतपिता, मित्र, आदिक कोई न्यारे वहां नहीं हैं। विचारा जाय तो किसी भयंकर पदार्थके स्वप्नमें दीख जानेपर इस स्थूलशरीरमें ही कम्प या हृदयमें धडकन हो रही प्रतीत होती है, युवा पुरुषोंको विशेष स्वप्न आनेपर इस स्थूल शरीरमें ही विकार हुआ करते हैं। यों मूर्छित, उन्मत्त, भ्रान्त, दशाओंमें अनेक प्रकारके विपरीत ज्ञान होते हैं। उनके लिये कहांतक झूंठे मूठे अप्रमाणिक शरीरोंकी कल्पना करोगे ?

यथैव हि स्वप्नदशायां भोगोपलब्धिः स्वप्नांतिकं शरीरमंतरेण न घटत इति मन्यते तथा भोग्यानर्थानंतरेणापि सा न सुघटेति भवद्भिर्मननीयं, जाग्रद्दशायां शरीर इव भोग्येष्वपि सत्सु भोगोपलब्धेः सिद्धत्वात्। यदि पुनर्भोग्यवासनाभावात्स्वप्नदर्शिनां भोग्याभास इति भवतां मतिस्तदा शरीरवासनामात्राच्छरीराभासनमिति किं न मतं ? तथा सति स्वप्नप्रतिभासस्य मिथ्यात्वं सिध्येत्, अन्यथा शरीरप्रतीतेरपि भोग्यप्रतीतेः सुखादिभोगोपलब्धेः स्वप्नत्वप्रसंगात्। ततो न सौगतानां स्वप्नांतिकं शरीरं कल्पयितुं युक्तं नापि स्वाभाविकमित्याह।

कारण कि जिस ही प्रकार जीवका स्वप्न अवस्थामें भोग, उपभोगोंकी उपलब्धि करना स्वप्नान्तिक शरीरको माने विना घटित नहीं होता है, यों बौद्ध मान रहे हैं। तिसी प्रकार भोग्य अर्थोंके विना भी वह भोगोंकी उपलब्धि भी भले प्रकार घटित नहीं हो पाती है। इस कारण आप बौद्ध करके स्वप्नान्तिक भोग्य पदार्थ भी मानने चाहिये। क्योंकि जागृतदशामें जैसे शरीरके होनेपर ही भोगोंकी उपलब्धि होती है। अतः स्वप्नमें भी एक न्यारा शरीर मानना पडता है। उसी प्रकार जाग्रत दशामें भोग्य पदार्थोंके होनेपर ही भोगकी उपलब्धि होती है। इससे सिद्ध है कि स्वप्नमें विलक्षण प्रकारके भोग्य पदार्थ भी हैं। यदि बौद्धोंका यह मन्तव्य होय कि स्वप्नदर्शी पुरुषोंको पूर्वकालीन भोग्य पदार्थोंकी आत्मामें जम गयीं केवल वासनाओंसे ही भोग्योंका आभास हो जाता है, आचार्य कहते हैं कि यों आपका विचार होय तब तो शरीरकी केवल (कोरी) वासनासे स्वप्नमें शरीरका प्रतिभास हो जाता है, यह क्यों नहीं मान लिया जावे ? तैसा होनेपर ही स्वप्न प्रतिभासको मिथ्यापन सिद्ध हो सकेगा। अन्यथा यानी स्वप्नान्तिक भोग यदि मान लिये जायेंगे तो स्वप्न सच्चा बन बैठेगा अथवा शरीरकी प्रतीति हो जानेसे भोग्योंकी प्रतीति हो रही है, इस कारणके जाग्रत दशाके सुख आदि भोगोंकी उपलब्धिको स्वप्नपनेका प्रसङ्ग हो जावेगा। तिस कारण बौद्धोंको निराले स्वप्नान्तिक शरीरकी

कल्पना करना उचित नहीं है। साथमें स्वाभाविक शरीर कल्पना करना भी युक्त नहीं है। इसी बातको श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्तिक द्वारा कह रहे हैं।

स्वाभाविकं पुनर्गात्रं शुद्धं ज्ञानं वदंति ये।
कुतस्तेषां विभागः स्यात्तच्छरीरशरीरिणोः ॥ ७ ॥

जो बौद्ध विद्वान् फिर जीवके शुद्ध ज्ञानको स्वाभाविक शरीर कह रहे हैं, उन बौद्धोंके यहां शरीर और शरीरवाले जीवका विभाग भला कैसे होगा ? बताओ। अर्थात्---ज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध यदि ज्ञानको ही शरीर कह देंगे तो फिर शरीरधारी आत्मा उनके यहां क्या माना जायगा ? बौद्ध ज्ञानवान् आत्माको स्वतन्त्रतत्त्व मानते नहीं हैं।

तदेव ज्ञानमशरीरिव्यावृत्त्या शरीरी स्यादशरीरव्यावृत्त्या शरीरमिति सुगतस्य शुद्धज्ञानात्मनः शरीरत्वं, शरीरित्वं च विभागेन व्यवतिष्ठते कल्पनासामर्थ्यादिति न मंतव्यं, तद्व्यावृत्तेरेव तत्रासंभवात्। सिद्धे हि तस्य शरीरत्वे वा शरीरिणः शरीराच्च व्यावृत्तिः सिध्येत् तत्सिद्धौ च शरीरित्वमशरीरित्वं चेति परस्पराश्रयान्नैकस्यापि सिद्धिः। ततो न स्वाभाविकं शरीरं नाम।

बौद्ध जनोंका यह मन्तव्य है कि ज्ञान पदार्थ तो उपाख्याओंसे रहित है, उसमें कोई वस्तुभूत पदार्थ नहीं ठहरता है। घटत्व, पटत्व, कोई पदार्थ नहीं है। अघटपनकी व्यावृत्ति ही घटत्व है, और अपटपनकी व्यावृत्ति पटत्व है, पटत्व कोई सदृश परिणाम या जाति अथवा सखण्डोपाधि धर्म नहीं है। इसी प्रकार बुद्ध भगवान्के शरीर और शरीरीपन कोई धर्म नहीं है। ज्ञानाद्वैतवादियोंके यहां वह ज्ञान ही शरीररहितपनेकी व्यावृत्ति करके शरीरी कहा जाता है और शरीररहितपनकी व्यावृत्ति करके वह ज्ञान ही शरीर कह दिया जाता है। इस प्रकार शुद्ध ज्ञानस्वरूप बुद्ध भगवान्के शरीरपन और शरीरीपन ये दो धर्म विभाग करके व्यवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं। अन्यापोह या अतद्व्यावृत्तिकी कल्पनाकी सामर्थ्यसे वस्तुभूत नहीं होते हुये धर्म भी ज्ञानमें गढ लिये जाते हैं। जगत्में भी यही व्यवस्था करनी पडेगी कि धनवान्का अर्थ " दरिद्र नहीं " इतना ही है। पण्डितका अर्थ " मूर्ख नहीं " एतन्मात्र है। पूर्ण धनवान् होना या पूर्ण पण्डित होना तो बहुत बडी बात है। सुंदर बलवान, कुलीन, पुष्ट, व्याख्याता, स्वादु भोजन, आदि प्रशंसनीय पदार्थोंका अर्थ केवल अन्यापोह मात्र है। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो बौद्धोंको नहीं मानना चाहिये। क्योंकि उसका स्वभाव माने विना उससे भिन्नकी व्यावृत्ति हो जानेका ही उसमें असम्भव है। कारण कि उस ज्ञानको शरीरीपना यदि गांठका सिद्ध होता तब तो शरीरीकी शरीरसे व्यावृत्ति सिद्ध हो जाती और उस व्यावृत्तिके सिद्ध हो जानेपर शरीरीपन और अशरीरीपन सिद्ध होते। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष हो जानेसे एककी भी सिद्धि नहीं

हो सकती है । अर्थात्—अग्नि गांठकी उष्ण है तब तो अनुष्ण जल आदि पदार्थोंसे उसकी व्यावृत्ति हो सकती है । किन्तु जो निजस्वरूपसे उष्ण पदार्थ नहीं है उसकी अनुष्णव्यावृत्ति असंभव है । अन्यथा जलके भी अनुष्णव्यावृत्ति बन बैठेगी । दूसरी बात यह है कि ज्ञान आत्मक बुद्धको शरीरीपना वस्तुभूत सिद्ध हो जाय, तब तो शरीरीसे भिन्न शरीर आदिसे उसकी व्यावृत्ति सधपाये और व्यावृत्ति सध चुकनेपर शरीरीपन (कल्पित) और अशरीरीपन सधसके । तीसरी बात यह भी है कि चालिनी न्यायसे बुद्धमें किसी भी व्यावृत्तिकी कल्पना नहीं हो सकती है । क्योंकि शरीरत्व सिद्ध करते समय शरीरसे भिन्न शरीरीपन या अशरीरीपन भी व्यावृत्त हो जायगा । बुद्धमें इनकी भी व्यावृत्ति हो जावेगी तथा शरीरीपनको साधने समय शरीरित्वसे भिन्न शरीरत्वकी भी व्यावृत्ति बुद्धमें घुस जावेगी । तिस कारण उक्त पांच शरीरोंसे न्यारा कोई स्वाभाविक शरीर नाममात्रको भी नहीं है ।

यत्पुनरातिवाहिकं नैर्माणिकं च तदस्मदभिमतमेवेत्याह ।

जो भी फिर किसीने आतिवाहिक और नैर्माणिक ये दो शरीर माने हैं, वे तो हमको अभीष्ट ही हैं, इसी बातको ग्रन्थकार स्पष्ट कहते हैं ।

कार्मणांतर्गतं युक्तं शरीरं चातिवाहिकं ।
नैर्माणिकं तु यत्तेषां तन्नो वैक्रियिकं मतं ॥ ८ ॥

दोनोंमें पहिला आतिवाहिक शरीर तो कार्मण शरीरमें अन्तर्भूत हो जाता है । अतः भले ही आतिवाहिक शरीर मान लो उचित ही है और जो उनके यहां नैर्माणिक शरीर माना गया है वह तो हम जैनोंके यहां वैक्रियिक शरीर माना जा चुका है । अर्थात्—यहां वहां अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करानेवाला आतिवाहिक शरीर कार्मण शरीर ही तो है तथा स्वल्प कालमें अधिक भोगोंको भोगनेके लिये रचे गये नैर्माणिक शरीर वैक्रियिक शरीर ही समझे जाते हैं । अतः जैनसिद्धांतसे कोई विरोध नहीं आता है ।

सांभोगिकं पुनरौदारिकादिशरीरत्रयमप्रतिषिद्धमेवेति न शरीरांतरमस्ति ।

जिनका प्रयोजन सम्भोग करना है ऐसे साम्भोगिक शरीर तो फिर औदारिक, वैक्रियिक, आहारक ये तीन शरीर जैनोंके यहां माने ही गये हैं । अतः साम्भोगिक शरीरका हम निषेध नहीं करते हैं । किन्तु वह माने गये पांच शरीरोंसे कोई न्यारा शरीर नहीं है ।

नन्वौदारिकाद्यानि भिन्नानि पार्थिवादिशरीराणि संति ततोन्यथोपसंख्यातव्यानीति केचित् तान् प्रत्याह ।

यहां वैशेषिक अपने मतका अवधारण करते हैं कि जो औदारिक शरीरसे भिन्न हो रहे पृथिवीनिर्मित शरीर या जलनिर्मित शरीर अथवा तैजस और वायवीय शरीर हैं उनको उस औदारिकसे न्यारा

कथन करना चाहिये। यदि सूत्रकारकी त्रुटि हो गयी है तो वार्तिककारको उपसंख्यान द्वारा वह त्रुटि पूरी कर देनी चाहिये, यहांतक कोई कह रहे हैं, उनके प्रति श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा समाधान वचन कहते हैं।

पार्थिवादिशरीराणि येऽन्यो भिन्नानि मेनिरे।
प्रतीतेरपलापेन मन्यतां ते खवारिजम् ॥ १ ॥

जो वैशेषिक पण्डित इस औदारिक शरीरसे भिन्न पार्थिव शरीर, जलीय शरीर आदिको मान बैठे हैं, प्रतीतिका अपलाप करके चाहे जिस अन्ट, सन्ट, पदार्थको मान लेनेवाले वे वैशेषिक यों आकाशकमलको भी मान लेवें, इसमें क्या आश्चर्य है।

न हि पृथिव्यादीनि द्रव्याणि भिन्नजातीयानि संति तेषां पुद्गलपर्यायत्वेन प्रतीतेः परस्परपरिणामदर्शनाद्भिन्नजातीयत्वे तदयोगात्। न ह्याकाशं पृथिवीरूपतया परिणमते कालादिर्वा। परिणमते च जलं मुक्ताफलादि पृथिवीरूपतया। ततो न तज्जात्यंतरं युक्तं येन पार्थिवादिशरीराणि संभाव्यंते।

पृथिवी, जल, आदिक द्रव्य कोई भिन्न जातिवाले न्यारे न्यारे तत्त्व नहीं हैं। क्योंकि उन पृथिवी, जल, आदिकोंकी पुद्गलके पर्यायपने करके प्रतीति हो रही है, परस्परमें एक दूसरेकी पर्याय हो जाना देखा जाता है। यदि पृथिवी, जल, आदिक द्रव्योंको भिन्न भिन्न जातिवाला तत्त्वान्तर माना जावेगा तो उस परस्पर परिणाम होनेका योग नहीं बन सकेगा। तुम वैशेषिकोंके यहां भी पृथिवी स्वरूप करके आकाश द्रव्य नहीं परिणमता है अथवा काल, आत्मा, आदिक द्रव्य भी पृथिवी या जल नहीं बन जाते हैं। अतः ये भिन्न जातिवाले द्रव्यान्तर हैं। किन्तु सीपके मुखमें पडा हुआ जल कुछ कालमें मोती हो जाता है, मेघजल ही अनेक वनस्पतियां बन जाता है, जलके लकडी, पाषाण आदि परिणाम हो जाते हैं, जो कि कठिन होनेसे आपके मतमें पृथिवी पदार्थ माने गये हैं। आकाशमें, विशेष वायुयें जल होकर बरस जाती हैं। अग्निकी भस्म पृथिवी हो जाती है। कपडा, लकडी, आदिक पार्थिव पदार्थ जलकर अग्नि होजाते हैं। दीपकसे काजल बन जाता है। इस ढंगसे परस्परमें पृथिवी, जल, तेज, वायुओंका परिणामपरिणामी भाव देखा जाता है। तिस कारणसे उन पृथिवी, जल आदिकोंको न्यारी न्यारी जातिवाला कहना उचित नहीं है, जिससे कि पार्थिव शरीर या जलीय शरीर, आदिक न्यारे शरीरोंके सद्भावकी संभावना की जा सके।

संत्यपि तानि नैतेभ्यः शरीरेभ्यो भिन्नानि प्रतीतेर्विषयभावमनुभवंति व्योमारविंदवत्। पार्थिवं हि शरीरं यदिंद्रलोके यच्च तैजसमादित्यलोके यदाप्यं वरुणलोके यच्च वायव्यं वायुलोके वेदितव्यं, तद्वैक्रियिकमेव देवनारकाणामौपपादिकस्य शरीरस्य वैक्रियिकत्वात्। यच्च चातुर्भू-

तिकं पांचभौतिकं वा कैश्चिदिष्टं शरीरं मनुष्यातिरश्चां तदौदारिकमेव च, न ततोन्यदिति पंचैव यथोक्तानि शरीराणि व्यवतिष्ठंते सर्वविशेषाणां तत्रांतर्भावात् ।

और ये पार्थिव, जलीय, आदि शरीर विद्यमान हैं तो भी वे इन पांच शरीरोंसे भिन्न होते हुये प्रतीतिके विषयपनको नहीं अनुभव कर रहे हैं। जैसे कि आकाशपर लगा हुआ कमल कोई सद्भूत प्रमेय नहीं है। उसी प्रकार इन औदारिकादि शरीरोंसे भिन्न कोई पृथिवी तत्त्व निर्मित या जलतत्त्व निर्मित अथवा अकेले तेजो द्रव्यसे निर्मित तथा कोरी वायुसे बने हुये शरीर नहीं जाने जा रहे हैं। तुम वैशेषिकोंने पृथिवीका बना हुआ जो शरीर इन्द्रलोकमें प्रसिद्ध माना है तथा जो सूर्यलोकमें तैजस शरीर कहा है और जो वरुण लोकमें जलनिर्मित शरीर माना गया है एवं वायुलोकमें जीवोंका शरीर जो वायुनिर्मित स्वीकार किया गया है वे तो सब शरीर वैक्रियिक ही हैं। देव और नारकियोंके उपपाद जन्मसे निपजे हुये शरीर वैक्रियिक हुआ करते हैं। हां, जरायुज, मनुष्य, गाय, भैंस, आदिक और अण्डज पक्षी सर्प आदिकोंका योनिज शरीर तथा गिडार, डांस, वृक्ष आदिकोंका अयोनिज शरीर जो पार्थिव माना गया है वह तो औदारिक ही है। जलकायके जीवोंका शरीर हो रहा सचित्त जल भी औदारिक शरीर है। इसी प्रकार अग्निकायिक जीव और वायुकायिक जीवोंका सचित्त शरीर भी अग्नि और वायुस्वरूप होता हुआ औदारिक शरीर है। जो भी वैशेषिक यों मान बैठे हैं कि मनुष्य और तिर्यचोंका शरीर तो पृथिवी, जल, तेज, वायु, इन चार भूतोंका बना हुआ है अथवा इन चारमें आकाशको मिलाकर पांच भूतोंसे बन रहा माना है। अर्थात्–मनुष्य और घोडा, हाथी, तोता, मैना, सांप, आदिके शरीरोंमें कठिन भाग पृथिवीका है, द्रव भाग जलका है, उदराग्नि या उष्णता तो अग्निका भाग है, उक्त शरीरोंमें वायु भी है, इस कारण चारों धातुओंसे ये शरीर बने हुये हैं। उक्त शरीरोंमें भीतर पोल भी है वह आकाशका भाग है, यों पांच भूतोंसे बने हुये ये शरीर किन्हीं वादियों करके इष्ट किये गये हैं। आचार्य कहते हैं कि वह मनुष्य या तिर्यचोंका शरीर तो हमारे यहां औदारिक शरीर ही माना गया है। उनसे न्यारा कोई शरीर नहीं है। इस कारण आम्नाय अनुसार सूत्रकार द्वारा कहे गये शरीर पांच ही व्यवस्थित हो रहे हैं। शरीरके अन्य सभी भेद प्रभेदोंका उन पांचमें ही अन्तर्भाव हो जाता है।

ननु चामूर्तस्यात्मनः कथं मूर्तिमद्भिः शरीरैस्संबंधो मुक्तात्मवदित्याशंकामपनुदन्नाह ।

यहां किसीकी शंका है कि मुक्त आत्माके समान अमूर्त हो रहे आत्माका भला मूर्तिवाले शरीरोंके साथ कैसे सम्बन्ध हो जाता है? अन्यथा मुक्त परमात्माके भी शरीरके साथ सम्बन्ध बन बैठेगा। इस प्रकारकी आशंकाका निराकरण कर रहे श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको कह रहे हैं।

अनादिसंबंधे च ॥ ४१ ॥

वे तैजस और कार्मण शरीर दोनों आत्माके साथ अनादि कालसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं। अर्थात्–मोक्ष होनेके पूर्व कालोंमें अनादि कालसे यह जीव प्रवाह रूप करके कर्मोंके साथ बंधा रहनेके

कारण मूर्त है। संसारी जीव विचारा मुक्तात्मा या आकाशके समान अमूर्त नहीं है। अतः मूर्तजीवका ही मूर्त शरीरोंके साथ सम्बन्ध हो जाता है। अमूर्तका मूर्तद्रव्यके साथ बंध नहीं हो सकता है।

अनादिः संबंधो ययोरात्मना ते यथा तैजसकार्मणशरीरे, च शद्धात्सादिसंबंधे ते प्रतिपत्तव्ये। ततो नैकांतेनामूर्तत्वमात्मनः परशरीरसंबंधात्पूर्वं येन तदनुपपत्तिः तत्संबंधात् प्रागपि तस्य तैजसकार्मणाभ्यां संबंधसद्भावात्। ततः पूर्वमपि पराभ्यां ताभ्यामित्यनादितत्संबंधसंतानः प्रतिविशिष्टतैजसकार्मणसंबंधात् सैव सादिता।

जिन तैजस और कार्मणका आत्माके साथ सम्बन्ध अनादिकालसे चला आता है, वे तैजस और कार्मण शरीर यथायोग्य अनादि सम्बन्धवाले कहे जाते हैं। सूत्रमें समुच्चयवाचक च शब्द भी पड़ा हुआ है। इस कारण वे तैजस और कार्मण शरीर सादि सम्बन्धवाले भी समझ लेने चाहिये। अर्थात्—तैजस शरीर छ्यासठ सागरसे अधिक नहीं ठहरता है। कोई भी वर्तमानका कार्मण शरीर सत्तर कोटाकोटी सागरसे अधिक नहीं ठहर सकता है। किन्तु कार्यकारणभावकी सन्तानसे उनका प्रवाह अनादिकालसे चला आ रहा है। तभी तो विशेष विशेष तैजस शरीर या कार्मण शरीरकी अपेक्षासे वे सादि सम्बन्धवाले भी हैं। जैसे कि बीज और वृक्षकी सन्तान अनादि है, किन्तु विशेष बीज या कोई एक पकड़ लिया गया वृक्ष तो सादिकालका है। तिस कारणसे दूसरे शरीरोंके सम्बन्धसे पहिले आत्माको एकान्तरूपसे अमूर्तपना नहीं है। जिससे कि उस शरीरके सम्बन्धकी असिद्धि हो जाय। जिस समय तैजस और कार्मण शरीरोंका वर्तमानमें सम्बन्ध हो रहा है, उस सम्बन्धसे पहिले भी उस आत्माका पूर्ववर्ती तैजस और कार्मण शरीरोंके साथ सम्बन्धका सद्भाव था। और उससे भी पहिले तीसरे उन तैजस कार्मण शरीरोंके साथ आत्माका सम्बन्ध था। इसी प्रकार अनादिकालके जीवकी अनादिकालसे उन तैजस, कार्मण, शरीरोंके सम्बन्धकी सन्तान बन रही है। हां, प्रत्येक विशिष्ट विशिष्ट असाधारण किसी तैजस या कार्मणका सम्बन्ध हो जानेसे वही सादिपना उनका व्यवस्थित है।

ननु कस्यचिन्नानादिसंबंधे तेऽतः परशरीरसंबंधानुपपत्तिरित्याशंकायामिदमाह।

यहां कोई शंका करता है कि सम्भवतः किसी किसी जीवके वे तैजस, कार्मण, शरीर तो अनादि सम्बन्धवाले नहीं हैं। अतः जिस आत्माके तैजस या कार्मणका सादि सम्बन्ध हुआ है, उस अमूर्त आत्माके इस कारण दूसरे औदारिक आदिक मूर्त शरीरोंके सम्बन्ध होनेकी असिद्धि हो जावेगी। इस प्रकार आशंका होनेपर श्री उमास्वामी इस अगले सूत्रको कह रहे हैं।

सर्वस्य ॥ ४२ ॥

सम्पूर्ण संसारी जीवोंके ये दोनों ही शरीर होते हैं। अर्थात्—कोई भी संसारी जीव ऐसा नहीं है जिसे कि वे तैजस कार्मण शरीर प्रवाह रूप करके अनादि कालसे लगे हुये नहीं होंय। सभी संसारी जीव कर्मोंसे बंध रहे हैं।

सर्वस्य संसारिणस्तैजसकार्मणशरीरे तथानादिसंबंधे न पुनः कस्यचित्सादिसंबंधे येनात्मनः शरीरसंबंधानुपपत्तिः । कुतः इत्याह ।

सम्पूर्ण संसारी जीवोंके वे तैजस कार्मण शरीर तिस प्रकार धारारूपसे अनादि सम्बन्धवाले हैं । किन्तु फिर किसी भी एक जीवके वे मूलरूपसे सादि सम्बन्धवाले नहीं हैं, जिससे कि आत्माके साथ औदारिक आदि शरीरोंके सम्बन्ध हो जानेकी असिद्धि हो जाय । कोई यहां आक्षेप करता है कि किस प्रमाणसे आपने यह जाना कि वे दोनों शरीर सभी जीवोंके अनादि सम्बन्धवाले हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अगली वार्तिकमें यों समाधान वचन कहते हैं ।

सर्वस्यानादिसंबंधे चोक्ते तैजसकार्मणे ।
शरीरांतरसंबंधस्यान्यथानुपपत्तितः ॥ १ ॥

सभी जीवोंके वे तैजस और कार्मण शरीर (पक्ष) अनादि कालसे सम्बन्ध रखनेवाले कहे जा चुके हैं (साध्य) अन्य शरीरोंके सम्बन्ध होनेकी अन्यथा अनुपपत्ति होनेसे (हेतु) अर्थात्— मूर्त पदार्थका ही दूसरे मूर्त पदार्थके साथ सम्बन्ध हो सकता है । अमूर्त आकाशमें तलवार या विष अपना प्रभाव नहीं जमा सकते हैं । परतंत्र हो रहा यह आत्मा विजातीय पदार्थके साथ तभी बंध सकता है जब कि पहिलेसे अनादि कालीन कर्मोंके साथ बंध रहा मूर्त होय, अन्यथा नहीं । एतावता जीवके साथ उन दो शरीरोंका अनादिसम्बन्ध सिद्ध हो जाता है ।

तैजसकार्मणाभ्यामन्यच्छरीरमौदारिकादि तत्संबंधोस्मदादीनां तावत्सुप्रसिद्ध एव स च तैजसकार्मणाभ्यां संबंधोनादिसंबंधमंतरेण नोपपद्यते मुक्तस्यापि तत्संबंधप्रयोगात् ।

तैजस और कार्मण शरीरोंसे न्यारे शरीर औदारिक आदिक हैं । उन औदारिक आदिकोंका सम्बन्ध तो हम आदि संसारी जीवके भले प्रकार प्रसिद्ध ही है और यह तैजस और कार्मणके साथ हो रहा सम्बन्ध माने विना नहीं बन सकता है । अन्यथा मुक्तजीवके भी उन शरीरोंके साथ सम्बन्ध होनेका प्रयोग होने लग जावेगा, जो कि किसीने नहीं माना है । अतः तैजस और कार्मणका जीवके साथ अनादिकालीन सम्बन्ध मानना चाहिये । तभी जीवका औदारिक आदि शरीरोंके साथ सम्बन्ध होना बन सकेगा जो कि प्रायः सभी जीवोंके प्रत्यक्षगोचर है ।

अथैतानि शरीराणि युगपदेकस्मिन्नात्मनि कियंति संभाव्यंत इत्याह ।

यहां श्री उमास्वामी महाराजके प्रति किसीका प्रश्न है कि ये शरीर एक आत्मामें एक समयमें अधिकसे अधिक कितने हो रहे सम्भव जाते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको स्पष्टकर कह रहे हैं ।

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ४३ ॥

उन तैजस और कार्मणशरीरको आदि लेकर विकल्प प्राप्त किये जा रहे ये शरीर एक कालमें एक आत्मामें चारतक हो सकते हैं।

तद्ग्रहणं प्रकृतशरीरद्वयप्रतिनिर्देशार्थमादिशब्देन व्यवस्थावाचिनान्यपदार्था वृत्तिः, तेन तैजसकार्मणे आदिर्येषां शरीराणां तानि तदादीनीति संप्रतीयन्ते। भाज्यानि पृथक्कर्तव्यानि। पृथक्त्वादेव तेषां भाज्यग्रहणमनर्थकमिति चेन्न, तस्यैकस्यचिद्द्वित्रिचतुःशरीरसंबंधविभागोपपत्तेः। युगपदिति कालैकत्वे वर्तते, आङभिविध्यर्थः। तेनैतदुक्तं भवति कचिदात्मनि विग्रहगत्यापन्ने द्वे एव तैजसकार्मणे शरीरे युगपत्संभवतः, कचित् त्रीणि तैजसकार्मणवैक्रियिकाणि, तैजसकार्मणौदारिकाणि वा कचिच्चत्वारि तान्येवाहारकसहितानि वैक्रियिकसहितानि वा।

प्रकरण प्राप्त तैजस और कार्मण इन दोनों शरीरोंका प्रतिनिर्देश (परामर्श) करनेके लिये इस सूत्रमें तत् शब्दका ग्रहण किया है। सर्वज्ञकी आम्नाय धारासे चले आ रहे आगमके अनुसार व्यवस्थाको कहनेवाले आदि शब्दके साथ तत् शब्दकी अन्य पदार्थको प्रधान रखनेवाली बहुव्रीहि समास वृत्ति कर ली जाती है। तिस कारण पूर्वसूत्रोंमें व्यवस्थाको प्राप्त हो रहे शरीरोंकी आनुपूर्वी अनुसार जिन शरीरोंकी आदिमें तैजस और कार्मण शरीर हैं, वे तदादीनि इस पदके द्वारा भले प्रकार प्रतीत कर लिये जाते हैं। अवयवके साथ विग्रह है और वृत्तिका अर्थ समुदाय है। अतः तैजस और कार्मण भी ले लिये जाते हैं। सूत्रमें पड़े हुये भाज्यानि इस शब्दका अर्थ "संभावना प्रयुक्त पृथक् पृथक् करने योग्य हैं" यह समझ लेना। यदि यहां कोई यों शंका करे कि ये शरीर परस्पर में और जीवसे पृथक्भूत हैं ही, क्योंकि जीव उपयोगमय न्यारा है और वर्ण, गंध, स्पर्श, रस, वाले शरीर न्यारे हैं, अतः सूत्रमें भाज्यका ग्रहण करना व्यर्थ है। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि वह शंकाकारका वचन ठीक नहीं है। क्योंकि किसी किसी एक आत्माके दो, तीन, अथवा चार शरीरोंके साथ सम्बन्ध हो जानेका विभाग बन रहा है। यह भाज्य शब्दका तात्पर्य है। इस सूत्रमें पड़े हुये "युगपत्" इस शब्दका अर्थ कालके एकपनेमें प्रवर्तता है। आङ्का अर्थ अभिविधि है, जिससे कि चार संख्यावाले शरीर भी ग्रहण कर लिये जाते हैं। आङ्का अर्थ मर्यादा करनेपर चार शरीरका सम्बन्ध छूट जाता। तिस कारण सूत्रका समुदित वाक्य बनाकर यह कह दिया जाता है कि मरकर विग्रह गतिको प्राप्त हो रहे किसी एक आत्मामें तैजस और कार्मण ये दो ही शरीर एक कालमें संभवते हैं। हां, जन्म ले चुकनेपर किसी देव या नारकी जीवके तैजस, कार्मण, और वैक्रियिक ये तीन शरीर पाये जाते हैं अथवा कहीं मनुष्य या तिर्यचके तैजस, कार्मण, और औदारिक ये तीन शरीर संभव जाते हैं। कहीं छठे गुणस्थानवर्ती मुनिके ये ही तीनों शरीर आहारकसे सहित होते हुये चार पाये जाते हैं अथवा वे तैजस, कार्मण, और औदारिक यदि वैक्रियिक शरीरसे सहित हो जांय तो भी एक समयमें एक साथ चार शरीर संभव जाते हैं। यद्यपि वैक्रियिकयोग द्वारा ग्रहण की गई आहारवर्ग-

णासे स्वकीय पुरुषार्थ द्वारा देव नारकियों करके बना लिया गया वैक्रियिक शरीर ही यथार्थ रूपसे वैक्रियिक शरीर है, फिर भी " वादरतेऊवाऊपंचिंदियपुण्णगा विगुव्वंति, ओरालियं सरीरं विगुव्वणप्पं हवे जेसिं " इस गाथा अनुसार कतिपय तैजस कायिक, वायुकायिक या कोई कोई पंचेन्द्रिय तिर्यंच अथवा भोगभूमियां, चक्रवर्ती आदि मनुष्योंके जो पृथक् या अपृथक् विक्रियात्मक शरीर हैं वे भी वैक्रियिक शरीर माने जाते हैं। अतः तैजस, कार्मणसे युक्त हो रहे औदारिकके साथ वैक्रियिक शरीरके संभव जानेसे एक जीवके ये चार शरीर भी युगपत् सम्बद्ध हो रहे पाये जाते हैं।

पंच त्वेकत्र युगपन्न संभवंतीत्याह ।

पांचों शरीर तो एक जीवमें एक समय (एकदम) में नहीं संभवते हैं, इस बातको श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्तिक द्वारा कह रहे हैं।

तदादीनि शरीराणि भाज्यान्येकत्र देहिनि । सकृत्संत्याचतुर्भ्यो न पंचानां तत्र संभवः ॥ १ ॥

शरीरधारी एक आत्मामें एक समयमें विकल्प प्राप्त हो रहे उन तैजस, कार्मण दो शरीरोंको आदि लेकर चार शरीरोंतक पाये जाते हैं। उस आत्मामें पांचों शरीरोंके होनेकी एक बारमें संभावना नहीं है। क्योंकि " वेगुव्वियआहारयकिरिया ण समं पमत्तविरदम्हि " छटे गुणस्थानवर्ती मुनिके आहारक शरीरका सद्भाव हो जानेपर उसी समय वैक्रियिक शरीर नहीं उपज सकता है। वैक्रियिक और आहारकका विरोध है।

न हि वैक्रियिकाहारकयोर्युगपत्संभवो यतः क्वचित्पंचापि स्युः ।

सहानवस्थान नामक विरोध होनेसे वैक्रियिक और आहारकका युगपत् सद्भाव नहीं पाया जाता है। जिससे कि किसी किसी आत्मामें पांचों भी शरीर सम्भव जाते। अर्थात्—तैजस और कार्मणका सदा सहचरभाव होनेसे एक आत्मामें एक समय केवल एक शरीर भी नहीं सम्भवता है, जैसा कि ज्ञानोंमें अकेला केवलज्ञान संभव गया था। तथा वैक्रियिक और आहारक ऋद्धिका विरोध पड रहा होनेसे पांचशरीर भी एक साथ नहीं पाये जाते हैं।

किं पुनरत्र शरीरं निरुपभोगं किं वा सोपभोगमित्याह ।

कोई प्रश्न उठाता है कि इन पांचों शरीरोंमें फिर कौनसा शरीर उपभोगरहित है ? अथवा कौनसा शरीर उपभोगसहित है ? अर्थात्—पंचेन्द्रिय जीव अपने औदारिक शरीरके रूप, स्पर्श, ताडन, अभिघात, आदिकी जैसे इन्द्रियों द्वारा उपलब्धि कर लेता है, वैसे पौद्गलिक पांचों शरीरोंके रूप, रस, या उन शरीरोंके अवयवोंका संयोग अथवा विभाग हो जानेपर उपजे हुये शब्दका इन्द्रियों

द्वारा ज्ञान क्या हो जाता है ? अथवा क्या किसी किसी शरीरके पौद्गलिक भावोंका इन्द्रियोंसे उपलम्भ नहीं भी हो पाता है ? बताओ । इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

निरुपभोगमंत्यम् ॥ ४४ ॥

शरीरोंको गिनानेवाली सूत्रकथनीके अनुसार अन्तमें प्रयुक्त किया गया कार्मण शरीर तो अन्त्य है । इन्द्रियों द्वारा उसके शब्द, रूप, रस, आदिकी उपलब्धि नहीं हो सकनेसे कार्मण शरीर उपभोगरहित है ।

मार्गापेक्षया अंत्यं कार्मणं तन्निरुपभोगमिति । सामर्थ्यादन्यत्सोपभोगं गम्यते । कर्मादानसुखानुभवनहेतुत्वात्सोपभोगं कार्मणमिति चेन्न, विवक्षितापरिज्ञानात् । इंद्रियनिमित्ता हि शब्दाद्युपलब्धिरुपभोगस्तस्मान्निष्क्रांतं निरुपभोगमिति विवक्षितं ।

पूर्ववर्ती चारों शरीरोंकी अपेक्षा करके अन्तमें कहा गया पांचवां कार्मण शरीर अन्त्य है, वह इन्द्रियों द्वारा उपभोग करने योग्य नहीं है । अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी अथवा केवलज्ञानी महाराज यद्यपि कार्मण शरीरके रूप, रस, शब्द, आदिकोंका विशद प्रत्यक्ष कर लेते हैं, किन्तु वे भी बहिरंग इन्द्रियों द्वारा कार्मण शरीरके रूप रस आदिका सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष या मतिज्ञान नहीं कर पाते हैं । जैसे कि सर्वज्ञको परमाणुके रूप, रस, आदिका इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं हो पाता है, शृंगार रसमें डूब रहा पुरुष स्त्रीके औदारिक या वैक्रियिक शरीरमें पाये जा रहे गन्ध, स्पर्श, रूप, आदिका उपभोग कर सकता है, दिन रात भोगोंमें लीन हो रहा देवेंद्र भी देवियोंके कार्मण शरीरका इन्द्रियों द्वारा परिभोग नहीं कर सकता है । अतः अन्तका शरीर इन्द्रियों द्वारा उपभोग्य नहीं है । इस कार्मण शरीरके उपभोग होनेका निषेध कर देनेसे विना कहे ही शब्दसामर्थ्य द्वारा यह अर्थ जान लिया जाता है कि शेष अन्य शरीर तो इन्द्रियों द्वारा उपभोगसहित हो रहे हैं । यदि यहां कोई यों कहे कि कार्मण शरीरका अवलम्ब लेकर आत्मा अपने योगनामक प्रयत्न (पुरुषार्थ) करके कर्मोंका ग्रहण करता है । कार्मण शरीर द्वारा आत्मा सुखका अनुभव करता है । अतः कर्मग्रहण, सुखानुभव, शरीररचना, वचन बोलना आदिका हेतु होनेसे कार्मणशरीर भी उपभोग सहित है, जैसे कि भोग, उपभोग योग्य सामग्रीका साधन होनेसे रुपया उपभोगसहित माना जाता है । आचार्य कहते हैं यह तो नहीं कहना । क्योंकि प्रकरण अनुसार विवक्षा प्राप्त हो रहे उपभोगका शंकाकारको परिज्ञान नहीं है । कारण कि इन्द्रियोंको निमित्त कारण मान कर हुई शब्द, रूप, आदिकोंकी ज्ञप्ति हो जाना यहां उपभोग माना गया है । उस उपभोगसे जो बाहर निकाल दिया गया है, वह निरुपभोग है, यह अर्थ यहां विवक्षाप्राप्त है ।

तैजसमप्येवं निरुपभोगमस्त्विति चेन्न, तस्य योगनिमित्तत्वाभावादनधिकारात् । यदेव हि योगनिमित्तमौदारिकादि तदेव सोपभोगं प्रोच्यते निरुपभोगत्वादेव च कार्मणमौदारिकादिभ्यो भिन्नं निश्चीयत इत्याह ।

यहां किसीका प्रश्न है कि बहिरंग इन्द्रियोंद्वारा जिसके शब्द, रूप, आदिको नहीं जाना जा सके, वह शरीर यदि निरुपभोग है, तब तो इस प्रकार तैजसशरीर भी उपभोगरहित होजाओ। ऋद्धिधारी मुनि या सर्वावधिज्ञानी अथवा देवेंद्र, अहमिन्द्रोंतकको इन्द्रियोंद्वारा तैजसशरीरके रूप, रस, आदिकी ज्ञप्ति नहीं हो पाती है। आचार्य कहते हैं यह तो नहीं कहना। क्योंकि योगका निमित्तकारण नहीं होनेसे उस तैजसशरीरका यहां प्रकरणमें अधिकार नहीं है। जब कि जो ही आत्मप्रदेशपरिस्पन्दस्वरूप योगके निमित्तकारण हो रहे औदारिक वैक्रियिक आदिक शरीर हैं, वे ही उपभोगसहित भले प्रकार कहे जा रहे हैं। निरुपभोग होनेसे ही कार्मण शरीर इन औदारिक आदिकोंसे भिन्न हो रहा निश्चय किया जा रहा है। भावार्थ —सात प्रकारके काययोगोंके निमित्त कारण औदारिक, वैक्रियिक, आहारक और कार्मण ये चार शरीर हैं। औदारिक काययोग, औदारिक मिश्रकाययोग, वैक्रियिक काययोग, वैक्रियिक मिश्रकाययोग, आहारक काययोग, आहारक मिश्रकाययोग, कार्मण काययोग, अथवा सत्य, असत्य, उभय, अनुभय, मनोयोग या वचनयोग इन पन्द्रह योगोंमेंसे यथायोग्य जिस समय कोईसा भी एक योग होगा, उसी योग करके आहार वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मणवर्गणाके समान तैजस वर्गणा भी इनके साथ घिसटती हुई चली आती है। जब कि वचनयोगसे आहारवर्गणा, मनोवर्गणा, कार्मणवर्गणा, खिंच आती हैं। अथवा विग्रह गतिके कार्मणयोगसे सूक्ष्म स्थूल शरीर भाषा और मनके उपयोगी वर्गणाओंका आकर्षण हो रहा है, ऐसी दशामें तैजस योगको माने विना भी तैजस वर्गणाका आकर्षण हो सकता है। बात यह है कि तैजसवर्गणा आत्माके प्रदेश परिस्पन्दका अवलम्ब नहीं है। भिन्न भिन्न पदार्थोंमें न्यारी न्यारी जातिकी शक्तियां हैं। जाडेके दिनोंमें शीतजल दांतों या शरीरको कंपा देता है, अग्नि या उष्णजल नहीं कंपा पाता है, आत्मप्रदेश परिस्पन्द स्वरूप द्रव्ययोगका अन्तरंग कारण भावयोग है। " पुग्गलविवाइ देहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स, जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो "। जो कि पहिले गुणस्थानसे लेकर तेरहवें तक पाया जा रहा आत्माका पुरुषार्थ विशेष है। जैसे लोटाका जल, घडेका जल, यों उसी जलके आश्रय भेदसे कई भेद कर दिये जाते हैं, उसी प्रकार संचित मन, वचन, काय, या ग्रहण करने योग्य वर्गणाओंका अवलम्ब हो जानेसे योगके पन्द्रह भेद कर दिये गये हैं तैजस शरीरके निमित्तसे आत्मामें कंप नहीं होने पाता है हम क्या करें ?। अतः योगके निमित्त हो रहे शरीरोंके उपभोगसहितपन और उपभोगरहितपनका यहां निर्णय किया गया है। औदारिक शरीरोंके हाथोंकी ताली बजानेपर हुये शब्दकी या औदारिकके रूप, गंध, आदिकी इन्द्रियों द्वारा उपलब्धि हो रही है। वैक्रियिक शरीरके रूप आदिकोंका देव और नारकियोंको प्रत्यक्ष हो रहा

है। यदि देव दिखाना चाहें तो उनके शरीरके रूपको मनुष्य भी नेत्र द्वारा देख लेते हैं। नाकसे गंधको सूंघ लेते हैं। हस्तप्रमाण धौला आहारक शरीर भी अतीन्द्रिय नहीं है। हां, तैजस और कार्मण अतीन्द्रिय हैं। इन्द्रियों द्वारा उनका उपभोग नहीं किया जा सकता है। इसी बातको ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द आचार्य महाराज अग्रिम वार्तिक द्वारा स्पष्ट कहते हैं।

अंत्यं निरुपभोगत्वाच्छेषेभ्यो भिद्यते वपुः।
शब्दाद्यनुभवो ह्यस्मादुपभोगो न जायते ॥ १ ॥

अन्तमें होनेवाला कार्मण शरीर तो उपभोगरहित होनेसे योगनिमित्त हुये अवशिष्ट शरीरोंसे भिन्न होजाता है। कारण कि इस कार्मणशरीरसे शब्द, रूप आदिका अनुभव होजाना रूप उपभोग नहीं उत्पन्न हो पाता है।

औदारिकं किंविशिष्टमित्याह।

कोई पूंछता है कि किन विशेषणोंसे युक्त हो रहा औदारिक शरीर है ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्रको कह रहे हैं।

गर्भसंमूर्छनजमाद्यम् ॥ ४५ ॥

मनुष्य या तिर्यंचोंके गर्भ और संमूर्छन जन्मसे उत्पन्न हुये शरीर तो आदिके औदारिक शरीर माने जाते हैं।

गर्भसंमूर्छनजं पाठापेक्षयाद्यमौदारिकं तद्गर्भजं संमूर्छनजं च प्रतिपत्तव्यं। तत एव सोपभोगाभ्यामपि पराभ्यां शरीराभ्यां तद्भिद्यते इत्याह।

गर्भजन्य और संमूर्छनजन्यका अर्थ यह है कि " औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि " इस सूत्र पाठकी अपेक्षा करके आदिमें उपात्त किया गया औदारिक शरीर है वह गर्भजन्मा जीवोंके और संमूर्छन जन्मवाले जीवोंके सम्भवरहा समझ लेना चाहिये। तिस ही कारणसे उपभोगसहित होरहे परले वैक्रियिक और आहारक दो शरीरोंसे वह औदारिक शरीर भिन्न होरहा है। इसी बातको ग्रंथकार श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा स्पष्ट कहते हैं।

आद्यं तु सोपभोगाभ्यां पराभ्यां भिन्नमुच्यते।
गर्भसंमूर्छनाद्धेतोर्जायमानत्वतो भिदा ॥ १ ॥

सूत्रक्रमकी अपेक्षा आदिमें होनेवाला अथवा मोक्षप्राप्तिकी अपेक्षा प्रधान होरहा आद्य औदारिक शरीर तो (पक्ष) उपभोगसहित होरहे परले दो शरीरोंसे भिन्न कहा जाता है (साध्यदल)

उन वैक्रियिक, आहारक, दो शरीरोंसे भिन्न हो करके गर्भहेतु, और संमूर्छनहेतुसे उपज रहा होनेसे (हेतु) अर्थात्—उपभोगसहित तीन शरीरोंमें गिनाया जा रहा, औदारिक शरीर अपने हेतु माने गये गर्भ, संमूर्छन जन्मका भेद होजानेसे शेष दो शरीरोंकी अपेक्षा निराला ही है।

यथैव कार्मणं निरुपभोगत्वात्सोपभोगेभ्यो भिन्नं तथौदारिकं सोपभोगमपि कारणभेदात् पराभ्यां भिन्नमभिधीयते।

जिस ही प्रकार कार्मणशरीर उपभोगरहित होनेसे उपभोगसहित शेष शरीरोंसे भिन्न है, उसी प्रकार उपभोगसहित भी औदारिकशरीर अपने कारणोंका भेद हो जानेसे परले दो शरीरोंसे भिन्न हो रहा कहा जाता है।

वैक्रियिकं कीदृशमित्याह।

औदारिक शरीरसे परली ओर कहा गया वैक्रियिक शरीर भला कैसा क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज भविष्य सूत्रका अवतार करते हुये कह रहे हैं।

औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥ ४६ ॥

उपपाद जन्मसे होनेवाला देव, नारकियोंका औपपादिक शरीर तो वैक्रियिक शरीर है।

उपपादो व्याख्यातः तत्र भवमौपपादिकं तद्वैक्रियिकं बोद्धव्यं। कुतः पुनरौदारिकादिदं भिन्नमित्याह।

" संमूर्छनगर्भोपपादा जन्म " इस सूत्रके विवरणमें उपपादका व्याख्यान किया जा चुका है। देव और नारकियोंके उपजनेका स्थानविशेष उपपाद कहा जाता है। उस उपपादमें उपज रहा शरीर औपपादिक है, वह सब वैक्रियिक शरीर समझ लेना चाहिये। कोई पूछता है कि किस कारणसे यह वैक्रियिक शरीर फिर औदारिकसे भिन्न है ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्त्तिकको कहते हैं।

औपपादिकतासिद्धेर्भिन्नमौदारिकादिदं।
तावद्वैक्रियिकं देवनारकाणामुदीरितम् ॥ १ ॥

उपपाद जन्मसे उपजनेकी सिद्धि हो जानेसे यह देव नारकियोंका वैक्रियिक शरीर तो सूत्रद्वारा उस औदारिकसे भिन्न कहा जा चुका है।

न ह्यौदारिकमेव वैक्रियिकं ततोन्यस्यौपपादिकस्य देवनारकाणां शरीरस्य वैक्रियिकत्वात्। तच्च कारणभेदादौदारिकाद्भिन्नमुच्यते।

कारण कि औदारिकशरीर ही तो वैक्रियिक नहीं है। किन्तु उससे न्यारे देव नारकियोंके औपपादिक शरीरको वैक्रियिकपना है और वह वैक्रियिक शरीर अपने कारणोंकी विभिन्नता द्वारा औदारिकसे भिन्न कहा जाता है।

किमेतदेव वैक्रियिकमुतान्यदपीत्याह।

क्या यह उपपादजन्मवाला शरीर ही वैक्रियिक शरीर है? अथवा क्या अन्य भी कोई शरीर वैक्रियिक है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज समाधानकारक अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं।

लब्धिप्रत्ययं च ॥ ४७ ॥

लब्धिको कारण मानकर उपजा हुआ विक्रियात्मक औदारिक शरीर भी वैक्रियिक शरीर माना गया है।

तपोतिशयर्द्धिर्लब्धिः सा प्रत्ययः कारणमस्येति लब्धिप्रत्ययं वैक्रियिकमित्यनुवर्तते च शब्दस्तूक्त समुच्चयार्थस्तेन लब्धिप्रत्ययमौपपादिकं च वैक्रियिकमिति संप्रत्ययः।

अतिशययुक्त तपस्या करनेसे विशेषऋद्धिकी प्राप्ति हो जाना यहां प्रकरणमें लब्धि कही गयी है। जिस शरीरका कारण वह लब्धि है, वह लब्धिप्रत्यय वैक्रियिक शरीर है। जैसे कि श्री विष्णुकुमार महाराजने स्वकीयऋद्धि स्वरूप पुरुषार्थ द्वारा लम्बा चौडा वैक्रियिक शरीर बनाया था। पूर्व सूत्रसे " वैक्रियिकं " इस पदकी अनुवृत्ति कर ली जाती है, और इस सूत्रमें पडा हुआ च शब्द तो पूर्वमें कहे जा चुके वैक्रियिककी विधिका समुच्चय करनेके लिये है। तिस वैक्रियिक पदकी अनुवृत्ति और समुच्चय वाचक च शब्द करके सूत्रका अर्थ यों भले प्रकार जान लिया जाता है कि लब्धिको कारण मानकर हुआ शरीर वैक्रियिक है, तथा उपपाद जन्मसे उपजनेवाले देव नारकियोंका शरीर तो वैक्रियिक है, यह पूर्व सूत्रमें कहा ही जा चुका है।

नन्विदमौदारिकादेः कथं भिन्नमित्याह।

यहां किसीका प्रश्न उठता है कि औदारिकशरीरधारी तपस्वियोंके ऋद्धिविशेषसे उत्पन्न हुआ शरीर तो औदारिक ही होना चाहिये। जब कि उन मुनियोंके वैक्रियिक काययोग नहीं है, तो उनका वह शरीर वैक्रियिक नहीं हो सकता है। अतः बताओ कि यह लब्धिसे उपजा शरीर भला औदारिक आदिसे भिन्न किस ढंगसे माना गया है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधान करनेके लिये अग्रिम वार्तिकको कहते हैं।

किंचिदौदारिकत्वेपि लब्धिप्रत्ययता गतेः।
ततः पृथक् कथंचित्स्यादेतत्कर्मसमुद्भवं ॥ १ ॥

विक्रिया करनेवाले मुनियोंका औदारिकशरीर ही अनेक प्रकारकी रचनाओंको प्राप्त हो गया है। अतः विक्रियायुक्त शरीरमें कुछ कुछ औदारिकपना होते हुये भी लब्धिको उसके कारणपनेका निर्णय हो जानेसे यह लब्धिजन्य उत्पन्न हुआ शरीर उस औदारिकसे कथंचित् भिन्न समझा जायगा। तथा इस वैक्रियिक शरीरनामक नामकर्मका उदय हो जानेपर उत्पन्न हुये देव नारक शरीरोंसे भी यह कथंचित् भिन्न है। मनुष्य या तिर्यंचोंके तो विक्रिया करते समय भी औदारिक शरीरसंज्ञक नामकर्मका ही उदय है। मनुष्यगतिमें १०२ एक सौ दो प्रकृति तथा तिर्यंच गतिमें १०७ एक सौ सात प्रकृतियां उदय होने योग्य हैं। इनमें वैक्रियिकशरीर नहीं गिनाया गया है। अतः विक्रियायुक्त मनुष्योंका औदारिक शरीर होते हुये भी अणु, महत्, आदि विविधकरणस्वरूप विक्रियाके प्रयोजनवाला होनेसे लब्धिप्रत्यय शरीरको वैक्रियिक कह दिया गया है। सिद्धान्तशास्त्रमें तेजस्कायिक, वायुकायिक जीव और किन्हीं किन्हीं पंचेंद्रिय तिर्यंच मनुष्योंके कदाचित् वैक्रियिक शरीरका भी सद्भाव कहा है।

यथौदारिकनामकर्मसमुद्भवमौदारिकं तथा वैक्रियिकनामकर्मसमुद्भवं वैक्रियिकं युक्तं तथा तदलब्धिप्रत्ययं वैक्रियिकं। न हि लब्धिरेवास्य कारणं वैक्रियिकनामकर्मोदयस्यापि कारणत्वादन्यथा सर्वस्य वैक्रियिकस्य तदकारणत्वप्रसंगात्। तेनेदमौदारिकत्वेपि कथंचिदौदारिकाद्भिन्नं लब्धिप्रत्ययत्वनिश्चयात्। किंचिदेव हि लब्धिप्रत्ययं वैक्रियिकमिष्टं न सर्वम्।

जिस प्रकार औदारिक शरीर संज्ञक नामकर्मके उदयसे अच्छा उत्पन्न हुआ शरीर औदारिक कहा जाता है, तिस ही प्रकार नामकर्मकी शरीरनामक प्रकृतिके उत्तर भेद हो रहे वैक्रियिकशरीर नामक नामकर्मसे बहुत अच्छे उत्पन्न हुये शरीरको वैक्रियिक शरीर कहना उचित है। किन्तु तिस प्रकार वैक्रियिकशरीर नामक नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ वह देव नारकियोंका वैक्रियिक शरीर तो लब्धिको कारण मानकर नहीं उपजा है और तपस्वियोंके वैक्रियिक शरीरमें कारण तो लब्धि है। इस वैक्रियिक शरीरका कारण केवल लब्धि ही नहीं है। किन्तु देव, नारकियोंके, शरीरमें वैक्रियिक नामकर्मका उदय भी कारण है अन्यथा यानी औपपादिकोंके भी शरीरका अन्तरङ्ग कारण यदि वैक्रियिक नामकर्मका उदय नहीं माना जायगा तब तो उस वैक्रियिक नामकर्मके उदयको सम्पूर्ण वैक्रियिक शरीरोंके कारण नहीं हो सकनेका प्रसंग होगा। तिस कारण औदारिक शरीरपना होते हुये भी यह तपस्वियोंका विक्रियात्मक शरीर सार्वदिक औदारिकसे कथंचित् भिन्न है। क्योंकि उस विक्रियात्मक शरीरके विषयमें लब्धिको कारण हो जानेका ज्ञानी जीवोंको निश्चय हो रहा है। कोई ही वैक्रियिक शरीर लब्धिनामक कारणसे जन्य माना गया है। सभी वैक्रियिक शरीर तो लब्धिप्रत्यय नहीं हैं। देव नारकियोंका वैक्रियिक शरीर न्यारा है तथा औदारिक शरीरधारी चक्रवर्ती आदिकोंका विक्रियात्मक शरीर भी इस लब्धिप्रत्यय वैक्रियिक शरीरसे निराला है, व्याख्याप्रज्ञप्तिदंडक नामक सिद्धांत शास्त्रोंके प्रकरणोंमें मनुष्योंके वैक्रियिकशरीरका कदाचित् होना इष्ट किया है।

तैजसमपि किंचित्तादृशमित्याह ।

श्री उमास्वामी महाराजके प्रति किसीका प्रश्न है कि क्या तैजस शरीर भी कोई तिस प्रकार लब्धिको कारण मानकर उपज जाता है ? आज्ञा दीजिये, यों विनीत शिष्यकी जिज्ञासाको हृदयङ्गत कर श्री उमास्वामी महाराज समाधानकारक अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं ।

तैजसमपि ॥ ४८ ॥

किन्हीं किन्हीं तपस्वियोंके तैजस शरीर भी लब्धिको कारण मानकर उपज जाता है ।

लब्धिप्रत्ययमित्यनुवर्तते, तेन तैजसमपि लब्धिप्रत्ययमपि निश्चेयं ।

पहिलेके " लब्धिप्रत्ययं च " सूत्रसे लब्धिप्रत्ययं इस पदकी अनुवृत्ति कर ली जाती है तिस कारण तैजस शरीर भी कोई कोई लब्धिको कारण मानकर भी उपज बैठता है, यह निश्चय कर लेना चाहिये । पहिला अपि शब्द वैक्रियिकका साहित्य करनेके लिये है और दूसरा अपि शब्द तो सभी संसारी जीवोंके साधारण अलब्धिप्रत्यय तैजस शरीरका सद्भाव करनेके लिये सार्थक है ।

तदपि लब्धिप्रत्ययतामंतरेण भिन्नमौदारिकादेरित्याह ।

लब्धिको कारण मानकर उपजनेकी ज्ञप्ति हो जानेसे ही वह लब्धिप्रत्यय तैजस शरीर भी औदारिक, वैक्रियिक, आदिक शरीरोंसे भिन्न है, इसी बातको ग्रन्थकार अग्रिमवार्तिक द्वारा कह रहे हैं ।

तथा तैजसमप्यत्र लब्धिप्रत्ययमीयतां ।
साधारणं तु सर्वेषां देहिनां कार्यभेदतः ॥ १ ॥

जिस प्रकार लब्धिप्रत्यय वैक्रियिक शरीर है उसी प्रकार यहां तैजस शरीर भी लब्धिप्रत्यय समझ लेना चाहिये । हां, पहिले गुणस्थानसे प्रारम्भ कर चौदहवें गुणस्थानतक सम्पूर्ण संसारी जीवोंके पाया जानेवाला साधारण रूपका जो तैजस शरीर है वह तो अपने अपने कर्तव्य कार्योंके भेदसे निराला है अर्थात्–तेजोवर्गणासे बन कर सभी संसारी जीवोंके पाया जा रहा सूक्ष्म तैजसशरीर न्यारा है, जिसका कि कार्य सभी संसारी जीवोंके शरीरमें साधारण रूपसे प्रभाकी उत्पत्ति कर देना है । शरीरमें विलक्षण कांति या विशेष लावण्य तो आदेय संज्ञक नामकर्मका कार्य है, तथा नियतदेशमें सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, अग्निदाह, आदि कर देना इस लब्धिप्रत्यय तैजसशरीरका कार्य है । इस कारण कार्मणशरीरके साथी साधारण तैजसशरीरसे इस लब्धिप्रत्यय तैजसमें भेद है । औदारिक, वैक्रियिक, आहारक और कार्मणसे तो इसका भेद सुप्रसिद्ध ही है ।

लब्धिप्रत्ययं तैजसं द्विविधं, निस्सरणात्मकमनिःसरणात्मकं च । द्विविधं निःसरणात्मकं च प्रशस्ताप्रशस्तभेदात् लब्धिप्रत्ययत्वादेव भिन्नं शरीरांतरं गम्यतां, यत्तु सर्वेषां संसारिणां साधारणं तैजसं तत्स्वकार्यभेदाद्भिन्नमीयतां ।

लब्धिको कारण मानकर उपजा जो तैजस शरीर है, वह दो प्रकारका है। एक तो शरीरसे बाहर निकला हुआ निस्सरणात्मक है और दूसरा शरीरसे बाहर नहीं निकल रहा अनिस्सरणात्मक है। पहिला निस्सरणात्मक तैजसशरीर तो प्रशस्त और अप्रशस्त भेदसे दो प्रकारका है। जो तपस्वी ऋषिके प्रसादकी अपेक्षा रखता हुआ और दुर्भिक्ष, महामारी रोग आदि व्याधियोंका निराकरण करता हुआ सुभिक्ष, सुख, शान्ति, अनुग्रह, आदिका संपादक है, वह प्रशस्त तैजस है। और जो अत्यन्त क्रुद्ध हुये द्वीपायन मुनिके समान ऋषिके वामबाहुसे निकलकर इधर उधर कितने ही नियत क्षेत्रको दग्ध करता हुआ पुनः मुनिके मूलशरीरको भी दग्ध कर देता है वह पुतला अप्रशस्त तैजस है। छठे या सातवें गुणस्थानसे उतरकर अत्यन्त क्रुद्ध हुये मुनिके पहिला गुणस्थान होजाता है। लब्धिस्वरूप कारणसे उत्पन्न हुआ होनेसे ही यह तैजसशरीर भिन्न हो रहा अन्य शरीरोंसे निराला समझ लेना चाहिये। किन्तु जो सम्पूर्ण संसारी जीवोंके साधारण रूपसे पाया जा रहा तैजसशरीर है वह तो अपने अपने कार्यके भेदसे भिन्न ही समझ लिया जाओ। औदारिक, वैक्रियिक, और आहारक, शरीरोंके भीतर प्रविष्ट होरहा शरीरोंकी सामान्यदीप्तिका कारण अनिस्सरणात्मक तैजस है।

तैजसवैक्रियिकयोः लब्धिप्रत्ययत्वाविशेषादभेदप्रसंग इति चेन्न, कर्मभेदकारणकत्वाद्भेदोपपत्तेः। सत्यपि तयोर्लब्धिप्रत्ययत्वे तैजसवैक्रियिकनामकर्मविशेषोदयापेक्षत्वाद्भेदो युज्यत एव।

यहां कोई शंका करता है कि लब्धिको कारण मानकर जब कोई तैजसशरीर उपज रहा है और लब्धिनामक कारणसे किसी वैक्रियिक शरीरका भी उपजना स्वीकार किया गया है, ऐसी दशामें कारणके अभेदसे कार्यका भी अभेद होजायगा। दोनों शरीरोंकी उत्पत्ति करनेमें लब्धिको कारणपना विशेषतारहित होकर विद्यमान है। अतः तैजस और वैक्रियिक शरीरोंके अभेद होजानेका प्रसंग आता है। आचार्य कहते हैं यह तो नहीं कहना। क्योंकि भिन्न भिन्न कर्मोंको कारण मानकर वे दोनों शरीर उपजते हैं। अतः दोनोंमें भेद बन रहा है। यद्यपि उन दोनोंमें लब्धिप्रत्ययपना सामान्य रूपसे विद्यमान है, तो भी तैजस या वैक्रियिक इन दो विशेष नामकर्मोंके उदयकी अपेक्षा रखनेवाले होनेसे उनमें भेद पड जाना युक्तिपूर्ण ही है। अर्थात्—तपस्वियोंमें या अन्य तिर्यंच, मनुष्योंमें वैक्रियिकशरीर नामकर्मका उदय नहीं है, लब्धि करके विक्रिया करते समय मुनिके औदारिक शरीर नामक नामकर्मका ही उदय है। किन्तु विक्रियात्मक प्रयोजनको धारनेवाले विशेष औदारिकशरीरको यहां " वैक्रियिक नामकर्म " यह विशेष संज्ञा दे दी गई है। तेजोवर्गणासे साधारण सूक्ष्म तैजसशरीर बनाया जाय, अथवा लब्धिप्रत्यय तैजस पुतला बनाया जाय, सर्वदा तैजसशरीर संज्ञक नामकर्मका उदय बना रहना स्पष्ट ही है। दूसरी बात यह है कि लब्धि शब्द भले ही एकादश होय किन्तु दोनों लब्धियोंकी जाति न्यारी न्यारी है। भिन्न कारणोंसे भिन्न कार्य हो जाना समुचित है।

संप्रत्याहारकं शरीरमुपदर्शयति।

वैक्रियिक शरीर और प्रसंगप्राप्त विशेष तैजस शरीरका निरूपण कर चुकनेपर श्री उमास्वामी महाराज अब वर्तमान कालमें प्रकरण प्राप्त आहारक शरीरका निर्धारण कराते हैं।

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥ ४९ ॥

शुभकर्म माने गये आहारक काययोगका कारण होनेसे आहारक शरीर शुभ है। स्वयं मूलमें भी शुभ है, जैसे कि शुभ या परम अतीन्द्रिय सुखका कारण होरही अहिंसा निज गांठकी भी शुभ और परम सुखस्वरूप है। और पूर्व कालमें उपार्जित विशुद्ध पुण्यकर्मका कार्य होनेसे आहारक शरीर विशुद्ध है। निजस्वरूपमें भी विशुद्ध है, धवल है, यानी सर्वार्थसिद्धिके देवोंके शरीर समान स्वच्छ शुक्ल वर्ण है। आहारक शरीरसे किसी अन्य पदार्थको आघात नहीं पहुंचता है। अन्य पर्वत, जल, अग्नि आदि पदार्थोंसे आहारकशरीरका भी व्याघात नहीं हो पाता है। ऐसा आहारक शरीर छठे गुणस्थान वर्ती प्रमादयुक्त संयमी मुनिके ही कदाचित् पाया जाता है। अर्थात्—छठे गुणस्थानवर्ती मुनि कभी लब्धिविशेषको जाननेके लिये या कभी सूक्ष्मपदार्थका निर्णय करनेके लिये, जिनचैत्यालयोंकी वंदना करनेके लिये अथवा असंयमको दूर करनेके लिये, स्वकीय अव्यक्त पुरुषार्थ द्वारा आहारक शरीरको रचते हैं। निकटवर्ती स्थानोंमें केवली या श्रुतकेवलीका सन्निधान नहीं होनेपर उक्त प्रयोजनोंको साधनेके लिये दूरवर्ती केवलियोंके पास पहुंचनेमें स्थूल औदारिक शरीरसे गमन करते हुये महान् असंयम हो जाना संभावित है। औदारिक शरीरसे वहां इतना शीघ्र पहुंच भी नहीं सकते हैं। अतः मुनि महाराज इस धातुरहित, संहननरहित, शुभसंस्थान, स्वच्छ धौले, अव्याघाति, आहारकशरीरको बनाकर अपने उत्तमांग शिरसे निकालते हैं। आहारकशरीरमें आंखे, कान, नाक, हथेली, अङ्गुली आदि सम्पूर्ण अंग, उपांग पाये जाते हैं। ढाई द्वीपमें कहीं भी विराज रहे केवली या श्रुतकेवली मुनिका दर्शन कर वह लौट आता है। अथवा जिनचैत्यालय या तीर्थंकर महाराजके तपःकल्याणकका निरीक्षण कर लौट आता है, एक वार बनाया गया आहारकशरीर अन्तर्मुहूर्त्ततक टिका रह सकता है, पश्चात् विघट जायगा।

शुभं मनःप्रीतिकरं विशुद्धं संक्लेशरहितं अव्याघाति सर्वतो व्याघातरहितं च शब्दादुक्तविशेषणसमुच्चयं। एवं विशिष्टमाहारकं शरीरमरत्निमात्रं प्रमत्तसंयतस्यैव मुनेर्नान्यस्येति प्रतिपत्तव्यं।

सूत्रमें पडे हुये शुभ शब्दका अर्थ मनको प्रीति कर देनेवाला है। विशुद्धका अर्थ तो वह आहारक शरीर संक्लेश परिणामोंसे रहित है। सब ओरसे न तो अपना व्याघात होय और न अपनेसे दूसरे पदार्थोंको आघात पहुंचे ऐसा व्याघातरहित आहारक शरीर अव्याघाति है। सूत्रमें पडे हुये च शब्दसे उक्त दो विशेषणोंका समुच्चय हो जाता है। इस प्रकार कई विशेषणोंसे युक्त हो रहा यह हस्त (अरत्नि)

प्रमाण कोंतीसे लेकर सबसे छोटी अंगुलीतक लम्बे हाथकी नापको अरत्नि कहते हैं। आहारक शरीर अतिशय युक्त ऋद्धिधारी प्रमत्तसंयमी मुनिके ही होता है। अधिकसे अधिक या न्यूनसे न्यून छठवें गुणस्थानसे अन्य गुणस्थानोंको धारनेवाले मनुष्योंके नहीं हो पाता है। देव, नारकी, और तिर्यंच जीवके आहारक शरीर होनेका असम्भव है, यह समझ लेना चाहिये। आहारकके स्वामी कहे गये प्रमत्तसंयतके साथ एवकार लगा देनेसे प्रमत्तसंयमीके ही आहारकशरीर है, यों अवधारण करना उचित है। प्रमत्तसंयमीके आहारक ही है, यह अनिष्ट अवधारण नहीं कर बैठना। अतः उक्त मुनिके औदारिक या वैक्रियिक शरीरकी निवृत्ति नहीं हो पाती है।

तच्छरीरांतरात्कुतो भिन्नमित्याह।

श्री विद्यानन्द स्वामीके प्रति किसीका प्रश्न है कि शरीरोंमें परस्पर भेदको साधते हुये आप युक्तियां देते हुये चले आ रहे हैं। तदनुसार यह बताओ कि औदारिक, वैक्रियिक आदि अन्य शरीरोंसे वह आहारक भला किस कारणसे भिन्न हो रहा है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधान वचन कहते हैं।

आहारकं शरीरं तु शुभं कार्यकृतत्वतः।
विशुद्धिकारणत्वाच्च विशुद्धं भिन्नमन्यतः॥ १॥
अव्याघातिस्वरूपत्वात्प्रमत्ताधिपतित्वतः।
फलहेतुस्वरूपाधिपतिभेदेन निश्चितम्॥ २॥

औदारिक, वैक्रियिक, तैजस, कार्मण, ये नहीं किन्तु आहारक शरीर (पक्ष) शुभ है, (साध्य) शुभकार्य आहारक काययोगको करनेवाला होनेसे अथवा शुभक्रियाओं द्वारा बनाया जा चुका होनेसे (हेतु)। इस अनुमान द्वारा आहारक शरीरमें शुभपना सिद्ध होजाता है जो कि अन्य शरीरोंसे आहारकको भिन्न कर देनेका ज्ञापकलिंग है। तथा दूसरा अनुमान यह है कि आहारकशरीर (पक्ष) विशुद्ध है (साध्य) विशुद्धिका कारण होनेसे (हेतु)। बहुव्रीहि वृत्ति करनेपर निरवद्य विशुद्ध पुण्यकर्मका कार्य होनेसे यह अर्थ भी निकल पडता है (हेतु)। इस अनुमानद्वारा विशुद्धता सिद्ध होजानेपर वह विशुद्ध आहारक शरीर अन्य चार शरीरोंमेंसे निराला साध लिया जाता है। अव्याघाति स्वरूप होनेसे और जिसका स्वामीपना प्रमत्तसंयमी, मुनि महाराजको ही प्राप्त होरहा होनेसे वह आहारक शरीर अव्याघाति और प्रमत्तस्वामिक होता हुआ अन्य शरीरोंसे भिन्न है। यों श्री उमास्वामी महाराज द्वारा इस सूत्रमें कहे गये फल, हेतु, स्वरूप और अधिपतिके भेद करके आहारक शरीरमें भेदका निश्चय कर लिया गया है। शुभं, विशुद्धं, अव्याघाति, ये आहारक शरीरके तीन विशेषण प्रथमा विभक्तिवाले हैं तथा षष्ठी विभक्तिका अर्थ स्वामी कर प्रमत्तसंयतस्य का पर्याय

नाम्री शब्द " प्रमत्तस्वामिकं " बना लिया जाता है । प्रथमा विभक्तिवाले विशेषण भी कचित् ज्ञापक हेतु अर्थमें तत्पर माने जाते हैं । जैसे कि " गुरवो राजमाषा न भक्षणीयाः " प्रकृतिमें भारी होनेसे रमास नहीं खाने चाहिये, उसी प्रकार इतर शरीरोंसे व्यावृत्तिको साधनेके लिये आहारक शरीरके सम्पूर्ण विशेषणोंको यहां अव्यभिचारी ज्ञापक हेतु बना दिया गया है । पहिला शुभविशेषण तो आहारक शरीरका फल है । दूसरा विशुद्ध विशेषण आहारक शरीरका कारण है । तीसरा अव्याघाति विशेषण तो आहारक शरीरका स्वरूप है और चौथा विशेषण आहारक शरीरके अधिपतिका बखान करनेवाला है। भेद सिद्ध करनेके लिये ये विशेषण पर्याप्त हैं ।

आहारकं वैक्रियिकादिभ्यो भिन्नं शुभफलत्वादित्यत्रानैकांतिकत्वं हेतोः वैक्रियिकादेरपि शुभफलस्योपलंभादिति न मंतव्यं, नियमेन शुभफलत्वस्य हेतुत्वात् । विशुद्धिकारणत्वात् ततो भिन्नमित्यत्रापि लब्धिप्रत्ययेन वैक्रियिकादिना हेतोरनेकांत इति नाशंकनीयं, नियमेन विशुद्धिकारणत्वस्य हेतुत्वात् । समुद्भूतलब्धेरपि क्रोधादिसंक्लेशपरिणामवशाद्विक्रियादेर्निर्वर्तनाद्विशुद्धिकारणत्वनियमाभावात् ।

यहां किसीका आक्षेप है कि आपने जो पहिला अनुमान यह कहा है कि शुभ फलवाला होनेसे आहारक शरीर वैक्रियिक आदिकोंसे भिन्न है । यों इस अनुमानमें तुम्हारा दिया हुआ शुभ फलत्व हेतु तो व्यभिचार हेत्वाभास दोषवाला है । क्योंकि कोई कोई वैक्रियिक, औदारिक आदि शरीरोंके भी शुभफल सहितपना देखा जाता है । यानी उपकारी पुरुष, ब्रह्मचारिणी विशल्या या परिहार विशुद्धि संयमवाले अथवा औषध ऋद्धिधारी मुनियोंके औदारिक शरीर तथा तपस्वियोंके वैक्रियिक शरीर या उपकारी देवोंके वैक्रियिक शरीर भी शुभ फलदायक हैं । आचार्य कहते हैं कि यह तो आक्षेपकारको नहीं मानना चाहिये । क्योंकि हमने हेतुमें नियमेन यह शब्द जोड दिया है जो नियम करके शुभ फलवाला होय वह आहारक ही है । बहुतसे कषायी, हिंसक, मनुष्य पशु पक्षियोंके औदारिक या संक्लिष्ट असुरोंके वैक्रियिक शरीर तो नियमसे शुभफलवाले नहीं हैं । अतः व्यभिचार दोषका निवारण हो जाता है । दूसरे हेतुमें पुनः किसीकी आशंका है कि आहारक शरीर (पक्ष) उन वैक्रियिक आदिकोंसे भिन्न है (साध्य) विशुद्ध कारण होनेसे (हेतु) यों इस अनुमानमें भी लब्धिकारणक वैक्रियिक आदि करके विशुद्धकारणत्व हेतुका व्यभिचार हो जाता है, मुनियोंके हुआ वैक्रियिक शरीर भी विशुद्ध कारणवाला है । प्रशस्त तैजस शरीर भी विशुद्ध कारण है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह आशंका नहीं करनी चाहिये । क्योंकि यहां भी हेतु दलमें नियमको कहनेवाला एवकार लगा देना चाहिये । सभी वैक्रियिक या तैजसशरीर विशुद्धि कारण नहीं हैं । " प्रमत्तसंयतस्यैव " यहां अंतमें पडे हुये एवकारको पूर्वपदोंमें भी अन्वित कर लेना चाहिये । नियम करके विशुद्धिकारण आहारक ही है । जिनको विशेष तपस्यासे ऋद्धि उत्पन्न हो चुकी है, ऐसे मुनिके भी कदाचित् क्रोध, अरति,

आदि संक्लेश परिणामोंकी अधीनतासे विक्रिया, तैजस, आदिका बना लेना देखा जाता है। अतः वैक्रियिक या तैजसशरीरमें विशुद्ध कारणपनेका सार्वत्रिक, सार्वदिक, सार्वव्यक्तिक, नियम नहीं है। यों व्यभिचार दोषकी निवृत्ति हो जाती है।

अव्याघातिस्वरूपत्वादाहारकं शरीरांतराद्भिन्नमित्यस्मिन्नपि तैजसादिनो हेतोर्व्यभिचार इत्यचोद्यं, प्राणिबाधापरिहारलक्षणस्याव्याघातित्वस्य हेतुत्वात्। प्रमत्ताधिपतित्वमपि नाहारकस्य शरीरांतराद्भेदे साध्येऽनैकांतिकं, विशिष्टप्रमत्ताधिपतित्वस्य हेतुत्वात्। ततः सूक्तं फलहेतुस्वरूपाधिपतिभेदेन भिन्नमाहारकमन्येभ्यः शरीरेभ्यो निश्चितमिति।

पुनः किसीका तीसरे अनुमानपर कुचोद्य उठता है कि अव्याघातिस्वरूप होनेसे आहारकशरीर अन्य वैक्रियिक आदि शरीरोंसे भिन्न है। यों इस अनुमानमें भी तैजस आदि शरीरों करके अव्याघातिपन हेतुका व्यभिचारदोष आता है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवोंका औदारिक शरीर अव्याघाति है, कहीं रुकता नहीं है, किसीको रोकता भी नहीं है। तैजस और कार्मणशरीर तो " अप्रतीघाते " इस सूत्रकरके व्याघातरहित साधे ही जा चुके हैं, वैक्रियिक शरीर भी पर्वत या वज्र पटलमें होकर चले जाते हैं। अब आचार्य कहते हैं कि यह पर्यनुयोग हमारे ऊपर नहीं उठाया जा सकता है। क्योंकि प्राणियोंकी बाधाका परिहार कर देना यही अव्याघातिपनका स्वरूप यहां हेतुकोटिमें विवक्षित है। आहारकशरीर जहां होकर निकल जाता है, वहांके प्राणियोंकी रोग, भय, आदि बाधायें दूर होती चली जाती हैं। वैक्रियिक शरीरधारी इन्द्रकी शक्तिका भी प्रतिघात हो जाना सुना गया है। किन्तु आहारकशरीरकी सामर्थ्य अप्रतिहत है। जिसके शरीरमें एक बार होकर निकल जाता है, उसको बार बार आहारक शरीरके आने, जाने, की अभिलाषायें बनी रहती हैं। प्राणियोंकी बाधाओंका परिहार जितना आहारकशरीरसे होता है, उतना अन्य शरीरोंसे नहीं हो पाता है। आहारक शरीरके स्वामी छठे गुणस्थानवर्त्ती प्रमत्तसंयमी हैं। यह चौथा हेतु भी आहारकशरीरके इतर शरीरोंसे भेदको साध्य करनेमें व्यभिचारी नहीं है। क्योंकि सभी छठे गुणस्थानवर्ती मुनियोंके नहीं, किन्तु हजारों, लाखों, मैंसे किसी एक विशिष्ट प्रमत्तसंयमी मुनिको आहारक शरीरका अधिपतिपना प्राप्त हो सकता है। उस विशिष्टताके लगा देनेसे प्रमत्ताधिपतित्व हेतु निर्दोष बन जाता है। तिस कारण श्री उमास्वामी महाराजने सूत्रमें या मुझ विद्यानन्द स्वामीने उक्त दो वार्तिकोंमे यों बहुत अच्छा कहा था कि फल १ हेतु २ स्वरूप ३ और अधिपति ४ के भेद करके ये आहारक शरीर अन्य चारों शरीरोंसे भिन्न ही निर्णीत कर दिया गया है। यहांतक पांचों शरीरोंका निरूपण समाप्त होचुका है।

चतुर्दशभिरित्येवं सूत्रैरुक्तं प्रपंचतः।
शरीरं तीर्थिकोपेतशरीरविनिवृत्तये ॥ ३ ॥

यहांतक यों उक्त प्रकार चौदह सूत्रों करके विस्तारसे संसारी जीवोंके शरीरोंको श्री उमास्वामी महाराजने अन्य दार्शनिकों द्वारा स्वीकार किये गये अनेक कल्पित शरीरोंकी विशेषतया निवृत्ति करनेके लिये स्पष्ट कह दिया है। अर्थात्–" औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि " से प्रारंभ कर " शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव " इस सूत्र पर्यन्त चौदह सूत्रों करके पांच शरीरोंका व्याख्यान सूत्रकारने किया है, जो कि अन्य मतावलम्बियों द्वारा माने गये शरीरोंकी निवृत्ति करता रहता है। कोई पंडित स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर दो ही को स्वीकार करते हैं। वैशेषिक तो योनिज और अयोनिज इस प्रकार शरीरके दो भेद मानते हैं। बौद्धजन स्वप्नान्तिक अथवा स्वाभाविक शरीरोंको भी मान बैठे हैं। नैयायिक समाधिअवस्थामें योगी, स्त्री, पुत्र, राज्य, आदि भोगोंको भोगनेके लिये अनेक शरीरोंका निर्माण कर लेता है, भोगे विना कर्मोंका नाश नहीं हो पाता है, ऐसा मान बैठे हैं। इत्यादि मन्तव्योंकी निवृत्तिके लिये आचार्योंने पांच ही शरीरोंका अन्यूनानतिरिक्तरूपसे निरूपण किया है। अब न्यारा प्रकरण चलाया जाता है।

अथ के संसारिणो नपुंसकानीत्याह ।

कोई जिज्ञासु पूंछ रहा है कि कौनसे संसारी जीव नपुंसकलिंगी हैं ? ऐसी आकांक्षा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

नारकसंमूर्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

सात नरकोंमें निवास करनेवाले नारकी तथा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, जीव और पंचेन्द्रियोंमें अनेक तिर्यंच एवं मनुष्योंमें लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य ये संमूर्छन जन्मवाले जीव नपुंसकलिङ्गी हैं। अर्थात्—अवाकी अग्निके समान कषायवाले इन जीवोंके मैथुनसंज्ञाजन्य तीव्रवेदना बनी रहती है। इस कारण इनकी आत्मामें सर्वदा कलुषता रही आती है। स्त्री या पुरुषोंमें पाये जानेवाले स्पर्शन इन्द्रियजन्य सुख इनको नहीं प्राप्त होते हैं।

नारकाः संमूर्छिनश्च नपुंसकान्येव भवंति ।

घनांगुल परिमित प्रदेशोंकी संख्याके दूसरे वर्गमूलसे गुणा की गयी जगच्छ्रेणीके प्रदेशों बराबर सम्पूर्ण नारकी जीव असंख्याताऽसंख्यात हैं। तथा सम्मूर्छन जन्मवाले अनन्तानन्त संसारी जीव हैं। ये सब नपुंसक ही होते हैं। भावार्थ—इनमें स्त्री, पुरुष, व्यवहार नहीं है, कभी कभी दो मक्खियां चिपटी हुई देखी जाती हैं। ये उनकी केवल शारीरिक क्रिया है। कोई गर्भधारण क्रिया नहीं है। यों तो कोई कोई खिलौने भी चिपटे हुये देखे जाते हैं, चीटियोंके अण्डे भी उनके पेटसे निकले हुये नहीं हैं। केवल यहां वहां मल, मूत्र स्थानोंमेंसे सडे, गले, हुये पुद्गलोंको लेकर वे विशेष स्थानोंमें धर लेती हैं, कालान्तरमें वहां जीवोंका जन्म होकर वही पुद्गल चीटियोंका शरीर बन

जाता है । मधु मक्खी, खटमल, झींगुर, जूंआ आदि जीवोंकी भी यही व्यवस्था है । माता पिताके शुक्र, शोणित, से गर्भाशयमें इन जीवोंकी उत्पत्ति नहीं होती है । यों तो कवि लोगोंने घडा घडी, कटोरा कटोरी, नद नदी, चादर चादरा, आदि जड पदार्थोंमें भी स्त्रीलिंग, पुल्लिंगका व्यवहार कर लिया है । वैज्ञानिकोंने केला केली, भी मान लिये हैं । स्त्रियोंके पाद प्रहार या कुल्ला करनेसे कई वृक्षोंका फलना, फूलना, अभीष्ट किया गया है । इसमें कल्पना भाग बहुत है । सम्मूर्छन शरीरोंके उपयोगी साधनोंके जुटानेमें सहाय कर देना मात्र भित्तिपर भारी कल्पनायें गढ ली गयी हैं, जो कि नियत कार्यकारणभावका भंग कर देनेवाली हैं । सिद्धांत दृष्टिसे विचारनेपर सम्पूर्ण सम्मूर्छन जीव नपुंसक लिंगी ही सिद्ध होंगे । वृक्षोंमें स्त्री या पुरुषोंके समुचित अंगोपांग ही नहीं है । द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय जीवोंके गर्भाशय नहीं हैं । अतः आचार्योंने जो इन्हें नपुंसक लिंगी कहा है, वह युक्तिपूर्ण है ।

देवेषु तत्प्रतिषेधमाह ।

देवोंमें उस नपुंसक लिंगका सर्वथा निषेध करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं ।

न देवाः ॥ ५१ ॥

चारों निकायके सम्पूर्ण देव नपुंसक लिंगवाले भी नहीं हैं । सम्पूर्ण देवियां स्त्रीलिंग हैं तथा देव सम्पूर्ण पुल्लिंग ही हैं ।

देवा नपुंसकानि नैव संभवंतीति सामर्थ्यात् पुमांसो देवाः स्त्रियश्च देव्यो भवंतीति गम्यते । कुत इत्याह ।

देव गतिवाले जीवोंमें नपुंसक लिंगकी सम्भावना नहीं है, यों निषेध कर देनेसे विना कहे ही शब्दकी सामर्थ्यसे विधिमुख करके यह जान लिया जाता है कि देवनिकायमें पुल्लिंगवाले देव होते हैं । और स्त्रीलिंगवाली देवियां होती हैं । कोई पूंछता है कि यह उक्त सिद्धान्त किस प्रमाणसे सिद्ध किया जाय ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम दो वार्तिकोंमें युक्तियोंको कहते हैं ।

नारका देहिनस्तत्र प्रोक्ताः संमूर्छिनश्च ये ।
नपुंसकानि ते नित्यं न देवा जातुचित्तथा ॥ १ ॥
स्त्रीपुंससुखसंप्राप्तिहेतुहीनत्वतः पुरा ।
नपुंसकत्वदुःखाप्तिहेत्वभावाद्यथाक्रमं ॥ २ ॥

नारकी जीव और सम्मूर्छन शरीरधारी प्राणी जो वहां प्रकरणोंमें अच्छे ढंगसे कहे जा चुके हैं, व सम्पूर्ण जीव अपनी अवस्थापर्यन्त सर्वदा नपुंसकलिंगी ही बने रहते हैं । हां, देव तो कभी भी

तिस प्रकार नपुंसकलिंगी नहीं हैं । इन दो सूत्रोंके प्रमेयमें वे वक्ष्यमाण दो ज्ञापक हेतु हैं कि पूर्व जन्ममें स्त्रियोंके उचित सुखों और पुरुषोंके समुचित सुखोंकी अच्छी प्राप्तिके कारण होरहे शुभ क्रियायोंका अनुष्ठान या पुण्यविशेषकी हीनता होजानेसे नारक और सम्मूर्छन जीव स्वकीय पापोदयसे इस जन्ममें नपुंसकलिंगी होजाते हैं । जैसे कि पुण्यहीन अवस्थामें पापकर्मका उदय आजानेपर कई घोडे या बैल बहिरंग रूपसे नपुंसक कर दिये जाते हैं अथवा कोई कोई गर्भज मनुष्य या पशु भी नपुंसक देखे जाते हैं । देव नपुंसकलिंगी नहीं हैं । क्योंकि पूर्वजन्ममें आधुनिक नपुंसकपनेके दुःखकी प्राप्तिका कारण मानी गयी अशुभक्रिया या नपुंसकवेदकर्मका उपार्जन नहीं होनेसे देव स्वकीय इस जन्ममें नपुंसक नहीं होपाते हैं । यों दोनों सूत्रोंमें दोनों हेतुओंको यथाक्रमसे लगा लेना चाहिये ।

नारकाः संमूर्छिनश्च प्राणिनो नपुंसकान्येव, स्त्रीपुंससुखसंप्राप्तिकारणरहितत्वात् पूर्वस्मिन् भवे नपुंसकत्वसाधनानुष्ठानात् । देवास्तु न कदाचिन्नपुंसकानि जायंते नपुंसकत्वदुःखाप्तिकारणाभावादिति यथाक्रमं साध्यद्वये हेतुद्वयं मन्तव्यं ।

श्री विद्यानन्द स्वामी दो अनुमान बनाते हैं कि नारक जीव और संमूर्छन प्राणी (पक्ष) नपुंसक ही होते हैं, (साध्य) । स्त्रीसुख और पुरुष सुखकी समीचीन प्राप्तिके कारणोंसे रहित होनेसे (हेतु) साथमें पूर्वभवमें नपुंसकपनेके साधनोंका अनुष्ठान करनेसे (हेतु) । अर्थात्—वर्तमानके नारक या संमूर्छन जीवोंने पूर्वभवमें ऐसे प्रशस्त कार्य नहीं किये थे जिससे कि इस जन्ममें स्त्रीसुख, या पुरुषसुखकी प्राप्ति हो जाती । अधिक लज्जा करना, कोरा शृङ्गार करनेमें समय यापन करना, अधिक अभिमान करना, दब्बू बने रहना, संज्ञी विचारशाली सामर्थ्यवान् होते हुये भी महान् कार्योंको नहीं कर सकना, पुरुषोंसे प्रेमप्राप्तिके भाव रखना, इनसे और इनके अतिरिक्त कुछ शुभकर्म करनेसे भी भविष्यमें स्त्रीसुखोंकी प्राप्ति हो जाती है तथा अल्पक्रोध, स्वदारसन्तोष, शृङ्गार करनेमें अनादर, महान् कार्योंमें पुरुषार्थ करना, चित्तमें उदारता रखना, वीरता आदि क्रियाओंसे भविष्यमें पुरुष उचित सुखोंकी प्राप्ति होती है । ये दोनों प्रकारके कार्य नारकी और संमूर्छन जीवोंने नहीं कर पाये हैं । तथा प्रचुर क्रोध, गुप्त जनन इन्द्रियोंका घात, स्त्रीपुरुषोंके, कामसेवन अंगोंसे भिन्न अंगोंमें आसक्ति करना, व्यसन सेवना, परस्त्रीमें लोलुपता रखना, तीव्र अनाचार आदिक नपुंसकत्वके साधनोंका पहिले जन्मोंमें अनुष्ठान किया है । इस कारण इस जन्ममें नपुंसकलिंगवाला होना पडा है । इनके स्त्री और पुरुषोंमें पाया जा रहा मनोज्ञ पंचेंद्रियोंके विषय माने गये शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श, रूपके, निमित्तसे होनेवाला स्वल्प भी सुख नहीं है । तथा दूसरा अनुमान यों है कि देव तो (पक्ष) कभी भी नपुंसक लिंगवाले नहीं उपजते हैं (साध्य) । नपुंसकपन दुःखकी प्राप्तिके कारणोंका अभाव होनेसे (हेतु), भोगोपभोगी, बलिष्ठ, धनाढ्य, प्रेमयुक्त दम्पतिके समान (अन्वयदृष्टान्त) अर्थात्—देव देवियोंने पूर्वभवमें अत्यधिक लोभपरिणाम शुभकार्योंमें अनुत्साह, व्यभिचार आदि कारणों द्वारा नपुंसकत्वके साधनोंको नहीं मिला पाया है, किन्तु प्रशस्त कृतियों द्वारा स्त्रीसुख, और पुरुष

सुखकी, प्राप्तिके कारणोंको जुटाया है। अतः वे स्त्रीसम्बन्धी और पुरुषसम्बन्धी निरतिशय सुखका अनुभव करते रहते हैं। यों देव नपुंसकलिंगवाले नहीं हैं। इस प्रकार दोनों साध्योंमें यथाक्रम दो हेतुओंको लगाकर समझ लेना चाहिये। सूत्रकारके प्रतिज्ञावाक्योंमें ही समर्थहेतु छिपा हुआ है। आनुमानिक विद्वानोंकी दृष्टिमें अतीन्द्रिय पदार्थ भी प्रत्यक्षवत् प्रतिभास जाते हैं।

शेषाः कियद्वेदा इत्याह।

नारक, संमूर्छन, प्राणी और देवोंसे अवशिष्ट रहे जीवोंके कितने वेद हैं, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज नवीन सूत्रको कहते हैं।

शेषास्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥

उक्त तीन प्रकारके जीवोंसे शेष रहे गर्भजन्य जीवोंके स्त्रीलिंग, पुल्लिंग, और नपुंसकलिंग ये तीनों वेद होते हैं।

उक्तेभ्यो ये शेषा गर्भजास्त्रिवेदाः प्रतिपत्तव्याः। कुत इत्याह।

कहे जा चुके जीवोंसे जो शेष रहे गर्भज प्राणी हैं। वे तीनों वेदवाले समझ लेने चाहिये। कोई शिष्य जिज्ञासा करता है कि यह सिद्धान्त किस प्रमाणसे साधा जा चुका समझा जाय ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिकको कहते हैं।

त्रिवेदाः प्राणिनः शेषास्तेभ्यस्तादृक् स्वहेतुतः।
इति सूत्रत्रयेणोक्तं लिंगं भेदेन देहिनाम् ॥ १ ॥

तिन नारक, सम्मूर्छन, और देवजीवोंसे शेष रहे प्राणी (पक्ष) स्त्री, पुल्लिंग, नपुंसक, तीनों वेदवाले हैं (साध्य) तिस प्रकारके अपने अपने हेतुओंसे निष्पत्ति होनेसे (हेतु) तीन लिंगवाले प्रसिद्ध सर्पोंके समान (अन्वय दृष्टान्त)। भावार्थ—चारित्रमोहनीयकर्मके विकल्प हो रहे वेदत्रयके उदयसे जो वेदा जाय वह वेद है। इसका अर्थ द्रव्यलिंग या भावलिंग हो जाता है। कहीं द्रव्यलिंगके अनुसार ही भावलिंग होते हैं। हां, कर्मभूमिमें विषमता भी हो जाती है। स्त्रियोंके पुंवेदका उदय और पुरुषोंमें स्त्रीवेद या नपुंसक वेदका उदय भी कदाचित् पाया जाता है। गर्भज जीवोंमें अपने अपने नियत कारणोंसे यथायोग्य तीनों वेद पाये जाते हैं। इस प्रकार " नारकसंमूर्छिनो नपुंसकानि, न देवाः, शेषास्त्रिवेदाः " इन तीनों सूत्रों करके शरीरधारी प्राणियोंके भिन्न भिन्न रूपसे लिंग कह दिये गये हैं।

स्त्रीवेदोदयादिः स्त्रीवेदस्य हेतुः पुंवेदोदयादिः पुंवेदस्य, नपुंसकवेदोदयादिः नपुंसकवेदस्येति। तत एव प्राणिनां स्त्रीलिंगादित्रयसिद्धिरिति भेदेन लिंगं सकलदेहिनां सूत्रत्रयेणोक्तं वेदितव्यं।

वर्तमानमें किसी जीवके अन्तरंगकारण स्त्रीवेदका उदय होना या बहिरंगमें मृदुभाषण करना, पुरुषके साथ रमण करनेकी अभिलाषा रखना, अधिक शृंगार करना, स्वादिष्ट रस युक्त भोजन करना, आदिक कारण स्त्रीवेदके हेतु हैं। और अन्तरंगमें पुम्वेदका उदय होना और बहिरंगमें लोगोंमें उत्कृष्ट गुणोंकर स्वयंसिद्ध आग करना, स्वादिष्ट गरिष्ठ रसयुक्त भोजन करना, रसायन सेवन, वीररसवर्द्धिनी क्रियायें करना, आदि कारण जीवके पुम्वेद हो जानेमें हेतु हैं, तथा नपुंसक वेदके कारण तो नपुंसक वेदका उदय, तीव्र कषाय, योनिमेहनादि उपांगोंका अभाव या क्लीवत्वकारक पदार्थोंका सेवन आदिक हैं। तिस ही कारणसे (नौमें गुणस्थानतक) संसारी प्राणियोंके स्त्रीलिंग आदि तीनों वेदोंकी सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार भिन्न भिन्न रूपसे सम्पूर्ण प्राणियोंके लिंगको श्री उमास्वामी महाराजने केवल तीन सूत्रों करके ही कह दिया है। यह समझ लेना चाहिये।

के पुनरत्र शरीरिणोऽनपवर्त्यायुषः के वापवर्त्यायुष इत्याह।

उक्त देहधारी जीवोंमें फिर कौन जीव यहां अपवर्तन नहीं करने योग्य आयुष्यवाले हैं ? और किन जीवोंकी आयुका बाह्य कारणोंसे ह्रास हो जाता है ? बताओ। अर्थात्—चारों गतियोंके जीव क्या अपनी सम्पूर्ण आयुको भोग कर मरते हैं ? अथवा क्या पूर्णआयुका भोग नहीं करके भी मरकर अन्य गतियोंको प्राप्त हो जाते हैं ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज शिष्योंकी व्युत्पत्ति बढानेके लिये अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं।

औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।

उपपाद जन्मको धारनेवाले देव और नारकी जीव तथा चरम उत्तम शरीरको धारनेवाले तीर्थंकर महाराज एवं असंख्यात वर्षोंतक जीवित रखनेवाली आयुको धारनेवाले भोगभूमियां, या कुभोगभूमियां, तिर्यंच या मनुष्य इन जीवोंकी आयुका मध्यमें ह्रास नहीं हो पाता है। परिपूर्ण आयुको भोगकर ही ये उत्तरगतिको प्राप्त करते हैं।

औपपादिका देवनारकाः चरमोंत्यस्तज्जन्मनिर्वाणार्हस्य देहः उत्तम उत्कृष्टः चरमश्चासौ उत्तमश्च चरमोत्तमश्चरमविशेषणमुत्तमस्याचरमस्य निवृत्त्यर्थं उत्तमग्रहणं चरमस्यानुत्तमत्वव्युदासार्थं। चरमोत्तमो देहो येषां ते चरमोत्तमदेहाः। उपमाप्रमाणगम्यमसंख्येयवर्षायुर्येषां ते द्वंद्ववृत्त्या निर्दिष्टाः संसारिणोऽनपवर्त्यायुषो भवंति इति वचनसामर्थ्यात्ततोन्ये अपवर्त्यायुषो गम्यंते।

औपपादिक शब्दका अर्थ देव और नारकी जीव है। चरम शब्दका अर्थ सब शरीरोंके अंतमें होनेवाला मोक्षगामी जीवका पिछला शरीर है, जोकि उसी जन्ममें मोक्ष प्राप्त करनेकी सामर्थ्य रखनेवाले जीवकी देह है। उत्तमका अर्थ उत्कृष्ट है। चरम होरहा संता जो वह उत्तम देह है, वह चरमोत्तम

कहा जाता है । यों चरम और उत्तम शब्दमें कर्मधारय वृत्ति कर ली गयी है। उत्तमका विशेषण चरम दिया है। वह उत्तम शरीरके अन्तिमरहितपनकी निवृत्तिके लिये है। अर्थात्—उत्तमशरीर अन्तमें मोक्षगामी जीवको प्राप्त होता है। अन्य संसारी जीवोंका उत्तमशरीर भी चरम नहीं है तथा चरमके विशेष्य दलमें उत्तम शब्दका ग्रहण करना तो चरमशरीरके उत्तमरहितपनकी व्यावृत्ति करनेके लिये है। अर्थात्—व्यभिचारकी संभावना होनेपर ही विशेष्यविशेषणभाव सार्थक माना गया है। जैसे कि नीलं उत्पलं, यहां उत्पल दूसरे रंगका भी संभावित है तथा कम्बल, भौंरा, जामुन भी नीले होते हैं। किन्तु प्रकरण प्राप्त होरहा कुवलय नीला कुवलय ही है। इस संघटित अवस्थामें विशेष्यविशेषणभाव बन रहा है। उसी प्रकार यहां भी चरमशरीरी अन्तकृत्केवली भी होते हैं। एवं ब्रह्मदत्तचक्रवर्ती या वसुदेवके पुत्र श्री कृष्ण नारायण भी उत्तमशरीरवाले माने गये हैं। अतः चरमशरीरवाले होते हुये भी उत्तम देहधारी यहां तीर्थंकर-महाराजका ग्रहण किया गया है, ऐसा मेरी लघु बुद्धिमें आ रहा है। तत्त्वार्थसूत्रकी श्रुतसागर आचार्य विरचित टीकामें चरमोत्तमदेहधारी पदसे तीर्थंकर परमदेव ही समझाये गये हैं। वहां यों लिखा है कि " चरमोऽन्त्यः उत्तम उत्कृष्टो देहः शरीरं येषां ते चरमोत्तमदेहाः। तज्जन्मनिर्वाणयोग्यास्तीर्थंकरपरमदेवा ज्ञातव्याः। गुरुदत्त पांडवादीनामुपसर्गेण मुक्तत्वदर्शनात् नास्त्यऽनपवर्त्यायुर्नियम इति न्यायकुमुदचन्द्रोदये प्रभाचन्द्रेणोक्तमस्ति। तथा चोत्तमदेहत्वेऽपि सुभौमब्रह्मदत्तापवर्त्यायुर्दर्शनात्। कृष्णस्य च जरत्कुमारबाणेनापमृत्युदर्शनात्सकलार्द्धचक्रवर्तिनामप्यनपवर्त्यायुर्नियमो नास्ति इति राजवार्तिकालंकारे प्रोक्तमस्ति "। इसका अर्थ यह है। चरम यानी अन्तिम उत्तम यानी उत्कृष्ट देह अर्थात्—शरीर जिन जीवोंका है वे जीव चरमोत्तम देहवाले हैं। जो कि उसी जन्ममें निर्वाण होनेके योग्य हैं। ये चरमोत्तम शरीरधारी जीव तीर्थंकर परमदेव ही समझने चाहिये। क्योंकि गुरुदत्त मुनी, तीन पांडव, या अन्य भी कितने ही महान् उपसर्ग सहनेवाले अन्तकृत्केवली महाराजोंकी उपसर्ग करके मुक्ति होना शास्त्रोंमें देखा जाता है। अतः सम्पूर्ण चरमशरीरियोंके लिये आयुके ह्रास नहीं होनेका नियम नहीं है। यों प्रभाचन्द्र स्वामीने न्यायकुमुदचन्द्रोदय नामक ग्रन्थमें कहा हुआ है। तथा उत्तम देहवाले होते हुये भी सुभौम और ब्रह्मदत्त सकलचक्रवर्तीकी आयुका मध्यमें अपवर्त हुआ देखा जाता है एवं उत्तमशरीरधारी अर्धचक्री कृष्ण नारायणकी जरत्कुमारके बाण करके अपमृत्यु सुनी जाती है। अतः सकलचक्रवर्ती और अर्धचक्रवर्ती उत्तमदेहधारियोंकी आयुके मध्यमें नहीं छिन्न होनेका कोई नियम नहीं रहा। इस बातको श्री अकलंक देवने राजवार्तिकमें बहुत स्पष्ट रूपसे कह दिया है कि " अन्त्यचक्रधरवासुदेवादीनामायुषोपवर्त्तदर्शनादव्याप्तिः (वार्तिक) उत्तमदेहाश्चक्रधरादयोऽनपवर्त्यायुष इत्येतत् लक्षणमव्यापि। कुतः ? अन्त्यस्य चक्रधरस्य ब्रह्मदत्तस्य वासुदेवस्य च कृष्णस्य अन्येषां च तादृशानां बाह्यनिमित्तवशादायुरपवर्त्तदर्शनात्। न वा चरमशब्दस्योत्तमविशेषणत्वात्। (वार्तिक) न वैष दोषः किं कारणं ? चरमशब्दस्योत्तमविशेषणत्वात्। चरम उत्तमो देह एषां ते चरमोत्तमदेहा इति " इसका अर्थ यह है कि चरमदेहधारी और उत्तमदेहधारी यों

न्यारा न्यारा अर्थ करनेपर द्वितीय दलमें अव्याप्ति दोष आता है। कारण कि अन्तिम चक्रवर्ती और वासुदेव आदिकोंकी आयुका शस्त्राघात आदि कारणोंसे मध्यमें ही अपकर्ष हो गया देखा गया है। उत्तम देहवाले चक्रवर्ती आदिक भी परिपूर्ण आयुको भोगते हुये अच्छिन्न आयुवाले हैं, यों यह लक्षण अव्याप्ति दोषवान् हैं। क्योंकि अन्तके चक्रधारी ब्रह्मदत्त और वसुदेवके अपत्य कृष्ण तथा अन्य भी तैसे पांडव आदिकोंकी आयुका बहिरंग निमित्तोंकी अधीनतासे अपवर्त देखा गया है। इस अव्याप्ति दोषका निराकरण करते हुये श्री अकलंक देव उत्तरवार्तिकको कहते हैं कि यह दोष हमारे यहां नहीं आता है। क्योंकि चरम देहधारी और उत्तम देहधारी ये दो स्वतंत्र वाक्य नहीं माने गये हैं। किन्तु उत्तमका विशेषण चरम शद्ब है। जिन जीवोंका देह चरम होता हुआ उत्तम है वे ही अच्छिन्न आयुवाले हैं। अथवा " उत्तमविशेषणत्वात् " यहां बहुव्रीहि समास करनेपर चरमका विशेषण उत्तम समझ लिया जाय। इस प्रकार कहनेसे चरमशरीरियोंमें तीर्थंकर परम देवाधिदेवकी आयु ही अनपवर्त्य है। शेष मोक्षगामी जीवोंकी आयुके अनपवर्त्य होनेका नियम नहीं, यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है। महान् उपसर्ग सहते हुये भी मुनि महाराज छठे गुणस्थानमें आयुष्य कर्मकी उदीरणा कर कतिपय अन्तर्मुहूर्तोमें क्षपकश्रेणी या बारहवें, तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानोंके कर्तव्योंको समाप्त कर झटिति मुक्तिलाभ कर लेते हैं। मनुष्य आयु कर्मकी उदीरणा छठेतक ही मानी गयी है। हां, " ओकट्टणकरणं पुण अजोगिसत्ताण जोगिचरिमोत्ति " इस गाथा अनुसार मनुष्य आयुका अपकर्षण करण तो तेरहवें गुणस्थानतक अभीष्ट किया है। उदीरणाके अन्य नियमोंको अन्तकृत केवलीके सिवाय अन्यत्र जीवोंमें लागू रखना जिससे कि सिद्धान्तविरोध नहीं होय। संजयंत, गजकुमार, आदि मुनियोंने उपसर्ग सहते हुये मध्यमें आयुको छिन्न कर मुक्तिलाभ किया हैं। " असंख्येयवर्षायु " का अर्थ यह है कि अलौकिकगणितके मुख्य रूपसे संख्यामान और उपमामान ये दो भेद हैं। पल्य, सागर, आदि प्रमाणोंसे जिन जीवोंकी आयु नापकर जानी जाती है वे जीव " असंख्येयवर्षायुषः " कहे जाते हैं। औपपादिक और चरमोत्तम देहधारी तथा असंख्यात वर्षोंकी आयुवाले यों द्वन्द्व समास वृत्ति करके सूत्रमें कहे जा चुके संसारी जीव अनपवर्त्य आयुवाले होते हैं। इस नियमकारक वचनकी सामर्थ्यसे विना कहे ही यों समझ लिया जाता है कि इनसे अन्य संसारी जीवोंकी आयुका अपवर्त हो जाता है। भावार्थ—" विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसेहिं। उस्सासाहाराणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ "। विष, शूल, आदिकी तीव्र वेदना, रक्त, आदि धातुओंका क्षय, तीव्र भय, शस्त्रघात, विशिष्ट संक्लेश, तथा श्वासोच्छ्वास या आहारका निरोध होजाना इन कारणोंसे अपमृत्यु होकर बीचमें ही आयु छिन्न होजाती है। पूर्वजन्ममें आयुष्य कर्मका बन्ध करते समय कषाय अनुसार आयु कर्ममें जितनी स्थिति डाली थी उतनी स्थितिका पूरा भोग नहीं कर मध्यमें ही विष, शस्त्रघात, आदि द्वारा भविष्यमें आने योग्य आयुष्योंके निषेकोंको स्वल्पकालमें भोग लेना ही अपमृत्यु है। जैसे कि छह घंटेमें पचने योग्य अन्नका वडवानल चूर्ण द्वारा अतिशीघ्र पाचन कर लिया जाता है, अथवा आम्रफल, नीबू,

आदि फलोंको भी मध्यकालमें शीघ्र पचा लिया जाता है, उसी प्रकार लब्ध्यपर्याप्तक जीव या कर्म भूमिके बहुतसे मनुष्य तिर्यंचोंकी आयु मध्यमें ही ह्रासको प्राप्त होजाती है।

कुतः पुनरनपवर्त्यमायुरौपपादिकादीनामित्याह।

कोई जिज्ञासु कटाक्ष करता है कि फिर किस प्रमाणसे आप उक्त सिद्धान्तको साधते हैं कि औपपादिक आदिकोंकी आयु बाह्य कारणोंसे ह्रासको प्राप्त नहीं हो पाती है? जितने कालमें भोगने योग्य आयु उन्होंने पूर्व जन्ममें बांधी थी उतने कालके एक समय पहिले भी वे मरते नहीं हैं। चाहे कितने ही वज्रघात, मेघवर्षण, आदि उत्पातोंका प्रकरण प्राप्त होजाय, किन्तु वे परिपूर्ण आयुको भोगकर ही अन्य गतियोंको प्राप्त होते हैं। बतलाइयेगा, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी उत्तरवर्ती वार्तिकोंको कहते हैं।

अत्रौपपादिकादीनां नापवर्त्यं कदाचन।
स्वोपात्तमायुरीदृक्षाददृष्टसामर्थ्यसंगतेः॥ १॥
सामर्थ्यतस्ततोऽन्येषामपवर्त्यं विषादिभिः।
सिद्धं चिकित्सितादीनामन्यथा निष्फलत्वतः॥ २॥

यहां प्रकरणमें औपपादिक आदि जीवोंकी निज पुरुषार्थ द्वारा पूर्वजन्ममें उपार्जन की गयी आयु (पक्ष) विष, शस्त्र, आदि बाह्य कारणों द्वारा कदाचित् भी ह्रासको प्राप्त नहीं होती है (साध्य)। क्योंकि इस प्रकार आयुको छिन्न नहीं होने देनेवाले पुण्य, पाप, स्वरूप अदृष्टकी सामर्थ्य उन जीवोंको भले प्रकार प्राप्त हो रही है (हेतु)। अर्थात्—नारकी अकालमें ही मरना चाहते हैं। किन्तु उन्होंने पूर्वजन्ममें ऐसा पापकर्म कमाया है, जिससे कि वे दुःखाकीर्ण पूरी आयुको भोग करके ही मरते हैं। लौकान्तिक देव या अन्यसर्वार्थसिद्धिके देव आदिक तो शीघ्र ही मनुष्य जन्म लेकर संयमको साधना चाहते हैं। किन्तु पहिले जन्ममें उपार्जे गये बहुतकालमें लौकिक सुख भुगताने योग्य अखण्डपुण्यकी सामर्थ्यसे ये बीचमें नहीं मर सकते हैं। तथा बहुतसे इन्द्रियलोलुपी देव बिचारे आयुष्यसे भी अधिक कालतक जीवित रहना चाहते हैं। किन्तु भरपूर आयुको भोग चुकनेपर उनका मरण अवश्यंभावी है। भुज्यमान आयुका उत्कर्षण करण नहीं हो सकता है। परिपूर्ण आयुको भोगनेके लिये श्री तीर्थंकर महाराज केवलज्ञान हो जानेपर भी कुछ मुहूर्तों अधिक हो रहे आठ वर्षसे कमती कोटिपूर्व वर्षतक अधिकसे अधिक संसारमें टिके रहते हैं। जीवन्मुक्त आत्माका संसारमें ठहरना एक प्रकारका बन्धन है। चार अघातिया कर्मोंके वशमें पडे रहना परम सिद्धिका अभाव है। फिर भी आयुका ह्रास नहीं होनेसे वे मध्यमें ही झटिति सिद्धालयके अतिथि

नहीं बन सकते हैं। अतः शुभ कहो या अशुभ कहो अनुकूल कहो या प्रतिकूल कहो आयुको मध्यमें नहीं छिन्न होने देनेवाले विलक्षण स्वकीय पुण्यपापकी सामर्थ्य द्वारा औपपादिक आदि जीवोंकी आयु परिपूर्णरूपसे भोगी जा रही है। बिना कहे ही सूत्रोक्त शब्दोंकी सामर्थ्यसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि उन औपपादिक आदि जीवोंसे शेष बच रहे अन्य जीवोंकी विष, वेदना, आदि बहिरंग कारणोंसे आयु अपवर्तनको प्राप्त हो जाती है। अन्यथा रोगीकी चिकित्सा (इलाज) करना या जीवोंपर दया करना, अभयदान देना, आदिकोंकी निष्फलता बन बैठेगी, जो कि इष्ट नहीं है। अर्थात्—अनेक जीवोंकी अपमृत्यु हो जाती है। पांवके नीचे दबकर कीट, पिपीलिका, आदिक मर जाते हैं। यदि नहीं दबते तो नहीं मर पाते। देखिये, निर्धन या अज्ञानी रोगी योग्य चिकित्सा हुये विना मध्यमें ही कालकवलित हो जाते हैं। भयके मारे अनेक जीव तत्काल प्राणोंको छोड देते हैं, तभी तो उनकी चिकित्सा करना, दया करना, उनको निर्भय कर देना, आदि क्रियायें सफल समझी गयी हैं। अतः बहुभागमें जीवोंकी अपमृत्यु होना सम्भव रही हैं।

बाह्यप्रत्ययानपवर्तनीयमायुः कर्म प्राणिदयादिकारणविशेषोपार्जितं तादृशादृष्टं तस्य सामर्थ्यमुदयस्तस्य संगतिः संप्राप्तिस्ततो भवधारणमौपपादिकादीनामनपवर्त्यमिति सामर्थ्यादन्येषां संसारिणां तद्विपरीतादृष्टविशेषादपवर्त्यं जीवनं विषादिभिः सिद्धं, चिकित्सितादीनामन्यथा निष्फलत्वप्रसंगात् ।

प्राणियोंके ऊपर दया करना, नियतकालतक आग्रहपूर्वक क्लेश पहुंचाना, अनेक देशकालके जीवोंको पूर्णरूपसे मोक्षमार्गमें लगानेकी भावना रखना, अखण्ड प्रतिदिन दान देना, आदिक कारणविशेषोंसे देव, नारकी, तीर्थंकर महाराज, भोगभूमियां, जीवोंने पूर्वजन्ममें एक तिस प्रकारका अदृष्ट उपार्जित किया है। जिससे कि इनका आयुःकर्म वर्तमान कालमें किसी विष आदि बाह्यकारणसे अपवर्त होने योग्य नहीं है। उस अदृष्टकी सामर्थ्य तो इस भवमें उसका समुचित उदय होना है। उस उदयकी संगति अर्थात्—भले प्रकार प्राप्ति कतिपय जीवोंको हो रही है। तिस कारण देव, नारक, आदि जीवोंका संसारमें धरे रखनेवाला अथवा आत्माको इसी गृहीत शरीरमें ठूंसे रखनेवाला आयुष्यकर्म ह्रास होने योग्य नहीं है। यहांतक पहिली वार्त्तिकके उत्तरार्धका विवरण कर दिया है। दूसरी वार्त्तिकका तात्पर्य यह है कि विना कहे ही केवल सूत्रोक्त पदोंकी सामर्थ्यसे यह सिद्ध हो जाता है कि उस विलक्षण जातिवाले अदृष्टके विपरीत हो रहे दूसरे जातिवाले निर्बल अदृष्ट विशेषसे अन्य संसारी जीवोंका संसारमें जीवित रहना तो विषप्रयोग, शस्त्रघात, आदि कारणोंद्वारा ह्रास हो जाने योग्य है। अन्यथा चिकित्सा करना, दयाधर्मका उपदेश करना, दुष्काल पीडितोंके लिये अन्न वस्त्र देना, अग्निकाण्ड, जलकाण्डसे प्राणियोंकी रक्षा करना, आदिके निष्फलपनेका प्रसंग होगा। जब कि वे बीचमें मरेंगे ही नहीं तो उक्त क्रियायें क्यों की जा रही हैं ? किन्तु चिकित्सा

आदिक क्रियायें व्यर्थ नहीं हैं । कोई पक्षी या कीट, पतंग, यदि जलप्रवाहमें गिर पडे तो दयालु पुरुष उनको जलबाधासे उद्धार कर किनारेपर धर देता है, यह उनको अपमृत्युसे बचानेका ही उपाय है । यदि दयालु पुरुष उन जीवोंको नहीं निकालता तो उन जीवोंकी आयुःकर्मके निषेकोंका उत्कर्षण या उदीरणा होकर ह्रास होते हुये बीचमें ही मरण हो गया होता। जैसे कि असंख्याते जीव वर्तमानमें बचानेका निमित्त नहीं मिलनेसे मध्यमें ही अपमृत्युके ग्रास हो रहे हैं । हत्यारी चिरैयायें उडती हुई हजारों लाखों मक्खियोंको खा जाती हैं, छपकलियां असंख्य कीटोंको निगल जाती हैं, उल्लू, चील, नीलकण्ठ आदि पक्षी, सिंह, व्याघ्र, भेडिया, बिल्ली, चीजू, आदि पशु तथा अनेक जलचर मांसभक्षी प्राणी ये सब हत्यारे जीव उन निर्बल खेलते, खाते, पीते, प्राणियोंकी अकालमें हत्या कर डालते हैं । प्लेग, हैजा, आदि रोगोंमें लाखों प्राणियोंकी अपमृत्युयें हो जाती हैं । बालवैद्य या योग्य औषधियोंके न मिलनेसे लाखों बच्चे मर जाते हैं । इस निकृष्ट पंचम कालमें तो बहुत थोडे जीवोंको परिपूर्ण आयु भोगकर मरनेका सौभाग्य प्राप्त होता होगा । अनेक जातिके रोग, चिन्तायें, वैधव्य, दरिद्रता, अनिष्ट बांधवोंकी संगति, टोटा, पराजय, अधमर्णता, कुग्रामवास, विधवाकन्याप्रयुक्त शोक अवस्था, आजीविकाकी क्षति, पराभव, आदि कारणोंसे बहुतसे जीव आयुको पूर्ण किये विना मध्यमें ही मृत्यु मुखमें पड जाते हैं । जलकायिक, अग्निकायिक, घास, फल, पुष्प, शाक, तरकारी, आदि बहुभाग एकेंद्रिय जीवोंकी आयु छिन्न कर दी जाती है ।

न ह्यप्राप्तकालस्य मरणाभावः खड्गप्रहारादिभिर्मरणस्य दर्शनात् । प्राप्तकालस्यैव तस्य तथा दर्शनमिति चेत्, कः पुनरसौ कालं प्राप्तोऽपमृत्युकालं वा; द्वितीयपक्षे सिद्धसाध्यता, प्रथमपक्षे खड्गप्रहारादिनिरपेक्षत्वप्रसंगः सकलबहिःकारणविशेषनिरपेक्षस्य मृत्युकारणस्य मृत्युकालव्यवस्थितेः। शस्त्रसंपातादिबहिरंगकारणान्वयव्यतिरेकानुविधायिनस्तस्यापमृत्युकालत्वोपपत्तेः।

कोई आग्रही पण्डितम्मन्य यों समझ बैठा है कि जिस जीवका मृत्युकाल प्राप्त नहीं हुआ है, उसका कथमपि मरण नहीं होता है । विषप्रयोग या अग्निकाण्ड अथवा जलप्रवाहसे भी जीव रक्षित (बचना) हो जाते हैं। गोली लग जानेपर भी पुनः बीसों वर्षतक जीवित रहते हैं । आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं समझ बैठना चाहिये। क्योंकि खड्गके प्रहार, तोप गोलेका लगना, तीव्र विषप्रयोग, प्रचण्ड अग्निदाह, अतिसंक्लेश, आदि घातक कारणोंसे जीवोंका मरण होना देखा जा रहा है । भले ही क्वचित् देवकृत या दैवकृत रक्षा हो जानेसे अथवा घातक कारणकी अल्पशक्ति होनेसे अपमृत्यु नहीं हो सके । एतावता अपमृत्युका निराकरण नहीं हो सकता है। एक पुण्यशाली मनुष्य थोडा अपराध बन जानेसे एक, दो, तीन, बार तोप द्वारा उडाये जानेपर भी मर नहीं सका । जयपुर निवासी अमरचन्द दीवान सिंहके पींजरेमें बाल बाल बच गये । घुना अन्न पीसनेवाली चाकीमें कोई एक दो कीट नहीं मरे, दो पाटोंके बीचमें होकर भी वे जीवित निकल आये, जैसे कि पीसती हुई चाकोंमेंसे कोई गेहूं

बाहर निकल आता है । इतनेसे ही बन्दूक, तोप, द्वारा हजारों मर चुके या चाकीमें लाखों पिस चुके जीवोंकी अपमृत्यु विधानका विघात नहीं हो सकता है । यदि वह आग्रही शंकाकार यों कहे कि जिसको आप मध्यमें आयुका ह्रास कर अपमृत्युको प्राप्त हो जानेवाला जीव कहते हो उस जीवकी भी तिस प्रकार पूर्ण आयुष्य काल प्राप्त हो चुकनेपर ही उस निमित्तसे मृत्यु हुई देखी जाती है । यों कहनेपर तो आचार्य विकल्प उठाकर उस आग्रहीको पूंछते हैं कि बताओ यह हृष्ट पुष्ट तगडा युवा बिचारा गोली या विषके प्रयोगसे स्वल्पकालमें जो मरगया है या दुष्ट हिंसकोंने मार्गमें द्रुतगतिसे जा रहे सांपको लाठियोंसे कुचल डाला है, छपकलीने मक्खीको लील लिया है, क्या वे जीव फिर अपने पूर्ण मरणकालको प्राप्त हो चुके थे ? अथवा क्या मध्यमें ही उनका अपकृष्ट मृत्यु होनेका काल प्राप्त होगया है ? बताओ । दूसरा पक्ष ग्रहण करनेपर तो तुम्हारे ऊपर सिद्धसाध्यता दोष है । क्योंकि साधने योग्य उसी अपमृत्यु कालको हम सिद्ध कर रहे हैं, उसीको तुम मान बैठे हो । ऐसी दशामें हमारा तुम्हारा कोई विवाद ही नहीं है। हां, पहिला पक्ष ग्रहण करनेपर तो उनकी मृत्युमें असिप्रहार, विषप्रयोग, घातकप्राणी द्वारा शरीरका विदारण किया जाना आदि कारणोंकी अपेक्षा नहीं रखनेका प्रसंग होगा । किन्तु जाना गया है कि बलिष्ठ योद्धा, युवा, मक्खी, हिरण, आदि जीवोंको यदि खड्ग प्रहार बुभुक्षित छपकली या व्याघ्रका अवसर प्राप्त नहीं होय तो वे दीर्घ-कालतक जीवित बने रहते हैं । हत्यारे मनुष्यको फांसी देकर मार दिया जाता है । यह उसकी अपमृत्यु नहीं तो क्या है ? हां, जो संक्लेश, असिप्रहार आदि अपघातक कारणोंके बिना पूर्ण आयु भोग कर मरता है, वह अपमृत्युरहित होरहा मल्ल मृत्युकालको प्राप्त हुआ कहा जाता है । क्योंकि सम्पूर्ण बहिरंग कारण माने गये अन्ननिरोध, फांसी, विष, आदि विशेषोंकी नहीं अपेक्षा रख रहे मृत्युकारणको ही पूर्ण मृत्युका काल, व्यवस्थापित किया गया है । कतिपय मनुष्य बैठे बैठे या जाप्य करते हुये मर जाते हैं । कोई वृक्ष यों ही सूख जाते हैं । चींटियां, मक्खियां, भी बहुतसी घातक कारण विना यों ही मर जाती हैं । घास पककर सूख जाती है । यह जीवोंका मृत्युकाल माना गया है । हां, जिस मृत्युका शस्त्रघात, विद्युद्घात, जलोदर, कसाई द्वारा हता जाना, आदि बहिरंग कारणोंके साथ अन्वय व्यतिरेक का विधान पाया जाता है, अर्थात्—शस्त्रसम्पात होनेपर मृत्युका होना और शस्त्राघात यदि नहीं होता तो कथमपि मृत्यु नहीं होती, यह अन्वय व्यतिरेक होरहा है, उस मरणकालको अपमृत्युकाल-पना युक्त माना गया है ।

तदभावे पुनरायुर्वेदप्रामाण्यचिकित्सितादीनां क्व सामर्थ्योपयोगः । दुःखप्रतीकारादाविति चेत्, तथैवापमृत्युप्रतीकारादौ तदुपयोगोऽस्तु तस्योभयथा दर्शनात् ।

यदि रोग, विष, आदि द्वारा उस अपमृत्युकाल होनेको नहीं माना जायगा तो फिर आयुर्वेद या चिकित्साशास्त्रका प्रमाणपन अथवा चिकित्सामें नियुक्त होरहे सद्वैद्य, रोगप्रतीकारक मंत्र,तंत्र, आदिकोंकी

सामर्थ्यका उपयोग होता कहां समझा जायगा ? आयु छिन्न नहीं होनेवाले जीवोंके लिये ये सब प्रयोग व्यर्थ हैं । आयुर्वेद या चिकित्सा करना विषापहारक मंत्र ये कोई आयुष्यकर्मको बढा नहीं देते हैं । हां, अपमृत्युके जुटे हुये कारणोंका विध्वंस कर देते हैं । भुज्यमान आयुष्यसे एक समय अधिक भी जीवित रख लेना इन्द्र, अहमिंद्र, ग्रह, योगिनी, क्षेत्रपाल, मंत्र, तंत्रके बूते अशक्यानुष्ठान है । हां, प्रतिबन्धकोंकी शक्तिका नाश करनेमें जो औषधि आदि समर्थ कारण हैं, वे मध्यमें अपकर्षण या उदीरणाको प्राप्त हो रहे आयुष्यकर्मके निषेकोंकी अवस्थाका ध्वंस कर उतने ही पूरे नियत समयोंमें उदय आने योग्य कर देते हैं । आयुर्वेदके प्रमाणपन अनुसार या मंत्र आदि शास्त्रोंके यथार्थपन अनुसार मध्यमें मरता हुआ जीव यदि बचा लिया जाय, ये क्या थोडी सामर्थ्य है ? पूर्वजन्ममें बांधी हुई आयुको मध्यमें ही तोड सकनेवाले प्रतिबन्धक रोगोंका समुचित चिकित्सा प्रक्रिया द्वारा निराकरण समझाया जाकर पूर्ण आयुको भोगनेके लिये जिन शास्त्रोंसे ज्ञान सम्पादन किया जाता है, वे आयुर्वेद शास्त्र हैं । न्याय ग्रन्थ, व्याकरणविषयक ग्रन्थ, सिद्धान्तशास्त्र, ज्योतिषशास्त्रके समान आयुर्वेद भी एक आवश्यक वैद्यक विषयके ग्रन्थोंका समुदाय है, कोई ऋग्वेद, यजुर्वेदके समान एक नियत ग्रन्थ ही आयुर्वेद नहीं है । यदि कोई यहां यों कहे कि दुःखका प्रतीकार हो जाना, कुछ कुछ सुख मिल जाना, चलने फिरने लग जाना, आदिक कार्योंमें ही चिकित्साशास्त्र या वैद्योंके पुरुषार्थकी सफलता हो जाती है । अर्थात्—वातव्याधि या कुष्ठ, जलोदर आदि रोगोंकी चिकित्सा केवल इस लिये की जाती है कि रोगीका दुःख कम हो जाय, उसको कुछ कुछ चैन पडने लग जाय, कुछ चल, फिर सके, खा, पी ले, थोडी नींद ले लेवे, रोगका उपशम हो जाय, बस, इसीलिये रोगीकी चिकित्सा की जाती है । उसका मरना तो आयुके पूर्ण होनेपर ही होगा, और तब आयु पूरी हो जानेपर महान् सद्वैद्य, बडे बडे चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट, या मंत्र तंत्र शास्त्रके ग्रन्थ व्यर्थ धरे रहेंगे । जीवन एक विपल (एक सैकिन्डका ढाईमां भाग) भी बढ नहीं सकता है। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार असाता वेदनीयके उदयसे प्राप्त हुये दुःखके प्रतीकार आदिमें शास्त्र, वैद्य, गारुडिक, तंत्र आदिकी सामर्थ्य होना माना जा रहा है, उसी प्रकार अपमृत्युका प्रतीकार आयुष्य कर्मकी उदीरणा नहीं होने देने आदि कार्योंमें भी उनका उपयोग माना जाओ । जो कारण दुःखका प्रतीकार कर सकते हैं यानी दुःख देनेवाले पापोदयको टाल सकते हैं वे अपमृत्युको भी हटा सकते हैं । उनकी उस सामर्थ्यका उपयोग होना दोनों प्रकारसे देखा जाता है । दुःखोंके प्रतीकार हो जाते हैं । अपमृत्युका विनाश भी साथमें हो जाता है । चतुर वैद्य किसी रोगमें कुछ दिनोंके लिये दुःखको अधिक बढाकर भी रोगीकी अपमृत्युका विनाश कर देता है । गले सडे अंगको शस्त्रचिकित्सा द्वारा काट कर रोगीको अपमृत्युसे बचा लिया जाता है, सन्निपात रोगसे ज्वर रोगमें लाकर पुनः ज्वरका विनाश करता हुआ वैद्य उस रोगीको मध्य मृत्युसे रक्षित कर लेता है । सतानेवाले व्यक्त रोग और वर्तमानमें नहीं दुःख दे रहे रोगोंकी चिकित्सा होना दोनों प्रकारसे देखा जाता है ।

नन्वायुःक्षयनिमित्तोपमृत्युः कथं केनचित्प्रतिक्रियते तद्वदसद्वेद्योदयनिमित्तं दुःखं कथं केनचित्प्रतिक्रियतां ? सत्यप्यसद्वेद्योदयेन्तरंगे हेतौ दुःखं बहिरंगे वातादिविकारे तत्प्रतिपक्षौपधोपयोगोपनीते दुःखस्यानुत्पत्तेः प्रतीकारः स्यादिति चेत्, तर्हि सत्यपि कस्यचिदायुरुदयेंतरंगे हेतौ बहिरंगे पथ्याहारादौ विच्छिन्ने जीवनस्याभावे प्रसक्ते तत्संपादनाय जीवनाधानमेवापमृत्योरस्तु प्रतीकारः ।

यहां किसी अन्यवादीका स्वपक्ष अवधारण है कि आयुष्य कर्मका कारणवश पूरा खिर जानारूप क्षयको निमित्त पाकर होनेवाली अपमृत्यु भला किसी भी एक औषधि, मंत्र या अनुष्ठान आदि करके कैसे प्रतीकारको प्राप्त की जा सकती है ? अर्थात्—अपने अपने नियत समय अनुसार ही जीवोंका मरण होना अभीष्ट करनेवाला वादी यों कह रहा है कि चाहे किसीकी भी मृत्यु या अपमृत्यु क्यों न होय, वह पूर्व उपार्जित आयुष्यकर्मके क्षय होनेपर ही होगी । मध्यमें उसका प्रतीकार करना व्यर्थ है । लिखे, बदेसे एक क्षणमात्र भी आयुः न्यून या अधिक नहीं होपाती है । इस कुत्सित अवधारणका प्रत्याख्यान करते हुये आचार्य कहते हैं कि तब तो असातावेदनीयकर्मके उदयको निमित्त मानकर हुआ दुःख भला भिन्न ढंगसे किस चिकित्सा, मंत्र, आदि करके प्रतीकारको प्राप्त किया जा सकेगा ? बताओ । जैसे आप " नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि " इस सिद्धान्त अनुसार आयुष्यकर्मका पूरा भोग होकर ही जीवोंका मरण होना स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार असातावेदनीयकर्म भी अपना परिपूर्ण कार्य दुःख देना कितने ही दिनों, महिनोंतक पीडा पहुंचाना, परिताप कर देना, आदि फलोंको देकर ही निवृत्त होगा । औषधि आदिसे असद्वेद्यका प्रतीकार नहीं किया जा सकेगा, किन्तु आप पहिले चिकित्सा आदि द्वारा दुःखोंका मध्यमें ही प्रतीकार हो जाना स्वीकार कर चुके हैं । यदि तुम यों कहो कि दुःखके अभ्यन्तर कारण असातावेदनीयकर्मका उदय होते संते भी और दुःखके बहिरंगकारण वातव्याधि, उदरशूल, नेत्रपीडा, मस्तकवेदना आदि रोग या वात, पित्त, कफ, दोषजन्य विकारोंकी प्राप्ति हो जानेपर हुये उस दुःखको मेटनेवाली प्रतिपक्ष औषधिके उपयोगका प्रसंग मिल जानेपर दुःखकी उत्पत्ति नहीं होनेसे ही दुःखका प्रतीकार होना समझ लिया जायगा । तुम्हारे यों कहनेपर तब तो हम जैनसिद्धान्ती भी कह देंगे कि किसी जीवके जीवित रहनेके अंतरंगकारण लंबे चौडे आयुःकर्मका उदय होते रहते हुये भी यदि जीवित रहनेके बहिरंग कारण पथ्यआहार उचित जलवायुसेवन, पाकाशयकी शुद्धि, आदिका विच्छेद प्राप्त होजानेपर जीवित रहनेके अभावका प्रसंग प्राप्त हो चुका समझो । ऐसी दशामें उस आयुःके मध्यविच्छेदको रोककर उसी दीर्घ जीवनका संपादन करनेके लिये जीवित रहनेको वैसाका वैसा ही पुनः संधारण कर लेना ही अपमृत्युका प्रतीकार होजाओ । भावार्थ—" यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः " इस नियमको सर्वत्र लगा बैठना । आत्माके पुरुषार्थ या अन्य कारणोंसे जैसे खींच ली गयीं कार्मण वर्गणायें कर्म

बना ली जाती हैं। बंधे हुये वे कर्म पुनः नियत समय अनुसार उदयावलीमें प्राप्त होकर आत्माको सुखदुःख देना, स्थूल शरीरमें रोके रखना, आदि फल देते हैं, उसी प्रकार आत्मपुरुषार्थ या अन्य नियत कारणों द्वारा उन कर्मोंकी उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा, उपशम, निधत्ति, निकाचना, आदि अवस्थायें भी की जा सकती हैं। हां, भुज्यमान आयुको बढानेके लिये या ज्ञानावरणका उपशम करनेके लिये अथवा नामकर्मका क्षयोपशम करनेके लिये आत्मा यदि ऐसे अशक्यानुष्ठान कार्योंका प्रयत्न करेगा तो उसका परिश्रम या कारणोंका व्यापार पहाडसे माथा टकरानेके समान सर्वथा व्यर्थ पडेगा। किन्तु उचित कालसे पूर्वकालमें ही आयुःकर्मकी उदीरणा या अपकर्षण करनेवाले अथवा उस आयुष्यको मध्यमें ही विच्छेद करनेके लिये मुख फाडे बैठे हुये कारणोंकी सामर्थ्यको नष्ट कर देनेवाले कारणोंका व्यापार व्यर्थ नहीं जाता है। आयुको मध्यमें छेद करनेवाला विष, शस्त्रघात, आदि कारण पूर्ण समर्थ होता हुआ यदि प्रतीकारक मंत्र, औषधि, आदिकी शक्तियोंका भी ध्वंस कर देगा तो आयुका ह्रास अवश्यम्भावी है। किन्तु आयुःके मध्यमें छेदनेवाले कारणोंकी शक्तिका चिकित्सा आदि समर्थ कारणों द्वारा विनाश कर दिया गया है तो " अनी टल जानेपर हजार वर्षकी आयु " इस ग्रामीण किम्वदन्ती अनुसार दीर्घ जीवन बना बनाया ही है। बात यह है कि चिकित्सा प्रणाली द्वारा अपमृत्युका प्रतीकार किया जा सकता है, जैसे कि सुखके या दुःखनिवृत्तिके कारण मिला देनेपर असद्वेद्य, अरति, शोक, आदि कर्मोंके उदय निमित्त परिणामोंका प्रतीकार कर दिया जाता है। जो खाया हुआ पदार्थ प्रमाद दशा होनेपर छह घण्टेमें पच पाता वह व्यायाम या सानन्द वायु सेवनार्थ स्वच्छन्द गमनरूप पुरुषार्थ द्वारा तीन घंटेमें ही पचा लिया जाता है।

सत्यप्यायुषि जीवनस्याभावप्रसक्तौ कृतप्रणाशः स्यात् इति चेत्, तर्हि सत्यप्यसद्वेद्योदये दुःखस्योपशमने कथं कृतप्रणाशो न भवेत् ?

जैनोंके ऊपर कोई आक्षेप करता है कि दीर्घ कालतक जीवित रखनेके उपयोगी आयुःकर्मका सत्त्व होते हुये भी यदि मध्यमें ही जीवित रहनेके अभावका प्रसंग मिल जाना माना जायगा तब तो कृतका विनाश होजाना, यह बडा भारी दोष आता है। यानी "जो करता है वह अवश्य भरता है" "न कर तो कुछ भी नहीं डर" ऐसी लोकप्रसिद्धियां हैं। किये हुये कर्मका यदि फल दिये विना ही बढिया नाश होजाय तब तो दान, पूजा, अध्ययन, अध्यापन, सभी शुभकर्म व्यर्थ पडेंगे। हिंसक, व्यभिचारी जीव भी दयावान् ब्रह्मचारी पुरुषोंकी पंक्तिमें साथ बैठ जायंगे, यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि तब तो असद्वेदनीय कर्मका उदय होनेपर भी यदि चिकित्सा आदि द्वारा दुःखका उपशम होना माना जायगा तो तुम्हारे ऊपर भी कृतका नाश हो जाना दोष किस प्रकार नहीं बन बैठेगा ? बताओ। भावार्थ—तुम जो समाधान उस दुःखके उपशम हो जानेमें करते हो वही समाधि इस अपमृत्युमें भी कर लेना। यदि किसी जीवने पहिले पुण्यका उपार्जन किया पश्चात् तीव्र पाप कर लिया ऐसी दशामें पुण्यकर्मका पापकर्म रूपसे संक्रमण होजाने पर कोई कृतप्रणाश नहीं है। सर्पके मुखमें पडे हुये

जलका परिणाम विष होजाता है, विशेष सीपमें प्राप्त हुये जलका बिंदु मोती बन जाता है। जिस तपस्यासे सौधर्म इन्द्र लौकान्तिक देव, सर्वार्थसिद्धिके देव इन पदोंकी अथवा मुक्तिकी भी प्राप्ति हो सकती है, लोलुपी जीव निदान नामक पुरुषार्थ द्वारा छोटेसे फलको प्राप्त करनेमें ही परितृप्त होजाता है। यह कर्मोंकी अवस्थाओंका परिवर्तन होना ही तो है। इसमें कृतप्रणाश क्या हुआ ? व्यायाम कर अन्नको शीघ्र पचा लिया या औषधि करके रोगसे शीघ्र छुट्टी पा ली इसमें कोई कृतप्रणाश दोष नहीं है। सातिशय पुण्यशाली जीव अल्पपुरुषार्थसे बहुत लाभ उठा लेता है, जब कि पुण्यहीन किसान घोर परिश्रम द्वारा अत्यल्प आय कर पाता है। इसमें कृतप्रणाश कुछ भी नहीं है। जो नियम यों कर रहा है कि इस जीवको दस वर्षतक दुःख या सुख भोगना है अथवा जीवित रहना है साथमें वही नियम यों भी कह रहा है कि यदि इसके प्रतिकूल कारण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, मिल जायंगे तो अल्प कालमें भी उन कर्मोंका भोग होकर निवारण कर दिया जायगा। केवली भगवान् भी तेरहवें गुणस्थानमें केवली समुद्घातस्वरूप स्वकीय पुरुषार्थ द्वारा तीन अघातिया कर्मोंकी स्थितीको अपने आयुष्य कर्मकी स्थितीके समान छोटी कर लेते हैं। इसमें कृतप्रणाश रत्ती भर भी नहीं है। लोकमें भी कारण वश सजायें घटा दी जाती हैं।

कटुकादिभेषजोपयोगजपीडामात्रं स्वफलं दत्त्वैवासद्वेद्यस्य निवृत्तेर्न कृतप्रणाश इति चेत्, तर्ह्यायुषोपि जीवनमात्रं स्वफलं दत्त्वैव निवृत्तेः कृतप्रणाशो मा भूत् विशिष्टफलदानाभावस्तूभयत्र समानः। ततोस्ति कस्यचिदपमृत्युश्चिकित्सितादीनां सफलत्वान्यथानुपपत्तेः कर्मणामयथाकालविपाकोपपत्तेश्चाम्रफलादिवत्।

प्रतिवादी कहता है कि कड़वी, कषैली, उष्ण, पीडाकारक, आदि नहीं रुचनेवाली औषधियोंके उपयोगसे उत्पन्न हुई वेदनामात्र ही अपने फलको देकर असद्वेदनीय कर्मकी निवृत्ति हो जाती है। अतः दुःखके उपशम करनेमें कृतकर्मका समूलचूल नाश नहीं हुआ। अर्थात्—कडवी औषधी (दवाई) पी लेने या हड्डी चढाते समय मर्दन (मालिश) का दुःख भुगतने अथवा श्लेष्ममें चारों ओरसे दुबक कर पसीना लेने एवं शस्त्रद्वारा चीर फाडकी वेदना सहने आदि फलोंको देकर ही असद्वेदनीय कर्मकी निवृत्ति हुई है। फल दिये विना कोई कर्म टलता नहीं है। अतः की जा चुकी करनीका प्रणाश नहीं हुआ, यों कहनेपर हम जैन भी कह देंगे कि तब तो अपवर्तनीय आयुवाले जीवोंके आयुःकर्मकी भी स्वल्पजीवनमें ही अपना पूरा रस दे देना मात्र अपना फल देकर ही निवृत्ति हुई है। अतः कृतका प्रणाश मत होओ। यानी सेरभर खांडमें जितनी मधुरता है तोले भर मिठाईका सार भी उतना ही मीठा है। भले ही सारसे डेड सेर तौलमें लड्डू नहीं बन सकें, किन्तु मिष्टजल (सरबत) उतना ही बन जायगा जितना एक सेर खांडसे मीठा पानी हो जाता है। यह फल क्या न्यून है ?। यदि तुम यों कहो कि अपमृत्यु मान लेनेपर आयुष्य कर्मका परिपूर्ण कालतक विशिष्ट फल देना तो नहीं हुआ, ऐसी दशामें हम जैन भी कह सकते हैं कि जो

ज्वर रोग चार दिनतक संक्लेश देता, वह कडवी कुटकी, चिरायतामिश्रित औषधिके पी लेनेपर एक ही दिनमें उपशान्त हो जाता है, यहां भी तो असद्वेद्य द्वारा पूर्ण कालतक विशिष्ट फल दिया जाना नहीं है। अतः पूर्व व्यवस्था अनुसार कर्मोंके विशिष्टफल देनेका अभाव तो हमारे, तुम्हारे, दोनोंके यहां समान है। तिस कारणसे सिद्ध हो जाता है कि किसी किसी जीवकी मध्यमें ही अपमृत्यु हो जाती है। (प्रतिज्ञा) चिकित्सित, मंत्रप्रयोग, पुरुषार्थविशेष आदिकोंकी सफलता अन्यथा यानी अपमृत्युको स्वीकार किये बिना नहीं बन पाती है (हेतु)। एक बात यह भी है कि नियतकालका अतिक्रमण कर भी अपकर्षण, उत्कर्षण, अनुसार कर्मोंके विपाक आगे, पीछे, हो जाते हैं। जैसे कि आम्रफल, पनस, नीबू, खरबूजा, आदि फल समयसे पूर्व ही भुस, रूई, आदिमें पका लिये जाते हैं। अर्थात्— मुर्गी, या कबूतरीके उदरमें विशेष उष्णताको पहुंचाकर नियत कालसे पहिले प्रसव करा लिया जाता है। उपयोगमें लाने या आतपमें अधिक रखनेसे वस्त्र शीघ्र जीर्ण हो जाता है। गीला कपडा फैला देनेसे शीघ्र सूख जाता है। थोडी उमरमें ही गृहस्थीका बोझ आपडनेपर समयसे पहिले बुद्धि परिपक्व हो जाती है। गम्भीरता आ जाती है। इसी प्रकार अपमृत्यु दशामें आयुःकर्मके निषेक शीघ्र झड जाते हैं। दस वर्षतक उदयमें आनेके लिये रची गयी आयुष्यकर्मकी पंक्तिको शीघ्र उदयमें लाकर भोगता हुआ जीव मध्यमें मर जाता है। अपमृत्युवाले जीवके भी आयुष्य कर्मकी भोग (फल प्राप्ति) भोग कर ही निवृत्ति हुई है। अनुपक्रम निर्जराके समान कर्मोंकी उपक्रम निर्जरा भी होती है। कर्मोंका फल यथा अवसरपर ही भुगवानेवाले जैसे कारण हैं उसी प्रकार भविष्यमें उदय आनेवाले कर्मको कारण द्वारा वर्तमानमें भी उदय प्राप्त किया जा सकता है। मूर्ख छोकरा युवा अवस्थाकी परिपक्वताके प्रथम ही मोहवश युवत्व भावोंको प्राप्त कर लेता है। वृद्धत्व और मृत्युको भी शीघ्र बुला लेता है। अतः निर्णीत हो जाता है कि देव, नारकी, और तीर्थंकर महाराज तथा भोगभूमियां, कुभोगभूमियां, जीवोंके अतिरिक्त शेष संसारीजीवोंकी आयुका मध्यमें ह्रास हो सकता है।

यथाह, विवादापन्नाः प्राणिनः सापवर्त्यायुषः शरीरित्वादिन्द्रियवत्त्वाद्वा प्रसिद्धसापवर्त्यायुष्कप्राणिवत् ते वानपवर्त्यायुषस्तत एवौपपादिकवदिति, सोपि न युक्तवादीत्युपदर्शयति।

जो भी कोई आक्षेपकार यों अनुमान बना कर कह रहा है कि विवादमें प्राप्त हो रहे देव, नारकी, तीर्थंकर और भोगभूमियां, प्राणी भी (पक्ष) ह्रासको प्राप्त होने योग्य आयुसे सहित हैं (साध्य) शरीरधारी होनेसे (प्रथम हेतु) अथवा इन्द्रियवाले होनेसे (द्वितीयहेतु) अपवर्तसहित आयुवाले प्रसिद्ध कर्मभूमियां मनुष्य, तिर्यञ्च, प्राणियोंके समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस अनुमानसे देव आदि जीवोंकी आयुका ह्रास होना सध जाता है। अथवा जैनसिद्धान्तको बिगाडनेके लिये दूसरा अनुमान यह भी किया जा सकता है कि वे कर्मभूमियां मनुष्य या एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, आदि जीव भी (पक्ष) अखण्डनीय आयुवाले हैं (साध्य) उस ही कारणसे अर्थात्—शरीरधारी होनेसे अथवा इन्द्रियवाले होनेसे (हेतुद्वय) देव, नारकी जीवोंके समान (अन्वयदृष्टान्त)। अब आचार्य कहते हैं कि वह

आक्षेपकार भी युक्तिपूर्ण वाद करनेकी टेवको रखनेवाला नहीं है। भावार्थ—जैनसिद्धान्त कोई बच्चोंका खेल नहीं है, जो कि चाहे अब बिगाड लिया जाय और बना लिया जाय। जैनसिद्धान्तकी भित्ति द्रव्यके वस्तुभूत परिणामोंपर अवलम्बित है। जैसे जलका दृष्टान्त देकर अग्निमें अनुष्णत्व सिद्ध करनेवाला द्रव्यत्व हेतु अथवा अग्निका दृष्टान्त देकर जलमें भी उष्ण स्पर्शको साधनेवाला द्रव्यत्व हेतु, व्यभिचार, बाध, सत्प्रतिपक्ष दोषोंसे परिपूर्ण है। उसी प्रकार शरीरसहितपन या इन्द्रियधारीपन हेतु भी व्यभिचार आदि हेत्वाभास दोषोंसे दूषित है। अतः अविनाभावस्वरूप प्राणको धारनेवाले जीवित हेतुओंसे सिद्ध शास्त्रोंकी रिक्षिको चाहनेवाले विद्वानोंको अविनाभावविकल मृतहेतुओंसे (हेत्वाभासोंसे) अन्ट सन्ट साध्यको साधनेके लिये कुत्सित प्रयत्न नहीं करना चाहिये। अन्यथा घृणापात्र बननेके अतिरिक्त उन्हें बाध, अनिष्टप्रसंग, अपसिद्धान्त, अप्रमाणिकपन, आदि दोषोंको भी झेलना पडेगा। इसी बातको श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम दो वार्तिकों द्वारा प्रदर्शन कराते हैं।

तदन्यतरदृष्टत्वाच्छरीरित्वादिहेतुभिः।
सर्वेषामपवर्त्यं तत्रापपवर्त्यमितीरयन्॥ ३॥
प्रबाध्यते प्रमाणेन स्वेष्टभेदाप्रसिद्धितः।
सर्वज्ञानिविरोधाश्च मानमेयाव्यवस्थितेः॥ ४॥

उन अपवर्तनीय आयुवाले और अनपवर्तनीय आयुवाले कर्मभूमियां या देव, नारकी आदि जीव इन दोनोंमेंसे किसी एकमें इष्टसाध्यके साथ देखा जा चुका होनेसे शरीरधारीपन, इन्द्रियधारीपन, प्राणयुक्तपन, संसारीपन, आदि हेतुओं करके यदि सभी शरीरधारी जीवोंकी वह आयु न्हास होने योग्य है अथवा नहीं न्हास होने योग्य है, इस प्रकार कथन कर रहा आक्षेपकार (पक्ष) अच्छे प्रकार प्रमाणों करके बाधित हो जाता है (साध्य) अपने इष्ट भेदोंकी अप्रसिद्धि होजानेसे (प्रथम हेतु) और सर्वज्ञ, जगत्कर्तृत्व, आकाशव्यापकत्व आदि सिद्धान्तोंका विरोध प्राप्त होजानेसे (द्वितीय हेतु) तथा प्रमाणों द्वारा जानने योग्य प्रमेय पदार्थोंकी अव्यवस्था प्राप्त होजानेसे (तृतीय हेतु)। अर्थात्—पक्ष और विपक्षमें सामान्य रूपसे पाये जा रहे धर्म करके जो दूसरेके निर्दोष सिद्धान्तपर कुठाराघात करता है वह स्वयं प्रमाणोंसे बाधित होरहा संता अपने अभीष्ट भेद, प्रभेदोंको नहीं साध सकता है। वह सर्वज्ञ आदिको भी नहीं मान सकेगा। उसकी मानी हुई प्रमाणप्रमेयव्यवस्था सब लुप्त होजायगी। मनुष्यत्व हेतुसे दरिद्रका धनिकपना, या मूर्खका पण्डितपना, व्यभिचारीका ब्रह्मचारीपन, साधुका गृहस्थपन, वादीका प्रतिवादीपन, अपसिद्धांतीका सिद्धांतीपन, पराजितका जेतापन, स्वामीका भृत्यपन, आदि भी सब सध जायंगे। भारी पोल मच जायगी। अतः अविनाभावसे विकल होरहे सामान्य हेतुओं करके विशेष साध्यकी सिद्धि करना स्वयं अपने लिये कुठाराघात है। बालक भी अपने लिये कांटे बखेरना नहीं चाहता है।

न ह्यपवर्त्यानपवर्त्ययोरायुषोरन्यतरस्यापि प्रतिक्षेपं कुर्वन् प्रमाणेन न बाध्यते, अनुमानेनागमेन च तस्य बाधनात् स्वेष्टभेदप्रसिध्या चायं प्रबाध्यते। स्वयमिष्टं हि केषांचित्प्राणिनामल्पायुः केषांचिद्दीर्घं तत्र शक्यं वक्तुं। विवादापन्नाः प्राणिनोल्पायुषः शरीरित्वात् प्रसिद्धाल्पायुष्कवत् ते वा दीर्घायुषस्तत एव प्रसिद्धदीर्घायुष्कवदिति स्वेष्टविभागसिद्धिः प्रबाधिका।

विपक्षको अन्वयदृष्टांत बनाकर व्यभिचारी हेतुओं द्वारा अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय दो आयुओंमेंसे किसी भी एक आयुके निराकरणार्थ आक्षेप कर रहा स्थूलबुद्धि पंडित प्रमाण करके बाधित नहीं होता है, यह नहीं समझ बैठना। क्योंकि अनुमानप्रमाण और आगमप्रमाणसे उस आक्षेपकर्ताके मन्तव्यकी बाधा होजाती है। जब कि प्राणिदया आदि कारण विशेषोंसे उपार्जित किये गये तिस प्रकारके अदृष्टकी सम्प्राप्ति होजानेसे देव आदि जीवोंकी आयुको अनुमान द्वारा अनपवर्तनीय साधा जा चुका है तथा उसके विपरीत माने गये विशेष अदृष्टके वश हुये कर्मभूमियां जीवोंकी आयुका विष आदि द्वारा ह्रास हो सकना सिद्ध कर दिया गया है, ऐसी दशामें आक्षेपकारके अनुमानाभास उक्त निरवद्य दो अनुमानोंसे बाधित हो जाते हैं एवं सिद्धान्तग्रन्थोंमें आयुका परिपूर्ण भोग और कदाचित् मध्यविच्छेद होना भी समझाया गया है। अन्तकृद्दशांगमें दारुण उपसर्ग सह कर कर्मका क्षय करनेवाले जीवोंकी वर्णना है। अनुत्तरौपपादिकदशांगमें भी उपसर्गवाले मुनियोंका वर्णन है। तथा सिद्धान्तग्रन्थ अनुसार गोम्मटसारमें आयुःकर्मके संक्रमण विना नौ करण स्वीकार किये हैं। " संकमणा करणूणा णव करणा होंति सव्व आऊणं "। वैद्यक ग्रन्थोंमें भी आयुःका पूर्ण भोग होना अथवा किसी जीवकी आयुः का मध्यमें ह्रास हो जाना भी परिपुष्ट किया है। अतः आक्षेपकारके मन्तव्यको आगमप्रमाणसे भी बाधा (करारी ठेस) प्राप्त हुई। तथा यह सर्वत्र पोल चलानेवाला आक्षेपकार अपने अभीष्ट किये गये भेदोंकी प्रसिद्धि करके भी चोखा बाधित कर दिया जाता है। देखिये। इस आक्षेपकारने स्वयं किन्हीं किन्हीं चींटी, मक्खी, गिडोरे, घास, पतंग, प्राणियोंकी अल्प आयु अभीष्ट की है और किन्हीं किन्हीं वृक्ष, हाथी, बलिष्ठ मनुष्य, सर्प, आदि जीवोंकी लम्बी आयुः मानी है। उस दशामें हम भी इसके ऊपर कटाक्ष करते हुये यों कह सकते हैं कि जिन जीवोंकी लम्बी आयु तुमने मानी है वे विवादग्रस्त हो रहे वृक्ष आदि प्राणि भी (पक्ष) अल्प कालवाली आयुको धारते हैं (साध्य), शरीरधारी होनेसे (वही तुम्हारे घरका हेतु) अल्प आयुवाले प्रसिद्ध घास जीव या रातको दीपकके चारों ओर घूमनेवाले पतंग आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त) अथवा दूसरा अनुमान यों भी बनाया जा सकता है कि अल्प आयुवाले अभीष्ट किये गये वे खटमल मेंढकी, गिडार, राजयक्ष्मा रोगवाले प्राणी (पक्ष) दीर्घ आयुवाले हैं (साध्य) तिस ही कारणसे अर्थात्— तुम्हारा अभ्यस्त लालित, पालित, वही शरीरधारीपन हेतु उनमें घटित हो रहा है (हेतु), प्रसिद्ध हो रहे दीर्घ आयुवाले वटवृक्ष, हाथी, मल्ल पुरुष, आदि जीवोंके समान (अन्वयदृष्टान्त)। यहां प्रशंसाकी बात तो यही है कि हमने तुम्हारे अभीष्ट हो रहे हेतुसे ही तुम्हारे अभिमतसिद्धान्तका निरा-

करण कर दिया है। प्रतिनारायणके अमोघ मारे जा रहे शस्त्रकरके नारायण द्वारा प्रतिनारायणका खण्डन कर दिया जाता है। इस प्रकार आक्षेपकार द्वारा अपने इष्ट हो रहे अल्पआयुवाले और दीर्घ आयुवाले जीवोंके दो विभागोंकी सिद्धि करना भी उस अनपवर्तनीय आयुवाले जीवोंको सापवर्त आयु उक्त साधनेवाले और सापवर्त आयुवाले प्राणियोंकी आयुको ह्रासरहित साधनेवाले अनुमानोंको भले प्रकार बाध देता है। यों अपने इष्ट विभागकी सिद्धि उसीकी प्रबाधिका हो जाती है।

सर्वज्ञादिविरोधाच्चासौ बाध्यते तथाहि–विवादापन्नः पुरुषः सर्वज्ञो वीतरागो वा न भवति शरीरित्वादन्यपुरुषवत् वेदार्थज्ञो वा न भवति जैमिन्यादिस्तत एव तद्वत् विपर्ययप्रसंगो वेति प्रत्यवस्थानस्य कर्तुं शक्यत्वात्।

तथा वह आक्षेपकारका निस्सार अभिमत तो सर्वज्ञ, व्यापक आत्मा या सत्कर्मसे स्वर्गप्राप्ति आदि स्वीकृतियोंसे विरोध आ जानेके कारण भी बाधित हो जाता है। उसी बातको यों स्पष्टरूपसे कहते हैं कि बौद्धों करके माना गया बुद्ध या सांख्यों द्वारा माना गया कपिल अथवा और भी विवादमें पडा हुआ पुरुष (पक्ष) सर्वज्ञ अथवा वीतराग नहीं है (साध्य) शरीरधारीपना होनेसे (हेतु) अन्य रथ्या पुरुष, या किसान आदि मनुष्योंके समान (अन्वयदृष्टान्त)। तथा मीमांसक पण्डित तो जैमिनि, मनु, आदि पुरुषोंको वेदके अर्थका ज्ञाता स्वीकार करते हैं। उनके ऊपर अनुमान द्वारा यह कटाक्ष किया जा सकता है कि जैमिनि, मनु, याज्ञवल्क्य आदिक पुरुष (पक्ष) वेदके अर्थको जाननेवाले नहीं हैं (साध्य) उसी शरीरधारीपन होनेसे (हेतु) ग्रामीण पुरुषोंके समान (वही पहिला अन्वयदृष्टान्त)। नैयायिक पण्डित आकाश, काल, दिशा, आत्मा, इन द्रव्योंको व्यापक मानते हैं। उनके ऊपर भी यों अनुमान बनाकर फेंका जा सकता है कि आत्मा या आकाश (पक्ष) व्यापक नहीं है (साध्य) द्रव्य होनेसे (हेतु) घट, पट, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त) एवं घट पट आदि पदार्थ अनित्य नहीं हैं (प्रतिज्ञा वाक्य) द्रव्य होनेसे (हेतु) आकाशके समान (अन्वयदृष्टान्त)। मीमांसकोंके ज्योतिष्टोम आदि शुभकर्म (पक्ष) स्वर्गको देनेवाले नहीं हैं (साध्य) कर्म होनेसे (हेतु) कलंजभक्षण, चोरी करना, मनुष्यवध आदि कुकृत्योंके समान (अन्वयदृष्टान्त)। अथवा विपरीत हो जानेका भी प्रसंग प्राप्त होगा। अर्थात्—रथ्या पुरुष (पक्ष) सर्वज्ञ है (साध्य) शरीरधारी होनेसे (हेतु) बुद्ध, कपिल आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त)। तथा ग्रामीण पुरुष भी शरीरधारी होनेसे जैमिनि, आदिके समान वेदार्थोंका ज्ञाता है। एवं घट, पट, आदि भी द्रव्य होनेसे आकाशके समान व्यापक क्यों नहीं मान लिये जाय ? मीमांसकोंके अशुभ अनुष्ठान भी अग्निष्टोम आदिके समान स्वर्गप्रापक हो जांय। यों आक्षेपकारके ऊपर पूर्वोक्त प्रकार असद् उत्तररूपसे प्रत्यवस्थान (जाति) किया जा सकता है। जैसे कि उन्होंने बिना सोचे समझे हम जैनोंके ऊपर दो अनुमान स्वरूप अंडउआ (एरण्ड) की तोप लगा दी थी, जो कि फुस्स होकर रह गयी। परिणाम कुछ नहीं निकला, व्यर्थमें अपयश बीचमें भोगना पडा।

प्रमाणप्रमेयान्यवस्थाभावायं बाध्यते । शक्यं हि वक्तुं विवादाध्यासितः प्रमाता प्रमाणरहितः शरीरित्वात् सन्निपाताद्याकुलवत् प्रमेयस्य वा न परिच्छेत्ता तत एव तद्वदिति । ततः प्रमाणप्रमेयव्यवस्थितिं कुतश्चित्स्वीकुर्वन् सर्वज्ञादिव्यवस्थितिं स्वेष्टविभागसिद्धिं वा नानपवर्त्यस्येतरस्य वायुषः प्रतिक्षेपं कर्तुमर्हति तस्य प्रतीतिसिद्धत्वादिति दर्शयति ।

चौथी बात यह कि यह आक्षेपकार (पक्ष) प्रमाण और प्रमेयोंकी अव्यवस्था हो जानेसे (हेतु) शून्यवादीके समान (अन्वयदृष्टान्त) स्वयं बाधित हो जाता है (साध्य) । देखिये । उसके समान हम भी अनुमान गढकर यों कह सकते हैं कि तुम्हारा अभीष्ट हो रहा किन्तु इस समय हमारे तुम्हारे मध्यवर्ती विवादमें पडा हुआ प्रमाणका कर्त्ता आत्मा (पक्ष) प्रमाणज्ञानसे रहित है (साध्य) शरीरधारी होनेसे (हेतु) सन्निपात, सर्पदंश, अपस्मार (मृगी) मूर्च्छा आदिसे आकुलित हो रहे मनुष्यके समान (अन्वयदृष्टान्त) । अथवा दूसरा अनुमान यों लीजिये कि विवादप्राप्त आत्मा (पक्ष) घट आदि प्रमेयोंका परिज्ञापक नहीं है (साध्य) उस ही कारणसे अर्थात्—शरीरधारी होनेसे ही (हेतु) उन्हीं सन्निपात आदिसे ग्रसित हो रहे मनुष्योंके समान (अन्वयदृष्टान्त) । इत्यादिक चाहे जितने असत् कटाक्ष उठाये जा सकते हैं । किन्तु यह अशिष्ट आचार प्रामाणिकपुरुषोंको शोभा नहीं देता है । समीचीन हेतुओंद्वारा स्वपक्षसाधन करना या परपक्ष दूषण देना आदि, प्रतिवादियोंको शोभता है । तिस कारणसे यह आक्षेपकार यदि प्रमाण या प्रमेयोंकी व्यवस्थाको अथवा प्रमाता या प्रमेयकी व्यवस्थाको यदि किसी भी प्रमाणसे स्वीकार कर रहा है और सर्वज्ञ, वीतराग, व्यापकपन आदिकी व्यवस्थाको यदि अभीष्ट कर रहा है तथा अपने इष्ट तत्त्वोंके विभागकी सिद्धिको यदि अभिमत कर रहा है तो ऐसी दशामें नहीं ह्रास होने योग्य या उससे न्यारा ह्रास होने योग्य आयुःका खण्डन करनेके लिये समर्थ नहीं हो सकता है । क्योंकि किसी किसी जीवकी आयु मध्यमें ह्रास होने योग्य नहीं है तथा किसी किसी प्राणीकी आयु (उम्र) ह्रास होने योग्य है । यों उस आयुको प्रमाणसिद्ध प्रतीतियों द्वारा साधा जा चुका है । इसी बातको श्रीविद्यानन्द स्वामी मालिनी छन्दद्वारा वार्त्तिकमें दिखलाते हैं ।

इति सति बहिरंगे कारणे केपि मृत्यो-
र्न मृतिमनुभवंति स्वायुषो हान्यभावे ।
ज्वलितहुतभुगंतःपातिनां पंचतापि ।
प्रतिनियततनूनां जीवितस्यापि दृष्टेः ॥ ५ ॥

इस प्रकार लोकमें कोई कोई नारकी, देव, भोगभूमियां, आदि जीव तो अपमृत्युके बहिरंग कारण, शस्त्रघात, भय, आदिके होनेपर भी अपमृत्युके अन्तरंगकारण मानी गई आयुःकर्मकी उदीरणा नहीं होते सन्ते अपने उपार्जित आयुःकी हानि नहीं होनेपर मृत्यु (अपमृत्यु) से मध्यमें ही मरण हो जानेका अनुभव नहीं कर पाते हैं । तथा ज्वाजल्यमान अग्निके भीतर पड जानेवाले कीट, पतंग

मनुष्य, आदि जीवोंका तत्काल मध्यमें मरण होना भी देखा जाता है और जिन जीवोंके शरीर परिपूर्ण आयुको भोगनेके लिये प्रतिनियत हो रहे हैं, उन जीवोंका जीवित रहना भी देखा जाता है। भावार्थ–इस सूत्रमें कहे गये देव आदि जीवोंकी तो अपमृत्यु होती नहीं है। किन्तु कर्मभूमिमें भी अनेक जीव ऐसे हैं जिनको कि अपमृत्यु होजानेके कतिपय कारणोंका योग मिल जानेपर भी विशिष्ट आयुका संसर्गबल बना रहनेसे वे नहीं मर पाते हैं। तिखने घरके ऊपरसे गिर पडना, गोली लग जाना, सर्प द्वारा काटा जाना, तोपसे उडाये जानेका अवसर मिल जाना, राजाज्ञा अनुसार भूखे सिंह के पिंजरेमें प्रवेश कर जाना, भींत गिर जाना, नदीमें डूब जाना, आदि अपमृत्यु कारणोंका प्रकरण मिल जानेपर भी कई पुण्यशाली जीव मरनेसे बाल बाल बच जाते हैं। अखण्ड जीवदया, परोपकार आदि विशेष कारणोंसे उपार्जित किये पुण्यविशेषका साथी विशिष्ट आयुःकर्म ही यहां बचानेवाला है। हां, तिस प्रकारका पुण्य या नारकीयोंकासा विलक्षण पाप जिनके पास नहीं है, ऐसे असंख्य जीवोंकी आयुका बाह्य कारणों द्वारा मध्यमें विच्छेद भी हो सकता है।

तदेवं युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धोनपवर्त्येतरायुर्विभागः सूक्त एव । इति द्वितीयमान्हिकम् ।

तिस कारण इस प्रकार सर्वज्ञ आम्नायसे चले आरहे सूत्रवचन अनुसार श्री विद्यानन्द स्वामीने युक्ति और आगमप्रमाणसे अविरुद्ध होरहा अनपवर्त्य और सापवर्त्य आयुका विभाग बहुत अच्छा ही कह दिया है। यहांतक द्वितीय अध्यायका दूसरा आन्हिक परिपूर्ण हुआ।

स्वं तत्त्वं लक्षणं भेदः करणं विषयो गतिः ।
जन्मयोनिवपुर्लिंगमहीनायुरिहोदितम् ॥ १ ॥

इस दूसरे अध्यायमें श्री उमास्वामी महाराजने जीवके निज तत्त्व पांच औपशमिकादिक भावोंका निरूपण किया है, जीवके लक्षण उपयोगका कथन किया है, उस उपयोगके भेदों या जीवके संसारी, मुक्त, पृथिवीकायिक, आदि भेदोंका प्ररूपण किया है, ज्ञानके करण हो रहे द्रव्य इन्द्रिय, और भाव इन्द्रियों तथा उनके स्पर्श आदि विषयोंकी निरूपणा की है, नवीन शरीरको ग्रहण करनेके लिये या मोक्ष जानेके लिये हो रही जीवकी गतिका वर्णन किया है। पश्चात्–संसारी जीवके तीन जन्म, नौ योनियां, पांच शरीर और तीन लिंगोंका सूत्रण करते हुये स्वामीजीने आयुका ह्रास नहीं कर पूर्ण आयुको भोगनेवाले जीवोंकी प्ररूपणा की है।

इति श्रीविद्यानंदि आचार्यविरचिते तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥२॥

इस प्रकार सर्वज्ञकल्प **श्री उमास्वामी महाराज** विरचित तत्त्वार्थसूत्रोंके ऊपर
श्री विद्यानन्दि आचार्य महाराज द्वारा विशिष्टरूपसे रचे गये
श्लोकवार्तिकालंकार नामक महान् ग्रंथमें
दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

द्वितीयाध्यायकी विषयसूची.

इस द्वितीय अध्यायके प्रकरणोंकी सूची इस प्रकार है कि प्रथम ही श्री विद्यानन्द स्वामीने औपशमिक आदि भावोंको युक्ति और दृष्टान्तके बलसे बढिया साध दिया है। अतीन्द्रिय कर्मोंके उदयको स्पष्ट समझा दिया है। उक्त भाव जीवके ही हो सकते हैं। प्रधान आदिके नहीं। मोक्षमें भी कुछ भाव पाये जाते हैं। पुनः लक्षणके ऊपर अच्छा विचार करते हुये अर्थक्रिया, सादृश्य, वैसादृश्य, को साधकर आत्माको अनादि, अनन्त, सिद्ध कर दिया है। चार्वाकके मतका प्रत्याख्यान कर जीवका तदात्मक लक्षण उपयोग ही करना पर्याप्त बताया है। नाना जीव अपेक्षा बारह प्रकारके उपयोगों अथवा एक जीव अपेक्षा उनमेंसे किसी एक उपयोगको लक्षण बनाते समय लक्ष्य जीव कितना समझा जाय, इस बातका बहुत अच्छा स्पष्टीकरण कर दिया है। जीवके भेदोंका निरूपण करते समय एकत्व प्रवादका निराकरण करते हुये संसारी, असंसारी, तथा अयोगकेवली सभी जीवोंका संग्रह कर लिया गया है। आत्माके व्यापकत्वका खण्डन कर एकेन्द्रिय जीवोंको युक्ति और आगमसे साध दिया है। ज्ञानका अत्यन्त अपकर्ष भस्म आदि जड पदार्थोंमें नहीं, किन्तु एकेन्द्रिय जीवोंमें है। पांच इन्द्रियोंके भेद, प्रभेदको युक्तिपूर्वक साधते हुये छटे नोइन्द्रिय मनके भी उसी प्रकार भेद हो रहे बतला दिये हैं। तत्पश्चात्—इन्द्रियोंके विषय दिखलानेमें नवीनताको लाते हुये इन्द्रियोंके स्वामी जीवोंकी युक्तिपूर्ण सिद्धि की है। संज्ञी जीवोंकी संज्ञाका विचार कर द्रव्यमनको साधा है। प्रथम आह्निकको समाप्त करते हुये औपशमिक आदि भावोंमें नयभंगी जोड दी है।

इसके आगे द्वितीय आह्निकमें आत्माके व्यापकत्वका निराकरण कर आत्माका यहां वहां गमन करना पुष्ट कर दिया है। ईश्वरके ज्ञानकी नित्यता, अनित्यतापर चोखा विचार चलाया है। जीवोंकी आकाशप्रदेश श्रेणी अनुसार गतिके छह प्रकार प्रक्रम बताकर लोकके चौकोर संस्थान या गोल रचनापर आक्षेप करते हुये अनाहारक अवस्था बतायी है। जन्म या योनिके कारण होरहे कर्मोंकी विचित्रतापर प्रकाश डालते हुये पुनः गर्भ, उपपाद, सम्मूर्छन जन्मके अधिकारी जीवोंके साथ उद्देश्य दलमें एवकार लगाकार अनिष्टकी व्यावृत्ति कर दी गयी है। शरीरोंकी रचनाका कारण कार्मणशरीरको बताते हुये नामकर्मके वैचित्र्य की प्रशंसा की गयी है। उत्तरोत्तर शरीरोंमें अधिक परमाणुओंके होते हुये भी सूक्ष्म संस्थानको युक्तियोंसे साध कर कर्मको पौद्गलिक बतला दिया है। बौद्ध, वैशेषिक, चार्वाकोंके कल्पित शरीरोंका निरास कर पांच ही शरीर नियत किये गये हैं। धाराप्रवाह रूपसे तैजस, कार्मण,का अनादिसम्बन्ध प्रसाध कर एक समयमें पांचों शरीरोंका असम्भव बता दिया गया है। तैजस शरीरके निरुपभोगपनके स्पष्ट कथनकी आवश्यकता नहीं समझी गयी है। शरीरोंको विधेय दलमें डाल कर गर्भ, संमूर्छनज आदि उद्देश्य दलोंको लक्षण सरीखा बनाते हुये लक्षणके फल इतर व्यावृत्ति होनेको अच्छा घटा दिया है। शरीरोंका परस्पर भेद सिद्ध करनेके लिये निर्दोष हेतु दिये गये हैं। आहारक

शरीरको अन्य शरीरोंसे भिन्न साधनेमें चार हेतु सर्वांग सुन्दर मनोहर बतलाये हैं। शरीरोंका प्रतिपादन करनेवाले चौदह सूत्रोंका विवरण कर जीवोंकी लिंगव्यवस्थाको अनुमानों द्वारा सुदृढ कर दिया है। परिशेषमें जाकर ह्रास होने योग्य और नहीं ह्रास होने योग्य आयुष्यवाले जीवोंका बहुत बढिया प्रतिपादन कर मुमुक्षु श्रोताओंको परितृप्त कर दिया है। अन्य वादियोंके ऊपर मीठा कटाक्ष करते हुये आयुके अपवर्त और अनपवर्तको साध कर मालिनी छन्दः द्वारा द्वितीय अध्यायके विवरणको जयहार (जीतकी माला) पहना दिया है।

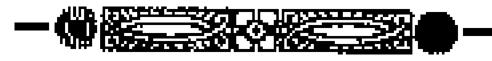
जीवप्रपञ्चा मुनिभिर्द्वितीयाऽध्याये स्वतत्त्वेन्द्रियगोचरेनाः।
गत्युद्भवौ योनिशरीरलिङ्गाऽन्हासायुषश्चोत्कलिता यथार्थं ॥ १ ॥

इस प्रकार **श्री विद्यानन्द स्वामीकृत** महाशास्त्र श्री तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककी आगरा मंडलान्तर्गत चावलीग्रामनिवासी न्यायाचार्य, तर्करत्न, न्यायदिवाकर, सिद्धान्तमहोदधि, स्याद्वादवारिधिपदवी-विभूषित **माणिकचन्द्र** कृत तत्त्वार्थचिन्तामणि नामक हिन्दीभाषाटीकामें

द्वितीय अध्याय परिपूर्ण हुआ।

—×**×—

अथ तृतीयोऽध्यायः



चतुरस्रघनाकारा लोकस्थं वो विलोकयन् ।
हस्तामलकवल्लोकं श्री सुपार्श्वः श्रियं क्रियात् ॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराजने प्रथम अध्यायमें जीवके स्वाभाविक अनुजीवी गुण हो रहे सम्यग्दर्शन, और चारित्र या जीवके पार्श्ववर्ती आनुषंगिक तत्त्व तथा ज्ञान और नयोंका निरूपण किया है। दूसरे अध्यायमें विशेष भेददृष्टि अनुसार जीवके अन्तरंग आधार क्षेत्र स्वतत्त्व, उपयोग, आदिका वर्णन करते हुये जीवके बहिरंग क्षेत्रकी ओर लक्ष्य देकर योनि, जन्म, शरीरोंका प्रतिपादन किया है। अब तीसरे अध्यायमें भेददृष्टिको बढाते हुये जीवके उपचरित असद्भूतव्यवहारनय अनुसार बहिरंग क्षेत्रके भी बहिरंग हो रहे स्थानविशेषोंका निर्णय कराते हुये अलोकस्थ, लोकाकाशके अधोलोक और मध्य लोककी प्रतिपत्ति शिष्योंको करानेके लिये श्री उमास्वामी महाराज तृतीय अध्यायको रचते हैं।

मोक्षमार्ग हो रहे सम्यग्दर्शनके विषय जीवादि पदार्थोंकी विशेषतया विज्ञप्ति करनेके लिये यह लोकालोकका विभाग समझ लेना अत्युपयोगी है। अनुप्रेक्षा चिंतन या ध्यान करनेमें भी इसकी आवश्यकता है। जगत्के सम्पूर्ण पदार्थोंमें सबसे अधिक लम्बा, चौडा, मोटा, द्रव्य आकाश है। "सत्त्वायासमर्णत्तं" अनन्तानन्त नामकी संख्याके मध्य भेदोंमें सर्वज्ञदृष्ट और गणित शास्त्र द्वारा हमको निर्णीत एक विशेष संख्या अनन्तानन्त है। उस अनन्तानन्त परिमाणवाले प्रदेशों बराबर लम्बा और उतना ही चौडा तथा ठीक उतना ही मोटा घन चौकोर आकाश द्रव्य है। आकाशको यदि गोल माना जायगा तो सब ओर आकाश अनन्तानन्त प्रदेशवाला है, इस सिद्धान्तसे विरोध पड जायगा। गोल वस्तुके मध्यभाग पेटको पूर्वसे पश्चिम या उत्तरसे दक्षिण नापा जाय तो उसके प्रदेश ठीक उतने ही बराबर बैठ जायंगे। किन्तु गोल वस्तुकी बगलसे ऊपर नीचेका देश नापा जायगा तो प्रदेशोंकी संख्या उत्तरोत्तर घटती जायगी। यहांतक कि गुलाईके अग्रभागपर पहुंचते हुये तो अस्तल्प प्रदेशों या एक प्रदेशकी ही उचाई, निचाई, रह जायगी। जब कि आकाश सब ओरसे ठीक उतने ही यानी न्यून अधिक नहीं अनन्तानन्त प्रदेशोंका धारी है तो तिकोना, पचकोना, गोल या लंबोतरा, चौकोर आदि संस्थान उसके कथमपि नहीं हो सकते हैं। श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती विरचित त्रिलोकसारमें द्विरूप वर्गधाराका निरूपण करते समय " तिविह जहण्णाणंतं वग्गसलाद-लछिदी सगादिपदं, जीवो पोग्गल कालो सेढी आगास तप्पदरम् " इस गाथा अनुसार जघन्य अनन्तसे अनन्त स्थान आगे चलकर द्विरूपवर्गधारामें जीव राशिकी अक्षय अनन्तानन्त परिमाण संख्या आई बताई है। उससे अनन्तानन्त गुणी पुद्गल राशि है। पुद्गलोंसे भी अनन्तानन्त गुणे व्यवहार कालके समय

समझाये हैं। कालसमयोंसे अनन्त स्थान चलकर द्विरूपवर्गधारामें एक प्रदेश लंबी और एक प्रदेश चौडी तथा अनन्तानन्त राजू लम्बी पूरे आकाशकी सूची श्रेणी आइ बताइ है। इसका एक बार वर्ग करने पर द्विरूप वर्ग धाराके अगले भेदमें उतना अनन्तानन्त प्रदेश लंबा और उतना ही चौडा प्रतराकाश गिना गया है। जब कि सूची आकाश, प्रतर आकाशको कंठोक्त कह दिया है तो " सव्वायासमणंतं " सब ओरसे आकाश समानरूपसे अनन्तानन्त प्रदेशों वाला है, इस नियमसे उतना अनन्तानन्त प्रदेशी मोटा घनस्वरूप भी स्वतः सिद्ध होजाता है। फिर भी स्पष्ट प्रतिपत्ति करानेके अर्थ सिद्धांतचक्रवर्तीने कृपा कर द्विरूप घनधारामें " पल्लधणं विंदंगुलजगसेढी लोयपदर जीवघणं, तत्तो पढमं मूलं सव्वागासं च जाणेज्जो " इस गाथा अनुसार जीवराशिके घनसे अनन्त स्थान चलकर सम्पूर्ण आकाशकी लंबाई, चौडाई, मोटाई, को घनस्वरूप स्पष्ट कह दिया है। तथा आचारसारके तृतीय अध्यायमें चौबीसवां श्लोक " व्योमामूर्तं स्थितं नित्यं, चतुरस्रं समं घनं, भावावगाहहेतुश्चानन्तानंतं प्रदेशकम् " यों है। श्री वीरनन्दि सिद्धांतचक्रवर्तीने अनन्तानन्त प्रदेशवाले आकाशको सब ओर समान होरहा घन चौकोर बताया है। बर्फीके समान घनचतुरस्र अलोकाकाशके ठीक बीचमें लोकाकाश व्यवस्थित है, जो कि दक्षिण, उत्तरमें सर्वत्र सात राजू है और पूर्व, पश्चिम, दिशामें नीचे सात राजू तथा क्रमसे घटता हुआ सात राजू ऊपर आकर एक राजू रह गया है। पुनः क्रमसे बढता हुआ साडे दश राजू ऊपर पांच राजू फैलकर और चौदह राजू ऊपर क्रमसे घटता हुआ एक राजू रह गया है। एक राजू आकाशमें असंख्याते योजन समा जाते हैं। जगच्छ्रेणीका सातवां भाग राजू है। अद्धापल्यके अर्धच्छेदोंके असंख्यातवें भाग प्रमाण घनांगुलोंका परस्पर गुणाकार करनेपर श्रेणी नामकी संख्या उपजती है। अद्धापल्यके अर्धच्छेदप्रमाण अद्धापल्योंको परस्पर गुणा करनेपर सूच्यंगुल नपता है। यानी एक प्रदेश लंबे, चौडे और आठ पडे जौके बराबर अंगुल ऊंचे आकाशमें असंख्यात पल्योंके समयोंसे भी अधिक परमाणु बराबर प्रदेश हैं। सूच्यंगुलके प्रतरको प्रतरांगुल और घनको घनांगुल कहते हैं। घनांगुलसे पांचसौ गुणा प्रमाणांगुल होता है, जो कि अवसर्पिणीके चतुर्थ कालकी आदिमें हुये चक्रवर्तीके पांचसौ धनुष लंबे शरीरका अंगुल है। पांच अंगुलियोंमें अंगूठाकी चौडाई मानी गयी है। अकृत्रिम पदार्थ लोक, सुमेरु, सूर्य, कुलाचल, द्वीप, समुद्र, भूमियां, स्वर्गविमान, वातवलय, आदिकोंकी नाप बडे योजनोंसे की गयी है, जो कि छोटे योजनसे पांच सौ गुणा अधिक है। लोकाकाशका ठीक बीच तो सुदर्शन मेरुकी जडके मध्यमें विराजे हुये आठ प्रदेश हैं। एक, तीन, पांच, सात, आदि संख्याओंको विषम संख्या कहते हैं और दो, चार, छह, आठ, आदि केवल ज्ञान पर्यन्त दो से दो दो बढती हुई संख्याको समधारामें कहा गया है। जब कि राजूके प्रदेश समधारामें पडे हुये हैं तो चौदह राजू लंबे या सात राजू चौडे और मध्य लोकमें एक राजू मोटे लोकाकाशका ठीक बीच आठ निकलता है, अर्थात्—ऊपरसे नीचे और उत्तरसे दक्षिण तथा पूर्वसे पश्चिम तक जिस पदार्थके प्रदेश समसंख्यावाले हैं ऐसे घन संख्यावान् पदार्थोंका बीच आठ बैठता है।

समसंख्यावाली पंक्तिका बीच एक निकालना गगनकुसुमके समान असम्भव है । सुदर्शन मेरुकी जडके पासवाली चित्रामें चार और नीचली वज्रामें चार यों गोस्तन या गोस्तनी दाख (बडा अंगूर) के आकारको धारनेवाले आठ प्रदेश हैं । पुद्गल परमाणुसे या काल परमाणुसे नापे गये अखण्ड आकाशके कल्पित अंशको प्रदेश कहते हैं । जैसे आकाश जितना ही लम्बा उतना ही चौडा और उतना ही ऊंचा है, उसी प्रकार परमाणु भी जितना ही लम्बा है, उतना ही चौडा और उतना ही ऊंचा है। उससे छोटा टुकडा न हुआ, न है, न होगा। अतः परमाणु अविभागी कहा जाता है । परमाणुमें सामान्य गुण प्रदेशवत्त्व अवश्य है, उस गुणके द्वारा परमाणुका आकार लम्बाई, चौडाई, मोटाई, कुछ अवश्य होनी चाहिये । गेंदके समान परमाणुको गोल माननेपर तो लोकाकाशमें कालाणुओंके मध्य पोल रह जायगी। गोल पदार्थोंका ढेर कहीं निरन्तर ठसाठस नहीं भरा जा सकता है । लोकमें ठसाठस भरे हुये धर्म, अधर्म, या आकाशकी ठीक ठीक पूरी नाप सबसे छोटे गोल टुकडेसे नहीं हो सकती है । अतः परमाणु बर्फीके समान चौकोर मान लेना चाहिये । परमाणुमें पुनः कोई अंश नहीं है और अंशोंसे वह बनाया गया भी नहीं है । अतः निरंश है । किन्तु पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व, अधः, छहों दिशाओंसे छह परमाणु आकर मध्यवर्ती एक परमाणुसे चिपट जाते हैं । इस कारण परमाणु षडंश भी है । द्व्यणुक बनते समय छह पैलवाले एक परमाणुकी एक ओरकी भीतसे दूसरे परमाणुकी एक ओरकी भीत भिड जाती है, तब दो प्रदेशवाला द्व्यणुक बन जाता है । यद्यपि एक परमाणुमें अनन्त परमाणु भी सर्वाङ्गीण संयुक्त या बद्ध होकर एक प्रदेशमें विराज रहे हैं । किन्तु लम्बे, चौडे, घडे, पुस्तक, पर्वत, आदि अवयवी पदार्थोंको बनानेके लिये परमाणुके साथ दूसरे परमाणुका एक ओरकी भीतसे ही परस्पर संसर्ग मानने पडेंगे । अन्यथा सुमेरु और सरसोंका आकार समान हो जायगा । यदि गोल परमाणुसे छह गोल परमाणु चारों ओरसे चिपट बैठेंगे तो बीचमें पोल अवश्य रह जायगी। रबडके सदृश परमाणु घटता बढता नहीं है। अतः परमाणुको बर्फीके समान छह पैलवाला मानो । " अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिये गेज्झम्, जदव्वं अविभागी तं परमाणुं विआणेहि " का भी यही अभिप्राय निकालना चाहिये । सिद्धान्त चक्रवर्ती श्री वीरनन्दी आचार्यने आचारसारके तृतीय अधिकार सम्बन्धी तेरहवें, श्लोकमें परमाणुको स्पष्ट रूपसे चौकोर अभीष्ट किया है । " अणुश्च पुद्गलोऽभेदावयवः प्रचयशक्तितः, कायश्च स्कन्धभेदोत्थश्चतुरस्रस्त्वतीन्द्रियः " । परमाणु सूक्ष्म है उससे भी अत्यन्त सूक्ष्म आकाश है। यह जो दिन या रातमें उजेला या अंधेरा दीखता है वह तो पुद्गलकी पर्याय है । सूक्ष्म आकाशको तो सर्वावधिज्ञानी भी नहीं देख सकता है । केवलज्ञान या आगमप्रमाणसे आकाश जाना जाता है । सूक्ष्म, अतीन्द्रिय, पदार्थोंमें सर्वज्ञधारा प्राप्त आगम ही प्रमाण है । जो कुछ युक्तियां थोडी बहुत मिल जांय उनको सेंत मेंतकी समझ कर लूट लो । अधिकके लिये हाथ मत बढाओ । आगमप्रमाण सम्पूर्ण प्रमाणोंका शिरोभूषण है । चार बर्फियोंके ऊपर दूसरी चार बर्फियोंको धर देनेपर जो दशा (सूरत) बन जाती है,

यही लोकके मध्यवर्ती आठ प्रदेशोंकी आकृति (हुलिया) है। उसको नवयुवती गायके स्तनोंकी या बडे अंगूरकी उपमा देना तभी तक शोभता है, जबतक कि दार्ष्टान्त समझमें नहीं आवे। दार्ष्टान्तके समझ लेनेपर तो वे उपमायें देना अधिक महत्वका नहीं समझा जाता है। आचार्य महाराजने एक स्थानपर लिखा है कि अन्धे पुरुषके सन्मुख क्षीरान्न (खीर) की शुक्लताको बतानेके लिये बगुलाकी उपमा देना और बगुलाका ज्ञान करानेके लिये अपने मुडे हुये हाथको अन्धेके हाथमें पकडा कर समझाना, किंचित् काल ही शोभा देता है। एक बात यहां यह भी समझ लेनी चाहिये कि लोकाकाशकी दक्षिण, उत्तरवाली भीतें एकदम सीधी चौदह राजू ऊंची हैं। अतः दक्षिण, उत्तर, कालाणुओं या धर्मद्रव्य अथवा वातवलयकी भित्तियां चिकनी सपाट हो रहीं सीधी हैं, खरदरी नहीं हैं। किन्तु पूर्व, पश्चिममें क्रमसे घटना या बढना होनेसे चिकनी भीत नहीं हो पायी है। छह पैल्दार बिना कटी ईंटोंसे यदि घटती बढती हुई भित्ति बनायी जाती है तो उसमें ईंटोंके कोंन निकले रहते हैं। उसी प्रकार पूर्व, पश्चिम लोकाकाशमें परमाणुओंके कोंन निकल रहे समझ लेने चाहिये। लोकमें ठसाठस भरी हुई कालाणुओंकी रचनाका भी यही क्रम है। लोक बराबर लम्बे, चौडे, ऊंचे, धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यका आकार भी लोकके नीचे ऊपर और दक्षिण उत्तरमें सपाट चिकना सरीखा है। किन्तु पूर्व, पश्चिमकी घटाई बढाईमें खरदरे धर्मद्रव्यके भी जीनाकी सीढियोंके समान असंख्याते पैल निकले हुये हैं। पुद्गल परमाणु, कालाणु, और आकाशके कल्पित प्रदेशकी रचना छह पैलवाली बर्फीके समान एकसी है। जगत्में सबसे छोटा आकार परमाणुका है, जो एक प्रदेशी है और सबसे बडा आकार अनन्तानन्त प्रदेशी आकाशका है। दोनोंका सांचा एकसा है। सुदर्शन मेरुका भूमिमें गडा हुआ एक हजार योजन निचला भाग चित्रा पृथिवीमें ही गिना जाता है। अतः सात राजू लम्बी एक राजू चौडी हजार योजन गहरी चित्रा पृथिवीके सबसे निचले भागमें ठीक बीचके चार प्रदेश और वज्राके सबसे ऊपरले भागमें ठीक बीचके चार प्रदेश यों मिलाकर आठ प्रदेश लोकका मध्यभाग है। चौदह राजू ऊंचे लोकको ठीक बीचसे काट देनेपर चित्राके निचले चार प्रदेशोंके समतलसे प्रारम्भ कर ऊपरले सात राजू ऊंचे या एकसौ सैंतालीस घन राजू भागको ऊर्ध्वलोक कहते हैं। तथा वज्रासम्बन्धी उपरिम चार प्रदेशोंके समतलसे प्रारम्भ कर सात राजू नीचेका या एकसौ छियानवै घन राजूवाला भाग अधोलोक समझा जाता है। मध्यलोकके लिये कुछ भी स्थान नहीं बचता है तो भी मध्यलोकसे या मध्यलोकके मध्यम पैंतालीस लाख लम्बे चौडे ढाई द्वीपसे मोक्षमार्ग चालू है। विकलत्रय या असंज्ञी, संज्ञी, तिर्यंच भी मध्यलोकमें ही पाये जाते हैं। अतः ऊर्ध्वलोकके निचले भागमेंसे सात राजू लम्बे एक राजू चौडे और सुमेरुकी उच्चता बराबर एक लाख चालीस योजन ऊंचे भागको (कर्ज) लेकर मध्यलोक मान लिया गया है। श्री उमास्वामी महाराज इस तृतीय अध्यायमें अधोलोक और मध्यलोकका वर्णन करेंगे। तहां प्रथम ही अधोलोकका वर्णन करनेके लिये उपक्रमकारक सूत्रको रचते हैं।

रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनांबुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥ १ ॥

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा, ये नीचे नीचे सात भूमियां हैं, जो कि सातों ही घनवातके ऊपर प्रतिष्ठित हैं। घनवात तो अम्बुवातपर स्थित हो रहा है और तनुवातके ऊपर अम्बुवात आधेय है, तनुवातका आधार आकाश है, जो कि महापरिमाणवाला होनेसे स्वमें ही प्रतिष्ठित है। आकाशका आलम्बन कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। अर्थात्—जहां अस्मदादिक मनुष्य निवास करते हैं वह रत्नप्रभाका ऊपरला भाग है। यहांसे प्रारम्भ कर दक्षिण, उत्तर, सात राजू लम्बी, एक राजू चौडी और एक लाख अस्सी हजार योजन नीचेकी ओर मोटी रत्नप्रभा है। चूंकि रत्नप्रभाका ऊपरला एक हजार योजन मोटा चित्राभाग ऊर्ध्वलोकके सात राजूओंमें बट चुका है। अधोलोकके सात राजू रत्नप्रभाके वज्राभागसे प्रारम्भ किये गये हैं। तथा अधोलोकके ऊपरले एक राजूमें सबसे ऊपर रत्नप्रभा और सबसे नीचे शर्कराप्रभा है। अतः रत्नप्रभासे दो लाख ग्यारह हजार योजन कमती एक राजू उतर कर प्रारम्भ हुयी दक्षिण उत्तर सात राजू लम्बी, पूर्वपश्चिम एक सही छह बटे सात राजू चौडी और बत्तीस हजार योजन मोटी शर्कराप्रभा भूमि है। शर्करा प्रभासे अट्ठाईस हजार योजन कमती एक राजू नीचे उतर कर मिल गयी सात राजू लम्बी दो सही पांच बटे सात राजू चौडी और अट्ठाईस हजार योजन मोटी वालुका प्रभा अनादि निधन बनी हुई है। वालुका प्रभासे चौबीस हजार योजन कमती एक राजू नीचे उतरकर पा गयी दक्षिण उत्तर सात राजू लम्बी और पूर्व पश्चिम तीन सही चार बटे सात राजू चौडी तथा चौबीस हजार योजन मोटी पंकप्रभा विद्यमान है। पंकप्रभासे बीस हजार योजन कमती एक राजू नीचे उतर कर लग गयी सात राजू लम्बी चार सही तीन बटे सात राजू चौडी और बीस हजार योजन मोटी धूमप्रभा है। धूमप्रभासे सोलह हजार कमती एक राजू नीचे उतरकर प्राप्त होगयी सात राजू लम्बी पांच सही दो बटे सात राजू चौडी और सोलह हजार योजन मोटी तमःप्रभा भूमि जम रही है। तमःप्रभासे आठ हजार योजन कम एक राजू नीचे उतरकर छू ली गयी सात राजू लम्बी छह सही एक बटे सात राजू पूर्व पश्चिम चौडी और ऊर्ध्व अधः आठ हजार योजन मोटी महातमःप्रभा है। सातों भूमियोंमेंसे प्रत्येकके नीचे और लोकके तलमें साठ साठ हजार योजन मोटा वातवलय है। ऊपर ऊर्ध्वलोकमें सात राजू लम्बी एक राजू पूर्व पश्चिम चौडी आठ योजन मोटी ईषत्प्राग्भारा नामक आठवीं भूमिके नीचे भी साठ हजार योजन मोटा वातवलय है। श्री त्रिलोकसारमें "जोयण वीससहस्सं बहलं वलयत्तयाण पत्तेयं भूलोयतले पासे हेट्ठादो जाव रज्जुत्ति" इस गाथा अनुसार उक्त अभिप्रायका निरूपण किया है। लोक या आठ भूमियोंके नीचे बीस हजार योजन मोटा घनवात,

उसके नीचे वीस सहस्र योजन मोटा अंबुवात है अम्बुवातके नीचे बीस हजार योजन मोटा तनुवात है, आकाश तो ऊपर नीचे अगल बगल सर्वत्र ही है। लोकके पूर्व, पश्चिम या दक्षिण उत्तर अथवा ऊपर सिरमें जो वातवलय लिपट रहा है, उसमें नीचे घनवात, उसके ऊपर अम्बुवात और उसके ऊपर तनुवात है। लोकके सबसे ऊपरले भागमें विराजमान अनन्तानन्त सिद्धपरमेष्ठी भगवान् तनुवातवलयमें ही प्रतिष्ठित हैं। जिन सम्पूर्ण सिद्धपरमेष्ठी परमात्माओंके सिरके ऊपरले भागका अलोकाकाशके साथ संयोग हो रहा है। इधर उधर या नीचे तनुवात संयुक्त है। उन शुद्ध आत्माओंको मैं त्रियोगसे नमस्कार करता हूं। इन तीनों वातवलयोंमें वायु कायिक शरीरवाले जीव हैं। कचित्, कदाचित्, जीवरहित जड-वायु भी फैली हुई है। यों सूत्रकारने अधोलोककी सामान्य रचनाको समझा दिया है।

रत्नादीनामितरेतरयोगे द्वंद्वः, प्रभाशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिर्भुजिवत्। साहचर्याद्वा-च्छब्दसिद्धिर्यष्टिवत्।

रत्न और शर्करा और वालुका और पंक और धूम और तम और महातमः इन सात पदोंका परस्पर जोड करते हुये इतरेतरयोग नामक द्वन्द्व समासमें " रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमःमहातमांसि " यों द्वन्द्व समासवाला पद बना लिया जाता है। द्वन्द्व समासके अन्तमें पडे हुये प्रभा शब्दकी रत्न,शर्करा, आदि प्रत्येकमें पूर्णरूपसे समाप्ति कर देनी चाहिये। जैसे किसीने कहा कि देवदत्त, जिनदत्त, गुरुदत्त, इनको भोजन करा दो। यहां भोजन क्रियाका प्रत्येक तीनोंमें अन्वय कर दिया जाता है। रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा, ये सात भूमियोंके नाम उनकी कांतिका अवलम्ब लेकर अनादिसे चले आ रहे हैं। १ घर्मा २ वंशा ३ मेघा ४ अंजना ५ अरिष्ठा ६ मघवी ७ माघवी ये सात नाम भी सात नरकोंकी अपेक्षा प्रसिद्ध हो रहे हैं। यष्टि (लकडीके) समान सहचरपनेसे उन रत्नशर्करा, आदिकी प्रभाओं अनुसार रत्नप्रभा आदि शब्दों द्वारा वाच्यपनेकी सिद्धि कर दी जाती है। अर्थात्—जैसे लाक्षणिक यष्टिपद द्वारा यष्टिके सहचरपनेसे यष्टिधर देवदत्तको भी लकडी कह दिया जाता है। या आम बेचनेवालेको आमका साहित्य होनेसे ओ आम या तांगावालेको तांगा कहकर पुकार लिया जाता है। उसी प्रकार चित्र, रत्न, वज्ररत्न, वैडूर्यमणि, लोहमणि, गोमेद, प्रवाल (मूंगा) आदि रत्नोंकी सी प्रभाका सन्निधान होनेसे पहिली भूमि रत्नप्रभा मानी गयी है। इस भारत वर्षमें भी किसी देशमें लाल, कहीं काली कचित् पीली किसी स्थलपर अधिक काली आदि कई रंगोंकी भूमियां शोभ रही हैं। ककरीकी प्रभा समान प्रभासे युक्त होरही भूमि शर्कराप्रभा है। वालूके समान कान्तिको धारनेवाली वालुकाप्रभा है। कीचकीसी द्युतिको पंकप्रभा धार रही है। धूमप्रभामें धूमकी सी छवि है। तमःप्रभाकी कान्ति अन्धकारके से रंगको लिये हुये है। गाढ अन्धकारकीसी शोभाको धार रही महातमःप्रभा है। अन्धकार या प्रकाशके साथ दुःखका, सुखका, कोई अन्वय व्यतिरेक नहीं है। अन्धकारमें भी विशेष आनन्द आ सकता है। कचित् प्रकाशमें भी जीव

वेदनाके मारे कष्ट पटाता रहता है। अंधेरेमें कई जीव कुएमें गिर पडते हैं, तो दीपककी ज्योतिमें भी अनेक पतंग कीट अपने प्राणोंको होम देते हैं। आचार्य महाराजने उन भूमियोंमें जैसी कांति है, उसका प्रतिपादन कर दिया है। सभी पौद्गलिक पदार्थोंसे मन्द या तीव्र कांति अवश्य निकलती रहती है। यानी इनका निमित्त पाकर वहां भरे हुये पुद्गलस्कन्धोंका वैसा चमकीला परिणाम हो जाता है। यदि घरकी पोलमेंसे पुद्गलोंको कथमपि निकाल दिया जाय तो प्रकाशक द्वारा प्रकाश नहीं हो सकेगा। क्योंकि वे पुद्गल ही तो प्रकाशित होकर चमकते थे। सुधा (कलईसे) पुते हुये कमरे और काले हो रहे रसोई घरमें रात या दिनको बैठकर उनकी भूरी, काली, कान्तिओंका स्पष्ट अनुभव हो जाता है। अतः स्वकीय प्रभा अनुसार भूमियोंके सात नामोंकी योजना हो रही है।

तमःप्रभेति विरुद्धमिति चेन्न, तत्स्वात्मप्रभोपपत्तेः। अनादिपारिणामिकसंज्ञानिर्देशाद्वेष्टगोपवत् रत्नप्रभादिसंज्ञाः प्रत्येतव्याः। रूढिसंज्ञानामगमकत्वमवयवार्थाभावादिति चेन्न, सूत्रस्य प्रतिपादनोपायत्वात्तेषामपि गमकत्वोपपत्तेः।

यहां वैशेषिककी शंका है कि तमः तो अन्धकार है और प्रभा प्रकाश है, अन्धकारके होनेपर प्रभा नहीं और प्रभाके होनेपर अन्धकार नहीं सम्भवता है। यों विरोध हो जानेसे छठी पृथिवीका नाम तमःप्रभा यों कहना विरुद्ध है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उन अन्धकार या महा अन्धकारके अपनी अपनी निजप्रभाकी सिद्धि हो रही है। केवल धौली, पीली, चमकको ही प्रभा नहीं कहते हैं। किन्तु सम्पूर्ण पौद्गलिक पदार्थोंमें अपनी अपनी काली, धूसरी, आदि प्रभायें प्रसिद्ध हो रहीं हैं। तभी तो इस काले मनुष्यकी छवि चिकनी काली है और अमुकके काले शरीरकी कौन रूखी है। काली लोहितमणि या डामर अथवा वर्षाकालकी अमावस्या रात्रिके अन्धकारमें प्रभा दृष्टिगोचर हो रही है, अन्धकार तेजो भाव पदार्थ नहीं किन्तु पौद्गलिक है। अन्धकारकी छविसे कतिपय पदार्थ काले हो जाते हैं। अन्य भी कई नवीन नवीन परिणाम अन्धकार करके साध्य हैं। तसवीर उतारनेवालोंसे पूछियेगा। दूसरी बात यह है कि अनादि कालसे तिस प्रकारके हो रहे परिणामका अवलम्ब पाकर इन भूमियोंका रत्नप्रभा आदि नाम निर्देश हो रहा है, जैसे कि किसी ब्राह्मण या क्षत्रिय धार्मिक पुरुषने पुत्रका नाम अपना अभीष्ट गोप या गोपाल रख लिया। इसमें शब्दके अर्थ माने गये गायको पालनेकी अपेक्षा नहीं है अथवा चौमासेके प्रारम्भमें लाल मखमली कीडोंको इन्द्रगोप या रामकी गुडिया कह देते हैं, सौधर्म आदि इन्द्रोंने उन कीटोंकी विशेष रूपसे पाला नहीं है। हां, कोई कोई मनुष्य मेघको भी इन्द्र कह देते हैं। मेघके बरसनेपर वे मखमली कीडे सम्मूर्छन उपज जाते हैं। केवल इतना ही निमित्त पाकर उन कीटोंका इन्द्रगोप नाम कह दिया जाता है। इसी प्रकार रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, आदि संज्ञायें समझ लेनी चाहिये। यहां किसीका आक्षेप है कि यों रत्नप्रभा आदि रूढि शब्दोंको पदके अवयव बन रहे प्रकृति, प्रत्ययके नियत अर्थोंकी घटना नहीं होनेसे भेदकी सिद्धिमें गमकपना नहीं है। अर्थात्—जैसे पाचक, पाठक, पालक, पादप, पानक, आदि शब्दोंके अवयवोंका

अर्थ घटित हो जानेसे अर्थभेदकी सिद्धि हो जाती है, उस प्रकार रूढि शब्दों करके वाच्यार्थोंका भेद नहीं सध पाता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि सूत्र केवल प्रतिपत्ति करानेका उपाय है व्याख्यान कर देनेसे या समुदाय शक्ति द्वारा उन रूढि शब्दोंको भी पदार्थोंके भेदका ज्ञापकपना बन जाता है। इधर उधरसे अन्य पदार्थोंका उपस्कार कर लघुसूत्र द्वारा भी महान् अर्थकी प्रतिपत्ति हो जाती है।

भूमिग्रहणमधिकरणविशेषप्रतिपत्त्यर्थं, घनादिग्रहणं तदालंबननिर्ज्ञानार्थं, सप्तग्रहणमियत्तावधारणार्थं। सामीप्याभावादधोऽध इति द्वित्वानुपपत्तिरिति चेन्न, अंतरस्याविवक्षितत्वात्।

इस सूत्रमें भूमिका ग्रहण तो अधिकरण विशेषकी प्रतिपत्तिके लिये है। अर्थात्— जैसे स्वर्गपटल भूमिका आश्रय नहीं करके जहांके तहां व्यवस्थित हो रहे हैं, उस प्रकार नारकी जीवोंके स्थान नहीं हैं, नारकियोंके आवास तो भूमिका आश्रय लेकर ही प्रतिष्ठित हैं। इस सूत्रमें घनाम्बु आदिका ग्रहण तो उन भूमियोंके आलम्बनका परिज्ञान करानेके लिये है। अर्थात् निराश्रय होते हुये भी पक्षी जैसे वायुके सहारे आकाशमें उड रहा है, उसी प्रकार ये सभी भूमियां घनोदधि नामके वातवलयपर आश्रय पारही हैं और घनोदधि वातवलय तो घनवातपर डट रहा है तथा तनुवातपर घनवात या अम्बुवात अवलम्बित है। सूत्रमें सप्त शब्दका ग्रहण तो भूमियोंकी संख्याके इतने नियत परिमाण होनेका अवधारण करनेके लिये है जिससे कि अधोलोककी सात ही भूमियां समझी जांय छह या आठ नहीं। यहां किसीकी शंका है कि तिरछी हो रही रचनाकी निवृत्तिके लिये सूत्रमें अधःका वचन आवश्यक है, किन्तु भूमियोंमें जब असंख्याते योजनोंका मध्यमें अन्तर पडा हुआ है, ऐसी दशामें समीपपन नहीं घटित होनेसे " अधः अधः " इस प्रकार अधः शब्दके दो पनेकी सिद्धि नहीं हो पाती है। हां, वातवलयोंमें अन्तर नहीं होनेसे " अधः अधः " शब्द अच्छा घटित हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि मध्यमें पडे हुये अन्तरकी यहां विवक्षा नहीं की गयी है। सजातीय पदार्थ करके व्यवधान होता तो शंकाकारका कहना ठीक था। आकाशका अन्तर अगण्य समझा गया है। यहां विशेष यह कहना है कि पहिले घनवातका दूसरा नाम घनोदधिवात है। दूसरे अम्बुवातका अपर नाम घनवात भी है। ये सब चेतन या अचेतन वायु ही हैं। यहां जड जल या सचेतन जल नहीं है। कोरा नाम धर दिया गया है। पहिली घनोदधि नामक वायुमें उदधि शब्द द्वारा मोटे जल या भापकी अभिव्यक्ति हो जाती है।

कुतः पुनरेताः संभाव्यंत इत्याह।

किसीका प्रश्न है कि महाराज, फिर यह बताओ कि वे नीचे नीचे व्यवस्थित हो रही सात भूमियां भला किसी प्रमाणसे ज्ञात होकर सद्भावको प्राप्त हो रहीं हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री आचार्य महाराज वार्त्तिक द्वारा समाधान वचन कहते हैं।

घनांबुपवनाकाशप्रतिष्ठाः सप्तभूमयः ।
रत्नप्रभादयोऽधोधः संभाव्या बाधकच्युतेः ॥ १ ॥

नीचे नीचे प्रदेशोंमें रचनाको प्राप्त हो रहीं और प्रत्येक भूमियां यथाक्रमसे घनवात, अम्बुवात, तनुवात, और आकाशपर दृढ प्रतिष्ठित हो रहीं ये रत्नप्रभा आदिक सात भूमियां (पक्ष) स्वकीय अस्तित्व करके संभावना करने योग्य हैं (साध्य), अस्तित्वके बाधक प्रमाणोंकी च्युति होनेसे (हेतु) । अर्थात्—सत्ताके बाधक प्रमाणोंका असम्भव हो जानेसे वस्तुका सद्भाव निर्णीत कर लिया जाता है । यही उपाय सात भूमियों और उनके आलम्बनोंके सद्भावका अव्यर्थ प्रसाधक है ।

न हि यथोदितरत्नप्रभादिभूमिप्रतिपादकवचनस्य किंचिद्बाधकं कदाचित् संभाव्यते इति निरूपितप्रायं ।

सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार कह दी गयीं रत्नप्रभा आदिक भूमियोंका प्रतिपादन करनेवाले सूत्र वचनका कभी कोई भी बाधकप्रमाण नहीं सम्भव रहा है, इस बातको हम कई बार अन्य प्रकरणोंमें कह चुके हैं कि बाधक प्रमाणोंके असम्भवसे पदार्थका अस्तित्व साध लिया जाता है ।

नन्वेता भूमयो घनानिलप्रतिष्ठाः घनानिलस्त्वंबुवातप्रतिष्ठः सोपि तनुवातप्रतिष्ठस्तनुवातः पुनराकाशप्रतिष्ठः स्वात्मप्रतिष्ठमाकाशमित्येतदनुपपन्नं, व्योमवद्भूमीनामपि स्वात्मप्रतिष्ठत्वप्रसंगात् भूम्यादिवद्वाकाशस्याधारांतरकल्पनायामनवस्थाप्रसंगात् । ततो नात्र बाधकच्युतिरिति कश्चित्तं प्रत्याह ।

यहां कोई आक्षेप करता है कि आप जैनोंने जो यह कहा है कि ये सातों भूमियां घनवात पर प्रतिष्ठित होरही हैं और घनवात तो अम्बुवातपर आश्रय पारहा है तथा वह अम्बुवात भी तनुवातके अवलम्बपर सधा हुआ है। तनुवात फिर आकाशपर प्रतिष्ठित है तथा आकाश अपने स्वरूपमें ही आधार, आधेय, बन रहा स्वाश्रित है। यों जैनियोंका यह कथन सिद्धिको प्राप्त नहीं होपाता है। क्योंकि या तो आकाशके समान भूमियोंको भी अपने अपने निज स्वरूपमें प्रतिष्ठित होनेका प्रसंग आता है अथवा भूमि या घनवात, आदिके समान आकाशका भी अन्य आधार मानना पडेगा। और उस आधारके भी छठे, सातवें, आठवें आदि न्यारे न्यारे अन्य आधारोंकी कल्पना करते करते जैनोंके ऊपर अनवस्था दोष आनेका प्रसंग होता है । तिस कारण यहां बाधकच्युति नहीं है । अर्थात्—भूमि और उनके आधारोंके सद्भावकी सिद्धि करनेमें जो बाधकाभाव हेतु दिया गया है, वह हेतु पक्षमें नहीं वर्तनेसे असिद्ध हेत्वाभास है । इस प्रकार कोई अपना नाम नहीं लेता हुआ आक्षेप कर रहा है, उसके प्रति श्री विद्यानन्द स्वामी समाधान कहते हैं ।

स्वात्मप्रतिष्ठमाकाशं विभुद्रव्यत्वतोन्यथा।
घटादेरिव नैवोपपद्येत विभुतास्य सा ॥ २ ॥

आकाश (पक्ष) अपने निजस्वरूपमें ही प्रतिष्ठित होरहा है (साध्य) व्यापक द्रव्य होनेसे (हेतु) अन्यथा यानी आकाशको स्वप्रतिष्ठित नहीं मानकर यदि आकाशके भी अन्य अन्य अधिकरण माने जायंगे तब तो घट, पट, आदिके समान इस आकाशका वह व्यापकपना नहीं बन सकेगा। अर्थात्—आकाशके अधिकरण माने गये द्रव्यका जहांसे प्रारम्भ होगा वहींतक आकाशकी सीमा समझी जायगी। घरकी पोलरूप आकाशका अधिकरण यदि आंगनको मान लिया जायगा तो ऐसे छोटे छोटे अनन्त आकाशोंकी असद्भूत कल्पना करनी पडेगी। आकाशकी व्यापकता भी नष्ट हो जायगी, जो कि इष्ट नहीं है।

परममहदन्यत्प्रतिष्ठितं चेति व्याहतमेतत्। ततो व्योम चात्मप्रतिष्ठं विभुद्रव्यत्वाद्यत्तु न स्वात्मप्रतिष्ठं तन्न विभुद्रव्यं यथा घटादि, विभुद्रव्यं च व्योमेति न तस्याप्याधारांतरकल्पनयानवस्था स्यात्। नापि भूम्यादीनामपि स्वप्रतिष्ठत्वप्रसंगस्तेषामविभुद्रव्यत्वादिति न प्रकृतबाधकत्वं।

इधर आकाशको परम महापरिमाण वाला कहना और उधर आकाशको दूसरे अधिकरण द्रव्यपर प्रतिष्ठित कर देना ये दोनों बातें परस्पर व्याघातदोष युक्त हैं। परम महत् कहते ही आकाशका अन्य द्रव्यपर प्रतिष्ठित रहना उसी समय रोक दिया जाता है अथवा घटादिकका अन्य स्थलोंपर धरा रहना कहते ही उसी क्षण महापरिमाणसहितपना निषिद्ध होजाता है। अन्योन्य विरुद्ध होरहे धर्मोंमेंसे किसी एककी विधि करते ही बच रहे दूसरे धर्मका उसी समय झट निषेध हो जाता है। दोनों धर्मकी विधि या दोनोंके युगपत् निषेध करनेका असम्भव है। तिस कारणसे सिद्ध होजाता है कि व्यापक द्रव्य होनेसे (हेतु) आकाश (पक्ष) स्वयं अपनेमें ही आधार आधेयभूत प्रतिष्ठित होरहा है (साध्य) जो स्वात्म प्रतिष्ठित नहीं है वह तो विभु द्रव्य भी नहीं है जैसे कि घट, पट, आदिक पदार्थ हैं (व्यतिरेकव्याप्तिपूर्वक व्यतिरेकदृष्टान्त)। यह आकाश व्यापक द्रव्य है (उपनय) इस कारण वह स्वयं अपना अवलम्ब है (निगमन)। अतः पुनः उसके भी अन्य आधारोंकी कल्पना करके अनवस्था दोष नहीं हो पायगा। तथा आकाशके समान भूमि, वायु, आदिकोंको भी स्वप्रतिष्ठितपनेका प्रसंग नहीं आ पाता है। क्योंकि वे भूमि आदिक तो अव्यापक द्रव्य हैं। अतः वे स्वाश्रय नहीं हो सकते हैं। इस कारण हमारे प्रकरणमें प्राप्त सात भूमियां या उनके आधारोंकी निर्बाध, निर्दोष, हेतु द्वारा सत्तासाधनमें तुम्हारा आक्षेप बाधक नहीं हो सकता है। तब तो बाधकच्युति हेतु पक्षमें ठहर गया।

ननु कथमिदानीं व्योम तनुवातस्याधिकरणममूर्तत्वात्तस्यातिबंधकत्वादित्यपरस्तं प्रत्याह।

पुनः किसीका आक्षेप है कि मूर्त होनेसे भूमियोंका अधिकरण घनवात या घनवातका आधार अम्बुवात अथवा अम्बुवातका आश्रय तनुवात भले ही हो जाओ, किन्तु अमूर्त होनेसे भला आकाश इस समय तनुवातका अधिकरण कैसे हो सकता है ? क्योंकि उसके प्रतिबन्धकपनका अभाव है। अर्थात्—पुस्तकका आधार चौकी है, मनुष्यका आश्रय मूंढा है, यहां आधेयके अधःपतनका प्रतिबन्धक होनेसे चौकी, मूढाको आधेयका आधार माना गया है। किन्तु अमूर्त और सबको सर्वत्र अवगाह देनेवाला आकाश तो तनुवातके अधःपातका प्रतिबन्धक नहीं है। तनुवातके नीचे ऊपर, तिरछे, सर्वत्र आकाश भर रहा है। अतः तनुवातका आधार आकाश नहीं सिद्ध होता है। यहांतक कोई दूसरा आक्षेपकार कह रहा है। उसके प्रति (उन्मुख) श्री विद्यानंद स्वामी वार्तिक द्वारा उत्तर वचन कहते हैं।

तनुवातः पुनर्व्योमप्रतिष्ठः प्रतिपद्यते ।
तनुवातविशेषत्वान्मेघधारणवायुवत् ॥ ३ ॥

फिर तनुवात तो (पक्ष) आकाशमें प्रतिष्ठित हो रहा समझा जाता है (साध्य) विशेष स्वरूप धारी तनुवात होनेसे (हेतु) मेघको धारनेवाले वायुके समान (अन्वयदृष्टान्त) अर्थात्— आकाशमें फैल रहे मेघको जैसे अदृश्यवायु धारे रहता है, उसी प्रकार तनुवातको आकाश धारे हुये है। मछलीके चारों ओर फैल रहा जल मछलीको आधार है। भूमिमें सैकडों कीडे मकोडे आश्रय पा रहे हैं। वायुके आधारपर पक्षी उड रहा है।

मेघधारणो वातावयवी वाय्ववयवप्रतिष्ठ इति चेत् न, अनंतशः पवनपरमाणूनां पवनावयवत्वात् तेषां चाकाशप्रतिष्ठत्वादभिन्नस्य कथंचित्पवनावयविनोपि तदाधारत्वोपपत्तेर्न साध्यविकलमुदाहरणं, नापि संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिको हेतुः, कस्यचिदप्यनाकाशाधारस्य तनुवातस्यासंभवात् । ततः तस्यामूर्तस्यापि पवनाधारत्वमुपपन्नं आत्मनः शरीराद्याधारत्ववत् तथा प्रतीतेरबाधितत्वात् ।

यदि यहां कोई वैशेषिक यों कहे कि छोटे छोटे अवयव वायुओंसे बना हुआ अवयवी हो गया, वायु जो कि मेघको धारनेवाला कहा गया है, वह तो अपने समवायी कारण हो रहे अवयवोंपर प्रतिष्ठित है, आकाशमें नहीं है। अतः आपका हेतु बाधित है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि अनन्ते अनन्ते वायुके परमाणुएं उस अवयवी पवनके अवयव हैं। जब कि वे अवयव अन्तमें जाकर आकाशमें प्रतिष्ठित हो रहे माने जाते हैं, तो उन अवयवोंसे कथंचित् अभिन्न हो रहे अवयवी वायुका भी वह आकाश आधार बन जायगा। अर्थात्—वायुके आधार वैशेषिकोंने वायुके अवयव माने हैं। उन अवयवोंका आधार उनके भी अवयव हैं, यों चलते चलते षडणुक, पंचाणुक, चतुरणुक, पर पहुंचकर चतुरणुकोंके आधार त्र्यणुक और त्र्यणुकोंके आधार द्व्यणुक तथा

अणुओंके आधार वायुपरमाणुओंको स्वीकार किया है। पुनः परमाणुओंका आधार आकाश अभीष्ट किया है। ऐसी दशामें अवयव और अवयवीका कथंचित् अभेद हो जानेसे तनुवातका अधिकरण यदि आकाशको कह दिया तो इसमें तुम्हारी क्या हानि हो गयी ? सभी आस्तिकोंने सर्व द्रव्योंका आधार परिशेषमें आकाशको ही स्वीकार किया है। अतः कोई वाक्छटा दिखलाना निष्णात विद्वानोंको नहीं शोभता है। वार्तिक द्वारा कहा गया हमारा अनुमान निर्दोष है। उस अनुमानमें दिया गया उदाहरण साध्यसे रीता नहीं है। क्योंकि मेघको धारनेवाला वायुका आकाशमें प्रतिष्ठित रहना साध दिया गया है तथा हमारे हेतुका विपक्षसे व्यावृत्त होना गुण भी संदेहप्राप्त नहीं है। क्योंकि आकाशके आधारपर नहीं डट रहे किसी भी एक तनुवातका असम्भव हो रहा है। जब कि सभी वायुयें अथवा अन्य पदार्थ भी आकाशपर स्थान पा रहे हैं, ऐसी दशामें हेतुकी विपक्षव्यावृत्ति निर्णीत हो चुकी है। इस कारणसे सिद्ध हो जाता है कि उस अमूर्त आकाशको भी वायुका आधारपना युक्त है। जैसे कि शरीर, इन्द्रिय, अष्टविधकर्म, आदिका आधारपना आत्माको अभिन्न रूपसे समुचित माना गया है, आप वैशेषिकोंने "जगतामाश्रयो मतः" इस वचन अनुसार कालको यावत् जगत्का आश्रय माना है। शरीर, इन्द्रिय, आदिका अधिकरण आत्मा हो रहा है। बैठा हुआ देवदत्त यदि अपनी बांहको ऊंचा, नीचा, कर रहा है, इसका तात्पर्य यह है कि देवदत्त अपनी बांहसे संयुक्त हो रही आत्माको स्वयं ऊंचा नीचा कर रहा है। उस आत्माके साथ बंध रही पौद्गलिक बांह तो आत्माके साथ घिसटती हुयी ऊपर, नीचेको, जा रही है। देवदत्त मार्गमें चल रहा है। यहां भी देवदत्तकी गतिमान् आत्मा चल रही है। उस आत्मापर धरा हुआ शरीर तो उसी प्रकार आत्माके साथ घिसटता चलता है, जैसे कि शरीरके साथ कपडे, गहने, या घोडे द्वारा खींची गयी गाडीपर बैठे हुये सेठजी खिचरते लदे जा रहे हैं। सूक्ष्म शरीर या स्थूल शरीरके उपयोगी वर्गणाओंसे आत्मामें ही पौद्गलिक शरीर बन कर वहीं ठहर जाते हैं। अतः शरीर आदिका आधार आत्मा माना जाय यही अच्छा है अमूर्त भी मूर्त पदार्थका आधार हो सकता है। क्योंकि तिस प्रकारकी प्रतीतियोंका अबाधितपना प्रसिद्ध है। नैयायिकोंने अमूर्त दिशाको भी मूर्तपदार्थोंका आधार माना है। मीमांसक बौद्ध आदि विद्वान् भी अमूर्तोंको मूर्तका आधार मान बैठे हैं। लोकमें भी मूर्तोंके आधार अमूर्त द्रव्यकी निर्बाध प्रतीति हो रही है।

तनुवातः कथमंबुवातस्याधिकरणं समीरणस्वभावत्वादिति चेदुच्यते ।

यहां कोई प्रश्न करता है कि जब तनुवात ही स्वयं प्रेरक वायुस्वभाव हो रहा गति या कम्पनको कर रहा है तो वह हलता, चलता, तीसरा वायु तनुवात भला दूसरे वायु अम्बुवातका अधिकरण कैसे हो सकेगा ? प्रमाण दो, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य द्वारा वार्तिक कहा जाता है।

तद्धृतश्चांबुवातः स्याद्घनात्मार्थस्य धारकः ।
अंबुवातत्वतो वार्द्धेर्वीचीवायुविशेषवत् ॥ ४ ॥

उस तीसरे तनुवात करके भले प्रकार धारण कर लिया गया दूसरा अंबुवात तो कठिन स्वरूप अर्थ तीसरे घनवातका धारक है (प्रतिज्ञा) अंबुवात होनेसे (हेतु) जैसे कि समुद्रको धारनेवाली लहरोंकी विशेष वायु है (दृष्टांत) । अर्थात्--वायु स्वभाव भी तनुवात ऊपरले अंबुवात नामक वायुका आधार होजाता है और कुछ कुछ पतला, मोटा, अंबुवात तो ऊपरले सघन, स्थूल, घनवातका आधार संभव जाता है, जैसे कि विशेषताओंसे युक्त लहरीली वायु समुद्रको धारे रहती है ।

स च तनुवातप्रतिष्ठांबुवातो घनवातस्य स्थितिहेतुः सोपि भूमेर्न पुनः कूर्मादिरित्यावेदयति ।

यों वह पतले पतले स्कन्धोंको धार रहे तनुवातवलयपर प्रतिष्ठित हो रहा दूसरा अम्बुवात तो ऊपरले घनवातकी स्थितिका कारण हो रहा प्रतिष्ठापक है और वह घनवात भी रत्नप्रभा भूमिका आधार है । पृथिवीके फिर कोई कच्छप, शूकर, गोश्रृंग, आदि आधार नहीं है । इसी बातकी ग्रन्थकार विज्ञप्ति कराते हैं ।

> **घनानिलं प्रतिष्ठानहेतुः कूर्मः स एव नः ।**
> **न कूर्मादिरनाधारो दृष्टकूर्मादिवत्सदा ॥ ५ ॥**
> **तन्निवासजनादृष्टविशेषवशतो यदि ।**
> **कूर्मादिराश्रयः किं न वायुर्दृष्टान्तसारतः ॥ ६ ॥**

भूमिके वहांके वहां प्रतिष्ठित बने रहनेका कारण वह घनवात ही हम जैनोंके यहां कछवा माना गया है। कोई दूसरा कच्छप प्राणी या शूकर आदि जीव तो भूमिके आधार नहीं है। क्योंकि वे कच्छप आदि स्वयं दूसरे आधारपर टिके हुये नहीं माने गये हैं । कछवा या शूअर अन्य आधारके विना ठहर नहीं सकता है, जैसे कि आजकल देखे गये कछवा, सूअर आदिक जीव अन्य आधारसे रहित होरहे सन्ते किसीके अधिकरण नहीं बन पाते हैं। अन्य आधारोंकी कल्पना की जायगी तो अनवस्था दोष होगा। अतः देखे हुये कछवा आदिके समान वह पौराणिकोंके कछवे, सूअर आदि भी भूमिको धारनेवाले नहीं माने जासकते हैं । अर्थात्--इस रत्नप्रभाके नीचे सात राजू लंबे, एक राजू चौडे बीस हजार योजन मोटे घनवात या साठ हजार योजन मोटे वातवलयको भले ही कवियोंकी भाषामें कछवा या सूअरकी उपमा दी जाय । यदि कोई विष्णुके कच्छप अवतार, वराह अवतार, आदिमें अंधभक्तिको धार रहा पौराणिक यों कहे कि भूमियोंमें निवास करनेवाले प्राणियोंके पुण्य, पाप, विशेषकी अधीनतासे वे निराधार भी कच्छप भगवान् या वराह भगवान् इस भूमिके आश्रय होजाते हैं । आचार्य कहते हैं कि तब तो प्रत्यक्षप्रमाणके द्वारा देखे हुये पदार्थके अनुसार होनेसे वायु ही भूमिका आश्रय क्यों नहीं मान लिया जाय ? जब कि मेघ, वायुयान, विमान, पक्षी, ये बहुतसे पदार्थ वायुपर डट रहे हैं

तो भूमिका आधार भी वायु मानना उचित है। वायुमें अनन्त शक्ति है। कछवा या सूअर कितने भी ऊंचे चौडे बडे माने जांय वे आधार बिना ठहर नहीं सकते हैं।

सोयं कूर्मं वराहं वा स्वयमनाधारं भूमेराश्रयं कल्पयन् दृष्टहान्या निर्धार्यते।

यह वही प्रसिद्ध पौराणिक किसी अन्य आधारपर नहीं डट रहे यों ही अनंत आकाशमें स्वयं निराधार होरहे कछवा अथवा शूकरको इस लम्बी चौडी भूमिका आश्रय कल्पित कर रहा विचारा दृष्टहानि करके निर्धारण कर लिया जाता है। अर्थात्—पौराणिककी कल्पनामें प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा विरोध आता है। ऐसी दृष्टविरुद्ध गप्पोंको अभीष्ट करनेवाला अंधभक्त वादी प्रामाणिक पुरुषों द्वारा पृथक्भूत समझ लिया जाता है।

कश्चिदाह—न स्थिरा भूमिर्दर्पणाकारा। किं तर्हि ? गोलकाकारा सर्वदोर्ध्वाधो भ्राम्यति, स्थिरं तु नक्षत्रचक्रं मेरोः प्रादक्षिण्येनावस्थानात्। तत एव पूर्वादिदिग्देशभेदेन नक्षत्रादीनां संप्रत्ययो न विरुध्यते। तथोदयास्तमनयोश्चंद्रादीनां भूमिसंलग्नतया प्रतीतिश्च घटते नान्यथेति, तं प्रति बाधकमुपदर्शयति।

कोई आधुनिक विद्वान् अपना पूर्वपक्ष यों कह रहा है कि आप जैनोंके यहां लम्बी, चौडी, पतली, सपाट दर्पणके समान जो भूमि मानी गयी है, वह रत्नप्रभा भूमिका आकार ठीक नहीं है। तथा भूमि जो स्थिर मानी गयी है और नक्षत्र मण्डलको मेरुकी प्रदक्षिणा करता हुआ ढाई द्वीपमें भ्रमणशील माना गया है, वह भी ठीक नहीं है। तो भूमि कैसी है ? इसपर हमारा पक्ष यह है कि यह भूमि गेंद या नारंगीके समान गोल आकारको धारती है। उसका आकार चपटा नहीं है। भूमि सर्वदा स्थिर भी नहीं किन्तु सर्वदा ऊपर, नीचे, घूमती रहती है। हां, सूर्य, चंद्र, या शनि, शुक्र आदि ग्रह, अश्विनी, भरणी, आदि नक्षत्रचक्र तो मेरुके चारों ओर प्रदक्षिणारूपसे जहांका तहां अवस्थित हो रहा है, घूमता नहीं है। तिस ही कारणसे यानी नक्षत्र-मण्डलकी स्थिरतासे और भूमिका भ्रमण होनेसे ही पूर्व, उत्तर, आदि दिशाओं या विदेह आदि देशोंके भेद करके नक्षत्र, सूर्य, आदिकोंका समीचीन ज्ञान हो रहा विरुद्ध नहीं पडता है तथा उदय होते समय या अस्त होनेके अवसरमें चन्द्र, सूर्य, शुक्र आदि ज्योतिष्कोंकी भूमिमें संलग्नपने करके प्रतीति होना घटित हो जाता है, अन्यथा नहीं। अर्थात्—कदाचित् अपरिचित स्थानकी नदीमें नाव-पर बैठे हुये हम इधर उधर आवें जावें तो दिशा भ्रान्ति हो जाती है, इसी प्रकार घूमती हुई पृथिवी-पर बैठे हुये हमको नक्षत्र मण्डल यहांसे वहां हो गया दीखता है। उदय होता हुआ सूर्य दूरवर्ती भूमिमें चिपट रहा दीखता है, यह सब भूमिके भ्रमणसे सम्भव जाता है। अन्य कोई उपाय नहीं है। अब आचार्य महाराज उस विद्वान्के सन्मुख घूम रही गोल पृथिवीके मन्तव्योंका बाधक प्रमाण (दोषों) वार्तिक द्वारा दिखलाते हैं।

नोर्ध्वाधोभ्रमणं भूमेर्घटते गोलकात्मनः ।
सदा तथैव तद्भ्रांतिहेतोरनुपपत्तितः ॥ ७ ॥

गोल स्वरूप हो रही भूमिका ऊपर नीचे भ्रमण होना घटित नहीं हो पाता है। क्योंकि सर्वदा तिस ही प्रकार उस भूमिके भ्रमणके कारक हेतुकी सिद्धि नहीं हो चुकी है। चौबीस घन्टे या ऋतु अनुसार पृथिवीको तिस ही प्रकार घुमानेवाले कारणोंकी सिद्धि नहीं हो पाती है। नियत कारणके बिना नियत कार्य नहीं हो सकता है।

वायुरेवोर्ध्वाधो भ्रमत्सर्वदा भूमेस्तथा भ्रमणहेतुरिति न संगतं, प्रमाणाभावात् । आगमः प्रमाणमिति चेन्न, तस्यानुग्राहकप्रमाणांतराभावात् । तस्यानुमानमनुग्राहकमस्तीति चेन्न, अविनाभाविलिंगाभावात् ।

यदि आधुनिक पण्डित यों कहें कि वायु ही ऊपर नीचे भ्रमण कर रही संती तिस प्रकार भूमिके सर्वदा नियमित भ्रमणका हेतु है। आचार्य कहते हैं कि यह कहना तो संगतिप्रस्त होकर हृदय स्पर्शी नहीं है, असम्बद्ध है। क्योंकि घूम रही वायुके अनुसार भूमिके भ्रमणको साधनेवाला कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। यदि आप इस विषयमें आगमप्रमाणको प्रस्तुत करें कि आर्यभट्टने अपने ग्रंथमें पृथिवीको चलती हुई साधा है। अपनी कक्षासे बाहर गमन नहीं करना सो ही अचलपना है और भी कितनी ही इंग्रेजी पुस्तकोंमें पृथिवीका भ्रमण सिद्ध किया गया है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस आगमका अनुग्रहकारक कोई दूसरा प्रमाण नहीं है। जबतक आगममें कही हुई बातको परिपुष्ट करनेके लिये अन्य प्रमाण सहायता नहीं देते हैं, तबतक चाहे जिस आगमके उपन्यासोंके समान किसी भी प्रमेयको आंख मीचकर नहीं मान लिया जाता है। यदि कोई भूभ्रमणवादी यों कहे कि उस आगमका अनुग्रहकारक अनुमान प्रमाण विद्यमान है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि उस अनुमानमें अविनाभावको धारनेवाला समीचीन लिंग नहीं है। अन्यथानुपपत्ति करके रीते हो रहे हेतुसे समीचीन अनुमान ज्ञान नहीं उपज पाता है।

ननु च यत्पुरुषप्रयत्नाद्यभावेपि भ्राम्यति तद्भ्रमद्वायुहेतुकं भ्रमणं यथाकाशे पर्णादि तथा च भूगोल इत्यविनाभावि लिंगमनुमानं पुरुषप्रयत्नकृतचक्रादिभ्रमणेन पाषाणादिसंघट्टकृतनदीजलादिभ्रमणेन च व्यभिचाराभावात् । न च पुरुषप्रयत्नाद्यभावोऽसिद्धः पृथिवीगोलकभ्रमणे महेश्वरादेः कारणस्य निराकरणात् । पाषाणसंघट्टादिसंभवाभावात् भूगोलभ्रमणमसिद्धं इति न मंतव्यं तदभावे तत्स्थजनानां चंद्रार्कादिबिंबस्योदयास्तमनयोर्भिन्नदेशादितया प्रतीतेरघटनात् । सास्ति च प्रतीतिस्ततो भूगोलभ्रमः प्रमाणसिद्ध इति कश्चित् ।

भूभ्रमवादी अपने मन्तव्यका अवधारण करनेके लिये हेतुमें अविनाभावको दिखलाते हुये यों अनुमान प्रमाण कहते हैं कि जो पदार्थ पुरुषके प्रयत्न या पत्थरकी टक्कर आदिक कारणोंके नहीं होनेपर भी घूम रहा है (हेतु) उसका वह भ्रमण घूम रही वायुको कारण मानकर हुआ है (साध्य) जैसे कि आकाशमें आंधी चलते समय पत्ते, तिनके, आदि पदार्थ घूमती हुई वायु द्वारा घूम जाते हैं (अन्वयदृष्टान्त) तिस ही प्रकार भूगोल घूम रहा है (उपनय) अतः वायुभ्रमण अनुसार भूगोल मान लेना चाहिये (निगमन) इस प्रकार अविनाभाववाले हेतुसे इस अनुमानका उत्थान हुआ है। हेतुमें पुरुषके प्रयत्न आदिका अभाव यह विशेषण तो व्यभिचारकी निवृत्तिके लिये दिया है। अतः पुरुषके प्रयत्न द्वारा की गयी चाक आदि की भ्रांति करके और पत्थरकी या वेगयुक्त जल आदिकी अच्छी टक्कर लग जानेसे किये गये नदीजल, समुद्रजल, आदिके भवरों करके व्यभिचार नहीं हो पाता है। यहां भ्रमणमें पुरुषप्रयत्न, पाषाणघट्टन, आदिका अभाव असिद्ध नहीं है। क्योंकि पृथिवीस्वरूप गोलाके भ्रमण करनेमें महेश्वर, विधाता, आदि कारणोंका निराकरण कर दिया है और पत्थरोंकी टक्कर, विद्युत्प्रवाह आदि कारणोंकी भी संभावना नहीं है। अतः हेतुका विशेषण दल पक्षमें वर्तता हुआ सिद्ध होजाता है। भूभ्रमवादी ही कहे जा रहे हैं कि पृथिवी स्वरूप गोलेका भ्रमण करना असिद्ध होय यह मान बैठना भी उचित नहीं है। क्योंकि उस भ्रमणका अभाव मान लेने पर तो उस भूमिमें ठहरनेवाले मनुष्योंको चंद्रबिंब, सूर्यबिंब, शुक्र आदिके उदय या अस्त होनेपर भिन्न भिन्न देश वर्तीपन या न्यारे न्यारे आकार आदिपने करके प्रतीति होना नहीं घटित हो पावेगा और वह भिन्न भिन्न देशवर्ती आदिपने करके प्रतीति तो होरही है। तिस कारणसे भूगोलका भ्रमण होना प्रमाणसे सिद्ध है, यों भ्रमण हेतु पक्षमें ठहर जाता है। इस प्रकार ननुसे लेकर यहांतक कोई एक पण्डित कह रहा है।

सोत्रैवं पर्यनुयोक्तव्यः। भभ्रमः कस्मान्न भवतीति तदावेदिनः प्रवचनस्य सद्भावात्। प्रतिनियतानेकदेशादितयार्कादीनां प्रतीतेरपि घटनात् भूभ्रमणहेतोर्विरुद्धत्वोपपत्तेः। भूगोलभ्रमणे साधनस्यानुमानादिबाधितपक्षतानुषंगात्। कारणाभावात् भभ्रमोनुपपन्न इति चेत् तथाविधादृष्टवैचित्र्यात्तद्भ्रमणोपपत्तेः।

अब आचार्य कहते हैं कि उस भूभ्रमवादीके ऊपर यहां प्रकरणमें इस प्रकार चोद्य उठाना चाहिये कि भूभ्रमणके समान नक्षत्र मण्डल या सूर्य आदिकोंका भ्रमण हो रहा क्यों नहीं माना जाता है? जब कि उस ज्योतिष चक्रके भ्रमणका आवेदन करनेवाले आप्तवाक्य स्वरूप आगमका सद्भाव हो रहा है, उदय, अस्त, दशामें सूर्यका दूर स्थित भूमिके साथ स्पर्श हो रहा दीखना और मध्यान्हमें ऊपर दीखना तथा बीचमें तिर्यक् ऊंचा दीखना यों प्रतिनियत अनेक देश या दिशा आदिमें स्थितपने करके सूर्य आदिकोंकी प्रतीति होना भी तभी घटित होता है, जब कि पृथिवीको अचला

और ज्योतिर्मण्डलको घूम रहा माना जायगा। अतः भूभ्रमणके सिद्ध करनेवाले तुम्हारे हेतुको विरुद्ध हेत्वाभासपना बन रहा है। भूगोलके भ्रमणको समझानेमें दिये गये हेतुके साध्य या पक्षमें अनुमान आदि प्रमाणों द्वारा बाधा उपस्थित हो जानेसे उस हेतुको बाधित हेत्वाभासपनका प्रसंग आता है। प्रत्यक्षसे भी भूभ्रमण बाधित है। पक्षी या विमान मीलों ऊंचे या हजारों कोस तिरछे चलकर वहांके वहीं नियत स्थानपर लौट आते हैं। उत्तर दिशामें ध्रुवतारा वहांका वहीं दीखता रहता है। यदि कोई यों कहे कि घुमानेवाले कारणोंका अभाव हो जानेसे ज्योतिश्चक्रका भ्रमण नहीं हो सकेगा। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि जहांके तहां बैठे रहेंगे। यों कहनेपर तो हम जैन यह उपपत्ति देते हैं कि तिस प्रकारके पुण्य, पापकी, विचित्रतासे उन सूर्य आदिकोंका भ्रमण बन जाता है। किन्हीं किन्हीं कर्मोंके फल विचित्रतासे भुगाये जाते हैं। गमनचर्यामें ही रमण कर रहे अभियोग्य जातिके देवों करके ज्योतिष्क विमान नियतगति अनुसार घुमाये जाते हैं।

भूगोलभ्रमणे तु वायुभ्रमणं न कारणं भवितुमर्हति सर्वदा तस्य तथा भ्रमणनियमानुपपत्तेरनियतगतित्वात्। ततो नाभिप्रेतदिगभिमुखं भ्रमणं भूगोलस्य स्यात्। प्राण्यदृष्टवशाद्वायोर्नियतं तथा तदसिद्धेः। प्रसिद्धे भ्रमणमिति चेन्न, तत्कार्यासिद्धौ तदसिद्धेः। प्रसिद्धे हि सुखादिकार्ये निर्विवादे दृष्टकारणव्यभिचारे चादृष्टं तत्कारणमनुमीयते न चाभिप्रेतवायुभ्रमणं निर्विवादं सिद्धं यतो न दृष्टकारणव्यभिचारे तत्कारणमदृष्टमनुमीयेत।

हां, तुम्हारे भूगोलके भ्रमणमें तो वायुका भ्रमण कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि उस जड वायुके द्वारा सदा उस पृथिवीके तिस प्रकार नियम अनुसार भ्रमण होते रहनेकी उपपत्ति नहीं है। क्योंकि वायुकी कोई नियत गति नहीं है। कभी पूर्वकी वायु चलती है। कभी पश्चिमकी वायु बहती है। कभी दक्षिण दिशाकी वायु उमड पडती है। तिस कारण भूगोलका अभीष्ट हो रहीं ऊर्ध्वदिशा या अधोदिशाके अभिमुख भ्रमण नहीं हो सकेगा। अतः चारों ओर लिपटी हुई वायुके अनुसार भूगोलका भ्रमण मानना स्वयं अपनेको चक्करमें डालना है। यदि कोई यहां यों आक्षेप करे कि प्राणियोंके पुण्य, पापकी अधीनतासे वायुका तिस प्रकार नियत हो रहा भ्रमण हो जायगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस अदृष्टके कार्य माने जा रहे वायुभ्रमण या पृथिवीभ्रमणकी जबतक सिद्धि नहीं हो सकेगी, तबतक उस वायुभ्रमणके कारण अदृष्टकी सिद्धि नहीं हो पाती है। देखिये, सुख, दुःख आदि अनुभवे जा रहे कार्योंके विवादरहित प्रसिद्ध हो जानेपर ही परिदृष्ट बहुधन, दूध, घी, वस्त्र, हवेली, आदि या ग्रामवास, अल्पकुटुम्ब, अल्पधन, आदि दृष्ट कारणोंका अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेकव्यभिचार दोष आ जानेपर तो उन सुख आदिकोंके कारण पुण्य, पापरूप अदृष्टका अनुमान कर लिया जाता है। किन्तु यहां आपको *अभीष्ट हो रहा वायुभ्रमण* तो सभीको निर्विवाद सिद्ध नहीं है, जिससे कि वायुभ्रमणके दृष्ट कारणोंका व्यभिचार हो जानेपर

उसके कारण अदृष्टका अनुमान करनेके लिये परिश्रम कराया जाता है। हम जैन तो अभी वायुके भ्रमणमें ही विवाद उठा रहे हैं। स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा या आकाशमें उडाये गये पत्ते अथवा पतंगों द्वारा जिस साधारण वायुका ज्ञान किया जाता है, उस वायुकी गति कोई नियत नहीं है। यह वायु चौवीस घंटे या अडतालीस घंटेमें कोई नियत कार्य करती हुई नहीं जानी जाती है। अतः हम तो समझते हैं कि पृथिवीमण्डलको गाडीके पहिये समान ऊपर नीचे घुमानेवाली कोई वायु नहीं है।

भूभ्रमात् भवद्वायुसिद्धिरिति चेन्न, तस्यापि तद्वदसिद्धेः। नानादिग्देशादितयार्कादिप्रतीतिस्तु भूभ्रमेपि घटमाना न भूभ्रमं साधयतीति। कथं ? अनुमितानुमानादप्यदृष्टविशेषसिद्धिरिति सूक्तं न भूमेरूर्ध्वाधोभ्रमणं षट्चक्रवदेकानुभवं संपरिवृत्तिर्वा घटते तद्भ्रमणहेतोः पराभ्युपगतस्य सर्वथानुपपद्यमानत्वात् परेष्टभूभ्रमादिवदिति।

यदि भूभ्रमणवादी यों कहे कि भूका भ्रमण हो रहा है, इस ज्ञापक हेतुसे प्रकाण्ड रूपसे बह रही, घूमती हुई, वायुकी सिद्धि हो जाती है, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस वायुभ्रमणके समान उस भूभ्रमणकी सिद्धि नहीं हो सकी है। अन्योन्याश्रय दोषवाले असिद्ध हेतुओंसे साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है। पूर्व, पश्चिम, अनेक दिशाओंमें या बंगाल, पंजाब, यूरोप, अमेरिका, आदि देशोंमें दीखना अथवा लाल पीले, धौले, आकार धार लेना, ग्रहण पड जाना, भूमिमें लग जाना, आदि ढंगोंकरके सूर्य आदिकी हो रही प्रतीति तो नक्षत्रमण्डल या सूर्य आदिके भ्रमण माननेपर भी घटित हो रही संती भूभ्रमण की सिद्धि नहीं करा पाती है। इस कारण अनुमित किये गये हेतुद्वारा पुनः उठाये गये अनुमानसे भी भला अदृष्ट विशेषकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? अर्थात्–भूभ्रमणवादीने कारक पक्षमें अदृष्ट विशेषसे वायुका भ्रमण और वायुभ्रमणसे भूभ्रमण होना माना है और ज्ञापक पक्षमें भूभ्रमणसे वायुके भ्रमणकी ज्ञप्ति और वायुभ्रमण नामक कार्य हेतुसे अदृष्टकी सिद्धि (ज्ञप्ति) की है, आचार्य कहते हैं यों अनुमित अनुमानसे भी तुम अदृष्टकी सिद्धि नहीं कर सके हो। इस कारण हमने वार्तिकमें बहुत अच्छा कहा था कि छह पहियेवाले यंत्रके समान या चरखाके समान भूमिका ऊपर नीचे भ्रमण होना नहीं घटित होपाता है अथवा एक व्यक्तिके अनुभव अनुसार भले प्रकार परिवर्तन होना नहीं घटित होता है। क्योंकि दूसरोंके द्वारा माने गये उस पृथिवीकी भ्रान्तिके हेतुओंकी सभी प्रकारोंसे उपपत्ति नहीं होपाती है। जैसे कि अन्य वादियोंके यहां इष्ट किया गया पृथिवीका गेंद या नारंगीके समान तिरछा घूमना आदिके हेतुओंकी सिद्धि नहीं हो सकी है। यहां आदि पदसे पृथिवीके पतन आदि भी लिये जा सकते हैं। कोई वादी भारी पृथिवीका नितरां अधोगमन होना भी मान बैठे हैं तथा कोई आधुनिक पण्डित अपनी डेड बुद्धिमें यों जान बैठे हैं कि पृथिवी दिनपर दिन सूर्यके निकट होती चली जारही है। इसके विरुद्ध कोई यों कह रहे हैं कि अनुदिन सूर्यसे पृथिवी दूरतम होती चली जा

रही है। इसी प्रकार कोई परिपूर्ण जलभागसे पृथिवीका कुछ कालसे उदय हुआ इष्ट किये हैं। कुछ दिनोंमें भूभाग मिटकर जलभाग होजायगा तथा कोई जलभाग कम होकर पृथिवी भागका विस्तार कल्पित कर रहे हैं, किन्तु उक्त कल्पनायें प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं होपाती हैं। थोडेसे ही दिनोंमें परस्पर एक दूसरेका विरोध करनेवाले विद्वान् खडे होजाते हैं। पहिले पहिले विज्ञान या जोतिषयंत्रके प्रयोग भी युक्तियों द्वारा बिगाड दिये जाते हैं। यों छोटे छोटे परिवर्तन तो दिन रात होते रहते हैं। इनसे क्या होता है ? यहांतक उक्त वार्तिककी व्याख्या कर दी गयी है।

तथा दृष्टव्याघाताच्च न सोस्तीत्याह।

तथा एक बात यह भी है कि देखे हुये पदार्थोंका व्याघात होजानेसे वह दूसरोंका माना गया भूभ्रमण नहीं घटित होपाता है, इस बातको श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिक द्वारा कहते हैं।

दृश्यमानसमुद्रादिजलस्थितिविरोधतः।
गोले भ्राम्यति पाषाणगोलवत्क विशेषवाक् ॥ ८ ॥

भूगोलका भ्रमण होना मानते संते तो समुद्र, नदी, सरोवर आदिके जलोंकी देखी जारही स्थितीका विरोध होजाता है। जैसे कि पाषाणके गोलाको घूमता हुआ माननेपर उसपर अधिक जल ठहर नहीं पाता है। अतः भू अचला है, भ्रमण नहीं करती है, पृथिवीको घुमा दे और जलको ठहराये रहे ऐसा कथन कहां संभव सकता है ? अर्थात्—गंगा नदी जैसे हरिद्वारसे कलकत्तेकी ओर बहती है, पृथिवीके गोल होनेपर वह उल्टी भी बह जायगी। समुद्र या कूपजल गिर पडेंगे। घूमते हुये पदार्थ पर मोटा जल नहीं टिककर गिर पडेगा। पवनमें अन्य कोई विशेषता नहीं है।

न हि जलादेः पतनधर्मणो भूयसो भ्राम्यति पाषाणगोले स्थितिर्दृष्टा यतो भूगोलेपि सा संभाव्येत। धारकवायुवशात्तत्र तस्य स्थितिर्न विरुध्यत इति चेत्, स धारको वायुः कथं प्रेरकवायुना न प्रतिहन्यते ? प्रवाहतो हि सर्वदा भूगोलं च भ्रमयन् समंततोपि तत्स्थसमुद्रादिधारकवायुं विघटयत्येव मेघधारकवायुमिव तत्प्रतिपक्षवात इति विरुद्धैव तदवस्थितिः, सर्वथा विशेषपवनस्यासंभवात्।

भारी होनेसे अधःपतन धर्मवाले बहुतसे जल, बालू रेत, आदि पदार्थोंकी पाषाण गोलेके घूमते सन्ते वैसीकी वैसी ही स्थिति होरही नहीं देखी जाचुकी है जिससे कि भूगोलके घूमते सन्ते भी वह जलकी स्थिति वैसीकी वैसी संभव जावे। यदि कोई यों कह बैठे कि घूमते हुये उस भूगोलमें भी जलको धारे रहनेवाले वायुकी अधीनतासे उस जलकी स्थिति बनी रहनेका कोई विरोध नहीं आता है, यों कहनेपर तो हम जैन पूछेंगे कि क्योंजी वह धारक वायु भला प्रेरक वायु करके क्यों नहीं प्रतिघातको प्राप्त होती है ? पृथिवीको घुमनेवाली बलवान् प्रेरक वायु करके जलधारक निर्बल वायुका

प्रतिघात होजाना चाहिये । जैसे कि आकाशमें मेघ छाये रहते हैं, किन्तु जब उनके प्रतिपक्ष वायु बहती है तो वह प्रतिकूल वायु उस मेघको धारनेवाली वायुका विध्वंस कर देती है । मेघ तितर बितर होकर नष्ट होजाते हैं या देशांतरमें चले जाते हैं । उसी प्रकार अपने बलवान् प्रवाहसे सर्वदा भूगोलको सब ओरसे घुमा रही प्रेरक वायु भी वहां स्थिर होरही समुद्र, सरोवर आदिको धारनेवाली वायुका विघटन करा ही देवेगी । इस प्रकार उस जलकी अवस्थिति बनी रहना विरुद्ध ही है । कोई विशेष जातिकी पवनका तो सर्वथा असंभव है । अतः बलवान् प्रेरक वायु भूगोलको अविराम घुमाती रहे और निर्बल जल धारक वायु अक्षुण्ण बनी रहे ये नितान्त असंभव कार्य है ।

अत्र पराकूतमाशंक्य प्रतिषेधयति ।

पृथिवीमें आकर्षण शक्तिको माननेवाले दूसरे पण्डितोंके मन्तव्यचेष्टाकी आकांक्षा कर अनुवाद करते हुये ग्रंथकार उस मन्तव्यका प्रतिषेध अग्रिम वार्तिक द्वारा करते हैं ।

गुर्वर्थस्याभिमुख्येन भूमेः सर्वस्य पाततः ।
तत्स्थितिश्चेत् प्रतीयेत नाधस्तात्पातदृष्टितः ॥ ९ ॥

पूर्वपक्षी कह रहा है कि पृथिवीमें आकर्षण शक्ति है । तदनुसार सम्पूर्ण भारी अर्थोंका भूमिके अभिमुखपने करके पतन होता है । भूगोलपरसे जल गिरेगा तो भी पृथिवीकी ओर ही गिरकर वहांका वहीं ठहरा रहेगा । अतः उस जलकी स्थिति होना प्रतीत हो जावेगा । यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि भारी अर्थोंका नीचेकी ओर पडना ही दृष्टिगोचर हो रहा है । अर्थात्—पृथिवीमें एक हाथ लम्बा चौडा गड्डा खोदकर उस मिट्टीको गड्डेकी एक ओर ढलाऊ ऊंचा बिछाकर यदि उसपर गेंद धर दी जाय ऐसी दशामें वह गेंद नीचीकी ओर गड्डेमें ढुलक पडती है, जब कि ऊपरले भागमें मट्टी अधिक है तो विशेष आकर्षण शक्ति होनेसे गेंदको ऊपर देशमें ही चिपटा रहना चाहिये था । अतः कहना पडता है कि भले ही पृथिवीमें आकर्षण शक्ति होय, किन्तु उस आकर्षण शक्तिकी सामर्थ्यसे जलका घूम रही पृथिवीसे तिरछा परली ओर गिर जाना नहीं रुक सकता है ।

भूगोले भ्राम्यति पतदपि समुद्रजलादि स्थितमिव भाति तस्य तदभिमुख्येन पतनात् । सर्वस्य गुरोरर्थस्य भूमेरनभिमुखतया पतनादर्शनादिति चेन्नैवं, अधस्तात् गुर्वर्थस्य पातदर्शनात्, तथाभितोभिघाताद्यभावे स्वस्थानात् प्रच्युतोधस्तात्पतति गुरुत्वाल्लोष्ठादिवत् । न हि तत्राभिघातो नोदनं वा पुरुषयत्नादिकृतमस्ति येनान्यथागतिः स्यात् । न चात्र हेतोः कंदुकादिना व्यभिचारः, अभिघाताद्यभावे सतीति विशेषणात् । नापि साध्यसाधनविकलो दृष्टान्तः साधनस्य गुरुत्वस्य यथोक्तविशेषणस्य साध्यस्य चाधस्तात्पतनस्य लोष्ठादौ प्रसिद्धत्वात् । तन्न भूभ्रमवादी सत्यवागूर्ध्वाधोभ्रमवादिवत् । किं च—

भूभ्रमणवादी कह रहा है कि भूगोलका भ्रमण हो रहे सन्ते अधःपतनशील समुद्र जल आदिक गिरते हुये भी स्थित हो रहे के समान ही दीखते हैं। क्योंकि उस जलका उस भूमिके अभिमुखपने करके पतन हो रहा है। सम्पूर्ण भारी पदार्थोंका भूमिके अभिमुख नहीं हो करके पतन होना नहीं देखा जाता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना। क्योंकि गुरुपदार्थोंका जहां स्थित है, वहांसे ठीक परली ओर नीचे गिरना देखा गया है तथा तुम्हारे पक्षका बाधक दूसरा अनुमान यह है कि समुद्रजल, लोहगोलक, फल आदि पदार्थ (पक्ष) यदि स्वस्थानसे च्युत हो जांय तो अवश्य ठीक नीचे पड जाते हैं (साध्य) इधर उधरसे बलवान् प्रेरक पदार्थका शद्ब जनक अभिघातनामक संयोग या प्रतिकूल वायु आदिका अभाव होते संते भारी होनेसे (हेतु) डेल, मेघजल, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त)। उस समुद्रजलमें शद्बहेतु संयोग अथवा पुरुषप्रयत्न, विद्युत् प्रयत्न, आदि द्वारा किया गया कोई शद्बहेतु हो रहा प्रेरक संयोग तो नहीं है, जिससे कि भूमिपर रखे हुये जलकी दूसरे प्रकारसे यानी भूमिसे परली ओर नहीं गिरकर भूमिमार्ग ही जलकी गति हो जाय। तथा इस अनुमानमें दिये गये गुरुत्व हेतुका गेंद या बन्दूककी गोली आदिसे व्यभिचार नहीं हो सकता है। क्योंकि हमने हेतुका विशेषण " अभिघात आदिकका अभाव होते संते " यह दे रक्खा है। वेगवाले हाथ द्वारा भूमिमें चोट खाकर नीचे नहीं गिरती हुई गेंद ऊपरको उछल जाती है। बन्दूककी गोली तिरछी चली जाती है, कबूतर ऊपरको उड जाता है, इनमें अभिघात आदि कारण हैं, जहां अभिघात आदि नहीं है वहां गुरुपदार्थोंका अवश्य अधःपात हो जाता है। हमारा दिया हुआ डेल आदि दृष्टान्त भी साध्य और साधनसे रीता नहीं है। क्योंकि पूर्वमें कहे जा चुके अनुसार अभिघात आदिकका अभाव इस विशेषणसे युक्त हो रहे गुरुत्व हेतुकी डेल आदिमें प्रसिद्धि हो रही है और पूर्वसंयुक्त स्थानसे प्रतिकूल परली ओर नीचे गिर जाना इस साध्यकी भी डेल आदिमें प्रसिद्धि है। तिस कारणसे युक्तियों द्वारा जान लिया जाता है कि ऊपर, नीचे, पृथिवीका भ्रमण मान रहे वादीके समान यह प्रहोंकी आकर्षणशक्ति अनुसार पृथिवीका तिरछा या टेढा, मेढा, भ्रमण माननेवाला वादी भी सत्यवचन कहनेवाला नहीं है। एक बात यह भी समझ लेनेकी है कि—

भूभ्रमागमसत्यत्वेऽभूभ्रमागमसत्यता।
किं न स्यात्सर्वथा ज्योतिर्ज्ञानसिद्धेरभेदतः ॥ १० ॥
द्वयोः सत्यत्वमिष्टं चेत्काविरुद्धार्थता तयोः।
प्रवक्त्रोराप्तता नैवं सुगतेश्वरयोरिव ॥ ११ ॥

जिन्होंने आर्यभट्ट या इटली, योरोप, आदि देशोंके वासी विद्वानोंकी पुस्तकोंके अनुसार भू का भ्रमण स्वीकृत किया है, उनके प्रति हमारा यह आक्षेप है कि यदि भूभ्रमणका प्रतिपादन करने-

वाले आगमको सत्य माना जाता है तो अचल पृथिवीके भ्रमणको नहीं कहनेवाले आगमका सत्यपना क्यों नहीं समझ लिया जाय ? क्योंकि ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञानकी सिद्धि होनेका सभी प्रकारसे अभेद है। पृथिवीको अचला या सचला माननेवाले दोनों विद्वानोंके मतानुसार सूर्यग्रहण, दिन रातका व्यवहार, राशिपरिवर्तन, शुक्रका उदय, अस्त होना आदि ज्योतिष शास्त्रके ज्ञान एकसे सध जाते हैं। यदि पृथिवी भ्रमण और ज्योतिष्कचक्रका भ्रमण कहनेवाले दोनों भी आगमोंका सत्यपना अभीष्ट है तब उन दोनों आगमोंको अविरुद्ध अर्थका प्रतिपादकपना कहां रहा ? और इस प्रकार तो बुद्ध और महेश्वरके समान दोनों प्रकृष्ट माने जा रहे विरुद्ध वक्ताओंको आप्तपना यानी सत्यार्थ वक्तापन नहीं आ सकता है। अर्थात्–बुद्ध सृष्टिके कर्त्ताको नहीं मानते हुये सभी पदार्थोंको क्षणिक मानते हैं। किन्तु ईश्वरवादी पण्डित तो पृथिवी आदिको बनानेवाले ईश्वरकी कल्पना करते हुये पदार्थोंको नित्य या कालान्तरस्थायी मान रहे हैं, परस्पर विरुद्ध अर्थको कह रहे ये दोनों तो बढिया वक्ता नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार पृथिवीको सचला या अचला माननेवाले भी आप्त नहीं हो सकते हैं। कमसे कम एक पण्डितके आगमका सत्यपना रक्षित नहीं रह सकता है। अपरिचित स्थलमें नाव द्वारा भ्रमण कर रहा पुरुष भले ही नावका घूमना नहीं मानकर नगर या तीरस्थ प्रासादोंका भ्रमण अभीष्ट कर ले, एतावता उसके दिशा विभ्रमका समाधान भी भले ही हो जाय, किन्तु वस्तुतः विचारनेपर नगरकी स्थिरता और नावका चलपना माना जायगा। इसी प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाणद्वारा ज्योतिष चक्र ही भ्रमण कर रहा प्रतीत हो रहा है। साधारण मनुष्य या पशुको थोडा घूम जानेसे ही आंखोंमें घूमनी आने लग जाती है। कभी कभी खण्डदेशमें अत्यल्प भूचाल (भूकम्प) आनेपर शरीरमें कपकपी, मस्तकमें भ्रान्ति होने लग जाती है। यदि डांकगाडीकी गतिसे भी अधिक वेगवाली पृथिवीकी चाल मानी जायगी, ऐसी दशामें मस्तक, शरीर, पुराने गृह, कूपजल, समुद्र आदिकी क्या व्यवस्था होगी ? इस बातका बुद्धिमान् स्वयं विचार कर सकते हैं।

मतांतरमुपदर्श्य निवारयन्नाह ।

अब श्री विद्यानन्द आचार्य भूभ्रमणसे अतिरिक्त दूसरे मतोंका संकेत मात्र दिखलाकर उनका निवारण करते हुये अग्रिम वार्त्तिकोंको कह रहे हैं।

सर्वदाधः पतन्त्येताः भूमयो मरुतोऽस्थितेः ।
ईरणात्मत्वतो दृष्टप्रभंजनवदित्यसत् ॥ १२ ॥
मरुतो धारकस्यापि दर्शनात्तोयदादिषु ।
सर्वदा धारकत्वस्यानादित्वात्तत्र न क्षतिः ॥ १३ ॥

किसी अन्यवादीका मन्तव्य है कि ये भूमियां सर्वदा (पक्ष) नीचे गिरती रहती हैं (साध्य)। क्योंकि चंचल और कंपन स्वभाववाली होनेसे वायुकी एक स्थानपर स्थिति नहीं होने पाती है (हेतु)

जैसे कि देखी जा चुकी वायु है (अन्वय दृष्टान्त)। आचार्य कहते हैं कि यह कहना मिथ्या है। क्योंकि मेघ, पक्षी, आदि पदार्थोंमें धारनेवाली वायु भी देखी जाती है। अनादि होनेसे सदा धारकपनेकी उस वायुमें कोई क्षति नहीं है। अर्थात्—जो कंपनेवाली चंचल वायु है, वह भूमियोंको दृढ नहीं डाट सकती हैं, किन्तु बादलोंको जैसे धारक वायु देरतक धारे रहती है, उसी प्रकार अनादि कालसे पृथिवीको धार रहे तीन वातवलय चंचल या कंपनेवाले नहीं होनेसे भूमियोंको अविचल धार रहे हैं। कोई हानि नहीं हो पाती है।

न हि भूम्याधारो वायुरनवस्थितस्तस्येरणात्मत्वाभावात्। तचासंभवात्वायमीरणात्मकत्वरहितो मरुत्तोयदादिधारणात्मकस्यापि दर्शनात्। सर्वदाधारकत्वं न दृष्टं इति चेत्, सादेरनादेर्वा? सादेश्चेत् सिद्धसाध्यता। यदि पुनरनादेरपि सर्वदाधारकत्वं पवनस्य न स्यात्तदात्माकाशादेरप्यमूर्तत्वविभुत्वादिधर्मधारणविरोधः। अत्राधाराधेययोरनादित्वात्सर्वदा तद्भाव इति चेत्, भूमिगन्धभृतोरपि तत एव तथा सोऽस्तु। तन्न सर्वदाधः पतंति भूमयः प्रमाणाभावात्।

भूमियोंका अधिकरण हो रही वायु कोई अस्थिर नहीं है। क्योंकि वह धारक वायु गमन स्वभाव वाली या चंचल स्वभाववाली नहीं है। अतः असंभव होनेसे वह भूमियोंके सर्वदा नीचे गिरते रहनेका मन्तव्य प्रशस्त नहीं है। " ईरणात्मत्वाभाव " हेतुको यों पुष्ट करते हैं कि यह भूमियोंका आधार होरही वायु (पक्ष) ईरण स्वभावसे रहित है (साध्य) क्योंकि वायुका बादल आदिकोंको धारे रहना स्वरूप भी देखा जाता है (हेतु)। अर्थात्—कई दिनोंतक वायुके आधारपर बादल आकाशमें डटे रहते हैं। शरीरमें कुपित होगयी वायु किसी नसमें रक्तको कई वर्षोंतक डाटे रहती है, चलायमान नहीं होने देती है। काचकी शीसी या नलीमें भर दी गयी वायु गोलीको डाटे रहती है। यदि यहां कोई यों कहे कि वायु कुछ देरतक भले ही बादल, रक्त, गोली आदिको धारे रहे किन्तु सर्वदा धारकपना किसी भी वायुमें नहीं देखा गया है, यों कहनेपर तो हम विकल्प उठाते हैं कि कुछ कालसे उपजी हुई सादि वायुको सदा धारकपनेका निषेध करते हो ? अथवा क्या अनादिकालसे सदृश परिणामोंको धार रही अकम्प अनादि वायुको भी पृथिवीके सदा धारनेका निषेध करते हो ? बताओ। यदि प्रथम पक्ष अनुसार आदि वायुको पृथिवीका धारकपना निषेधते हो तो तुम्हारे ऊपर सिद्धसाध्यता (सिद्ध साधन) दोष लगता है जिसको हम सिद्ध मानते हैं उसको पुनः साधनेकी क्या आवश्यकता पडी है ? निरर्थक बातोंको सुननेका हमको अवसर नहीं है, सादि वायुको हम प्रथमसे ही पृथिवीयोंका धारक नहीं मान रहे हैं। हां, यदि फिर द्वितीय विकल्प अनुसार अनादि कालीन दृढ वायुको भी सदा पृथिवीयोंका धारकपना नहीं माना जायगा तब तो आत्मा, आकाश, आदिक द्रव्योंको भी अमूर्तपन, व्यापकपन, गुणसहितपन, आदि धर्मोंके धारनेका विरोध हो जायगा। जैसे आत्मा, आकाश, आदिक द्रव्य अनादि कालसे अमूर्तपन आदिक धर्मोंके धारक माने जारहे हैं, उसी प्रकार अनादि वायु भी

सदासे पृथिवीयोंको धार रही बनी बैठी है। यदि कोई यहां यों कहे कि इन आत्मा आदिक आधार और अमूर्तपन आदि आधेयोंमें अनादि होनेसे सदा वह " आधारआधेयभाव " बन रहा है। यों कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि तिस ही कारणसे यानी अनादि होनेसे ही भूमि और गन्धवाह यानी वायुका भी तिस प्रकार सदा वह आधार आधेय भाव हो जाओ। तिस कारणसे सिद्ध होता है कि भूमियां सर्वदा नीचे नीचे नहीं पडती रहती हैं, क्योंकि इसमें कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है।

एतेन सर्वदोत्पतंत्येव तिर्यगेव गच्छंतीति वा निरस्तं, धारकस्य वायोरबाधितस्य सिद्धेस्तदवस्थानाविरोधात्।

इस उक्त कथन करके इन मतोंका भी खण्डन कर दिया गया समझो कि भूमियां सर्वदा उछ-लती ही रहती हैं अथवा भूमियां सर्वदा तिरछी ही चलती रहती हैं, क्योंकि इन दोनों मतोंका पोषक बलवान् प्रमाण नहीं है, जब कि भूमियोंको धारनेवाले वायुकी बाधारहित हो रही सिद्धि की जा चुकी है। इस कारण उन भूमियोंके ठीक ठीक ज्यों के त्यों अवस्थित बने रहनेका कोई विरोध नहीं आता है।

कश्चिदाह—विवादापन्ना भूमिर्भूम्यंतराधारा भूमित्वात्तथा प्रसिद्धभूमिवत्। साप्यपरा भूमिर्भूम्यंतराधारा भूमित्वात्तथा प्रसिद्धभूमिवत् साप्यपरा भूमिर्भूम्यंतराधारा तत एव तद्वदिति शश्वदपर्यंता तिर्यगधोपीति तं प्रत्याह।

यहां कोई विद्वान् पूर्वपक्ष उठाकर कह रहा है कि विवादमें प्राप्त हो रही भूमि (पक्ष) अन्य दूसरी भूमिके आधारपर जमी हुई है (साध्य) भूमि होनेसे (हेतु) तिस प्रकार प्रसिद्ध हो रही इस चित्रा भूमिके समान (अन्वयदृष्टान्त)। और वह नीचेली दूसरी भूमि भी (पक्ष) अन्य तीसरी भूमिके आधारपर स्थिर है। (साध्य) भूमि होनेसे (हेतु) तिस प्रकार प्रसिद्ध हो रही वज्रा भूमिके समान (अन्वयदृष्टान्त)। तथा वह तीसरी निराली भूमि भी (पक्ष) भिन्न चौथी भूमिपर धरी हुई है (साध्य) तिस ही कारणसे यानी भूमि होनेसे (हेतु) उस ही प्रसिद्ध हो रही वैडूर्य भूमिके समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस प्रकार चौथी भूमि पांचवीपर और पांचवी छट्ठीपर यों पुनः पुनः निरन्तर चलते हुये इधर उधर तिरछी अनन्त और नीचे नीचे भी अनन्त भूमियां हैं। अनादि कालके समान भूमियोंका कोई पर्यन्त स्थान नहीं है, यहांतक कोई ज्ञानलवदुर्विदग्ध कह रहा है, उसके प्रति श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान वचन कहते हैं।

नापर्यंता धराधोपि सिद्धा संस्थानभेदतः।
धरवत्स्वमपर्यंतं सिद्धं संस्थानवन्न हि ॥ १४ ॥

नीचे नीचे भी पृथ्वियां अनन्त संख्यावालीं सिद्ध नहीं हैं (प्रतिज्ञा) विशेष रचना होनेसे (हेतु) पर्वतके समान (अन्वयदृष्टान्त)। जो परिदृष्ट विशेष संस्थानवाला नहीं है वह पदार्थ

मर्यादारहित हो रहा अनन्त है जैसे कि आकाश (व्यतिरेक दृष्टान्त)। पृथिवी तो विशेष संस्थानवाली हो रही सान्त ही है।

धरः पर्वतः संस्थानवान् सपर्यन्तो दृष्टो यः पुनरपर्यंतः स न संस्थानवान् यथाकाशादिरिति विपक्षाद्व्यावृत्तो हेतुः पर्यंतवत्तां धरायाः साधयत्येव।

धर यानी पर्वत (पक्ष) विशेष रचना या आकारवाला है (साध्य) अतः मर्यादा युक्त लम्बाई, चौडाई, मोटाई, को ले रहा पर्यन्तसहित देखा गया (हेतु) जो जो संस्थानवान् है, वह समर्याद है, जैसे घट (अन्वयदृष्टान्त)। और जो पदार्थ फिर अनन्त है वह परिमित संस्थानवाला नहीं है, जैसे कि आकाश, दिशा, आदि हैं (व्यतिरेकदृष्टान्त) इस प्रकार विपक्षसे व्यावृत्त हो रहा संस्थानविशेष सद्धेतु फिर पृथिवीके मर्यादासहितपनको साध देता है।

यत्पुनरभ्यधायि-विवादापन्ना धरा धराधारा धरात्वात्प्रसिद्धधरावदिति। तदयुक्तं, हेतोरादित्यधरादिनानेकांतात् न हि तस्याधरांतराधारत्वं सिद्धमंतरालाभावप्रसंगात्। ततः पर्यंतवत्यो भूमय इति निरारेकं प्रतिपत्तव्यं।

जो फिर तुमने यों पहिले अनुमान द्वारा कहा था कि विवादमें पडी हुई भूमि (पक्ष) दूसरी पृथिवीके आधारपर है (साध्य) पृथिवी होनेसे (हेतु) प्रसिद्ध धराके समान (अन्वयदृष्टान्त) वह कथन अयुक्त है। क्योंकि तुम्हारे हेतुका सूर्यकी पृथिवी या चंद्रकी पृथिवी आदि करके व्यभिचार हो जाता है। देखो, उन सूर्य, चन्द्रमाकी पृथिवियोंका पुनः अन्य पृथिवियोंके आधारपर स्थित रहना सिद्ध नहीं है। अन्यथा अन्तरालके अभावका प्रसंग हो जायगा। अर्थात्—बडे योजन अनुसार अडतालीस बटे इकसठ या छप्पन बटे इकसठ योजन लम्बा चौडा और इससे आधा मोटा जो सूर्य विमान या चन्द्र विमान है अथवा जितना भी कुछ मोटा सूर्य विमान या चन्द्र विमान तुमने माना है उतनी मोटी पृथिवीके नीचे यदि दूसरी पृथिवी और दूसरीके नीचे तीसरी, चौथी, आदि पृथिवियां यदि मानी जायगीं तो यहां इस भूमितलसे सूर्य और चन्द्रमातक जो अन्तराल दीख रहा है, अनेक आधारभूत अन्य पृथिवियोंके नीचे नीचे भर जानेपर वह व्यवधान नहीं रह पायगा। किन्तु हमको यहांसे सूर्यतकका पृथिवियोंसे रीता हो रहा व्यवधान दीख रहा है। अतः पृथिवियोंके आधारभूत पुनः अनेक पृथिवियोंकी कल्पना करना अयुक्त है। तिस कारणसे सम्पूर्ण भूमियां छहों दिशामें परिमित मर्यादाको ले रहीं अन्तवाली हैं। इस जैनसिद्धान्तको संशयरहित समझ लेना चाहिये।

ननु चाधोधः समस्तु भूमिषु जीवस्य गतिवैचित्र्यं विरुद्धं ततो असंख्याः शून्यादिभिः भिर्भवितव्यं। तथा च तत्कल्पनावैयर्थ्यं जीवाधिकरणविशेषप्ररूपणार्थो हि तत्कल्पना श्रेयसी नान्यथेति वदंतं प्रत्याह।

अब यहां किसीकी दूसरे प्रकारकी शंका खडी होती है कि नीचे नीचे सात भूमियोंमें जीवोंकी विचित्ररूपसे गति होना तो विरुद्ध है। यदि समतलपर सातों भूमियां होती तब तो कोई जीव कहीं और अन्य जीव दूसरी भूमियोंमें चला जा सकता था। कई भूमियोंको भेदकर नीचे जीवका जाना कठिन है। तिस कारण उन अन्तरालवर्ती भूमियोंसे उन भूमियोंको शून्य (रीता) होना चाहिये और तिस प्रकार अन्तरालरहित भूमियोंके हो जानेपर उन सात भूमियोंकी कल्पना करना व्यर्थ है। उत्तरोत्तर अधिक पापको धारनेवाले जीवोंके विशेष अधिकरणोंकी प्ररूपणाके लिये ही तो उन भूमियोंकी लम्बी, चौडी, संख्याओंमें कल्पना करना श्रेष्ठ था। अन्यथा नहीं। केवल एक भूमि मानना ही पर्याप्त है, उसीमें जीवोंको गति सुलभतासे सम्भव जाती है। इस प्रकार कह रहे वादीके प्रति श्री विद्यानन्द आचार्य समाधानको कहते हैं।

नाधोधो गतिवैचित्र्यं विरुद्धं प्राणिनामिह।
तादृक् पापस्य वैचित्र्यात्तन्निमित्तस्य तत्त्वतः ॥ १५ ॥

इन भूमियोंमें नीचे नीचे प्राणियोंकी गतिकी विचित्रता विरुद्ध नहीं है। क्यों कि वास्तविक रूपसे उस विचित्र गतिके निमित्त हो रहे तिस जातिके पापकी विचित्रता पायी जा रही है। अर्थात् मर जानेपर संसारी जीवकी गति लोकमें सर्वत्र अप्रतीघात है। मात्र तैजस कार्मण शरीरोंको धार रहा जीव कहींसे कहीं भी जाकर जन्म ले सकता है। भूमि, पर्वत, समुद्र, कोई उसे रोक नहीं सकते हैं।

प्रसिद्धं हितावदशुभफलं कर्म पापं तस्य प्रकर्षतारतम्यं तत्फलस्य प्रकर्षतारतम्यादिति प्राणिनां रत्नप्रभादिनरकभूमिसमुद्भूतिनिमित्तभूतस्य पापविशेषस्य वैचित्र्यात्तद्गतिवैचित्र्यं न विरुध्यते तिर्यगादिगतिवैचित्र्यवत्। यत एवं—

अशुभ फलोंको देनेवाला पापकर्म तो जगत्में प्रसिद्ध ही है, उस पापके फलकी प्रकर्षताका तारतम्य देखा जाता है। इस कारण उस पापके प्रकर्षका तारतम्य भी सिद्ध है। अर्थात्—दरिद्री, दुःखी, पीडाक्रान्त, रोगी, जीवोंमें अनेक जातिके पाप फलोंकी अतिशय वृद्धियां देखी जाती हैं। किसीको अल्प रोग है। अन्यको विशेष वेदनावाला रोग है। तृतीयको असाध्य रोग है। अथवा कोई अल्पधनी है, दूसरा दरिद्र, तीसरेको भरपेट भोजन भी नहीं मिलता है, चौथा उच्छिष्ट मांगकर भी उदरज्वालाको शांत नहीं कर सकता है, यों पापके फलोंकी प्रकर्षता बढती बढती देखी जा रही है। इसी प्रकार नरकगामी प्राणियोंके रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, आदि नरक भूमियोंमें ठीक उत्पन्न करा देनेके निमित्त हो चुके विशेषपापकी विचित्रतासे उन उन पृथ्वियोंमें नीचे नीचे गमन कर जानेकी विचित्रताका कोई विरोध नहीं आता है जैसे कि तिर्यंच आदि गतियोंकी विचित्रताका अविरोध प्रसिद्ध

है। अर्थात्—कोई जीव मरकर एकेन्द्रिय वृक्ष हो जाता है। अन्य जीव गेंडुआ, मक्खी, गधा, कद्दौआ घोडा, आदि तिर्यंचोंमें जन्म ले लेता है। कतिपय जीव धनिकोंके हाथी, घोडे बलध होकर उपजते हैं। यह सब कर्मोंकी विचित्रता अनुसार यहां वहां गमन करना, जन्म लेना सिद्ध हो जाता है, जिस कारणसे इस प्रकारका सिद्धान्त व्यवस्थित है। इसका विधिद इल अभिसकारिकामें देखो।

ततः सप्तेति संख्यानं भूमीनां न विरुध्यते।
संख्यांतरं च संक्षेपविस्तरादिवशान्मतं ॥ १६ ॥

तिस कारणसे भूमियोंकी सात यह नियत संख्या करना विरुद्ध नहीं पडता है। यदि चाहे तो संक्षेप, विस्तार, मध्यसंक्षेप, मध्यविस्तार, अतिविस्तार आदिकी विवक्षाके वशसे भूमिकी अन्य संख्यायें भी मानी जा सकती हैं। अनेकान्तवाद अनुसार व्यर्थका आग्रह करना हमको अभीष्ट नहीं है। वे सब हमको स्वीकृत हैं।

न हि संक्षेपादेकाधोभूमिरिति विरुध्यते विस्तरतो वा सैकविंशतिभेदा सप्तानां प्रत्येकं जघन्यमध्यमोत्कृष्टविकल्पात्।

सात भूमियोंको नहीं मानकर संक्षेपसे एक ही अधोभूमि मान ली जाय यह कोई विरोध करने योग्य नहीं है, अथवा सात भूमियोंमेंसे प्रत्येकके जघन्य, मध्यम, और उत्कृष्ट, भेद कर देनेसे वह अधोभूमि विस्तारसे इक्कीस भेदवाली कह दी जाय, इस मन्तव्यका भी हम विरोध नहीं ठानते हैं। पटलोंकी अपेक्षा उनंचास ४९ भेद कर दिये जांय, उसको भी हम माननेके लिये संनद्ध हैं।

तद्गतनरकसंख्याविशेषप्रदर्शनार्थमाह।

अब उन भूमियोंमें प्राप्त हो रहे नरक स्थानोंकी संख्या विशेषका प्रदर्शन करानेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

तासु त्रिंशत्पंचविंशतिपंचदशदशत्रिपंचोनैकनरकशत-सहस्राणि पंच चैव यथाक्रमम् ॥ २ ॥

उन भूमियोंमें सर्वत्र नारकी नहीं रहते हैं, किन्तु उन रत्नप्रभा आदि भूमियोंमें यथाक्रमसे तीस लाख, पचीस लाख, पंद्रह लाख, दश लाख, तीन लाख, पांच कम एक लाख और केवल पांच ही यों चौरासी लाख नरकबिल बने हुये हैं, जो कि वातवलयान्त या अलोकाकाशको छू रही लम्बी चौडी भूमियोंके त्रसनाली भागमें ही कचित् स्थित हैं।

त्रिंशच्च पंचविंशतिश्च पंचदश च दश च त्रयश्च पंचोनैकं चेति द्वंद्वः, नरकाणां शतसहस्राणि नरकशतसहस्राणि च तानीति स्वपदार्थी वृत्तिः, तास्विति रत्नप्रभादिभूमिपरामर्शः, यथाक्रमवचनं यथासंख्याभिसंबंधार्थं। तेन रत्नप्रभायां त्रिंशन्नरकशतसहस्राणि, शर्कराप्रभायां पंचविंशतिः, वालुकाप्रभायां पंचदश, पंकप्रभायां दश, धूमप्रभायां त्रीणि, तमःप्रभायां पंचोनैकं नरकशतसहस्रं, महातमःप्रभायां पंचनरकाणि भवंतीति विज्ञायते। कुतः पुनस्त्रिंशल्लक्षादिसंख्या रत्नप्रभादिषु सिद्धेत्याह।

तीस और पचीस और पन्द्रह और दश और तीन और पांच कम एक इस प्रकार विग्रहमें बहुतसे चकारोंको देकर तीस आदि पदोंका परस्पर सम्बन्ध करते हुये द्वन्द्वसमास करना चाहिये। पुनः " नरकोंके लाख " यों षष्ठी तत्पुरुष समास कर त्रिंशत् आदिक जो वे नरक लक्ष हैं, इस प्रकार समासघटित निज पदोंके अर्थकी प्रधानताको लिये हुये कर्मधारय समास कर लेना चाहिये। " तासु " इस तत् शद्ब करके रत्नप्रभा आदि भूमियोंका परामर्श किया जाता है। सूत्रमें यथाक्रम शद्बका वचन तो रत्नप्रभा आदिके साथ तीस लाख आदिका यथा संख्य व्यवस्था अनुसार सम्बन्ध करनेके लिये है। तिस यथाक्रम शद्बकी सामर्थ्य करके रत्नप्रभामें तीस लाख शर्कराप्रभामें पचीस लाख, वालुकाप्रभामें पन्द्रहलाख नरक, पंकप्रभामें दशलाख, धूमप्रभामें तीन लाख, तमःप्रभामें पांच कम एक लाख, और सातवीं महातमःप्रभामें केवल पांच ही नरक हैं यह समझ लिया जाता है। यहां किसीका प्रश्न है कि किस युक्तिसे फिर रत्नप्रभा आदि भूमियोंमें तीस लाख आदि नरकोंकी संख्या सिद्ध की गयी है ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

त्रिंशल्लक्षादिसंख्या च नारकाणां सुसूत्रिता।
रत्नप्रभादिषूक्तासु प्राण्यदृष्टविशेषतः ॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराजने कही जा चुकीं रत्नप्रभा आदि पृथ्वियोंमें नरकोंकी तीस लाख, पचीस लाख, आदि संख्या बहुत अच्छी सूत्र द्वारा समझा दी है, जो कि नारकी प्राणियोंके तिस प्रकार पूर्व जन्म उपार्जित विशेष अदृष्टसे हो रही नियत है।

तादृशाः प्राणिनां तन्निवासिनामदृष्टविशेषाः पूर्वोपात्ताः संभाव्यंते यतस्तासु त्रिंशल्लक्षादिसंख्या नरकाणां रत्नप्रभादिसंख्या च सिध्यतीति शोभनं सूत्रिता सा।

उन नरकोंमें निवास करनेवाले प्राणियोंके पूर्व जन्ममें उपार्जित और तिस प्रकारकी जातिको धार रहे ईषत् पुण्यमिश्रित पापविशेष सम्भावित हो रहे हैं जिनसे कि उन भूमियोंमें नरकोंकी तीस लाख आदि संख्यायें और रत्नप्रभा आदि भूमियोंकी सात संख्यायें सिद्ध हो जाती हैं। इस प्रकार

श्री उमास्वामी महाराजने सुन्दरतापूर्वक सूत्रमें उस संख्याको दर्शा दिया है। भावार्थ—सूर्य, चन्द्रमा, आदि अकृत्रिम पदार्थ अनादिसे निर्मित हैं तो भी जहां सूर्य चन्द्रमाका प्रकाश हो रहा है, ऐसे स्थानोंमें जीवोंका जन्म लेना पुण्य, पापसे, सम्बन्ध रखता है। तीर्थंकर महाराजके पुण्य अनुसार पहिलेसे ही सुन्दर स्थानोंका निर्माण हो जाता है, तथा पापी जीवोंके निवास स्थान अतीव घृणास्पद बन चुके रहते हैं, यद्यपि ये सात भूमियां और चौरासी लाख बिले अनादि अनन्त अकृत्रिम हैं। फिर भी अनादि अनन्त कालीन अनन्तानन्त नारकियोंके समुदित पुण्य, पाप, अनुसार स्फुट या पिचपिचे स्थानोंमें जन्म लेना अदृष्ट अनुसार समझा गया है, पुण्य और पापमें बडी विलक्षण शक्तियां भरी हुई हैं।

इति सूत्रद्वयेनाधोलोकावासविनिश्चयः।
श्रेयान् सर्वविदायातस्याम्नायस्य विलोपतः॥ २॥

इस प्रकार " रत्न, शर्करा " प्रभृति और " तासु त्रिंशत् " आदि इन दोनों सूत्रों करके सूत्रकारने सर्वज्ञकी धारासे चली आ रही आम्नायको अविच्छेद हो जानेसे अधोलोकमें अकृत्रिम बन रहे निवास स्थानोंका विशेष रूपसे श्रेष्ठ निर्णय कर दिया है, अथवा यों अनुमान बना लो कि अधोलोकके निवास स्थानोंका विशेष रूपसे निश्चय कर लेना (पक्ष) श्रेष्ठ है (साध्य) क्योंकि लोक, अलोकको प्रत्यक्ष देखनेवाले सर्वज्ञकी चली आ रही आम्नायका अभीतक विच्छेद नहीं हो पाया है।

न हि सर्वविदायातत्वमेतदाम्नायस्यासिद्धं बाधकाभावात् स्वर्गाद्याम्नायवत्, प्राक् चिंतितं चागमस्य प्रामाण्यमिति नेह प्रतन्यते।

गुरुपरम्परासे चले आ रहे इस श्री उमास्वामी महाराजके समीचीन उपदेशको सर्वज्ञ धारासे चला आयापन असिद्ध नहीं है (प्रतिज्ञा) बाधक प्रमाणोंका अभाव होनेसे (हेतु) स्वर्ग भोगभूमि, मोक्ष, आदिके सम्प्रदाय समान (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमानसे इस सूत्रके अर्थकी सर्वज्ञ धारासे प्राप्ति होना सध जाता है। आगमकी प्रमाणताका हम पूर्व प्रकरणोंमें बहुत अच्छा विचार कर चुके हैं, इस कारण यहां संक्षिप्त व्याख्यानोंमें उसका अधिक विस्तार बढाया नहीं जाता है। थोडे शब्दोंद्वारा अधिक प्रमेयकी प्रतिपत्ति कर लेनेकी टेवको बढाओ।

कीदृग्लेश्यादयस्तत्र प्राणिनो वसंतीत्याह।

उन नरकोंमें किस जातिकी लेश्यावाले या किस ढंगके परिणाम आदिको धारनेवाले प्राणी निवास करते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः॥

नरकोंमें निवास करनेवाले जीव नित्य ही अत्यन्त अशुभ लेश्यावाले बने रहते हैं। कृष्ण, नील, कापोत, इन लेश्याओंके निकृष्ट अंश उन जीवोंके पाये जाते हैं। नारकी जीवोंके क्षेत्र विशेषकी अपेक्षा हुये अत्यन्त अशुभ परिणाम हैं, जो कि दिन, रात, अंतरंग, बहिरंग, अत्यन्त दुःखोंके कारण बन रहे हैं। नारकी जीवोंके शरीर अशुभनामकर्मके उदयसे उपजे विकृत घृणित आकृतिवाले अत्यन्त अशुभ हैं। अन्तरंग, बहिरंग कारणोंसे हुई नारकियोंकी वेदना अतीव अशुभ है, तथा नारकियोंके भले ही अच्छी विक्रिया बनानेकी इच्छा हो किन्तु उनके तीव्र पापके फल अनुसार अशुभ शरीर विकृतियां बन बैठती हैं, जिससे कि स्व और परको अतीव दुःख उपजाया जा सके, नारकियोंके ये भाव नीचे नीचे अधिक अशुभ बढते हुये समझ लेने चाहिये।

लेश्यादिशब्दा उक्तार्थाः। तिर्यग्व्यपेक्षयातिशयनिर्देशः पूर्वापेक्षो वाधोगतानां। नित्यग्रहणाल्लेश्याद्यनिवृत्तिप्रसंग इति चेन्न, आभीक्ष्ण्यवचनत्वान्नित्यशब्दस्य नित्यप्रहसितवत्।

लेश्या आदि शब्दोंके अर्थको हम पहिले प्रकरणोंमें कह चुके हैं। तरप् प्रत्ययका अर्थ अतिशय होता है। यहां नारकी जीवोंकी अशुभतर लेश्या आदिका तिर्यग्गतिमें होनेवाले अशुभ लेश्या आदिकी अपेक्षा करके अतिशयरूप कथन किया गया है। अथवा पहिली पहिली भूमियोंमें निवास करनेवाले नारकियोंकी अपेक्षा उनसे नीचे, नीचे भूमियोंमें प्राप्त हो रहे नारकियोंकी लेश्या आदिक अतिशयको लिये हुये अशुभ हैं। यदि कोई यहां यों कहे कि नारकियोंके लेश्या आदिक जब सर्वदा अति अशुभ ही बने रहते हैं, तब तो उनकी लेश्या आदिकी कभी निवृत्ति या परावृत्ति नहीं हो सकनेका प्रसंग प्राप्त हो जायगा। एक ही लेश्या बनी रहेगी। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यहां नित्यका अर्थ आकाशके समान अविचलभाव बना रहना नहीं है, किन्तु यहां नित्य शब्दका अर्थ अभीक्ष्ण इष्ट किया गया है। जैसे कि " नित्यः प्रहसितो देवदत्तः " देवदत्त नित्य ही हंसता रहता है, यहां नित्यका अर्थ बहुत कालतक ही समझा गया है। खाते, पीते, सोते, पढते उसका हंसना छूटे ही नहीं यह अर्थ नहीं है। अभीक्ष्णका अर्थ प्रायः, बहुत या बहुभाग अथवा पुनः पुनः है।

के पुनरेवं विशेष्यमाणा नारकाणामित्याह।

महाराज फिर यह बताओ कि इस प्रकार विशेषित हो रहे वे जीव भला कौनसे हैं ? जिनकी अपेक्षा नारकियोंकी लेश्या, परिणाम, आदिक अधिक अशुभ कहे गये हैं। ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्त्तिक द्वारा समाधान वचन कहते हैं।

तिर्यंचोऽशुभलेश्याद्यास्तेभ्योप्यतिशयेन ये।
प्राणिनोऽशुभलेश्याद्याः केचित्ते तत्र नारकाः ॥ १ ॥

जगत्में अशुभ लेश्या, अशुभ परिणाम, अशुभ देह, आदिको धारनेवाले जीव तिर्यंच हैं, उन तिर्यंचोंसे भी अतिशय करके अशुभ लेश्या आदिको धारनेवाले जो कोई भी प्राणी हैं, उन संसारी जीवोंमें वे प्राणी नारकी समझे जाते हैं। इस ढंगसे श्री विद्यानन्द स्वामीने श्री उमास्वामी भगवान्के सूत्रको लक्ष्य लक्षण भाव या हेतु साध्यभावके अनुसार घटित कर दिया है।

तिर्यंचस्तावदशुभलेश्याः केचित्प्रसिद्धास्ततोप्यतिशयेनाशुभलेश्याः प्राणिनो नारकाः संभाव्यंते अशुभतरलेश्याः, प्रथमायां भूमौ एवमशुभतरपरिणामादयोपीति प्रसिद्धा एव प्रतिपादितविशेषाधारा नारकाः, ततोप्यतिशयेनाशुभलेश्यादयो द्वितीयायां, तृतीयायां, ततोपि चतुर्थ्यां, ततोपि पंचम्यां, ततोपि षष्ठ्यां, ततोपि सप्तम्यामिति।

गिडार, मकडी, चिरईया, कौआ, सांप, भेडिया, बिल्ली, उल्लू आदि किन्हीं किन्हीं तिर्यंचोंके तो अशुभ लेश्या हो रही प्रसिद्ध ही है। उनसे भी अतिशय करके अशुभ लेश्यावाले नारकी प्राणी संभावित हो रहे हैं। अतः पहली पृथ्वीमें नारकियोंको अशुभतर लेश्यावाला कहा जाता है, इसी प्रकार अनेक तिर्यंचोंके परिणाम, शरीर, वेदना, आदि भी अशुभ प्रसिद्ध ही होरहे हैं। उनकी अपेक्षा अत्यधिक अशुभ परिणाम आदिको धारनेवाले पहिली भूमिके नारकी जीव कहे जा चुके विशेषोंके आधार होरहे प्रसिद्ध हो जाते हैं। उन पहिली पृथिवीवाले नारकियोंसे भी अतिशय करके अशुभ लेश्या, परिणाम, आदिको धारनेवाले जीव दूसरी पृथिवीमें हैं, उन दूसरीवालोंसे भी तीसरीमें, उस तीसरीसे भी चौथीमें, उस चौथीसे भी पांचवीमें, उस पांचवीसे भी छठी भूमिमें और उस छठीसे भी सातवीं भूमिमें नारकियोंके अशुभ लेश्या, परिणाम आदिक अतिशय करके बढते जाते हैं। इस प्रकार घनांगुलके द्वितीय वर्गमूलसे गुणित जगच्छ्रेणी प्रमाण संपूर्ण नारकियोंके लेश्या, परिणाम आदिक नीचे नीचे भूमियोंमें अधिक अधिक निकृष्ट होते चले गये हैं।

कथं पुनरेतदशुभत्वतारतम्यं सिद्धमित्याह।

यह लेश्या आदिकोंके अशुभपनका उत्तरोत्तर तरतम रूपसे बढना फिर किस प्रमाणसे सिद्ध है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिकको कहते हैं।

संक्लेशतारतम्येनाशुभतातारतम्यता। सिध्येदशुभलेश्यादितारतम्यमशेषतः॥ २॥

नीचे नीचे भूमियोंमें नारकी जीवोंके संक्लेशकी तरतमतासे लेश्या आदिकोंके कारण अशुभपन का तरतमपना सिद्ध होजाता है, और उसी तरतमतासे अशुभ लेश्या आदिकोंका तरतमपना सम्पूर्ण रूपसे सध जायेगा।

संक्लेशो जीवस्याविशुद्धिपरिणामो मिथ्यादर्शनादिस्तस्य तारतम्यादशुभत्वतारतम्यमशेषतोपि लेश्यादीनां सिध्येदिति न तदहेतुकं यतोतिप्रसज्येत ।

जीवके विशुद्ध नहीं हुये मिथ्यादर्शन, क्रोध, असातवेदन, आदि अशुद्ध परिणामोंको संक्लेश माना गया है । उस संक्लेशके तारतम्यसे सम्पूर्ण रूपसे भी लेश्या, परिणाम, आदिकोंके अशुभपनका तारतम्य सिद्ध होजावेगा । इस कारण वह नीचे नीचे लेश्या आदिकोंका अशुभपना स्वकीयकारक हेतुओंसे रहित नहीं है, जिससे कि नारकियोंसे अतिरिक्त अन्य श्रेष्ठ मनुष्य या देवोंमें भी अशुभतर लेश्या आदिके पाये जानेका अतिप्रसंग हो जाता । अर्थात्—नारकियोंके समान अन्य जीवोंमें कारण नहीं होनेसे अशुभतर लेश्या आदिक विवर्त नहीं पाये जाते हैं ।

ननु चैकांतिकदुःखयोगिनो नारकाः सुखदुःखयोगिनां तिर्यङ्मनुष्यवचनात्, ऐकांतिकशरीरसुखयोगिनां देवत्वाभिधानात् । तत्र किमुदीरितदुःखास्ते नारका इत्याह ।

यहां किसी शिष्यकी समीचीन शंका है कि नारकी प्राणियोंके तो एकांतरूपसे सर्वथा दुःखोंका ही योग लग रहा है और सामान्य रूपसे तिर्यंच या मनुष्योंमें न्यून या अधिक रूपसे सुख और दुःखका सम्बन्ध होना कहा गया है तथा एकांत रूपसे शारीरिक सुखका योग धारनेवाले प्राणियोंको देवपना कहा गया है । अर्थात्—एकांतरूपसे दुःखी नारकी जीव हैं और एकांत रूपसे शारीरिक सुखवाले देव हैं । अर्थात्—मनुष्य और तिर्यंच तो कदाचित् सुखी और कदाचित् दुःखी समझे गये हैं । दरिद्र पुरुषोंको त्योहारके दिन कुछ अच्छा भोजन मिल जानेसे आपेक्षिक उतना ही सुख मिल जाता है जितना कि धनिकोंको महीनोंतक षट्रस पूरित भोजन करनेसे प्राप्त होता है । पटरानी या सेठानीको रत्नजडित सुवर्ण भूषणोंसे जितना आनन्द मिलता है उससे कहीं अधिक कौडी, गोंगची, पीतल, कांच, आदिके बने हुये आभूषणोंको पहननेवाली भीलिनिको आभिमानिक सुख प्राप्त होजाता है । अधिक परिश्रम या क्लेश उठानेवाले पशुपक्षियोंमें भी कुछ आपेक्षिक सुख होरहा है, जीवको अनुकूल होरहे तिर्यंच शरीरमें आत्माको ठंसे रहनेवाली तिर्यगायुः कर्मका पुण्यप्रकृतियोंमें पाठ है । यहां उस नारकियोंके विषयमें हमको यह पूंछना है कि क्या वे नारकी उदीरणाको प्राप्त हुये दुःखके भोगनेवाले भी हैं ? ऐसी आशंका होनेपर श्री उमास्वामी महाराज समाधानकारक अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ४ ॥

भवप्रत्यय अवधि करके नारकी जीव परस्पर एक दूसरेको दूसरे ही दुःखका कारण समझकर श्रृगाल आदिके समान अन्तरंगकारण असातावेदनीय कर्मकी उदीरणा द्वारा परस्परमें अतितीव्र दुःखको उपजाते रहते हैं । अर्थात्—उन नारकियोंमें परस्पर करके दुःख उपजाया जाता है ।

ननु च कोपोत्पत्तौ सत्यां परस्परं दुःखोदीरणं दृष्टं नान्यथा न च तेषां तदुत्पत्तौ कारणमस्ति न चाकारणिका सातिप्रसंगादिति चेन्न, निर्दयत्वात्तेषां परस्परदर्शने सति कोपोत्पत्तेः भवत् । सत्यंतरंगे क्रोधकर्मोदये बहिरंगे च परस्परदर्शने तेषां कोपोत्पत्तिर्निर्हेतुका यतोतिप्रसंगः स्यादिति ।

कोई शिष्य शंका करता है कि तीव्र कोपकी उत्पत्ति होते संते, तीतरों, भैसों कुत्तों मुर्गो आदिके समान कतिपय जीवोंमें परस्पर दुःखकी उदीरणा (प्रवाहित होना) देखी गयी है । अन्यथा नहीं । यानी क्रोधकी उत्पत्ति हुये विना सज्जन, छिरिया, आदिकोंके दुःख उपजता हुआ नहीं देखा गया है । जब कि उन नारकी जीवोंके उस क्रोधकी उत्पत्ति होनेमें कोई कारण ही नहीं है तो ऐसी दशामें कारणकी निमित्त नहीं पाकर वह क्रोधकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है । यदि कारणोंके विना ही निष्कारण क्रोध उपज बैठेगा, तब तो अतिप्रसंगदोष हो जायगा । अर्थात्—सज्जन साधुपुरुषोंमें भी तीव्र क्रोध पाया जावेगा । अतः क्रोधके विना नारकियोंमें दुःखकी उदीरणा नहीं हो सकती है । आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि निर्दय होनेसे कुत्तोंके समान उन नारकियोंके परस्पर एक दूसरेको देखते सन्ते ही कोपकी उत्पत्ति हो जाती है । अन्तरंग कारण पौद्गलिक कर्मका उदय होनेपर और बहिरंगकारण परस्परका दर्शन होनेपर उन नारकियोंके क्रोधकी उत्पत्ति हो रही हेतुओंसे रहित नहीं है, जिससे कि साधुओंमें भी इसी प्रकार क्रोध उपजानेका अतिप्रसंग होता । क्रोधको सकारण मान लेनेपर अतिव्याप्ति टल जाती है । जगत्के यावत् कार्य नियत कारणोंसे ही बनाये जाते हैं ।

तथा तैर्नारकैर्दुःखं परस्परमुदीर्यते ।
रौद्रध्यानात्समुद्भूतेः क्रुद्धैर्मेषादिभिर्यथा ॥ १ ॥
निमित्तहेतवस्त्वेतेऽन्योन्यं दुःखसमुद्भवे ।
बहिरंगास्तथाभूते सति स्वकृतकर्मणि ॥ २ ॥

तथा खोटे रौद्रध्यानसे नरकमें उत्पत्ति होनेके कारण उन क्रोधी नारकियों करके परस्परमें दुःख उभार दिया जाता है, जैसे कि उत्साहसहित ललकारनेसे कुपित हो रहे मैढा, मुर्गा, दुष्टजन, आदिकों करके परस्परमें दुःख उभार लिया जाता है । अतः तिस प्रकार तीव्र दुःखके अन्तरंगकारण निज उपार्जित कर्मोंके होते संते परस्पर दुःखके उपजानेमें नारकी जीव बहिरंग निमित्तकारण हो जाते हैं ।

ततो नेदं परस्परोदीरितदुःखत्वं नारकाणामसंभाव्यं युक्तिमत्त्वात् ।

तिस कारण युक्तियोंका सद्भाव हो जानेसे यह नारकी जीवोंके परस्परमें उदीरित हुये दुःखसे सहितपना असम्भव नहीं है ।

अन्योदीरितदुःखाश्च ते इत्याह ।

तथा अन्य कारणोंसे भी उदीरणा प्राप्त हुये दुःखोंको धारनेवाले वे नारकी जीव हैं, इस सिद्धान्तको प्रकट करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥

चतुर्थी भूमिसे पहिले यानी तीसरी तक संक्लेशको प्राप्त हो रहे कतिपय असुरकुमार जातिके देवों करके उदीरणाको प्राप्त किये जा रहे दुःखको झेलनेवाले भी नारकी हैं ।

पूर्वभवसंक्लेशपरिणामोपात्ताशुभकर्मोदयात् सततं क्लिष्टाः संक्लिष्टा असुरनामकर्मोदयादसुराः संक्लिष्टाश्च तेऽसुराश्चेति । संक्लिष्टविशेषणमन्यासुरनिवृत्त्यर्थं, असुराणां गतिविषयनियमप्रदर्शनार्थं प्राक्चतुर्थ्या इति वचनं । आङो ग्रहणं लघ्वर्थमिति चेन्न, संदेहात् ।

पूर्व जन्ममें भावना किये गये अत्यन्त संक्लेश परिणाम करके उपार्जित अशुभ कर्मका उदय हो जानेसे नित्य ही क्लेश युक्त हो रहे जीव संक्लिष्ट कहे जाते हैं । देव गतिकी उत्तरोत्तर भेदरूप असुर नामकर्म प्रकृतिके उदयसे हुये जीव असुर हैं । संक्लिष्ट हो रहे जो वे असुर देव हैं इस प्रकार कर्मधारय वृत्ति करके " संक्लिष्टासुराः " शद्बको बना लेना चाहिये । सम्पूर्ण असुरकुमार देव तो नारकियोंको दुःख नहीं उपजाते हैं । किन्तु अम्बावरीष आदि कोई कोई असुरकुमार ही कलहप्रिय हो रहे उन नारकियोंको भिडाते रहते हैं । इस कारण अन्य भद्र असुरोंकी निवृत्तिके लिये सूत्रमें असुर शद्बका विशेषण " संक्लिष्ट " पद दे रक्खा है । दुःख वेदनाकी उदीरणाके कारण बन रहे संक्लिष्ट असुरोंकी गति तीन पृथ्वियोंमें ही है, इससे नीचे नहीं है । इस गति विषयक नियमका प्रदर्शन करानेके लिये सूत्रमें चतुर्थीसे पहिले पहिले यह वचन कहा है । कोई प्रश्न करता है कि प्राक् शद्बकी अपेक्षा आङ्का ग्रहण लाघवके लिये उचित है " प्राक्चतुर्थ्याः " की अपेक्षा आचतुर्थ्याः कहनेमें परिणामकृत लाघव है । सूत्रकारको एक एक मात्राके लाघवपर लक्ष्य रखना चाहिये । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तुच्छता प्रदर्शक लाघव तो नहीं दिखलाना चाहिये, क्योंकि संदेह हो जायगा । आङ् निपातका अर्थ तद्रहित मर्यादा और तत्सहित अभिविधि दोनों होते हैं । ऐसी दशामें संशय हो सकता है कि चतुर्थी भूमि भी ली गयी है ? अथवा क्या उससे प्रथम तीसरी भूमितक ही असुर जाते हैं ? । ऐसी दशामें कोई चतुर्थी भूमिको भी ले लेते । अतः संदेहकी निवृत्तिके लिये स्पष्ट रूपसे प्राक् शद्बका कथन करना सूत्रकारको समुचित पडता है ।

चशद्बः पूर्वहेतुसमुच्चयार्थः । अनंतरत्वादुदीरितग्रहणस्येहानर्थक्यमिति चेन्न, तस्य वृत्तौ परार्थत्वात् । वाक्यवचनमिति चेन्न, उदीरणहेतुप्रकारप्रदर्शनार्थत्वात् पुनरुदीरितग्रहणस्य । तेन कर्मविपाकायुदीरितदुःखाश्चेति प्रतिपादितं भवति । कथं पुनः—

इस सूत्रमें पड़ा हुआ च शद्ब तो पूर्वमें कहे जा चुके हेतुओंका एकत्रीकरण करनेके लिये है। अर्थात्—तीसरी भूमितक असुरकुमार भी नारकियोंको दुःख उपजाते हैं, और पूर्वसूत्र अनुसार परस्परमें भी उनको दुःखकी उदीरणा की जा रही है। अन्यथा यानी च शद्बका कथन नहीं करनेपर पहिली तीन भूमियोंमें पूर्वोक्त हेतुओंके अभावका प्रसंग आवेगा जो कि इष्ट नहीं है। यहां किसीका आक्षेप है कि पूर्व सूत्रमेंसे अव्यवहित होनेके कारण उदीरित शद्बकी अनुवृत्ति होय ही जायगी। पुनः इस सूत्रमें उदीरित शद्बका ग्रहण करना व्यर्थ है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि वह पूर्व सूत्रका उदीरित शद्ब तो समास वृत्तिमें दूसरेके लिये विशेषण होकर गौण हो चुका है। अर्थात्—" पदार्थः पदार्थेनान्वेति नत्वेकदेशेन " पदार्थका पूरे पदार्थके साथ अन्वय होता है, एक देशके साथ नहीं। देखो, भृत्यको यदि जल लानेके लिये कहा जाय या भोजन बनना देखनेको कहा जाय तो उस भृत्यका केवल हाथ या आंखें ही नहीं चले जाते हैं, किन्तु अंगोपांगसहित पूरा शरीर जाता है, अथवा कर्मचोर भृत्यका कोई भी अवयव नहीं जाता है। इसी प्रकार समासमें गौण हो चुके केवल उदीरित शद्बकी अनुवृत्ति नहीं हो सकती है। यदि आक्षेपकार पुनः यों कहे कि तब तो और भी अच्छा हुआ। समसितपद नहीं कहकर सूत्रकारको यों वाक्य ही कह देना चाहिये कि " परस्परेण उदीरितदुःखाः, संक्लिष्टासुरैश्च, प्राक् चतुर्थ्याः " अर्थात्—नारकी परस्पर करके उदीरित हुये दुःखवाले हैं और चौथी पृथ्वीसे पहिले संक्लिष्ट असुरों करके उदीरित हुये दुःखको भी भुगत रहे हैं, आचार्य कहते हैं कि यह तो ठीक नहीं। क्योंकि ऐसी दशामें उदीरित शद्ब अवश्य ही व्यर्थ पडेगा। किन्तु आचार्यके व्यर्थ होरहे शद्बमें भी अटूट प्रमेय धन भरा हुआ है। अतः पुनः उदीरित शद्बका ग्रहण करना तो उदीरणाके कारण होरहे इतर प्रकारोंका प्रदर्शन करनेके लिये है, तिस करके यह भी कह दिया गया समझा जाता है कि कुम्भीपाक, लोहघनघात, आदि कारणोंसे भी नारकियोंको दुःख की उदीरणा होरही है। नरकोंमें तप्त लोहेके स्तम्भोंसे चिपटना, तीखे तलवार या छुरेसे काटा जाना, तपे तैलमें डुबो देना, हडियामें पका देना, लोहके मौगरोंसे पीटा जाना, कोल्हूमें पिलना, तथा स्वयं नारकियों द्वारा विक्रिया कर लिये गये रीछ, व्याघ्र, लिहरिया, बिल्ली, नौला, गृद्ध, उल्लू, कौआ, चील, आदि वैक्रियिक देहधारी प्राणियों करके खाया जाना, आदिक कारणोंसे भी भारी दुःख उपजाये जारहे हैं। अब कोई पूंछता है कि सूत्रकारका उक्त सिद्धान्त फिर किस युक्तिके आधारपर समझ लिया जाय? इसका समाधान करनेके लिये श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिकोंको कहते हैं।

संक्लिष्टैरसुरैर्दुःखं नारकाणामुदीर्यते।
मेषादीनां यथा तादृक्रूपैस्तिसृषु भूमिषु ॥ १ ॥
परासु गमनाभावात्तेषां तद्वासिदेहिनां।
दुःखोत्पत्तौ निमित्तत्वमसुराणां न विद्यते ॥ २ ॥

एवं सूत्रत्रयोन्नीतस्वभावा नारकांगिनः ।
स्वकर्मवशतः संति प्रमाणनयगोचराः ॥ ३ ॥

ऊपरली तीन भूमियोंमें नारकियोंको संक्लिष्ट असुरों करके दुःखकी उदीरणा कराई जाती है जैसे कि तिस जातिके संक्लेश स्वरूपवाले प्रतिमल्ल या मेंढा आदिको लडानेवाले कलह प्रिय मनुष्यों करके मेंढा, तीतर, बैल, आदिके दुःखोंकी उदीरणा करा दी जाती है । उन असुरकुमारोंका परली चौथी, पांचवीं, आदि भूमियोंमें गमन नहीं होता है । तिस कारण उन चौथी आदि भूमियोंमें निवास करनेवाले शरीरधारी नारकियोंके दुःखकी उत्पत्तिमें उन असुरकुमारोंको निमित्तकारणपना विद्यमान नहीं है । इस प्रकार " नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः, परस्परोदीरितदुःखाः, संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः " इन तीन सूत्रों करके नारक प्राणियोंके परिणाम आगम-प्रमाणद्वारा भले प्रकार समझ लिये गये हैं । अपने पूर्व उपार्जित कर्मोंकी अधीनतासे नारकी जीव तिस प्रकार अशुभ परिणाम या दुःखोंके भाजन बन रहे हैं । वे तिस प्रकारके नारकी जीव तो प्रमाण और नयके विषय हो रहे जान लिये जाते हैं । अतः आगमके समान युक्तियोंका भी यहां अवकाश है ।

प्रमाणं परमागमः स्याद्वादस्तद्विषयास्तावद्यथोक्ता नारका जीवाः साकल्येन तेषां ततः प्रतिपत्तेः नयविषयाश्च विमतिपत्तिसमाक्रांतैकदेशप्रतिपत्तेरन्यथानुपपत्तेरिति प्रमाणनयैरधिगमो नानानारकाणामूह्यः ।

सर्वोत्कृष्ट आगमप्रमाण स्याद्वाद सिद्धान्त है, उसके विषय हो रहे वे पूर्वोक्त कथन अनुसार नारकी जीव ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति द्वारा जान लिये गये ही हैं । क्योंकि उस आगमप्रमाणसे उन नारकियोंकी सम्पूर्णरूपसे प्रतिपत्ति हो जाती है तथा नय ज्ञानके भी विषय होरहे नारकी जीव हैं । क्योंकि विवादस्थलमें भले प्रकार प्राप्त हुये विषयकी एक देशसे प्रतिपत्ति होनेकी अन्यथा यानी नय-प्रवृत्तिके बिना असिद्धि है, इस प्रकार अनेक नारकियोंका प्रमाण और नय करके अधिगम करना, विचार लेना चाहिये । अर्थात्—वस्तुकी साकल्येन प्रतिपत्ति करानेवाला प्रमाणज्ञान है और वस्तुके एक देशकी प्रतिपत्ति करानेवाला नय है, इनके द्वारा नारकियोंकी सम्पूर्ण व्यवस्था जानी जाती है । नरक भूमियोंके प्रस्तार, इन्द्रकबिल, श्रेणी बिल, पुष्पप्रकीर्णक बिल, उष्णनरक, शीतनरक, संख्यात या असंख्यात योजनवाले बिले, शरीरकी उचाई, भोजन, पान, आदि व्यवस्थाओंको स्याद्वाद सिद्धान्त द्वारा निर्णय कर लेना चाहिये । संक्षेप कथनका लक्ष्य होजाने पर विस्तृत कहनेकी रुचि नहीं होती है । "प्रमाणनयैरधिगमः" यह सूत्र सर्वत्र अन्वित हो रहा है । तदनुसार अल्प रुचिवाले या मध्यम रुचिवाले अथवा विस्तृत विचारवाले श्रोताओंको जैसे जैसे साधनोंद्वारा प्रमेयोंकी प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये ।

अथ रत्नप्रभादिनरकेषु त्रिंशल्लक्षादिसंख्येषु यथाक्रमं स्थितिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह ।

इसके अनन्तर अब श्री उमास्वामी महाराज तीस लाख, पचीस लाख, आदि संख्यावाले रत्नप्रभा आदि भूमियोंमें स्थित हो रहे नरकोंमें यथाक्रमसे उपार्जित आयुष्य कर्म द्वारा हो रही स्थिति विशेषकी प्रतिपत्ति करानेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥

उन चौरासी लाख नरकोंमें निवास करनेवाले नारक प्राणियोंकी अनुक्रमसे एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर, तेतीस सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ।

सागर उपमा येषां तानि सागरोपमाणि, सागरस्योपमात्वं द्रव्यभूयस्त्वात् । एकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यस्या सा तथेत्येकादीनां कृतद्वन्द्वानां सागरोपमविशेषणत्वं ।

अलौकिक मान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भेदोंसे चार प्रकारका है । तिनमें द्रव्यमानके संख्याप्रमाण और उपमा प्रमाण दो भेद हैं । उपमा प्रमाणके आठ भेदोंमें सागर नामका भी प्रकार है, जिन मानों या आयुओंकी उपमा लवण समुद्र है, वे सागरोपम हैं । अलौकिक मानोंमें सागरको उपमापना तो जल द्रव्यकी बहुलतासे दिया गया है । अद्धापल्यसे दश कोटाकोटी गुणी बडी और सूच्यंगुलके असंख्यातवें भाग छोटी सागर नामक एक उपमा प्रमाणसे नापी गयी संख्याविशेष है । एक योजन लम्बे, चौडे, गहरे, गर्तको, जन्मसे सात दिन भीतरके मैढाके कतरीसे पुनः छिन्न नहीं हो सकें ऐसे बालाओंसे भरकर पुनः सौ सौ वर्ष पीछे निकालते हुये जितना समय लगता है, वह व्यवहार पल्य समझा जाता है । व्यवहार पल्यसे असंख्यात गुणा उद्धारपल्य है, अद्धापल्य तो इससे भी असंख्यात गुण है । एक योजनवाले पल्यके समान दो लाख योजन चौडे और पांच लाख योजन व्यासवाले हजार योजन गहरे लवण समुद्रको वैसे ही रोमोंसे भरा जाय और छह केशोंको घेरनेवाले जलके उलीचनेमें यदि पचीस समय लगें तो पूरे लवण समुद्रको खाली करनेमें कितने समय लगेंगे ? यों त्रैराशिक की जाय तब दश कोटी लब्ध आ जाता है । यह सागर परिमाणकी उपपत्ति है । जिस स्थितिका एक, तीन, सात, दश, सत्रह, बाईस, तेतीस, सागरोपम परिमाण है, वह स्थिति उस प्रकार " एकत्रिसप्तदशसप्तद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत् सागरोपमा " कही जाती है । इस प्रकार एक और तीन और सात और दश और सत्रह और बाईस और तेतीस यों द्वन्द्व समास किये जा चुके एकत्रि आदि पदोंको सागरोपमका विशेषण होना समझ लिया जाता है ।

रत्नप्रभादिभिरानुपूर्व्येण संबंधो यथाक्रमानुवृत्तेः । नरकप्रसंगस्तेष्विति वचनादिति चेन्न, रत्नप्रभाद्युपलक्षितानि हि नरकाणि त्रिंशच्छतसहस्रादिसंख्यानि तेष्वित्यनेन परामृश्यंते, साहचर्याद्वा तच्छब्दप्रसिद्धिः । ततो यथोक्तसंख्यनरकसाहचर्याद्रत्नप्रभादयो नरकशब्दवाच्याः प्रतीयंते । यद्येवं रत्नप्रभादिष्वधिकरणभूतासु नरकाणां स्थितिः प्रसक्तेति चेत्, सत्त्वानामिति वचनात् । परोत्कृष्टा न पुनरिष्टा परशब्दस्येष्टवाचकस्येहाग्रहणात् ।

दूसरे सूत्रमें पडे हुये " यथाक्रमम् " पदकी अनुवृत्ति कर लेनेसे एक आदिकोंका रत्नप्रभा आदिके साथ आनुपूर्व्य करके संबंध कर लेना चाहिये । यदि यहां कोई यों आक्षेप करें कि सूत्रकी आदिमें " तेषु " ऐसा वचन है । इस कारण तत्पदद्वारा नरकोंका परामर्श किया जाकर नरकोंकी स्थितिको एक, तीन, सागर आदिके होनेका प्रसंग आवेगा । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि रत्नप्रभा आदिके आधेय होकर उपलक्षित हो रहे जो तीस लाख, पचीस लाख आदि संख्यावाले नरक हैं, पूर्व परामर्शक तेषु इस पदकरके उन नरकोंका ही परामर्श किया जाता है । अथवा सहचरपनेसे भी उसी शब्दद्वारा कहाजानापन हो रहा है । सहारनपुरका साहचर्य होनेसे सहारनपुरकी स्टेशनको भी सहारनपुर कह दिया जाता है, यहांके गन्नोंको भी सहारनपुर कह देते है । अतः रत्नप्रभा आदि भूमियोंको भी नरक शब्द द्वारा कथन किये जानेकी सिद्धि होजाती है । तिस कारण पूर्वमें यथायोग्य कही गयी संख्याको धारनेवाले नरकोंके साहचर्यसे रत्नप्रभा आदि भूमियां नरक शब्द द्वारा कही जारहीं प्रतीत होजाती हैं । जैसे कि बम्बईसे सहचरित होरहे प्रान्त देशको बम्बई कह देते हैं । पुनः किसीका आक्षेप उठता है कि इस प्रकार तत् शब्द वाच्य नरकोंसे यदि रत्नप्रभा आदि भूमियोंको पकडा जायगा तब तो अधिकरण होचुकी रत्नप्रभा आदि भूमियोंमें आधेय होरहे नरकोंकी स्थिती एक, तीन, आदि सागरोंकी प्रसंगप्राप्त हुयी । यह स्थिति नारकी जीवोंकी तो नहीं समझी गयी । यों कहनेपर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि भाई, इसीलिये तो सूत्रकारने " सत्त्वानां " यह पद ग्रहण किया है । यह स्थिति उन नरकोंमें रहनेवाले प्राणियोंकी है, नरकोंकी नहीं । नरकबिले तो अनादिसे अनन्त कालतक जहांके तहां स्थित हो रहे हैं । परा शद्बका अर्थ उत्कृष्ट है फिर इष्ट अर्थ नहीं । क्योंकि इष्ट अर्थको कहनेवाले पर शद्बका यहां ग्रहण नहीं किया गया है । अतः यह नारकी जीवोंकी उत्कृष्ट स्थिति यों समझ लेनी चाहिये ।

कुतः सोत्कृष्टा स्थितिः सत्त्वानां प्रसिद्धेत्याह ।

कोई पूछता है कि नारक प्राणियोंकी वह उत्कृष्ट स्थिति भला किस प्रमाण या युक्तिसे प्रसिद्ध है ? बताओ, ऐसी आकांक्षा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तरवार्त्तिकों द्वारा समाधान कहते हैं ।

नरकेषूदितैकादिसागरोपमसम्मिता ।
स्थितिरस्त्यत्र सत्त्वानां सद्बाधाचादृगायुषः ॥ १ ॥

संक्षेपादपरा त्वग्रे वक्ष्यमाणा तु मध्यमा ।
सामर्थ्याद्बहुधा प्रोक्ता निर्णेतव्या यथाक्रमं ॥ २ ॥

इन नरकोंमें नारक प्राणियोंकी स्थिति (पक्ष) कहे जा चुके अनुसार एक, तीन, आदि सागरोपमोंसे भले प्रकार नाप ली जाती है (साध्य) जीवोंके तिस तिस प्रकारकी आयुका सद्भाव हो जानेसे (हेतु) इस अनुमान द्वारा नारकियोंकी आयु साध दी जाती है । नारकियोंने पूर्वजन्ममें नरकायुःकर्मका इतना बडा भारी पुद्गलपिण्ड बांध लिया है जिसका कि क्रमक्रमसे उदय आनेपर हजारों वर्ष या असंख्याते वर्षोंमें भोग हो पाता है । अंजुलीका जल शीघ्र निकल जाता है, किन्तु बडी टंकीमें भरे हुये पानीको बूंद बूंद अनुसार निकलते हुये बहुत दिन लग जाते हैं । इस सूत्रमें नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थितिका निरूपण किया है । यदि यहां ही जघन्यस्थितिका वर्णन किया जाता तो ग्रन्थका विस्तार हो जाता । अतः संक्षिप्तग्रन्थसे जघन्य स्थिति तो आगे चतुर्थ अध्यायमें कही जानेवाली है। जो कि "नारकाणां च द्वितीयादिषु, दशवर्षसहस्राणि प्रथमायां" इन दो सूत्रों करके कह दी जायगी । उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थितिका कण्ठोक्त निरूपण कर देने मात्रसे बिना कहे ही सामर्थ्यसे बहुत प्रकारकी मध्यमा स्थिति अच्छी कह दी गयी समझ ली जाती है, जो कि सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार चले आ रहे आगम अनुसार निर्णय कर लेने योग्य हैं । नरकोंके उनंचास पटलोंमें भी आगम अनुसार जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थितियोंका निर्णय कर लेना चाहिये ।

परा स्थितिरस्ति प्राणिनां परमायुष्कत्वान्यथानुपपत्तेः । परमायुष्कत्वं पुनः केषांचित्तद्धेतुपरिणामविशेषात्स्वोपात्तान्नबाध्यते मनुष्यतिरश्चामायुःप्रकर्षप्रसिद्धेः । तत्र रत्नप्रभायां नरकेषु सत्त्वानां परास्थितिरेकसागरोपमप्रमिताः, शर्कराप्रभायां त्रिसागरोपमप्रमिताः, वालुकाप्रभायां सप्तसागरोपमप्रमिताः, पंकप्रभायां दशसागरोपमप्रमिताः, धूमप्रभायां सप्तदशसागरोपमप्रमिताः, तमःप्रभायां द्वाविंशतिसागरोपमप्रमिताः, महातमःप्रभायां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमिताः इति वचनसामर्थ्यान्मध्यमा स्थितिरनेकधा यथागमं निर्णीयते । जघन्यायाः स्थितेस्त्वत्र संक्षेपाद्वक्ष्यमाणत्वादित्यलं प्रपंचेन ।

किन्हीं विवादापन्न प्राणियोंकी स्थिति उत्कृष्ट है (प्रतिज्ञा) अन्यथा परम आयुका धारना बनता नहीं है । फिर किन्हीं किन्हीं जीवोंके परम आयुष्यका धारकपना तो उसके कारणभूत हो रहे निज उपार्जित परिणाम विशेषोंसे हो रहा बाधित नहीं है । क्योंकि कतिपय मनुष्य और तिर्यंचोंके आयुष्यका प्रकर्ष हो रहा प्रसिद्ध ही है । अर्थात्—अपने अपने विशेष परिणामोंद्वारा अधिक स्थिति वाले आयुष्य कर्मका उपार्जन कर जीव उत्कृष्ट स्थितियोंको धार रहे प्रसिद्ध हैं । उन स्थितियोंमें यह विवरण समझियेगा कि रत्नप्रभामें विन्यासको प्राप्त हो रहे नरकोंमें स्थित प्राणियोंकी एक सागरोपमको

धार रही उत्कृष्ट स्थिति है और शर्कराप्रभामें नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन सागरोपम प्रमाण है। बालुकाप्रभामें नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थिति सात सागरोपम परिमित है। पंकप्रभामें नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थिति दश सागरोपम प्रमाणसे भरपूर है। धूमप्रभामें नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थिति सत्रह सागरोपम परिमाणवाली है। तमःप्रभामें नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थिति बाईस सागरोपमसे नाप दी गयी है और सातवीं महातमःप्रभामें निवास कर रहे असंख्याते नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थिति उपमा प्रमाणद्वारा तेतीस सागरकी परिमित कर दी गयी है। इस प्रकार सूत्रकारने कण्ठोक्त उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन कर दिया है। विना कहे ही परिशेष वचनकी सामर्थ्यसे अनेक प्रकारकी मध्यमा स्थितिका आगमको अतिक्रमण नहीं कर निर्णय कर लिया जाता है। क्योंकि " तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते " इस नीति अनुसार उत्कृष्ट और जघन्यके बीचकी मध्यमा स्थिति तो यों ही गम्यमान हो जाती है। इस ग्रन्थमें संक्षेपसे कथन करनेका लक्ष्य रखनेके कारण जघन्य स्थितिको स्वयं सूत्रकार चौथे अध्यायमें कहनेवाले हैं। अतः स्थितिका अधिक विस्तार पूर्वक कथन करनेसे पूरा पडो, बुद्धिमानोंके सन्मुख इंगित (इशारा) मात्र पर्याप्त है। अधिक बढाकर भी यदि लिख दिया जाय फिर भी तो उससे कहीं अधिक लिखे जानेकी आकांक्षायें बनी रहती हैं। " श्रेयसि कस्तृप्यति "।

इह प्रपंचेन विचिंतनीयं शरीरिणोधोगतिभाजनस्य ।
स्वतत्त्वमाधारविशेषशिष्टं बुधैः स्वसंवेगविरक्तिसिध्द्यै ॥२॥

उपेन्द्रवज्रा छन्दःद्वारा श्री विद्यानन्द स्वामी तृतीय अध्यायके प्रथम आन्हिकको समाप्त करते हुये यहांतक कहे जा चुके प्रकरणका उपसंहार करते हैं कि विद्वान् पुरुषों करके अपने संवेगभाव और वैराग्यभावोंकी सिद्धिके लिये इन छह सूत्रोंमें अधोगतिके पात्र हो रहे वैक्रियिक शरीरधारी नारक जीवोंका आधार विशेषरूपसे सिखा दिया गया निजतत्त्व तो विशेषरूप करके विचार लेने योग्य है, अथवा नारकियोंका निकृष्ट आचार विशेषसे परिशेषमें भोगना पडा उनका निजतत्त्व विचारने योग्य है, जिससे कि बुद्धिमान् जीवोंको संसारसे भीरुता और वैराग्यकी प्राप्ति हो जाय। भावार्थ—नारकी जीवोंका वर्णन करना मुमुक्षु जीवोंके संवेग और वैराग्यका वर्धक है। दशलक्षण-पर्वमें जिनवाणीकी पूजा करते समय तत्त्वार्थसूत्रके अध्याय या सूत्रोंको अर्घ्य चढाया जाता है, इसका तात्पर्य यही है कि इन सूत्रोंके प्रमेयोंको अर्घ नहीं चढाते हैं। किन्तु इनके ज्ञानकी हम पूजा करते हैं, जिसके कि संवेग और वैराग्य परिणाम बढें।

इति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे तृतीयाध्यायस्य प्रथममान्हिकं समाप्तं ।

यों शुभ भावनाओंको भावते हुये विवरण कर श्री विद्यानन्द स्वामीने तत्त्वार्थसूत्रके श्लोकवार्तिक अलंकाररूप व्याख्यानमें तृतीय अध्यायका पहिला प्रकरणोंका समुदाय स्वरूप आन्हिक यहांतक समाप्त कर दिया है।

चला नृलोके ज्योतिष्काः सर्वत्राष्टौ स्थिरा ध्रुवः ।
दुःखार्ता नारका ध्याता संवेगार्थं भवन्तु नः ॥ १ ॥

अधोलोकका वर्णन कर चुकनेपर श्री उमास्वामी महाराज अब मध्यलोक या तिरछे फैल रहे तिर्यक्लोकका वर्णन करते हुये द्वीप, समुद्रोंको समझाते हैं ।

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥ ७ ॥

सात राजू लम्बे, एक राजू चौडे, और मेरुसमान एक लाख चालीस योजन ऊंचे मध्यलोकमें या एक राजू लम्बी चौडी और चौदह राजू ऊंचीमेंसे केवल मेरुसम ऊंची इतनी चौकोर त्रसनालीमें इक्षुवर, घृतवर, नन्दीश्वर, ऐसे शुभनामवाले असंख्याते जम्बूद्वीप, धातकी द्वीप, आदिक द्वीप और लवणसमुद्र, कालोदक समुद्र आदिक समुद्र स्वयम्भूरमणपर्यन्त तिरछे गोल रचित हो रहे हैं ।

प्रतिविशिष्टजंबूवृक्षासाधारणाधिकरणाज्जंबूद्वीपः, लवणोदकानुयोगाल्लवणोदः । आदिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते तेन जंबूद्वीपादयो द्वीपा लवणोदादयः समुद्रा इति संप्रत्ययः । शुभनामान इति वचनादशुभनामत्वनिरासः ।

अकृत्रिम, अत्यधिक सुन्दर, सपरिवार, जम्बूवृक्षका असाधारणरूपसे अधिकरण होनेसे यह मध्यवर्त्तीद्वीप जम्बूद्वीप कहा गया है । अर्थात्—उत्तरकुरु भोगभूमिमें सुदर्शन नामका पृथ्वीमय, जम्बूवृक्ष, अनादि निधन, रत्नमय, बना हुआ है, जो कि वृक्ष अन्य द्वीपोंमें हो रही साधारण रचनासे असाधारणपनेको धार रहा है । इस जम्बूवृक्षके सहचारसे द्वीपका नाम जम्बूद्वीप पड गया है । वस्तुतः सिद्धान्त यह है कि शब्द तो संख्याते ही हैं और ढाई सागरके समयों प्रमाण संख्यावाले द्वीप, समुद्र, असंख्याते हैं । ऐसी दशामें उन द्वीपोंमें लाखों जम्बूद्वीप होंगे और लाखों ही लवणसमुद्र नामको धारनेवाले समुद्र होंगे । करोडों धातकी खण्ड द्वीपोंकी सम्भावना है । अतः इस मध्यवर्ती द्वीपकी जम्बूद्वीप यह संज्ञा अनादिकालसे यों ही निमित्तान्तरानपेक्ष चली आ रही है । यही उत्तर धीमानोंको संतोषकारक है । लवण समुद्रके जलका स्वाद नोंन मिले हुये जल सरीखा है । अतः लवणमिश्रितजल सारिखे जलका योग हो जानेसे पहिले समुद्रका नाम लवणोद पड गया है । द्वन्द्व समासके अन्तमें पडे हुये आदि शब्दका सम्पूर्ण पदोंमेंसे प्रत्येकपदके साथ सम्बन्ध कर लिया जाता है । तिस आदि शब्द करके जम्बूद्वीप आदिक द्वीप और लवणोद आदि अनेक समुद्र यह भले प्रकार निर्णय हो जाता है । सूत्रमें " शुभनामानः " ऐसा कथन करनेसे द्वीप समुद्रोंके अशुभनाम सहितपनका निराकरण हो जाता है । अर्थात्—जम्बूद्वीप, लवणोद, धातुकीखण्ड, कालोद, पुष्करवर, पुष्करोद, वारुणीवर, वारुणोद, क्षीरवर, क्षीरोद, घृतवर, घृतोद, इक्षुवर, इक्षूद, नन्दीश्वर, नन्दीश्वरोद, अरुणवर, अरुणोद, अरुणाभासवर, अरुणाभासोद, कुण्डलवर, कुण्डलोद, रुचकवर, रुचकवरोद, भुजगवर, भुज-

गोद, आदि शुभ नामवाले द्वीप समुद्र हैं। विटद्वीप, क्षारद्वीप, उलूकद्वीप, बक, बिडाल, उष्ट्र, तस, संप्रज्वलित, आदि अशुभ संज्ञाओंको धारनेवाले द्वीप समुद्र नहीं हैं।

किं विष्कंभाः किं परिक्षेपिणः किमाकृतयश्च ते इत्याह।

यहां प्रश्न कि जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र आदिक कितनी कितनी चौडाईको धारते हैं ? और किस किसका परिक्षेप (घेरा) रखनेवाले हैं ? तथा कैसी कैसी आकृति यानी रचनाको प्राप्त हो रहे हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रका उच्चारण करते हैं।

द्विर्द्विर्विष्कंभाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥ ८ ॥

जम्बूद्वीपको आदि लेकर असंख्याते द्वीप और लवण समुद्रको आदि लेकर असंख्यात समुद्र ये सब दूने दूने विष्कम्भ यानी विस्तारको लिये हुये विराज रहे हैं। पहिले पहिले द्वीप या समुद्रको परला परला द्वीप या समुद्र परिक्षेप यानी वेष्टित (लपेटे) किये हुये हैं तथा ये सभी कंकणकीसी आकृतिको धारे हुये चारों ओरसे गोल हैं।

द्विर्द्विरिति वीप्साभ्यावृत्तेर्वचनं विष्कंभद्विगुणत्वव्याप्त्यर्थं, पूर्वपूर्वपरिक्षेपिण इति वचनादनिष्टनिवेशनिवृत्तिः, वलयाकृतय इति वचनाच्चतुरस्रादिसंस्थाननिवृत्तिः। जंबूद्वीपस्य द्विर्विष्कंभत्वपूर्वपरिक्षेपित्ववलयाकृतित्वाभावादव्यापीनि विशेषणानीति चेत् न, जंबूद्वीपस्यैतदपवादलक्षणस्य वक्ष्यमाणत्वात्। 'तन्मध्ये' इत्यादि सूत्रस्यानंतरस्य सद्भावात्।

सूत्रमें द्विर् द्विर् इस प्रकार वीप्सापूर्वक अभ्यावृत्ति होनेसे (का) जो कथन किया गया है वह चौडाईके दूनेपनको व्यापक करनेके लिये है। एक लाख योजन चौडे जम्बूद्वीपसे दूना दो लाख योजन चौडा लवणसमुद्र है, और लवण समुद्रसे दूना चार लाख योजन चौडा धातुकी खण्ड द्वीप है। इस प्रकार दूनी दूनी चौडाई सर्वत्र समझ लेनी चाहिये। यहां द्विः द्विः ऐसी वीप्सा और अभ्यावृत्तिका सूचक सुच् प्रत्यय भी दो बार किया है इससे अन्तके स्वयम्भूरमणसमुद्र पर्यंत अधिक दूरवर्ती असंख्याते स्थानोंमें दूनी दूनी चौडाईका अन्वय वहा दिया जाता है, जिससे पचास, सौ, द्वीप ही दूने दूने चौडे हो सकते हैं, आगेके द्वीप नहीं, इस अनिष्ट अर्थकी निवृत्ति होजाती है। शब्दप्रयोग करनेवाले मनुष्यकी एक ही बार अनेकोंमें व्याप्त करनेकी इच्छाको वीप्सा कहते हैं। "वीप्सार्थे पदस्य" इस सूत्रसे द्विः होजाता है। वीप्सा अर्थ योग्य होनेपर पदको द्वित्व होजाता है। तथा सूत्रकारके "पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः" इस वचनसे अनिष्ट सन्निवेशकी निवृत्ति होजाती है, जिससे कि ग्राम उपवन, नगर, प्रासाद, आदिके समान उन द्वीप समुद्रोंका अनिष्ट विनिवेश नहीं समझ लिया जाय। जम्बूद्वीप लवण समुद्रसे और लवण समुद्र धातुकी खण्डसे वेष्टित होरहा है। यों अन्तके स्वयम्भूरमण- तक लगा लेना। तथा "वलयाकृतयः" इन वचनसे चौकोर, तिकोने, छहकोने, अठपैल, आदि

अनिष्ट संस्थानकी निवृत्ति होजाती है। कोई कोई अनुमान प्रेमी विद्वान् साधारण स्वरूपके प्रतिपादक विशेषणोंका निरादर कर अव्यभिचारी उद्देश्य दलको हेतु और विधेय दलको साध्य बनाते हुये सर्वत्र विधायक वाक्योंको अनुमान मुद्रामें गढ लेते हैं। तदनुसार इस सूत्रमें कहे गये १ द्विर्द्विर्विष्कंभाः, २ पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः, ३ वलयाकृतयः, इन तीन विशेषणोंके साथ और जम्बूद्वीप लवणसमुद्र आदि इस विशेष्य दलके साथ लक्ष्यलक्षणभाव और हेतु हेतुमद्भाव बना लेना चाहिये। तभी लक्षणके अव्याप्ति अतिव्याप्ति, असम्भव, दोषोंका निवारण और हेतुके व्यभिचार, विरोध आदि दोषोंका प्रत्याख्यान करना अच्छा शोभता है। यहां किसीकी शंका है कि आपने जम्बूद्वीपको आदि लेकरके सभी द्वीप समुद्रोंको उद्देश्य दलमें डालकर विधेयांश रूपसे यह सूत्र कहा है, किन्तु सबके आदिवर्ती जम्बूद्वीपके दूना चौडापन और पूर्वको घेरे रहना तथा कंकणाकीसी आकृतिका धारकपना नहीं घटित होता है। इस कारण ये लक्षणकोटिमें पडे हुये तीनों विशेषण अव्याप्ति दोषसे ग्रसित हैं, अथवा अनुमानमुद्रा अनुसार तुम्हारे तीनों हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास हैं। यदि अतद्गुण सम्यग्ज्ञान बहुव्रीहि समासका आश्रय कर जिनके आदिमें जम्बूद्वीप हैं यों अर्थ करते हुये जम्बूद्वीपको टाल दिया जायगा तो लवणसमुद्र भी टल जायगा, जो कि इष्ट नहीं है। साथमें जम्बूद्वीपके शुभनामपनका और द्वीपपनका भी निराकरण बन बैठेगा। अतः " शुक्लवाससमानय " इसके समान तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहिका आश्रय ही लेना पडेगा। ऐसी दशामें हमारी शंका परिपुष्ट होजाती है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि जम्बूद्वीपको छोडकर अन्य सम्पूर्ण द्वीपसमुद्रोंमें ये तीनों लक्षण घटित होते हैं। जब कि जम्बूद्वीपके लिये " तन्मध्ये मेरुनाभिः " इत्यादि अव्यवहित उत्तरवर्ती सूत्रका सद्भाव है तो उस अपवाद मार्गको टालकर उत्सर्ग विधियां प्रवर्तेंगी। इन तीनों लक्षणोंका अपवाद कर जम्बूद्वीपका लक्षण निकट भविष्यमें कह दिया जायगा, अतः अव्याप्ति दोषको बालाग्र भी स्थान नहीं मिलता है। " अपवादपथं परित्यज्योत्सर्गविधयः प्रवर्तन्ते "।

क पुनरिमे द्वीपसमुद्रा इत्याह।

फिर ये अनेक द्वीप और असंख्य समुद्र भला कहां स्थित होरहे हैं? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधानको कहते हैं।

सप्ताधो भूमयो यस्मान्मध्यलोको बलाद्गतः।
तत्र द्वीपसमुद्राः स्युः सूत्रद्वितयवर्णिताः॥ १॥

जिस कारणसे अधोलोकमें सात नीचे नीचे भूमियां कही जा चुकी हैं। अतः विना कहे ही सामर्थ्यसे अर्थापत्त्या मध्यलोक जान लिया ही जाता है। अर्थात्—अधोलोकसे उपर ऊर्ध्वलोक नियत ही है। तथा ऊर्ध्व और अधःके बीचका मध्यलोक विना कहे यों ही समझ लिया जाता है। उस मध्यलोकमें अनेक द्वीप, समुद्र, हो सकते हैं जो कि सूत्रकारने उक्त दो सूत्रोंसे वर्णित कर दिये हैं।

ऊर्ध्वाधोलोकवचनसामर्थ्यान्मध्यलोकस्तावद्गत एव यस्मादधोरत्नप्रभायाः सप्तभूमयः प्रतिपादितास्तास्मिन् मध्यलोके द्वीपसमुद्राः संक्षेपादभिहिताः सूत्रद्वयेन प्रपंचतोसंख्येयास्ते यथागमं प्रतिपत्तव्याः ।

ऊर्ध्व लोक और अधोलोकके कथन कर देनेकी सामर्थ्यसे मध्यलोक तो अपने आप जान लिया जाता ही है जिस कारणसे कि अधोलोकमें रत्नप्रभा आदिक सात भूमियां कही जा चुकी हैं । उस मध्यलोकमें द्वीप समुद्र हैं जो कि संक्षेपसे दो सूत्रों करके श्री उमास्वामी महाराजने कह दिये हैं विस्तारसे कथन करनेपर वे द्वीप समुद्र पचीस कोटा कोटी उद्धार पल्योंके समय प्रमाण नियत संख्यावाले असंख्यात हैं । उनको आप्तोक्त आगम अनुसार समझ लेना चाहिये । लवण समुद्रका जल ऊंचा उठा हुआ है, पुष्कर द्वीपके मध्यमें मानुषोत्तर पर्वत पडा हुआ है, नन्दीश्वर द्वीपमें सोलह बावडी और बावन जिन चैत्यालय अनादि निधन बने हुये हैं, ढाई द्वीपसे बाहर तिर्यक्लोकमें जघन्य भोगभूमिकीसी रचना है। अन्तिम आधे द्वीप और अन्तके समुद्र तथा मध्यलोककी त्रसनालीके चारों कोनोंमें कर्मभूमिकीसी प्रक्रिया है। मोक्षमार्गकी व्यवस्था नहीं है। तथापि पांचवें गुणस्थानको भी धारनेवाले असंख्य तिर्यंच वहां स्वयंप्रभ पर्वतके परली ओर पाये जाते हैं, इत्यादिक विशेष व्याख्यानको आकर ग्रन्थोंके अनुसार समझ लेना चाहिये ।

क्व पुनरयं जंबूद्वीपः कीदृशश्चेत्याह ।

यह जम्बूद्वीप फिर कहां और किस प्रकारका व्यवस्थित है ? यों जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज उत्तरवर्ती सूत्रको कहते हैं ।

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कंभो जंबूद्वीपः

उन सम्पूर्ण पूर्वोक्त द्वीप समुद्रोंके मध्यमें जम्बूद्वीप विराजमान है और उस जम्बूद्वीपके ठीक मध्यमें सुमेरुपर्वत नाभिके समान व्यवस्थित है । जम्बूद्वीप थालीके समान गोल है । और एक लाख योजन चौडा है ।

तच्छब्दः पूर्वद्वीपसमुद्रनिर्देशार्थः । जंबूद्वीपस्य निर्देशप्रसंगः पूर्वोक्तत्वाविशेषादिति चेन्न, तस्य प्रतिनियतदेशादितया प्रतिपाद्यत्वात् तत्परिक्षेपिणामेव परामर्शोपपत्तेः । तर्हि पूर्वोक्तसमुद्रद्वीपनिर्देशार्थस्तच्छब्द इति वक्तव्यं जंबूद्वीपपरिक्षेपिणां समुद्रादित्वादिति चेन्न, स्थितिक्रमस्याविवक्षायां पूर्वोक्तद्वीपसमुद्रनिर्देशार्थ इति वचनाविरोधात्, यत्र कुत्रचिदवस्थितानां द्वीपानां समुद्राणां च विवक्षितत्वात् । द्वीपशब्दस्याल्पाच्तरत्वाच्च द्वंद्वे पूर्ववचनेपि समुद्रादय एवार्थान्यायात् परामृश्यंते । तत इदमुक्तं भवति तेषां समुद्रादीनां मध्यं तन्मध्यं तस्मिन् जंबूद्वीपः ।

सूत्रमें पडा हुआ तत् शद्ब तो पूर्वमें कहे जा चुके द्वीप, समुद्रों, का परामर्श करनेके लिये है। यहां कोई शंका करता है कि जब पूर्वमें कहा जा चुकापन जम्बूद्वीपमें विशेषतारहित है तो जम्बूद्वीपके निर्देश हो जानेका भी प्रसंग हो जायगा। अर्थात्—तत् शद्ब करके जब सभी द्वीप समुद्रोंका आकर्षण हो जाता है तब तो अन्यद्वीप समुद्रोंके समान उस जम्बूद्वीपके मध्यमें भी जम्बूद्वीपके विराजनेका प्रसंग आता है, जो कि असंगत है। कैसा भी नरम वस्त्र होय या छोटा घडा होय स्वयं अपने मध्यभागमें पूरा नहीं समा सकता है। निश्चयनयसे भी अपने परिपूर्ण निजस्वरूपमें भले ही पदार्थ ठहर जाय, किन्तु अपने किंचित् मध्यभागमें तो कोई वस्तु नहीं ठहर पाती है। यों शंका करनेपर तो आचार्य कहते हैं कि प्रतिनियत हो रहे देशमें स्थित होने या प्रतिनियत आकार लम्बाई, चौडाई, आदि रूप करके वह जम्बूद्वीप तो जत्र समझाने योग्य ही हो रहा है। अतः उस जम्बूद्वीपको घेरे रहनेवाले समुद्र और द्वीपोंका ही तत् शद्ब द्वारा परामर्श होना युक्त है। जैसे कि ग्रन्थके बीचका पत्र निकाल लो या पचीस विद्यार्थियोंके बीचके विद्यार्थीको बुला लाओ। यहां प्रतिपादनीय नियत व्यक्तिको अगण्य कर शेष बहुभागका मध्य पकड लिया जाता है। पुनरपि किसीका आक्षेप है कि तब तो पूर्वोक्त समुद्र और द्वीपोंके निर्देशके लिये तत् शद्ब है यों कहना चाहिये था। क्योंकि जम्बूद्वीपको परिक्षेप (घेरा) करनेवाले द्वीप, समुद्रोंमें सबका आदिभूत लवण समुद्र है। अतः उन समुद्र और द्वीपोंके मध्यमें जम्बूद्वीप है, यह कहना ठीक है। किन्तु उन द्वीप समुद्रोंके मध्यमें जम्बूद्वीप है यों कहनेपर तो पहिले द्वीपपदसे जम्बूद्वीप ही पकडा जायगा। ऐसी दशामें जम्बूद्वीपके मध्यमें स्वयं जम्बूद्वीपका विराज जाना होनेसे हमारी पूर्वोक्त आत्माश्रय दोषवाली शंका परिपुष्ट हो जाती है। पहिले द्वीपपदसे यदि धातकी खण्ड लिया जाय तब तो लवण समुद्र द्वारा जम्बूद्वीपका घिरा रहना छूट जायगा। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि द्वीप, समुद्रों की स्थितिके क्रमकी नहीं विवक्षा करते सन्ते पूर्वोक्त द्वीप समुद्रोंके निर्देशके लिये तत् शद्ब है। इस हमारे वचनका कोई विरोध नहीं आता है। जहां भी कहीं आगे या पीछे अवस्थित हो रहे द्वीप और समुद्रोंकी विवक्षा यहां उपजायी गयी है। अतः भले ही जम्बूद्वीपको सबसे पहिले घेरनेवाला लवण समुद्र है, तो भी इस स्थितिके क्रमका विचार नहीं कर श्री उमास्वामी महाराजने उन द्वीप समुद्रोंके मध्यमें जम्बूद्वीपका विन्यास हो रहा कह दिया है। यद्यपि जम्बूद्वीपको घेरनेवाले द्वीप और समुद्रोंमें द्वीपोंकी अपेक्षा समुद्रोंकी संख्या एक अधिक है। तथा सबकी आदिमें जम्बूद्वीपका घेरा देनेवाला भी समुद्र ही है। सबके अन्तमें भी समुद्र पडा हुआ सबको घेर रहा है, फिर भी हम क्या करें व्याकरणके नियमोंकी अधीनतासे शद्बोंका उच्चारण करनेके लिये हम या सूत्रकार महाराज पराधीन हैं। द्वंद्व समासमें जिस पदमें अल्पसे अल्प अच् (स्वर) होंगे वह पद पहिले आजायगा। चाहे द्वीप और समुद्र यों समास करो अथवा अपनी इच्छानुसार समुद्र और द्वीप यों इतरेतर योग करो द्वीप शद्बका पहिले निपात होकर

" द्वीपसमुद्र " शद्ब बन जाता है। तेलमें सलिलके डालनेपर या जलमें तेलको गिरा देनेपर तेल ही ऊपर आजायगा। यहां भी समुद्र शद्बमें तीन स्वर हैं और द्वीप शद्बमें दो अच् हैं अतः अल्प अच् सहितपना होनेसे भले ही शद्बसंबंधी न्यायसे द्वंद्वमें द्वीप शद्बका पूर्वमें उच्चारण होजाय तो भी अर्थसम्बन्धी न्यायसे द्वीप समुद्रपदसे समुद्र आदिका ही परामर्श किया जाता है। तिस कारणसे सूत्रकार द्वारा यह कह दिया गया समझा जाता है कि उन समुद्र आदिकोंके मध्यको इस सूत्रमें तन्मध्यपदसे लिया गया है। उन समुद्र आदिकोंके मध्यमें जम्बूद्वीप है। यद्यपि " जंबूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः " इस सूत्रमें शद्बशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनोंके अनुसार द्वीपसमुद्राः कहना शोभता है। अन्यथा जम्बूद्वीपको समुद्रपना और लवणोदको द्वीपपना प्राप्त हो जायगा। फिर भी " द्विर्द्विर्विष्कंभाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः " और " तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजन शतसहस्रविष्कंभो जम्बूद्वीपः " इन दोनों सूत्रोंमें अर्थसम्बन्धी न्यायके अनुसार समुद्र, द्वीप, यों समाम्नाय करनेसे समीचीन प्रतिपत्ति हो जाती है। यथायोग्य सन्तोष हो जानेपर फिर भी कुचोद्योंका तांता नहीं तोडनेके लिये सदा मुंह उठाये रखना गम्भीर शास्त्रीय विद्वानोंको शोभा नहीं देता है।

स च मेरुनाभिरुपचरितमध्यदेशस्थमेरुत्वात्। वृत्तो न चतुरस्रादिसंस्थानः। तत्परिक्षेपिणां वलयाकृतिवचनादेव तस्य वृत्तत्वं सिद्धमिति चेन्न, चतुरस्रादिपरिक्षेपिणामपि वलयाकृतित्वाविरोधात्। योजनशतसहस्रविष्कंभ इति वचनात् तद्द्विगुणद्विगुणविष्कंभादिनिर्णयः शेषसमुद्रादीनां कृतो भवति। एवं च।

और वह जम्बूद्वीप उभरी हुई नाभिके समान मेरुको मध्यमें धार रहा है। क्योंकि उसके उपचारसे माने गये मध्यदेशमें मेरु स्थित हो रहा है। मेरुस्थानको जम्बूद्वीपका उपचारसे मध्यभाग यों माना गया है कि लोकका मध्य तो सुदर्शन मेरुके जडमें केन्द्रीभूत हो रहे आठ प्रदेश हैं। अतः मध्यलोक स्वयं ऊर्ध्वलोकमें विराज रहा उपचरित है। अधोलोकसे ऊपर और ऊर्ध्वलोकके निचले भागमें सात राजू लम्बे, एक राजू चौडे और मेरुसम ऊंचे स्थानको यदि मध्यलोक माना जाता है तो इसका ठीक मध्य भी सुदर्शन मेरुकी जडमें स्थित आठ प्रदेशोंसे पचास हजार बीस ५००२० योजन ऊपर चलकर चार प्रदेश मिलेंगे। जहां कि जम्बूद्वीप कथमपि विद्यमान नहीं है, वहां तो सुदर्शन मेरु खडा हुआ है। हां, ऊर्ध्व अधो दिशाका लक्ष्य नहीं कर केवल मध्यलोकके निचले हजार योजन टुकडेकी पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, चार ही दिशाओंका मध्यभाग लिया जाय तो जम्बूद्वीपको मध्यमें स्थित हो रहा कह सकते हैं। वज्रा पृथिवीके उपरिम मध्यवर्ती समतल प्रदेशोंपर मेरु पर्वत धरा हुआ है, वह लोकका मध्य भले ही कह दिया जाय, किन्तु वह स्थल जम्बूद्वीपका मध्य तो कथमपि नहीं कहा जा सकता है। अतः मेरुके (मेरुकी जडके) ठहरनेके स्थानको जम्बूद्वीपका मध्य उपचारसे माना गया है। वह जम्बूद्वीप

" वृत्तः " यानी चकरेके समान गोल है। गेंदके समान गोल या चौकोर, तिकोना, आदि संस्थानोंको धारनेवाला नहीं है। यहां कोई आक्षेप करता है कि उस जम्बूद्वीपका घेरा देकर फैल रहे द्वीप समुद्रोंकी आकृतिको पूर्व सूत्रमें कंकणके समान कह देनेसे ही उस जम्बूद्वीपका थालीके समान गोलपना स्वतः सिद्ध हो जाता है। पुनः इस सूत्रमें " वृत्तः " यानी रुपयाके समान गोल कहनेकी क्या आवश्यकता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि चौकोर, छह कोन, तिकोने आदि आकारवाले पदार्थको घेरा देनेवाले अन्य द्वीप समुद्रोंके भी कंकण आकृतिधारीपनका कोई विरोध नहीं है। जैसे कि चौकोर प्रासादको गोल वेदिकासे घेरा जा सकता है। गोल फैली हुई गढकी ऊंची भीतोंसे भीतरके तिकोने, छह पैढ़ महल या कोठियां भी घेर ली जाती हैं। गोल सूर्य मण्डलपर अनेक चौकोर महल बने हुये हैं। भले ही कुछ स्थान रीता पडा रहा रहे, इससे हमें क्या प्रयोजन है ? घेरनेवाला पदार्थ दूरवर्ती गोल होकर मध्यवर्ती कैसे भी तिकोने, चौकोने, पदार्थको परिक्षेप कर बैठेगा। देखो छह कुलाचलों या देवारण्य, भूतारण्यको, जम्बूद्वीपकी वेदिका वेढ रही है, अतः जम्बूद्वीपकी ठीक रचनाको समझानेके लिये इस सूत्रमें वृत्त शब्द कहा है। इस सूत्रमें यों सौ हजार (एक लाख) योजन चौडे जम्बूद्वीपका कथन कर देनेसे शेष बचे हुये समुद्र आदिकोंकी उस जम्बूद्वीपसे दुगुनी दुगुनी, चौडाई और पूर्व पूर्वका परिक्षेप करना आदिका निर्णय कर दिया समझ लिया जाता है। अर्थात्—शेष समुद्रोंकी दूनी दूनी चौडाई किसकी अपेक्षासे समझी जाय ? इसके लिये पहिले जम्बूद्वीपको एक लाख योजन चौडा कहा है। द्वीप समुद्रोंकी दूनी दूनी चौडाई तो ग्राम, नगर, नदी, पर्वत, आदिके समान रचना होनेपर भी सम्भव जाती है। अतः " पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः " कहना सार्थक है तिकोने, चौकोने, होम कुण्डोंकी कटनियोंके समान दूनी दूनी चौडाई या पूर्व पूर्वको घेरे रहना तो त्रिकोण, चतुष्कोण पदार्थका भी संभव जाता है। अतः द्वीप समुद्रोंकी आकृति वलयके समान कहना वस्तुस्थितिका द्योतक है और यों इस प्रकार जम्बूद्वीपका वर्णन कर देनेपरः—

तन्मध्ये मेरुनाभिः स्याज्जंबूद्वीपो यथोदितः ।
सूत्रेणैकेन निःशेषकुमतानां व्यपोहनात् ॥ १ ॥

उन समुद्र द्वीपोंके मध्यमें मेरुको नाभिके समान धारनेवाला जम्बूद्वीप है जो कि आर्ष आम्नाय अनुसार हमने एक सूत्र करके स्पष्ट बखान दिया है, इतनेसे ही सम्पूर्ण खोटे मतोंका निराकरण होजाता है।

सकलसर्वथैकांतनिराकरणे हि न्यायबलाद्विहिते स्याद्वाद एव व्यवतिष्ठते परमागमः, स च यथोदितजंबूद्वीपप्रकाशक इति भवेदेवं सूत्रितो जंबूद्वीपः सर्वथा बाधकाभावात् अत्र ।

सर्वथा एकान्तवादी पण्डितमन्योंके सम्पूर्ण एकान्त मतोंका न्यायकी सामर्थ्यसे निराकरण कर चुकनेपर जिनोक्त स्याद्वाद सिद्धान्त ही परम आगम व्यवस्थित होजाता है, और वह आप्तोक्त आगम

ही आम्नायका अतिक्रमण नहीं कर कहे जा चुके जम्बूद्वीपका प्रकाशक हो सकता है। इस प्रकार एक सूत्र द्वारा जंबूद्वीपका यों सूचन कर दिया जा चुका है। क्योंकि इस आगममें सभी प्रकारोंसे बाधक प्रमाणोंका अभाव है।

तत्र कानि क्षेत्राणीत्याह।

उस जंबूद्वीपमें कितने निवासक क्षेत्र हैं? ऐसी विनीत शिष्यकी बुभुत्सा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥

उस जंबूद्वीपमें छह कुलाचलोंसे विभक्त होरहे भरत वर्ष १ हैमत वर्ष २ हरिवर्ष ३ विदेह वर्ष ४ रम्यक वर्ष ५ हैरण्यवत वर्ष ६ और ऐरावत वर्ष ७ ये सात क्षेत्र पूर्व पश्चिम लंबे और उत्तर, दक्षिण, चौडे व्यवस्थित होरहे हैं।

भरतक्षत्रिययोगाद्भरतो वर्षः अनादिसंज्ञासंबंधत्वाद्वा आदिमदनादिरूपतोपपत्तेः। स च हिमवत्समुद्रत्रयमध्ये ज्ञेयः। तत्र पंचाशद्योजनविस्तारस्तदर्धोत्सेधः सक्रोशषड्योजनावगाहो रजताद्रिर्विजयार्धोन्वर्थः सकलचक्रधरविजयस्यार्धसीमात्मकत्वात्।

दक्षिण ओरके पहिले क्षेत्रकी " भरत " यह संज्ञा कैसे बन रही है? इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक अवसर्पिणीके चौथे कालकी आदिमें भरत नामका पहिला चक्रवर्ती इसके छह खण्डोंको भोगता है। अतः भरत नामके क्षत्रियका स्वस्वामिभाव सम्बन्ध हो जानेसे पहिले क्षेत्रको भरतवर्ष कहते हैं, अथवा दूसरा सिद्धान्त उत्तर यह है कि जगत् अनादि है, अनादिकालीन निज परिणतिके अनुसार इसकी भरतसंज्ञा चली आ रही है। वैयाकरणोंने जैसे शद्बके व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न दो पक्ष स्वीकार किये हैं, मीमांसक और मांत्रिकोंने तो शद्बकी अनादितापर ही सन्तोष प्रकट किया है। उसी प्रकार भरतक्षत्रियके योगसे आदिमान् स्वरूपसे सहितपना अथवा अनादिकालीन संज्ञाका सम्बन्ध हो जानेसे भरतवर्षको अनादिस्वरूपपना समुचित समझ लिया जाता है। वह भरतवर्ष तो उत्तर दिशामें हिमवान् और पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, दिशाओंमें तीनो ओरसे घर रहे तीन समुद्रोंके मध्यमें विराज रहा जान लेना चाहिये। उस भरतक्षेत्रके ठीक बीचमें फैल रहा पूर्व, पश्चिम, लम्बा और दक्षिण उत्तर पचास योजन चौडा तथा उससे आधा पच्चीस योजन ऊंचा एवं एक कोससहित छह योजन यानी सवा छह योजन गहरा रजतबहुल एक विजयार्द्ध नामक पर्वत है जो कि सम्पूर्ण चक्रवर्तीके विजयकी आधी सीमा स्वरूप होनेसे " विजयार्द्ध " इस अन्वर्थ नामको धारता है। अर्थात्—उसका नाम अपने वाच्य अर्थको लिये हुये ठीक घट जाता है।

हिमवतोऽदूरभवः सोऽस्मिन्नस्तीति वा हैमवतः स च क्षुद्रहिमवन्महाहिमवतोर्मध्ये, तन्मध्ये शद्बवान् वृत्तवेदाढ्यः। हरिवर्णमनुष्ययोगाद्धरिवर्षः स निषधमहाहिमवतोर्मध्ये,

तन्मध्ये विकृतवान् वेदाढ्यः। विदेहयोगाज्जनपदेपि विदेहव्यपदेशः निषधनीलवतोरंतरे तत्संनिवेशः। स चतुर्विधः पूर्वविदेहादिभेदात्। रमणीयदेशयोगाद्रम्यकाभिधानं नीलरुक्मिणोरंतराले तत्संनिवेशः तन्मध्ये गन्धवान् वृत्तवेदाढ्यः। हिरण्यवतोऽदूरभवत्वाद्धैरण्यवतव्यपदेशः रुक्मिशिखरिणोरंतरे तद्विस्तारः तन्मध्ये माल्यवान् वृत्तवेदाढ्यः। ऐरावतक्षत्रिययोगादैरावताभिधानं शिखरिसमुद्रत्रयांतरे तद्विन्यासः, तन्मध्ये पूर्ववद्विजयार्धः।

हिमवान् पर्वतसे जो दूर नहीं किन्तु निकटमें विद्यमान हो रहा हैमवतक्षेत्र है अथवा वह हिमवान् पर्वत जिस देशमें है वह हैमवत नामक वर्ष है। हिमवान् शद्बसे "अदूरभवश्च" या "तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि" सूत्रोंद्वारा अण्प्रत्यय करनेपर "हैमवत" शद्ब बन जाता है और वह हैमवतक्षेत्र तो लघु हिमवान् पर्वतसे उत्तरकी ओर और महाहिमवान् पर्वतसे दक्षिणकी ओर मध्यमें तिष्ठा है। उस हैमवत क्षेत्रके मध्यमें शद्बवान् नामका वृत्तवेदाढ्य पर्वत है। ढोलके समान गोल होनेसे वृत्त माना गया है। इसकी प्रदक्षिणा देकर रोहितास्या नदी पश्चिम समुद्रकी ओर बही जाती है और प्रदक्षिणा करती हुई रोहित नदी पूर्वकी ओर बह जाती है। हरि यानी सिंहके वर्णसमान शुक्ल वर्णवाले मनुष्योंके योगसे हरिवर्ष क्षेत्र विख्यात होरहा है। वह हरिवर्ष निषध पर्वतके दक्षिणकी ओर और महाहिमवान्के उत्तरकी ओर तथा पूर्व पश्चिम लवण समुद्रके अन्तरालमें स्थित है। उस हरिवर्षके मध्यमें विकृतवान् नामका ढोल समान गोल वेदाढ्य पर्वत है। हरिकान्ता नदी आधा योजन दूरसे उसकी प्रदक्षिणा करती हुई पश्चिम समुद्रकी ओर चली जाती है और हरित् नदी इस वेदाढ्यकी प्रदक्षिणा कर पूर्वकी ओर बह रही है। विदेहके योगसे देशमें भी विदेह यह नामनिर्देश कर दिया जाता है। अर्थात्—वहां सर्वदा मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति बनी रहनेसे अनेक मनुष्य कर्मबन्धका उच्छेद कर देहरहित होजाते हैं। मुनिवर इस स्थूल देह और सूक्ष्म देहका उच्छेद करनेके लिये प्रयत्न कर रहे विदेहपनको प्राप्त होजाते हैं। अतः मुनियोंमें रहनेवाला विदेहत्व धर्म तदधिकरण क्षेत्रमें भी उपचरित होरहा है, जैसे कि यष्टित्व धर्मको यष्टिवान् देवदत्तमें धर दिया जाता है। दक्षिणमें निषध और उत्तरमें नीलवान् पर्वत और पूर्व, पश्चिम, लवण समुद्रके अन्तरालमें उस विदेह क्षेत्रका सन्निवेश है। वह विदेहक्षेत्र पूर्व विदेह, उत्तर विदेह, देवकुरु, उत्तर कुरु, इस प्रकार भेदसे चार प्रकारका है। सुदर्शन मेरुसे पूर्व दिशामें बाईस हजार योजन चौडे भद्रसाल वनका उलंघन कर सीता नदीके दक्षिण उत्तरमें आठ आठ विदेह हैं। इसी प्रकार सुदर्शन मेरुसे पश्चिम दिशाकी ओर सीतोदा नदीके दोनों ओर आठ आठ विदेह हैं। यों एक मेरुसम्बन्धी बत्तीस विदेहोंकी रचना है, तथा रमणीय देशों, नदी, पर्वत, वन, आदि करके युक्त होरहा होनेसे पांचवे देशका रम्यक यह नाम निर्देश है। नील पर्वतसे उत्तर और रुक्मी पर्वतसे दक्षिण तथा पूर्वापर समुद्रोंके अन्तरालमें उस रम्यक देशकी रचना होरही है। उस रम्यकके मध्यमें गन्धवान् नामका वृत्तवेदाढ्य पर्वत है जिसकी प्रदक्षिणा

कर नारी, नरकान्ता, नदियां पूर्व, पश्चिम, समुद्रकी ओर बह जाती हैं। दूसरे रुक्मी नामको धारनेवाले हिरण्यवान् पर्वतसे जो अदूर होरहा है, इस कारण उस छठे क्षेत्रका नामनिर्देश हैरण्यवत है। रुक्मीसे उत्तर और शिखरी पर्वतसे दक्षिण तथा पूर्व, पश्चिम, समुद्रोंके मध्यमें उसका विस्तार (चौडाई लम्बाई) समझ लेना चाहिये। उस हैरण्यवतके मध्यमें माल्यवान् नामका वृत्त वेदाढ्य शैल है। जिसके कुछ भागोंकी प्रदक्षिणा देकर सुवर्णकूला, रुप्यकूला, नदियां पूर्व और पश्चिम समुद्रकी ओर बही जा रहीं हैं। भरतके समान ऐरावत नामक चक्रवर्तीके सम्बन्धसे सातवें क्षेत्रका नाम ऐरावत है। शिखरी पर्वतसे उत्तर और तीनों ओर समुद्रोंके मध्यमें उसकी रचना बन रही है। उस ऐरावतके मध्यमें भी पहिले भरतक्षेत्रके विजयार्ध समान एक पूर्व, पश्चिम लंबा विजयार्ध पर्वत पडा हुआ है।

किमर्थं पुनर्भरतादीनि क्षेत्राणि सप्तोक्तानीत्याह।

महाराज फिर यह बताओ कि अतिरिक्त सूत्र द्वारा ये भरत आदिक सातक्षेत्र भला किस लिये कहे गये हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधानकारक वार्तिकको कहते हैं।

क्षेत्राणि भरतादीनि सप्त तत्रापरेण तु।
सूत्रेणोक्तानि तत्संख्यां हंतुं तीर्थ(र्थि)ककल्पिताम् ॥ १ ॥

पौराणिक या अन्य दार्शनिक पण्डितों द्वारा कल्पना की गयी उन क्षेत्रोंकी संख्याका घात करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराजने इस न्यारे सूत्र करके तो उस जम्बूद्वीपमें भरत आदि सात क्षेत्र निश्चित रूपसे कह दिये हैं।

कुतः पुनस्तीर्थिककल्पिता क्षेत्रसंख्यानेन प्रतिहन्यते वचनस्याविशेषात् स्याद्वादाश्रयत्वादेतद्वचनस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः संवादकत्वात्सर्वथा बाधवैधुर्यात्सर्वथैकांतवादिवचनस्य तेन प्रतिघातसिद्धेरिति निरूपितप्रायं।

यहां कोई कटाक्ष करता है कि अन्य मतावलम्बियों द्वारा कल्पित कर ली गयी क्षेत्रोंकी संख्या भला इस सूत्र करके कैसे प्रतिघातको प्राप्त हो जाती है ? जब कि उनके वचनसे और तुम्हारे वचनका कोई अन्तर नहीं दीख रहा है। उनके वचनोंमें विष और तुम्हारे वचनोंमें अमृत नहीं भरा है। शास्त्र या पत्र भी समान हैं। ऐसी दशामें दोनों ही वचन प्रमाण या दोनों ही समान रूपसे अप्रमाण ठहर जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि स्याद्वादसिद्धान्तका आश्रय होनेसे इस श्री उमास्वामी महाराजके वचनको प्रमाणपना उचित हो रहा है। यह सूत्रकारका वचन सम्वादक भी है और सभी प्रकारकी बाधाओंसे रहित भी है। अर्थात्—बाधवैधुर्य होनेसे वचनको सम्वादकपना है और सम्वादक होनेसे स्याद्वादसिद्धान्तका अवलम्ब लेकर कहे हुये वचनोंको प्रामाण्य बन रहा है। इस कारण उस बाधविधुर, सम्वादक, प्रमाणभूत और स्याद्वादावलम्बी सूत्र करके सर्वथा एकान्तवादियोंके

वचनका प्रतिघात होना सिद्ध हो जाता है। इस बातका हम बहुत बार स्थान स्थानोंपर निरूपण कर चुके हैं। अनेकान्त वादियोंके प्रमाण कुठारोंकरके सर्वथा एकान्तवादियोंकी बुद्धि शाखायें खण्ड खण्ड होकर नष्ट, भ्रष्ट, कर दी जाती हैं।

जिन पर्वतों करके विभागको प्राप्त किये गये ये सात क्षेत्र कहे जा चुके हैं, यह तो बताओ वे पर्वत कौन और किस ढंगसे व्यवस्थित हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर अग्रिम सूत्र कहा जाता है।

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनील-रुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥ ११ ॥

उन क्षेत्रोंका विभाग करनेवाली टेवको धार रहे और पूर्व पश्चिमकी ओर लम्बे हो रहे १ हिमवान् २ महाहिमवान् ३ निषध ४ नील ५ रुक्मी और ६ शिखरी ये छह वर्षधर पर्वत हैं। अर्थात्—क्षेत्र परस्पर मिल नहीं सकें इस ढंगसे उन क्षेत्रोंका विभाग कर देनेवाले होनेसे पर्वतोंको वर्षधर कह दिया गया है। अनेक प्रान्तोंमें भूमिके नीचे ऊपर पर्वत फैल रहे हैं। जहां पर्वत अधिक होते हैं वहां भूकम्प न्यून होता है। ज्वालामुखी पर्वत भले ही उष्णताके वेग होनेसे ही प्रान्तभूमिको कंपा देवें, किन्तु शेष पर्वत तो भूडोलको रोकते रहते हैं। हड्डियां शरीरको धारे रहती हैं। शरीर हड्डिओंको नहीं धारता है। भैंस या हाथीकी पीठके हड्डेपर सम्पूर्ण शरीर लटक रहा है। यही दशा बैल, मनुष्य, घोडा, छिरिया, आदिकी समझ लेनी चाहिये। अतः यों चल, विचल, कम्प, नहीं होने देनेकी अपेक्षा पृथ्वीको धारे रहना कार्य करनेसे भी पर्वतोंकी वर्षधर संज्ञा अन्वर्थ कही जा सकती है।

हिमाभिसंबंधतो हिमवद्व्यपदेशः भरतहैमवतयोः सीमनि स्थितः, महाहिमवानिति चोक्तं हैमवतहरिवर्षयोर्भागकरः, निषीदंति तस्मिन्निति निषधो हरिविदेहयोर्मर्यादाहेतुः, नीलवर्णयोगान्नीलव्यपदेशः विदेहरम्यकविनिवेशविभाजी, रुक्मसद्भावतो रुक्मीत्यभिधानं रम्यकहैरण्यवतविवेककरः, शिखरसद्भावाच्छिखरीति संज्ञा हैरण्यवतैरावतसेतुबंधः शिखरी।

हिम (बर्फ) का चारों ओर सम्बन्ध होनेसे पहिले पर्वतका " हिमवान् " यह नाम निर्देश हो रहा है। अन्य पर्वतोंमें या इस भरत क्षेत्र सम्बन्धी आर्य खण्डके हिमालय पर्वतमें भी हिमका घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः रूढि पक्षका अवलम्ब लेना ही सन्तोषाधायक है। यह हिमवान् पर्वत तो भरत क्षेत्र और हैमवत क्षेत्रकी सीमामें व्यवस्थित हो रहा है। तथा महाहिमवान्के सम्बन्धमें हम यों कह चुके हैं कि हिमके सम्बन्धसे हिमवान कहा जाता है, महान् जो हिमवान् वह महाहिमवान् है। भले ही हिम नहीं होय तो भी रामकी गुडियाके समान नाम रख देनेमें कौनसी भारी क्षति हुई जाती है। हैमवत क्षेत्र और हरिवर्षका विभाग कर रहा यह महाहिमवान् पर्वत विन्यस्त है। देव और देवियां जिसमें क्रीडा करनेके लिये विराजते हैं, इस कारण पर्वतका नाम निषध है, जो कि

रूढि होरही हरि और विदेह क्षेत्रकी मर्यादाका हेतु है। नील वर्णका सम्बन्ध होनेसे पर्वत नील कहा जाता है, जो कि विदेहके उत्तर और रम्यकके दक्षिण भागमें विनिवेशको प्राप्त होरहा विदेह और रम्यक क्षेत्रका विभाजक है। रुक्म यानी सुवर्णका सद्भाव होनेसे पांचवें पर्वतका रुक्मी ऐसा नाम पड गया है जो कि रम्यक और हैरण्यवत क्षेत्रके पृथग्भावको कर रहा है। शिखर यानी कूटोंके सद्भावसे छट्ठे पर्वतकी शिखरी यह संज्ञा है। जो कि हैरण्यवत और ऐरावत क्षेत्रका मानो पुल ही बंधा हुआ है, ऐसा शिखरी पर्वत शोभ रहा है। इन सम्पूर्ण पर्वतोंके नाममें यौगिक अर्थ गौण है, रूढि अर्थकी प्रधानता है।

हिमवदादीनामितरेतरयोगे द्वंद्वो अवयवप्रधानत्वात्, वर्षधरपर्वता इति वचनमवर्षधराणां वर्षधराणां पर्वतानामपर्वतानां च निरासार्थं। तद्विभाजिन इति वचनात् भरतादिवर्षविभाग-हेतुत्वासिद्धिः, पूर्वापरायता इति विशेषणादन्यथायतत्वमनायतत्वं च व्युदस्तम्।

हिमवान्, महाहिमवान् आदि शब्दोंका इतरेतर योग होनेपर द्वंद्व समास होजाता है। क्योंकि "सर्वपदार्थप्रधानो द्वंद्वः" द्वंद्व समासके सम्पूर्ण घटकावयव पद प्रधान हुआ करते हैं। इस सूत्रमें "वर्षधर-पर्वताः" यह निरूपण करना तो अवर्षधर पर्वत और वर्षधर अपर्वतोंका निराकरण करनेके लिये है। अर्थात्—व्यभिचार निवृत्ति करनेवाले विशेषणोंको सार्थक समझा जाता है। "नीलोत्पलं" यहां नील कमलमें नील शब्द तो अनील उत्पलों यानी लाल, श्वेत कमलोंकी व्यावृत्ति कर रहा है और उत्पल शब्द तो नील होरहे अनुत्पलों जामुन, भौंरा आदिकी निवृत्ति करनेको चिल्ला रहा है। इसी प्रकार जंबू-द्वीपमें कई पर्वत, यमकगिरी, शब्दवान्, विकृतवान्, गन्धवान्, माल्यवान्, गन्धमादनगजदंत, सौमनसगजदंत, सुदर्शन मेरु ये पर्वत होते हुये भी क्षेत्रोंके विभाजक नहीं होनेके कारण वर्षधर नहीं हैं। अतः अवर्षधर पर्वतोंका व्यवच्छेद करनेके लिये हिमवान्, महाहिमवान् आदिमें वर्षधर पर्वतपनेका विधान सार्थक है, तथा इसी जंबूद्वीपमें भरत आदि क्षेत्रोंके उत्तर, दक्षिण, भागोंका विभाग जैसे इन हिमवान आदि पर्वतोंने किया है, उसी प्रकार उक्त क्षेत्रोंके पूर्वापर विभागको करनेवाले पूर्वापर लवण समुद्र भी तो हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्रोंका तो तीनों ओरसे समुद्रने विभाग कर रक्खा है। विदेह क्षेत्रमें बडे भद्रसाल वनके साथ देवकुरु, उत्तरकुरुका विभाग गजदंत पर्वतोंने कर रक्खा है। इसी भरतमें दक्षिणभरत या उत्तरभरतके विभाजक विजयार्ध और षट्खण्डोंका विभाग करनेवाली गंगा सिन्धु नदियां भी हैं। जम्बूद्वीपके बत्तीस विदेहोंमें वत्सा, सुवत्सा, आदि एक एक जनपद ही भरत और ऐरावत क्षेत्रोंसे कई गुना बडा है, जिनको कि वक्षार पर्वत या विभंगा नदियोंने न्यारा २ विभक्त बना रक्खा है। इस युक्ति द्वारा पर्वत भिन्न समुद्र आदि भी वर्षधर माने जा सकते हैं। अतः वर्षधर पर्वत कह देनेसे हिमवान् आदिमें वर्षधर अपर्वतपनेका निराकरण हो जाता है। इस सूत्रमें "तद्विभाजिनः" यों कथन कर देनेसे हिमवान् आदि पर्वतोंको भरत आदि क्षेत्रोंके विभागका हेतुपना सिद्ध हो जाता है तथा "पूर्वापरायता" पूर्व, पश्चिम, लम्बे इस विशेषणसे दूसरे ढंगका लम्बाईपन और लम्बाई रहितपनका व्युदास कर दिया गया है। अर्थात्—ये पर्वत पूर्व

पश्चिमकी ओर लम्बे पडे हुये हैं, दक्षिण उत्तर या त्रिदिशाओंकी ओर लम्बे नहीं हैं। तथा ये पर्वत लम्बे नहीं होकर गोल चौकोर, तिकोने, आकारवाले होय, इस सम्भावनका भी आयतपदसे प्रत्याख्यान हो जाता है। अतः ये विशेषण उन पर्वतोंकी तादृश सिद्धि करनेमे सद्धेतु बना लिये जांय या उन लक्ष्यभूत पर्वतोंके निर्दोष लक्षण भी बना लिये जांय तो कोई क्षति नहीं होगी। इस बातका हम जैन न्यायसिद्धान्त अनुसार ढिंढोरा पीटनेके लिये संनद्ध हैं।

किं परिणामास्ते इत्याह।

ये पर्वत किस धातुके बने हुये परिणाम यानी विवर्त हैं? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको बोलते हैं।

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥ १२ ॥

ये हिमवान्, महाहिमवान्, आदि पर्वत यथाक्रमसे हेममय, अर्जुनमय, तपनीयमय, वैडूर्यमय, रजतमय, हेममय हैं। विकार या प्राचुर्य अर्थमें मयट् प्रत्यय किया है। इन पर्वतोंके वर्ण विशेष भी उन उन धातुओंके रंगके समान हैं। अवयव या विकार अर्थमें मयट् प्रत्यय हो जाता है।

हेममयो हिमवान्, अर्जुनमयो महाहिमवान्, तपनीयमयो निषधः, वैडूर्यमयो नीलः, रजतमयो रुक्मी, हेममयः शिखरीति। हेमादिपरिणामा हिमवदादयः तथानादिसिद्धत्वादन्यथोपदेशस्य परमागमप्रतिहतत्वात्।

चीन देशीय कौशेयके समान वर्णको धारनेवाला हेममय हिमवान् पर्वत है। अर्जुन जातिके सुवर्ण समान रंगको धारनेवाला महाहिमवान् पर्वत शुक्लवर्णका अर्जुनमय है, तपनीय जातिके सुवर्णकी प्रचुरताको धारनेवाला निषध है, जो कि मध्याह्नकालके सूर्यकी प्रभा समान आभाको धारता है, मयूरग्रीवाके वर्ण समान वैडूर्यमणिमय नीला नीलपर्वत है, चांदीका विकार हो रहा शुक्ल रुक्मी पर्वत है और हिमवान्के समान हेममय थोडा पीला चीनाई रेशमके समान कान्तिको धारनेवाला हिममय शिखरी पर्वत है। अर्थात्—वर्तमानमें सुवर्ण स्थूलतासे एक प्रकारका प्राप्त हो रहा है। किन्तु सुवर्ण धातु कई रंग और अनेक प्रकारके गुणोंको धारनेवाली कई जातिकी मानी गयी है। सहस्रनाममें भगवान्के शरीर कान्तिकी परनिमित्त या स्वयं भिन्नताओंको धारनेवाली मानकर कई जातिके सुवर्णोसे उपमा दी गयी है। " भर्माभः, सुप्रभः, कनकप्रभः, सुवर्णवर्णो, रुक्माभः, सूर्यकोटिसमप्रभः, तपनीयनिभस्तुंगो बालार्काभोऽनलप्रभः, संध्याभ्रबभ्रुर्हेमाभस्तप्तचामीकरच्छविः, निष्टप्तकनकच्छायः कनत्काञ्चनसंनिभः, हिरण्यवर्णः स्वर्णाभः, शातकुम्भनिभप्रभः, द्युम्नभा जातरूपाभो दीप्तजाम्बूनदद्युतिः, सुधौतकलधौतश्रीः प्रदीप्तो हाटकद्युतिः " इन स्तुतियोंके श्लोकों द्वारा प्रतीत हो जाता है कि सुवर्ण कई रंग और अनेक कान्तियोंसे युक्त है। भले ही अमरकोषमें " स्वर्णं सुवर्णं

कनकं हिरण्यं हेम हाटकम्, तपनीयं शातकुम्भं गाङ्गेयं भर्मकर्बुरम्, । चामीकरं जातरूपं महारजतकाञ्चने, रुक्मकार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम् " ये उन्नीस पर्यायवाची नाम सोनेके गिनाये हैं। फिर भी " जेत्तियमित्ता सद्दा तेत्तियमित्ता हु होंति परमत्था " इस नियम अथवा एवम्भूत नयकी अपेक्षासे सुवर्णका नानापना अनिवार्य है। यद्यपि आजकल भी प्रातः, मध्यान्ह, सायंकाल, रात्रिके समय एक ही प्रकारके सुवर्णको देखनेपर परनिमित्तोंसे नाना कान्तियां प्रतीत हो जाती हैं। करकेंटाके रंग समान सोना स्वयं भी कान्तियोंको बदलता रहता है। तथापि देखे जा रहे कई जातिकी चांदियां अनेक प्रकारके सुवर्ण नाना ढंगके हीरकमणियोंका प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता है। शुक्र विमान, सूर्यमण्डल, बृहस्पति, बुधग्रह, या अन्य ताराओंमें मणियोंकी अनेक जातियां प्रत्यक्ष गोचर हैं। अतः इस विषयमें अधिक विस्तार करना व्यर्थ है। ये हिमवान्, महाहिमवान् आदिक पर्वत सुवर्ण आदिके बन रहे परिणाम हैं। क्योंकि तिस प्रकारके ही ये अनादि कालके स्वयं सिद्ध हो रहे हैं। यदि अन्य प्रकारोंसे इनका उपदेश किया जायगा जैसा कि भास्कराचार्य या अन्य पौराणिक विद्वानोंने स्वीकृत किया है, उस मिथ्योपदेशका इस परमागम करके प्रतिघात कर दिया जाता है। अतः सूत्रोक्त व्यवस्थाको निर्दोष समझ लीजियेगा।

पुनरपि किं विशिष्टास्त इत्याह ।

फिर भी वे पर्वत किन मनोहर पदार्थोंसे विशिष्ट हो रहे हैं, ऐसी प्रतिपित्सा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

मणिविचित्रपार्श्वाः ॥ १३ ॥

प्रभाव, कान्ति, शक्ति, आदि अनेक गुणोंसे युक्त होरहीं मणियों करके विचित्र होरहे पार्श्वभागोंको धारनेवाले वे पर्वत हैं।

मणिभिर्विचित्राणि पार्श्वाणि येषां ते तथा । अनेन तेषामनादिपरिणाममणिविचित्रपार्श्वत्वं प्रतिपादितं ।

जिन पर्वतोंके पसवाडे भला मणियों करके चित्र, विचित्र, हो रहे वे पर्वत तिस प्रकार " मणिविचित्रपार्श्वाः " कहे जाते हैं। इस विशेषण द्वारा उन पर्वतोंका अनादि कालसे परिणाम होरहा यह मणियों करके विचित्र पसवाडोंसे सहितपना कह दिया गया समझ लिया जाता है।

तद्विस्तरविशेषप्रतिपादनार्थमाह ।

उन पर्वतोंके विशेष रूपसे विस्तारको प्रतिपादन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्रको कहते हैं।

उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥ १४ ॥

वे हिमवान् आदिक पर्वत ऊपर भाग और मूल भागमें समान चौडाईको लिये हुये हैं। अर्थात्—भींतके समान ऊपर नीचे बीचमें उनकी चौडाई एकसी है।

च शद्वान्मध्ये च, तथा चानिष्टविस्तारसंस्थाननिवृत्तिः प्रतीयते।

सूत्रमें पडे हुये च शद्वसे मध्यमें भी उनका समान विस्तार समझ लेना चाहिये, और तिस प्रकार ऊपर, नीचे, बीच, में तुल्यविस्तारका कथन करनेसे अनिष्ट विस्तारवाले संस्थानोंकी निवृत्ति प्रतीत होजाती है। अर्थात्—सुमेरुके समान नीचेसे ऊपरकी ओर घटते घटते रहना या विजयार्धके समान कटनियोंका होना अथवा मानुषोत्तर पर्वतके समान एक ओर भींतका आकार और दूसरी ओर ढला हुआ आकार इत्यादि संस्थान इन कुलाचलोंका नहीं है। ये तो पक्की भींतके समान ऊपर नीचे बीचमें तुल्यविस्तारवाले हैं।

तदेवं सूत्रचतुष्टयेन पर्वताः प्रोक्ता इत्युपसंहरति।

तिस कारण इस प्रकार उक्त चारों सूत्रों करके कुलाचल पर्वतोंका वर्णन सूत्रकारने अच्छा कह दिया है। इस बातका श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा उपसंहार करते हैं। अर्थात्— " मणिविचित्रपार्श्वाः " और " उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः " ये दो सूत्र हैं। एक नहीं, दो इनके पूर्वमें हैं यों चार सूत्र हुये।

पूर्वापरायतास्तत्र पर्वतास्तद्विभाजिनः।
षट्प्रधानाः परेणैते प्रोक्ता हिमवदादयः ॥ १ ॥

उस जम्बूद्वीपमें उन क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले पूर्व, पश्चिम, लम्बे पडे हुये ये हिमवान् आदिक छह प्रधान पर्वत सूत्रकार द्वारा न्यारे सूत्रों करके अच्छे कहे जा चुके हैं।

सूत्रेणेति पूर्वश्लोकादनुवृत्तिः परेणेति सूत्रविशेषणं तेन क्षेत्राभिधायिसूत्रात्परेण सूत्रेण हिमवदादयः षट्प्रधानाः पर्वताः प्रोक्ताः इति संबंधः कर्तव्यः। पूर्वपरायतास्तद्विभाजिन इति विशेषणद्वयवचनं हेमादिमयत्वमणिविचित्रपार्श्वत्वोपरि मूले च तुल्यविस्तारत्वविशेषणानामुपलक्षणार्थं। हेमादिमयाः मणिभिर्विचित्रपार्श्वाः तथोपरि मूले च तुल्यविस्ताराः प्रोक्ताः सूत्रत्रयेण।

इस वार्तिकसे पहिली " क्षेत्राणि भरतादीनि सप्त तत्रापरेण तु। सूत्रेणोक्तानि तत्संख्यां हंति तीर्थिककल्पिताम् " उक्त वार्तिक श्लोकसे सूत्रेण इस पदकी अनुवृत्ति कर लेनी चाहिये। इस वार्तिकमें पडा हुआ " परेण " यह शद्व उस सूत्रका विशेषण हो जाता है। तिस कारण क्षेत्रोंका कथन करनेवाले " भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि " इस सूत्रसे परली ओरके

" तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः " इस सूत्र करके सूत्रकार द्वारा हिमवान् आदिक छह प्रधान पर्वत बहुत अच्छे कहे जा चुके हैं । यों वार्तिकके पदोंका सम्बन्ध कर संगत अर्थ कर लेना चाहिये । पर्वतोंके प्रतिपादक पहिले सूत्रमें जो पूर्व, पश्चिम, लम्बे और उन क्षेत्रोंका विभाग कर रहे यों पर्वतोंके इन दो विशेषणोंका कथन तो अगले तीन सूत्रोंमें कहे गये हेम, अर्जुन, आदिका विकारपना और मणियोंसे विचित्र पसवाडोंका धारना तथा ऊपर या जडमें समान विस्तार सहितपना इन तीन विशेषणोंका उपलक्षण करनेके लिये है, जो कि पर्वत श्री उमास्वामी महाराजने उत्तरवर्ती तीन सूत्रों करके हेम आदिके परिणाम और मणियोंसे विचित्र पसवाडेवाले तथा ऊपर, नीचे, बीचमें, तुल्य विस्तारवाले यों भले प्रकार तीन सूत्रों द्वारा कहे जा चुके हैं । अर्थात्—लक्ष्यलक्षण भावकी अपेक्षा भविष्यके तीन सूत्रोंमें कहे गये प्रमेयका पहिले सूत्रमें ही आकर्षण कर " तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः " इस पहिले सूत्रको ही छह कुलाचलोंका निर्दोष सर्वाङ्गीण लक्षण समझ लेना चाहिये । यही चारों सूत्रोंकी एकवाक्यता हो जानेपर निष्कर्ष निकलता है ।

तेषां हिमवदादीनामुपरि पद्मादिह्रदसद्भावनिवेदनार्थमाह ।

उन हिमवान् आदि पर्वतोंके ऊपर पद्म आदि सरोवरोंके सद्भावका निवेदन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

पद्ममहापद्मतिगिंछकेसरिमहापुंडरीकपुंडरीका-ह्रदास्तेषामुपरि ॥ १५ ॥

उन हिमवान्, महाहिमवान्, आदि छह पर्वतोंके ऊपर ठीक बीचमें यथाक्रमसे पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केसरी, महापुण्डरीक, पुण्डरीक, इन नामोंको धारनेवाले सरोवर हैं ।

हिमवत उपरि पद्मो ह्रदः, महाहिमवतो महापद्मः, निषधस्य तिगिंछः, नीलस्य केसरी, रुक्मिणः महापुंडरीकः, शिखरिणः पुंडरीक इति, संबंधो यथाक्रमं वेदितव्यः । पद्मादिजलकुसुमविशेषसहचरितत्वात् पद्मादयो ह्रदा व्यपदिश्यंते, तथा रूढिसद्भावाद्वा हिमवदादिव्यपदेशवत् ।

हिमवान् पर्वतके ऊपर पद्मनामका ह्रद है । महाहिमवान् पर्वतके ऊपर ठीक बीचमें महापद्म संज्ञक सरोवर है । निषध पर्वतके ऊपर तिगिंछ नामवाला पद्माकर है । नील पर्वतके ऊपर केसरी अभिधावाला अगाध जल भरा हुआ तडाग है । रुक्मी पर्वतपर महापुण्डरीक इस नामका धारी ह्रद है तथा शिखरी पर्वतके ऊपर पुण्डरीक संज्ञावान् आयतचतुरस्र सरोवर है । इस प्रकार छह पर्वतोंके ऊपर यथाक्रमसे छह ह्रदोंका सम्बन्ध हो रहा समझ लेना चाहिये । उन ह्रदोंमें विराज रहे और पद्म, महापद्म,

आदि नामोंको धारनेवाले विशेष कमलोंके सहचरितपनेसे हृदोंका भी पद्म, महापद्म, आदि नामों करके निर्देश कर दिया जाता है। अथवा सिद्धान्त उपाय यही है कि जैसे हिमकी या महाहिमकी प्रधानता नहीं कर अनादि कालीन रूढिके सद्भावसे पर्वतोंका हिमवान्, महाहिमवान्, आदि व्यपदेश है, उसी प्रकार अनादि, अनन्त, रूढिके सद्भावसे इन हृदोंका नाम भी पद्म, महापद्म, आदि रूप करके अनादि निधन प्रवर्त रहा है।

पद्मादयो हृदास्तेषामुपरि प्रतिपादिताः ।
सूत्रेणैकेन विज्ञेया यथागममसंशयम् ॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराजने इस एक सूत्र करके उन पर्वतोंके ऊपर पद्म आदि हृदोंका शिष्योंकी व्युत्पत्तिके लिये प्रशस्त प्रतिपादन कर दिया है। विशेष वर्णना युक्त उन पर्वतोंको आगम अनुसार संशयरहित होते हुये समझ लेना चाहिये। अर्थात्—वे पर्वत पूर्व पश्चिम लम्बे हैं, उत्तर दक्षिण चौडे हैं नाना मणि, सुवर्ण, रजत धातुओंसे उनके तट चितेरे गये हैं। उनमें निर्मल स्वच्छ अक्षय जल भरा हुआ है उनके चारों ओर वनखण्ड शोभ रहे हैं ? जलप्रवाह तोरण आदि कहां कैसे व्यवस्थित हैं ? इन सब बातोंको जिनोक्त आगम अनुसार हृदयंगत कर लेना चाहिये।

तत्र प्रथमो हृदः किमायामविष्कंभ इत्याह ।

उन छह हृदोंमें पहिला हृद कितनी लम्बाई और चौडाईको धार रहा है ? यों जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्रको कहते हैं।

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्धविष्कंभो हृदः ॥ १५ ॥

उन छह हृदोंमें पहिला पद्म नामका हृद तो बडे योजनोंसे एक सहस्र योजन लम्बा और उससे आधा यानी पांचसौ योजन चौडा है।

सूत्रपाठापेक्षया प्रथमः पद्मो हृदः योजनसहस्रायाम इति वचनादन्यथा तद्दैर्घ्यव्यवच्छेदः, तदर्धविष्कंभ इति वचनात् पंचयोजनशतविष्कंभत्वप्रतिपत्तिरन्यथा तद्विस्तारनिरासः प्रतिपत्तव्यः।

हृदोंके प्रतिपादक पूर्व सूत्रमें कहे अनुसार पाठकी अपेक्षा करके पहिला गिना गया दक्षिण ओरका पद्म नामका हृद तो सहस्रयोजन लम्बा है, यों कथन कर देनेसे अन्य प्रकारों करके गढ ली गयी उसकी दीर्घताका व्यवच्छेद हो जाता है। अर्थात्—पद्म हृद हजार योजनसे न्यून या अधिक लम्बा नहीं है और यह लम्बाई पूर्व पश्चिम है, दक्षिण, उत्तर, की ओर नहीं है। हृदके दूसरे विशेषण उससे आधा चौडा यों कथन कर देनेसे पांचसौ योजन चौडाईकी प्रतिपत्ति हो जाती है। अतः अन्य प्रकारोंसे कल्पित किये गये उसके विस्तारका निराकरण समझ लेना चाहिये।

किमवगाहोसावित्याह ।

वह पहिला ह्रद कितने अवगाह (गहराई) को धारता है ? ऐसी बुभुत्सा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज सूत्रको कहते हैं ।

दशयोजनावगाहः ॥ १७ ॥

यह पहिला ह्रद दश योजन अवगाहको धार रहा है ।

पृथग्योगकरणं सर्वह्रदासाधारणावगाहप्रतिपत्त्यर्थं ।

पहिले पद्म ह्रदकी लम्बाई, चौडाईका सूचन करनेवाले पूर्व सूत्रसे इस सूत्रका पृथक् योग करना तो सम्पूर्ण ह्रदोंके न्यारे न्यारे असाधारण अवगाहोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये है ।

संख्ययायामविष्कंभावगाहगतया ह्रदः ।
सूत्रद्वयेन निर्दिष्टः प्रथमः सर्ववेदिभिः ॥ १ ॥

सर्व पदार्थोंको जाननेवाले सर्वज्ञोपम श्री उमास्वामी महाराज श्रुतज्ञानीने उक्त दोनों सूत्रोंद्वारा सहस्र, पांचसौ और दश योजनवाली संख्याके साथ लम्बाई, चौडाई, और गहराईको प्राप्त हो रहेपन करके पहिले ह्रदका निरूपण कर दिया है ।

सामर्थ्यादेकेन सूत्रेण हिमवदादीनामुपरि षट्पद्मादयो ह्रदा निर्दिष्टा इति गम्यते, तत्पाठापेक्षया पद्मस्य ह्रदस्य प्रथमत्ववचनात् ।

उक्त दो सूत्रोंमें कहे गये प्रमेयके वर्णनकी सामर्थ्यसे ही " पद्म, महापद्म, तिगिंछ, आदि " एक सूत्र करके हिमवान् आदि पर्वतोंके ऊपर छह पद्म आदि ह्रद कहे जा चुके हैं यों वार्तिकमें कहे विना ही समझ लिया जाता है । क्योंकि उसी पंद्रहवें सूत्रके पाठकी अपेक्षासे ही तो सोलहवें, सत्रहवें, सूत्र द्वारा बखाने गये पद्म ह्रदको प्रथमपनका वचन कहा गया है ।

अथ तन्मध्ये विशिष्ट परिणामं पुष्करं प्रतिपादयति ।

अब इसके अनन्तर उन ह्रदोंके मध्यमें अनेक विशेषणोंसे युक्त होरहे परिणामको धारनेवाले पुष्कर जातिके पार्थिव कमलका श्री उमास्वामी महाराज प्रतिपादन करते हैं ।

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १८ ॥

उस पहिले पद्म ह्रदके मध्यमें एक योजन लंबा, चौडा, वर्तुलाकार कमल है ।

द्विक्रोशकर्णिकत्वादेकक्रोशबहलपत्रत्वाच्च योजनपरिमाणं योजनं पुष्करं जलकुसुमं तथानादिपरिणामाद्वेदितव्यम् । क्व तत् ? तस्य पद्मह्रदस्य मध्ये ।

कमलके बीचका कोष तो दो कोस लंबा, चौडा, गोल है, जो कि कर्णिका कही जाती है और इधर उधर चारों ओर एक एक कोस लंबे कई कमलपत्र हैं। इस कारण वह जलका फूल कमल तिस प्रकार अनादि कालीन पृथ्वी परिणामसे रचा हुआ बडे योजनसे एक योजन लम्बे चौडे परिमाणको धार रहा एक योजनका समझ लेना चाहिये। वह कमल कहां है ? इस आकांक्षाको शान्त करनेके लिये सूत्रकारने " तन्मध्ये " कहा है। अर्थात्--उस पद्महृदके ठीक बीचमें जल तलसे दो कोस उठे हुये नालवाला, वज्रमणिमय जडका धारी, रजतमणिनिर्मित मृणालका धारक, और वैडूर्यमणिके दृढ नालको धार रहा वह पार्थिव कमल है, वनस्पतिकायका नहीं है। वनस्पतिकाय जीवकी उत्कृष्ट स्थिति केवल दश हजार वर्ष है। किन्तु यह कमल अनादिसे अनन्त कालतक सदृशपरिणामोंको धार रहा सुव्यवस्थित है। भले ही सूक्ष्म परिणतिओंके अनुसार अनन्त परमाणुयें उसमें आते, जाते रहें या पृथिवीकायिक जीव उपजते, मरते, रहें। किन्तु स्थूलपर्याय सदा एकसी बनी रहती है।

शेषहृदपुष्करपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह ।

पहिले पद्म हृदसे अतिरिक्त बचे हुये पांच हृदोंमें स्थित हो रहे कमलोंकी लम्बाई चौडाई, गहराई के परिमाणों या परिमाणोंको प्रतिपादन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥ १९ ॥

उस पद्म हृदसे दुगुनी दुगुनी, लम्बाई, चौडाई, और गहराईको धारनेवाले उत्तरवर्ती हृद और कमल हैं। उत्तर तथा दक्षिण, के हृद और कमलोंका परिमाण समान है। पद्म सरोवरसे महापद्मका क्षेत्रफल अठ गुना और पद्मसे तिगञ्छ हृदका क्षेत्रफल चौसठ गुना बडा है।

ततः पद्महृदात् पुंडरीकहृदाच्च द्विगुणद्विगुणा हृदा महापद्ममहापुण्डरीकादयः, योजनपरिमाणाच्च पुष्कराद्दक्षिणादुत्तरस्माच्च द्विगुणद्विगुणानि पुष्कराणि विष्कंभायामानीति वीप्सानिर्देशात् संप्रतीयंते " उत्तरा दक्षिणतुल्याः " इति वक्ष्यमाणसूत्रसंबंधत्वात्। तत्संबंधः पुनर्बहुवचनसामर्थ्यादन्यथा द्विवचनप्रसंगात् तद्द्विगुणौ द्विगुणाविति। तदेवं—

उस पहिले पद्महृदसे उत्तरकी ओर और छठे पुण्डरीक हृदसे दक्षिणकी ओरके महापद्म, महापुण्डरीक, आदिक हृद द्विगुनी द्विगुनी लम्बाई, चौडाई, और गहराईको धारनेवाले हैं तथा दक्षिण दिशावर्ती पहिले और उत्तरदिशावर्ती अन्तके एक योजन परिमाणवाले कमलसे द्विगुने द्विगुने चौडाई, लम्बाई, परिमाणवाले परले, उरले, कमल हैं। इस बातकी " द्विगुणद्विगुणा " इस वीप्साके निर्देश कर देनेसे भले प्रकार प्रतीति होजाती है। श्री

राजवार्तिक ग्रन्थमें अकलंक देव महाराजने अगले अगले ह्रदोंके अवगाहको भी कण्ठोक्त द्विगुना द्विगुना लिखा है। यहां भी द्विगुनी गहराईका निषेध नहीं है, जब कि जम्बूद्वीपके उत्तरवर्ती स्थानोंकी रचना दक्षिण दिशावर्ती स्थानोंके तुल्य है। इसको समझानेके लिये "उत्तरा दक्षिणतुल्याः" इस वक्ष्यमाण सूत्रका सम्बन्ध हो रहा है। इससे प्रतीत हो जाता है कि सूत्रमें फिर "द्विगुणद्विगुणाः" इस बहुवचनकी सामर्थ्यसे उन, दूनी दूनी लम्बाई, चौडाई, गहराईयोंका सम्बन्ध हो जाता है। अन्यथा "तद्द्विगुणौ द्विगुणौ" इस प्रकार अर्थकृत लाघव करते हुये सूत्रकारको "द्विगुणद्विगुणौ" इतना ही कह देनेका प्रसंग प्राप्त होगा। अर्थात्—पद्म ह्रदसे दूना महापद्म ह्रद है और महापद्मसे दूना तिगिंछ ह्रद है तथा पुण्डरीक ह्रदसे महापुण्डरीक ह्रद दूना लम्बा चौडा गहरा है और महापुण्डरीक सरोवरसे केसरी ह्रद द्विगुना है, यह केवल दो स्थानोंपर ही द्विगुनापना दिखलाया गया है। यों ही दो स्थानोंपर कमलोंका भी दूनापन निर्णीत हो रहा है। ऐसी दशामें सूत्रकारको संक्षेपसे "तद्द्विगुणद्विगुणौ कहना चाहिये था। फिर जो सूत्रकारने "तद्द्विगुणद्विगुणाः" यों बहुवचनान्तपद कहा है, इससे जाना जाता है कि दक्षिण, उत्तर, आदि अन्तके दो ह्रद या कमलोंसे मध्यवर्ती ह्रद और कमलोंकी लम्बाई चौडाई और निम्नतायें तीनों द्विगुनी द्विगुनी हैं। ह्रद या कमलोंकी संख्या दूनी दूनी नहीं है। एक एक ही बराबर है। तिस कारण इस प्रकार होनेपर जो हुआ उसे सुनो।

तन्मध्ये योजनं प्रोक्तं पुष्करं द्विगुणास्ततः।
ह्रदाश्च पुष्कराणीति सूत्रद्वितयतोंजसा ॥ १ ॥

उस ह्रदके मध्यमें एक योजनका पुष्कर और उससे द्विगुने, द्विगुने, आकारवाले ह्रद और पुष्कर हैं, इस अर्थको उक्त दोनों सूत्रोंसे श्री उमास्वामी महाराजने स्पष्ट रूपसे अञ्जसा कह दिया है।

तन्निवासिन्यो देव्यः काः किं स्थितयः परिवाराश्च श्रूयन्त इत्याह।

अब महाराजजी, यह बताओ कि उन पुष्करोंमें बने हुये महलोंमें निवास करनेवाली देवियां कौन हैं? सर्वज्ञ आम्नायसे चले आ रहे द्वादशांगके अंगभूत शास्त्रोंमें उन देवियोंकी कितनी स्थिति कही है? तथा ऋषि सम्प्रदाय द्वारा उनका परिवार कितना शास्त्रोंमें सुना जा रहा है? यों विनीत शिष्यकी शुश्रूषाको ज्ञात कर चुकनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र कहते हैं।

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ॥ २० ॥

उन कमलोंमें यथाक्रमसे निवास करनेका शील रखनेवाली १ श्री २ ह्री ३ धृति ४ कीर्ति ५ बुद्धि ६ लक्ष्मी ये छह व्यन्तर देव जातिकी देवियां वास कर रही हैं। उन सम्पूर्ण देवियोंके मुख्य-

मान आयुष्य कर्मकी स्थिति तो एक अद्धापल्योपम है। ये देवियां सामानिक जातिके देव और सभाओंमें बैठनेवाले पारिषद् जातिके देवोंसे सहित होरहीं हैं। विशेषतः श्री, ह्री, धृति, तो सौधर्म इन्द्रकी आज्ञा मानती हैं और कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, ये ईशान इन्द्रकी आज्ञानुसार प्रवर्तती हैं। पांचों मेरु संबंधी देवियोंकी यही व्यवस्था है। ये सब ब्रह्मचारिणी हैं। भगवान्की माताकी सेवामें इनका विशेष अनुराग है।

तेषु पुष्करेषु निवसनशीलास्तन्निवासिन्यः, देवगतिनामकर्मविशेषादुपजाता इति देव्यः श्रीप्रभृतयः तत्र पद्मह्रदपुष्करप्रासादेषु। शेषह्रदपुष्करप्रासादेषु ह्रीप्रभृतयो यथाक्रमं निवसंतीति यथागमं वेदितव्यं। ताः पल्योपमस्थितयस्तावदायुष्कत्वेनोत्पत्तेः। सामानिकाः परिषदश्च वक्ष्यमाणलक्षणाः सह ताभिर्वर्तंत इति ससामानिकपरिषत्काः। एतेन तासां परिवारविभूतिं कथितवान्। एतदेवाह—

जिन देवियोंकी टेव उन पुष्करोंमें निवास करनेकी है, वे देवियां तन्निवासिनी कही जातीं हैं। निवास शब्दसे शील अर्थमें तद्धितान्त इन् प्रत्यय कर दिया जाता है। नामकर्मकी उत्तर प्रकृति देवगति नामक नामकर्मके उत्तरोत्तर भेदस्वरूप विशेषकर्मसे विशेष व्यंतरोंमें उत्पन्न हुयीं हैं। इस कारण श्री, ह्री, आदिक देवियां मानी जाती हैं। पद्मह्रदके कमलमें बन रहे प्रासादोंमें श्रीदेवी निवास करती है तथा शेष ह्रदवर्ती पुष्करोंमें बने हुये प्रासादोंमें यथाक्रमसे ह्री, धृति आदि देवियां निवास करतीं हैं। यों आगम मर्यादाका अतिक्रमण नहीं कर समझ लेना चाहिये। अर्थात्—उन कमलोंकी कर्णिकाके बीचमें एक कोस लम्बा आधा कोस चौडा कुछ कम एक कोस ऊंचा महल बना हुआ है उसमें देवी रहती है। यहां प्रासादोंका बहुतपना यों घटित हो जाता है कि एक कमलमें भी कई प्रासाद सम्भवते हैं तथा एक कमलके परिवार हो रहे एक लाख चालीस हजार एक सौ पचास कमलोंपर भी इतने ही प्रासाद बने हुये हैं अथवा पांच मेरु सम्बन्धी पांच पद्म ह्रदोंके पांच महलोंमें न्यारी न्यारी आत्माओंको लिये हुये भिन्न भिन्न पांच श्री देवियां निवास करती हैं, इत्यादि रूपसे आम्नायके अनुसार यों सम्पूर्ण व्यवस्था बन जाती है। वे देवियां पल्योपम स्थितिको धार कर उतने कालतक जीवित रहती हैं। पुनः एक देवीके मर जानेपर दूसरी देवी उपज जाती है। क्योंकि उतने एक पल्य परिमाणवाले आयुसे सहितपने करके उनकी वहां उत्पत्ति हुआ करती है (हेतु)। सामानिक और परिषद जातिके देवोंका लक्षण भविष्यमें कह दिया जायगा। ये देव उन देवियोंके साथ कमलोंमें उन देवियोंके अनुगामी होकर वर्तते हैं। इस कारण देवियोंको सामानिक और परिषद सम्बन्धी देवोंसे सहितपना कहा गया है। इस विशेषणसे उन देवियोंकी परिवार सम्बन्धी विभूतिको सूत्रकार कह चुके हैं। इसी बातको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा कहते हैं।

देव्यः श्रीमुखाः ख्याताः सूत्रेणैकेन सूचनात्।
षडेव तन्निवासिन्यस्ताः ससामानिकादयः ॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराजने एक ही इस सूत्र करके श्री, ह्री, प्रभृति देवियोंका व्याख्यान किया जा चुका सूचन कर दिया है। एक मेरु सम्बन्धी छह कुलाचलोंपर वे देवियां सामानिक आदि देवोंसे सहित हो रहीं सन्ती उन कमलोंमें निवास करनेवाली छह ही हैं। इतने प्रमेयको सूत्रकारने एक ही सूत्रमें भर दिया है " जैनर्धयस्ते विजयन्ताम् "।

उन भरत आदि क्षेत्रोंमेंसे प्रत्येक क्षेत्र जिन मध्य गामिनी नदियों करके तीन या चार विभागोंको प्राप्त हो जाता है, श्री उमास्वामी महाराज उन नदियोंका निरूपण करनेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं। श्रद्धा लाकर सुनिये।

गंगासिंधूरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकांतासीतासीतोदानारीनरकांतासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाःसरितस्तन्मध्यगाः।

१ गंगा २ सिंधु ३ रोहित् ४ रोहितास्या ५ हरित् ६ हरिकान्ता ७ सीता ८ सीतोदा ९ नारी १० नरकांता ११ सुवर्णकूला १२ रूप्यकूला १३ रक्ता १४ रक्तोदा ये चौदह महानदियां उन सात क्षेत्रोंके मध्यमें होकर गमन करती हैं।

सरितो न वाप्यः, तेषां भरतादिक्षेत्राणां मध्यं तन्मध्यं तन्मध्ये गच्छंतीति तन्मध्यगा इत्यनेनान्यथागतिं गंगासिंध्वादीनां निवारयति।

इस सूत्रमें सरित् शब्द इसलिये कहा है कि ये चौदह संख्यावाली नदियां हैं, बावडियां नहीं हैं। यद्यपि नन्दीश्वर द्वीपकी एक लाख योजन लम्बी, चौडी, और हजार योजन गहरी चौकोर बावडियां इन नदियोंसे द्विगुनी, तिगुनी, लम्बी और बीसों, पचासों, गुनी चौडी तथा सैकडों गुनी गहरी हैं। तथापि पर्वतसे धारारूप निकलकर नीची नीची भूमिमें गमन करते करते और परिवारको बढाते हुये महान् जलाशयमें मिल जाना यह नदियोंका लक्षण इन चौदह नदियोंमें अथवा अन्य नदियोंमें भी घटित हो जाता है। अतः वास्तविक रूपसे ये नदियां मानी गयी हैं। निम्नभूमिपर समतल अवस्थामें रुके हुये जलको धारने वाली वापियां इन नदियोंसे विलक्षण हैं। उन भरत आदि क्षेत्रोंके मध्य स्थानको तन्मध्य माना गया है। " उस तन्मध्यमें गमन कर रहीं हैं " इस निरुक्ति द्वारा ये नदियां " तन्मध्यगाः " कही जाती हैं। इस प्रकार तन्मध्यगाः इस विशेषण करके गंगा सिन्धु आदि नदियोंकी कल्पित की गयी दूसरे प्रकार गतियोंका निवारण कर दिया जाता है। अर्थात्—ये नदियां क्षेत्रोंके मध्यमें बह रहीं हैं। आदि भाग, अन्तभाग, या बहिर्भागोंमें नहीं बहती हैं और अपनी गति अनुसार सदा गमन ही करती रहती हैं। स्थिर होकर नहीं बैठ जाती हैं।

तत्र भरतक्षेत्रमध्ये गंगासिंध्वौ, हैमवतमध्यगे रोहिद्रोहितास्ये, हरिमध्यगे हरिद्धरिकांते, विदेहमध्यगे सीतासीतोदे, रम्यकमध्यगे नारीनरकांते, हैरण्यवतमध्यगे सुवर्णरूप्यकूले, ऐरावतमध्यगे रक्तारक्तोदे इति।

उस पहिले भरतक्षेत्रके मध्यमें गंगा, सिन्धु, दो नदियां बह रहीं हैं। भावार्थ—हिमवान् पर्वतके ऊपर स्थित होरहे पद्म नामक सरोवरके पूर्व दिशा सम्बन्धी सवा छह योजन चौडे और आधा योजन गहरे द्वार (मोरी) से निकलकर पर्वत पर ही पांचसौ योजन पूर्वको बहती हुई गंगा नदी पुनः दक्षिणकी ओर मुडकर (बल खाकर) कुछ अधिक पांचसौ तेईस योजन पर्वतकी आधी चौडाईपर ऊपर ही गमन करती है। पर्वतकी चौडाईमेंसे नदीकी धारको कमती कर आधा कर देनेसे उक्त संख्या आजाती है। सौ योजन ऊंचे हिमवान् पर्वतसे गिरकर काहल (रणसिंहाबाजे) या अर्धमालाके समान आकारको धारती हुई दस योजन चौडी होगयी गंगा नदी पर्वतको पचास योजन छोडकर नीचे गिरती है। हिमवान् पर्वतसे पचास योजन दक्षिणकी ओर हटकर साठ योजन लंबा चौडा और दश योजन गहरा एक चौकोर कुण्ड बना हुआ है। कुण्डके मध्यमें साडे दश योजन ऊंचा और आठ योजन लंबा, चौडा, एक सुंदर द्वीप शोभ रहा है। उस द्वीपके मध्यमें दश योजन ऊंचा वज्रमय पर्वत है। उस पर्वतके ऊपर डेढ कोस, एक कोस, आधा कोस, क्रमसे नीचे, मध्य, ऊपर भागमें चौडा और एक कोस ऊंचा ढलवां श्रीदेवीका गृह बना हुआ है, जिसका आकार मंदिरकी शिखर (गुम्मज) के समान है। श्रीगृहके मस्तकपर बने हुये कमलकी कर्णिकामें सिंहासन धरा हुआ है। उस सिंहासनपर अनुपम सुन्दर जिनप्रतिमा विराजमान है। अन्य चैत्यालयोंकी प्रतिमासे इस प्रतिमामें इतनी विशेषता है कि इनके केश जटा सदृश होरहे ऊपर की ओर लम्बे बंधे हुये हैं। वह केशोंका जटाजूट मुकुट सारिखा प्रतीत होता है। ऐसे मनोज्ञ जिनबिम्बका अभिषेक करनेके लिये ही मानूं हिमवान्पर्वतसे गंगा अवतीर्ण होती है। सौ योजन ऊंचे स्वर्गसमान हिमवान् पर्वतसे महान् देव जिनेन्द्र बिम्बके जटायुक्त सिर पर गंगाकी धार पडती है। इसी दृश्यके आश्रयपर पौराणिक पुरोहितोंने अनेक प्रकारकी कथायें गढ ली हैं। अनादिकालसे पड रहे जलके आघातसे जिनप्रतिमामें बालाग्र भी परिवर्तन नहीं होता है। ऐसी दिव्य शोभाको धार रहे जिनबिम्बको हम त्रियोगद्वारा नमस्कार करते हैं। गंगा नदीका जल एक प्रकार अभिषेक जल ही है। कुण्डके दक्षिणद्वारसे निकलकर म्लेच्छ खण्डोंमें बहती हुई विजयार्धकी खण्डप्रपात नामक गुफामें प्रवेश कर आर्यखण्डके पूर्वीय प्रान्त भागमें गमन करती हुई साढे बासठ योजन चौडी होकर लवणसमुद्रमें मिल गयी है। इसी प्रकार सिन्धु आदि नदियोंका वर्णन समझना चाहिये। नदियोंकी उद्गम स्थलपर जितनी चौडाई है, अन्तमें जाकर उससे दशगुनी चौडाई होजाती है। चौडाईसे साढे बारहवें भाग या पचासवें भाग गहराई जान लेनी चाहिये। नदियोंके निकलने और प्रवेश होनेके स्थानों पर तोरण बने हुये हैं। तोरणोंके उपर मनोज्ञ अकृत्रिम जिन प्रतिबिंब विराजमान हैं। नीचे दिक्कुमारी देवियां निवास करती हैं। कुण्डोंमें नदियां गिरती हैं। उन कुण्डोंमें स्थित होरहे द्वीपोंके ऊपर पांचसौ धनुष लम्बे शरीरके पद्मासनसे जिन प्रतिमायें विराजमान हैं। इस प्रकार गंगा आदि नदियोंका सामान्य वर्णन है। त्रिलोकसार आदि महान् ग्रन्थोंमें पूर्वाचार्योंने विस्तारसे कहा है। छह खण्डवाले भरतक्षेत्रसम्बन्धी आर्यखण्डके मध्य भागमें जो छोटासा यह

भरत खण्ड (हिंदुस्तान) है, इसके उत्तरमें हिमालय है और पश्चिममें सिन्धु नदी तथा पूर्व भागमें गंगा नदी बह रही हैं। न तो यह हिमालय हिमवान् पर्वत है और न ये क्षुद्र गंगा नदी, सिंधु नदी ही महागंगा नदी महासिन्धु नदी हैं। किन्तु आर्यखण्डकी अयोध्या नगरीसे उत्तर दिशाकी ओर लगभग चारसौ सात योजन चलनेपर हिमवान् पर्वत मिल सकता है और आर्य खण्डसे पूर्व या दक्षिणकी ओर कई सौ योजन चलकर महागंगा नदी मिल सकती है। उससे पहिले यहीं बीस पचीस कोस चलकर ही महागंगा नदी नहीं मिल जाती है। यदि कोई मनुष्य विमानद्वारा इतना चल सके तो वह जैन सिद्धान्तके करणानुयोग शास्त्रोंके अनुसार गंगाको पा सकता है। ये सब योजन दो हजार धनुषसे नापे गये कोसोंकी दो हजार गुनी नापके बने हुये बडे योजन हैं। तथा हैमवत क्षेत्रके मध्यमें प्राप्त होकर रोहित् और रोहितास्या ये दो नदियां बह रहीं हैं। महापद्मके दक्षिण द्वारसे निकलकर सोलहसौ पांच योजन पर्वतके ऊपर ही दक्षिणकी ओर बह कर दो सौ योजन ऊंचे पर्वतसे रोहित् नदी गिरती है। महाहिमवान् पर्वत चार हजार दो सौ दस और दस बटे उन्नीस योजन चौडा है। हजार योजन चौडे हृदको घटाकर आधा कर देनेसे सोलह सौ पांच और पांच बटे उन्नीस योजन पर्वतके ऊपर रोहित्का बहना निकल आता है। पद्म हृदके उत्तर द्वारसे निकल कर दो सौ छहत्तर और छह बटे उन्नीस योजन हिमवान् पर्वतके ऊपर उत्तरमुख बह रही प्रारम्भमें साढे बारह योजन चौडी रोहितास्या नदी है। हरित् और हरिकान्ता नदियां तो हरिक्षेत्रके मध्यमें प्राप्त हो रहीं हैं। तिगिंछ हृदके दक्षिण तोरण द्वारसे निकली हुई हरित् नदी निषधके ऊपर सात हजार चार सौ इक्कीस और एक बटे उन्नीस योजन दक्षिणकी ओर चलकर चार सौ योजन पर्वतके ऊपरसे गिरती है। हरिकान्ता नदी तो महापद्म हृदके उत्तर द्वारसे निकलकर सोलह सौ पांच और पांच बटे उन्नीस योजन महाहिमवान् पर्वतके ऊपर बहती हुई पचीस योजन चौडी हो रही कुछ अधिक दो सौ योजन ऊंचे धाराप्रपातसे गिरती है। विदेह क्षेत्रके मध्यको प्राप्त हो रहीं सीता, सीतोदा दो नदियां हैं। केसरी हृदके दक्षिण द्वारसे निकलकर नील पर्वतके ऊपर सात हजार चार सौ इक्कीस और एक बटे उन्नीस योजन पर्वतके ऊपर बहती हुई पचास योजन चौडी सीता नदी चार सौ योजन ऊंचे पर्वतसे गिरती है। तिगिंछ हृदके उत्तर द्वारसे सीतोदा निकलती है। रम्यक क्षेत्रके मध्यमें होकर पूर्व, पश्चिमकी ओर बह रहीं नारी, नरकान्ता, नदियां हैं। महापुण्डरीक हृदके दक्षिण द्वारसे नारी नदी निकलती है, जो कि नारी देवीके निवास प्रासादसे युक्त हो रहे नारी कुण्डमें पडती है। केसरी हृदके उत्तर तोरणकी मोरीसे नरकान्ता महानदी निकलती है। हैरण्यवत क्षेत्रके मध्यमें प्राप्त हो रहीं सुवर्णकूला, रूप्यकूला नदियां हैं। शिखरी पर्वतके ऊपर बने हुये पुण्डरीक हृदके दक्षिण तोरण द्वारसे सुवर्णकूला नदी बहती है और महापुण्डरीक हृदके उत्तर द्वारसे निकलकर रूप्यकूला महानदी गमन करती है। रक्ता, रक्तोदा, दो नदियां ऐरावत क्षेत्रके मध्यको प्राप्त हो रहीं हैं। पुण्डरीक हृदके जिनबिम्ब अलंकृत पूर्वतोरणकी नीचे मोरीसे सवा छह योजन चौडी रक्ता नदी बह रही है। पुण्डरीक हृदके पश्चिम तोरणद्वारकी मोरी तो रक्तोदाका प्रभव-

स्थान है। इस प्रकार ये चौदह नदियां कुण्डमें बने हुये द्वीपके गुम्मजपर विराजमान कमलस्थ प्रतिमाओंके ऊपर गिरती हैं। धाराप्रपात अवयवीका मध्यभाग प्रतिमाजीके मस्तकपर गिरता है। शेष इधर उधरका जलप्रवाह गुम्मजपर या रीते आकाशमें गिरता हुआ लम्बे, चौडे, कुण्डके बीचमें पड जाता है।

अथैतयोर्द्वयोः का पूर्वसमुद्रं गच्छतीत्याह ।

अब महाराज यह बताओ कि चौदह नदियोंके सात युगल होकर इन दो दोमें भला कौनसी कौनसी नदी पूर्व लवणसमुद्रकी ओर गमन करती है ? ऐसी बुभुत्सा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥ २२ ॥

सम्पूर्ण नदियोंके सात युगल बनाकर दो दो नदियोंमें पहिली नदियां पूर्व समुद्रकी ओर गमन करती हैं।

द्वयोर्द्वयोरेकक्षेत्रे विषय इत्यभिसंबंधादेकत्र सर्वासां प्रसंगनिवृत्तिः, पूर्वाः पूर्वगा इति वचनं दिग्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं ।

गंगा, सिन्धु, आदि चौदह नदियां हैं और भरत आदि सात क्षेत्र हैं। दो दो नदियोंका अधिकरण हो रहा एक एक क्षेत्र विषय है। इस प्रकार सूत्रके पदोंका समुचित संबन्ध कर देनेसे एक ही क्षेत्रमें सम्पूर्ण नदियोंकी प्राप्ति हो जानेके प्रसंगका निवारण कर दिया जाता है। सूत्रकारके पहिली नदियां पूर्व समुद्रको जाती हैं, इस कथनका प्रयोजन तो विशेष दिशाकी प्रतिपत्ति करा देना है, जिससे कि पिछली नदियोंका पूर्वगमन या युगलोंमें पहिले उपात्त हो रहीं नदियोंका पश्चिम, दक्षिण, या उत्तर दिशाके समुद्रोंमें प्राप्त होना व्यावृत्त हो जाता है। " दो दोमें पहिली पहिली " यों वाक्य सम्बन्ध कर देनेसे गंगा, सिन्धु, रोहित्, रोहितास्या, हरित्, हरिकान्ता, सीता इन पहिली सात नदियोंका पूर्व समुद्रकी ओर गमन करना निषिद्ध हो जाता है।

अथापरं समुद्रं का गच्छंतीत्याह ।

इसके अनन्तर पश्चिम समुद्रकी ओर कौनसी नदियां जा रही हैं ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अगिले सूत्रको कहते हैं।

शेषास्त्वपरगाः ॥ २३ ॥

दो दो नदियोंमेंसे पहिले कहीं गयीं पूर्वगामिनी नदियोंसे शेष बच रहीं पिछली पिछली नदियां तो पश्चिम समुद्रकी ओर गमन करतीं हैं।

द्वयोर्द्वयोरेकत्रैकक्षेत्रे वर्तमानयोर्नद्योर्याः पूर्वास्ताभ्योन्याः शेषाः सरितोऽपरं समुद्रं गच्छंतीति । तत्र पद्मह्रदप्रभवा पूर्वतोरणद्वारनिर्गता गंगा, अपरतोरणद्वारनिर्गता सिन्धुः,

उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता रोहितास्या । महापद्महृदप्रभवापाच्यतोरणद्वारनिर्गता रोहित्, उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता हरिकांता । तिगिंछहृदसमुद्भवा दक्षिणद्वारनिर्गता हरित्, उदीच्यतोरणद्वार निर्गता सीतोदा । केसरिहृदप्रभवा अपाच्यद्वारनिर्गता सीता, उदीच्यद्वारनिर्गता नारी । महापुंडरीकहृदप्रभवा दक्षिणद्वारनिर्गता नरकांता, उदीच्यद्वारनिर्गता रूप्यकूला । पुंडरीकहृदप्रभवा अपाच्यद्वारनिर्गता सुवर्णकूला, पूर्वतोरणद्वारनिर्गता रक्ता, प्रतीच्यद्वारनिर्गमा रक्तोदा ।

एक एक क्षेत्रमें विद्यमान होरहीं दो दो नदियोंमें पहिलीं गंगा, रोहित् आदि जो सात नदियां हैं, उनसे शेष बची हुयीं अन्य सिन्धु, रोहितास्या, आदि सात नदियां, यों इस सूत्र अनुसार पश्चिम समुद्रकी ओर गमन कर रहीं मानी जाती हैं । इन नदियोंमें गंगाकी पहिली प्रकटता या उपलब्धिको कराने वाले आद्य स्थान होरहे पद्मह्रदसे गंगा नदी उपजती है, जो कि पद्मह्रदके चारों दिशाओंकी ओर बने हुये तोरणोंमेंसे पूर्व दिशाके तोरणके निचले दरवाजेसे निकली हुयी है । उसी पद्मह्रद संबंधी पश्चिम तोरणके निचले द्वार (मोरी) से सिन्धु नदी निकली है और उत्तरतोरणके द्वारसे रोहितास्या नदी निकलती है । तथा महापद्म ह्रदसे आद्यमें जन्म लेरही रोहित् नदी उसके दक्षिण तोरणद्वारसे निकल गयी है । महापद्म ह्रदके उत्तर दिशावाले तोरण द्वारसे हरिकान्ता नदी निकलती है । तिगिंछ ह्रदसे भले प्रकार उत्पन्न होरही हरित् नदी उसके दक्षिण द्वारसे निकलती है और तिगिंछ ह्रदके उत्तर दिशा सम्बन्धी तोरण द्वारसे सीतोदा निकलती है । केसरी ह्रदसे सबसे पहिले उपज कर सीता नदी उसके दक्षिण द्वारसे निकलती है और केसरी ह्रदके उत्तर द्वारसे नारी निकलती है । महापुण्डरीक ह्रदसे आद्य जन्म लेरही नरकान्ता उसके दक्षिण द्वारसे निकलती है और महापुण्डरीक ह्रदके उत्तर दिग्वर्ती द्वारसे रूप्यकूला निकलती है । पुण्डरीक ह्रदसे पहिले ही पहिले उपज रही सुवर्णकूला महानदी उसके दक्षिण द्वारसे निकल जाती है और रक्ता नदी पुण्डरीकके पूर्व तोरण द्वारसे प्रवाहित होरही है तथा रक्तोदा नदीका भी धारा निर्गमस्थान पुण्डरीक ह्रदका पश्चिम दिशा सम्बन्धी द्वार है । प्रासाद या सरोवरोंके चारों ओर शोभायुक्त बने हुये बाहरले द्वारको तोरण कहते हैं । तोरणोंके नीचे बनी हुयीं मोरियों द्वारा नदियां निकलतीं रहतीं हैं । उनका आद्य बहना वहांसे प्रारंभ होजाता है ।

अथ कियन्नदीपरिवृता एता नद्य इत्याह ।

अब यहां प्रतिपाद्य प्रश्न करते हैं कि ये उक्त नदियां कितनी कितनी नदियोंके परिवारसे युक्त होरहीं हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर भगवान् उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिंध्वादयो नद्यः ॥ २४ ॥

गंगा आदिक पूर्वगामिनी नदियां और सिन्धु आदि पश्चिम गामिनी नदियां चौदह, चौदह, हजार नदियोंके परिवारको धारे हुये हैं । आगे तीन युगलोंमें इससे दूना दूना परिवार है ।

गंगासिंध्वाद्यग्रहणं प्रकरणादिति चेन्न, अनंतरग्रहणप्रसंगात् । गंगादिग्रहणमिति चेन्न, पूर्वगाणां ग्रहणप्रसंगात् । नदीग्रहणात्सिद्धिरिति चेन्न, तस्योत्तरत्र द्विगुणाभिसंबंधनार्थत्वात् ।

यहां कोई शंका करता है कि सूत्रकारको गंगा, सिंधु आदिका ग्रहण नहीं करना चाहिये। क्योंकि प्रकरण चला आ रहा होनेसे नदियोंका ग्रहण स्वतः ही हो जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि " अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा "। अव्यवहित पूर्ववर्त्ती पदार्थका ही विधि अथवा निषेध उत्तरवर्त्ती वाक्य द्वारा किया जाता है। इस परिभाषाके अनुसार अव्यवहित पूर्वमें कहीं गयी पश्चिमगामिनी सिन्धु, रोहितास्या आदि सात नदियोंके ही ग्रहण होनेका प्रसंग आ जावेगा। गंगा रोहित् आदि सात नदियां छूटी जाती हैं। अतः गंगा, सिन्धु, आदि पद व्यर्थरूपसे शंकित किया जा रहा ज्ञापन करता है कि पूर्व सूत्र और प्रपूर्व सूत्रमें कहीं जा चुकी सम्पूर्ण चौदह नदियों का ग्रहण कर लेना चाहिये। पुनः आक्षेपकार यदि यों कहे कि तब तो गंगा आदि ग्रहण करना ही पर्याप्त है, सिन्धु पद व्यर्थ पडता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी नहीं कहना, क्योंकि गंगा आदि इतना ही कहनेपर पूर्वगामिनी सात नदियोंके ही ग्रहण हो जानेका प्रसंग होगा, संपूर्ण नदियां नहीं पकडी जा सकेंगी। फिर भी आक्षेपकार यों कहें कि नदियां तो प्रकरण प्राप्त हैं ही, नदी ग्रहणके विना भी नदियोंकी प्रतीति हो सकती है। तथापि सूत्रकारने नदी शब्दका ग्रहण किया है। अतः सम्पूर्ण नदियोंकी प्रतिपत्ति हो जायगी। गंगा सिन्धु आदि ग्रहण करना पुनरपि व्यर्थ है। आचार्य कहते हैं कि यह तो आक्षेप नहीं करना। क्योंकि उस गंगा सिन्धु आदि पदके ग्रहण करनेका प्रयोजन तो उत्तरवर्त्ती परली ओरकी नदियोंमें द्विगुना द्विगुना सम्बन्ध कर देना है। शब्दोंकी अधिकतासे शिष्योंको अधिक अर्थकी ज्ञप्ति हो जाती है। भावार्थ—गंगा सिन्धुके परिवारसे रोहित्, रोहितास्या, प्रत्येकका परिवार दूना यानी अट्ठाईस अट्ठाईस हजार नदियां हैं और हरित्, हरिकान्ता, नदियोंका परिवार इससे भी दूना यानी छप्पन छप्पन हजार है। सीता सीतोदामें से प्रत्येकका परिवार एक लक्ष बारह हजार नदियां बैठता है, किन्तु त्रिलोकसार ग्रन्थ अनुसार चौरासी हजार माना गया है और नारी, नरकान्ता, नदियोंमें प्रत्येकका परिवार छप्पन हजार है। तथा सुवर्णकूला रूप्यकूला नदियोंमें प्रत्येकका परिवार अट्ठाईस हजार है और रक्ता रक्तोदा नदियोंका परिवार चौदह, चौदह, हजार हैं। गंगा आदिक नदियोंकी परिवार नदियां परली ओर दूनी दूनी हैं। इतना ही कह देनेसे सिन्धुका परिवार भी गंगा नदीसे द्विगुना बन बैठेगा। अतः सिन्धुपद भी सार्थक है।

सर्वथैवासंभाव्या गंगादयो नद्यः सूत्रिता इति कस्यचिदारेकां निराकर्तुं प्रक्रमते ।

कोई शंका करता है कि सूत्रकार महाराजने जिन गंगा, सिन्धु, आदि नदियोंका सूत्रद्वारा निरूपण किया है वे नदियां सभी प्रकारोंसे असम्भव हैं। हजारों कोस चौडी उक्त नदियां वर्तमानमें दृष्टिगोचर नहीं हो रहीं हैं। उनका प्रभव करनेवाले ह्रद, कुण्ड, तोरणद्वार तथा उनके दोनों ओर

वेदिकायुक्त वनखण्ड आदि माने गये तो दूर दूर तक जाकर भी नहीं देखनेमें आ रहे हैं। इस प्रकार किसी एक स्थूलदृष्टिवाले शिष्यकी आशंकाका निराकरण करनेके लिये श्री विद्यानन्द स्वामी प्रक्रमको बांधते हैं।

अथ गंगादयः प्रोक्ताः सरिताः क्षेत्रमध्यगाः।
पूर्वापरसमुद्रांतः प्रवेशिन्यो यथागमं ॥ १ ॥

सात क्षेत्रोंके मध्यमें होकर गमन करनेवालीं और पूर्व समुद्र, पश्चिम समुद्रके भीतर या कोई कोई गंगा सिन्धु, रक्ता रक्तोदा, ये दक्षिण या उत्तरकी ओरके मध्यवर्त्ती समुद्रमें प्रवेश करनेवालीं गंगा, सिन्धु, आदिक सम्पूर्ण नदियां आगममार्गका अतिक्रमण नहीं कर सूत्रकारने बहुत अच्छे ढंगसे कह दीं हैं। अर्थात्—देशान्तरित पदार्थोंकी ज्ञप्तिके लिये आप्तोक्त आगम, पुस्तकें, नकशा ये प्रधान साधन हैं। सभी देश देशान्तरोंका या समुद्र, पर्वतोंका, कौन चक्कर लगाता फिरता है ? सूर्य, चन्द्र, विमानोंके ऊपर क्या क्या रचना बनी हुई है ? संसारमें कहां कहां कैसे कितने स्थान हैं ? इन सम्पूर्ण रहस्योंको सर्वज्ञ सम्प्रदायसे चला आ रहा आगम ही प्रकाशित करता है। गंगा, सिन्धु आदिक चौदह नदियां और विदेह क्षेत्रकी बारह विभंगा नदियां तथा बत्तीस विदेह खण्डोंकी गंगा सिन्धु या रक्ता रक्तोदा द्वारा दो दो होकर हुयीं चौसठ नदियां, ये जम्बूद्वीपकी नब्बे मूल नदियां तथा सत्रह लाख बानवे हजार परिवार नदियां, इन सबका निर्णय आगम अनुसार कर लिया जाता है। जगत्की प्रक्रिया या देश, देशान्तर, समुद्र, नदी, पर्वत, खान, कूप, बावडी, समुद्रतल आदिकी जाननेके लिये सबको आगमकी बहुभाग शरण लेनी पडती है। " न हि सर्वः सर्ववित् " सभी प्राणी तो विश्वके साक्षात्कर्त्ता सर्वज्ञ नहीं हैं।

परिवारनदीसंख्याविशेषसहिताः पृथक्।
चतुर्दश चतुःसूत्र्या नासंभाव्याः कथंचन ॥ २ ॥

श्री उमास्वामी महाराजने " गंगासिन्धुरोहिद्रोहितास्या हरिद्धरिकान्ता सीतासीतोदा नारीनरकान्ता सुवर्णरूप्यकूला रक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः, द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः, शेषास्त्वपरगाः, चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिन्ध्वादयो नद्यः " इन चारों सूत्रों करके जो पृथक् पृथक् परिवार नदियोंकी संख्या विशेषसे सहित हो रहीं चौदह नदियोंका वर्णन किया है, वह किसी भी प्रकारसे असम्भव नहीं है। अर्थात्—" सपरिवारा गंगासिन्ध्वादयश्चतुर्दश नद्यः सन्ति (प्रतिज्ञा) सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् (हेतु) सुखादिवत् " नदियोंके सद्भावके बाधक प्रमाणोंका असम्भव हो जानेसे परिवार सहित चौदह नदियोंकी सत्ता निर्णीत कर ली जाती है, जैसे कि दूसरी आत्माओंके सुख या समुद्रतल अथवा महान् पर्वतोंके नीचेकी मध्य भागस्थ मूल (जड) आदिका ज्ञान " बाधकासंभव " से कर

लिया जाता है। पर्वतको उखाड कर बीचला भाग कौन देखे ?। अपनी पूरी हथेलीके परिपूर्ण भागोंका देखना तो कष्टसाध्य हो रहा है। स्वशरीरके भीतरसे अवयव ही नहीं दीख रहे हैं। भावार्थ—गंगा, सिन्धु, आदि नदियोंके परिवारसे सहित जम्बूद्वीपमें सम्पूर्ण नदियां सत्रहलाख बानवै हजार नव्वै १७९२०९० हैं। धातुकीखण्ड द्वीप और पुष्करार्धमें भी नदियोंका सद्भाव बाधवैधुर्यसे आगम अनुसार निश्चित हो जाता है।

संभाव्यंत एव हि गंगासिंध्वादयो महानद्यो यथागममायामविष्कंभावगाहैरपरैश्च विशेषैस्तदधिकरणस्य महत्त्वादिहास्ति कासांचिन्नदीनां सरय्वादीनां महाविस्ताराणामुपलंभात् कस्यचिद्बाधकस्यासंभवात्।

गंगा, सिन्धु, आदिक महानदियां अपनी अपनी लम्बाई, चौडाई, और गहराई तथा अन्य भी विशेषताओं करके सहित हो रहीं आगम अनुसार सम्भावित ही हो रही हैं। असम्भव नहीं हैं। क्योंकि उन नदियोंके अधिकरणभूत स्थान बहुत बडे महान् हैं। कितनी हीं नदियां तो वर्तमानमें देखे जा रहे हिन्द महासागर, एटलान्टिक आदि समुद्रोंसे भी बडी हैं। वर्तमान परिदृष्ट देशोंमें यहां भी किन्हीं किन्हीं सरजू नदी, क्षुद्र गंगा, क्षुद्र सिन्धु, सुवर्णभद्र, यमुना, टाइग्स, मिशीसिपी, मिसौरी, पो, राइन, आदि नदियोंका महान् विस्तार देखा जाता है। इसी प्रकार छोटे कोसोंसे हजारों कोस चौडीं और लाखों कोस लम्बीं महागंगा आदि नदियां भी सम्भव जातीं हैं। किसी भी विचारशील व्यक्तिको उनके सद्भावमें बाधा देनेवाले प्रमाणका असम्भव है अथवा उन नदियोंमें बाधा देनेवाले किसी भी प्रत्यक्ष अनुमान या आगम प्रमाणकी सम्भावना नहीं है।

अथ कियद्विष्कंभो भरतो वर्ष इत्याह।

अब यहां किसीका प्रश्न है कि पहिला क्षेत्र भरत नामक वर्ष भला कितनी चौडाईको धार रहा है ? ऐसी पृच्छना होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तारः षट्चैकोनविंशतिभागा योजनस्य ॥ २४ ॥

छब्बीस अधिक पांचसौ योजन और योजनके उन्नीस भागोंमेंसे छह भाग इतने विस्तार (चौडाई) को धारनेवाला भरतक्षेत्र है। अर्थात्—भरत क्षेत्रकी चौडाई पांचसौ छब्बीस छह बटे उन्नीस योजन है।

भरतविष्कंभस्योत्तरत्र वचनादिहावचनमिति चेन्न, जंबूद्वीपनवतिशतभागस्येयत्तासंप्रतिपादनार्थत्वादेतत्सूत्रस्य तत्संख्यानयनोपायप्रतिपत्त्यर्थत्वात्।

कोई आक्षेप कर रहा है कि भरत क्षेत्रकी चौडाईका उत्तरवर्ती " भरतस्य विष्कंभो जंबूद्वीपस्य नवतिशतभागः " इस सूत्रमें कथन किया ही जावेगा । अतः यहां इस सूत्र द्वारा निरूपण करना व्यर्थ है । व्यर्थ सूत्रका उच्चारण नहीं करना चाहिये । आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि यह सूत्र तो उत्तरवर्ती सूत्र द्वारा कही गयी जम्बूद्वीपके एकसौ नब्बेवें भाग की इतने परिमाणकी संख्याका प्रतिपादन करनेके लिये है । इस सूत्रका प्रयोजन केवल उस एकसौ नब्बेवें भाग संख्याके लानेके उपायकी प्रतिपत्ति करा देना है । अर्थात्—एक लाख योजन चौडे जम्बूद्वीपकी एकसौ नब्बे शलाकाओंमें एक शलाका भरत क्षेत्रको प्राप्त होती है। एक लाखमें एकसौ नब्बेका भाग देने पर पांचसौ छब्बीस छह बटे उन्नीस योजन संख्या आजाती है। उस संख्याकी प्रतिपत्ति इस सूत्र द्वारा कर लेनी चाहिये। " अस्मत् सिद्धान्तविद्यागुरवस्तु स्वल्पेऽप्याकाशे महत्याः भूमेरवगाहमङ्गीकृत्य न्यूनतरभूमिक्षेत्रप्रतिपादकमिदं सूत्रमित्याहुः "। मुझ टीकाकारके सिद्धांतविद्यागुरु पंडित गोपालदासजीका यह मंतव्य है कि " भरतस्य विष्कम्भो जंबूद्वीपस्य नवतिशतभागः " इस सूत्र करके आकाशकी नाप कर दी गयी है । भरत क्षेत्रका आकाश जम्बूद्वीपके एकसौ नब्बैवें भाग ही रहेगा, न्यून अधिक नहीं । हां, उतने ही आकाशमें न्यूनसे न्यून पांचसौ छब्बीस छह बटे उन्नीस योजनकी भूमि समा जायगी और उतने ही आकाशमें इससे दशों गुनी बडी भूमि भी समा सकती है । " ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः " इस सूत्रमें पडा हुआ " भूमयः " शब्द भी इसी सिद्धांतको पुष्ट करता है । एक हाथ लंबे चौडे आकाशमें पांच हाथकी लम्बी चौडी भूमि आसकती है । गुरुजीका यह विचार युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है । संभव है कुछ दिनोंमें विज्ञान भी इसी तत्त्वका निर्णय करे, जब कि जैनसिद्धांत तो तभी युक्त समझा जाता है । अनन्त बादरस्कन्ध इस असंख्य प्रदेशी लोकमें धरे हैं । २९ अंक प्रमाण मनुष्य ढाई द्वीपमें निवास कर रहे हैं ।

अतोन्ये वर्षधरादयः किंविस्तारा इत्याह ।

इस भरत क्षेत्रसे अन्य पर्वत या क्षेत्र अथवा नदी आदिक भला कितनी, कितनी, चौडाईको धारण किये हुये हैं ? ऐसी पृच्छा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहांताः ॥ २६ ॥

उस भरतक्षेत्रसे द्विगुने द्विगुने विस्तारको प्राप्त हो रहे कुलाचल पर्वत और हैमवत आदिक क्षेत्र हैं । यह व्यवस्था विदेह क्षेत्रपर्यंत पर्वत या क्षेत्रोंकी समझ लेनी चाहिये ।

वर्षधरशब्दस्य पूर्वनिपातस्तदानुपूर्व्यप्रतिपत्त्यर्थः वर्णानामानुपूर्व्येण इति निरुक्तकारवचनस्यानत्याच्चतराणामन्येषामपि यथाभिधानमानानुपूर्व्येण पूर्वनिपातप्रतिपादनार्थत्वात् तथा प्रायः प्रयोगदर्शनात् ।

यद्यपि वर्षधर और वर्ष शब्दका द्वन्द्व समास करनेपर अल्प अच् होनेके कारण वर्ष शब्दका पहिले निपात हो जाना चाहिये, तथापि उन पर्वत या क्षेत्रोंकी ठीक ठीक व्यवस्थित हो रही आनुपूर्वीकी प्रतिपत्ति करानेके लिये वर्षधर शब्दका पूर्वमें निपात कर प्रयोग किया गया है। व्याकरण शास्त्रमें " अल्पाच्तरं " इस सूत्रका अपवाद करनेके लिये " वर्णानामानुपूर्व्येण " यों निरुक्त या व्याकरणकी वार्त्तिकोंको बनानेवालेका वचन तो अन्य अधिक अच्वाले या अपूज्य भी पदोंका उच्चारण अनुसार आनुपूर्व्यकरके पूर्वनिपातकी प्रतिपत्तिको करानेके लिये है। तिस प्रकार अनेक स्थलोंपर बहुतसे पदोंका प्रयोग करना देखा जाता है। अर्थात्--द्वन्द्व समासमें अल्प अच्वाले पदोंका पूर्वमें निपात करा देनेवाला " अल्पाच्तरम् " यह सूत्र है। इसके अपवादमें " वर्णानामानुपूर्व्येण " यह वार्तिक है। " ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः " इस पदमें ब्राह्मण आदि वर्णोंका आनूपूर्वी करके जैसे पद प्रयोग होजाता है, उसी प्रकार अन्य भी भ्रामोंकी परिपाटी या तिथियोंके अनुक्रम देश, परिमाण, पर्वत, आदिकोंकी आनूपूर्वी अनुसार पद प्रयोग कर दिया जाता है " मान्यवैमानदुमाद्दारा:, पुष्पफले, स्पर्शनरसनाघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि, ऊर्ध्वमध्याधोलोकाः, अवग्रहेहावायधारणाः, रत्नशर्करावालुकाः " आदि पदोंमें अल्प अचोंका या क्वचित् पूज्योंका भी लक्ष्य नहीं रखकर आनूपूर्वी अनुसार आगे पीछे पद बोल दिये गये हैं। इसी प्रकार यहां भी कहे जाचुके भरत क्षेत्रके परली ओर हिमवान् पर्वत है, तत् पश्चात् हैमवत क्षेत्र है, अतः सूत्रकारने " वर्षधरवर्षाः " यों रचना क्रम अनुसार वाचक पदोंका प्रयोग किया है। भरतका वर्णन कर चुकनेपर इसके पश्चात् हिमवान् पर्वत, पुनः हैमवत क्षेत्र, यों पर्वत और क्षेत्रोंका क्रम है।

विदेहांतवचनं मर्यादार्थं तेन भरतविष्कंभाद्द्विगुणविष्कंभो हिमवान् वर्षधरः, ततो हैमवतो वर्षः, ततो महाहिमवान् वर्षधरः, ततो हरिवर्षः, ततो निषधो वर्षधरस्ततोऽपि विदेहो वर्ष इत्युक्तं भवति।

इस सूत्रमें विदेहपर्यन्त यह कथन करना तो मर्यादाको बांधनेके लिये है। तिस कथन करके इस प्रकार कह दिया जाता है कि भरत क्षेत्रकी चौडाईसे दूनी चौडाईवाला दस सौ बावन बारह बटे उन्नीस योजनका हिमवान् पर्वत है। उस हिमवान्से द्विगुना दो हजार एकसौ पांच और पांच बटे उन्नीस योजन चौडा हैमवत क्षेत्र है। उस हैमवत क्षेत्रसे महाहिमवान् पर्वत चार हजार दो सौ दस और दस बटे उन्नीस योजन चौडा है। उस महाहिमवान् पर्वतसे हरिवर्ष क्षेत्र आठ हजार चार सौ इक्कीस और एक बटे उन्नीस योजन दूनी चौडाईको लिये हुये है। उस हरिवर्षसे निषध पर्वत द्विगुना यानी सोलह हजार आठ सौ ब्यालीस और दो बटे उन्नीस योजन चौडा है। उस निषध पर्वतसे भी दूना चौडा तेतीस हजार छहसौ चौरासी और चार बटे उन्नीस योजन चौडा विदेह क्षेत्र है। पूरे जंबूद्वीपमेंसे भरत क्षेत्रकी एक, हिमवान् पर्वतको दो, हैमवत क्षेत्रको चार, महाहिमवान् पर्वतकी आठ, हरिक्षेत्रको सोलह, निषधको बत्तीस और विदेहको चौसठ शलाकायें, नीलको बत्तीस, रम्यकको सोलह,

रुक्मीको आठ, हैरण्यवत क्षेत्रको चार, शिखरी पर्वतको दो, और ऐरावत क्षेत्रको एक, यों सातों क्षेत्र छःऊ पर्वतोंके एकसौ नव्वै शलाकायें प्राप्त हैं। जंबूद्वीपके एक लाख योजन चौडे क्षेत्रमें एकसौ नव्वैका भाग देकर पुनः अपनी अपनी प्राप्त शलाकाओंसे गुणा कर देने पर पर्वत और क्षेत्रोंकी उक्त चौडाई निकल आती है।

परे वर्षधरादयः किं विस्तारा इत्याह।

विदेह क्षेत्रसे परली ओरके पर्वत आदिक क्यों जी, कितने विस्तारके भारी हैं ? इस प्रकार प्रतिपित्सा होने पर श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्रको स्पष्ट कहते हैं।

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥ २७ ॥

उत्तरवर्ती ऐरावत आदिक नील पर्वत क्षेत्र या पर्वत तो दक्षिणवर्ती भरत आदि क्षेत्र और हिमवान् आदि पर्वतोंके समान समझ लेने चाहिये। ह्रद, कमल, नदी, कुण्ड आदि अकृत्रिम पदार्थोंकी रचना भी तुल्य है।

निषधेन तुल्यो नीलो वर्षधरः, हरिणा रम्यको वर्षः, महाहिमवता रुक्मीवर्षधरः, हैमवतेन हैरण्यवतो वर्षः, हिमवता शिखरी वर्षधरः, भरतेन दक्षिणेनोत्तर ऐरावत इति योज्यं।

निषध पर्वतके समान नील पर्वत है, हरिक्षेत्रके समान रम्यक वर्ष है, महाहिमवान्‌के समान रुक्मी पर्वत भी चार हजार दो सौ दस और दस बटे उन्नीस योजन चौडा है। हैमवत क्षेत्रसे हैरण्यवत वर्ष तुल्यताको रखता है। शिखरी पर्वत हिमवान् पर्वतके सम है और दक्षिण दिशावर्ती भरतके समान उत्तरदिशाका ऐरावत क्षेत्र है। गंगा, सिन्धु, के साथ रक्ता, रक्तोदाकी, पद्मके साथ पुण्डरीक ह्रदकी तथा अन्य नदी, कमल, आदिकोंकी, तुल्यताकी योजना इसी प्रकार कर लेनी चाहिये।

अथ भरतैरावतयोरनवस्थितत्वप्रतिपत्त्यर्थमाह।

अब इसके पश्चात् श्री उमास्वामी महाराज भरत और ऐरावत क्षेत्रके (में) अनवस्थितपनेकी प्रतिपत्ति करानेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥ २८ ॥

दुःषम दुःषमा आदि या सुषमसुषमा आदि छह समयोंको धार रहे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामक व्यवहार कालों करके भरत और ऐरावत दो क्षेत्रोंके (में) वृद्धि और ह्रास हो जाते हैं।

तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यसिद्धेर्भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासयोगः अधिकरणनिर्देशो वा, तत्रस्थानां हि मनुष्यादीनामनुभवायुःप्रमाणादिकृतौ वृद्धिह्रासौ षट्कालाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्यां।

तत्रानुभवादिभिरुत्सर्पणशीला उत्सर्पिणी तैरेवावसर्पणशीलावसर्पिणी । षट्कालाः पुनरुत्सर्पिण्यां दुःषमदुःषमाद्योऽवसर्पिण्यां सुषमसुषमादयः प्रतिपत्तव्याः ।

उसमें स्थित हो जानेके कारण उसके वाचक शब्द द्वारा कहे जानेकी सिद्धि है, इस कारण भरत और ऐरावत क्षेत्रोंके वृद्धि और ह्रासका योग बतला दिया है । अर्थात्—" पर्वतदाह " इस पद अनुसार पहाडमें ठहर रहीं वनस्पतियोंका अरणि निर्मथन (बासों या अन्य विशेष काठकी रगड) द्वारा दाह हो जानेपर पर्वत जल रहा है, यों कह दिया जाता है । यह उस पर्वतमें ठहरनेवाले वृक्ष, वल्ली, पत्ते, आदि आधेयोंका पर्वत शब्दसे कथन है । इसी प्रकार भरत, ऐरावत, क्षेत्रोंकी या भरत, ऐरावत, क्षेत्रवर्ति आकाशकी हीनता, या अधिकता, तो सम्भव नहीं है । अतः उसमें स्थित हो रहे कतिपय पदार्थोंकी वृद्धि या हानिका हो जाना समझ लेना चाहिये अथवा "भरतैरावतयोः" यह पद षष्ठी विभक्तिका द्विवचन नहीं समझा जाय, किन्तु सप्तमी विभक्तिका द्विवचन मान लिया जाय । ऐसी दशा होनेपर उनमें स्थित हो रहे मनुष्य, तिर्यंच, पशु, पक्षी, आदि जीवोंके अनुभव, आयुष्यपरिमाण, शरीरकी ऊंचाई, बल, सुख, आदिके किये गये वृद्धि और ह्रास ये छह समयवाले उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी कालों करके होते रहते हैं । अर्थात्—ऋतुपरिवर्तन, शीतकी अधिकता, सूर्यका प्रचण्ड प्रताप, नियत वनस्पतियोंका फलना फूलना आदि कार्य जैसे द्रव्य परिवर्तन स्वरूप कतिपय व्यवहार कालों द्वारा सम्पादित हो जाते हैं, उसी प्रकार अनेक अन्तरंगकारण और उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, इन व्यवहार कालोंको निमित्त पाकर जीवोंके अनुभव आदिकी वृद्धि, हानियां हो जातीं हैं । उन कालोंमें अनुभव, आयुष्य, आदि करके ऊपरको सरकना (वृद्धि) स्वभाववाली उत्सर्पिणी है और उन हीं अनुभव आदि करके नीचेको सरकना (हानि) स्वभाववाली अवसर्पिणी है । फिर उत्सर्पिणीमें छह काल दुःषमदुःषमा आदिक हैं और अवसर्पिणीमें सुषमसुषमा आदिक छह काल समझ लेने चाहिये । सुषमसुषमा चार कोटाकोटी सागर तक चलता है । उस समय यहां उत्तम भोगभूमिकी रचना हो जाती है । पीछे क्रमसे हानि होते हुये तीन कोटाकोटी अद्धा सागरका सुषमा काल प्रवर्तता है । उसकी आदिमें मनुष्य हरिवर्षके मनुष्योंके समान मध्यम भोगभूमिवाले समझे जाते हैं । पश्चात् क्रमसे अनुभव आदिकी हानि होते हुये दो कोटाकोटी सागर स्थितिवाला जघन्य भोग भूमिकी रचनासे युक्त सुषमदुःषमा काल चालू होजाता है । उसके अनन्तर क्रमसे हीनता होनेपर बियालीस हजार वर्ष कमती एक कोटाकोटी सागर पर्यंत कर्मभूमिका दुःषमसुषमा काल विदेह समान रचनावाला प्रवर्तता है । विदेहमें क्रमसे हानि नहीं है । समान काल रहता है । पश्चात् क्रमसे न्यूनता होते हुये इक्कीस हजार वर्षतक कर्मभूमिका दुःषमा काल वर्तता है । पुनः अनुभव आदिकी न्यूनता होते होते दुःषमदुःषमा काल इक्कीस हजार वर्षका प्रवर्तता है । यह अवसर्पिणीकी दशा बता दी है । उत्सर्पिणीमें सुख आदिकी क्रमसे बढती हुई इससे विपरीत व्यवस्थाको आगम अनुसार समझ लेना चाहिये ।

अथ भरतैरावताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिता एवेत्यावेदयति ।

अब श्री उमास्वामी महाराज भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्रसे भिन्न पडी हुई भूमियां अवस्थित हैं । इस सिद्धान्तका विज्ञापन कराते हैं ।

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥ २९ ॥

उन भरत क्षेत्र, ऐरावत क्षेत्रोंसे शेष बच रहीं अन्य भूमियां अवस्थित एकसी रहती हैं । उन भूमियोंमें उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, कालोंका परिवर्तन नहीं है ।

तत्स्थप्राणिनामनुभवादिभिर्वृद्धिह्रासाभावात् । षट्समययोरुत्सर्पिण्यवसर्पिण्योरसंभवादेकैककालत्वादवस्थिता एव ताभ्यामपरा भूमयोऽवगंतव्याः । तदेवं—

उन हैमवत, हैरण्यवत आदि क्षेत्रोंकी भूमियोंमें ठहर रहे प्राणियोंके अनुभव, आयुष्य आदि करके बढने और घटनेका अभाव हो जानेसे वे भूमियां अवस्थित कही जाती हैं । दुःषमदुःषमा आदि या सुषमसुषमा आदि छह समयोंको धारनेवाली उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीका असम्भव हो जानेसे सदा यथायोग्य एक एक ही कालकी वर्तना होनेके कारण उन भरत ऐरावतोंसे भिन्न हो रहीं शेष भूमियां अवस्थित ही समझ लेनी चाहिये और तिस कारण इस प्रकार होनेपरः—

वर्षवर्षधराबाध्यविष्कंभकथनं कृतं ।
सूत्रत्रयेण भूमीनां स्थितिभेदो द्वयेन तु ॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराजने पचीसवें, छब्बीसवें, सत्ताईसवें, तीन सूत्रों करके क्षेत्र और पर्वतोंकी चौडाईका बाधा रहित कथन कर दिया है और अट्ठाईसवें, उन्तीसवें, इन दोनों सूत्रों करके तो भरत, ऐरावत, और उनसे न्यारे क्षेत्र या पर्वतोंमें स्थितियोंके भेदका निर्बाध निरूपण कर दिया है ।

न हि भरतादिवर्षाणां हिमवदादिवर्षधराणां च सूत्रत्रयेण विष्कंभस्य कथनं बाध्यते प्रत्यक्षानुमानयोस्तदविषयत्वेन तद्बाधकत्वायोगात् प्रवचनैकदेशस्य च तद्बाधकस्याभावात् आगमांतरस्य च तद्बाधकस्याप्रमाणत्वात् ।

श्री उमास्वामी महाराज द्वारा " भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तारः षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य, तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहांताः, उत्तरा दक्षिणतुल्याः " इन तीनों सूत्रों करके भरत हैमवत, आदि क्षेत्रोंकी और हिमवान् महाहिमवान् आदि पर्वतोंकी चौडाईका किया जा चुका निरूपण फिर किसी भी प्रमाणसे बाधित नहीं हो जाता है । क्योंकि उन सूत्रोंके प्रतिपाद्य अर्थको नहीं विषय करनेवाले होनेके कारण इन प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंको उस प्रतिपाद्य अर्थके बाधकपनका अयोग है । जो प्रमाण जिस विषयमें नहीं प्रवर्तता है वह उस विषयका साधक या बाधक नहीं हो सकता है । व्याकरणको पढा हुआ पण्डित विचारा वैद्यक प्रयोगोंका खण्डन या मण्डन नहीं

कर सकता है। तथा तीसरे आगम प्रमाणके एक देशको तो उस तीन सूत्रों द्वारा कहे गये प्रमेयका बाधकपना नहीं है। क्योंकि समीचीन शास्त्रोंके प्रकरण तो इन ही उक्त सिद्धान्तोंकी पुष्टि करते हैं। हां, उस प्रमेयके बाधक माने जा रहे अन्य कुरान, वर्ल्ड जौगरफी, सिद्धान्तशिरोमणि, प्राकृतिकभूगोल, ऐटलस, आदि न्यारे आगमोंको तो प्रमाणपना व्यवस्थित नहीं है। अर्थात्—अप्रमाण आगम किसी समीचीन आगम द्वारा प्रतिपाद्य विषयका बाधक नहीं होता है। स्वयं अंधा भला दूसरे सूझतोंको क्या मार्ग बतायगा ? किसी नकटे द्वारा भगवद्दर्शनका प्रलोभ देनेपर स्वकीय नासिका छेद कर देना अनुचित है। नासिकाकी प्रतिष्ठाके समान इन सर्वज्ञ आम्नात आगमोंको ही प्रामाण्य मिलता रहा है। और परिशेषमें भी इन्हींको प्रामाण्य प्राप्त होगा। दिग्भ्रमी पुरुष मध्यमें भले ही कुछका कुछ समझ बैठे।

तत एव सूत्रद्वयेन भरतैरावतयोस्तदपरभूमिषु च स्थितेर्भेदस्य वृद्धिह्रासयोगाभ्यां विहितस्य प्रकथनं न बाध्यते, तथाऽसंभवात् अन्यथाभावावेदकप्रमाणाभावाच्चेति पर्याप्तं प्रपंचेन।

तिस ही कारणसे यानी प्रत्यक्ष अनुमान और आगम प्रमाणों करके बाधित नहीं होनेके कारण श्री उमास्वामी महाराज करके " भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्, ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः " इन दो सूत्रों द्वारा भरत ऐरावतोंमें और उनसे न्यारी भूमियोंमें वृद्धि ह्रासोंके योग तथा वृद्धि ह्रासोंके अयोगसे किये गये स्थितिके भेदका बढिया कथन किया जाना किसी भी प्रमाणसे बाधित नहीं होता है। क्योंकि तिस प्रकार बाधक प्रमाणोंका असम्भव होजानेसे और क्षेत्रोंकी स्थितिके दूसरे प्रकारोंसे सद्भावका आवेदन करनेवाले ज्ञानोंकी प्रमाणताका अभाव होजानेसे सूत्रकारका सुंदर निरूपण निर्बाध ठहर जाता है। यों इस जिनागमकी प्रमाणताको हम कई वार कह चुके हैं। अतः यहां विस्तार कथन करनेसे पूरा पडो। विचारशील विद्वानोंके प्रति अल्प कथन ही तुष्टिकर है।

अथ भरतैरावताभ्यामपरा भूमयः किंस्थितय इत्याह।

इसके अनन्तर भरत और ऐरावतसे निराली होरहीं भूमियां या उन भूमिओंमें स्थित होरहे मनुष्य, तिर्यंच, भला कितनी स्थितिको धार रहे हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर अग्रिम सूत्र कहा जाता है।

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः ॥ ३० ॥

एक, दो, तीन, पल्योपमस्थितियोंको धारनेवाले हैमवतक और हारिवर्षक तथा दैवकुरवक हैं। अर्थात्—हैमवत क्षेत्रमें रहनेवाले जघन्य भोग भूमियां मनुष्य और पंचेन्द्रिय संज्ञी तिर्यचोंकी उत्कृष्ट आयु दो अद्धापल्य है। देवकुरुमें निवास कर रहे उत्तम भोगभूमियां मनुष्य तिर्यंचोंकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम है। इनकी जघन्य आयु तो एक समय अधिक एक कोटि पूर्व वर्ष और एक समय अधिक एक पल्य तथा एक समय अधिक दो पल्य यथाक्रमसे समझ लेना।

हैमवतादिभ्यो भवार्थे वुञ्, हैमवतकादीनां द्वन्द्वे सति हैमवतकस्यानुपूर्व्यप्रतिपत्त्यर्थः पूर्वनिपातः। एकादीनां हैमवतकादिभिर्यथासंख्यं संबंधः, तेनैकपल्योपमस्थितयो हैमवतका, द्विपल्योपमस्थितयो हारिवर्षकाः, त्रिपल्योपमस्थितयो दैवकुरवका इत्युक्तं भवति।

हैमवत, हरिवर्ष, देवकुरु, इस प्रकार शब्दोंसे तत्र भव इस अर्थमें वुञ् प्रत्यय कर पुनः वु को अक और ञित्पनेसे पूर्व अच्को वृद्धि करते हुये हैमवतक, हारिवर्षक, दैवकुरवक, शब्दोंको साधु बना लेना चाहिये। इन हैमवतक आदि शब्दोंका इतरेतर योग द्वन्द्व समास करनेपर हैमवतक शब्दका ठीक आनुपूर्व्यकी प्रतिपत्ति करानेके लिये पूर्वमें निपतन हो जाता है। एक, दो, आदि पदोंका हैमवतक, आदिके साथ यथासंख्य सम्बन्ध कर लेना। ऐसा सम्बन्ध कर लेनेसे सूत्र द्वारा यों कहा जा चुका समझा जाता है कि एक पल्योपम स्थितिको धार रहे हैमवत क्षेत्र निवासी भोगभूमियां जीव हैं, दो पल्योपम स्थितिको धार रहे हारिवर्षक हैं और देवकुरु निवासी भोगभूमियोंकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम है।

विदेहादुत्तराः कथमित्याह।

विदेह क्षेत्रसे उत्तरवर्त्ती परली ओरके भोगभूमियोंकी किस प्रकार स्थितियां हैं ? यों जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

तथोत्तराः ॥ ३१ ॥

तिस ही प्रकार उत्तर देशवर्त्ती जीवोंकी स्थितियोंको समझ लेना चाहिये। अर्थात्—पांच मेरु सम्बन्धी पांच हैरण्यवत क्षेत्रोंमें भोगभूमियोंकी स्थिति एक पल्योपम है। वहां सर्वदा सुषमदुःषमा काल अवस्थित रहता है। पांच मेरु सम्बन्धी रम्यक क्षेत्रोंमें भोगभूमियां दो पल्यकी आयुको धारनेवाले हैं। यहां सर्वदा सुषमकाल तदवस्थ रहता है तथा पांच उत्तरकुरुओंमें तीन पल्योपमकी स्थिति है। यहां सर्वदा सुषमसुषमा काल वर्तता रहता है। यों जम्बूद्वीपके उत्तर प्रान्तमें जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भोगभूमियां तदवस्थ हैं।

हैरण्यवतकरम्यकौत्तरकुरवका एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकादिवदित्यर्थः।

इस सूत्रका यह अर्थ है कि हैमवतक आदिके समान ही परली ओरके जीवोंकी स्थिति है। हैमवतकोंके समान हैरण्यवतक जीवोंकी स्थिति एक पल्योपम है। हरिवर्षमें रहनेवाले मनुष्य, तिर्यंचोंके समान रम्यक निवासियोंकी दो पल्योपम आयुःस्थिति है। दैवकुरवकोंके समान उत्तरकुरुस्थायी मनुष्य तिर्यंच तो तीन पल्योपम स्थितिको धार रहे हैं। अर्थात्—भोगभूमियोंमें विकलत्रय और लब्ध्यपर्याप्तक जीव नहीं पाये जाते हैं। हां, पांचों कायके स्थावर जीव वहां विद्यमान हैं। उत्कृष्ट स्थिति बाईस हजार वर्ष, सात हजार वर्ष, तीन दिन, तीन हजार वर्ष, दस हजार वर्ष, यथाक्रमसे पृथ्वी,

जल, तेज, वायु, वनस्पतिकायिक जीवोंकी है, इनकी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त भी वहां पायी जाती है। जैसे कि उत्तरकुरुमें जघन्य आयु एक समय अधिक दो पल्य और उत्कृष्ट पूरे तीन पल्यकी है ये भोगभूमियां मनुष्य या तिर्यंच दोनों स्त्री और पुरुषका युगल होकर उपजते हैं। पहिले युगलकी स्त्रियां छींकसे और पुरुष केवल जंभाई लेनेसे पूर्ण आयुके अन्तमें मर जाते हैं, विद्युत्के समान उनका शरीर विघट जाता है। नवीन युगल सात दिनतक अपने अंगूठेका पान करते हुये ऊपरको मुख करके लोटते रहते हैं। पीछे सात दिनतक भूमिमें रेंगते रहते हैं। तीसरे सप्ताहमें अव्यक्त मधुर भाषण करते हुये गिरते पडते पांवोंसे चलते हैं। चौथे सप्ताहमें पांवोंको जमाकर चल लेते हैं। पांचवे सप्ताहमें कलागुणोंको धार लेते हैं। छट्ठे सप्ताहमें तरुण अवस्थाको प्राप्त होकर भोगोंको भोगते हैं और सातवें सप्ताह करके सम्यक्त्व ग्रहणकी योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। जघन्य भोगभूमियां मनुष्योंका शरीर दो हजार धनुष ऊंचा है। एक दिन बीचमें देकर दूसरे दिन एक बार आमले बराबर भोजन करते हैं। मध्यम भोगभूमियां मनुष्योंका शरीर चार हजार धनुष ऊंचा है। दो दिन बीचमें देकर तीसरे दिन एक बार बहेडे समान आहार लेते हैं। यह आहार अतीव गरिष्ठ होता है, जैसे कि चक्रवर्ती या नारायण, प्रतिनारायणके भोजनको साधारण मनुष्य नहीं पचा सकता है, भोगभूमियोंका आहारयोग्य द्रव्य उससे भी कहीं अत्यधिक गरिष्ठ होता है। उत्तम भोगभूमियां मनुष्योंका शरीर छह हजार धनुष यानी तीन कोस ऊंचा है और आठवें भक्त यानी तीन दिन बीचमें देकर चौथे दिन छोटे बेर तुल्य एक बार आहार लेते हैं। कर्म भूमिके मनुष्योंकी अपेक्षा जैसे हाथी, घोडे, बैल, आदिका शरीर जिस क्रमसे बढा हुआ है, उसी प्रकार वहां भी तिर्यंचोंका शरीर मनुष्य शरीरसे बडा है। हां, गेंहू, चने, जौ, आदिमें कोई विशेष अंतर नहीं है। यों देश भेदसे इनमें थोडा बहुत अब भी अंतर पाया जाता है। जो वनस्पतियां बीज अनुसार उपजती हैं वे गेहूं, चना, आम, नीबू, अनार, आदि भोगभूमियोंमें अवश्य पायीं जातीं हैं। भले ही उनका उपयोग नहीं होय। आज कल भी तो लाखों वनस्पतियां वनमें यों ही नष्ट होजाती हैं। बीज संतान उनकी बनी रहती है। भरत, ऐरावत, क्षेत्रोंमें भोगभूमियोंके समय भी बीजांकुर न्यायसे अनादि कालीन उक्त वनस्पतियां अवश्य थीं। हां, कर्मभूमियोंके वृक्षोंके तारतम्य अनुसार भोगभूमिमें भी मनुष्योंकी अपेक्षा वृक्ष महान् हैं। वनस्पतिकायिक कल्पवृक्ष भी हैं। दश प्रकारके पृथ्वी विकार कल्पवृक्ष जघन्य भोगभूमिमें दश कोस ऊंचे हैं। मध्यम भोगभूमिमें बीस कोस ऊंचे और उत्तम भोगभूमिमें तीस कोस ऊंचे वृक्ष हैं। उन कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुये भोगोंको भोगभूमियां जीव सदा भोगते रहते हैं। मद्यांग जातिके वृक्षोंसे वे मद्यको प्राप्त कर लेते हैं, जैसे कि ताड वृक्षोंसे भील ताडीको प्राप्त कर लेते हैं। यहां मद्यका अर्थ सुरा (शराब) नहीं है, किंतु दूध, दही, घी, इक्षुरस, आम्ररस, आदिकीसी सुगंधियोंको धार रहा पीने योग्य द्रवद्रव्य है। कामशक्तिका जनक होनेसे उसको उपचारसे मद्य कह दिया जाता है। वादित्रांग जातिके कल्पवृक्षोंसे मृदंग, ढोल, घंटा, वीणा आदि फल फूल रहे बाजे प्राप्त होजाते हैं। तीसरे भूषणांग जातिके कल्पवृक्षोंसे भोग भूमियां फल फूल रहे कडे,

करधौनी, हार, कुंडल, अंगूठी आदि अलंकारोंको लेकर पहन लेते हैं । चौथे माल्यांग कल्प वृक्षोंसे चंपा, चमेली, केवडा, जुही, गुलाब, आदिकी फलती, फूलती मालाओं या पुष्पोंको तोडकर व्यवहारमें लाते हैं । पांचवें ज्योतिरंग कल्पवृक्षोंसे ऐसे चमकीले पदार्थोंको प्राप्त कर लेते हैं जिनसे कि सूर्य, चंद्रमा, शुक्र आदि विमानोंकी कांति भी छिप जाती है । इस ही कारण तीनों भोग भूमियोंमें अभिभूत सूर्य चंद्रमा आदि ज्योतिष्कमंडलका दर्शन नहीं होपाता है, जैसे कि दिनमें तारामंडल नहीं दीखता है । छठे दीपांग जातिके कल्पवृक्षोंसे चमकदार फले हुये लाल, हरे, पीले, दीपोंको तोड लाकर वे अपने घरमें धर लेते हैं । सातवें गृहांग जातिके कल्पवृक्ष तो रत्नमय कोठियां, कोट, महल, कमरा, आदि रूप करके परिणमते हुये फल जाते हैं । आठवें भोजनांग कल्पवृक्ष तो छह रस युक्त अमृतमय दिव्य आहार रूप होकर फलते हैं । नौवें भाजनांग कल्पवृक्ष सोने, चांदी, रत्नोंके बने हुये कलश, थाली, कटोरा, डेग, आदि रूप फल जाते हैं तथा दशवें वस्त्रांग, जातिके कल्पवृक्षोंसे अनेक प्रकारके सुन्दर वस्त्रोंको वे प्राप्त कर लेते हैं । ये पार्थिव कल्पवृक्ष इन पांचों भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें भोगभूमि सम्बन्धी व्यवहार कालको निमित्त पाकर उपज जाते हैं । कर्मभूमि सम्बन्धी व्यवहार कालकी प्रवृत्ति होनेपर विनश जाते हैं । किन्तु स्वर्ग, हैमवतक, देवकुरु, हरिवर्ष, सूर्यविमान, श्रीदेवीगृह, भवनवासी या व्यंतरोंके भवन आदिमें ये कल्पवृक्ष सर्वदा बने रहते हैं । आजकल भी प्रायः सभी भोगोपभोगोंके उपयोगी पदार्थ इन्हीं एकेन्द्रिय वृक्ष या खानोंसे उपजते हैं । भूषण या प्रकाशके उपयोगी सुवर्ण, रत्न, आदि पदार्थ तो खानोंसे प्राप्त कर लिये जाते हैं । खानोंसे मट्टी, पत्थर, कंकड, लोहेको लाकर सुन्दर, गृह, किले, कोठियां, महल, बना दिये जाते हैं । वृक्षोंकी लकडीसे किवाड बन जाते हैं । पुष्प या माला अथवा भोजन तो प्रायः वृक्ष या बेलोंसे ही प्राप्त किये जाते हैं । अन्तर इतना ही है कि कार्तिक मासमें गेंहू बो देनेपर हमको वैसाखमें फलकर छह या पांच महीने पश्चात् खेतसे गेंहू प्राप्त होता है और उस उस जातिके कल्पवृक्षोंसे अन्तर्मुहूर्तमें ही नियत अभिलाषित वस्तुकी इच्छा अनुसार प्राप्ति हो जाती है । इसमें कोई आश्चर्य नहीं है । कदाचित् किसी किसी व्यक्तिकी इच्छाओं अनुसार तत्क्षण मलस्राव (मूतना हंगना) जंभाई लेना मद (नशा) हो जाना आदि क्रियायें हो जाती हैं । जगत्के सम्पूर्ण कार्य अपने अपने कारणों द्वारा सम्पादित हो रहे हैं । अन्तर इतना ही है कि कोई कार्य विलम्बसाध्य हैं । तथा पुण्यशालियोंके अनेक कार्य क्षिप्र हो जाते हैं । वर्तमान कर्मभूमिमें भी उत्पाद प्रक्रियाका तारतम्य देखा जाता है । हथिनी अठारह महीनेमें प्रसव करती है । गर्भधारणके तेरहमास पीछे उटिनी बच्चाको जनती है । घोडी बारह महीनेमें, भैंस दश महीनेमें, गायें या स्त्रियां नौ मासमें अपत्यको उपजाती हैं । छिरिया छह महीनेमें कुतिया तीन महीनेमें ब्याय जाती है । गर्भ स्थितिके पश्चात् मुर्गी दश दिन पीछे अण्डा देना प्रारम्भ कर देती है । कबूतरी गर्भस्थितिके सात दिन पश्चात् प्रसूता हो जाती है । भिन्न भिन्न ऋतु या न्यारी न्यारी देशपरिस्थिति अथवा विज्ञान प्रयोगप्रक्रिया द्वारा शीतोष्णता अनुसार

उक्त काल मर्यादामें न्यूनता, अधिकता भी हो जाती है। विज्ञानप्रक्रिया द्वारा कबूतरी, मुर्गी, आदिका प्रसव शीघ्र भी करा दिया जा सकता है। पदार्थोंमें अचिंत्य निमित्त नैमित्तिक शक्तियां भरी हुई हैं। वर्षोंके कार्य महीनोंमें और महिनोंके कार्य दिनोंमें तथा दिनोंके कार्य घण्टोंमें उपज जाते हैं। इस हीनताके तारतम्य अनुसार कल्पवृक्षोंसे भी उसी प्रकार उचित भोगोपभोगके योग्य पदार्थोंकी प्राप्ति होजाती है। कल्पवृक्ष चाहे जो भी सभी पदार्थोंको नहीं दे सकते हैं। आमके पेडपर अमरूद नहीं फलते हैं। इसी प्रकार पुत्र, गाय, घोडा, हाथी, मक्खी, चींटी, या चरखा, खात, कूडा, समाचारपत्र, पुस्तकें, अस्त्र, शस्त्र, आदि पदार्थोंको ये दस १० जातिके कल्पवृक्ष नहीं दे सकते हैं। क्योंकि पुत्र आदिके उपजानेकी उन कल्पवृक्षोंमें निमित्त नैमित्तिक शक्तियां या उपादान, उपादेय, व्यवस्थायें नहीं हैं। जब कि जगत्में पौरुषार्थिक या प्राकृतिक नियम अनुसार कार्योत्पत्तिमें अनेक विचित्रतायें दृष्टिगोचर होरहीं हैं। छकडों या बैलगाडियों द्वारा जो मार्ग महीनोंमें परिपूर्ण किया जाता था रेलगाडियों या विमानों द्वारा वह मार्ग दिनों या घंटोंमें गमन कर लिया जाता है। मिनिटों या सैकिंडोंमें हजारों कोस दूर समाचार पहुंचा दिये जाते हैं। गुलाब शीघ्र उपजा लिया जाता है। उसका फूल दस गुना बडा कर लिया है। प्रयोगों द्वारा नीमकी कटुता न्यून कर दी जा सकती है। साङ्कर्य यानी कलम लगा देनेसे आम, शुफ्ताट, सन्तरों आदिकी दशायें परिवर्तित हो जाती हैं। दुर्बल मनुष्य अतिशीघ्र सबल और बलवान् जीव प्रयोगों या औषधियों द्वारा शीघ्र निर्बल किया जा सकता है। तथा भूमियां ऋतुयें या फलने, फूलने, के व्यवहारकाल उपादान द्रव्य आदिके अनुसार प्राकृतिक नियमोंमें विलक्षणतायें हैं। बीज बोये जानेसे पचास वर्ष पीछे खिरनीका वृक्ष फलता है। अखरोट कदाचित् इससे भी अधिक समय ले लेता है। इमली, कटहर वपन होनेके पश्चात् बीस, पचीस, वर्षमें फलित होते हैं। आम्रफल पांच, छह वर्षके वृक्षपर ही आ जाते हैं। बीज डालनेके दो वर्ष पीछे आडू या आलू बुखारे ये वृक्षपर लग जाते हैं। अरण्ड एक वर्षमें फल जाता है। बोये पीछे ग्यारह महीनेमें अरहर पक कर आ जाती है। गेंहू पांच महीनेमें, बाजरा मक्का तीन महीनेमें, समा चावल दो महीनेमें फल दे देता है। भूमिमें बोये जानेके पश्चात् पोदीना पन्द्रह दिनमें, मेंथी तीन दिनमें और सणी एक दिनमें नवीन पत्ते दे देती हैं। इसी प्रकार कल्प वृक्षोंसे कुछ मिनिटोंमें ही नियत पदार्थ उपज जाते हैं। ताडवृक्षकी छाल ताना बाना पुरे हुये वस्त्रके समान है। कई वृक्षोंपर कटोरा कटोरी सरीखे पत्ते या फल लग जाते हैं। तोरईका बाजा बजाया जा सकता है। लौकातुम्बी तो बीन, सितार, तमूरा, आदिमें उपयोगी हो रहे हैं। भांग, महुआ, ताडी, अंगूर, अफीम डोंडा आदि वृक्ष मदकारक पदार्थोंके उत्पादक हैं। गेंहू, चावल, आम, अमरूद, केला आदि भोक्तव्य पदार्थोंके वृक्ष प्रसिद्ध ही हैं। बहुभाग वस्त्र कापौस वृक्षोंके फलोंसे बनाये जाते हैं। दीपकके उपयोगी पदार्थ तो तिल, सरसोंके, वृक्षोंसे या पार्थिव खानोंसे ही प्राप्त होते हैं। पुद्गलोंकी रगडसे चमकनेवाली बिजली बन जाती है। बात यह है कि गम्भीर दृष्टिसे विचारनेपर कल्पवृक्षोंसे

नियत वस्तुओंकी कारिका सिद्धान्त पुष्ट हो जाता है। विशेषज्ञ पुरुष इसको अनेक अन्य युक्तियों द्वारा भी समझ समझा सकते हैं। अनेक स्थलोंपर मेरे लेखोंमें पुनरुक्त दोष आ गया है। किन्तु मन्द बुद्धिवाले श्रोताओंको समझानेकी अपेक्षा यह दोष गणनीय नहीं है। प्रतिभाशाली विद्वानोंके लिये महर्षियोंके ग्रन्थों या स्वकीय ऊहापोह द्वारा विशेष सन्तोष प्राप्त हो सकेगा। कोई कोई बात तो मूल सूत्रमें और वार्तिकमें तथा उस वार्तिकके विवरणमें यों तीन बार एवं इनकी देश भाषा कर देनेपर तीनों बार इस प्रकार स्वतः विना प्रयत्नके छह बार आ गई है। युक्तियों द्वारा मन्दबुद्धि शिष्योंको समझानेका उद्देश्य कर पुनरपि एकाध बार वही मन्तव्य पुनः पुनः पुनरुक्त हो जाता है तथा विशेष व्याख्यान करते करते क्वचित् जैनसिद्धान्त जैनन्याय और जैन व्याकरणसे भी मेरा प्रमादवश या अज्ञानवश स्खलन हो जाना सम्भव है। तथापि देशभाषा करनेमें बुद्धिपूर्वक कषाय ईर्षा, विद्वेष, मिथ्याभिनिवेश, नहीं होनेसे स्वकीय संचेतना अनुसार कोई त्रुटि नहीं रक्खी गयी है। "सदृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः" इस वाक्यका केवल प्रथमा, द्वितीया, विभक्तिका अर्थ करते हुये कोई पण्डित यदि "धर्मके ईश्वर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रोंको धर्म जानते हैं।" इस प्रकार अर्थ कर देवे तो ऐसी दशामें त्रुटि नहीं रह सकती है, जैसे कि ग्रामीण गंवार स्त्री द्वारा पेट भरनेके लिये बनायी गयी केवल मोटी रोटीमें कोई त्रुटि नहीं निकाली जाती है। किन्तु नोंनके या मीठे कचौडी, पकवान्ने, सेव, लड्डू, पूआ, घेवर, इमर्ती, गुलाबजामुन अथवा अनेक प्रकारकी तरकारियां आदि भोज्य पदार्थोंमें कई त्रुटियोंकी समालोचना की जाती है। सभी प्राणियोंको सन्तोषके छोटे बडे उपाय प्राप्त हो ही जाते हैं। मुझे भी नीरक्षीरकी विवेचक हो रही हंस प्रकृतिको धारनेवाले उदात्त, गम्भीर, सज्जन विद्वानोंसे सन्तोष पानेका सौभाग्य मिला हुआ है। समझा जायगा जब कि त्रुटियोंपर लक्ष्य नहीं देते हुये वे प्रमेयका सुधार कर अध्ययन करेंगे। "जियते स न हि कश्चिदुपायः सर्वलोकपरितोषकरो यः। सर्वथा स्वहितमाचरणीयं किं करिष्यति जनो बहुजल्पः" यह किसी कविका वाक्य सर्वांगसुन्दर है। प्रकरणमें यही कहना है कि अनेक निमित्त कारण तो वर्षोंमें कार्योंको करते हैं, कितने ही कारण महिनों, दिनों, घण्टोंमें ही कार्यको बना देते हैं। आकाशमें अदृश्य उपादान कारणोंसे झट मेघ, बिजली, बादल, बन जाते हैं, उपादान कारणके विना जगत्का कोई भी कार्य नहीं उपजता है। शब्द, बिजली आदिके भी उपादान कारण हैं। भले ही वे दीखें नहीं, यह हमारी निर्बलता है। कार्य कारण पद्धतिका कोई दोष नहीं है। अक्षीण महानस, ऋद्धिधारी मुनियोंके लिये जिस पात्रसे भिक्षा दी जाती है, उस भाजनसे चक्रवर्तीकी सेना भी भोजन कर ले तो उस दिन उस पात्रका अन्न नहीं निबट पाता है। यहां भी अन्नके मल अदृश्य उपादान कारण विद्यमान हैं। अंकुरके विना बीज और बीज विना अंकुर नहीं उपजता है। शिवाय भोगभूमि या स्वर्ग तो क्या मोक्षमें भी यदि अंकुर पाया जायगा तो उसका बाप बीज वहां प्रथमसे ही मानना पडेगा। हां, विलम्ब या शीघ्रताका अन्तर पड सकता है, कर्मभूमिके अपुष्पवनस्पती।

जीवोंको जो पदार्थ वर्तमान वृक्ष या खानोंद्वारा वर्षों अथवा महीनोंमें प्राप्त (नसीब) होते हैं, किन्तु ये भोगभूमियोंके वृक्ष अन्तर्मुहूर्तमें ही उन अधिक सुन्दर अभीष्ट पदार्थ रूप फल जाते हैं। यहां भी आमके वृक्षसे अमरूद या अनार नहीं मिल सकते हैं। उसी प्रकार भोगभूमिमें भी वादित्रांग वृक्षोंसे भोजन या वस्त्र प्राप्त नहीं हो सकते हैं। उपादान उपादेय शक्तिका या निमित्त नैमित्तिक भाव का कहीं भी अतिक्रमण नहीं हो सकता है, भोगभूमियोंमें अमृत रसके समान स्वादवाली चार अंगुल ऊंची और मुखकी वायुसे ही टूट जाय ऐसी कोमल घास उपजती रहती है। गाय, भैंस, आदि पशु उस घासको चरते हैं, वहांकी भूमियां बडी सुन्दर बनी हुई हैं। कहीं कहीं सिढ्ढीदार बावडी, सरोवर, नदियां, और क्रीडापर्वत भी विद्यमान हैं। नदीके किनारोंपर रत्नचूर्ण मिश्रित वालुके ढेर लग रहे हैं। जैसे कि आजकल भी कचित् वालूमें भुड भुड या चांदीके कण, माणिक रैती आदि पायी जाती है। मांस भक्षण नहीं करनेवाले और परस्परमें अविरोध रखते हुये वहां पंचेंद्रियतिर्यंच जीव भी हैं। चूहे, सर्प, नौला, उल्लू, बगला आदि तिर्यंच और विकलत्रय जीव अथवा असंज्ञी जीव या नपुंसक पंचेंद्रिय एवं जलचरत्रस ये भोगभूमिमें नहीं पाये जाते हैं। सभी मनुष्य तिर्यंच विनीत, मन्दकषाय, मधुरभाषी, कलाकुशल, अमायाचारशील आदिसे संयुक्त हैं। इष्टवियोग अनिष्टसंयोग, स्वेद, ईर्षा, मात्सर्य, अनाचार, उन्माद, अतीसार, पसीना चिन्ता, रोग, जरा, कृपणता, भय, आदिसे रहित हैं। सर्वथा अष्टादश दोषोंसे रहित तो जिनेंद्र ही हैं। फिर भी आजकलके मनुष्य तिर्यचों समान तीव्र रोग, चिन्ता, भय, क्षुधा, जरा, नहीं होनेसे देव या भोगभूमियां निर्जर, निर्भय, नीरोग, कह दिये जाते हैं। कर्मभूमिमें मनुष्य तिर्यंच या व्रतियोंको दान देनेसे या अनुमोदना करनेसे जीवोंकी उत्पत्ति भोगभूमिमें होती है। भरत और ऐरावतसे अतिरिक्त अन्य क्षेत्रस्थानों या क्षेत्रोंमें तथा ढाई द्वीपके बाहर असंख्याते द्वीपोंमें सदा एकसा प्रवर्तन रहता है। हां, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, द्वारा भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें विशेषतया इनके आर्य खण्डोंमें कर्मभूमिसे भोगभूमि और भोगभूमि कालसे कर्मभूमि कालकी परावृत्ति होती रहती है। भरत, ऐरावत्त, सम्बन्धी विजयार्ध पर्वत और म्लेच्छ खंडोंमें चौथे कालके आदि, अंत, सदृश काल वर्तता है। मोक्षमार्ग चालू नहीं है। आर्य खंडमें सुषमसुषमा कालकी प्रवृत्ति होनेपर म्लेच्छ खंडोंमें शरीर पांचसौ धनुष और आयु कोटिपूर्व वर्ष है। तथा आर्य खंडोंमें दुःषमदुःषमा कालकी प्रवृत्ति होनेपर विजयार्ध और म्लेच्छ खंडोंमें शरीर सात हाथ और आयुः एक सौ बीस वर्ष होजाती है। जघन्य आयुः अन्तर्मुहूर्त है। श्वासके अठारहवें भागवाला अन्तर्मुहूर्त नहीं लेना। इससे बडा अन्तर्मुहूर्त पकडना। क्योंकि इन विजयार्ध और म्लेच्छ खंडोंमें लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य नहीं हैं। बीस कोटाकोटी अद्धासागरके कल्प कालमें अठारह कोटा कोटी सागर तो भोगभूमि काल है और केवल दो कोटा कोटी सागर कर्मभूमि रचनाका काल है। कर्मभूमिका प्रारम्भ होते ही ये पार्थिव कल्पवृक्ष नष्ट होजाते हैं। भोगभूमिके प्रारम्भमें पुनः उपज जाते हैं, जैसे कि यहां इस कालमें भी कितने ही पर्वत उपजते विनसते रहते हैं। किन्तु बीजसे उपजने वाले वृक्षोंकी संतान नहीं

नष्ट होती है। क्योंकि कारणके विना कार्य नहीं उत्पन्न होसकता है। हां, मनुष्योंकी आयु अवगाहना आदिके समान वृक्षोंकी आयु या अवगाहना न्यून अधिक होती रहती है, जैसे कि भोगभूमियां मनुष्य तीन, दो, एक, कोस ऊंचे या हाथी छह, पांच, चार कोस ऊंचे अथवा वृक्ष तीस, बीस, दश कोस होते हैं, उसी प्रकार घटते, घटते, हुये इस समय मनुष्य साढे तीन हाथ, हाथी दस हाथ, वृक्ष बीस पचास, हाथ, ऊंचे रह गये हैं। हां, किसी पदार्थमें घटी, बढीका तारतम्य अधिक है और किसीमें न्यून है। गेंहू, चावलों, आदिके वृक्षोंमें उस त्रैराशिकके अनुसार हानि या वृद्धि नहीं होती है। थोडा अंतर अवश्य पड जाता है। चतुर्निकाय देवोंके या अन्यत्र स्थानोंपर पार्थिव कल्पवृक्षोंके अतिरिक्त वनस्पति कायिक कल्पवृक्ष भी पाये जाते हैं। अलम् विस्तरेण।

विदेहेषु किंकाला मनुष्या इत्याह।

कोई विद्यार्थी प्रश्न करता है कि विदेह क्षेत्रोंमें कितने आयुष्य कालको धारने वाले मनुष्य निवास करते हैं? ऐसी विनीत शिष्यकी तत्त्वबुभुत्सा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥ ३२ ॥

पांचों महाविदेहोंमें अथवा पांच मेरु सम्बन्धी एक सौ साठह विदेहोंमें लौकिक गणना अनुसार संख्या करने योग्य आयुष्य कालतक जीवित रहने वाले मनुष्य निवास करते हैं।

संख्येयः कालो येषां ते संख्येयकालाः संवत्सरादिगणनाविषयत्वात्तत्कालस्य।

जिन मनुष्योंका जीवन काल संख्या करने योग्य है, वे मनुष्य " संख्येयकाल " हैं। क्योंकि वर्ष, दिन, मास, आदि करके गिनी गयी गणनाका विषय हो रहा वह काल है। भावार्थ—विदेह क्षेत्रोंमें सर्वदा अवसर्पिणीके तीसरे काल सुषमदुःषमाके अन्त समान काल व्यवस्थित रहता है। मनुष्योंके शरीर पांच सौ धनुष ऊंचे हैं। नित्य एक वार भोजन करते हैं। जघन्य रूपसे मनुष्योंकी आयुः अन्तर्मुहूर्त्त है और उत्कृष्ट रूपसे वे एक कोटि पूर्व वर्षतक जीवित रहते हैं। चौरासी लाख वर्षका एक पूर्वाङ्ग होता है और चौरासी लाख पूर्वाङ्गोंका एक पूर्व होता है। ऐसे करोड पूर्वतक विदेह क्षेत्रवासी मनुष्य जीवते हैं। हाथी, घोडे, भैंसा, बैल आदिकी आयुओंको इसी प्रकार समझ लेना चाहिये। विदेह क्षेत्रमें द्रव्य रूपसे जैन धर्मका विनाश नहीं होता है। सदा जैन धर्मकी प्रवृत्ति बनी रहती है। भावोंमें भले ही मिथ्यात्व हो जाय।

अथ प्रकारांतरेण भरतविष्कंभप्रतिपत्त्यर्थमाह।

अब श्री उमास्वामी महाराज दूसरे प्रकारसे भरत क्षेत्रकी चौडाईको प्रतिपादन करनेके लिये अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं।

भरतस्य विष्कंभो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥ ३२ ॥

भरत क्षेत्रकी दक्षिण, उत्तर, चौडाई जम्बूद्वीपके एक सौ नब्बैवें भाग परिमाण है। अर्थात्– प्रथम स्थानको एक नग (अदत) मानकर उससे परली ओरके सात स्थानोंतक दूना दूना विस्तार किया जाय। पुनः सातवें स्थानसे छह स्थानोंतक आधा आधा विस्तार किया जाय, ऐसी दशामें ये सम्पूर्ण नग (डाग) एक सौ नब्बे हो जाते हैं। अतः सम्पूर्ण जम्बूद्वीपमेंसे भरत क्षेत्रकी चौडाई एक सौ नब्बैवें भाग आ जाती है।

नवत्याधिकं शतं नवतिशतं नवतिशतेन लब्धो भागो नवतिशतभागः। अत्र तृतीयांतपूर्वादुत्तरपदे लोपश्चेत्यनेन वृत्तिर्दध्योदनादिवत्। स पुनर्नवतिशतभागो जंबूद्वीपस्य पंचयोजन शतानि षड्विंशानि षट्चैकान्नविंशतिभागा योजनस्येत्युक्तं वेदितव्यं। पुनर्भरतविष्कंभवचनं प्रकारांतरप्रतिपत्त्यर्थमुत्तरार्थं वा। तदेवं—

नवतिसे अधिक शत यों मध्यम पद लोपी समास कर " नवतिशत " यह पद बना लिया जाता है। एक सौ नब्बे भाजक द्वारा प्राप्त हुये भागको नवतिशतभाग कहते हैं। यहां " तृतीयांतपूर्वादुत्तरपदे लोपश्च " इस सूत्र करके समासवृत्ति हो जाती है। जैसे कि " दध्ना उपसिक्तमोदनं दध्योदनं ", " गुडेन युक्ताः धानाः गुडधानाः, घृतेन संयुक्तो घटः घृतघटः " इत्यादि स्थलोंपर मध्यम पदोंका लोप करते हुये सामर्थ्य प्राप्त कर तत्पुरुष समास कर दिया जाता है। उसी प्रकार " नवत्या " इस तृतीयान्त पदके पूर्व वृत्ति होनेपर उत्तरवर्ती शत पदके परे रहते समास होजाता है और अधिक इस पदका लोप होजाता है। फिर वह एक लाख योजन चौडे जंबूद्वीपका एकसौ नब्बैमां भाग तो पांचसौ छब्बीस पूरे योजन और योजनके छह उन्नीसवें भाग हैं। इस बातको पूर्व सूत्र द्वारा कहा जा चुका समझ लेना चाहिये। जब कि " भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तारः षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य " इस सूत्र द्वारा भरतका विस्तार कहा ही जा चुका था। अब जो फिर भरतका विष्कंभ कहा जारहा है वह शिष्यबुद्धि वैशद्यार्थ अन्य प्रकार करके प्रतिपत्ति करानेके लिये है, अथवा उत्तरवर्ती " द्विर्धातकी खण्डे, पुष्करार्धे च " सूत्रों करके जो प्रमेय कहा जायगा उसका अभिसंबंध करनेके लिये यह सूत्र कहा गया है। भावार्थ—जंबूद्वीपमें चौरासी शलाकायें पर्वतोंकी और एकसौ छह शलाकायें क्षेत्रोंकी यों एकसौ नब्बे भाग हैं। धातकी खण्डमें दो मेरुसम्बन्धी बारह कुलाचल और चौदह क्षेत्र हैं। सभी कुलाचल और दो इष्वाकार पर्वतोंसे घिरे हुये स्थानसे अवशिष्ट स्थलमें चौदह क्षेत्रोपयोगी दो सौ बारहका भाग देनेसे एक भरतक्षेत्रका स्थान निकलता है। यों ही पुष्करार्धके भरतका क्षेत्र जान लेना। इसी संबंधको जतानेके लिये इस सूत्रका निर्माण किया है। तिस कारण इस प्रकार होनेपरः—

तत्क्षेत्रवासिनां नृणामायुषः स्थितिरीरिता ।
सूत्रत्रयेण विष्कंभो भरतस्यैकसूत्रतः ॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराजने " एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः, तथोत्तराः, विदेहेषु संख्येयकालाः " इन तीनों सूत्रों करके उन क्षेत्रोंमें निवास करनेवाले मनुष्योंके जीवित कालकी स्थितिको कह दिया है और " भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः " इस एक सूत्रसे भरतकी चौडाई कह दी गयी है ।

तन्नृणामित्युपलक्षणमचिरश्चामपि स्थितिरुक्तेति गम्यते ।

जैसे " काकेभ्यो दधि रक्ष्यतां " यहां काकपद सभी दधिके उपघातकोंका उपलक्षण है, यानी काकपदसे दहीको विगाडनेवाले अन्य पशु, पक्षी, छोकरा आदि सर्व ही पकड लिये जाते हैं । उसी प्रकार उक्त वार्त्तिकमें कहे गये " नृणां " यानी उन क्षेत्रनिवासी मनुष्यों यह पद उपलक्षण है । इस कारण वहांके पंचेंद्रिय तिर्यचोंकी स्थिति भी उन ही तीन सूत्रों द्वारा कह दी गयी, यों समझ लिया जाता है ।

धातकीखंडे भरतादिविष्कंभाः कथम् प्रमीयत इत्याह ।

धातकी खण्ड द्वीपमें भरत आदि क्षेत्रोंकी चौडाई भला किस प्रकार अच्छी नापी जाती है ? यों जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

द्विर्धातकीखण्डे ॥ ३४ ॥

दूसरे द्वीप धातकी खण्डमें क्षेत्र, पर्वत, कमल, हृद, नदियां आदिक संख्या द्वारा जम्बूद्वीपकी अपेक्षा दो दो होकर दुगुने नापे जाते हैं । अर्थात्—दो मेरु सम्बन्धी क्षेत्र पर्वतादिकी संख्या दूनी है तथा चौडाई भी दुगुनीसे कथमपि न्यून नहीं है ।

ननु च जंबूद्वीपानंतरं लवणोदो वक्तव्यस्तदुल्लंघने प्रयोजनाभावादिति चेन्न, जंबूद्वीपभरतादिद्विगुणधातकीखंडभरतादिप्रतिपादनार्थत्वात्, लवणोदवचनस्य सामर्थ्यलब्धत्वाच्च । महीतलमूलयोर्द्वियोजनसहस्रविस्तारो लवणोदः ।

यहां श्री विद्यानन्द स्वामीके प्रति कोई शिष्य अनुनय करता है कि कृपासागर सूत्रकार महाराजजीको तेतीसवें सूत्रतक जम्बूद्वीपका वर्णन करनेके पश्चात् चौतीसमे सूत्रमें लवणसमुद्रका निरूपण करना चाहिये था । उस लवणसमुद्रके वर्णनको उल्लंघन करनेमें उनका कोई विशेष प्रयोजन नहीं सधता है, जिससे कि धातकी खण्डका वर्णन झट मध्यमें आ कूदे । अब ग्रन्थकार कहते हैं कि यह

तो नहीं कहना। क्योंकि जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत आदि क्षेत्र या पर्वत, नदी, कुण्ड, आदिकोंसे संख्यामें दुगुने धातकी खण्ड सम्बन्धी भरत, हिमवान्, गंगा, गंगाकुण्ड, आदि हैं। इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेके लिये धातकी खण्डका वर्णन सप्रयोजन है। दूसरी बात यह है कि " तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते " इस नीतिके अनुसार जम्बूद्वीप और धातकी खण्डकी वर्णना कर देनेसे लवणसमुद्रका निरूपण तो बिना कहे ही पूर्वापर अभिधानकी सामर्थ्यसे ही स्वतः लब्ध हो जाता है। सर्वज्ञ सम्प्रदायका अतिक्रमण नहीं कर आम्नायसे प्राप्त हो रहे आगमों द्वारा या गुरुपरिपाटी द्वारा लवण समुद्रका स्वरूप इस प्रकार समझ लेना चाहिये कि समभूमितलपर एक लाख योजन चौडे जम्बूद्वीपका परिक्षेप करनेवाले कंकण समान लवण समुद्रकी चौडाई दो लाख योजन है। गायोंके जल पीनेके घाट समान क्रमसे गहरा होता हुआ उरलीपार, परली पार दोनों ओरसे पिचानवे हजार योजन तिरछा चलकर हजार योजन गहराई रखता हुआ चित्रा पृथ्वीके ऊपर और चित्रा पृथ्वीके अधस्तलमें लवण समुद्र नीचे दश हजार योजन चौडा हो गया है। " पुण्णदिणे अमवासे सोलसकाससहस्स जल उदयो, वासं मुहभूमीए दसम सहस्सा य वे रुक्खा " इस गाथा अनुसार चित्राके उपरिम भूमितलसे सवा ग्यारह हजार योजन जलकी ऊंचाईको धारने वाले लवण समुद्रका क्रमसे बढता हुआ जल पूर्णिमाको सोलह हजार योजनतक ऊंचा उठ जाता है। वहां ऊपर जलतलकी चौडाई दस हजार योजन है। अतः लवण समुद्ररूपी कंकणको कहींसे भी काट कर यदि तिरछा देखा जाय तो उसका कटा हुआ आकार सर्वत्र मृदंग सरीखा मिलेगा। लवण समुद्रके अतिरिक्त और किसी भी समुद्रका जल चित्राके समतलसे ऊंचा उठा हुआ नहीं है। हां, वेदीके परे उरले परले द्वीपसे पोखरियाके समान क्रमसे तिरछा निम्न होता हजार योजन जल उनमें भरा हुआ है। लवण समुद्र सम्बन्धी सूर्य चंद्रमा या इतर ज्योतिष्कमण्डलका लवण जलमें ही संचार होता रहता है मछलियोंके समान देवों और देवविमानों या चैतन्य, चैत्यालय, आदि पदार्थोंको हानि नहीं पहुंचती है। जैसे कि वायु समुद्रमें डूब रहे अस्मदादिकोंको वायु द्वारा कोई क्षति नहीं पहुंच पाती है। ज्योतिष्क विमानोंके क्वचित् स्थलोंमें प्रयोगों द्वारा जलका अवरोध भी कर दिया जाता है। समुद्रमें चरने वाले मछली, मगर, आदि जीवोंके शरीरोंमें भी तो जलावरोधके निमित्त विद्यमान हैं। हम लोग भी फैली हुई वायुका यथायोग्य न्यूनाधिक प्रवेश या अवगाहनीय अपेक्षा कर लेते हैं।

तन्मध्ये दिक्षु पातालानि योजनशतसहस्रावगाहानि, विदिक्षु क्षुद्रपातालानि दशयोजनसहस्रावगाहानि, तदंतरे क्षुद्रपातालानां योजनसहस्रावगाहानां सहस्रं।

उस लवण समुद्रके ठीक मध्यमें चारों दिशाओंमें चार पाताल बने हुये हैं, जो कि जंबूद्वीपकी रत्नवेदिकासे पिचानवे हजार योजन तिरछा चलकर रत्नप्रभा भूमिके कुठिया या कूआ समान विवर हैं। इन चारोंकी गहराई एक लाख योजन है। इन गोल पातालोंकी अधस्तल और उपरितलमें चौडाई दश हजार तथा मध्यमें एक लाख योजन है। ऊंची खडी कर दी गयी ढोलक या पखावजका सा

इनका आकार है। इनकी पांचसौ योजन चौडी भीतें और तल वज्रमय हैं। मध्यलोक सम्बन्धी सम्पूर्ण द्रव्य, अखंड, अवयवी, पदार्थोमेंसे ये ही पाताल चित्रा पृथ्वीके नीचे तक चले गये हैं। वज्रा, वैडूर्य, यहांतक कि लोकके अन्त तक फैल रही रत्नप्रभाके सोलह हजार योजन मोटे पूरे खर पृथ्वीभाग और चौरासी हजार योजन मोटे पंकबहुलभागतक ये पाताल घुस गये हैं। उन महापातालोंके तिहाई नीचले तेतीस हजार तीनसौ तेतीस और एक बटे तीन योजन भागमें वायु भरा हुआ है। मझिले तीसरे भागमें वायु और जल ठस रहे हैं। ऊपरले त्रिभागमें जल है। कतिपय निमित्तों द्वारा वायुका संक्षोभ हो जानेसे समुद्र जलकी वृद्धि हो जाती है। इन चार महा पातालोंके ठीक मध्य विदिशाओंमें चार क्षुद्र पाताल दश हजार योजन गहरे अन्य भी हैं। जो कि मुख और मूलमें हजार योजन तथा मध्यमें दस हजार योजन चौडे हो रहे मुरज समान हैं। इनमें भी निचले त्रिभागमें वायु और बिचले त्रिभागमें जल, वायु मिलकर दोनों तथा उपरिम त्रिभागमें केवल जल भर रहे हैं। उन दिशा, विदिशाओंमें बन रहे पातालोंके आठों अन्तरोंमें हजार योजन गहराईको धार रहे अति क्षुद्र पातालोंकी सहस्र संख्या और भी समझ लेनी चाहिये। इन हजार पातालों (वडवानलों) की मध्यमें चौडाई हजार योजन और मुख या मूलमें पांचसौ योजन चौडाई है। इनके तीन त्रिभागोंमें भी यथाक्रम नीचेकी ओरसे वात और जल, वायु, तथा जल भर रहे हैं। जो कि समुद्रके जलकी वृद्धि या हानिमें सहायक हैं। ये सम्पूर्ण पाताल अनादि अनिधन हैं।

दिक्षु वेलंधरनागाधिपतिनगराणि चत्वारि द्वादशयोजनसहस्रायामविष्कंभो गौतमद्वीपश्चेति श्रूयते ।

जम्बूद्वीपके अन्तिम भाग हो रही रत्नवेदिकासे तिरछे बियालीस हजार योजन चलकर चारों दिशाओंमें समुद्रकी वेलाको धारनेवाले नागकुमाराधिपति भवनवासी देवोंके चार नगर बने हुये हैं। जिनमें निवास करनेवाले हजारों भवनवासी देव स्वकीय नियोग अनुसार लवणसमुद्रकी अभ्यन्तर वेला, बाह्यवेला. और अग्रजलको वहांका वहीं नियत स्थानोंपर रोक कर धार रहे हैं। उचित हानि, या वृद्धिके सिवाय उठे हुये जलको इधर उधर नहीं गिरने, फैलने, उछलने देते हैं। यद्यपि निश्चयनय अनुसार सभी पदार्थ अपने अपने स्वरूपको धार रहे हैं। जलकी बूंद या कटोराका पानी यों भी कुछ ऊपर उठा हुआ रह सकता है। तथापि व्यवहार नय अनुसार कतिपय बादर पदार्थोंके अवलम्ब हो रहे यथा व्यवस्थित पदार्थोंका आचार्य महाराजने निरूपण कर दिया है। रत्नवेदिकासे तिरछे बारह हजार योजन चलकर बारह हजार योजन लंबा चौडा गोल " गौतम " नामका द्वीप लवणसमुद्रमें विद्यमान है, जिसमें लवणसमुद्रके अधिपति गौतम देवका निवास है। लवण समुद्रके तटसे पिचानबै हजार योजन चलकर समुद्रकी गहराई हजार योजन होगई है। अतः पिचानबै प्रदेशोंपर एक प्रदेश गहरा, पिचानबै हाथ चलकर एक हाथ गहरा, पिचानबै कोस तिरछा चलकर एक कोस गहरा, इस क्रमसे समुद्रकी गहराई मिलती चली जायगी। नीचे जाकर मध्यमें दश हजारकी चौडाईपर

हजार योजनकी गहराई है। इससे अधिक गहराई कहीं नहीं है। लवण समुद्रमें जंबूद्वीपकी और चौबीस और धातकी द्वीपकी ओर चौबीस यों कुभोगभूमियोंके अडतालीस द्वीप अन्य भी बने हुये हैं। मागध आदि भी कई द्वीपोंकी रचना है, इत्यादिक करणानुयोग सम्बन्धी सिद्धान्त तो सर्वज्ञ आम्नात शास्त्रों द्वारा या साम्प्रदायिक ऋषियों द्वारा सुना जा रहा है। इस आर्ष सिद्धान्तमें किन्हीं प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे बाधा नहीं उपस्थित होती है। बाधकासम्भवसे अतीन्द्रिय पदार्थोंकी भी निर्विवाद, अविसम्वादिनी, सिद्धि हो जाती है।

ननु च पूर्वपूर्वपरिक्षेपिद्वीपसमुद्रप्रकाशकसूत्रात् तत्सामर्थ्याज्जंबूद्वीपपरिक्षेपी लवणोदो ज्ञायते सामान्यत एव। तद्विशेषास्तु कथमनुक्ता इहावसीयंत इति न शंकनीयं, सामान्यगतो विशेषसद्भावगतेः सामान्यस्य स्वविशेषाविनाभावित्वात् संक्षेपतः सूत्राणां प्रवृत्तेः सूत्रैस्तद्विशेषानभिधानं जंबूद्वीपादिविशेषानाभिधानवत्। वार्तिककारादयस्त्वर्थाविरोधेन तद्विशेषान् सूत्रसामर्थ्याल्लब्धानाचक्षाणा नोत्सूत्रवादितां लभंते 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि संदेहादलक्षणम्' इति वचनात्।

यहां किसीका शंका अनुसार आक्षेप है कि इस तृतीय अध्यायके सातवें, आठवें, सूत्र अनुसार पूर्वका परिक्षेप करनेवाले असंख्य द्वीप समुद्रोंका प्रकाश किया जा चुका है, उनमें जंबूद्वीपका परिक्षेप करनेवाला लवणसमुद्र तो सामान्यरूपसे विना कहे सामर्थ्यसे ही जान लिया जाता है। किन्तु उस लवणसमुद्रके पाताल, क्षुद्रपाताल, द्वीप, कुभोगभूमि ये विशेष तो यहां सूत्रोंद्वारा नहीं कहे गये हैं, फिर बिना कहे ही उन विशेषोंका निर्णय कैसे कर लिया जाता है ? बताओ। ग्रंथकार कहते हैं कि यह शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि सामान्य रूपसे ज्ञप्ति होचुकने पर उसके विशेष अंशोंके सद्भावकी भी परिच्छित्ति होजाती है। कारण कि सामान्य अर्थ अपने विशेष अर्थोंके साथ अविनाभाव रखने वाले होते हैं। " निर्विशेषं हि सामान्यम् भवेत् खरविषाणवत् "। कोई मनुष्यसामान्य या घोडा सामान्य अपने उचित विशेषोंसे रीता होकर अकेला अद्यावधि नहीं देखा गया है। जैन सिद्धांतमें पदार्थको सामान्य विशेषात्मक स्वीकार किया गया है। हां, शब्दोंके संक्षेपसे सूत्रोंकी प्रवृत्ति होती है। अतः अनेक छोटे छोटे विशेष अर्थोंके प्रतिपादक सूत्रों करके श्री उमास्वामी महाराजने लवण समुद्रके उन विशेषोंका कंठोक्त निरूपण उसी प्रकार नहीं किया है, जैसे कि जंबूद्वीपके भद्रसाल, देवारण्य, भूतारण्य, आदि वनों, विजयार्ध यमकाद्रि, वृषभाचल, गजदंत, वेदाढ्य आदि पर्वतों, या उन्मग्नजला, निमग्नजला, विभंगा आदि नदियों तथा अन्य अन्य शाल्मली वृक्ष, वेदी, पाण्डुक शिला, म्लेच्छ खण्ड, खण्डप्रपातगुहा आदिका सूत्रों द्वारा पृथक् पृथक् निरूपण नहीं किया गया है। अर्थात्—यों सभी विशेषोंका सूत्रों द्वारा निरूपण करने पर मूल सूत्रग्रन्थका अत्यधिक विस्तार होजायगा। फिर टीका ग्रन्थ किस रोगकी औषधि है ? बताओ तो सही। इस तत्त्वार्थसूत्रकी समीचीन टीकाओं या त्रिलोक-

सार, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, आदि ग्रंथोंकी रचना करने वाले आचार्योंके वचन भी प्रमाण हैं। सिद्धांत अर्थके अविरोध करके सूत्रोंकी सामर्थ्यसे विना कहे ही प्राप्त होचुके उन उन विशेष अर्थोंका व्याख्यान कर रहे वार्तिककार श्री अकलंक देव, श्री विद्यानन्द स्वामी अथवा अन्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती, श्री वीरनन्दी सिद्धांतचक्रवर्ती, आदि प्रकाण्ड विद्वान् तो उत्सूत्रवादीपन दोषको नहीं प्राप्त होजाते हैं। अर्थात्—जो परमागम सूत्र सिद्धांतोंका उल्लंघन कर मनमानी झूंटी सांची गप्पोंको हांकते हैं वे उत्सूत्र भाषी हैं। किन्तु श्री अकलंक देव, श्री नेमिचन्द्र महाराज आदि आचार्य तो गुरुपरिपाटी अनुसार उन्हीं सिद्धांत सूत्रोंका स्वकीय ग्रंथोंमें व्याख्यान करते हैं। लोकमें प्रसिद्ध होरहा यह वचन है कि व्याख्यान कर देनेसे परिज्ञात सामान्य अर्थके विशेषोंकी प्रतिपत्ति होजाती है, संदेह कर देनेसे वह सामान्य रूपसे सिद्धांतित कर दिया गया लक्षण कोई कुलक्षण या लक्षणाभाव नहीं होजाता है। हां, यह लक्ष्य रखा जाय कि वह अतीन्द्रिय पदार्थोंका निरूपण दृष्ट, इष्ट, और पूर्वापार प्रकरणोंसे अविरुद्ध होना चाहिये। कोई भी विचारशील विद्वान् सर्वज्ञधारासे चले आरहे प्रमेयका प्रतिपादन करदे वह उत्सूत्रभाषीपन दोषका पात्र कालत्रयमें भी नहीं होसकता है।

ननु च धातकीखंडे द्वौ भरतौ द्वौ हिमवंतावित्यादिद्रव्याभ्यावृत्तौ द्विरित्यत्र सुजसंभव इति चेन्न, मीयंत इति क्रियाध्याहारात् द्विस्तावानिति यथा, तेन धातकीखंडे भरतादिवर्षो हिमवदादिवर्षधरश्च ह्रदादिश्च द्विर्मीयत इति सूत्रितं भवति।

यहां कोई पण्डित दूसरे प्रकारकी शंका उठाता है कि धातकी खण्डमें दो भरत क्षेत्र हैं। दो हिमवान् पर्वत हैं, दो हैमवत क्षेत्र हैं, दो महाहिमवान् पर्वत हैं, इत्यादि रूपसे द्रव्यकी अभ्यावृत्ति करनेपर द्विर् इस पदमें सुच् प्रत्यय करनेका असम्भव है। क्योंकि " द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् " इस सूत्र अनुसार क्रियाकी अभ्यावृत्ति गिननेमें सुच् प्रत्यय हो सकता है। भरत हिमवान् आदि द्रव्योंके बार बार गिननेमें सुच्प्रत्ययका विधायक कोई व्याकरणका सूत्र नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि " मीयंते " यानी नापे जा रहे हैं, इस क्रियाका अध्याहार अर्थात् उपरिष्ठात् उपस्कार कर लेनेसे उसी सूत्र द्वारा सुच्प्रत्यय कर लिया जाता है, जैसे कि यह प्रासाद (हवेली) उस परिमाणवाला दो बार है। इस वाक्यमें " नापा जाता है " इस क्रियाका अध्याहार कर दो बार उतना नापा जाता है। यों द्विस्तावान् पदमें सुच् प्रत्ययकी घटना हो जाती है। उसी प्रकार " द्विर्धातकीखण्डे " यहां भी संख्यावाची द्वि शब्दसे क्रियाकी पुनरावृत्ति गिननेमें सुच्प्रत्यय तद्धितवृत्तिमें कर लिया जाता है। तिस करके धातकी खण्डमें भरत, हैमवत, आदिक क्षेत्र हिमवान्, महाहिमवान्, आदि पर्वत तथा ह्रद, नदी, मेरु, आदि दो, दो होकर संख्या द्वारा नापे जाते हैं, यह सूत्र द्वारा अर्थ उक्त हो जाता है।

कियान् पुनर्धातकीखण्डे भरतस्य विष्कंभ इत्युच्यते–षट्षष्टिशतानि चतुर्दशानि योजनानामेकान्नत्रिंशच्च भागशतं योजनस्याभ्यंतरविष्कंभः। सैकाशीतिपंचशताधिकद्वादश-

सहस्राणि षट्त्रिंशच्च भागा योजनस्य मध्यविष्कंभः । सप्तचत्वारिंशत्पंचशताधिकाष्टादश-सहस्राणि योजनानां पंचपंचाशच्च भागशतं योजनस्य बाह्यविष्कंभः ।

कोई जिज्ञासु पूछता है कि श्री विद्यानन्द स्वामिन् महाराज ! यह बताओ कि धातकी खण्डमें भरत क्षेत्रकी चौडाई भला कितनी है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर ग्रन्थकार करके यों उत्तर कहा जाता है कि छह हजार छह सौ चौदह पूरे योजन और एक योजनके दो सौ बारह भागोंमें एक सौ उन्तीस भाग इतना धातकी खण्डके भरतका अभ्यन्तर विष्कंभ है। बारह हजार पांच सौ इक्यासी योजन और योजनके छत्तीस बटे दो सौ बारह भाग धातकी खण्डके भरतकी मध्यम चौडाई है तथा अठारह हजार पांच सौ सैंतालीस और एक सौ पचपन बटे दो सौ बारह योजन धातकी खण्डके भरतका बाह्य विष्कंभ है। भावार्थ–धातकी खण्डका भीतरला व्यास पांच लाख है। वही लवण समुद्रका अन्तिम व्यास है। मध्यम व्यास नौ लाख और धातकी खण्डकी बाह्य सूची तेरह लाख योजन की है। " विक्खंभवग्गदहगुणकरणी वट्टस्स परिरयो होइ " स्थूलपरिधि व्याससे तिगुनी समझी जाती है। किन्तु सूक्ष्म परिधि तो व्यासके वर्गको दश गुना करनेपर पुनः उसका वर्गमूल निकाला जाय तब ठीक बैठती है। पांच लाखके वर्गके दश गुने पचीस खर्ब संख्याका वर्गमूल निकालनेपर पन्द्रह लाख इक्यासी हजार एक सौ उन्तालीस (१५८११३९) योजन धातकी खण्डकी अभ्यन्तर परिधि बैठती है। इक्यासी खर्ब (८१००००००००००) का वर्गमूल निकालनेपर अट्ठाईस लाख छियालिस हजार पचास (२८४६०५०) योजन धातकी खण्डकी मध्यम परिधि आती है। धातकी खण्डके बाह्य व्यास तेरह लाखके वर्गके दश गुने एक नील उन्हत्तर खर्ब (१६९००००००००००) का वर्गमूल निकाला जाय तो इकतालीस लाख दश हजार नौ सौ इकसठ (४११०९६१) योजन धातकी खण्डकी बाह्य परिधि आ जाती है। जम्बूद्वीपमें जैसे पर्वत या क्षेत्रोंका विन्यास है वैसा धातकी खण्डमें नहीं है। पूरे पहियाके समान धातकी खण्डमें अरोंके स्थानपर पर्वत पडे हुये हैं। और (अरविवर) रीते स्थानोंपर भरत आदि क्षेत्र रचे हुये हैं। जम्बूद्वीपमें हिमवान्, महाहिमवान्, आदि पर्वतोंकी जितनी चौडाई है, उससे ठीक दूनी धातकी खण्डके हिमवान् आदि पर्वतोंकी चौडाई है। धातकी खण्डमें भी हिमवान् आदि पर्वत भींतके समान नीचे ऊपर एकसे और लवण समुद्रके अन्तिम भागसे प्रारम्भ कर कालोदधि समुद्रके आदि भागतक समान एकसी चौडाईको लिये हुये लम्बे पडे हुये हैं। पूर्व धातकी खण्ड और पश्चिम धातकी खण्ड ये दो विभाग करनेके लिये धातकी खण्डके दक्षिण और उत्तर प्रान्तमें हजार योजन चौडे चार सौ योजन ऊंचे चार लाख योजन लम्बे ऐसे दो इष्वाकार पर्वत पडे हुये हैं। जम्बूद्वीपके पर्वतोंसे धातकी खण्डके हिमवान् आदि पर्वतोंकी चौडाई ठीक दूनी है और पर्वतोंकी संख्या भी दूनी है। प्रत्युत दो इष्वाकार पर्वत और भी अधिक हैं। जम्बूद्वीपमें छह पर्वत हैं तो धातकी खण्डमें दो इष्वाकारों सहित चौदह पर्वत हैं। जम्बूद्वीपमें हिमवान् आदि पर्वतोंने दक्षिण, उत्तर, चवालीस हजार दो सौ दस और दस बटे उन्नीस योजन आकाशको घेर रक्खा है। छहों पर्वतोंकी शलाकायें चौरासी हैं। एक सौ नब्बै शलाकाओंके लिये

जम्बूद्वीपमें एक लाख योजन क्षेत्र मिले तो चौरासी शलाकाओंमें कितना क्षेत्र घिर जायगा ? यों त्रैराशिक करनेपर पर्वतोंसे अवरुद्ध हुआ उक्त संख्यावाला क्षेत्र निकल आता है । धातकी खण्डके लम्बाई और चौडाईमें दुगुने पर्वतोंसे रुके हुये क्षेत्रको निकालनेके लिये जम्बूद्वीपके उक्त पर्वतावरुद्ध क्षेत्रको चौगुना कर देनेपर एक लाख छिहत्तर हजार आठ सौ वियालीस और दो बटे उन्नीस योजन क्षेत्र निकलता है । इसमें दो इष्वाकार पर्वतोंकी दो हजार योजन चौडाईको मिला देनेपर धातकी खण्डमें पर्वतोंसे घिरा हुआ एक लाख अठत्तर हजार आठ सौ वियालीस (१७८८४२) योजन क्षेत्र हुआ । अंश (बटे) क्षेत्रकी विवक्षा नहीं है । जम्बूद्वीपमें सातों क्षेत्रोंकी एक सौ छह शलाकायें हैं । इनसे दूनी दो सौ बारह शलाकायें धातकी खण्डमें क्षेत्रोंकी हैं । क्योंकि क्षेत्रोंकी दूनी यानी चौदह संख्या है । उन अभ्यंतर, मध्य और बाह्य तीन प्रकारकी धातकी खण्ड द्वीपसम्बन्धी परिधियोंमेंसे पर्वत रुद्ध क्षेत्रको घटाकर शेष बचे क्षेत्रमें दो सौ बारहका भाग देनेपर और भरतके लिये नियत एक शलाकासे गुणाकर देनेपर धातकी खण्डके भरतकी भीतरली, बिचली, और बाहरी, चौडाईका क्षेत्र निकल आता है । भीतरली परिधि १५८११३९ में से १७८८४२ को घटाकर बचे हुये १४०२२९७ में २१२ का भाग देनेपर छह हजार छह सौ चौदह और एक सौ उन्तीस बटे दो सौ बारह योजन धातकी खण्डके भरतकी भीतरी चौडाई निकल आती है । इसी प्रकार भरतकी मध्यम परिधि और बाह्य परिधिको निकाल लेना चाहिये । ऐसी दशामें धातकी खण्डका भरत आदिमें छह हजार छह सौ चौदह योजनसे क्रम क्रम कर बढता हुआ अन्तमें अठारह हजार पांच सौ सैंतालीस योजन चौडा हो गया है और चार लाख योजन लम्बा पडा है । जम्बूद्वीपके भरतसे यह सैकडों गुणा बडा है । " बाहिरसूईवग्गं अब्भंतरसूइवग्गपरिहीणं, जम्बूवासविभत्ते तत्तियमेत्ताणि खंडाणि " इस गाथा अनुसार जम्बूद्वीपसे धातकी खण्ड एक सौ चवालीस गुने क्षेत्रफलको धार रहा है ।

वर्षाद्वर्षश्चतुर्गुणविस्तार आविदेहात् । वर्षधराद्वर्षधर आनिषधात् । उत्तरा दक्षिणतुल्या इति च विज्ञेयं । भरतैरावतविभाजिनौ च दक्षिणोत्तरायतौ लवणोदकालोदस्पर्शिनौ लवणोदाद्दक्षिणोत्तराविष्वाकारगिरी प्रतिपत्तव्यौ । धातकीखंडवलयपूर्वापरविभागमध्यगौ मेरू च ।

धातकी खण्डमें पहिले भरत क्षेत्रसे अगले, अगले वर्ष चौगुने, चौगुने विस्तारवाले हैं । विदेह पर्यन्त यही दशा है । क्योंकि पहिले क्षेत्रसे दूसरेकी, दूसरेसे तीसरे की, तीसरेसे चौथेकी, शलाकायें चौगुनी, चौगुनी, हैं । हां, लंबाई सर्व क्षेत्र या पर्वतोंकी एकसी चार लाख है । इसी प्रकार पहिले हिमवान् पर्वतसे अगले अगले पर्वतोंकी चौडाई निषधपर्वतपर्यन्त चौगुनी, चौगुनी, है । तथा उत्तर दिशा सम्बन्धी क्षेत्र या पर्वत तो दक्षिण दिशावर्ती कहे जा चुके इन पर्वत और क्षेत्रोंके समान हैं, यह भी समझ लेना चाहिये । चार लाखकी लंबाई विदेह क्षेत्रकी मध्यम या बाह्य परिधिकी अपेक्षा चौडाई समझी जायगी । धातकी खण्डमें पूर्व मेरु सम्बन्धी भरत और पश्चिम मेरु सम्बन्धी ऐरावत अथवा पूर्व मेरु सम्बन्धी ऐरावत और पश्चिममेरु सम्बन्धी भरतका विभाग करने वाले इष्वाकार पर्वत पडे हुये

समझ लेने चाहिये। सुवर्णमय इन पर्वतोंका आकार ऋजु (सीधे) लंबे बाणके समान है। अतः इनका नाम अन्वर्थ है। ये धातकी खण्डमें दक्षिण और उत्तर दिशाओंकी ओर लंबे पडे हुये हैं। भीतर लवण समुद्र और बाहर कालोदधि समुद्रको छूरहे हैं। पहिला इष्वाकार लवणसमुद्रसे दक्षिणकी ओर और दूसरा लवणसमुद्रसे उत्तरकी ओर पसर रहा है। इन इष्वाकारोंसे धातकीखण्डस्वरूप कंकणके पूर्व धातकी खण्ड और पश्चिम धातकी खण्ड द्वीप यों विभाग होजाते हैं और उन दोनों विभागोंके मध्यमें दो मेरु पर्वत प्राप्त होरहे हैं। जोकि जंबूद्वीपके सुदर्शन मेरुसे कुछ छोटे हैं। चौरासी हजार योजन ऊंचे हैं। जंबूद्वीपमें जहां जंबूवृक्ष है, उसी प्रकार धातुकी खण्डमें धातकी वृक्ष है। धातकी खण्डका परिक्षेप करनेवाला आठ लाख योजन चौडा कालोदधि समुद्र है। कालोदधिमें भी बाह्य तट और अभ्यन्तर तटसे पांच सौ, साडे पांचसौ, और छह सौ, योजन चलकर अडतालीस अंतरद्वीप हैं। उनमें कुभोगभूमिकी रचना है।

अथ पुष्करार्धे कथं भरतादिर्मीयते तद्विष्कंभाश्चेत्याह।

इसके पश्चात् किसी जिज्ञासुका प्रश्न है कि दयानिधे यह बताओ कि पुष्करार्ध द्वीपमें भरत आदिक भला किस प्रकार नापे जारहे हैं? और उनकी चौडाई आदिकी क्या व्यवस्था है? यों प्रश्न होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको स्पष्ट कह रहे हैं।

पुष्करार्धे च ॥ ३५ ॥

संपूर्ण पुष्करमें नहीं किंतु पुष्कर द्वीपके भीतरले आधे भागमें भरत आदिक दो बार संख्या-द्वारा गिने जाते हैं। अर्थात्—जंबूद्वीपके भरत आदि या हिमवान् आदिकी अपेक्षा पुष्करार्धमें दो बार यानी दो भरत, दो हिमवान्, यों क्षेत्र, पर्वत, नदी, ह्रद, मेरु, कुण्ड आदि हैं।

संख्याभ्यावृत्त्यनुवर्तनार्थश्चशब्दः। धातकीखण्डवत्पुष्करार्धे च भरतादयो द्विर्मीयंते। तत्रैकाशीत्युत्तरपंचशताधिकैकचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि सत्रिसप्ततिभागशतं च भरतस्याभ्यंतरविष्कंभः, द्वादशपंचशतोत्तराणि त्रिपंचाशद्योजनसहस्राणि नवनवत्यधिकं च भागशतं योजनस्य मध्यविष्कंभः, षट्चत्वारिंशच्चतुःशतोत्तरपंचषष्टिसहस्राणि त्रयोदश च भागा योजनस्य बाह्यविष्कंभः।

" द्विर्धातकीखण्डे " इस पूर्व सूत्रसे " द्विर् " इस संख्याकी अभ्यावृत्तिका अनुवर्तनके लिये यहां सूत्रमें च शद्व किया गया है। धातकी खण्डके समान पुष्करार्धमें भी जम्बूद्वीपकी अपेक्षा भरत आदि दो बार गिने जाते हैं। इस पुष्करार्ध द्वीपमें भरत क्षेत्रकी भीतरली चौडाई इकतालीस हजार पांच सौ उनासी और एक सौ तिहत्तर बटे दो सौ बारह योजन है। पुष्करद्वीपके भरतकी त्रेपन हजार पांच सौ बारह और एक सौ निन्यानवे बटे दो सौ बारह योजन मझिली चौडाई है तथा

पैंसठ हजार चार सौ छियालीस और तेरह बटे दो सौ बारह योजन पुष्करके भरतकी बाहरली चौडाई है। भावार्थ—कालोदधि समुद्रसे बाहरली ओर चुपटी हुई पुष्करार्धकी भीतरली परिधि इक्यानवै लाख सत्तर हजार छह सौ पांच (९१७०६०५) योजन है और पुष्करार्धको सैंतीस लाख व्यासवाले मध्यदेशकी " विक्खंभवग्गादहगुणकरणी वट्टस्स परिरयो होदि " इस नियम अनुसार एक करोड सत्रह लाख चार सौ सत्ताईस (११७००४२७) योजन परिधि होती है। पैंतालीस लाखवाले पुष्करार्ध द्वीपकी बाहरली परिधि एक करोड बियालीस लाख तीस हजार दो सौ उनचास (१४२३०२४९) योजन है। एक अंकके बटे हुये भागोंका यहां लक्ष्य नहीं रक्खा गया है। धातकी खण्डके बारहऊ कुलाचलोंसे पुष्करार्धके बारहऊ कुलाचलोंकी चौडाई दूनी दूनी है। किन्तु इष्वाकार पर्वत दोनों द्वीपोंके एकसे एक एक हजार योजन चौडे हैं। अतः पुष्करार्धमें चौदह पर्वतोंसे रुका हुआ क्षेत्र तीन लाख पचपन हजार छह सौ चौरासी (३५५६८४) योजन है। उन तीनों प्रकारकी परिधियोंमेंसे पर्वत रुद्ध क्षेत्रको न्यून कर पुनः चौदह क्षेत्रोंकी दो सौ बारह शलाकाओंसे भाजित कर पश्चात् भरतकी एक शलाकासे गुणा कर देनेपर पुष्करार्धके भरतकी भीतरी, बिचली और बाहरी चौडाई निकल आती है। अतः इकतालीस हजार पांच सौ उनासी योजनसे क्रमवार बढता हुआ पैंसठ हजार चार सौ छियालीस योजन चौडा हो रहा और आठ लाख योजन लम्बा यह पुष्करार्धका भरत क्षेत्र उस जम्बूद्वीपके भरतसे हजारों गुणा बडा बैठता है। हां, जम्बूद्वीपका हिमवान् पर्वत दस सौ बावन और बारह बटे उन्नीस योजन चौडा तथा चौबीस हजार नौ सौ बत्तीस और एक बटे उन्नीस योजन लम्बा है। किन्तु पुष्करार्धका एक हिमवान् पर्वत इससे चौगुना चार हजार दो सौ दश और दश बटे उन्नीस योजन चौडा तथा आठ लाख योजन लम्बा है। हां, जम्बूद्वीपके कुलाचल, वक्षार, नदी, ह्रद आदिकी गहराई और ऊंचाईके समान ही धातकी खण्ड और पुष्करार्ध द्वीपोंके कुलाचलों आदिकी गहराई या ऊंचाई है। यों जम्बूद्वीपके हिमवान् और पुष्करार्धके हिमवान् पर्वतका अन्तर स्पष्ट समझ लिया जाता है। भले ही ढाई द्वीपमें छोटेसे जम्बूद्वीपको पूरा एक और बिचारे पुष्करार्धको आधा गिन लो, " नाम बडे दर्शन थोडे "।

वर्षाद्वर्षश्चतुर्गुणविस्तार आविदेहात्। वर्षधराद्वर्षधरश्चा निषधात्। मानुषोत्तरशैलेन विभक्तार्धत्वात् पुष्करार्धसंज्ञा, पुष्करद्वीपस्यार्धं हि पुष्करार्धमिति प्रोक्तं। अत्र धातकीखंडवद्वर्षधराश्चक्रारवदवस्थितास्तदंतरालवद्वर्षाः। कालोदमानुषोत्तरशैलस्पर्शिनाविष्वाकारगिरी दक्षिणोत्तरौ पूर्ववद्वेदितव्यौ पुष्करार्धवलयपूर्वापरविभागमध्यवर्तिनौ मेरू चेति प्रपंचः सर्वस्य विद्यानन्दमहोदये प्रतिपादितोवगंतव्यः तदेवं—

पहिले क्षेत्रसे अगला क्षेत्र चौगुना चौडा है। विदेहपर्यन्त यह व्यवस्था समझना चाहिये और निषधपर्वतपर्यन्त पहिले वर्षधर कुलाचलसे अगिला वर्षधर पर्वत चौगुना चौडा है तथा उत्तर दक्षिणवर्ती रचना तुल्य है। अर्थात्—पुष्करार्धके भरतसे हैमवत क्षेत्रकी चौडाई चौगुनी है और हिमवानसे

महाहिमवानकी चौडाई चौगुनी है, यह दशा विदेह और निषध या नीलपर्वततक है। परली ओर आधी आधी चौडाई होती चली गयी है। जंबूद्वीपमें तो भरत क्षेत्रसे हिमवान् पर्वतकी दूनी चौडाई थी। किन्तु पुष्करार्धके हिमवान पर्वत यथानिकट केवल दशवां भाग चौडा है, यानी दशमी गुणी हानिको लिये हुये है। धातकी खण्ड और पुष्करार्धके इष्वाकार और मन्दर मेरु उतने ही एकसे परिमाणवाले हैं। जंबूद्वीपमें जहां जंबूवृक्ष है, उसी रचनाके अनुसार पुष्करार्ध द्वीपमें परिवारसहित पृथ्वीकाय कमल अकृत्रिम बना हुआ है। इस ही कारण इस द्वीपका नाम पुष्करार्धद्वीप रूढ हो रहा है। पुष्कर द्वीपके ठीक बीचमें कंकणके समान गोल सत्रह सौ इक्कीस (१७२१) योजन ऊंचा इससे चौथाई चार सौ सवातीस योजन गहरा दश सौ बाईस (१०२२) योजन मूलमें चौडा सात सौ तेईस (७२३) योजन मध्यमें चौडा और चार सौ चौबीस (४२४) योजन ऊपर चौडा मानुषोत्तर पर्वत पडा हुआ है। पुष्करार्ध द्वीपकी ओर भीतके समान एकसा उठ रहा है और परली ओर क्रमक्रमसे घटता हुआ शिखाऊ घुनक या पीलपायेके समान ▲ खडा हुआ है। इस मानुषोत्तर पर्वत करके आधा विभाग प्राप्त हो जानेसे इस द्वीपकी "पुष्करार्ध" संज्ञा यथार्थनामा है। कारण कि पुष्कर द्वीपका आधा ही पुष्करार्ध है, यों निरुक्तिद्वारा अच्छा कह दिया गया है। यहां पुष्करार्ध द्वीपमें भी धातकीखंडके समान वर्षधर पर्वत तो पहियेमें अरोंके समान अवस्थित हैं और अरोंके अन्तराल समान क्षेत्रमें भरत आदि वर्ष व्यवस्थित हैं। इस पुष्करार्धमें भीतरकी ओर कालोदधि समुद्र और परली ओर मानुषोत्तर पर्वतको स्पर्श कर रहे आठ लाख योजन दक्षिण उत्तर लम्बे पूर्वोक्त धातकी खण्डके चार लाख योजन लम्बे इष्वाकारोंके समान दो इष्वाकार पर्वत समझ लेने चाहिये। इनसे पुष्करार्धवलयके दो विभाग हो जाते हैं। पूर्व दिशा सम्बन्धी विभागके और पश्चिम दिशा सम्बन्धी विभागके मध्यमें वर्त रहे दो मेरु पर्वत हैं। मेरुओंपर चारों वन, पाण्डुकशिला, अकृत्रिम चैत्यालय आदिकोंका वर्णन अधिक मनोहारी है। पुण्यवान् जीवोंको उन चैत्यालयोंके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त होता है। पुष्करार्धमें गंगा, विजयार्ध, विभंगा, विदेह क्षेत्र, उत्तम भोगभूमियां आदिकी बडी सुन्दर रचना है। मानुषोत्तरमें पुष्करार्ध सम्बन्धी नदियोंके निकलनेके द्वार हैं। उनमेंसे निकलकर परले पुष्करार्धमें बहकर नदियां पुष्कर समुद्रमें मिल जाती हैं। इन सबका विस्तारसे प्रतिपादन हमने विद्यानन्द महोदय नामक महान् ग्रन्थमें कर दिया है। विस्तार रुचिवाले विद्वानों करके सम्पूर्ण विस्तृत रचनाकी वहांसे प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये। न्याय विषयकी प्रधानता होनेसे इस श्लोकवार्तिकमें आगमगम्य कतिपय सिद्धान्त विषयोंका ऊहापोह पूर्वक विस्तृत वर्णन नहीं किया गया है। तिस कारण इस प्रकार होनेपर—जो निर्णीत हुआ उसको आगेकी वार्तिकमें सुनो।

जम्बूद्वीपगवर्षादिविष्कंभादिरशेषतः।
सदा द्विर्धातकीखंडे पुष्करार्धे च मीयते ॥ १ ॥

जम्बूद्वीपमें प्राप्त हो रहे क्षेत्र, पर्वत, आदिकोंकी चौडाई आदिक तो परिपूर्ण रूपसे धातकी खण्ड और पुष्करार्ध द्वीपमें गणना द्वारा दो बार सदा नापी जाती है। वार्तिकमें पडा हुआ सदा शद्ब तो जम्बूद्वीप, धातकीखण्डकी उक्त रचनाओंको अनादिनिधन बोधित कर रहा है। शेष मध्यलोक या ऊर्ध्वलोक, अधोलोककी, रचनायें भी अनादि, अनन्त हैं।

एकैनैकेन सूत्रेणोक्तं यथोदितसूत्रवचनात् ।

मध्यवर्ती छोटेसे जम्बूद्वीपका वर्णन पचीस सूत्रों द्वारा किया गया है। किन्तु " बाहिरसूईवग्गं अब्भन्तरसूइवग्गपरिहीणं, जम्बूवासविभत्ते तत्तियमेत्ताणि खंडाणि " इस नियम अनुसार जम्बूद्वीपसे एक सौ चवालीस गुने धातकीखण्डका और जम्बूद्वीपसे ग्यारह सौ चौरासी गुने पुष्करार्ध द्वीपका निरूपण श्री उमास्वामी महाराजने एक एक सूत्र करके ही परिभाषित कर दिया है। अर्थात्—नामके भूखे और शरीरसे बडे महाशय सदासे ही छोटे और मझले पदार्थोंके मालको हडप लेते चले आये हैं। इस लोकदक्ष स्वार्थी पुरुषोंकी नीति अनुसार जम्बूद्वीपके लिये महामना श्री उमास्वामी महाराज द्वारा दिये गये अमृतमय पचीस सूत्रोंके बहुभाग प्रमेयको बडे पेटवाले धातकीखण्ड और पुष्करार्ध द्वीपने भी झपट लिया है और अपने लिये प्राप्त हुये सूत्रोंका बांट रत्तीभर भी इन्होंने किसीको नहीं दिया है। "संसृतौ व्यवहारस्तु न हि मायाविवर्जितः"। छोटोंका न्याय बडे करें। किन्तु बडोंका न्याय फिर कौन करें। वे न्यायरहित ही बचे रहते हैं। सच बात तो यह है कि समुद्रका जलपिण्ड छोटी छोटी बूंदों द्वारा ही निष्पन्न हुआ है। लोकमें बडप्पनकी स्पर्धा रखनेवाले पुरुषोंको छोटे छोटे पुरुषोंने ही वैसा बडा किया है प्रकरणमें यह कहना है कि यथायोग्य पूर्ववर्ती पचीस सूत्रोंके निरूपणसे इन दो द्वीपोंकी ख्याति करनेमें बडे सहायता प्राप्त हो रही है।

कस्मात् पुनः पुष्करार्धनिरूपणमेव कृतमित्याह ।

क्योंजी, फिर यह बताओ कि किस कारणसे पुष्कर द्वीपके आधेका ही निरूपण किया गया है। पूरे पुष्कर द्वीपमें क्यों नहीं भरत आदिकोंकी संख्या दूनी कही गयी है? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३५ ॥

पुष्कर द्वीपके ठीक बीचमें पडे हुये मानुषोत्तर पर्वतसे पहिले पहिले ही मनुष्य हैं। मानुषोत्तरके परली ओर मनुष्य नहीं हैं। अतः पुष्करार्धतक ही इस मनुष्य लोकसे मोक्षमार्ग व्यवस्था चालू रहती है। मानुषोत्तर पर्वतसे परली ओर विद्याधर या ऋद्धि प्राप्त मनुष्य भी सिवाय उपपाद और समुद्घात अवस्थाके बाहर नहीं पाये जा सकते हैं। तिर्यक्लोक या अधोलोक या ऊर्ध्वलोकसे आकर मनुष्य लोकमें जन्म लेनेवाले जीवको विग्रह गतिमें पहिले समय मनुष्य आयुका उदय है। यह उपपाद

अवस्था है। मनुष्य लोकका मनुष्य जीव बाहर जाकर मारणान्तिक समुद्घात या केवली समुद्घात करते हुये नृलोकसे बाहर भी चला जाता है। अन्यदा नहीं।

न परतो यस्मादित्यभिसंबंधः। मनुष्यलोको हि प्रतिपादयितुमुपक्रांतः स चेयानेव।

जिस मानुषोत्तर पर्वतसे परली ओर मनुष्य नहीं हैं, द्वीपोंमें केवल तिर्यंच ही पाये जाते हैं, उन द्वीपोंमें जघन्य भोगभूमिकीसी रचना है। हां, सबसे परली ओरका आधा द्वीप और पूरा स्वयम्भूरण समुद्र तथा त्रसनाली तक चारों कोने, यहां कर्मभूमि की रचना है। स्वयम्भूरमण द्वीपके उत्तरार्ध स्थल भागमें पांचवे गुणस्थानको धारने वाले भी असंख्याते तिर्यंच यहां पाये जाते हैं। चूंकि इस प्रकरणमें मनुष्य लोककी प्रतिपत्ति करानेके लिये उपक्रम चलाया गया है। अतः वह मनुष्य लोक तो पुष्करार्ध द्वीपपर्यंत पैंतालीस लाख योजन परिमाणवाला इतना ही है।

यद्येवं किंप्रकारा मनुष्यास्तत्रेत्याह।

कोई प्रश्न करता है कि यदि इसी ढंगसे मनुष्य लोककी व्यवस्था है तो बताओ उस ढाई द्वीपमें रहनेवाले मनुष्य कितने प्रकारके हैं ? ऐसी बुभुत्सा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३७ ॥

आर्य और म्लेच्छ यों दो प्रकारके मनुष्य हैं। भावार्थ—यद्यपि संमूर्छन मनुष्य भी इन पर्याप्त मनुष्योंसे असंख्यातें गुणे अधिक इस जगत्‌में हैं। तथापि भूमिपर गमन करनेवाले या आकाशमें उडनेवाले मनुष्योंकी अपेक्षा मानुषोत्तर पर्वतका उल्लंघन जो नहीं कर सकें ऐसे जीवोंकी विवक्षा अनुसार उक्त दो भेद ही मनुष्योंके किये हैं। संमूर्छन मनुष्य भी यदि देवों द्वारा पकड कर ले जावे जांय तो मानुषोत्तर पर्वतका उल्लंघन नहीं कर सकते हैं। संमूर्छन मनुष्य तो इन पर्याप्त मनुष्योंके आश्रित होकर ही ठहरते हैं। अतः आर्य खण्डमें उपजी हुई कतिपय स्त्रियोंके निरूपणके समान ये गतार्थ हो जाते हैं। वस्तुतः यह पर्याप्त मनुष्योंका ही सूत्रण है। जिस प्रकार बिजलीके प्रवाह (करेन्ट) वाले तारको सर्वाङ्ग छूते हुये परली ओर मनुष्यका जाना नहीं हो सकता है, उसी प्रकार बलात्कारसे मानुषोत्तरके परली ओर जानेपर मनुष्य शरीर फट कर, टूट फटकर, वहीं गिर पडेगा। आगे नहीं जा सकेगा।

एतदेव प्ररूपयति।

इस ही सूत्रकारके अभीष्ट सिद्धान्तको श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा कहे देते हैं।

प्राङ्मानुषोत्तराद्यस्मान्मनुष्याः परतश्च न।
आर्या म्लेच्छाश्च ते ज्ञेयास्तादृक्कर्मबलोद्भवाः॥ १ ॥

जिस कारणसे कि मानुषोत्तर पर्वतसे पहिले पहिले ही ढाई द्वीपमें मनुष्य हैं, किन्तु मानुषोत्तरके परली ओर मनुष्य नहीं हैं। तिस प्रकारके कर्मकी सामर्थ्यसे उत्पन्न हुये वे मनुष्य आर्य और म्लेच्छ समझ लेने चाहिये।

उच्चैर्गोत्रोदयादेरार्या, नीचैर्गोत्रादेश्च म्लेच्छाः।

तिस तिस प्रकारके पौद्गलिक कर्मों अनुसार आर्य अथवा म्लेच्छ मनुष्य उपज जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि संतान क्रमसे चले आ रहे उच्च आचरणके सम्पादक उच्चगोत्रका उदय हो जानेसे अथवा क्षेत्र, जाति, कर्म, आदिकी व्यवस्था अनुसार या गुणसेव्यता, भोगभूमि सम्बन्धी मनुष्य शरीर, आदि कारणोंसे आर्य मनुष्य हो जाते हैं। तथा नीच आचरणके सम्पादक नीच गोत्रका उदय, कुभोगभूमि या म्लेच्छ खण्डोंमें उत्पत्ति, नीच क्रियायें निर्लज्ज भाषण आदि निमित्तोंसे म्लेच्छ मनुष्य हो जाते हैं। भावार्थ— सर्वत्र अन्तरंग बहिरंग कारणोंसे ही प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति हो रही है। यद्यपि धोबी, नाई, लुहार, कुम्हार, आदिक शिल्पकर्मा आर्योंके शूद्र होनेके कारण नीच गोत्रका उदय माना गया है। तथा म्लेच्छ खण्डोंके मनुष्योंको भी संयमकी प्राप्ति हो सकनेके कारण उच्चगोत्रका उदय मानना पड़ेगा। क्योंकि " देसे तदियकसाआ णीचं एमेव मणुस सामण्णे " पांचवें गुणस्थानमें नीच गोत्रकी उदयव्युच्छित्ति हो जाती है तथापि बहुभाग आर्य मनुष्योंकी अपेक्षा उच्चगोत्रका उदय और बहुभाग म्लेच्छोंकी अपेक्षा नीच गोत्रका उदय मानना पड़ता है। राजवार्त्तिकमें नाऊ, धोबी, कुम्हार, को आर्योंमें गिना है और लब्धिसार ग्रन्थमें सकलसंयम लब्धिको धारनेवाले स्वामियोंके भेदका निरूपण करते समय " तत्तो पडिवज्ज गया अज्जमिलेच्छे मिलेच्छ अज्जेय। कमसो अवरं अवरं वरं वरं होदि संखं वा " इस गाथाकी टीकामें यों लिखा है कि " म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकल-संयमग्रहणं कथं संभवतीति नाशंकितव्यं, दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छ-राजानां चक्रवर्त्यादिभिः सहजातवैवाहिकसम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात् अथवा तत्कान्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छ व्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथाजातीय-कानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात् "। म्लेच्छ भूमिमें उत्पन्न हुये मनुष्योंके सकल संयमका ग्रहण कैसे सम्भवता है ? यह आशंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि दिग्विजय करते समय चक्रवर्तीके साथ आर्यखण्डमें चले आये और चक्रवर्ती, मण्डलेश्वर, आदिके साथ जिनका वैवाहिक सम्बन्ध हो गया है, अपनी या उनकी कन्यायें ले ली, दे दी, गई हैं, ऐसे म्लेच्छ राजाओंके संयमलब्धिकी प्राप्ति हो जानेका कोई विरोध नहीं है अथवा चक्रवर्ती आदिके साथ परिणाई गई कन्याओंके गर्भोंमें उत्पन्न हुये इन म्लेच्छ नामधारी मनुष्योंके सकलसंयम सम्भव जाता है। तिस प्रकारकी जातिवाले म्लेच्छ मनुष्योंकी दीक्षा योग्यतामें कोई प्रतिषेध नहीं है। सागारधर्मामृतमें " शूद्रोऽप्युपस्काराचार वपुः-शुध्याऽस्तु तादृशः, जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् "। लिखा है श्री समन्त-भद्राचार्यने " सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्, देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् " यों

रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें घोषित किया है। श्री रविषेणाचार्यने पद्मपुराणमें " न जातिर्गर्हिता काचिद् गुणाः कल्याणकारणम्, व्रतस्थमपि चांडालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः " लिखा है। श्री अकलंकदेवने राजवार्तिकमें दशों प्रकारके सम्यग्दर्शनको धारनेवाले जीवोंको " दर्शनार्य " कहा है। ऐसी दशामें शूद्र या तिर्यञ्च अथवा म्लेच्छ भी आर्योंमें गिने जा सकते हैं। किन्तु सम्पूर्ण तिर्यंचोंके भले ही वे उत्तम भोगभूमियां क्यों न हो, श्री गोम्मटसारमें नीच गोत्रका ही उदय माना गया है। शूद्रोंके भी नीच गोत्रका उदय है। साथमें " जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः, येषां स्युस्ते त्रयो वर्णाः शेषाः शूद्राः प्रकीर्तिताः " यह सिद्धांत भी जागरूक है। सर्वथा म्लेच्छोंकेसे व्यवहारमें लवलीन होरहे यवन, खुरपल्टा, कसाई, चर्मकार, आदिको क्षेत्रकी अपेक्षा आर्य कहा जा रहा है। शूद्र, श्रावक या तिर्यंच श्रावकको अल्प सावद्य कर्मा आर्योंमें गिनाया है। ऐसी पर्यालोचना करनेपर यह प्रतीत होजाता है कि आर्योंके उच्चगोत्रका उदय और म्लेच्छोंके नीचगोत्रका उदय मानना बाहुल्यकी अपेक्षा स्वरूप कथन मात्र है। लक्षण नहीं है। विशेषज्ञ विद्वान् इस पर और भी अधिक विचार कर सकेंगे।

प्राप्तर्द्धीतरभेदेन तत्रार्या द्विविधाः स्मृताः।
सद्गुणैरर्यमाणात्वाद्गुणवद्भिश्च मानवैः ॥ २ ॥
तत्र प्राप्तर्द्धयः सप्तविधार्धिमधिसंसृताः।
बुद्ध्यादिसप्तधा नाना विशेषास्तद्विशेषतः ॥ ३ ॥

उन मनुष्योंमें आर्य मनुष्य तो ऋद्धि प्राप्त और इतर यानी " जो ऋद्धि प्राप्त नहीं हैं " इन दो भेदों करके दो प्रकारके आम्नाय द्वारा माने गये हैं। आर्यशब्दकी निरुक्ति इस प्रकार है कि समीचीन गुणों करके अथवा गुणवान् मनुष्यों करके जो सेवित होरहे हैं, इस कारण वे सेवनीय पुरुष आर्य मनुष्य कहे जाते हैं। उन आर्योंमें ऋद्धियोंको प्राप्त होचुके मनुष्य तो सात प्रकारकी ऋद्धियों पर अधिकार करते हुये ऋद्धियोंसे संगत होरहे हैं। अपने अपने उन भेद प्रभेदोंसे अनेक विकल्पोंको धार रहीं वे ऋद्धियां बुद्धि ऋद्धि, तप ऋद्धि, आदि सात प्रकार हैं।

ऋद्धिप्राप्तार्याः सप्तविधाः सप्तविधर्धिमाश्रिता हि ते। सप्तविधर्धिः पुनर्बुध्यादिस्तथाहि-बुद्धितपोविक्रियौषधरसबलाक्षीणर्द्धयः सप्त प्रज्ञापिताः नाना विशेषाश्च प्राप्तर्धयो भवंत्यार्यास्तद्विशेषात्। बुद्धिविशेषर्धिप्राप्ता हि बीजबुध्यादयः, तपोविशेषर्धिप्राप्तास्तप्ततपःप्रभृतयः, विक्रियाविशेषर्धिप्राप्ता एकत्वविक्रियादिसमर्थाः, औषधविशेषर्धिप्राप्ताः जल्लौषधिप्राप्तादयः, रसर्धिप्राप्ताः क्षीरस्राविप्रभृतयः, बलविशेषर्धिप्राप्ता मनोबलप्रभृतयः, अक्षीणविशेषर्धिप्राप्ताः पुनरक्षीणमहालयादय इति। अन्ये त्वाहुः ऋद्धिप्राप्तार्या अष्टविधाः बुद्धिक्रियाविक्रियातपोबलौषधरसक्षेत्रभेदादिति। ते कुतः संभाव्या इत्याह।

जब कि वे ऋद्धियोंको प्राप्त होचुके आर्य सात प्रकारकी ऋद्धियोंके आश्रय होरहे हैं, इस ही कारण सात प्रकारवाले माने गये हैं सात प्रकारकी बुद्धि आदिक ऋद्धियां तो फिर यह हैं। उन हीको ग्रंथकार दिखलाते हैं। बुद्धिऋद्धि, तपऋद्धि, विक्रियाऋद्धि, औषधऋद्धि, रसऋद्धि, बलऋद्धि, अक्षीणऋद्धि, ये नाना प्रभेदवाली सात ऋद्धियां अच्छी जतायीं गयीं हैं। उन ऋद्धियोंकी विशेषतासे आर्य ऋद्धिको प्राप्त कर चुके होजाते हैं। बुद्धिऋद्धिके विशेष भेद हो रहीं बीजऋद्धि, कोष्ठऋद्धि, आदिको प्राप्त हो रहे आर्य हैं। इस कारण वे बीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि, पदानुसारी, संभिन्नश्रोता, आदि माने जाते हैं तथा तपोऋद्धिके विकल्प हो रहीं उग्रतप, दीप्ततप, तप्तऋद्धि आदिको प्राप्त हुये आर्य तप्ततपाः, महाघोरतपाः, उग्रतपाः, आदिक कहे जाते हैं और विक्रियाके विशेष हो रहीं ऋद्धियोंको प्राप्त हुये आर्य एकत्वविक्रिया, अणिमा, महिमा, गरिमा, आदि क्रियाओंको करनेमें समर्थ हो रहे स्मरण किये गये हैं एवं औषध ऋद्धिके विशेष अंशोंको प्राप्त हो चुके आर्य जल्लौषधिप्राप्त, मलौषधिप्राप्त, दृष्टिविष, आदि गाये गये हैं। रस ऋद्धिको प्राप्त हो रहे आर्य तो क्षीरास्रवी, मध्वास्रवी, आदिक हैं। मनोबली, वचनबली, आदिक आर्य जिनागममें बलके विशेष हो रहीं ऋद्धियोंको प्राप्त हुये समझे गये हैं। अक्षीण ऋद्धिके विकल्प होरहीं ऋद्धियोंको प्राप्त कर चुके आर्य मुनि फिर अक्षीण महालय आदिक बोले गये हैं। इस प्रकार ऋद्धि प्राप्त आर्योंके सात भेद हैं। दूसरे श्री अकलंक देव प्रभृति आचार्य ऋद्धि प्राप्त आर्योंको आठ प्रकार स्वीकार करते हैं। वे आठ प्रकार बुद्धिऋद्धि, क्रियाऋद्धि, विक्रियाऋद्धि, तपऋद्धि, बलऋद्धि, औषधऋद्धि, रसऋद्धि, क्षेत्रऋद्धि इन आठ भेद वालीं ऋद्धियोंके धारनेसे होजाते हैं। अर्थात्—उन सातोंका इन आठोंसे अविरोध है। क्रियाऋद्धिका विक्रिया ऋद्धिमें ही अंतर्भाव कर लिया जाता है। अक्षीण ऋद्धि और क्षेत्रऋद्धिका अभिप्राय एक ही है। प्रवक्ताओंकी वचनभंगी अनुसार भेद करनेमें शब्दकृत अंतर भले ही पड जाय, अर्थमें कोई अंतर नहीं है। चाहे अनुमानके प्रतिज्ञा, हेतु ये दो अवयव मान लिये जांय अथवा पक्ष, साध्य, हेतु, ये तीन अंग मान लिये जाय एक ही तात्पर्य बैठता है। यहां किसीका प्रश्न है कि वे ऋद्धियां या ऋद्धिधारी आर्य भला किस प्रमाणसे निर्णीत होकर संभावना करने योग्य हैं ? प्रत्यक्ष प्रमाणसे अत्र, अधुना, ऋद्धिधारी मनुष्योंके दर्शन होना दुर्लभ है। एक बात यह भी पूंछनी है कि अष्ट महानिमित्तका ज्ञान अणु शरीर बना लेना, मेरुसे भी बडा शरीर बना लेना छोटेसे स्थानमें असंख्य जीवोंका निर्बाध बैठ जाना इत्यादिक ऋद्धियोंकी शक्तियां कैसे समझ ली जांय ? यों जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधान वचनको कहते हैं।

संभाव्यंते च ते हेतुर्विशेषवशवर्तिनः ।
केचित्प्रकृष्यमाणात्मविशेषत्वात्प्रमाणवत् ॥ ४ ॥

वे ऋद्धिको प्राप्त हुये कितने ही एक आर्य (पक्ष) अपने अपने विशेष हेतुओंकी अधीनतासे वर्त रहे संते संभावित होरहे हैं (साध्य) तारतम्य मुद्रा अनुसार प्रकर्षको प्राप्त होरहे अपने अपने विशेष

स्वरूपोंका धारक होनेसे (हेतु) लम्बाई, चौडाई, मोटाई, रूप विशेषताओंको धारनेवाले परिमाणके समान (अन्वयदृष्टान्त) अथवा प्रमाण ज्ञानके समान। अर्थात्—जैसे परपदार्थोंकी अपेक्षा न्यून होते होते और आत्म विशुद्धिके बढते बढते जैसे ज्ञानमें प्रमाणता बढती जाती है, उसी प्रकार जीवोंमें ऋद्धि शक्तियां भी बढती जाती हैं। थोडे थोडे ज्योतिषविद्या, भूशास्त्र, स्वरशास्त्रके, जाननेवाले आजकल भी पाये जाते हैं। एक विद्यार्थी पहिली बार अष्टसहस्रीको छह महीनेमें पढता है। पुनः पाठको विचारता हुआ पन्द्रह दिनमें हृदयंगत कर लेता है। पश्चात् परिशीलन करता हुआ चार ही दिनमें पूरे अष्टसहस्री ग्रन्थका अनुगम कर लेता है। यों अभ्यास करते हुये वह छात्र परीक्षा कालमें अष्टसहस्रीके प्रमेयको अन्तर्मुहूर्त्तमें ही अनुगत कर लेता है। कबूतर, बिच्छूके मल, मूत्रमें, कितनी ही लाभदायक शक्तियां हैं। हर्ष अवस्थामें या आदिम [illegible] शरीर फूल जाता है। चिन्ता, शोक, अवस्थामें शरीर कृष हो जाता है। शारीरिक वायुको वशकर प्राणायाम द्वारा कतिपय चमत्कार दिखा दिये जाते हैं। आकाश या जलमें मनुष्यका चलना बन सकता है। अनेक जीवोंका वशमें कर लेना कोई अशक्य नहीं है। कई साधुओंकी घोर तपस्या प्रसिद्ध है। मांत्रिक, तांत्रिक, पुरुषोंके देखने मात्रसे कतिपय विष उतर जाते हैं। हां, उत्कृष्ट तपस्याओंको आचरनेवाले आर्य मुनियोंके उक्त ऋद्धियां अत्यधिक रूपसे बढ जाती हैं। जो अतिशय क्रम क्रमसे बढ रहा है। वह आकाशमें परिमाणके समान पूर्ण प्रकर्षताको भी प्राप्त कर लेता है। जब कि जड पदार्थ ही विज्ञान प्रयोग अनुसार अनेक चमत्कारोंको कर रहे हैं, तो अनन्तशक्तिवाले आत्माकी ऋद्धियोंके साधनेमें कोई संशय नहीं रह जाता है।

यथा परिमाणमापरमाणोः प्रकृष्यमाणस्वरूपमाकाशे परमप्रकर्षपर्यंतप्राप्तं सिद्ध्यत्तदंतराले अनेकधा परिमाणप्रकर्षं साधयति तथा सर्वजघन्यज्ञानादिगुणर्द्धिविशेषादारभ्यर्धिविशेषः प्रकृष्यमाणस्वरूपं परमप्रकर्षपर्यंतमाप्नुवत्तदंतरालर्धिविशेषप्रकर्षं साधयतीति संभाव्यंते सर्वे बुद्ध्यतिशयर्धिविशेषादयः परमागमप्रसिद्धाश्चेति न किंचिदनुपपन्नं। के पुनरसंभाषर्धय इत्यावेदयति।

जैसे कि प्रत्येक द्रव्यमें पाये जा रहे प्रदेशवत्त्व गुणका विवर्त लम्बाई, चौडाई मोटाई, रूप परिमाणसे जैसे एक प्रदेशी परमाणुसे प्रारम्भ कर अपने अपने शनैः शनैः बढ रहे स्वरूपको धार रहा सीमापर्यन्त पहुंचकर आकाशमें परमप्रकर्षको प्राप्त हो चुका सिद्ध हो जाता है और उसके अन्तरालमें पाये जानेवाले अनेक प्रकार परिमाणोंके प्रकर्षको साध देता है। अर्थात्—सबसे छोटा परिमाण परमाणुका है और आकाशका सबसे बडा नाप है। बिचले घट, गंगानदी, जम्बूद्वीप, स्वयंभूरमण समुद्र, लोकाकाश ये मध्यम परिमाणवाले हैं। उस ही प्रकार सबसे छोटे लब्ध्यपर्याप्तक निगोदिया जीवके जघन्यज्ञान, अत्यल्प कायबल, आदि गुणस्वरूप ऋद्धि विशेषोंसे प्रारम्भ कर बुद्धि, बल, आदि ऋद्धियोंके विशेष भला अपने बढ रहे स्वरूपके परम प्रकर्ष पर्यन्त प्राप्त हो रहे सन्ते अन्तरालवर्ती ऋद्धिविशेषोंके प्रकर्षको साध देते हैं। इस ढंगसे सभी बुद्धिका अतिशय रूप विशेष ऋद्धि या

विक्रिया विशेष ऋद्धि, बल ऋद्धि, आदिको धारनेवाले आर्य मनुष्य सम्भावित हो रहे हैं। यों अनुमानसे ऋद्धिधारी मनुष्योंकी सिद्धि हो रही है। तथा सर्वज्ञ आम्नायसे प्राप्त हुये सर्वोत्कृष्ट आगम प्रमाण द्वारा भी ऋद्धिप्राप्त आर्य प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार कोई भी ऋद्धि या ऋद्धिधारियोंकी अनुपपत्ति नहीं है। यहां कोई पुनः प्रश्न उठाता है कि ऋद्धिप्राप्त आर्य मनुष्योंको हम निर्णीत कर चुके हैं। अब महाराज फिर यह समझाइये कि वे ऋद्धियोंकी भले प्रकार प्राप्तिसे रहित हो रहे आर्य भला कौनसे मनुष्य हैं ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा समाधानका विज्ञापन करते हैं।

असंप्राप्तर्धयः क्षेत्राद्यार्या बहुविधाः स्थिताः।
क्षेत्राद्यपेक्षया तेषां तथा निर्णीतियोगतः ॥ ५ ॥

ऋद्धियोंकी सम्प्राप्तिसे रीते हो रहे दूसरे आर्य तो क्षेत्र आर्य, जाति आर्य, इत्यादिक बहुत भेद, प्रभेदवाले व्यवस्थित हो रहे हैं। क्षेत्र, कर्म, आदिकी अपेक्षा करके उन मनुष्योंका तिस प्रकार क्षेत्रसे आर्य, जातिसे आर्य, आदि स्वरूपोंकरके निर्णय हो जानेका योग मिल रहा है।

क्षेत्रार्या, जात्यार्याः, कर्मार्याश्चारित्रार्या, दर्शनार्याश्चेत्यनेकविधाः क्षेत्राद्यपेक्षया अनृद्धिप्राप्तार्याः प्रत्येतव्या तथा प्रतीतियोगात्।

क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कर्मार्य, चारित्रार्य, दर्शनार्य, इस ढंगसे क्षेत्र आदिककी अपेक्षा करके अनेक विकल्पवाले ऋद्धि प्राप्तिसे शून्य हो रहे आर्य समझ लेने चाहिये। क्योंकि तिस प्रकारकी प्रतीतियोंका योग पाया जा रहा है। अर्थात्—इस आर्यखण्डमें काशी देश, अवधप्रान्त, विहार प्रदेश, आदिमें जन्म लेकर बस रहे मनुष्य तो क्षेत्रकी अपेक्षा आर्य हैं। इक्ष्वाकुवंश, नाथवंश आदि कुलोंमें उत्पन्न हुये पुरुष जाति अपेक्षा आर्य हैं। पाप कर्मा, अल्प पापकर्मा और निष्पापकर्मा, की अपेक्षा कर्मार्योंके तीन भेद हैं। यों-अध्ययन, अध्यापन, असि, मषी, आदि कर्मोंके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णवाले मनुष्य या श्रावक, मुनि, भी कर्म आर्य हैं। चारित्र पालनेकी अपेक्षा ग्यारहवें, बारहवें, गुणस्थानवर्ती मनुष्य अथवा अन्य भी चारित्रवान् पुरुष चारित्र आर्य हैं। दश प्रकारके सम्यग्दर्शनको धारनेवाले दर्शन आर्य हैं।

के पुनर्म्लेच्छा इत्याह।

आर्योंकी प्रतिपत्ति हो चुकनेपर कोई शिष्य पूंछता है कि फिर म्लेच्छ मनुष्य कौनसे हैं ? यों जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्तिक द्वारा समाधान वचनको कहते हैं।

तथान्तर्द्वीपजा म्लेच्छाः परे स्युः कर्मभूमिजाः।
आद्याः षण्णवतिः ख्याता वार्धिद्वयतटद्वयोः ॥ ६ ॥

तथा अंतर्द्वीपोंमें उत्पन्न हुये म्लेच्छ हैं और उनसे न्यारे कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुये तिस प्रकारके दूसरे म्लेच्छ मनुष्य हैं। आदिमें कहे गये अंतर्द्वीपवासी म्लेच्छ तो लवण, कालोदधि, दोनों समुद्रोंके भीतरले, बाहरले, उभय तटोंपर बने हुये छियानवें अंतर्द्वीपोंमें निवास कर रहे बखाने गये हैं।

म्लेच्छा द्विविधाः अंतर्द्वीपजाः कर्मभूमिजाश्च। तत्राद्यास्तावल्लवणोदस्योभयोरष्टचत्वारिंशत् तथा कालोदस्य इति षण्णवतिः।

म्लेच्छ दो प्रकारके हैं। एक अंतर्द्वीपोंमें उत्पन्न हुये और दूसरे कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुये म्लेच्छ हैं। उन दोनों भेदोंमें आदिमें कहे गये मनुष्य तो लवणसमुद्रके दोनों तटोंपर अडतालीस द्वीप और तिस ही प्रकार कालोदधि समुद्रके दोनों तटोंपर जलमें उभर रहे अडतालीस द्वीप यों छियानवे द्वीपोंमें निवास कर रहे हैं। एक एक द्वीपमें लाखों म्लेच्छ निवास करते हैं। भावार्थ--जंबूद्वीपकी वेदीसे तिरछा चलकर आठ दिशा, विदिशाओंमें लवण समुद्रमें भीतर आठ अंतरद्वीप हैं और उनके बीच बीचमें आठ न्यारे द्वीप हैं एवं हिमवान् पर्वतके दोनों ओर, शिखरी पर्वतके दोनों ओर, दो विजयार्धोंके दोनों ओर, यों आठ द्वीप अन्य भी हैं। लवण समुद्रके बाहरले परलाडेमें भी इसी प्रकार चौबीस द्वीप बन रहे हैं। दिशाओंमें बने हुये द्वीप तो रत्नवेदिकासे तिरछे पांचसौ योजन समुद्रमें घुसकर सौ योजन विस्तारवाले हैं तथा विदिशा और अंतरालोंमें बने हुये द्वीप तो जंबूद्वीपकी वेदीसे तिरछा साढे पांच सौ योजन जानेपर पचास योजन विस्तारवाले हैं। पर्वतोंके अंतमें जो द्वीप माने गये हैं वे छह सौ योजन समुद्रमें उरलीपार और परलीपारसे घुसकर पच्चीस योजन विस्तारवाले निर्मित हैं। इसी प्रकार कालोदधि समुद्रमें भी अडतालीस द्वीप बने हुये हैं। अंतर इतना ही है कि धातकीखंडके हिमवान् पर्वत और उसके निकटवर्ती विजयार्ध दोनोंकी रेखाओंके अनुसार कालोदधिमें एक अंतरद्वीप है। इस ही रेखा अनुसार परली ओर एक द्वीप है यही दशा शिखरीपर्वत और उसके विजयार्धके संबन्धमें लगा लेना चाहिये। इन अंतर द्वीपोंमें पूंछवाले, सींगवाले, गूंगे आदि कई विकृत आकृतिओंको धार रहे म्लेच्छ मनुष्य निवास करते हैं। ये द्वीप जलतलसे एक योजन ऊंचे उठे हुये हैं। इन द्वीपोंको कुभोगभूमिमें भी कह दिया जाता है।

ते च केचिद्भोगभूमिसमप्रणिधयः परे कर्मभूमिसमप्रणिधयः श्रूयमाणाः कीदृगायुरुत्सेधवृत्तय इत्याचष्टे।

तथा वे म्लेच्छ कोई कोई तो द्वीपवर्तिनी भोगभूमियोंकी समान रेखा अनुसार निकटवर्ती होरहे हैं और कोई दूसरे अंतर्द्वीपवासी म्लेच्छ जो कि कर्मभूमियोंके निकटसमकोटीपर बने हुये अंतर्द्वीपोंमें निवास कर रहे सुने जा रहे हैं। किसीका प्रश्न है कि भला उनकी आयु या शरीरकी ऊंचाई तथा प्रवृत्तियां किस प्रकारकी हैं? ऐसी प्रतिपित्सा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिक द्वारा समाधान वचनका व्याख्यान करते हैं।

भोगभूम्यायुरुत्सेधवृत्तयोभोंगभूमिभिः ।
समप्रणिधयः कर्मभूमिवत्कर्मभूमिभिः ॥ ७ ॥

भोगभूमियोंकी समरेखापर निकटवर्ती बन रहे अन्तर्द्वीपोंमें निवास करनेवाले म्लेच्छ तो भोगभूमिवाले जीवोंके समान आयुष्य, ऊंचाई और प्रवृत्तिको धार रहे हैं तथा कर्मभूमियोंकी निकटवर्तिनी समरेखापर लवणसमुद्र या कालोदधिमें बने हुये अन्तर्द्वीपोंमें निवास कर रहे म्लेच्छोंकी आयु या शरीरकी ऊंचाई तथा भोजनादिकी प्रवृत्तियां कर्मभूमिवाले जीवोंकी आयु, ऊंचाई, और प्रवृत्तियोंके समान है। किन्तु कर्मभूमिके समान उन म्लेच्छोंमें देशव्रत या महाव्रत नहीं पाये जाते हैं।

भोगभूमिभिः समानप्रणिधयोंतर्द्वीपजा म्लेच्छा भोगभूम्यायुरुत्सेधवृत्तयः प्रतिपत्तव्याः, कर्मभूमिभिः समप्रणिधयः कर्मभूम्यायुरुत्सेधवृत्तयस्तथा निमित्तसद्भावात् ।

भोगभूमियोंकी समाननिकटतावाले अन्तर्द्वीपोंमें उपजे हुये म्लेच्छ तो उन उन भोगभूमियोंके जीवोंकी आयु, ऊंचाई, प्रवृत्तिके समान आयुष्य उच्चता, प्रवृत्तियोंको धार रहे समझ लेने चाहिये। और कर्मभूमियोंकी समप्रणिधिवाले म्लेच्छ तो उस कर्मभूमिमें नियत हो रही आयु, ऊंचाई, प्रवृत्तियोंके अनुसार आयु, शरीरोत्सेध, और प्रवृत्तियोंको धार रहे हैं। क्योंकि तिस प्रकारके निमित्त कारणों का सद्भाव है। कारणके विना किसी भी कार्यकी सिद्धि नहीं हो पाती है। जैसे पुण्य, पाप, उन भोगभूमि या कर्मभूमिमें जन्म ले चुके मनुष्योंके हैं, उस ही प्रकारके कुछ न्यूनाधिक पुण्य, पाप, उन उन भूमियोंके निकटवर्त्ती अन्तरद्वीपोंके निवासी म्लेच्छ मनुष्योंमें भी पाये जाते हैं। जैसा कारण होगा वैसा कार्य बन जायगा, यह निर्णीत सिद्धान्त है।

अथ के कर्मभूमिजा म्लेच्छा इत्याह ।

अब इसके अनन्तर कोई प्रश्न पूछता है कि दोनों प्रकारके आर्योंको मैं समझ चुका हूं, दो प्रकारके म्लेच्छोंमें अन्तर द्वीपके म्लेच्छोंकी प्रतिपत्ति भी की जा चुकी है। अब महाराज, यह बतलाओ कि दूसरे प्रकारके कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुये म्लेच्छ भला कौन है ? इस प्रकारकी जिज्ञासा होनेपर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा उत्तर कहते हैं।

कर्मभूमिभवा म्लेच्छाः प्रसिद्धा यवनादयः ।
स्युः परे च तदाचारपालनाद्बहुधा जनाः ॥ ८ ॥

और वे दूसरे कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुये म्लेच्छ तो यवन, शबर, पुलिन्द, किरात, बर्बर, आदिक प्रसिद्ध ही हैं, जो कि बहुत प्रकारके चाण्डाल आदि मनुष्य उन म्लेच्छोंके आचारको पालनेसे म्लेच्छ ही समझे जाते हैं। अर्थात्—जिन जातियोंमें मद्य, मांस, आदिक कुकर्मोंसे घृणा नहीं है, धर्म,

अधर्म, या भक्ष्य, अभक्ष्यका, विवेक नहीं है, वर्णाश्रम व्यवस्था नहीं है, धर्मको व्रत समझ कर नहीं पालते हैं, उन जातियोंके मनुष्य भले ही क्षेत्र आर्य क्यों न होंय, म्लेच्छोंमें ही परिगणित किये जाते हैं।

कुतः पुनरेवमार्यम्लेच्छव्यवस्थेत्याह।

महाराज, फिर यह बताओ कि जगत्में मनुष्योंके इस प्रकार आर्यपन या म्लेच्छपनकी व्यवस्था भला किस कारणसे नियत हो रही है ? यों जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज समाधान वचनको कहते हैं।

संप्रदायाव्यवच्छेदादार्यम्लेच्छव्यवस्थितिः।
संतानेन विनिश्चेया तद्विद्भिर्व्यवहारिभिः॥ ९॥
स्वयं संवेद्यमाना च गुणदोषनिबंधना।
कथंचिदनुमेया च तत्कार्यस्य विनिश्चयात्॥ १०॥

सन्तानक्रम अनुसार उन आर्य या म्लेच्छ पुरुषोंको जाननेवाले व्यवहारी मनुष्यों करके सम्प्रदायका नहीं टूटना होनेसे आर्य और म्लेच्छ मनुष्योंकी व्यवस्थाका संतान प्रतिसंतान रूप करके विशेषतया निर्णय कर लेना चाहिये। यों वृद्धपरम्परासे चले आ रहे आप्तवाक्यों द्वारा मनुष्योंमें आर्यपन या म्लेच्छपनका नियत बना रहना जान लिया जाता है तथा प्रत्यक्ष द्वारा भी गुण और दोषोंको कारण मानकर हुई आर्यव्यवस्था या म्लेच्छव्यवस्थाका स्वयं सम्वेदन किया जा रहा है। जिन पुरुषोंमें धर्मकर्मविचार, असि, मषी, आदि प्रवृत्तियां, गुरुविनय, पापभीरुता, आदि गुण हैं, वे आर्य मनुष्योंके यहां अपनी अपनी आत्मामें आर्य मनुष्य अनुभवे जा रहे हैं। धर्म कर्मको स्वीकार नहीं करना, आस्तिकोंकी निन्दा, मद्य मांस आदिका सेवन आदि दोष जिन मनुष्योंमें हैं, वे जातियां स्वयं अपनेको म्लेच्छरूपसे सम्वेदन कर रही हैं। तथा उन आर्य मनुष्य और म्लेच्छ मनुष्योंके अव्यभिचारी कार्योंका विशेषतया निश्चय हो जानेसे आर्यम्लेच्छव्यवस्था किसी ढंगसे अनुमान द्वारा भी जानी जा सकती है। यों आगमप्रमाण प्रत्यक्षप्रमाण या अनुमान प्रमाणसे जगत्में आर्य, म्लेच्छव्यवस्था नियत हो रही ज्ञात कर ली जाती है। जब कि आम्रफल, चावल, गेहूं, घोडा, बैल, कबूतर, आदिकी निकृष्ट और प्रकृष्ट जातियोंका परिचय हो रहा है तो विशेषज्ञों करके आर्य, म्लेच्छ व्यवस्थाका निर्णय भी सुलभ है। यदि दूर देशके मनुष्य या मायाचारी मनुष्यके आर्यत्व अथवा म्लेच्छत्वका किसी व्यक्तिको निर्णय नहीं होय तो यह उस व्यक्तिकी प्रज्ञाका दोष है। आर्यत्व, म्लेच्छत्व, परिणतिओंमें कोई त्रुटि नहीं है। अनुभवगम्य या प्रत्यक्षज्ञानगम्य अनेक सूक्ष्म विषयोंमें अल्पज्ञोंको अज्ञान या भ्रान्ति हो जाती है।

न संप्रदायाव्यवच्छेदोऽसिद्धस्तद्विदां नास्तिकसंप्रदायाव्यवच्छेदवत्, नाप्यप्रमाणं सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वात्तद्वत्। ततः संतानेनार्यम्लेच्छव्यवस्थितिस्तद्विद्भिर्निश्चेतव्या। नास्तिकसंतानव्यवस्थितिवत्। सर्वः सर्वदार्यत्वम्लेच्छत्वशून्यो मनुष्यसंतान इत्यत्रापि संप्रदायाव्यवच्छेद एव नास्तिकानां शरणं प्रत्यक्षानुमानस्य च तत्राव्यापारात्। यथा चाहं नास्तिकस्तथा सर्वे पूर्वकालवर्तिनो नास्तिका जात्यादिव्यवस्थानिराकरणपरा इत्यपि संप्रदायादेवाविच्छिन्नादवगंतव्यं नान्यथा। अयमेव संप्रदायः प्रमाणं न पुनरार्यम्लेच्छव्यवस्थितिप्रतिपादक इति मनोरथमात्रं प्रतीत्यभावात्।

आम्नायका ज्ञान रखनेवाले पुरुषोंके यहां धाराप्रवाह रूपसे चली आ रही सम्प्रदायका नहीं टूटना असिद्ध नहीं है, जैसे कि नास्तिकपनेकी सम्प्रदायका व्यवच्छेद नहीं होना असिद्ध नहीं है। अर्थात्—जो नास्तिकजन सभी मनुष्योंमें आर्यपन और म्लेच्छत्वको स्वीकार नहीं कर रहे, यों बखानते हैं कि हम सम्पूर्ण मनुष्योंको एकसा मानते हैं, जाति, वर्ण, कुलीनता, कोई वस्तु नहीं है। पुरुखाओंसे हमारे यहां ऐसा ही नास्तिकपनेका प्रवाह चला आ रहा है। उन नास्तिकोंके यहां भी अपनी इष्ट सम्प्रदायका नहीं टूटना अभिप्रेत किया गया है। उसीको दृष्टान्त बनाकर श्री विद्यानन्द आचार्यने सम्प्रदाय अनुसार आर्यपन और म्लेच्छपनकी व्यवस्थाको साध दिया है। तथा वह आर्यपन और म्लेच्छपनकी सम्प्रदायका अव्यवच्छेद (पक्ष) अप्रमाण भी नहीं है (साध्य), बाधकोंके असम्भव होनेका अच्छा निश्चय हो चुकनेसे (हेतु) जैसे कि नास्तिकोंने अपने नास्तिकपनके सम्प्रदायकी अटूटको अप्रमाण नहीं माना है (अन्वयदृष्टान्त)। अथवा वास्तविक रूपसे विचार करनेपर नास्तिकपनके सम्प्रदायका नहीं टूटना अप्रमाण भी है और उसके बाधकप्रमाणोंका सद्भाव भी निर्णीत हो रहा है। ऐसी दशामें नास्तिक सम्प्रदायका अव्यवच्छेद व्यतिरेकदृष्टान्त माना जा सकता है। सम्प्रदायाव्यवच्छेदरूप तिस निर्दोष हेतुसे मातापिताओंकी सन्तान द्वारा आर्यम्लेच्छव्यवस्थाका उस उस सम्प्रदायके जाननेवाले पुरुखाओं करके निर्णय कर लेना चाहिये, जैसे कि नास्तिकपिता, पितामह, प्रपितामह, आदिकी सन्तान द्वारा नास्तिकपनकी व्यवस्था उनके यहां निर्णीत हो रही है। जो कोई नास्तिक यों कह रहे हैं कि मनुष्योंकी आगे पीछे यहां वहांकी सम्पूर्ण सन्तानें सदासे ही आर्यपन म्लेच्छपनसे शून्य हैं, ग्रन्थकार कहते हैं कि यों इस सिद्धान्तके करनेमें भी तो नास्तिकोंको सम्प्रदायके अव्यवच्छेदका ही शरण लेना पडेगा। तभी पुरुखाओंसे चली आ रही किम्वदन्ती अनुसार वे सम्पूर्ण मनुष्योंमें आर्यम्लेच्छरहितपनेका ज्ञान कर सकेंगे। क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण और अनुमानप्रमाणका उस आर्यपन या म्लेच्छपनकी शून्यताको जाननेमें व्यापार नहीं है। वह नास्तिक यदि अनुमान भी बनावेगा तो सम्प्रदायकी सामर्थ्यके भरोसेपर ही यों बन सकता है कि जिस प्रकार कि मैं नास्तिक हूं उसी प्रकार पूर्वकालोंमें वर्तनेवाले सम्पूर्ण मनुष्य भी जाति, क्षेत्र, कुल, आदिकी व्यवस्थाके निराकरणमें तत्पर हो रहे

नास्तिक ही थे। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी तो अविच्छिन्न हो रही सम्प्रदायसे ही नास्तिकको समझना पड़ेगा, अन्य प्रकारोंसे वह पूर्वकालवर्ती या क्षेत्रान्तरवर्ती अथवा चाहे किसी भी कर्ममें लग रहे मनुष्योंके नास्तिकपनका निर्णय कथमपि नहीं कर सकता है। नास्तिकवादी यदि ढिंढोरा पीटकर यों ही आग्रह करता फिरे कि यह मेरा सम्प्रदाय ही प्रमाण है, किन्तु फिर सनातन या स्याद्वादियोंका आर्यम्लेच्छ व्यवस्थाको प्रतिपादन कर रहा सम्प्रदाय तो प्रमाण नहीं है, आचार्य कहते हैं कि यह नास्तिकका केवल मनोरथ ही है। इसमें यथार्थता अणुमात्र भी नहीं है। क्योंकि नास्तिकके सम्प्रदाय में प्रमाणपन और आर्यम्लेच्छप्रतिपादक आम्नायमें अप्रमाणपनकी व्यवस्थाको करानेवाली प्रतीतियोंका अभाव है।

जातमात्रस्य जंतोरार्येतरभावशून्यस्य प्रतीतिः प्रमाणं तद्भावाभावविषयः संप्रदाय इति चेन्न, तस्याप्यार्येतरभावप्रसिद्धेरन्यथा व्यवहारविरोधात्। कल्पनारोपितस्तद्व्यवहार इति चेत्, तन्निर्बीजायाः कल्पनाया एवासंभवात् क्वचित्कस्य चित्तत्त्वतः प्रसिद्धस्यान्यत्रारोपो हि कल्पना दृष्टा विकल्पमात्रस्य गत्यंतराभावात् उभयथा चार्येतरभावकल्पनायां वास्तवी तद्भावसिद्धिः।

नास्तिक पण्डित कह रहा है कि बुद्धिमान् या वृद्ध पुरुषोंकी तो बात ही क्या है, केवल थोड़े दिनोंके उत्पन्न हुये मनुष्य या पशुपक्षियों तकको आर्यपन और उससे न्यारे म्लेच्छपनके रहितपनकी अपनेमें और अन्य प्राणियोंमें प्रतीति हो रही है। इस कारण उस आर्यपन म्लेच्छपन परिणतिके अभावको विषय कर रहा हम नास्तिकोंका सम्प्रदाय तो प्रमाण है। तुम आस्तिकोंका सम्प्रदाय प्रमाण नहीं है। अर्थात्---अन्धश्रद्धावाले अतिवृद्धपुरुष भले ही आर्यपन म्लेच्छपनको कहे जावें, किन्तु यावत् प्राणियोंमें आर्यपन, म्लेच्छपन, स्वजाति, कुलीनता, उच्चवर्णपना, नीच वर्णपना आदिकी प्रतीति नहीं हो रही है। आर्योंके शरीरमें कोई दूध नहीं भरा है और म्लेच्छ या चाण्डालोंकी देहमें कीच नहीं भर गई है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस उत्पन्न हुये प्राणिमात्रको भी आर्यपन और उससे न्यारे म्लेच्छपनकी प्रसिद्धि हो रही है। अन्यथा आर्यव्यवहार या म्लेच्छव्यवहारका विरोध हो जायगा। देखो, चमार, कोरियोंके छोकरा भी अपनेमें नीचगोत्रका अनुभव कर रहा है, जब कि उच्च आचरणवाले त्रैवर्णिक पुरुष अपनेमें संतान क्रमसे चली आ रही उच्चगोत्र व्यवस्थाका सम्वेदन किये जा रहे हैं। कुलीनताका प्रभाव आता है, पर आता है। यदि नास्तिकवादी यों कहे कि वह आर्यपन म्लेच्छपनका व्यवहार तो झूठी कल्पनाओंसे आरोपा गया है। वास्तविक परिणामोंकी भित्तिपर अवलम्बित नहीं है, यों कहनेपर तो आचार्य समाधान करते हैं कि उस व्यवहारकी बीजरहित कल्पनाका ही असम्भव है। उत्पादक वस्तुभूत बीजका सहारा पकड़कर ही कल्पना की जा सकती है। कल्पनाका लक्षण यह है कि कहीं न कहीं स्थलपर वास्तविक रूपसे प्रसिद्ध हो रहे किसी न किसी पदार्थका अन्य पदार्थमें आरोप कर लेना ही कल्पना करना देखा गया है,

जैसे कि सत्य होरहे सिंहपशुकी मिट्टीके खिलौनेमें या शूरवीर पुरुषमें कल्पना कर ली जाती है । अथवा विकल्पज्ञान करनेको भी कल्पना कह सकते हैं जैसे कि जहां जहां धूम होता है, वहां अग्नि होनी चाहिये, दिनमें नहीं खाते जो मोटे शरीरवाले होंगे वे जीव रातको अवश्य खाते होंगे, यह चंचल बालक अग्नि है, बोझ ढोनेवाला मनुष्य बैल है, सिद्ध परमात्मा शरीररहित होंगे, प्रत्येक उद्योगी मनुष्यको कुछ न कुछ धुन चढी रहती है, इत्यादि विकल्पोंका उठाना भी कल्पना है । उक्त दो लक्षणोंके अतिरिक्त तीसरा कोई उपाय कल्पनाका नहीं है । अतः दोनों प्रकारसे आर्यपन और म्लेच्छपनकी कल्पना करनेमें नास्तिकके यहां वास्तविक उस आर्यपन या म्लेच्छपनकी सिद्धि होजाती है । कोई खटका नहीं रहा ।

प्रधानाद्वैतादिकल्पनानामपि हि निर्बीजानामनुपपत्तिरेव सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थस्य प्रधानत्वेन नराधिपादौ प्रसिद्धेनाध्यारोपस्य प्रधानकल्पनात्वात् । कचिदेकत्वस्याद्वैतस्य प्रमाणतः सिद्धस्य सर्ववस्तुष्वध्यारोपणस्याद्वैतकल्पनात्वादन्यथा तदसंभवात् ।

नास्तिक यदि यों आक्षेप करें कि जब सभी कल्पनायें वस्तुभूत परिणतियोंके अनुसार वास्तविक सिद्ध होजायंगी तब तो सांख्यमतियोंके यहां निर्णीत किये गये प्रधानकी कल्पना भी यथार्थ बन बैठेगी । वेदांतियोंने ब्रह्माद्वैतको स्वीकार किया है । जैनोंने उसको ब्रह्माद्वैतकी कल्पना करना ठहराया है । ऐसी दशामें वह ब्रह्माद्वैत भी वस्तुभूत बन बैठेगा । इसी प्रकार ईश्वर, अल्लाह, ईसा या नरसिंह, गजानन, बुद्ध, आकाशपुष्प आदि की कल्पनायें भी परमार्थ बन जायेंगी । सत्य झूंठका विवेक उठ जायगा । कोई भी मतानुयायी अन्य मतावलम्बीका खंडन नहीं कर सकेगा, ऐसा आक्षेप उत्पन्न होय, इसके प्रथम ही ग्रंथकार बहुत अच्छा सिद्धांतसमाधान करे देते हैं कि प्रकृति, ब्रह्माद्वैत, ज्ञानाद्वैत, ईश्वरकर्तृत्व, आदिक कल्पनाओंकी भी विना बीजके सिद्धि नहीं हो पाती है । कारण कि सांख्योंने " सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः " सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, इनकी समानताको लिये हुये जो अवस्था है उसको प्रकृति माना है । प्रकृति कहो चाहे प्रधान कहो एक ही अर्थ है । वह प्रधानपना राजा, सभापति, जज आदिमें वास्तविक प्रसिद्ध होरहा है । सांख्योंने सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणकी साम्य अवस्थामें उसका अध्यारोप कर प्रधानकी कल्पना कर ली है । इसी प्रकार किसी एक आकाश या सुदर्शन मेरु अथवा अन्य किसी अकेले अनुपम पदार्थमें अद्वैतस्वरूप एकत्व की प्रमाणोंसे सिद्धि की जाचुकी है । ब्रह्माद्वैतवादियोंने उस प्रमाणसिद्ध एकत्वका संपूर्ण वस्तुओंमें अध्यारोप कर अद्वैत की कल्पना उठाली है । क्योंकि अन्य प्रकारोंसे उस कल्पनाका असंभव है । भावार्थ—कतिपय पदार्थोंका कर्तापन मनुष्य या पशुओंमें देखा जाता है । नैयायिकोंने शुद्ध आत्मामें यावत् कार्योंका कर्तापन झूंठमूठ गढलिया है । अल्लाह या ईसा भी कोई विशेष पुरुष हुये हैं, उनके भक्तोंने उनमें मोक्षदायकत्व, व्यापकत्व, जगत्कर्तृत्व आदिक धर्म मनमाने गढ लिये हैं । मनुष्यके धड और हाथीके शिरका योग होकर एक जीवका अनेक दिनोंतक जीवित रहना असम्भव है । फिर भी प्राकृत सिद्धान्तोंका नहीं विचार करनेवाले गणेशभक्तोंने वास्तविक

मनुष्यका धड और दूसरे वास्तविक गजमस्तककी भित्तिपर एक गजाननकी कल्पना कर ली है। इसी प्रकार मनुष्य और सिंहका योग बनाकर नरसिंह अवतार कल्पित किया गया है। वृक्षपर आकाशमें लटक रहा या आकाशमें उछल रहा आकाशका फूल कल्पित हो जाता है। घी का घडा रुपयोंका वस्त्र, ये सब कल्पनायें वास्तविक परिणतियोंके अनुसार कहींसे कहीं आरोप दी गयीं हैं। मण्डूकशिखा, कच्छपरोम, आदिक सर्वथा असम्भव माने जा रहे पदार्थोंकी कल्पनायें भी जब वस्तु भित्तिपर उठी हुयीं साध दी गयीं हैं तो प्रधान, ब्रह्माद्वैत, सन्निकर्षप्रमाणता, निर्गुणमोक्ष, क्षणिक-वाद, कूटस्थता आदिक कुछ सम्भव और कुछ असम्भव हो रहे पदार्थोंकी कल्पना तो सुलभतया बीजभित्तिसहित साधी जा सकती है तथा परिपूर्ण रूपसे वस्तुभूत परिणतिओं अनुसार सम्भव रही आर्यत्व, म्लेच्छत्व, उच्चगोत्रता, नीचगोत्रता आदिकी कल्पना तो अतीव सुलभतासे समझायीं जा सकती हैं। मनुष्यपन, पशुपन, या सदाचार, असदाचार, अथवा अपराध, अनपराधका विवेक रखनेवालोंके सन्मुख आर्यपन म्लेच्छपनका निर्णय सुकर है।

कथं वा कचित्संप्रदायात् पारमार्थिकीं व्यवस्थामाचक्षाणो मनुष्येष्वेवार्येतरभावव्यवस्थां काल्पनिकीमाचक्षीत ? प्रमाणांतराविषयत्वादिति चेत् न, आर्यम्लेच्छव्यवस्थाया गुणदोष-निबंधनायाः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामिति प्रसिद्धेरेव। तथाहि—स्वसंतानवर्तिनी हि मनुष्याणां आर्यत्वव्यवस्थितिः सम्यग्दर्शनादिगुणनिबंधना म्लेच्छव्यवस्थितिश्च मिथ्यात्वादिदोषनिबंधना स्वसंवेदनसिद्धा स्वरूपवत्। संतानांतरवर्तिनी तु सा व्यापारव्यवहाराकारविशेषस्य कार्यस्य विनिश्चयादनुमेया चेति न प्रमाणांतरागोचरा प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रसिद्धायां च गुणनिबंधना-यामार्यत्वव्यवस्थायां काश्चित् मनुष्यव्यक्तिषु युगादावव्यवच्छिन्नसंतानास्तथा भूतगुणैरर्यमाणा जात्यार्याः प्रसिद्धा भवंति क्षेत्राद्यार्यवत् तथा म्लेच्छाः।

एक बात यह भी है कि नास्तिकपन, मनुष्यपन, पशुपन, आदिमें कहीं न कहीं सम्प्रदायसे वास्तविक व्यवस्थाको बखान रहा यह नास्तिक भला मनुष्योंमें ही आर्यपन म्लेच्छपनकी व्यवस्थाको क्यों कल्पनानिर्मित कहेगा ? बताओ। सम्प्रदाय अनुसार मानी गयी व्यवस्थाको या तो सर्वत्र कल्पित कहे अथवा कहीं भी कल्पित नहीं कहे। कहीं कुछ और कहीं कुछ, यों "अर्धजरतीय" न्यायका अनुसरण उचित नहीं है। यदि नास्तिक यों कहे कि आर्य, म्लेच्छव्यवस्था तो किन्हीं अन्य प्रमाणोंका विषय नहीं है, इस कारण कल्पित है, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि गुणोंको कारण मानकर हुयी आर्यव्यवस्थाकी और दोषोंके निमित्त कारणपनसे हुई म्लेच्छव्यवस्थाकी इन प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंसे यों वक्ष्यमाण प्रकार अनुसार प्रसिद्धि हो रही है। उसीको ग्रन्थकार स्पष्ट कर दिखलाते हैं कि अपने निज आत्माकी ऊर्ध्वतासामान्य द्वारा पूर्वकालोंसे चली आ रही संतानमें वर्त रही मनुष्योंकी आर्य-

पनेकी व्यवस्था तो सम्यग्दर्शन, क्षमा, ब्रह्मचर्य, आदि गुणोंको कारण मानकर हुई स्वकीय सम्वेदनसे प्रतीत हो रही है और म्लेच्छमनुष्योंके अपनी अपनी संतानमें वर्त रही म्लेच्छपनकी व्यवस्थिति इन मिथ्यात्व, हिंसा, निर्लज्जता, आदि दोषोंके निमित्तसे हो रही अपने स्वसम्वेदन प्रत्यक्षों द्वारा प्रसिद्ध हो रही है, जैसे कि अपने अपने आत्मसद्भावका सम्पूर्ण मनुष्योंको स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष हो रहा है। हां, स्वकीय आत्मासे न्यारे अन्य आत्मा रूप संतानोंमें वर्त रही वह आर्यपन या म्लेच्छपनकी व्यवस्था तो आर्यपन, म्लेच्छपनके कार्य हो रहे विशेष व्यापार, विशेषवचन प्रवृत्तियां, या विशेषआकारोंका विशेषतया निश्चय हो जानेसे अनुमान करने योग्य है। इस कारण वह आर्य, म्लेच्छपनकी व्यवस्था अन्य प्रमाणोंका अविषय नहीं है, जैसा कि तुमने पहिले आक्षेप किया था। किन्तु अपनी अपनी आत्मायें स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष द्वारा और परकीय आत्माओंमें अनुमान द्वारा आर्य, म्लेच्छ, व्यवस्थाको हमने साध दिया है। जब कि किन्हीं किन्हीं सज्जन सदाचारी व्रती मनुष्य व्यक्तियोंमें गुणोंको कारण मानकर आर्यपन व्यवस्थाकी प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों करके प्रसिद्धि हो चुकी है, ऐसा हो जानेपर कर्मभूमिकी आदिमें नहीं टूटी हुयी संतानवाले मनुष्य तिस प्रकारके वस्तुभूत गुणों करके सेवित किये जा रहे जात्यार्य प्रसिद्ध हो जाते हैं, जैसे कि क्षेत्र या कर्म आदिकी अपेक्षा आर्य मनुष्य प्रसिद्ध हो रहे हैं। अर्थात्—भोगभूमियोंके मनुष्य आर्य हैं, उन्हींकी संतान, प्रतिसंतान नहीं टूटती हुई कर्मभूमि कालमें भी चली आ रही है। जाति या कुलोंके नाम भले ही परिवर्तित हो जांय, इक्ष्वाकुवंश, सोमवंश, नाथवंश ये संज्ञायें इस युगकी अपेक्षासे हैं, तो भी इनकी संतानधारा अटूट है। अतः तिस प्रकार सम्यग्दर्शन आदि गुणोंकरके जुट हो रहे मनुष्य आर्य हैं। क्षेत्र आर्य, कर्म आर्य, चारित्र आर्य, इनके समान ही कुलपरम्परासे चले आ रहे जात्यार्योंकी भी सिद्धि कर लेनी चाहिये। तिस ही प्रकार कुलपरम्परा अनुसार अविच्छिन्न संतानवाले मनुष्य मिथ्यात्व, हिंसा, आदि दोषों करके सेवित हो रहे म्लेच्छ प्रसिद्ध हो रहे हैं, म्लेच्छोंको स्वयं अपनी आत्मामें म्लेच्छपन का स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष हो रहा है। हां, उनके पुत्र, मित्र, या देशान्तरीय अन्य म्लेच्छोंके म्लेच्छपन का शरीर व्यापार, वचनप्रवृत्तियां आदि करके अनुमान कर लिया जाता है। आर्योंको दूसरेके म्लेच्छ पनका या म्लेच्छमनुष्योंको दूसरोंके आर्यपनका भी अनुमान हो जाता है। भले ही कोई ऐंठू या अभिमानी पुरुष अपनेको बडा मानता रहे, किन्तु समय समयपर गुण और दोषोंका ठीक ठीक विवेक तो बालक, बालिकाओं, तक को हो जाता है। पण्डितपन या मूर्खपन, नीरोगता, सरोगता, बलवत्ता, निर्बलता, सदाचार कदाचारके समान आर्यपन म्लेच्छपनका भी संज्ञी जीवोंको परिज्ञान हो सकता है कोई कठिन समस्या पाले नहीं पड गयी है।

नित्यसर्वगतामूर्तस्वभावा सर्वथा तु या।
जातिर्ब्राह्मण्यचांडाल्यप्रभृतिः कैश्चिदीर्यते ॥ ११ ॥

सा न सिद्धा प्रमाणेन बाध्यमाना कदाचन ।

बात यह है कि क्षेत्र आर्य या कर्म आर्य अथवा चारित्र आर्य मनुष्योंकी सिद्धि करना सरल है। हां, जात्यार्योंकी इस युक्तिप्रधान जगत्में सिद्धि करा देना श्रमसाध्य है। कारण कि प्रायः संपूर्ण मनुष्य जन्मपरम्पराको तो स्वीकार कर लेते हैं। विष्णु या ब्रह्माके शरीरसे हुई आदि सृष्टिको माननेवाले अथवा चाहे जितनी आत्माओंकी सृष्टि या प्रलयको कर देने वाले अल्लाहके अनुयायी मोहमदियोंकी संपूर्ण युक्तियां निर्बल (पोच) पड गयी हैं। परिशेषमें चार्वाक, साइन्सवेत्ता, यवन, पौराणिक बौद्ध इन सबको गर्भज मनुष्य, पशु, पक्षियोंकी सृष्टि संतानरूपसे अनादिकालीन माननी पडेगी। हां, कतिपय आधुनिक पंडित संतानक्रमसे चले आरहे जीवाचरणका आत्माओंमें संस्कार पड जाना नहीं स्वीकार करते हैं। कोई कोई तो तत्कालीन सदाचार, असदाचारसे झटिति आर्यसे म्लेच्छ और म्लेच्छसे आर्य होजाना अंगीकृत कर लेते हैं। कोई तो जाति, कुल, व्यवस्थाको स्वीकार ही नहीं करते हैं। किन्तु यह बात जगत् प्रसिद्ध है कि विशेष जातिके आमसे भिन्न प्रकारका आम्रफल उपजता है। सांकर्य (कलम लगा देनेसे) हो जानेसे अन्तर पड जाता है। बढिया घोडेमें भी पितृवंश, मातृवंशका लक्ष्य रखा जाता है। कषायों या क्षमाकी वासनायें बहुत दिनोंतक बस जाती हैं। इसी प्रकार इक्ष्वाकु वंश, पद्मावतीपुरवाल, अग्रवाल, खण्डेलवाल आदि जातियोंकी अपेक्षा संतानक्रमसे चले आ रहे आर्यपनका नियामक हेतु जन्मक्रम और कर्मक्रम दोनों ही मानने चाहिये। श्री विद्यानन्द आचार्य वैशेषिकोंकी मानी हुई जातिका प्रत्याख्यान करते हैं कि किन्हीं वैशेषिक या नैयायिकोंकरके सर्वथा नित्य, सर्वव्यापक, अमूर्तस्वभाववाली जो ब्राह्मणत्व, चाण्डालत्व, वैश्यत्व आदि जातियां कही जा रही हैं, वे तो कदाचित् भी सिद्ध नहीं हो सकती हैं ? क्योंकि प्रमाणोंसे वे बाधाको प्राप्त हो रही हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, कोई भी प्रमाण उन जातियोंको विषय नहीं करता है, जिनका कि स्वरूप वैशेषिकोंने नित्यपन, व्यापकत्व, और अमूर्तत्व मान रक्खा है।

ब्राह्मणत्वादिजातिः सर्वगता सर्वत्र स्वप्रत्ययहेतुत्वादाकाशवत् सत्तावद्वा, तथा नित्या सर्वदोत्पादकविनाशककारणरहितत्वात् तद्वदेव इत्येके। तत्र मनुष्याः,सा सर्वगता सती व्यक्त्यंतराले कस्मात्स्वप्रत्ययं नोत्पादयतीति ? स्वव्यंजकविशेषाभावादनभिव्यक्तत्वादिति चेन्न, तदभिव्यक्तेः साकल्येन करणे क्वचिदुपलंभे सर्वत्रोपलंभप्रसंगात्, देशतः करणे सावयवत्वप्रसक्तेः ।

वैशेषिकोंका मन्तव्य है कि ब्राह्मणत्व, वैश्यत्व, चाण्डालत्व, आदिक जातियां (पक्ष) सर्वत्र व्यापक हैं (साध्य), क्योंकि सभी व्यक्तिस्थलोंपर अपने अपने ज्ञानके उत्पादकपना हेतुपना उन जातियोंमें वर्त रहा है (हेतु) आकाशके समान, अथवा सत्ताजातिके समान (अन्वयदृष्टांत)। तथा ब्राह्मणत्व आदि जातियां (पक्ष) नित्य हैं (साध्य) उत्पत्ति करानेवाले और जातियोंका विनाश

करनेवाले कारणोंका सदा रहितपना होनेसे (हेतु) उन ही आकाश या सत्ताके समान (अन्वय दृष्टान्त) । तीसरा अनुमान जातिके अमूर्तपन स्वभावको साधनेके लिये यों बना सकते हैं कि जाति अमूर्त है (प्रतिज्ञा) परिमाण गुणका अभाव होनेसे (हेतु) क्रियाके समान (अन्वयदृष्टान्त), आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कोई एक पण्डित कह रहे हैं । वे पण्डित यहां यों पूछने योग्य हैं कि सर्वव्यापक हो रही संती वह जाति भला व्यक्तियोंके अन्तरालमें किस कारणसे स्वकीय ज्ञानको नहीं उपजा पाती है ? बताओ। यदि वैशेषिक यों कहे कि अन्तरालमें अपने प्रकट करनेवाले आश्रय हो रहे व्यक्तिविशेषोंका अभाव हो जानेसे वह जाति वहां अभिव्यक्त नहीं है, तिस कारण मध्यवर्ती अन्तरालमें विद्यमान हो रही भी जाति स्वकीयज्ञानकी उत्पादक (उत्पादिका) नहीं है । अर्थात् — एक ब्राह्मण मनुष्य व्याकरण पढ रहा है। दूसरा ब्राह्मण व्यक्ति एक कोश दूरपर भोजन कर रहा है। उन दोनों व्यक्तियोंमें ब्राह्मणत्व जाति है और मध्यदेशवर्ती अन्तरालमें भी वह व्यापक ब्राह्मणत्व-जाति तिष्ठ रही है । परन्तु अप्रकट होनेसे ब्राह्मणपनकी ज्ञप्ति नहीं करा पाती है। किन्तु जहां ब्राह्मण पुरुष व्यक्तियां विद्यमान हैं, वहां प्रकट हो रही ब्राह्मणत्व जाति स्वज्ञानको करा देती है । आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि सकलरूपसे उस जातिकी व्यक्तिविशेषों द्वारा अभिव्यक्तिके कर देनेपर यदि कहीं एक स्थलपर जातिका उपलम्भ होगा तो सम्पूर्ण रूपसे प्रकट हो चुकी जातिके सर्वत्र (अन्तरालमें) भी उपलम्भ हो जानेका प्रसंग आवेगा । यदि व्यंजक कारणों द्वारा एक एक देशसे जातिकी अभिव्यक्ति करना अभीष्ट किया जायगा तब तो जातिको अवयव सहितपनेका प्रसंग आता है । जातिके अनेक अवयव होनेपर ही तो कहीं प्रकटता अन्यत्र कहीं अप्रकटता सम्भव सकेगी । अन्यथा नहीं। किन्तु जातिको नित्य, निरवयव, व्यापक, अखण्ड, अमूर्त, माननेवाले वैशेषिक पण्डित जातिका सावयवपना तो अभीष्ट नहीं करेंगे । उनको अपसिद्धान्त दोष लग जानेका भय बना हुआ है ।

ननु च कार्त्स्न्येनाभिव्यक्तावपि जातेर्न सर्वत्रोपलंभः सामग्र्यभावात्, स्वव्यक्तिदेश एव हि तदुपलंभसामग्री प्रतीता इन्द्रियमनआकाशादिवत् न च व्यक्त्यंतराले सास्तीति केचित् । तदप्यसंगतं, घटादेरेवं सर्वगतत्वप्रसक्तेः । शक्यं हि वक्तुं घटादीनां सर्वगतत्वेपि न सर्वत्रोपलंभः सामग्र्यभावात् कपालादिदेश एव हि तदुपलंभसामग्री न च सा सर्वत्रास्तीति कपालादेरप्यवयविनः सर्वगतत्वेपि न सर्वत्रोपलंभः स्वावयवोपलंभसामग्र्यभावादित्येवमनंतशः परमाणूनामनवयवित्वादसर्वगतत्वे सर्वत्रोपलंभाभावात्पर्यनुयोगनिवृत्तिरिति । यदि पुनर्घटादेः सर्वगतत्वकल्पनायां प्रत्यक्षविरोधः प्रतिनियतसंस्थानस्य प्रत्यक्षत्वात् अनुमानविरोधश्च । न सर्वगतो घटादिः सावयवत्वात् मूर्तिमत्त्वात् परमाणुवत् इत्यनुमानादसर्वगतत्वसिद्धेरिति मतं, तदा जातिसर्वगतत्वकल्पनायामपि स एव प्रत्यक्षादिविरोधः सादृश्यलक्षणाया एव जातेरसर्व-

गतायाः प्रतिनियतव्यक्तिगतायाः प्रत्यक्षत्वात् । तथा न जातिः सर्वगता प्रतिनियतव्यक्तिपरिणामत्वाद्विशेषवदित्यनुमानाज्जातेरसर्वगतत्वसिद्धेः । कुतः पुनः सादृश्यलक्षणं सामान्यं सिद्धमिति चेत् ।

यहां वैशेषिक अपने मतका अवधारण करते हैं कि जातिकी पूर्णरूपसे अभिव्यक्ति होनेपर भी उस जातिका सर्वत्र उपलम्भ नहीं होसकता है; क्योंकि अंतराल देशोंमें उपलम्भकी सामग्रीका अभाव है । उन जातियोंको उपलम्भकी सामग्री अपने अपने आधार होरहे व्यक्तिस्वरूप देश ही प्रतीत होरहे हैं । जैसे कि बहिरंग इन्द्रियां या अंतरंग इन्द्रिय मन अथवा आकाश आदिक उपलंभ सामग्री हैं । किन्तु व्यक्तियोंके अंतरालमें वह व्यक्तियां स्वरूप सामग्री नहीं है । इस कारण अंतरालमें जातिका प्रत्यक्ष नहीं होपाता है। इस प्रकार कोई वैशेषिक कह रहे हैं। आचार्य कहते हैं उनका वह कहना भी संगतिशून्य है । क्योंकि इस प्रकार तो घट, पट, आदिके भी सर्वगतपनेका प्रसंग आजावेगा। हम बहुत अच्छे ढंगसे यों कह सकते हैं कि घट, पुस्तक आदिकोंका सर्वगतपना होते हुये भी सर्वत्र उपलंभ यों नहीं होपाता है कि वहां उपलंभ होनेकी सामग्री नहीं है । कपाल, तंतु, पत्र आदि देश ही उन घट, पट, पुस्तक आदिकोंके उपलंभ होजानेकी सामग्री हैं। किन्तु वह सामग्री तो सर्वत्र नहीं है । जिस प्रकार कपाल आत्मक अवयवोंसे बने हुये अवयवी घटका व्यापकपना आपादित कर दिया गया है, इस ही प्रकार कपालिकास्वरूप अवयवोंसे बनाये गये कपालरूपी अवयवी या तंतु संबंधी अवयवोंसे बने लंबे तंतु आदि अवयवियोंके सर्वगत होते हुये भी उनका सर्वत्र उपलंभ नहीं होता है । क्योंकि अपने अपने अवयवस्वरूप उपलम्भ सामग्रीका वहां वहां अभाव हो रहा है । इस प्रकार और भी उत्तर उत्तर अवयवोंके व्यापकत्वकी आपत्ति दी जा सकती है । हां, पंचाणुक, चतुरणुक, त्र्यणुक, द्व्यणुक, अवयवियोंके व्यापकत्वका आपादन करते हुये अन्तमें जाकर अनन्ती, अनन्ती, परमाणुओंको निरवयव होनेसे असर्वगतपना माननेपर उन परमाणुओंका सर्वत्र उपलम्भ नहीं होनेसे पर्यनुयोगकी निवृत्ति हो सकेगी । द्व्यणुकतक तो सर्वगतपने या सर्वत्र उपलम्भ होनेका आपादन अवश्य कर दिया जायगा, जो कि वैशेषिकोंको इष्ट नहीं है। यदि फिर वैशेषिक यों कहे कि घट, वस्त्र, आदिके सर्वत्र व्यापकपनकी कल्पना करनेका प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही विरोध ठन जाता है । क्योंकि प्रतिनियत हो रहे अल्पदेशवृत्तिपनेकी रचना या आकृतिको धारनेवाले घट आदिका बाल, वृद्ध, कीट, पतंगों, तकको प्रत्यक्ष हो रहा है । तथा घट, आदि पदार्थोंके व्यापकपनको सावमेवें अनुमान प्रमाणसे भी विरोध आता है । देखिये, घट, आदिक (पक्ष) सर्वत्र वर्त रहे होंय ऐसे व्यापक नहीं है (साध्य), क्योंकि वे अल्प परिमाणवाले स्वनिर्मापक अवयवोंसे सहित हैं (पहिला हेतु) । अपकृष्ट परिमाणस्वरूप मूर्तिके आश्रय हैं (दूसरा हेतु) । परमाणुके समान (अन्वयदृष्टान्त) । इस अनुमानसे घट आदिकके अव्यापकपन की सिद्धि हो रही है । यों वैशेषिकोंका मन्तव्य होनेपर आचार्य कहते हैं कि तब तो जातिके सर्वगतपनकी कल्पना करनेमें भी वैशेषिकोंको वही प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे

विरोध आवेगा ! हां " सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् " जातिके इस सिद्धांतलक्षण अनुसार प्रतिनियत व्यक्तियोंमें प्राप्त होरही असर्वगत और सादृशस्वरूप ही जातिका प्रत्यक्ष होरहा है। अनेक मनुष्योंमें चाहे वे चांडाल या म्लेच्छ ही क्यों न होय, ब्राह्मण, क्षत्रिय, मनुष्योंका सादृश्य वर्त रहा है। संपूर्ण घोडे समान हैं, चाहे पांच रुपयेका टट्टुआ हो अथवा भले ही पांच हजार रुपयोंका बढिया घोडा होय, सबमें अश्वस्वरूप करके सादृश्य वर्त रहा है। मुखमें चंद्रकी सदृशता या गवय (रोझ) में गायकी सदृशता दूसरी वस्तु है। जातिस्वरूप सादृश्य तो एक ही जातिकी अनेक व्यक्तियोंसे अभिन्न होरहा है। यद्यपि गवय निरूपित गोनिष्ठ सादृश्य भी गोसे अभिन्न है और गोनिरूपित गवयनिष्ठ सादृश्य गवयसे अभिन्न है। सदृश वस्तुओंसे निराली कोई तीसरी जातिका सादृश्य वहां दीखता नहीं है। तथापि आरोपित सादृश्यसे जातिस्वरूप सादृश्य निराला ही है, जो कि समान जाति वाली व्यक्तियोंमें ही ठहरेगा। जब कि अव्यापक होरही घट, पुस्तक, गो, आदि व्यक्तियोंका आबाल, गोपालतकको प्रत्यक्ष होरहा है, ऐसी दशामें व्यक्तियोंसे अभिन्न होरही जातिको अव्यापक मानना ही युक्तिपूर्ण है। तैसा होनेपर जाति (पक्ष) सर्वगत नहीं है (साध्य) प्रत्येक नियत होरही व्यक्तियोंका परिणाम होनेसे (हेतु) विशेष पदार्थके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमानसे जातिके अव्यापकपनकी सिद्धि होजाती है। यदि यहां कोई वैशेषिक यों प्रश्न करे कि फिर वह सादृश्यस्वरूप सामान्य भला किस प्रमाणसे सिद्ध कर दिया गया है ? बताओ। इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्तिकको कहते हैं।

सिद्धं सादृश्यसामान्यसमाना इति तद्ग्रहात् ।
कुतश्चित्सदृशेष्वेव मनुष्येषु गवादिवत् ॥ १२ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, व्रात्य, पतित, म्लेच्छ, भोगभूमियां, कुभोगभूमियां, लब्ध्यपर्याप्तक, इन संपूर्ण मनुष्योंमें सदृशपरिणाम स्वरूप सादृश्य माना जा रहा सामान्य प्रसिद्ध है (प्रतिज्ञा) किसी न किसी अंतरंग परिणतिस्वरूप कारण से " सदृशोंमें ही ये समान हैं " " ये सदृश हैं " इस रूपसे उन पदार्थोंका ज्ञान द्वारा परिग्रहण होनेसे (हेतु) गौ, अश्व आदिके समान (अन्वयदृष्टांत)। भावार्थ–जैसे खंड, मुंड, आदि अनेक प्रकारकी गायोंमें यह इसके समान है, यह इसकी सजाति है, यों परिग्रहण होरहा होनेसे सदृशपरिणामरूप गोत्वसामान्य प्रसिद्ध है, उसी प्रकार मनुष्योंमें जाति द्वारा सभी मनुष्य समान हैं, यह प्रतिपत्ति होरही है। अतः सदृशपरिणामरूप मनुष्यत्वजाति सिद्ध होजाती है। अन्यथा व्यक्तियोंकी जातिसे भिन्न माननेपर अनवस्था दोष आवेगा। वैशेषिकोंके " नित्यत्वे सति व्यापकत्वे च सति गोसमवेतं गोत्वं " और " गवेतरासमवेतत्वे सति सकलगोसमवेतत्वं गोत्वं " ये सब लक्षण अविचारितरम्य हैं। सदृशपना पदार्थोंकी एक परिणति है, वही जाति है। पदार्थोंके तदात्मक स्वरूपसे निराला कोई न्यारी जातिका बोझ उन पदार्थोंपर लदा हुआ नहीं है, जैसे

कि धोबीकी गधैयापर कपडोंकी लादी लदी रहती है । वास्तविक रूपसे परपदार्थ कालत्रयमें अपना नहीं होसकता है, इति निर्णेष्यते स्वयं ग्रंथकारः ।

स एव मनुष्य इति प्रत्ययात् समाना इति तद्ग्रहोस्ति यतः सादृश्यसामान्यं सिध्येदिति चेद् न, सदृशे मनुष्यादौ स एवायमिति प्रत्ययस्योपचरितैकत्वविषयत्वात् । द्विविधं हि एकत्वं मुख्यमुपचरितं च, मुख्यमूर्ध्वतासामान्यमुपचरितं तिर्यक् सामान्यं सादृश्यमिति सुनिश्चितमन्यत्र ।

कोई नैयायिक कटाक्ष करता है कि अनेक मनुष्योंको देखनेपर यह वही मनुष्य है, यह दूसरा भी मनुष्य ही है, यह तीसरा भी वही मनुष्य है, इस प्रकार एकत्वका परिचायक प्रत्यभिज्ञान हो रहा है । अतः " यह मनुष्य उसके समान है, अमुक मनुष्य तिस मनुष्यके समान था " इस प्रकार सादृश्यको जाननेवाला ग्रहण नहीं हो रहा है, जिससे कि जैनोंका अभीष्ट सादृश्य परिणामरूप सामान्य सिद्ध हो जाता । आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि यह तो मन्दबुद्धि भी समझ सकता है कि सदृश हो रहे दूसरे, तीसरे, चौथे, मनुष्य आदिमें यह वही मनुष्य है, यह दूसरा भी वही मनुष्य है, इस प्रकार हो रहे ज्ञान तो उपचरित एकत्वको विषय करते हैं । एक ही व्यक्तिमें यह वही है, यह प्रत्यभिज्ञान मुख्य एकत्वको विषय करता है । अनेक व्यक्तियोंमें हुआ एकत्व प्रत्यभिज्ञान प्रमाणाभास होगा अथवा उपचरित एकत्वको विषय करनेवाला होगा । तीसरा कोई उपाय नहीं । देखो, एकत्व दो प्रकारका माना गया है । पहिला मुख्य एकत्व है, दूसरा उपचरित एकत्व है । " परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यं " एक द्रव्यकी अनेक कालोंमें होनेवाली नाना अवस्थाओंमें व्यापनेवाला परिणाम ऊर्ध्वतासामान्य है । जैसे कि देवदत्तकी बाल, युवा वृद्ध अवस्थाओं या जन्मान्तरोंकी पूर्वोत्तरपर्यायोंमें जो समान परिणाम है, वह ऊर्ध्वतासामान्य है । इस ऊर्ध्वता-सामान्यको विषय करनेवाले ज्ञानका गोचर मुख्य एकत्व है और अनेक व्यक्तियोंमें एक काल पाये जानेवाले तिर्यक् सामान्यको जाननेवाले ज्ञानका विषय हो रहा सादृश्य तो उपचरित एकत्व है, इस सिद्धान्तका हम अन्य अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंमें बहुत अच्छा निर्णय कर चुके हैं ।

सा पुनर्ब्राह्मणत्वादिजातिर्नैकांततो नित्या शक्या व्यवस्थापयितुमनित्यव्यक्तितादात्म्यात्, सर्वथा तस्यास्तदतादात्म्ये वृत्तिविकल्पानवस्थादिदोषानुषंगात् । नाप्येकांतेनामूर्ता मूर्ततादात्म्यविरोधात् । ततः स्यान्नित्या जातिर्नित्यसादृश्यरूपत्वात्, स्यादनित्या नश्वरसादृश्यस्वभावत्वात्, स्यात्सर्वगता सर्वपदार्थान्वयित्वात्, स्यादसर्वगता प्रतिनियतपदार्थाश्रयत्वात्, स्यान्मूर्तिमती मूर्तिमद्द्रव्यपरिणामत्वात्, स्यादमूर्ता गुणायमूर्तद्रव्यपरिणामात्मिकेति नित्यसर्वगतामूर्तस्वभावा सर्वथा ब्राह्मणत्वादिजातिरयुक्ता प्रमाणेन बाध्यमानत्वात् इति सूक्तं । तदेवं—

वैशेषिकोंने ब्राह्मणत्व, शूद्रत्व आदि जातियोंका सर्वथा नित्य मान लिया है। किन्तु वे ब्राह्मणत्व आदि जातियोंको फिर एकान्तरूपसे नित्यपनकी व्यवस्थाको करानेके लिये समर्थ नहीं हो सकते हैं। अनित्य व्यक्तियोंके साथ तादात्म्य सम्बन्ध बन रहा होनेसे, वे जातियां सर्वथा नित्य नहीं कहीं जा सकती हैं। यदि वैशेषिक उन ब्राह्मणत्व आदि जातियोंका उन ब्राह्मण आदि व्यक्तियोंके साथ सभी प्रकारोंमेंसे किसी भी प्रकारसे तादात्म्य सम्बन्ध अभीष्ट नहीं करेंगे तब तो वृत्ति, विकल्प, अनवस्था आदि दोषोंकी प्राप्तिका प्रसंग होगा। भावार्थ—एक जातिकी अनेक देशस्थ व्यक्तियोंमें यदि पूर्ण रूपसे वृत्ति मानी जायगी तब तो प्रत्येक व्यक्तियोंमें ठहरनेवाली जातियां वैशेषिकोंको अनेक माननी पडेंगी। यदि एक जातिका अनेक व्यक्तियोंमें एक एक देशसे वर्तना माना जायगा, जैसे कि आकाश वर्तरहा है, तब तो जातिको अवयवसहितपना प्राप्त होगा। उन अवयवोंमें भी जातीकी एकदेश या सर्व देशसे वृत्ति मानते मानते वही पर्यनुयोग चलेगा। यों अनवस्था दोष खडा हो जाता है। तथा घटकी उत्पत्ति होनेवाले देशमें प्रथमसे सामान्य था तो वहां घटके विना वह घटत्वसामान्य भला किस आधारपर बैठा हुआ था? आश्रयके विना सामान्य ठहर नहीं सकता है। " अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य आश्रितत्वमिहोच्यते " नित्य द्रव्योंके अतिरिक्त सभी पदार्थ आश्रित माने गये हैं। घटकी उत्पत्ति हो रहे स्थलमें सामान्य अन्य स्थानसे आ नहीं सकता है। क्योंकि वैशेषिकोंने सामान्यको क्रियारहित स्वीकार किया है। पूर्व आधारको वह छोड भी क्यों देगा? इसी प्रकार घटके फूट जानेपर घटत्व सामान्य कहां चला जाता है? बताओ। भला सर्वथा एक सामान्य प्रत्येक व्यक्तियोंमें परिसमाप्त कैसे होगा? तुम ही विचारो। भिन्न पडे हुये समवाय द्वारा भिन्न पडी हुई जाति भिन्न भिन्न व्यक्तियोंमें नहीं चुपक सकती है। यों वैशेषिकोंके ऊपर कतिपय दोष आते हैं। अतः जातिको सर्वथा नित्य नहीं मान बैठना चाहिये। तथा जाति एकान्त रूपसे अमूर्त माननेपर घट, पट, आदि मूर्त द्रव्योंके साथ तादात्म्य सम्बन्ध होनेका विरोध हो जायगा। मूर्तोंके साथ तादात्म्य रख रहा पदार्थ मूर्त समझा जाता है। तिस कारणसे स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार यों निर्णय कर लो कि जाति कथंचिद् नित्य है। (प्रतिज्ञा) क्योंकि कथंचिद् नित्य माने जा रहे पदार्थोंका तदात्मक सादृश्य रूप वह है। नित्य माने जा रहे सम्पूर्ण द्रव्य या कथंचिद् नित्य मानी जा रही सूर्यविमान, कुलाचल, अकृत्रिम प्रतिमायें आदिक नित्य पर्यायोंमें वर्त रहा सादृश्यरूप सामान्य कथंचित् नित्य ही है। साथमें वह जाति (पक्ष) कथंचित् अनित्य भी है (साध्य), नाश होनेवाले सादृश्यरूप स्वभाव होनेसे (हेतु) अर्थात्—घट, पट, आदि नाशशील पदार्थोंका सादृश्य कथंचित् अनित्य है। इसी प्रकार वह जाति कथंचित् सर्वव्यापक भी है। क्योंकि सत्ता, वस्तुत्व आदि जातियोंके समान वह जाति सम्पूर्ण पदार्थोंमें अन्वित हो रही है। और वह जाति कथंचित् असर्वगत है। क्योंकि न्यारे न्यारे देशोंमें वर्त रहे प्रति नियत पदार्थोंके आश्रित हो रही है। तथैव घट, पट, संसारी जीव, आदि मूर्त द्रव्योंका परिणाम होनेसे वह जाति कथंचित् मूर्तिवाली है। आकाश, शुद्ध आत्मा, कालद्रव्य,

आदि अमूर्तद्रव्योंका परिणाम स्वरूप हो रही वह जाति कथंचित् अमूर्त भी है। इस प्रकार जातिके कथंचित् नित्यत्व, अनित्यत्व, या कथंचित् सर्वगतत्व, असर्वगतत्व अथवा कथंचित् मूर्तत्व, अमूर्तत्वका विवेचन कर दिया है। वैशेषिकोंका ब्राह्मणत्व आदि जातिको सर्वथा नित्यस्वभाव, सर्वगतस्वभाव और अमूर्तस्वभाव मानना युक्तिरहित है। क्योंकि ऐसा माननेमें अनेक प्रमाणोंकरके बाधायें उपस्थित की जा रही हैं। इस कारण हमने उक्त ढाई वार्तिकोंमें बहुत अच्छा जातिका विचार कर समीचीन सिद्धान्त कह दिया है। तिस कारण इस प्रकार होनेपर जो हुआ सो सुनो।

सार्धद्विद्वीपविष्कंभप्रभृति प्रतिपादितं।
समनुष्यं चतुष्टय्या सूत्राणामिति गम्यते ॥ १३ ॥

तीसरे पुष्करद्वीपके आधे भागसहित जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड द्वीप इन दो द्वीपों यानी ढाई द्वीपके विष्कम्भ आदिका मनुष्योंसहित श्री उमास्वामी महाराजने सूत्रोंकी चतुष्टयीकरके प्रतिपादन कर दिया है, यह समझ लिया जाता है। अर्थात्—द्विर्धातकीखण्डे, पुष्करार्धे च, प्राड्मानुषोत्तरान्मनुष्याः, आर्या म्लेच्छाश्च, इन चार सूत्रोंकरके मूलग्रन्थकारने ढाई द्वीप और मनुष्योंका प्रबोध करा दिया है, यों माना जाय।

काः पुनः कर्मभूमयः काश्च भोगभूमय इत्याह।

कृपानिधान गुरुवर्य, अब यह बताओ कि फिर कर्मभूमियां कौनसी हैं? और भोगभूमियोंके स्थान कौन हैं? यों प्रश्न होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः।

पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच विदेह ये पन्द्रह कर्मभूमियां हैं। हां, विदेहोंके मध्यमें वर्त रही पांच देवकुरुओं और पांच उत्तरकुरुओंको छोड देना चाहिये। क्योंकि वे उत्तम भोगभूमियां मानी गयी हैं।

कर्मभूमय इति विशेषणानुपपत्तिः सर्वत्र कर्मणो व्यापारादिति चेन्न वा, प्रकृष्टगुणानुभवनकर्मोपार्जितनिर्जराधिष्ठानोपपत्तेः षट्कर्मदर्शनाच्च। अन्यत्रशब्दः परिवर्जनार्थः। शेषास्ता भोगभूमय इति सामर्थ्याद्गम्यत इत्यावेदयति।

कोई शंका करता है कि लोकमें सम्पूर्ण स्थलोंपर जब आठ प्रकारके कर्मोंका बन्ध और उनके फलोंका अनुभवस्वरूप व्यापार व्याप रहा है, सिद्धलोकमें भी एकेंद्रिय जीव कर्मोंका उपार्जन कर रहे हैं, भोगभूमियोंमें आदिके चार गुणस्थानों अनुसार कर्म उपार्जन हो रहा है, देव या

नारकियोंकी भी यही दशा है, स्थावर लोकमें कर्मफलचेतनाका व्यापार चमक रहा है, तो फिर इन पंद्रह स्थलोंको ही कर्मभूमियां कहना यह विशेषण तो युक्तिसिद्ध नहीं बन पाता है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि परिहारविशुद्धि, उत्कृष्ट देशावधि, परमावधि, सर्वावधि, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान या उत्कृष्ट ऋद्धियां, उत्कृष्ट सम्यग्दर्शन, चारित्र आदि प्रकृष्ट गुणोंका अनुभव या उपार्जित कर्मोंकी निर्जराके अधिष्ठान ये पंद्रह क्षेत्र ही बन रहे हैं। अथवा " न वा प्रकृष्टशुभाशुभकर्मोपार्जननिर्जराधिष्ठानोपपत्तेः " यों पाठ माननेपर यह अर्थ हुआ कि उक्त शंका उठाना उचित नहीं है। क्योंकि जो सर्वार्थसिद्धि विमानके प्रापक या तीर्थकरत्व अथवा महती ऋद्धियोंके संपादक असाधारण प्रकृष्ट शुभकर्म हैं, उनका उपार्जन इन कर्मभूमियोंमें ही किया जाता है और सातमें नरकको प्राप्त करा देनेवाले जो तीव्र पापकर्म हैं, उन कर्मोंका संचय भी इन ही कर्मभूमियोंमें होसकता है। तथा प्रत्येक कार्यमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंकी अपेक्षा है। अतः ये कर्मभूमियां रूप पंद्रह क्षेत्र ही सर्वोत्कृष्ट पुण्यकर्म और सबसे बडे पापकर्मके उपार्जन स्थल हैं। संसारभ्रमणको न्यून करनेवाली निर्जरा या मोक्षतत्त्वकी प्राप्ति भी इन ही स्थलोंसे होती है। दूसरी एक बात यह भी है कि क्षत्रिय उपयोगी असिकर्म और वैश्यवर्णके उपयोगी मषिकर्म, वणिक्कर्म, कृषिकर्म, तथा शूद्र उपयोगी विद्याकर्म, शिल्पकर्म इनका इन कर्मभूमियोंमें ही अनुष्ठान करना देखा जाता है। ब्राह्मण वर्णके उपयोगी यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और ग्रहण ये छह कर्म इन कर्मभूमियोंमें प्रवर्त रहे हैं। मुनिजन अपने छह सामायिक आदि आवश्यक कर्मोंको, श्रावकजन देवपूजा आदि षट् आवश्यकोंको पंद्रह कर्मभूमियोंमें पालते हैं। इस सूत्रमें अन्यत्र शब्दका अर्थ परित्याग करना है। अतः परिशेष न्यायसे भरत, ऐरावत, और देवकुरु, उत्तरकुरुवर्जित विदेहसे अतिरिक्त ढाई द्वीपमें शेष रही वे भूमियें भोगभूमियें हैं, यह बात कहे बिना ही सामर्थ्यसे जान ली जाती है। इस बातका निवेदन ग्रंथकार अग्रिम वार्तिकों द्वारा करे देते हैं।

भरताद्या विदेहांताः प्रख्याताः कर्मभूमयः।
देवोत्तरकुरूंस्त्यक्त्वा ताः शेषा भोगभूमयः ॥ १ ॥
सामर्थ्यादवसीयंते सूत्रेस्मिन्नागता (न्न श्रुता) अपि।
समुद्रद्वितयं यद्वत्पूर्वसूत्रोक्तशक्तितः ॥ २ ॥

भरतको आद्य स्थानमें धर कर विदेह क्षेत्रपर्यंत कर्मभूमियें बढिया ढंगसे बखानी गयीं हैं। विदेहक्षेत्रके मध्यभागमें वर्त रहे देवकुरु, उत्तरकुरू, स्थानोंको छोडकरके विदेहक्षेत्रका ग्रहण करना चाहिये। भरताद्या में आदि शब्दको व्यवस्थावाची मानकर आद्य शब्दसे ऐरावतका ही ग्रहण करना चाहिये। पांच मेरुसम्बन्धी पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच विदेहोंको छोडकर शेष ढाई द्वीपकी

वे भूमियें भोगभूमियां हैं। ये भोगभूमियां श्री उमास्वामी महाराजने पूर्वसूत्रोंमें या इस सूत्रमें यद्यपि कंठोक्त नहीं कहीं हैं, तो भी सामर्थ्यसे अर्थापत्तिप्रमाण करके निर्णीत कर ली जाती हैं, जिस प्रकार कि पूर्वसूत्रमें कहे जाचुके प्रमेयकी सामर्थ्यसे दोनों लवणसमुद्र और कालोदधि समुद्रका निर्णय कर लिया जाता है।

सार्धद्वीपद्वयप्रतिपादनसूत्रे वचनसामर्थ्यादश्रूयमाणस्यापि समुद्रद्वितयस्य यथावसायो जंबूद्वीपलवणोदादिद्वीपसमुद्राणां पूर्वपूर्वपरिक्षेपित्ववचनात् तथास्मिन् सूत्रेनुक्तानामपि भोगभूमीनाम् निश्चयः स्यात्। भरतैरावतविदेहा देवकुरूत्तरकुरुभिर्वर्जिताः कर्मभूमय इति वचनसामर्थ्यात् देवकुरूत्तरकुरवः शेषाश्च हैमवतहरिरम्यकहैरण्यवताख्या भूमयः कर्मभूमिविलक्षणत्वाद्भोगभूमय इत्यवसीयंते।

ढाई द्वीपोंका प्रतिपादन करनेवाले उक्त सूत्रोंमें लवण समुद्र और कालोदधि समुद्रोंका वर्णन सूत्रों द्वारा नहीं सुना गया है। फिर भी सूत्रकारके गम्भीर वचनोंकी सामर्थ्यसे जिस प्रकार अश्रूयमाण दोनों समुद्रोंका निर्णय कर लिया जाता है, क्योंकि पहिले तो जम्बूद्वीप, लवणोद आदि असंख्यात द्वीप समुद्रोंका वर्णन किया गया है। पश्चात् सूत्र द्वारा पूर्व पूर्वके द्वीप, समुद्रोंका पिछले पिछले द्वीप समुद्रों करके घेरा डाले रहना कहा गया है, अतः विना कहे ही जम्बूद्वीपके परिक्षेपी लवण समुद्र और धातकीखण्डके परिक्षेपी कालोदधि समुद्रका निश्चय कर लिया है, उसी प्रकार इस सूत्रमें कण्ठोक्त नहीं भी कही गयीं भोगभूमियोंका निश्चय कर लिया जाता है। भरत, ऐरावत, विदेह, ये देवकुरुओं और उत्तरकुरु भागोंसे वर्जित हो रहे कर्मभूमि स्थान हैं। इस प्रकार इस सूत्रके कथनकी सामर्थ्यसे पांच मेरुसम्बन्धी पांच देवकुरुयें, पांच उत्तर कुरुयें और पांच मेरुसम्बन्धी उक्त तीन क्षेत्रोंसे शेष रही पांच हैमवत, पांच हरि, पांच रम्यक, पांच हैरण्यवत, संज्ञावाली भूमियां भोगभूमियें यों निर्णीत कर ली जाती हैं। क्योंकि ये कर्मभूमियोंसे विलक्षण हैं। यद्यपि कर्मभूमिसे विलक्षणपना स्वर्ग, नरक, स्थावरलोक, सिद्धालय, आदिमें भी विद्यमान है। फिर भी पर्युदास पक्ष अनुसार भूमिपना, मनुष्यक्षेत्रत्व आदि विशेषणोंका अन्तर्गर्भ होनेसे उक्त हेतु व्यभिचारदोषकरके ग्रसित नहीं है। यों पांच मेरुसम्बन्धी पन्द्रह कर्मभूमियां और पांच पांच देवकुरु, उत्तरकुरु, हैमवत, हरि, रम्यक, हैरण्यवत, इन नामोंसे तीस भोगभूमियां विन्यस्त हैं। छियानवें अन्तर्द्वीपोंको कुभोगभूमियोंमें गिनाया जा चुका है। किन्हीं जैन विद्वानोंका मन्तव्य है कि दिशाओंमें वर्तनेवाले समुद्रद्वयस्थ अन्तरद्वीप या कर्मभूमियोंके निकटवर्ती अन्तरद्वीप कर्मभूमि सदृश हैं। किन्तु इस मतमें अपना विशेष आदर नहीं है। कारण कि प्रकृष्ट पुण्य, पापोंका, अनुष्ठान, मोक्षमार्ग, देशव्रत, महाव्रत, आदिका परिपालन नहीं होनेसे कतिपय अन्तर्द्वीपोंको कर्मभूमि कहनेमें जी हिचकिचाता है। अधिकसे अधिक इनके चौथा गुणस्थान हो सकता है। छियानवे अन्तरद्वीपोंमें उपजे म्लेच्छमनुष्य विचारे भूषण, वस्त्र,

रहित हो रहे और गुहा या वृक्षमें निवास करते सन्ते एक टांगवाले, सींगवाले, पूंछवाले आदि या अश्वमुख, सिंहमुख, महिषमुख, आदि अवस्थावाले शरीरोंको धार रहे, सदा भोगोंको भोगते रहते हैं। एक पल्य अपनी आयुःप्रमाण पर्यन्त अपने समान पत्नीके साथ निराबाध भोगोंको भोग कर अन्तमें मरकर स्वर्गमें वाहनजातिके देव हो जाते हैं । अथवा ज्योतिषी, व्यंतर अथवा भवनवासी होकर पुनः दुर्गतिके दुःखोंको भोगते हुये संसारमें भ्रमण करते हैं । यों भोगभूमियोंके लक्षणकी घटना हो जानेसे अन्तर्द्वीपवासी म्लेच्छोंको कुभोगभूमियां कह देना जच जाता है । मानुषोत्तरपर्वतसे परली ओर आधे अन्तिम द्वीपतक एकेन्द्रिय या पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च ही हैं। ये स्थान भी कुत्सित भोगभूमियां कहे जाते हैं। जघन्य भोगभूमियां भी माने जा सकते हैं । इन तिर्यंचोंकी भी असंख्यात वर्षकी आयु है। एक कोश ऊंचा शरीर है। इनको आदिके चार गुणस्थानतक हो सकते हैं। सभी भोगभूमियां मरकर कषायोंका आवेग कुछ न्यून होनेसे देवगतिको प्राप्त करते हैं। हां, स्वयंप्रभ पर्वतसे परली ओर आधे स्वयम्भूरमण द्वीप और पूरे स्वयंभूरमण समुद्र तथा चारों कोने कर्मभूमियां हैं । इनमें स्थलनिवासी तिर्यंच पांचवें गुणस्थानवर्ती भी असंख्याते पाये जाते हैं । यहां प्रकरणमें ढाई द्वीपसम्बन्धी कर्मभूमियोंका सूत्रद्वारा और ढाई द्वीपसम्बन्धी भोगभूमियोंका अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा परिज्ञान करा दिया गया है ।

अथ तन्निवासिनां नृणां के परावरे स्थिती भवत इत्याह ।

भली भांति तृप्त हो चुके शिष्यका दूसरे प्रकारका प्रश्न है कि गुरु महाराज, यह बताओ कि उन ढाई द्वीपोंमें निवास करनेवाले मनुष्योंकी उत्कृष्टस्थिति और जघन्यस्थिति क्या होती है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको कहते हैं ।

नृस्थितीपरावरे त्रिपल्योपमांतर्मुहूर्ते ॥ ३९ ॥

मनुष्योंकी उत्कृष्टस्थिति तीन अद्धापल्योपम है, जो कि उत्तम भोगभूमियां मनुष्योंके संभव रही है और जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त है, जो कि श्वासके अठारहवें भाग काल की लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योंमें पायी जाती है। अडतालीस मिनटके मुहूर्तमें तीन हजार सातसौ तिहत्तर ३७७३ श्वास माने गये हैं । लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य श्वासके अठारह भागतक जीवित रहता है ॥श्वासका अर्थ मनुष्योंके पोंचेमें वात, पित्त, कफकी, चल रही नाडीकी एक बार गतिका कालपरिमाण है । मुख या नाकसे निकल रही प्राणवायुको श्वास माननेपर जन्म, मरणका गणित ठीक नहीं बैठता है । श्वास गतिसे नाडीकी गतिका काल कुछ न्यून, अधिक दुगुना बैठ जाता है । उत्कृष्ट स्थिति भोगभूमिके मनुष्य की है और जघन्यस्थिति सम्मूर्छन जन्मवाले लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यकी है ।

यथासंख्यमभिसंबधात्रिपल्योपमा परा नृस्थितिरंतर्मुहूर्तावरा इति । मध्यमा नृस्थितिः केत्याह ।

सूत्रमें पर और अवरके साथ त्रिपल्योपम और अन्तर्मुहूर्तका यथासंख्यरूपसे सम्बन्ध कर लेना चाहिये। यों यथाक्रम अनुसार दोनोंका सम्बन्ध करने पर मनुष्योंकी तीन पल्योपम उत्कृष्ट स्थिति और मनुष्योंकी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त यों समझ ली जाती है। मनुष्योंकी मध्यमस्थितियां कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्त्तिकको कहते हैं।

परावरे विनिर्दिष्टे मनुष्याणामिह स्थिती।
त्रिपल्योपमसंख्यांतर्मुहूर्त्तगणने बलात् ॥ १ ॥
मध्यमा स्थितिरेतेषां विविधा विनिवेदिता।
स्वोपात्तायुर्विशेषाणां भावात्सूत्रेत्र तादृशां ॥ २ ॥

इस सूत्रमें मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम संख्यावाली और जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त नामक गणनावाली विशेषरूपसे कह दी गयीं हैं। बिना कहे ही आदि, अन्त, स्थितियोंकी सामर्थ्यसे इन मनुष्योंकी नानाप्रकार मध्यमस्थितियां तो अर्थापत्तिद्वारा श्री उमास्वामी महाराजकरके इस सूत्रमें विशेषरूपसे निवेदन कर दी गयीं समझ लेनी चाहिये। क्योंकि पूर्वजन्मसम्बन्धी अपनी अपनी कषायोंके अनुसार इन मनुष्योंके निज उपार्जित विशेष विशेषस्थितिको लिये हुये तिस तिस ढंगके आयुष्य कर्मोंका सद्भाव है। अर्थात्—पूर्वजन्मोंमें विशुद्ध परिणामोंसे उपार्जी गयी मनुष्य आयुके अनुसार जीवोंका एक समय अधिक कोटीपूर्ववर्षसे प्रारम्भ कर तीन पल्यकी आयुवालोंका भोगभूमियोंमें जन्म होता है। और संक्लेश परिणामों अनुसार नाडीगतिके अठारहवें भाग जघन्य आयुःस्थितिसे प्रारम्भ कर कोटि पूर्व वर्षतककी आयुवाले जीवोंका कर्मभूमि मनुष्योंमें उपजना होता है। अतः एक समय अधिक अन्तर्मुहूर्तसे प्रारम्भ कर एक समय कम तीन पल्यतककी असंख्यात प्रकार मध्यम स्थितियां तो सूत्र उच्चारण किये बिना ही " तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते " इस नियम अनुसार गम्यमान हो जाती हैं। एयादीया गणना वीयादीया हवंति संखेज्जा, तीयादीणं णियमा-कदित्ति सण्णा मुणेदव्वा " इस गाथा अनुसार एक आदिको गणना कहते हैं। और दो आदिको संख्या कहते हैं। असंख्यात या अनन्त भी संख्याविशेष हैं। पल्य एक असंख्यातासंख्यात नामकी संख्याका मध्यम भेद है। चूंकि ढाई सागरके समयप्रमाण असंख्याते द्वीप समुद्र हैं और दश कोटा-कोटी पल्योंका एक सागर होता है। तथापि सम्पूर्ण द्वीपसमुद्रोंसे जघन्य, मध्यम, उत्तम भोगभूमियोंके मनुष्योंके आयुष्य समय अत्यधिक हैं। क्योंकि द्वीपसमुद्रोंकी गणना तो उद्धार पल्योंकी पचीस कोटा-कोटी संख्यासे है। किन्तु उद्धारपल्यसे सौ वर्षके असंख्यात समयों गुना एक अद्धापल्य होता है। भोगभूमियोंकी स्थिति अद्धापल्यसे गिनायी गयी है। जघन्य युक्तासंख्यात—समयपरिमित आवलीसे संख्यात गुना मुहूर्त काल होता है। जो कि प्रतरावलीकालका असंख्यातवां भाग है। मनुष्योंकी

जिनदृष्ट संख्यात–आवलीप्रमाण जघन्य स्थिति समझनी चाहिये। कोटिपूर्व वर्षकी स्थिति भी संख्यात आवलियां हैं। प्रतरपालिका असंख्यातवां भाग वह मध्यमस्थिति है।

तिरश्चां के परावरे स्थिती स्यातामित्याह।

पुनः जिज्ञासुका प्रश्न है कि मनुष्योंकी स्थिति समझ ली, तिर्यंचोंकी उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थिति क्या होगी? बताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्रको कहते हैं।

तिर्यग्योनिजानां च ॥ ४० ॥

तिर्यग्गति नामकर्मके अनुसार तिर्यंच योनियोंमें जन्म लेनेवाले जीवोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम और जघन्य भवस्थिति नाडीगतिके अठारहवें भागप्रमाण अन्तर्मुहूर्त्त है।

त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते इति वर्तते, पृथग्योगकरणं यथासंख्यनिवृत्त्यर्थं। एकयोगकरणे हि नृतिर्यक्स्थिती इति निर्देशे नृस्थितिः परा त्रिपल्योपमा, तिर्यक्स्थितिरवरान्तर्मुहूर्तेति यथासंख्यमभिसंबंधः प्रसज्यते। ततस्तन्निवृत्तिः पृथग्योगकरणात्।

" नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्त्ते " इस सूत्रसे " त्रिपल्योपमा " और " अन्तर्मुहूर्त " शब्दकी अनुवृत्ति कर ली जाती है स्थिति और पर, अपराका प्रकरण चल ही रहा है। अतः तिर्यंचोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य है। जो कि उत्तम भोगभूमियोंके तिर्यंचोंके पायी जाती है। तिर्यंचोंकी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त्तकी लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंचोंके सम्भव रही है। पूर्वसूत्रके साथ इस सूत्रका एकयोग नहीं कर पृथक् पृथक् योगविभाग करते हुये श्री उमास्वामी महाराज करके दो सूत्रोंका कथन करना तो संख्या अनुसार यथाक्रमसे होजानेवाले अनिष्टप्रसंगकी निवृत्तिके लिये है। कारण कि यदि दोनों सूत्रोंको मिलाकर " नृतिर्यक्स्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते " यों जोडकर दिया जावेगा तो मनुष्य और तिर्यंचोंकी स्थिति यो लघुतापूर्वक कथन करने पर इस प्रकार यथासंख्यसे दोनों ओर पर और अवरके सम्बन्ध होजानेका प्रसंग होजावेगा कि मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम है और तिर्यंचोंकी जघन्यस्थिति अंतर्मुहूर्त है। किन्तु केवल इतना ही अर्थ तो सूत्रकारको अभीष्ट नहीं था। अतः न्यारे दो सूत्र बनाकर तिस योगका पृथक्भाग कर देनेसे उस अनिष्टप्रसंगकी निवृत्ति होजाती है।

तिर्यङ्नामकर्मोदयापादितजन्म तिर्यग्योनिस्तत्र जातास्तिर्यग्योनिजाः एकेंद्रियविकलेंद्रियपंचेंद्रियविकल्पास्त्रिविधाः तेषां च यथागमं मध्यमा स्थितिः सामर्थ्यलभ्या प्रतिपत्तव्या परावरास्थितिवत्।

जिन संसारी जीवोंका जन्म लेना नामकर्मके भेद होरहे गतिनाम कर्मकी उत्तरप्रकृति मानी गयी तिर्यग्गति संज्ञक नामकर्मके उदय होने पर सम्पादित होरहा है, वह जन्म तिर्यग्योनि कहा जाता

है । उस तिर्यग्योनिमें उत्पन्न हुये जीव तिर्यग्योनिज हैं । तिर्यञ्चोंके स्थूलरूपसे एक स्पर्शन इन्द्रियवाले और दो इन्द्रिय तीन इन्द्रियें या चार इन्द्रियां, यों विकल होरहीं इन्द्रियोंको धारने वाले तथा पांचों इन्द्रियोंको धारनेवाले यों तीन प्रकार हैं । इस सूत्रमें तिर्यञ्चोंकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिको कह दिया गया है । पर, अपर, स्थितियोंके कह देनेसे विना कहे ही सामर्थ्य द्वारा लब्ध होगई मध्यमा स्थितिकी प्रतिपत्तिको आगम अनुसार कर लेना चाहिये । जैसे कि कई प्रकारके तिर्यञ्चोंकी जघन्य या उत्कृष्टस्थितियोंको सर्वज्ञोक्त आम्नाय द्वारा निर्णीत कर लिया जाता है । अर्थात्——मृदु पृथ्वीकायिक जीवोंकी उत्कृष्टस्थिति बारह हजार वर्ष है । पर्वत, रत्न, कंकण, आदि कठिन पृथ्वीकायिक जीवोंकी परा स्थिति बाईस हजार वर्षकी है । जलकायिक जीवोंकी सात हजार, तेजस्कायिक जीवोंकी तीन दिन, वायुकायिक जीवोंकी तीन हजार वर्ष, और वनस्पतिकायिक जीवोंकी दस हजार वर्ष उत्कृष्ट स्थिति है । शंख, सीप, आदि द्वीन्द्रियोंकी बारह वर्ष, त्रीन्द्रियोंकी उनंचास दिन, मक्खी बर्र आदि चतुरिन्द्रिय जीवोंकी छह मास उत्कृष्ट स्थिति है । पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चोंमें जलचर मत्स्य, मकर, आदि जीवोंकी उत्कृष्ट स्थिति कोटिपूर्व वर्ष है । सर्पट चलनेवाले गोह, नौला, विषखपरा, आदिक जीव नौ पूर्वाङ्गतक जीवित रह सकते हैं । सर्पोंकी उत्कृष्ट आयु बियालीस हजार वर्ष है । पक्षियोंकी उत्कृष्ट आयु बहत्तर हजार वर्ष है । भोगभूमियोंमें पाये जा रहे पक्षियोंमें यह आयु सम्भवती है । चार पांववाले पशुओंकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्यकी है । सम्पूर्ण तिर्यञ्चोंकी जघन्य आयु श्वासके अठारहवें भागप्रमाण अन्तर्मुहूर्त है, जो कि कर्मभूमियोंके तिर्यञ्चोंमें ही पायी जाती है । यहां विशेष इतना ही कहना है कि पत्थरका कोयला, मिट्टी, कंकड, रत्न, आदि सचित्त पृथ्वीकी सरसों प्रमाण डेलीमें असंख्याते पृथिवीकायिक जीव हैं । यही दशा जलकी बूंद या अग्निका टुकडा अथवा वायुके स्वल्प भागमें भी लगा लेना । यदि कितने ही दिनोंतक अग्नि जलती रहे तो भी उसका जीव तीन दिनसे ज्यादा ठहर नहीं सकता है । असंख्य जीव वहां क्रमसे जन्म लेते और मरते रहते हैं । तेल, लकडी, विद्युत्प्रवाह, आदिसे जो चमकती हुई अग्नि ज्वालायें उपजती हैं, उन अग्निकायके जीवोंकी स्वल्पकाल स्थिति प्रसिद्ध ही है । क्योंकि अग्निज्वालास्वरूप अनेक शरीरोंका अग्निकायिक जीवोंकी मृत्युके पश्चात् काजल आदि पर्यायोंमें परिवर्तन हो जाता है । मधु मक्खियों या बर्रोंके छत्ता कई वर्षोंतक बने रहते हैं । उनमें मक्खियां भी पायी जाती हैं । ये उन मक्खियोंकी धाराप्रवाह सन्तान हैं । एक मक्खी या बर्र छह महीनेसे अधिक जीवित नहीं रह सकती है । समुदित मक्खियोंकी संतान, प्रतिसंतानों, करके हुये मतिज्ञानों करके ये कार्य भी हो जाते हैं कि मक्खियां कुछ दिनके लिये पहाडोंपर या अन्य उचित स्थानोंपर चली जाती हैं । महीनों बाद उस स्थानपर लौट आती हैं । यद्यपि चौ इन्द्रिय जीवोंके मनसे होनेवाला विचार आत्मक श्रुतज्ञान नहीं है । फिर भी जितना कुछ मतिज्ञान है, उसके द्वारा घूम फिर कर अपने स्थानपर लौट आना या अपने बच्चोंके शरीर उपयोगी सम्मूर्छन पदार्थोंको ढूंढ कर ले आना,

अपने या बच्चोंके उपयोगी घरका निर्माण करना, शीत, उष्ण, मेघबाधाओंसे या घातकमनुष्य, पशु, पक्षियोंके उपद्रवसे बचाकर उचित स्थलमें गृह बनाना, खाद्यपदार्थोंका संग्रह कर रखना, आदि अनेक कार्य सम्पन्न हो जाते हैं। हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करना ज्ञानका कार्य है। यों ग्रन्थकारने तिर्यंचोंकी एक एक प्रकार उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति तथा असंख्य प्रकारोंकी मध्यम स्थितियोंको साध दिया है।

किमर्थमिहोक्ते तिरश्चां परावरे स्थिती प्रकरणाभावेपीत्यादर्शयति।

इस तृतीय अध्यायके अन्तमें आर्य या म्लेच्छ मनुष्योंका प्रकरण आ जानेसे पूर्व सूत्रद्वारा मनुष्योंकी जघन्य उत्कृष्ट आयुका निरूपण कर देना उचित है। किन्तु तिर्यंचोंका प्रकरण नहीं होते हुये भी श्री उमास्वामी महाराजने यहां तिर्यंचोंकी जघन्य-उत्कृष्टस्थितिको किस लिये कह दिया है? इस प्रकार आक्षेप प्रवर्तने पर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तरवार्तिक द्वारा समाधान वचनको दर्पणवत् दिखलाते हैं।

ते तिर्यग्योनिजानां च संक्षेपार्थमिहोदिते।
स्थिती प्रकरणाभावेप्येषां सूत्रेण सूरिभिः ॥ १ ॥

प्रकरण नहीं होनेपर भी श्री उमास्वामी महाराजने इस सूत्रकरके इन तिर्यग्योनिमें जन्म लेने वाले जीवोंकी उन जघन्य उत्कृष्ट स्थितियोंका निरूपण संक्षेपके लिये कर दिया है। अर्थात्-नारकियों और देवोंकी स्थितिके निरूपण अवसरपर चौथे अध्यायमें यदि तिर्यंचोंकी आयुको कहा जाता तो " तिर्यग्योनिजानां स्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते " इतना लंगूरकी लांगूलतुल्य लम्बा सूत्र बनाना पडता। अक्षरों और प्रतिपत्तिका गौरव हो जाता। किन्तु यहांपर " तिर्यग्योनिजानां च " इतने स्वल्प सर्षपसमान सूत्रसे ही समीहित अर्थकी सिद्धि होगई है। कर्मभूमि या भोगभूमि स्थानोंमें मनुष्योंके समान तिर्यंच भी निवास करते हैं। अतः मनुष्योंके साथ तिर्यंचोंका भी प्रकरण है। मनुष्योंकी संगति नारकियोंसे सर्वथा नहीं है। हां, देवोंके साथ क्वचित् कदाचित् सम्मेलन हो जाता है। किन्तु मनुष्योंका तिर्यंचोंके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः मनुष्योंका वर्णन करते समय तिर्यंचोंका प्रकरण भी झटिति उपस्थित हो जाता है।

नन्वसंख्येयेष्वपि द्वीपसमुद्रेषु दृष्टेषु सार्धद्वीपद्वयप्रपंचं निरूपयतः सूत्रकारस्य किं चेतसि स्थितमित्याह।

यहां कोई वावदूक पण्डित आशंका करता है कि पचीस कोटाकोटि उद्धार पल्योंके समय प्रमाण नव असंख्याते द्वीपसमुद्र इस तिर्यक् लोकमें देखे जा रहे हैं, तो उन सभीमेंसे केवल ढाई द्वीपोंको ही विस्तारसहित निरूपण कर रहे सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजके चित्तमें कौनसी बात

व्यवस्थित हो गयी है ! बताओ । या तो हजारों, लाखों, सभी द्वीपोंका थोडा थोडा निरूपण करना चाहिये था । अथवा सातवें, आठवें सूत्रों करके सामान्य कथन कर तृतीय अध्यायको पूरा कर देना था । नौवें सूत्रसे प्रारम्भ कर चालीसवें सूत्रतक ढाई द्वीपकी ही स्तुति गाना तो उचित नहीं दीखता है । ढाई द्वीपसे बाहर भी असंख्य द्वीप समुद्रोंमें बडी बडी सुन्दर मनोहारी रचनायें हैं । ढाई द्वीपसे बाहर मनुष्य और तेरह द्वीपके बाहर सर्व साधारण अकृत्रिम जिनचैत्यालयोंके नहीं होनेसे उन असंख्य द्वीपोंकी अवज्ञा नहीं की जा सकती है । व्यन्तरोंके अकृत्रिम नगरोंमें तो वहां भी चैत्यालय हैं । इस आक्षेपका उत्तर देनेके लिये श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्तिकको कहते हैं ।

सार्धद्वीपद्वये क्षेत्रविभागादिनिरूपणं ।
अध्यायेस्मिन्नसंख्येयेष्वपि द्वीपेषु यत्कृतं ॥ २ ॥
मनुष्यलोकसंख्या या जिज्ञासविषया मुनेः ।
तेन निर्णीयते सद्भिरन्यत्र तदभावतः ॥ ३ ॥

असंख्याते द्वीपोंके होनेपर भी इस तृतीय अध्यायमें श्री उमास्वामी महाराजने जो ढाई द्वीपोंमें ही क्षेत्र विभाग, पर्वत, नदी, आदिका निरूपण किया है, उससे अर्थापत्ति द्वारा सज्जन विद्वानों करके निर्णय कर लिया जाता है कि जो मनुष्यलोककी संख्या है, वही सूत्रकार मुनिकी जिज्ञासाका विषय है । क्योंकि ढाई द्वीपसे अतिरिक्त अन्य द्वीपोंमें उस मनुष्यलोककी संख्याका अभाव है । अर्थात्—असंख्य द्वीपोंमेंसे ठीक भीतरले ढाई द्वीपोंमें ही उत्कृष्टरूपसे द्विरूप वर्गधाराकी पंचम कृतिके घनस्वरूप ७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६ यों उन्तीस अंक प्रमाण पर्याप्तमनुष्य पाये जाते हैं । अन्य द्वीपोंमें मनुष्य नहीं हैं । शिष्यके मनुष्यलोककी जिज्ञासा अनुसार सूत्रकारको नृलोकका व्याख्यान करना पडा है । अन्य कोई पक्षपात या अवज्ञा करनेका अभिप्राय नहीं है ।

ननु च जीवतत्त्वप्ररूपणे प्रकृते किं निरर्थकं द्वीपसमुद्रविशेषनिरूपणमित्याशंकां निवारयति ।

पुनः किसीकी सकटाक्ष आशंका है कि पहिले ही अध्यायसे प्रारम्भ कर पूरे दूसरेमें और तीसरे अध्यायके कुछ भागमें जीवतत्त्वका प्ररूपण करना जब प्रकरणप्राप्त हो रहा है, तो फिर बीचमें ही व्यर्थ विशेषद्वीपों और विशेषसमुद्रोंका निरूपण सूत्रकारने क्यों कर दिया है ? निरर्थक बातोंको सुननेके लिये किसी प्रेक्षावान्‌के पास अवसर नहीं है । निरर्थक बातोंसे बुद्धिमें परिश्रम उपजता है । पापप्रसंग भी हो जाता है । संवर और निर्जराके प्रस्ताव टल जाते हैं । इस प्रकार की गयी आशंकाके निवारणको ग्रन्थकार अग्रिमवार्तिक करके करते हैं ।

न च द्वीपसमुद्रादिविशेषाणां प्ररूपणं ।
निःप्रयोजनमाशंक्यं मनुष्याधारनिश्चयात् ॥ ४ ॥

द्वीप समुद्र, नदी, ह्रद, आदि विशेषोंका प्ररूपण करना प्रयोजनरहित है, यह आशंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि इससे मनुष्योंके आधारभूत स्थलोंका निर्णय हो जाता है। सम्पूर्ण संसारियोंमें मनुष्योंकी गणना उच्चकोटिके जीवोंमें है। श्री अरहन्तपरमेष्ठी या उत्कृष्ट श्रोता, वक्ता, अथवा वादी, प्रतिवादी, ये सब मनुष्य ही तो हैं। अतः जीवोंका वर्णन करते समय मनुष्य और उनके अधिकरण हो रहे ढाई द्वीप और दो समुद्रोंका निरूपण करना व्यर्थ नहीं है। ज्ञान या ध्यानके उपयोगी प्रकरणोंको अवश्य सुनना, समझना चाहिये। यही ज्ञान विचारआक्रान्त होकर ध्यान बन बैठता है और स्वसंवेद्य सुखका उत्पादक हो रहा संवर, निर्जराका संपादक हो जाता है।

कानि पुनर्निमित्तानि तद्द्वीपसमुद्रविशेषेषूत्पद्यमानानां मनुष्याणामित्याह ।

यहां किसीकी जिज्ञासा है कि उन ढाई द्वीपविशेषों या लवणोद, कालोद, दो समुद्रविशेषोंमें उपज रहे मनुष्योंके फिर निमित्तकारण कौन हैं ? अर्थात्—किन कारणोंसे मनुष्य इन ढाई द्वीपोंमें उपज जाते हैं ? अन्यत्र क्यों नहीं उपजते हैं ? इसके उत्तरमें श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्तिकको कहते हैं।

नानाक्षेत्रविपाकीनि कर्माण्युत्पत्तिहेतवः ।
संत्येव तद्विशेषेषु पुद्गलादिविपाकिवत् ॥ ५ ॥

जैसे कि पुद्गल या जीव आदिमें विपाकको करने वाले पुद्गलविपाकी कर्म, जीवविपाकी कर्म, और भवविपाकी कर्म हैं, उसी प्रकार उन विशेषद्वीप या समुद्रविशेषोंमें उत्पत्ति होजानेके कारण अनेक क्षेत्रविपाकी कर्म भी संसारी आत्माके साथ बंधनबद्ध होरहे हैं।

यथा पुद्गलेषु शरीरादिलक्षणेषु विपचनशीलानि पुद्गलविपाकीनि कर्माणि शरीरनामादीनि, यथा च भवविपाकीनि नरकायुरादीनि, जीवविपाकीनि च सद्वेद्यादीनि, तथा तत्रोत्पत्तौ मनुष्याणामन्येषां च प्राणिनां हेतवः संति तद्भ्रमानाक्षेत्रेषु विपचनशीलानि क्षेत्रविपाकीन्यपि कर्माणि संति यत्र तत्रोत्पत्तौ तेषां हेतव इति तदाधारविशेषाः सर्वे निरूपणीया एव ।

जिस प्रकार शरीर, उपांग, हड्डी, रक्त, आदि स्वरूप पुद्गलोंमें विपाक होनेकी टेवको रखनेवाले शरीर नामकर्म, आदिक पुद्गलविपाकी ६२ बासठ कर्म हैं। " देहादी फासंता पण्णासा णिमिणतात्र जुगलं च, थिर सुह पत्तेय दुगं अगुरुतियं पोग्गलविवाई "। और जिस प्रकार नरक आयु, तिर्यगायु, आदि चार कर्मप्रकृतियां भवविपाकी हैं और सद्वेदनीय आदिक अठत्तर कर्मप्रकृतियां जीवविपाकी

हैं। "आणुपुव्वीओ। अट्ठत्तरि अवसेसा जीवविवाई मुणेयव्वा"। ये तीन जातिकी प्रकृतियां मनुष्योंके या अन्यजीवोंके तिस प्रकार वहां उपजनेमें प्रेरक निमित्त कारण होजाती हैं, इसीके समान अनेकक्षेत्रोंमें विपाक होनेकी टेवको धारनेवाले चौथी जातिके चार आनुपूर्व्य क्षेत्र-विपाकी कर्म भी उन उन स्थलों पर उन जीवोंके जन्म लेकर उत्पत्ति होनेमें प्रेरक हेतु हो जाते हैं। अर्थात्— जिन जीवोंके जिस जातिके कर्मका सद्भाव पाया जावेगा, तदनुसार उन उन द्वीप या समुद्रोंमें जीवका जन्म हो जायेगा। इस कारण उन जीवोंके संपूर्ण आधार विशेषोंका निरूपण करना आवश्यक ही पड गया है।

तदप्ररूपणे जीवतत्त्वं न स्यात् प्ररूपितं।
विशेषेणेति तज्ज्ञानश्रद्धाने न प्रसिध्यतः ॥ ६ ॥
तन्निबंधनमक्षुण्णं चारित्रं च तथा क्व नु।
मुक्तिमार्गोपदेशो नो शेषतत्त्वविशेषवाक् ॥ ७ ॥

यदि उन क्षेत्रोंका निरूपण नहीं किया जायगा तो विशेषरूपकरके श्री उमास्वामी महाराज द्वारा जीवतत्त्वका निरूपण करना नहीं समझा जायगा। ऐसी दशामें उस जीवतत्त्वका ज्ञान करना और जीवतत्त्वका श्रद्धान करना ये दो रत्न कभी भी प्रसिद्ध नहीं होसकते हैं। और तिस प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी प्रसिद्धि नहीं होनेपर उन दो को कारण मान कर होने वाला तीसरा रत्न निर्दोष या पूर्णचारित्र तो भला कहां प्रसिद्ध हो सकता है? और यों तीनों रत्नोंके नहीं प्रसिद्ध होने पर विचारा आद्यसूत्र द्वारा मोक्षमार्गका उपदेश देना भी कहां बना? जीवको मूलभित्ति मानकर शेष छह तत्त्वोंका निरूपण किया जाता है। जीवतत्त्वकी प्ररूपणा हुये विना शेष अजीव आदि तत्त्वोंका विशेषरूपसे कथन करना नहीं बन पावेगा। अतः मोक्षमार्ग माने गये रत्नत्रयके विषय हो रहे जीवादि तत्त्वोंकी समीचीनप्रतिपत्ति करानेके लिये उन जीवोंके आधारस्थानोंका निरूपण करना सूत्रकारका उचित कर्तव्य है।

तेषां हि द्वीपसमुद्रविशेषाणामप्ररूपणे मनुष्याधाराणां नारकतिर्यग्देवाधाराणामप्यप्ररूपणप्रसंगान्न विशेषेण जीवतत्त्वं निरूपितं स्यात्, तन्निरूपणाभावे च न तद्विज्ञानं श्रद्धानं च सिध्येत्, तदसिद्धौ श्रद्धानज्ञाननिबंधनमक्षुण्णं चारित्रं च क्व नु संभाव्यते? मुक्तिमार्गश्च कैवं? शेषाजीवादितत्त्ववचनं च नैवं स्यात्। ततो मुक्तिमार्गोपदेशमिच्छता सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्यभ्युपगंतव्यानि। तदन्यतमापाये मुक्तिमार्गानुपपत्तेः, तानि चाभ्युपगच्छता तद्विषयभावमनुभवत् जीवतत्त्वमजीवादितत्त्ववत् प्रतिपत्तव्यं। तत्प्रतिपद्यमाने च तद्विशेषा आधारादयः प्रतिपत्तव्याः। इति युक्तं द्वीपसमुद्रादिसन्निवेशादिविशेषप्ररूपणमध्यायेऽस्मिन्। अत्रापरः प्राह—

कारण कि मनुष्योंके आधार हो रहे उन ढाई द्वीपविशेषों या दो समुद्रविशेषोंका निरूपण यदि नहीं किया जायगा, तब तो नारकी जीवोंके आधार हो रहे नरकस्थान तिर्यंच प्राणियोंके आधारभूत तिर्यक् लोक और देवोंके आधारस्थानोंके भी निरूपण नहीं करनेका प्रसंग आ जावेगा। और ऐसा होनेसे विशेषरूपसे जीवतत्त्वका निरूपण कर दिया गया नहीं समझा जायगा। तथा विशेषरूपसे उस जीवतत्त्वका निरूपण नहीं करनेपर उस जीवतत्त्वमें विज्ञान या श्रद्धान होना नहीं सिद्ध हो पावेगा। उन विज्ञान और श्रद्धानकी नहीं सिद्धि होनेपर श्रद्धान और ज्ञानको कारण मान कर हुआ परिपूर्ण चारित्र भला कहां सम्भावित किया जावेगा? और इस अन्धकारसदृश असिद्धियोंकी काली रातमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग कहां बना? जीवतत्त्वसे अवशिष्ट अजीव, आदि छह तत्त्वोंका परिभाषण भी इस प्रकारकी दशामें नहीं बन पाता है। तिस कारणसे मोक्षमार्गके उपदेशकी इच्छा रखनेवाले विद्वान्को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र, अवश्य स्वीकार करने पडेंगे। उन तीनोंमेंसे एकका भी विश्लेष हो जानेपर मोक्षमार्गकी प्रसिद्धि नहीं हो सकती है। और उन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रोंको स्वीकार कर रहे विद्वान्करके उस रत्नत्रयके विषयपनका अनुभव कर रहे जीवतत्त्वकी अजीव, आस्रव, आदि तत्त्वोंके समान प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये और यों उस जीवतत्त्वकी प्रतिपत्ति करते सन्ते पण्डितको उस जीवके विशेष हो रहे आधार आदि और आधारोंकी लम्बाई, चौडाई, आदिकी प्रतिपत्ति कर लेना आवश्यक पड जाता है। इस कारण इस तृतीय अध्यायमें द्वीप, समुद्र, पर्वत, नदी, आदिकी रचना, चौडाई, उनमें रहनेवाले जीवोंकी आयु, आदिका विशेषरूपसे सूत्रकारने प्ररूपण किया है, यह युक्तिपूर्ण है। यहां तक तीसरे अध्यायके प्रमेयका विवरण हो चुका है। अब यहां कोई दूसरा सृष्टिकर्तावादी विद्वान् अपने मतको बहुत बढिया समझता हुआ कह रहा है, उसको भी सुनलो।

ननु द्वीपादयो धीमद्धेतुकाः संतु सूत्रिताः।
सन्निवेशविशेषत्वसिद्धेर्घटवदित्यसत् ॥ ८ ॥
हेतोरीश्वरदेहेनानेकांतादिति केचन।
तत्रापरे तु मन्यंते निर्देहेश्वरवादिनः ॥ ९ ॥
निमित्तकारणं तेषां नेश्वरस्तत्र सिध्यति।
निर्देहत्वाद्यथा मुक्तः पुरुषः सम्मतं स्वयं ॥ १० ॥

वैशेषिक अपने पक्षका अनुमान प्रमाण द्वारा अवधारण कराता है कि श्री उमास्वामी महाराज करके उक्त सूत्रों द्वारा कहे जा चुके द्वीप, समुद्र, पृथिवियें, पर्वत, शरीर, इन्द्रियें, आदिक पदार्थ

(पक्ष) किसी बुद्धिमान् कर्त्तास्वरूप हेतु करके बनाये गये समझे जाओ (साध्य) विशेष प्रकारकी रचना बन रही होनेसे (हेतु) घटके समान (अन्वयदृष्टान्त)। आचार्य कहते हैं कि यों वैशेषिकका मन्तव्य प्रशस्त नहीं है। क्योंकि उक्त अनुमानके हेतुका ईश्वरके शरीरकरके व्यभिचार हो जाता है। पौराणिक विद्वानोंने ईश्वरका शरीर स्वीकार किया है। किन्तु उस शरीरका निमित्त कारण ईश्वर नहीं पडता है। अतः हेतुके ठहर जानेसे ईश्वरदेहमें साध्यका अभाव हो जानेपर सन्निवेशविशेषत्व हेतु व्यभिचारी हो जाता है। यदि ईश्वरकरके अपने शरीरका निर्माण भी अन्य अन्य शरीरोंद्वारा स्वीकार किया जायगा तो अनवस्था दोष आ जावेगा। ईश्वर अपने शरीरोंको बनाते बनाते उपक्षीणशक्तिक हो जायगा। यों ईश्वरशरीर करके व्यभिचार दे चुकनेपर उस प्रकरणमें ईश्वरके देहको नहीं कहनेवाले कोई दूसरे वादी तो यों मान बैठे हैं कि ईश्वरके देह ही नहीं है, शरीररहित ही ईश्वर सम्पूर्णकार्योंका निमित्तकारण हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि उन वादियोंके यहां उन तनु तरु आदि कार्योंमें ईश्वर निमित्तकारण सिद्ध नहीं हो पाता है (प्रतिज्ञा), देहरहित होनेसे (हेतु) जैसे कि स्वयं आपका भले प्रकार माना जा चुका मुक्त आत्मा सृष्टिका निमित्तकारण नहीं है (अन्वयदृष्टान्त)। अतः द्वीप, समुद्र, आदि सब अकृत्रिम हैं। अनादि अनिधन हैं।

विवादाध्यासिता द्वीपादयो बुद्धिमत्कारणकाः सन्निवेशविशेषत्वात् घटवदिति कश्चित्। तदसत्। हेतोरीश्वरशरीरेण विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्। संबाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः इत्यागमप्रसिद्धेनानेकांतादिति। अपरे नेश्वरस्य शरीरमस्ति यतो हेतोर्व्यभिचारश्चोद्यत इति मन्यंते तेषां " अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः, स वेत्ति विश्वं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महांतं " इत्यागमं प्रमाणयतां नेश्वरस्तत्र निमित्तकारणं सिध्यति निर्देहत्वात् स्वयं संमतमुक्तात्मवत्।

किसी पौराणिक विद्वान्का अनुमान है कि द्वीप, समुद्र, आदि ये कृत्रिम हैं या अकृत्रिम हैं ? यों विवादमें निर्णयार्थ प्राप्त हो रहे द्वीप, पर्वत, आदिक (पक्ष) किसी बुद्धिमान् कारण करके बनाये गये कार्य हैं (साध्य)। सन्निवेश यानी रचनाविशेष होनेसे (हेतु) घटके समान (अन्वयदृष्टान्त) यहांतक कोई कह रहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि उसका कहना असत्यार्थ है। क्योंकि ईश्वरके तुम्हारे इस आगम द्वारा प्रसिद्ध हो रहे शरीरकरके सन्निवेशविशेषत्व हेतुका व्यभिचार हो जाता है। तुम्हारा माना हुआ वह आगम इस प्रकार है। शुक्ल यजुर्वेद संहिता १८ वां अध्याय उन्नीसवां मंत्र है कि ईश्वरके सब ओरसे चक्षुयें हैं, सम्पूर्ण ओर उसका मुख विद्यमान है, सब ओरसे उसकी बाहुयें हैं, वितर्कणा पूर्वक कहा जाता है कि अखिल ओरसे उसके पांव हैं। जिस प्राणी के जे जे चक्षुः, मुख आदि हैं वे सब उस उस उपाधिवाले परमेश्वरके ही हैं। यों सर्वत्र चक्षु आदि घटित होजाते हैं। पुण्य, पापोंके, अनुसार परमाणुओं करके वह एक ही देव

आकाश और भूमि सबको अन्य साधनोंके विना बना रहा है। पंचभूतरूप उपादान अवयवों करके संगत करा देता है। यहां कोई दूसरे नैयायिक विद्वान् यों मान बैठे हैं कि ईश्वरके कोई शरीर नहीं हैं, जिससे कि हमारे हेतुका व्यभिचार दोष बलात्कारसे प्रेरा जाता है। वे इस अपने आगमको प्रमाण कर रहे हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद्के तृतीय अध्यायमें १९ वां श्लोक है कि वह ईश्वर हाथों से रहित हो रहा ही चाहे जिस छोटे या बडे पदार्थको पकड सकता है। पांवोंसे रहित होरहा बडे वेगसे दौड सकता है। आंखोंके विना सबको देख लेता है, कानोंके विना संपूर्ण शब्दोंको सुन लेता है, वह सबको जानता है, उस ईश्वरका परिज्ञान करनेवाला कोई नहीं है। योगीपुरुष उसको सबका अग्रवर्ती प्रधानपुरुष कहते हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि उक्त आगमको प्रमाण माननेवाले उन नैयायिकोंके यहां माना गया शरीररहित ईश्वर भी उन द्वीप, समुद्र, आदिकी रचनामें निमित्तकारण सिद्ध नहीं होपाता है। क्योंकि ईश्वर देहरहित है। जो जो देहरहित है वह वह द्वीप, आदिका निमित्तकारण नहीं, जैसे कि नैयायिकोंका स्वयंसंमत होरहा मुक्तात्मा निर्देह होनेसे द्वीप आदिका निमित्तकारक नहीं है।

ननु च मुक्तात्मनामज्ञत्वान्न जगदुत्पत्तौ निमित्तत्वं ईश्वरस्य तु निर्देहस्यापि नित्यज्ञानत्वात्तन्निमित्तकारणत्वमेवेति चेत्—

पुनः नैयायिकका अवधारण है कि भो महाराज, मुक्त आत्मा तो ज्ञानरहित अज्ञ हैं। क्योंकि मोक्ष अवस्थामें बुद्धि, सुख आदि गुणोंका विनाश होजाता है। अतः मुक्त आत्मा विचारा जगत् की उत्पत्तिका निमित्तकारण नहीं होसकता है। हां, ईश्वर तो देहरहित होता हुआ भी नित्य ज्ञानका अधिकरण होनेसे इस जगत्का निमित्तकारण हो ही जाता है। कर्त्ताके निकट ज्ञान होनेकी आवश्यकता है। पोंगा शरीर अकिंचित्कर है। इस कारण यों अवधारण प्रवर्तने पर श्री विद्यानन्द स्वामीकी अग्रिमवार्तिक को सुनो—

नित्यज्ञानत्वतो हेतुरीश्वरो जगतामिति ।
न युक्तमन्वयासत्त्वाद्व्यतिरेकाप्रसिद्धितः ॥ १ ॥

ईश्वर (पक्ष) तीनों जगत्के निर्माणका हेतु है (साध्य) क्योंकि उसका ज्ञान नित्य है (हेतु) नित्यज्ञानवाला ईश्वर जगत्को बना लेता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नैयायिकोंका कथन युक्तिपूर्ण नहीं। क्योंकि इस अनुमानमें अन्वयदृष्टांतका सद्भाव नहीं है। अन्वयदृष्टान्तके विना साध्यके साथ हेतुकी व्याप्ति भला कहां निर्णीत की जावेगी ? आप नैयायिकोंके सिद्धान्त अनुसार एक ही व्यक्ति नित्य ज्ञानवान है, और वही जगत्का निर्माता है। उसीको तुमने पक्ष बना रखा है। ऐसी दशामें अन्वयदृष्टान्तका सद्भाव नहीं सम्भवनेसे व्यतिरेककी भी असिद्धि हो जाती है। कारण कि अन्वयकी भित्तिपर व्यतिरेककी सामर्थ्य बहुत बढ जाती है। अर्थात्—यदि दृष्टान्तके विना ही चाहे जिस हेतुसे अन्ट सन्ट किसी भी साध्यकी सिद्धि कर लोगे, तब तो तुम्हारा टट्टूआ लाख रुपयोंका

सिद्ध हो जावेगा, इसके लिये यों अनुमान बनाया जा सकता है । मदीयोऽश्वको लाक्षिकः विलक्षणगतिमत्त्वात्, खंजत्वाद् वा । विलक्षण लंगडी, टूली, गति, अनुसार चलनेवाला होनेसे मेरा लंगडा टट्टू बहुमूल्य है ।

ननु नित्यज्ञानत्वादित्येतस्य हेतोरन्वयासत्त्वेपि न व्यतिरेकासत्त्वं जगदकारणस्यास्मदादेर्नित्यज्ञानत्वाभावादिति न मंतव्यं, ज्ञानसंतानापेक्षयास्मदादेरपि नित्यज्ञानत्वात् । न हि ज्ञानसामान्यरहितोस्मदादिः संभवति, विरोधात् । यदि पुनर्ज्ञानविशेषापेक्षया नित्यज्ञानत्वं हेतुस्तदा न सिद्ध इत्याह—

नैयायिक अपने मतका अवधारण करते हुये कहते हैं कि यद्यपि हमारे " नित्यज्ञानत्वात् " इस हेतुके किसी दृष्टान्तमें अन्वयका सद्भाव नहीं है । क्योंकि ईश्वरके अतिरिक्त किसी भी व्यक्तिमें नित्य ज्ञानसे सहितपना नहीं पाया जाता है । तथापि हमारे हेतुके व्यतिरेकका असद्भाव नहीं कहा जा सकता है । " प्राणादिमत्त्व आदि " अनेक केवलव्यतिरेकी हेतुओंमें अन्वय नहीं होनेपर भी व्यतिरेक बडी प्रसन्नतासे सुखपूर्वक मिल जाता है । देखिये, जगत्का निर्माण करनेमें कारण नहीं बन रहे हम आदि अनेक संसारीजीवोंके नित्यज्ञानवान्पनेका अभाव है । इस ढंगसे साध्यके नहीं होनेपर हेतुके नहीं ठहरनेसे अस्मदादिक ही व्यतिरेकदृष्टान्त ठहर जाते हैं । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये । क्योंकि हम आदिक अनेक जीवोंके भी ज्ञानसंतान अपेक्षा करके नित्यज्ञान सहितपना विद्यमान है । हम आदिक जीव सोते, जागते, बैठते, उठते, मरते, जन्मते, कदाचित् भी सामान्यज्ञानसे रहित नहीं सम्भवते हैं । आत्माका ज्ञान रहितपनेके साथ विरोध है । विग्रहगति, मत्त, मूर्च्छित, गर्भ, अण्डज, या मरणदशामें भी आत्माके ज्ञान पाया जाता है । अन्यथा लक्षणके नष्ट हो जानेसे लक्ष्य आत्मा जड बन बैठेगा । बहुत कहनेसे क्या फल है । आत्मा नष्ट ही हो जावेगा । शीतकाल या हिम आदिका सन्निधान होनेपर अग्निमें स्वल्प उष्णता भले ही रह जाय, किन्तु उष्णताका सर्वथा अभाव हो जानेपर वह अग्निपर्याय ही नहीं स्थिर रह सकती है । अतः अनादिकालसे अनन्तकालतक धाराप्रवाह चले आ रहे नित्य ज्ञानसे सहित अस्मदादिक संसारी जीव तुम्हारे यहां सृष्टिकर्त्ता नहीं माने गये हैं । अतः जो जगत्निर्माता नहीं वह नित्यज्ञानवान् नहीं, इस व्यतिरेकमें व्यभिचार आ जानेसे तुम नैयायिकोंका नित्यज्ञानत्व हेतु केवलव्यतिरेकी नहीं सिद्ध हो सका है । यदि फिर आप धाराप्रवाहरूप नित्यताको नहीं पकडकर ईश्वरमें विशेष व्यक्तिरूप ज्ञानकी अपेक्षासे नित्यज्ञानसहितपना हेतु करोगे तब व्यतिरेकदृष्टान्त तो बन गया । किन्तु ईश्वरके ज्ञानका नित्यपना सिद्ध नहीं हो पाता है । इसी बातको ग्रन्थकार वार्त्तिक द्वारा कहते हैं ।

बोधो न वेधसो नित्यो बोधत्वादन्यबोधवत् ।
इति हेतोरसिद्धत्वान्न वेधाः कारणं भुवः ॥ १२ ॥

विधाता माने गये ईश्वरका ज्ञान (पक्ष) नित्य नहीं है (साध्य) ज्ञान होनेसे (हेतु) अन्य जीवोंके ज्ञान समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस प्रकार पक्षमें नहीं वर्त रहे नित्यज्ञानत्व हेतुका असिद्धहेत्वाभासपना हो जानेसे पृथ्वी, पर्वत, द्वीप, आदिका निमित्तकारण ईश्वर नहीं सध पाता है।

बोधत्वं च स्यादीश्वरबोधस्य नित्यत्वं च स्याद्विरोधाभावादस्मादृशविशेषत्वादीश्वरस्य विशिष्टबोधोपपत्तेः अन्यथा सर्वज्ञत्वसिद्धिविरोधात् इति कश्चित्। सोप्ययुक्तवादी, तद्बोधस्य प्रमाणत्वे ततोऽपरस्य फलज्ञानस्यानित्यस्य तत्र प्रसिद्धेरफलस्य प्रमाणस्यासम्भवात्। तस्य फलत्वे नित्यत्वविरोधात्। फलं हि प्रमाणकार्यं तत्कथं नित्यं युक्तं ? प्रमाणफलात्मकमीश्वरज्ञानमेकमित्यपि व्याहतं, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् तस्य स्वजननासंभवात्।

यहां कोई नैयायिक यों प्रतिकूल तर्क उठाता है कि ईश्वरके ज्ञानमें ज्ञानपना रहे और नित्यत्वाभाव साध्य नहीं रहे। अर्थात्—नित्यपना भी बना रहे, कोई विरोध नहीं पडता है। कारण कि अस्मद् आदि अल्पज्ञ जीवोंसे विलक्षण ईश्वर है। हमारे अनित्य ज्ञानसे उस ईश्वरका ज्ञान नित्य होता हुआ विशिष्ट सिद्ध होरहा है। अन्यथा यानी हम लोगोंकी अपेक्षा ईश्वरमें यदि विशेष अतिशय नहीं माने जाकर दूसरे सामान्य ढंगोंको अपनाया जायगा। तब तो सर्वज्ञपनकी सिद्धिका विरोध होजायगा कारण कि हम लोग सर्वज्ञ नहीं हैं। वैसा ही अल्पज्ञ ईश्वर होना चाहिये। किन्तु जैनजन परमात्माका सर्वज्ञपना इष्ट करते हैं। उसीके समान ईश्वरके ज्ञानको नित्य भी अभीष्ट कर लिया जाय। अतः बोधत्व हेतुसे ईश्वरका ज्ञान अनित्य नहीं सधा, तब तो हमारे नित्यज्ञानत्व हेतुसे वह जगत्का हेतु सध गया, इस प्रकार कोई ईश्वरवादी कह रहा है। ग्रंथकार कहते हैं कि वह भी युक्तिशून्य बोलने की टेव को रखनेवाला है, क्योंकि प्रमाके करण होरहे प्रमाणोंका फल अवश्य होना चाहिये। अब बताओ, वह ईश्वरका ज्ञान विचारा प्रमाणस्वरूप है ? या फलआत्मक है ? उस ईश्वरके नित्यज्ञानको यदि प्रमाण माना जायगा तो उससे न्यारे दूसरे अनित्य होरहे फलज्ञानकी उस ईश्वरमें प्रसिद्धि होजायगी। फलसे रहित होरहे प्रमाणज्ञानका असंभव है। द्वितीय पक्ष अनुसार यदि उसी एक ज्ञानको फल मान लोगे तो उस ज्ञानके नित्यपनका विरोध होगा। फल तो कारकोंका कार्य होरहा अनित्य हुआ करता है। भला प्रमाणके कार्य होरहे उस फलको नित्य कहना किस प्रकार युक्त होसकता है ? तुम ही विचार करो। तुम्हारा यह कहना भी व्याघात दोषयुक्त है कि ईश्वरका एक ही ज्ञान प्रमाण आत्मक है और फलस्वरूप भी है। स्याद्वादियोंके यहां एक धर्मीमें प्रमाणत्व, प्रमेयत्व, प्रमातृत्व, प्रमाफलत्व आदि कतिपय धर्म अक्षुण्ण ठहर जाते हैं। किंतु तुम एकान्तवादियोंके यहां करणत्व और फलत्वका विरोध है। तुम्हारे यहां ईश्वरज्ञानमें प्रमाणता माननेपर फलत्व नष्ट हो जाता है। और फलपना माननेपर करणपना नष्ट हो जाता है। " नैकं स्वस्मात्प्रजायते " अपनी आत्मामें अपनी उत्पत्तिरूप क्रियाका विरोध है। हां, ज्ञप्तिक्रियाका विरोध नहीं है। अतः उस प्रमाणआत्मक ईश्वरज्ञानसे स्वका उपजनारूप—फलक

असम्भव है । स्वयं अपनेसे अपनेमें उत्पत्ति नहीं हो सकती है । इस सिद्धान्तको हम स्याद्वादी भी अनेक युक्तियोंसे परिपुष्ट समझते हुये मानते हैं ।

यदि पुनरीशस्य प्रमाणभूतं ज्ञानं नित्यं, फलभूतं त्वनित्यमिति मतं, तदा ज्ञानद्वयपरिकल्पनायां प्रयोजनं वाच्यं । तस्याशरीरस्य स्रष्टुः सदा सर्वज्ञत्वसिद्धिः प्रयोजनमिति चेन्न, अज्ञानरूपाया एव सन्निकर्षादिसामग्र्याः प्रमाणत्वाभ्युपगमेपि सदा सर्वार्थज्ञानस्यानित्यस्य तत्फलस्य कल्पनात् सदा सर्वज्ञत्वसिद्धेर्व्यवस्थापनात् ।

यदि फिर वैशेषिक अपना मत यों कहे कि ईश्वरके दो ज्ञान हैं । प्रमाण हो रहा ज्ञान तो नित्य है और ईश्वरका ज्ञान फलभूत हो रहा अनित्य है, यों मन्तव्य होय तब तो आचार्य कहते हैं कि तुम वैशेषिकोंको ईश्वरके दो ज्ञानोंकी प्रकल्पना करनेमें प्रयोजन कहना चाहिये । केवल एक ज्ञानवाले ईश्वरके ऊपर व्यर्थमें दो ज्ञानोंका बोझ लादना अनुचित है । यदि वैशेषिक यों कहें कि शरीररहित हो रहे उस सर्जनेवाले ईश्वरको सर्वदा सर्वज्ञपना सिद्ध होता रहे यही दो ज्ञानोंकी कल्पनाका फल है । एक करणज्ञान दूसरे फलज्ञानके स्वीकार कर लेनेसे ईश्वरका सर्वज्ञपना सदा रक्षित रह जाता है । आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि तुम्हारे यहां मानी गयी अज्ञानस्वरूप सन्निकर्ष, इन्द्रियां, आदि सामग्रीको ही प्रमाणपना स्वीकार करनेपर भी सदा सर्व अर्थको विषय करनेवाले और उस सामग्रीके फलस्वरूप अनित्य ईश्वरज्ञानकी कल्पना कर लेनेसे सर्वदा ईश्वरके सर्वज्ञपनकी सिद्धिकी व्यवस्था हो जावेगी । भावार्थ—ईश्वरज्ञान एक ही माना जायगा । सन्निकर्ष आकाश, काल, आदिसे उसकी सर्वदा उत्पत्ति होते रहनेसे सर्वज्ञपना साध लिया जाय, कोई क्षति नहीं पडती है । कूटस्थ हो रहे पदार्थोंकी अपेक्षा सर्वदा अर्थक्रिया करते हुये उपज रहे पदार्थ परमार्थभूत समझे जाते हैं । हम जैनोंके यहां भी आकाश कालाणु, केवलज्ञानावरण कर्मोंका क्षय, आदि जड कारणोंसे परमात्माके सतत केवलज्ञानकी धाराप्रवाहसे उत्पत्ति होते रहनेपर परमात्माके सर्वज्ञता परिपूर्ण बनी रहती मानी गयी है ।

नन्वशरीरस्येंद्रियसन्निकर्षाभाववदंतःकरणसन्निकर्षस्याप्यभावात् सन्निकर्षादिसामग्रीविरहे ततो अनादिसर्वार्थविषयं नित्यज्ञानमेव तस्य प्रमाणमिति चेन्न, आत्मार्थसन्निकर्षस्य प्रमाणत्वोपगमात् । महेश्वरस्य हि सकृत्सर्वार्थसन्निकर्षमात्रात्सर्वार्थज्ञानोत्पत्तिरिष्यते कैश्चित् ततो न नित्यज्ञानत्वं सिद्धं, येन न जगन्निमित्तमीश्वरो निर्देहत्वात् मुक्तात्मवदित्यनुमानं प्रतिहन्येत ।

नैयायिक विद्वान् आक्षेप करते हैं कि शरीररहित ईश्वरके जब बहिरंग इन्द्रियां या अन्तरंग इन्द्रिय नहीं हैं तो इन्द्रिय सन्निकर्षस्वरूप सामग्री न होनेसे और अन्तरंग इंद्रिय कहे गये मनके साथ भी पदार्थोंका सन्निकर्ष नहीं होनेसे सन्निकर्ष, परामर्श, आदि सामग्रीका विरह है, ऐसा होनेपर ईश्वरमें ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है । तिस कारण अनादिकालसे सम्पूर्ण पदार्थोंको विषय कर

रहा नित्यज्ञान ही उस ईश्वरका प्रमाण है। ईश्वरज्ञानको अनित्य माननेपर अनेक झगडे उठ बैठेंगे। श्री विद्यानन्द स्वामी समझाते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि तुम्हारे यहां आत्मा और अर्थके सन्निकर्षको प्रमाणपना स्वीकार किया गया है। कहीं सुवर्ण आदिमें आत्मा, मन, इन्द्रिय, अर्थ, चारोंका सन्निकर्ष होकर ज्ञान उपजता माना है। किसी सुख आदिका मन अर्थ और आत्माके त्रय सन्निकर्षसे ही ज्ञान उपज जाता है। क्वचित् अर्थ और आत्माके हुये सन्निकर्षसे ही ज्ञानोत्पत्ति मानी गयी है। तुम्हारे यहां प्रमितिके कारण स्वीकार किये गये सन्निकर्षको प्रमाण इष्ट कर किया है। व्यापक और नित्य हो रहे महेश्वरका एक बार ही सम्पूर्ण अर्थोंके साथ सन्निकर्ष हो जानेसे सम्पूर्ण अर्थोंके ज्ञानकी उत्पत्ति हो जाना किन्हीं नैयायिक विद्वानोंने अभीष्ट कर ली है। तिस कारण ईश्वरका ज्ञान नित्य नहीं सिद्ध हो सका, जिससे कि ईश्वर (पक्ष) जगत्का निमित्त कारण नहीं है (साध्य) शरीररहित होनेसे (हेतु) मुक्त आत्माके समान (अन्वयदृष्टान्त), यह हमारा अनुमान प्रतिघातको प्राप्त हो जाता। भावार्थ—नैयायिकोंने देहरहित भी ईश्वरको नित्यज्ञानकी सामर्थ्यद्वारा जगत्‌निर्माता माना था। किन्तु ईश्वरका ज्ञान उनके बूते नित्य नहीं सिद्ध हो सका। अतः निर्देहत्व हेतुसे ईश्वरमें जगत् निमित्तपनके अभावको साधनेवाला हमारा अनुमान अप्रतिहत है। नित्यज्ञानसे रहित कोई भी जीव देहरहित होता हुआ मुक्तआत्माके समान जगत्का निर्माता नहीं है।

कालादेरशरीरस्य कार्योत्पत्तिनिमित्तता।
सिद्धेति व्यभिचारित्वं निर्देहत्वस्य चेन्मतं ॥ १३ ॥
न तस्य पुरुषत्वेन विशिष्टस्य प्रयोगतः।
कालादेरशरीरत्वेश्वरत्वाव्यभिचारतः ॥ १४ ॥

नैयायिक कहते हैं कि शरीररहित भी आकाश, काल अदृष्ट आदिको यावत् कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारणपना सिद्ध है। इस कारण तुम जैनोंका निर्देहत्व हेतु व्यभिचारहेत्वाभास दोषसे सहित है, ऐसा मन्तव्य होनेपर तो आचार्य कहते हैं कि यों नहीं कहना। क्योंकि वह केवल "निर्देहत्व" इतना ही हेतुका शरीर नहीं है। किन्तु पुरुषपने करके विशिष्ट हो रहे उस निर्देहत्व हेतुका प्रयोग किया गया है। अतः काल आदिकसे व्यभिचार दोष नहीं है। क्योंकि कालादिकोंमें अशरीरत्व है। किन्तु विशिष्टपुरुष (ईश्वर) पना नहीं है। कालादिकमें शरीररहित ईश्वरपनका व्यवहार नहीं होता है। अतः कालादिमें हेतुका पूरा शरीरघटित नहीं होनेसे व्यभिचारदोष नहीं फटक पाता है।

देहाभिष्क्रान्तो निर्देहः पुरुषविशेषो महेश्वरस्तस्य निर्देहपुरुषत्वं ततः पुरुषत्वे सति निर्देहत्वादिति पुरुषत्वेन विशिष्टस्य निर्देहत्वस्य प्रयोगान्न कालादिना सर्वकार्योत्पत्तिनिमित्तेनाशरीरेण व्यभिचारित्वं यतोऽप्रतिहतमिदमनुमानं न स्यादशरीरेश्वरजगन्निमित्तत्वाभावसाधनं। किं च—

हमारे निर्देहत्व हेतुके पेटमें ही पुरुषविशेषपना घुसा है। जैसे कि अज्ञानी कह देनेसे पर्युदासवृत्ति करके जीव उसके पेटमें घुसा हुआ है। अज्ञानी कोई डेल नहीं होता है। देहसे जो निष्क्रांत होरहा है वह विशेषपुरुष महेश्वर निर्देह है " निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पंचम्या: " इससे यहां तत्पुरुष समास होजाता है। उस निर्देह पुरुषके भावको निर्देहपुरुषत्व कहते हैं। " भावे त्वतलौ " भावमें त्व प्रत्यय कर दिया गया है। तिस कारण " पुरुषत्वे सति निर्देहत्वात् " पुरुष होते हुये निर्देहपना इतना हेतु बना है। इस पुरुषत्व करके विशिष्ट होरहे निर्देहत्व हेतुका प्रयोग कर देनेसे सर्व कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्त माने जारहे किन्तु शरीररहित जड काल, आकाश, आदि करके हेतुका व्यभिचार दोष नहीं आता है। जिससे कि हम जैनोंका यह अशरीर ईश्वरमें जगत्के निमित्तपनके अभावको साधनेवाला अनुमान अप्रतिहत (अकाट्य) नहीं होजाय। अर्थात्—हमारा अनुमान निर्दोष है। दूसरी बात एक यह भी है, उसको अगली वार्तिकसे सुनो !

जगतां नेश्वरो हेतुरज्ञत्वादन्यजंतुवत्।
न ह्यसावशरीरत्वान्मुक्तवत्सोन्यथा सवित्॥ १५॥

ईश्वर (पक्ष) तीनों जगत्का निर्माणकर्त्ता हेतु नहीं है (साध्य) अज्ञ होनेसे (हेतु) अन्य जंतुओंके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमानका हेतु पक्षमें ठहर जाता है। अतः असिद्ध हेत्वाभास नहीं है। देखिये, वह ईश्वर (पक्ष) ज्ञाता नहीं है (साध्य) शरीररहित होनेसे (हेतु) मुक्त आत्माके समान, अन्यथा यानी शरीररहित भी ईश्वरको यदि ज्ञायक मान लिया जायगा तो वह मुक्त आत्मा भी ज्ञानी बन बैठेगा। अर्थात्—वैशेषिकोंने मोक्ष अवस्थामें आत्माके बुद्धि आदि नौ विशेष गुणोंका अत्यन्त उच्छेद इष्ट कर लिया है। " नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदो मुक्तिः "। कोई विद्वान् यों भी बखानते हैं " एकविंशतिदुःखध्वंसो मोक्षः "। छह इन्द्रियां, ६ छह इन्द्रियोंके विषय १२ और ६ इन्द्रियोंके ज्ञान १८ सुख १९ दुःख २० और शरीर २१ यों इक्कीस दुःखोंका मुक्ति अवस्थामें विनाश होजाता है। यद्यपि घट, डेल आदि पदार्थोंमें आत्मसंबंधी नौ विशेष गुण या इक्कीस दुःख नहीं हैं। अतः घट आदिको भी मुक्तपनेका अतिप्रसंग यों नहीं होसकता है कि मोक्ष अवस्थामें गुणोंका या दुःखों का ध्वंस उपजना चाहिये। प्रतियोगियोंका प्रथम सद्भाव होने पर तो पुनः उनका ध्वंस हो सकता है। किन्तु घट आदिमें ज्ञान आदि गुणों या दुःखोंका प्रथमसे ही अत्यन्ताभाव है। अतः अतिव्याप्ति दोष नहीं आता है। जैनोंके यहां भी इस अतिप्रसंगके निवारणार्थ कर्मोंके ध्वंसको मोक्ष मानते हुये इसी उपायका अवलम्बन लिया जा रहा है। तभी डेल, घडा, आदिमें मुक्तपनका अतिप्रसंग टल सका है। आचार्य कहते हैं कि वैशेषिकोंके यहां मुक्ति अवस्थामें आत्मा शरीररहित होता संता ज्ञानरहित भी हो जाता है। इसी मुक्तदृष्टान्तके अनुसार शरीररहित होनेसे अज्ञ बन गये ईश्वरकरके जगत्का निर्माण

नहीं हो सकता साध दिया जाता है । यहां इतना और समझ लेना चाहिये कि ज्ञेय और ज्ञानवान्में अन्तर है । " जानाति इति ज्ञः " जो आत्मा निज ज्ञानपरिणतिके साथ तदात्मक हो रहा सन्ता जानता है, वह ज्ञ है । वैशेषिक और नैयायिक विद्वान् तो गुण और गुणीका भेद मानते हैं । उनके यहां " ज्ञ " शब्द ही अलीक है । वे दण्डवान् पुरुषः के समान ज्ञानवान् आत्मा यों कह सकते हैं । आत्माका गांठका निजस्वरूप ज्ञान नहीं है । ऐसी दशामें केवल ईश्वर या मुक्त आत्मायें ही नहीं, किन्तु सभी जीवोंकी आत्मायें अज्ञ ठहरती हैं । जो मूल स्वरूपसे अज्ञ है आकाशके समान वह ज्ञानके योगसे भी " ज्ञ " नहीं हो सकता है । अतः आचार्योंकी ओरसे कहा गया अज्ञपना हेतु साभिप्राय है ।

एतेनानित्यज्ञानत्वेपीश्वरस्य ज्ञत्वा जगन्निमित्तत्वसिद्धेर्न मुक्तात्मवत्तदनिमित्तत्वमित्येतन्निरस्तमशरीरस्य, तन्मते सर्वथाप्यज्ञत्वात् । तस्य ज्ञत्वे मुक्तात्मनोपि ज्ञत्वप्रसंगाद्विशेषाभावात् ।

इस उक्त कथन करके वैशेषिकोंके इस कथनका भी निराकरण किया जा चुका समझो कि अनित्य ज्ञानसे युक्त हो रहे भी ईश्वरको कारणोंका परिज्ञान कर जगत्का निमित्तपना सिद्ध हो जाता है । इस कारण मुक्त आत्माके समान ईश्वरको उस जगत्का अनिमित्तपना नहीं है । अर्थात्—मुक्त आत्मा तो सर्वथा ज्ञानसे रहित है । किन्तु ईश्वर अनित्यज्ञानसे युक्त है । अतः जगत्का निमित्तकारण हो सकता है । इस वैशेषिकोंके मतका निराकरण यों हो जाता है कि उनके मतमें शरीररहित आत्माको सभी प्रकारोंसे अज्ञ माना गया है । यदि अशरीर भी उस ईश्वरको ज्ञ माना जायगा तब तो मुक्त आत्माको ज्ञ-पनेका प्रसंग होगा । क्योंकि ईश्वर और मुक्त आत्मामें विशेषाधायक अन्तरका अभाव है ।

सदेहबुद्धिमद्धेतुर्दृष्टांतोपि घटः कथं ।
निर्देहबुद्धिमद्धेतौ साध्ये जगति युज्यते ॥ १६ ॥

जगत्में निमित्तकारण माने गये देहरहित बुद्धिमान्को साध्य करते संते भला देहसहित बुद्धिमान्, कुलालको अपना हेतु मानकर उपजा घट दृष्टान्त भी किस प्रकारसे युक्त हो सकता है ? अर्थात्—साध्यकोटिमें देहरहित बुद्धिमान् है और घटदृष्टान्तकी सामर्थ्यसे देहसहित बुद्धिमान् निमित्तकारण सध जायगा । ऐसी दशामें हेतुके विरुद्धहेत्वाभास हो जानेकी सम्भावना है ।

धीमद्धेतुत्वसामान्यं साध्यं चेन्निर्विशेषकं ।
नानाधीमन्निमित्तत्वसिद्धेः स्यात् सिद्धसाधनम् ॥ १७ ॥
नानात्मपरिणामाख्यभावकर्मनिमित्तकं ।
सिद्धं हीदं जगत्तस्य तद्भोग्यत्वप्रसिद्धितः ॥ १८ ॥

वैशेषिक यदि विशेषोंसे रहित केवल बुद्धिमान् हेतुसे उत्पन्न सामान्यको साध्य करेंगे तब तो जगत्का निमित्तपना नानाबुद्धिमानोंको सध जायगा। ऐसी दशामें वैशेषिकोंके ऊपर सिद्धसाधन दोष लगा। अर्थात् -धूम हेतु द्वारा जैसे तृणसम्बन्धी पत्तोंसम्बन्धी और घास या चौकी आग इत्यादि विशेषताओंको नहीं कर कोरे अग्निसामान्यको साधा जाता है, उसी प्रकार जगत्का निर्माण कर्ता सामान्यरूपसे बुद्धिमान् साधा जाता है। सर्वज्ञता, अल्पज्ञता, बहुज्ञता, मतिज्ञानीपन, प्रत्यक्ष-ज्ञानीपन आदि विशेषताओंको नहीं खोला गया है। यों मान लेनेसे वैशेषिकोंके ऊपर आये हुये पूर्व कटाक्षोंका तो निवारण तो होजाता है! किन्तु इतना, शरीर, इन्द्रिय आदि कार्यजगत्के निर्माणकर्ता अनेक आत्माओंकी सिद्धि बन बैठती है हम स्याद्वादियोंके यहां वृक्ष, फल, फूल, आदिको पौद्गलिक नामकर्मकी प्रेरणा अनुसार बनानेवाले उनमें निवास कर रहे जीव ही माने गये हैं। देवदत्तकी आत्मा देवदत्तके शरीरको बना लेती है। चींटीकी आत्मा चींटीके शरीर, अवयव, इन्द्रियां, रक्त, धातु, मल आदिको बना लेती है। पौद्गलिक अदृष्ट या अन्यपदार्थ भी भले ही उपादान कारण या निमित्त कारण हो जांय, गर्भमें ही पत्नीके शरीरको बनानेमें पतिका अदृष्ट निमित्त होजाय, किन्तु कर्त्ता स्वरूप निमित्त कारण वे वे जीव ही पडते हैं। अतः हमारे माने हुये सिद्धांतको ही तुम अनुमान द्वारा साध रहे हो, तुम पर यह सिद्धसाधन दोष हुआ। यह जगत् (पक्ष) अनेक आत्माओंके नैमित्तिक परि-णामों नामक भावकर्मको निमित्त मानकर उपजा सिद्ध होरहा है (साध्य) क्योंकि उस जगत्को उन अनेक आत्माओंके भोग्यपनकी प्रसिद्धि होरही है (हेतु) वैशेषिकोंने भी संपूर्ण कार्योंके प्रति साक्षात् या परंपरया अदृष्टको निमित्तकारण अभीष्ट किया ही है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, सभी जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा स्वोपार्जित कर्मोंकी सामर्थ्य अनुसार अंतरंग, बहिरंग, अनेक कार्योंको बना लेते हैं। दीमक अच्छा घर बना लेती है, चिडिया उत्तम घोंसला बना लेती है, चौ इन्द्रिय जीव घरघुली मिट्टीका सुंदर घर बना लेती है। महलोंके समान इन घरोंमें भी द्वार, बच्चोंके स्थान, सोने, बैठनेके स्थल, खाद्य सामग्रीके एकत्रित करनेके स्थान, विपत्तियोंसे बचे रहनेके उपाय ये सब क्षुद्र कीटों द्वारा बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक निजपुरुषार्थ द्वारा बना लिये जाते हैं। ज्ञान या ज्ञानी सभी कार्योंको बना डालता है। हिताहितप्राप्तिपरिहार कर लेता है। आत्मा अपनी पर्याप्ति शक्तिद्वारा शरीर, इन्द्रिय, आदिको बना लेता है। काल, आकाश, आदिको निमित्त पाकर और भावकर्मोंको प्रेरक निमित्त पाकर यह आत्मा अनेक चमत्कारक कार्योंको बातकी बातमें बना डालता है। इसमें कृतकृत्य ईश्वरको घसीटनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। संपूर्ण जगत्को अनेक बुद्धिमान् बना डालते हैं, जैसे कि प्रत्येक पुरुष व्यक्ति अपने अपने मूत्र, मल, रेचन, भोजन, गमन, आदि कार्योंको बना लेता है, अथवा प्रत्येक गृहस्थ अपनी गृहस्थ उचित क्रियाओंका स्वयं विधाता है। सिपाई या राजा अपने कर्त्तव्योंको पाल रहे हैं। उसी प्रकार अनेक कार्योंका पिण्ड होरहा यह जगत् भी अनेक आत्माओं करके ही बना लिया जाता है। प्रायः सभी कार्य पदार्थ किसी न किसीके अदृष्ट द्वारा बनाये जाकर साक्षात् या परंपरया भोग्य बने हुये हैं।

न हि धीमद्धेतुत्वमात्रं जगतां पर्यायार्थादेशादभ्युपगच्छतः स्याद्वादिनोऽपसिद्धांतः, सिद्धांतेपि नानाप्राणिपरिणामाख्यभावकर्मनिमित्तजगद्व्यवस्थितेः अन्यथा जगतस्तदुपभोग्यत्वविरोधात् ।

पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे तीनों या संपूर्ण जगत्के सामान्यरूप करके हेतु होरहे नाना बुद्धिमानोंको स्वीकार करते हुये स्याद्वादी पण्डितके यहां कोई अपसिद्धांत दोष नहीं है । अर्थात् — बुद्धिमान् जीवोंको जगत्का कारण मान लेनेसे स्याद्वादीका अपने सिद्धांतसे स्खलन नहीं होजाता है । क्योंकि जैनसिद्धांतमें भी अनेक प्राणियोंके परिणामसंज्ञक भावकर्मोंको निमित्त पाकर जगत् निर्माणकी व्यवस्था की गई है । अन्यथा यानी अनेक प्राणियोंको निमित्त नहीं मानकर यदि जगत्के कारण को दूसरे ढंगका माना जायगा तो जगत्को उन प्राणियोंके उपभोग करने योग्यपनका विरोध होजावेगा । सार यह है कि आत्माके पुद्गलस्वरूप कर्मोंको निमित्त पाकर हुये परिणाम भी चेतन आत्मक भावकर्म हैं । क्योंकि क्रोध, गति, वेद, उत्साह आदि भावकर्मोंका उपादानकारण आत्मा ही तो है । अतः आत्मा चाहे स्वपुरुषार्थसे अथवा भले ही स्वकीयपरिणाम होरहे भावकर्मोंसे कार्योंको करे, उन सर्व कार्योंका यथायोग्य भोग कर लेता है । "कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः सामानाधिकरण्यात्" । जो ही कर्त्ता है वही भोक्ता है । एक स्त्री यदि दश मनुष्योंकी रसोई बनाती है तो भले ही वह दशवें भागका उपभोग करती है । फिर भी गृहस्थसम्बन्धी कर्त्तव्य या प्रेमप्राप्ति, यशः आदिका आनंद पूरा ले लेती है । कुम्हार हजारों घडोंको बनाता है, सूचीकार (दर्जी) सैकडों कपडोंको सीवता है । सुनार दूसरोंके बीसों भूषणोंको रचता है । ये सब शिल्पकार उनका पारिश्रमिक व्यय यानी मूल्य प्राप्त कर उन कार्योंको भोग लेते हैं । कोई निःस्वार्थ देशसेवक या परोपकारी साधु अथवा औषधदानी वैद्य यदि अनेक कार्योंका संपादन कर रहे हैं तो उनको भी निःस्वार्थसेवा, स्वकर्तव्यपालन, स्वदेशीय अभिमान, यशःप्राप्ति, पुण्यसंचय, आदि उपभोगोंकी प्राप्ति विना चाहे ही होजाती है । अकामनिर्जरा भी होजाती है । यदि किसीको स्वकृतकार्योंका उपभोग न भी मिल सके तो हमारी यह व्याप्ति नहीं बनी है, जो जिसका कार्य है वह कार्य उसका उपभोग्य अवश्य है । हमने तो अनेक स्थलों पर वैसा देखकर स्वरूपकथन कर दिया है । अव्यभिचारी कार्यकारणभाव नहीं बना दिया है । दो, चार, स्थलपर घटित होजानेसे ही हमारा प्रयोजन सध जाता है । कार्यका अपने कारणोंके साथ अन्वयव्यतिरेक है । व्यापक, अशरीर, नित्य, ईश्वरके साथ कार्योंका अन्वयव्यतिरेक नहीं है । एतन्मात्र हमें सुझाना है ।

सशरीरः कुलालादिः कुर्वन् दृष्टो घटादिकं ।
स्वयमात्मा पुनर्देहमशरीरोपि विश्रुतः ॥ १९ ॥
सदेहेतरसामान्यस्वभावो जगदीश्वरः ।
करोतीति तु साध्येत यदा दोषस्तदा क सः ॥ २० ॥

इत्येके तदसंबंधं स्वशरीराणि कुर्वतां ।
शरीरांतरसंबंधात्मनां स्यान्नान्यथा क्रिया ॥ २१ ॥
परापरशरीराणां कल्पनान्नानवस्थितिः ।
तेषामनादिसंबंधात्कार्यकारणभावतः ॥ २२ ॥

यदि वैशेषिक यों कहे कि कुम्हार, कोली आदि आत्मायें शरीरसहित होरहीं घट आदि कार्योंको करती हुयीं देखी गयी हैं और फिर जन्मकी आदिमें स्वयं अशरीर होता हुआ भी आत्मा नवीनदेहको बना रहा प्रसिद्ध होरहा है । अतः जगत्का निमित्तकारण बुद्धिमान् आत्मा है। यहां देह सहित और देहरहित दोनों प्रकारके विशेष जीवोंमें वर्तरहे सामान्य स्वभावको धार रहा ईश्वर जगत्को बना रहा साधा गया है । साध्यकोटिमें देहसहित या देहरहित ऐसी कोई विशेषता नहीं डाल दी है । भावार्थ—कार्योंको बनानेमें कर्त्ताका शरीरसहितपना और शरीररहितपना उपयोगी नहीं है । शरीर-सहित आत्मा भी अनेक कार्योंको कर देते हैं, और शरीररहित भी आत्मा पहिले पहिले नये शरीरको या ज्ञान, इच्छा, प्रयत्नोंको बना देता है । अतः दोनों प्रकारकी आत्माओंका सामान्य स्वभाव होरहे आत्मत्वधर्मसे युक्त बुद्धिमानको हम वैशेषिक जगत्का कर्त्ता साध रहे हैं । भले ही दृष्टान्तमें शरीरसहित कर्त्ता होय और दार्ष्टान्तमें अन्य प्रमाणों करके वह कर्त्ता अशरीर साध दिया जाय, हमारी कोई क्षति नहीं है। ज्ञान, इच्छा, और प्रयत्नके साथ कर्त्तापनकी व्याप्ति है। शरीरसहितपन और शरीर-रहितपन कोई कर्त्तापनके प्रयोजक नहीं हैं । देखिये " पर्वतो वन्हिमान् धूमात् महानसवत् ,, यहां दृष्टान्त होरहे रसोई घरमें लक्कडोंकी आग है और पर्वतमें सूखे तृण या पत्तोंकी आग सुलग रही है । किन्तु सामान्य अग्निको साध्य करने पर कोई दोष नहीं आता है । इसी प्रकार यहां भी सामान्य स्वभाववाले बुद्धिमान्को जब अनुमान द्वारा साधा जावेगा तब तुम जैनोंकी ओरसे दिया गया वह सिद्धसाधन दोष कहां आया ? अर्थात्—हमारे ऊपर सिद्धसाधन दोष लागू नहीं है । तुम्हारे यहां असिद्ध होरहे पदार्थको हम साध रहे हैं, तुम्हारे यहां सिद्ध होरहे ही को हम नहीं साध रहे हैं, यहांतक कोई एक वैशेषिक पण्डित कह चुके हैं । आचार्य कहते हैं कि वैशेषिकोंका वह कहना संबंधयोज-नासे शून्य है । असम्बद्धप्रलापी होनेसे उनके पूर्वापरवचनोंकी संगति ठीक नहीं बैठती है । क्योंकि पूर्वकालीन अन्य सूक्ष्मशरीरोंके साथ संबंध रख रहे आत्माओंकी ही अपने शरीरोंको करते संते क्रिया होसकती है । अन्य प्रकारोंसे यानी शरीररहित आत्माओंकी क्रिया अपने नवीन शरीरको बनानेके लिये नहीं होसकती है । जैसे कि स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीरोंसे रहित होरहा मुक्त आत्मा पुनः अपने शरीरोंको नहीं बना सकता है । शरीररहित आकाश भी निजके पौद्गलिक शरीरका निर्माण नहीं कर पाता है । बीजांकुरधाराकरके अनादिकालसे चला आया छिलकासहित धान ही उपज

सकता है। एक बार छिल्का निकाल देनेपर वह धान्य पुनः नहीं उग सकता है। इसी प्रकार अनादिकालसे कार्यकारणप्रवाहकरके कर्म नोकर्मोद्वारा सशरीर हो रहा आत्मा ही उत्तरोत्तर अनेक शरीरोंको बना लेता है। कर्म, नोकर्म, शरीरोंसे रहित हो गये शुद्ध सिद्धपरमेष्ठी पुनः शरीरोंको नहीं रच पाते हैं। यदि यहां कोई अनवस्था दोष उठावे कि आत्मा इस वर्तमान शरीरको पूर्व शरीरसे सहित होकर बनावेगा और उस पूर्व शरीरको उससे भी पहिलेके शरीरसे सम्बन्धी होकर बनावेगा। यों पर, अपर, अनेक शरीरोंकी परिकल्पना करनेसे महान् अनवस्था दोष आता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसी अनवस्था दोषस्वरूप नहीं है। प्रत्युत गुण है। क्योंकि आत्माके साथ कार्यकारणभावमुद्रासे उन शरीरोंका अनादिसे सम्बन्ध होता चला आ रहा है, जैसे कि बीज वृक्ष या अण्डा मुर्गी इनमें अन्योन्याश्रय या अनवस्था दोष नहीं आते हैं। मूलको नष्ट करनेवाली अनवस्था तो दूषण है। किन्तु मूलको पुष्ट करनेवाली या कुलपरम्पराको बढानेवाली अनवस्था भूषण है। अतः युक्तियोंसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि शरीरसहित आत्मा ही अन्य शरीरोंको बनाता है। अतः तुम्हारे बुद्धिमान् कर्त्ताको साधनेवाले अनुमानमें घटदृष्टान्तकी सामर्थ्यसे सशरीरकर्त्ता ही सिद्ध हो पायगा। अशरीर नहीं और सामान्य बुद्धिमानोंको साध्य कोटिमें धरनेपर नाना बुद्धिमानोंको निमित्तपना सिद्ध हो जानेसे सिद्धसाधन दोष तुम वैशेषिकोंके ऊपर वैसाका वैसा ही अवस्थित बना रहता है।

पूर्वमतनुत्वे भरस्य।

कोई भी जीव पूर्वशरीरके बिना अन्य शरीरोंको नहीं बना सकता है। यदि शरीर बनानेके पूर्वमें आत्माको शरीररहित माना जायगा तब तो—

मुक्तस्येव न युज्येत भूयोन्यतनुसगतिः।
पारतन्त्र्यनिमित्तत्वं धर्माधर्मयोर्बुद्धिवत् ॥ २३ ॥

मुक्त आत्माके समान इस संसारीजीवका पुनः बहुतसे अन्य शरीरोंके साथ सम्बन्ध होना नहीं उचित हो सकेगा। अशरीर आत्मा फिर परतंत्र नहीं हो सकता है। यदि वैशेषिक यों कहें कि अशरीर होता हुआ भी आत्मा अपने अदृष्टसंज्ञक धर्माधर्म गुणों करके परतंत्र हो रहा बन्धनबद्ध हो जाता है, इसपर आचार्य कहते हैं कि जैसे आत्माका ज्ञानगुण आत्माको पराधीन नहीं करता है, उसी प्रकार आत्माके तुम्हारे यहां माने गये धर्म, अधर्म, गुण भी आत्माको परतंत्र बनानेके निमित्त नहीं हो सकते हैं। यदि अपने ही अंग, स्वभाव या गुण अपनेको पराधीन करने लगें तो सम्पूर्ण पदार्थ अपने स्वरूपोंका परित्याग कर बैठेंगे।

सा यद्यदृष्टसद्भावान्मता तस्य तु सिध्यतु।
पूर्वं कर्मशरीरेण संबंधः परविग्रहात् ॥ २४ ॥

यदि वह संसारी जीवोंकी परतंत्रता वैशेषिकोंके यहां धर्म, अधर्मस्वरूप अदृष्टका सद्भाव होनेसे मानी जायगी तब तो उस आत्माके पहिले कर्मशरीरके साथ सम्बन्ध सिद्ध हो गया, (हो जाओ) और वह कर्मका सम्बन्ध उससे भी पहिलेके दूसरे शरीरसे प्राप्त होकर सम्बन्धित हुआ समझा जायगा, यों जैनसिद्धान्तके सदृश तुमको भी मानना पड़ेगा ।

शरीरमात्मनोऽदृष्टं पुद्गलात्मकमीरितं ।
सर्वथात्मगुणत्वेस्य पारतंत्र्यानिमित्तता ॥ २५ ॥

आत्माका कर्मशरीर जो अदृष्ट माना गया है, वह पुद्गलस्वरूप कहा गया है । यदि इस अदृष्टको सर्वथा आत्माका गुण माना जायगा तो अदृष्टको इस आत्माके परतंत्र होनेमें निमित्त कारणपना नहीं सध सकेगा । द्रव्यको वैसाका वैसा ही अनादि, अनन्त, जीवित रखनेवाले गुण हुआ करते हैं । अपने हाथ, पांव, पेट ही यदि अपनेको फंसाने लगें तो ऐसी दशामें कोई पुरुष जीवित नहीं रह सकता है । बाढ ही खेतको खा जाय तो रक्षा कौन कर सकता है ।

न हि सर्वथात्मगुणत्वे धर्माधर्मसंज्ञकस्यादृष्टस्यात्मपारतंत्र्यनिमित्तत्वं युक्तं बुद्धिवत् । इच्छाद्वेषयोरात्मगुणत्वेप्यात्मपारतंत्र्यनिमित्तत्वसिद्धेर्युक्तमेवेति चेन्न, तयोः सर्वथात्मगुणत्वाभावात् कर्मोदयनिमित्तत्वेन भावकर्मत्ववचनात् । तयोरेवात्मपारतंत्र्यस्वभावत्वाच्च न पारतंत्र्यनिमित्तत्वं । मोहविशेषपारतंत्र्य एव हि पुरुषस्येच्छाद्वेषौ तदपरतन्त्रस्य क्वचिदभिलाषद्वेषासंभवात् । ततो न धर्माधर्मौ पुरुषगुणौ पुरुषपारतंत्र्यनिमित्तत्वान्मोहविशेषान्निगलादिवत् । किं तर्हि ? पुद्गलपरिणामात्मकौ तौ तत एव तद्वत् पुद्गलपरिणामविशेषात्मकत्वाच्चादृष्टस्यात्मशरीरत्वमुपगतमिति नौदारिकादिशरीरसंबंधात्पूर्वमदृष्टवशवर्त्यात्मा निर्देहो युक्तः । यस्तु निर्देहो मुक्तात्मा स न कस्यचिच्छरीरस्यारंभको भवति यतस्तद्वदीश्वरोपि जगतोऽहेतुः स्यात् ।

यदि धर्म, अधर्म, इस संज्ञाको धारनेवाले अदृष्टको सभी प्रकारोंसे आत्माका गुण होना माना जायगा तो उस अदृष्टको आत्माकी परतंत्रताका निमित्तकारणपना समुचित नहीं पडेगा, जैसे कि आत्माके गुण होरही बुद्धि उसी आत्माके "सन्निपातपरिभाषा" अनुसार पराधीन नहीं कर डालती है । यदि वैशेषिक यों कहें कि इच्छा और द्वेषको आत्माका गुणपना होते हुये भी आत्माकी परतंत्रताका निमित्तपना सिद्ध होरहा है, जैनोंके यहां भी इच्छा और द्वेषकरके संसारी आत्माओं के कर्म बन्ध होरहा अभीष्ट किया है । इस कारण धर्म अधर्म गुणोंको भी आत्माकी परतंत्रताका निमित्तपना युक्तिपूर्ण ही है । ग्रंथकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि उन इच्छा द्वेषोंको सभी प्रकारोंसे आत्माका गुणपना नहीं है । कर्मोंके उदयको निमित्त पाकर हुये उन इच्छा और द्वेषोंको भावकर्मपनेसे

निरूपण किया गया है । औदयिक भाव आत्माके गुण नहीं हैं । गुण तो त्रिकालवर्ती, अनुजीवी, होते हैं । अपने आत्मलाभमें दूसरे पदार्थकी अपेक्षा नहीं करते हैं । पुण्य, पाप, या क्रोध, इच्छा, द्वेष आदि औदयिकभावोंको आत्माका गुण कहना गुणशब्दका भारी तिरस्कार करना है । दूसरी बात यह है कि परिपूर्ण चारित्रस्वरूप आत्माकी राग, द्वेष, मोह, इच्छा आदि विभावों करके परिणति होजाना ही तो परतंत्रता है । अतः आत्माके विभावपरिणाम इच्छा और द्वेष तो परतंत्रस्वभाव ही हैं । परतंत्रताके निमित्त नहीं हैं । मोहनीय कर्मकी क्रोध, लोभ, रति, अरति आदि विशेषप्रकृतियोंके उदयसे हुई विशेष मोहस्वरूप परतंत्रता ही तो आत्माके इच्छा और द्वेषपरिणाम हैं । जो क्षीणमोह आत्मा उस मोहनीय कर्मविशेषके पराधीन नहीं है, उसके कहीं भी अभिलाषा और द्वेष नहीं सम्भवते हैं । तिस कारणसे यों अनुमान बना कर सिद्ध कर दिया जाता है कि धर्म और अधर्म (पक्ष) आत्माके गुण नहीं हैं । (साध्य) आत्माकी परतंत्रताके निमित्तकारण होनेसे (हेतु) सांकल, लेज, वशीकरण चूर्ण आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त) । इस युक्तिसे धर्म, अधर्म या इच्छा द्वेष ये आत्माके परिणाम नहीं सध पाते हैं । तब तो यह अदृष्ट क्या पदार्थ है ? इसका समाधान यह है कि वे धर्म अधर्म (पक्ष) पुद्गलद्रव्यके परिणामस्वरूप हैं (साध्य) । उससे ही यानी आत्माके परतंत्रपनका निमित्त कारण बन रहे होनेसे (हेतु) उसीके समान यानी सांकल, जाल, पींजरा आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त) । इस अनुमान द्वारा अदृष्टको पुद्गलका परिणाम साध दिया है, जैसे कि यह स्थूल शरीर पुद्गलका परिणाम होनेसे आत्माका गुण नहीं होता हुआ आत्माका बहिरंगशरीर माना जाता है, उसी प्रकार पुद्गलद्रव्यका विशेष परिणामस्वरूप होनेसे अदृष्ट भी आत्माका सूक्ष्मशरीर स्वीकृत कर लिया जाता है । इस कारण जन्मते समय औदारिकादि शरीरोंके साथ सम्बन्ध होनेसे पहिले अदृष्टके वशमें वर्त रहा यह आत्मा सर्वथा देहरहित कहा जाय यह युक्तिपूर्ण नहीं है । अर्थात्— देह रचनेके पहिले भी आत्मा अदृष्ट नामक सूक्ष्मशरीरसे युक्त हो रहा सशरीर है । निःशरीर नहीं है । हां, जो मुक्त आत्मा स्थूल, सूक्ष्म, सभी देहोंसे रहित है यह तो किसी भी शरीरका आरम्भ रच देनेवाला नहीं है । जिससे कि उस मुक्त आत्माके समान शरीररहित ईश्वर भी जगत्का निमित्त कारण हो जाता । भावार्थ—अशरीर, मुक्त, आत्माके समान शरीररहित ईश्वर भी जगत्का निमित्तकारण होकर कर्त्ता नहीं है ।

सांप्रतं सदेहेश्वरवादिमतमाशंक्य प्रतिविधत्ते ।

अब इस समय ग्रन्थकार ईश्वरको देहधारी माननेवाले पौराणिकवादियोंके मतकी आशंका उठाकर उस पौराणिकोंके मतका भी खण्डन करे देते हैं ।

क्षित्यादिमूर्तयः संति महेशस्य तदुद्भवे ।
स एव हेतुरित्यादि व्यभिचारो न चेद्भवेत् ॥ २६ ॥

तथान्येपि किमात्मानः स्वमूर्त्युत्पत्तिहेतवः ।
स्वयं न स्युरितीशस्य क सिध्येत्सर्वहेतुता ॥ २७ ॥

पुराण या स्मृतियोंको माननेवाले पौराणिक या स्मार्त सम्प्रदायवालोंका यह मत है कि " या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री, ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वं । यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः । प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥ १ ॥ (शकुन्तला नाटक) । महेशकी १ जल २ अग्नि ३ होता ४ सूर्य ५ चन्द्रमा ६ आकाश ७ पृथ्वी ८ वायु ये आठ मूर्तियां (शरीर) हैं । विशेषरूपसे विष्णु सम्प्रदायवाले विष्णु भगवान्के दश या चौबीस अवतारोंको मानते हैं । शैव आम्नायवालोंने भी महादेवके कतिपय शरीरधारी अवतार इष्ट किये हैं । यहां प्रकरणमें यह कहना है कि " भूतानि यज्वा सूर्याचन्द्रमसौ च " महेशकी पृथिवी आदि आठ मूर्तियां (शरीर) हैं । उन मूर्तियोंके उत्पन्न करनेमें वही महेश निमित्तकारण है । आचार्य कहते हैं कि आठ मूर्तियों या वराह, मत्स्य, आदि या महाकाल आदि अपने शरीरोंको बनानेमें यदि व्यभिचारदोष नहीं आवेगा, तब तो महेश या विष्णुके समान अन्य भी आत्मायें स्वयं अपने अपने शरीरोंकी उत्पत्तिके कारण क्यों नहीं हो जावेंगीं ? ऐसी दशामें भला ईश्वरको सम्पूर्ण जगत्का निमित्तकारणपना कहां सिद्ध हो सका ? अर्थात्—ईश्वर अपने शरीरको बना लेता है, और अन्य प्राणी अपने अपने शरीरोंको रच लेते हैं । बिचारा अकेला ईश्वर सम्पूर्ण जगत्का कर्ता नहीं है ।

कुर्वन् क्षित्यादिमूर्तीश्च स्वमूर्तिं तत्प्रयोगतः ।
मूर्त्यंतराणि कुर्वीत यदि वानादिभिर्यतः ॥ २८ ॥
गत्वा सुदूरमप्येवं यदि मूर्तीर्न काश्चन ।
कुर्यात्ताभिस्तदा हेतोरनैकांतिकता न किं ॥ २९ ॥

वैशेषिक कहते हैं कि जिस प्रयोगसे वह ईश्वर पृथ्वी, जल आदि अपनी आठ मूर्तियोंको बना रहा है, उसी प्रयोगसे अनादि धारावाले पृथिवी आदि भूतोंकरके अपने शरीरको और दूसरे प्राणियोंके शरीरोंको कर देवेगा । आचार्य कहते हैं कि यदि तुम यों कहोगे तब तो उन मूर्तियोंको बनानेके लिये पहिले क्षिति आदिको बनाया होगा और उन क्षिति आदि मूर्तियोंके लिये उससे भी पहिली क्षिति आदि मूर्तियोंको बनाना पडा होगा । यों अनवस्था आती है । इसके निवारणार्थ बहुत दूर भी जाकर यदि किन्हीं क्षिति आदि मूर्तियोंको ईश्वरकृत नहीं माना जावेगा तब तो उन्हीं मूर्तियों करके तुम्हारे हेतुका व्यभिचारीपना क्यों नहीं बन बैठेगा ? अर्थात्—अनवस्थाको दूर करनेके लिये

बहुतकाल पहिलेकी जिन मूर्तियोंको आपने ईश्वरकरके बनाई हुई नहीं माना है, उनमें सन्निवेश यह हेतु तो रह गया और बुद्धिमान् कारणसे जन्य होना यह साध्य नहीं रहा। अतः व्यभिचारी हुआ।

अनादिमूर्तिभिस्तस्य संबंध इति चेन्मतं।
किं हन्त्यनादिता तासां सन्निवेशविशिष्टतां॥ ३०॥
न चेत्ताभिर्महेशेनाकृताभिर्व्यभिचारिता।
साधनस्य कृताभिर्वा तेनैतामनवस्थितिं॥ ३१॥
केवलं मुखमस्तीति यत्किंचिदभिधीयते।
मिथ्योत्तराणामानंत्यात्प्रेक्षावत्ता नु तत्र का॥ ३२॥

इस व्यभिचारका निवारण करनेके लिये अनादिकालसे बनी चली आरहीं क्षिति, आदि मूर्तियोंके साथ यह ईश्वरका संबन्ध यदि इष्ट किया जायगा, यों मंतव्य होनेपर तो आचार्य पूछते हैं कि उन मूर्तियोंकी अनादिता क्या रचनाकी विशिष्टता (हेतु) को मार डालती है ? बताओ। यदि अनादि मूर्तियोंमें सन्निवेशविशेष है तो तुम्हारे ऊपर हेतुका व्यभिचार दोष तदवस्थ है। जब कि उन मूर्तियोंका अनादिपन सन्निवेशविशेषका विघात नहीं कर सकता है और अनादिकालीन पृथिवी आदि मूर्तियां महेशकरके नहीं की जाचुकीं हैं तो तुम्हारे " सन्निवेशविशिष्टत्व " साधनका उन मूर्तियों करके व्यभिचार हुआ। यदि उन अनादि मूर्तियोंको तिस ईश्वर करके किया हुआ माना जायगा तो व्यभिचार-दोष दूर होजायगा किंतु उन मूर्तियोंको बनानेके लिये पुनः मूर्तियां बनाई गई होंगी और उनके लिये भी पूर्व मूर्तियां बनाई गई होंगी, यों मूर्तियोंकी धारा करके हुये इस अनवस्थादोषको तुम दूर नहीं कर सकते हो। " मुखमस्तीति वक्तव्यं " यदि फोकटका मुख है तो कुछ न कुछ बोलते रहना चाहिये, इस लोकनीतिके अनुसार जो कुछ भी अन्ट, सन्ट, तुम कहे जाते हो। जगत्में मिथ्या उत्तर अनन्त हैं। हम ईश्वरके कर्तृत्वका निराकरण करनेके लिये जितने समुचित आक्षेप करते हैं, तुम उनके अनन्त मिथ्या उत्तर दे देते हो। यह तो वही एक ग्रामीणपुरुषका विजय जैसा हुआ कि कोई गमार यों कहता फिरता था कि मैं काशी गया और सब पण्डितोंको हरा आया। उन्होंने सैकडों बातें कहीं मैंने उनकी एक भी नहीं मानी। कुछ न कुछ बके ही चला गया। देखो, ऐसी दशामें वहां प्रेक्षावान्पना भला कहां रहा ? युक्तिरहित बकनेवाले पुरुष हिताहितका विचार करनेवाले नहीं माने जाते हैं। ऐसे पुरुषोंका न्यायपूर्वक वाद विवाद करनेमें अधिकार नहीं है।

ततः सूक्तमेतत् संदेहेश्वरवादिनां सन्निवेशविशिष्टत्वादिति हेतुरीश्वरेणेन व्यभिचारीति।

तिस कारण हमने वहीं नौवीं वार्तिकमें यह बहुत अच्छा कह दिया था कि देहसहित ईश्वरको माननेवाले पौराणिकवादियोंके यहां " सन्निवेशविशिष्टत्वात् " यह हेतु ईश्वरके शरीरकरके ही व्यभिचार दोषवाला है। यहांतक आचार्योंने सन्निवेशविशेषत्व हेतुके ऊपर नौवीं वार्तिकके पूर्वार्ध करके उठाये गये व्यभिचारदोषकी पुष्टिको परिसमाप्त कर दिया है, यही इति शब्दका भाव है।

बुद्धिमद्धेतुकं यादृग्दृष्टं हर्म्यगृहादिषु।
संनिवेशविशिष्टत्वं तादृग्जगति नेक्ष्यते ॥ ३३ ॥
इति हेतोरसिद्धत्वं कैश्चिदुक्तं न युज्यते।
तथा सर्वेष्टहेतूनामसिद्धत्वप्रसंगतः ॥ ३४ ॥

श्री विद्यानंद आचार्य कहते हैं कि किन्हीं किन्हीं विद्वानोंने वैशेषिकोंके सन्निवेशविशिष्टत्व हेतुको यों असिद्ध हेत्वाभास कहा है कि जिस प्रकारका हवेली, गृह, झोंपडे, आदिमें बुद्धिमान् हेतुओंसे जन्य हो रहे सन्ते सन्निवेशविशिष्टपना देखा जाता है, वैसा रचनाविशेष तो जगत् स्वरूप पक्षमें नहीं देखा जाता है। इस कारण पक्षमें हेतुके नहीं ठहरनेसे हेतुका असिद्ध हेत्वाभास दोष हुआ। अर्थात्—प्रमेयकमलमार्तंडमें भी यों लिखा है कि " अस्तु वाऽविचारितरमणीयं बुद्धिमत्कारणत्व व्याप्तं कार्यत्वं तथाप्यत्र यादृग्भूतं बुद्धिमत्कारणत्वेऽभिनवकूपप्रासादादौ व्याप्तं कार्यत्वं प्रमाणतः प्रसिद्धं यदक्रियादर्शिनोपि जीर्णकूपप्रासादादौ लौकिकेतरयोः कृतबुद्धिजनकं तादृग्भूतस्य क्षित्यादावसिद्धेरसिद्धो हेतुः सिद्धौ वा जीर्णकूपप्रासादादाविवाऽक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्धिप्रसंगः " इत्यादि पंक्ति करके पक्ष और दृष्टान्तमें थोडासा अन्तर दिखलाकर असिद्ध हेत्वाभास उठाया गया है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह असिद्ध हेत्वाभासका कथन युक्त नहीं है। क्योंकि यों तो तिस प्रकार इष्ट हो रहे सम्पूर्ण हेतुओंके असिद्धपनका प्रसंग हो जायगा, जैसा धुआं महानसमें समान आकृतिवाला देखा जा चुका है, वैसा पर्वतमें नहीं दीख रहा है। " शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् घटवत् " यहां जैसा कुलाल, दंड, मृत्तिका आदि कारणोंसे बनाया गयापन घटमें दृष्टिगोचर हो रहा है, वैसा कृतकपना शब्दमें नहीं प्रतीत होता है। शब्दके उपादान कारणका ही प्रत्यक्ष नहीं है। बात यह है कि थोडे थोडे अन्तरसे हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास नहीं हो जाता है। तुच्छतापूर्ण दोषोंसे किसीका तिरस्कार हमें नहीं करना है।

कृतधीजनकं तद्धि नाक्रियादर्शिनो यथा।
क्वचित्तथा न धूमादिरग्न्यादिज्ञानकारणं ॥ ३५ ॥
वन्ह्यादिबुद्धिकारित्वं स्वयंसिद्धस्य सिद्धता।
धूमादेः साधनस्यैतत्सिद्धौ वन्ह्यादिधीरिति ॥ ३६ ॥

यथान्योन्याश्रयस्तद्वत्प्रकृतेपि हि साधने ।
कृतधीजनकत्वेस्य सिद्धतायां कृतत्वधीः ॥ ३७ ॥
ततोनैकांतिको हेतुरेष वाच्यः परीक्षकैः ।
कार्यत्वार्थक्रियाकृत्वप्रमुखोऽनेन वर्णितः ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा, समुद्र आदि स्वरूप कचित् जगत्में अक्रियादर्शी पुरुष के " किया गया " इस बुद्धिका जनकपना नहीं है, उसी प्रकार धूम आदिक हेतु भी अग्नि आदि साध्योंकी ज्ञप्तिके कारण नहीं हो सकेंगे । अर्थात् नवीन कुएं, कोठियां, महल आदि कोंको बनता हुआ देख कर साधारण मनुष्योंके भी " ये किये गये हैं " यह बुद्धि उपज जाती है । उसी प्रकार जीर्ण कुए, गृहोंके खंडहर, पुराने मंदिर, मूर्तियां, घडे, इन्टे, आदिमें भी " ये किसी न किसी करके बनाये गये हैं " यह बुद्धि उपज आती है । भले ही आधुनिक पुरुषोंने हजार वर्ष पहिले बने हुये पुराने खण्डहरोंके बननेकी क्रियाको आंखोंसे देखा नहीं है । किन्तु पृथिवी, सूर्य, चंद्रमा आदिमें किसी भी अक्रिया दर्शीको " ये बनाये गये हैं " ऐसी बुद्धि नहीं होती है । अतः हेतु असिद्ध है । आचार्य समझाते हैं कि यों थोडासा अंतर तिस प्रकार पक्ष और दृष्टांतमें पडजानेसे धूम आदि भी अग्निका अनुमान नहीं करा सकेंगे । असिद्ध हेत्वाभासको उठाने वाले दूसरा कटाक्ष यों करते हैं कि जिस प्रकार धूम आदि हेतुओंको अग्नि करके स्वयं निर्मितपना सिद्ध होजाय तब तो वन्हि आदिकी बुद्धि करा देना होकर सिद्धता आवे और धूम आदिकी सिद्धता होजानेपर वन्हि आदिकी बुद्धि कराई जा सके । यों जिस प्रकार अन्योन्याश्रय प्रसिद्ध हेतुमें दिया जासकता है, उसी प्रकार प्रकरण प्राप्त सन्निवेशविशिष्टत्व हेतुमें भी परस्पराश्रय दोष दिया जा सकता है कि इस हेतुके द्वारा सूर्य, पृथिवी आदिमें " किये गये हैं " इस बुद्धिका जनकपना सिद्ध होय तब तो सूर्य आदिमें कृतपनेकी बुद्धि होय और सूर्य आदिमें किया गयापन सिद्ध होय तब " किये गये हैं " इस बुद्धिका उत्पादकपना प्रसिद्ध होसके । अर्थात्–सन्निवेशविशिष्टत्व हेतुमें जैसा अन्योन्याश्रय दोष उठाया जाता है वैसा धूम आदि प्रसिद्ध हेतुओंमें भी अन्योन्याश्रय जमाया जा सकता है । तिस कारणसे परीक्षक विद्वानों करके यह " सन्निवेशविशिष्टत्व " हेतु अनैकांतिक हेत्वाभास ही कहना चाहिये । केवल व्यभिचार दोष करके ही इस हेतुकी निंदा करना थोडा नहीं है । इस सन्निवेशविशिष्टत्व हेतुका कथन कर देनेसे वैशेषिकोंके कार्यत्व हेतु, अर्थक्रियाकारित्व हेतु, स्थित्वाप्रवृत्ति हेतु, अचेतनत्व हेतु, विनाशित्व हेतु, आदिका भी वर्णन कर दिया समझ लेना चाहिये । अर्थात्–कार्यत्वादि हेतु भी ईश्वरको जगत्का कर्त्तापन साधनेमें ईश्वर देह करके व्यभिचार दोषवान् हैं । इनमें भी उक्त रीत्या निर्बल असिद्ध दोषको नहीं उठाकर पुष्ट व्यभिचार दोषको लगियेगा ।

यथैव हि सन्निवेशविशिष्टत्वादिति हेतुर्नासिद्धः शक्यो वक्तुमिष्टहेतुनामप्यासिद्धत्वप्रसंगात्। किं तर्हि ? परीक्षकैरनैकांतिको वाच्यस्तथा कार्यत्वादचेतनोपादानत्वादर्थक्रियाकारित्वात् स्थित्वाप्रवृत्तेः, इत्येवमादिरपीश्वरदेहेनानैकांतिक एव सर्वथा विशेषाभावात्। अपि च--

कारण कि जिस ही प्रकार " सन्निवेशविशिष्टत्वात् " यह हेतु असिद्ध हेत्वाभास नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यों अन्ट, सन्ट, दोष लगादेनेपर तो धूम आदि इष्ट हेतुओंको भी असिद्ध हेत्वाभास होजानेका प्रसंग आजावेगा, जो कि जैनोंको अभीष्ट नहीं है। तो फिर इस वैशेषिकोंके हेतुमें क्या दोष लगाया जाय ? इसका उत्तर यही है कि परीक्षकों करके यह हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास कह कर ठहरा दिया जाय, तिस ही प्रकार कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व, अर्थक्रिया-कारित्व, स्थित्वाप्रवृत्ति, इत्यादि इस प्रकारके अन्यहेतु भी ईश्वरके शरीर करके अनैकान्तिक हेत्वाभास ही हैं। क्योंकि सन्निवेशविशिष्टत्वसे कार्यत्वादि हेतुओंमें कोई अन्तर नहीं है। अर्थात्— वैशेषिकोंने अपने कर्तृत्ववादको पुष्ट करनेके लिये विशेष स्थलोंपर यों कहा है कि " क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवत् " जो जो कार्य होते हैं, वे बुद्धिमान्‌से जन्य हैं, जैसे कि घडा है। इस ही प्रकार जिन कार्योंके अचेतन उपादान कारण हैं। उनकी ठीक ठीक व्यवस्था जमानेके लिये चेतन कर्त्ताकी आवश्यकता है। जो पदार्थ अर्थक्रियाओंको कर रहे हैं, वे चेतनसे अधिष्ठित होकर ही नियत कार्योंको कर सकते हैं। जो कारण ठहर ठहर कर कभी कुछ और कभी कुछ कार्योंको करते हैं, वे चेतन द्वारा प्रेरित हो रहे हैं। जैसे कि कभी हथौडा सोनेको कूटता है, कभी कैंची पत्तरको काटती है, कभी यंत्री सोनेको खींच रही है, इन ठहर ठहर कर कार्योंके प्रवर्तनेमें सुनारका अस्तित्व आवश्यक है। इसी प्रकार कपडा बुनते समय ठहर ठहर कर अनेक कारणोंकी प्रवृत्ति करानेमें कोली बुद्धिमान् कर्त्ता है। तथा रूपादिमान् या अचेतन पदार्थ भी चेतन कर्त्ता द्वारा कार्योंका सम्पादन कर सकते हैं। इत्यादि उनके सभी हेतु व्यभिचार दोषयुक्त हैं। और एक बात यह भी है, उसको सुनो---

स्थावरादिभिरप्यस्य व्यभिचारोनुवर्ण्यते।
कैश्चित्पक्षीकृतैस्तेषामधीमद्धेतुतास्थितेः ॥ ३९ ॥

किन्हीं विद्वानों करके इस सन्निवेशविशिष्टत्व हेतुका खानें, कूपजल, वायु, वन्हि, वनस्पति, इन स्थावर और सूर्य, समुद्र, आदि करके व्यभिचार प्राप्त हो जानेका पीछे वर्णन किया गया है। जो कि वे स्थावर आदिक पदार्थ, नैयायिकोंके यहां पक्षकोटिमें अन्तःप्रविष्ट किये जा चुके हैं। किन्तु किसी सर्वज्ञ, अशरीर, बुद्धिमान्‌को, उनका निमित्तकारणपना व्यवस्थित नहीं हो सका है। अर्थात्—उपवनकी वनस्पतियोंको कोई बालकोंसी बुद्धिको धारनेवाला पंडित भले ही माली करके

निर्माण की गयी कह देवे, चूल्हेकी आगको रसोइयाकी बनायी हुई कह देवे, नलके जलको पुरुषके प्रयत्नसे उपजा हुआ मान ले, बीजनाकी वायुको बुद्धिमान् जीव करके बनाई गई अभीष्ट कर ले, खेतकी मिट्टीको किसानके व्यापारसे बनी हुई स्वीकार कर लेवे, किन्तु वह बुद्धिमान् वनकी वनस्पतियों या खानों, नदी जलों, दावानल, आंधी, सूर्य, आदि पदार्थोंको बुद्धिमान् करके बनाये हुये नहीं मान सकता है। यदि कोई साहसी अन्ध श्रद्धावान् उन स्थावर आदिको भी शरीर, पर्वत, पृथिवी, आदिके समान पक्षकोटिमें डालकर स्थावर, सूर्य, आदिका निमित्तकारण ईश्वरको मान बैठे तब तो यों कोई भी हेतु व्यभिचारी नहीं हो सकेगा। "धूमवान् वन्हेः" यहां अंगार या अयोगोलक इन व्यभिचार स्थलोंको पक्षकोटिमें गिना जा सकता है। जलते हुये अंगार या लोहगोला अथवा कोयलेको घाममें रखकर कुछ दूरसे देखो दूसरे प्रकारका विलक्षण धूआं निकलता हुआ दीखता है। यों कहनेवालेका कोई मुख टेढा नहीं हो जाता है। जिस पुरुष या स्त्रीके निमित्तसे किसी स्त्री या पुरुषको व्यभिचार दोष लगनेका प्रसंग आया है, निर्लज्ज पुरुष उन निकृष्ट स्त्रीपुरुषोंको भी स्वस्त्रीपक्ष या स्वपतिपक्षमें डाल लेवें, एतावता अपयश, राजदण्ड, भर्त्सना, पापसंचय, नरकगमनसे छुटकारा नहीं मिल सकता है। अतः नैयायिकोंके हेतुमें स्थावर आदिकोंकरके भी व्यभिचार दोष लग गया, कोई खटका नहीं है।

कथं पुनः स्थावरादीनामबुद्धिमत्कारणकत्वस्थितिर्यतस्तैरनैकांतिकत्वं कार्यत्वादिहेतूनामुद्भाव्यत इत्यावेदयति।

कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि उन स्थावर आदि पदार्थोंका निमित्तकारण कोई विशेष बुद्धिमान् पुरुष व्यवस्थित नहीं है, यह आपने फिर किस प्रकार निर्णीत कर लिया है ? जिससे कि कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व आदि हेतुओंका उन स्थावर आदिकों करके व्यभिचार दोष उठाया जा रहा है ? बताओ। ऐसी निर्णेतुमिच्छा होनेपर ग्रन्थकार बडी प्रसन्नताके साथ उस जिज्ञासुके सन्मुख निवेदन कर देते हैं।

दृष्टक्षित्यादिहेतूनामन्वयव्यतिरेकतः।
दृश्यते स्थावरादीनां सर्वगत्वेन वेधसः॥ ४०॥
न देशे व्यतिरेकोस्ति क्षितावस्य सदा स्थितेः।
सर्वगस्यान्वयस्त्वेको न तज्जन्यत्वसाधनः॥ ४१॥

साधारण प्राणियोंके भी दृष्टिगोचर हो रहे पृथिवी, जल, खेत, बीज, ऋतु, योग्यता, सहकारी-समवधान, आदि हेतुओंके अन्वय, व्यतिरेकसे स्थावर आदिकोंका भाव या अभाव देखा जा रहा है। ईश्वरके साथ इनका अन्वय, व्यतिरेक, नहीं देखा जाता है। क्योंकि तुम वैशेषिकोंका गढा गया जगद्विधाता ईश्वर सर्वव्यापक माना गया है। इस कारण किसी भी देशमें उसका व्यतिरेक नहीं

पाया जा सकता है । जिस देशमें ईश्वर नहीं वहां स्थावर आदिक कर्म नहीं है, इस व्यतिरेकको घटानेके लिये तुम्हारे पास कोई स्थल शेष नहीं है। तुम्हारा माना हुआ ईश्वर सर्वत्र प्राप्त हो रहा है। तथा पृथिवीमें इस नित्य ईश्वरकी सर्वदा स्थिति बनी रहनेसे यह कालव्यतिरेक भी नहीं बन सकता है कि जब जब ईश्वर नहीं तब तब स्थावर आदि कार्य नहीं । हां, सर्वत्रव्यापक हो रहे ईश्वरका केवल एक अन्वय ही तो स्थावर आदिकोंको उस ईश्वर करके जन्यपनकी सिद्धि करानेवाला नहीं है।

क्षित्युदकबीजादितया कारणान्वयव्यतिरेकात् स्थावरादीनां भाव्यभावकयोरुपलंभाच्च बुद्धिमत्कारणान्वयव्यतिरेकानुविधानं । न हि बुद्धिमतो वेधसः क्वचिद्देशे व्यतिरेकोस्ति सर्वगतत्वात्, नापि काले नित्यत्वात् । तथा च नान्वयो निश्चितः संभवति तद्भावाविर्भावदर्शनमात्रान्वयो वा स न तज्जन्यत्वं साधयति करभादिभावे धूमाविर्भावदर्शनात्तज्जन्यत्वसिद्धिप्रसंगात् ।

भूमि, जल, बीज, वायु आदि स्वरूपकरके कारणोंके अन्वय और व्यतिरेकसे स्थावर आदि कार्योंके उत्पाद्य, उत्पादकभावका उपलंभ होरहा है। अतः किसी बुद्धिमान् कारणके साथ स्थावर आदिकोंका अन्वयव्यतिरेक अनुसार, विधिविधान नहीं देखा गया है। पौराणिकोंके बुद्धिमान् स्रष्टाका किसी भी देशमें व्यतिरेक नहीं पाया जाता है। क्योंकि वह सर्वगत माना गया है तथा किसी कालमें भी ईश्वरका व्यतिरेक नहीं मिलता है। क्योंकि ईश्वर अनादि अनंत कालतक नित्य मान लिया है और तिस प्रकार कोई भी देशव्यतिरेक या कालव्यतिरेक नहीं बननेपर अन्वयका निश्चय हो चुकना भी नहीं सम्भवता है। क्योंकि हेतुका प्राण विपक्षव्यावृत्तिस्वरूप व्यतिरेक है। व्यतिरेक नहीं होनेपर अन्वय हो रहा भी अनिश्चित है। एक बात यह भी है कि व्यापक नित्य हो रहे उस विधाताका सद्भाव होनेपर स्थावर आदिकोंका आविर्भाव होना देखने मात्रसे हो रहा वह अन्वय तो स्थावर आदिकोंके उस ईश्वरसे जन्यपनको नहीं साध डालता है। यों तो ऊंटका बच्चा, कण्डाओंको ढोनेवाले गधा आदि तटस्थ पदार्थोंका सद्भाव होनेपर धुएंका आविर्भाव देखा जाता है। इतनेसे ही धूमको उस ऊंट आदिसे जन्यपनकी सिद्धि होजानेका प्रसंग आजावेगा। प्रत्येक कार्य होनेके निकट देशमें अनेक उदासीन पदार्थ पडे रहते हैं। एतावता उनमें " कार्यकारणभाव " का प्रयोजक अन्वय बन रहा नहीं माना जाता है। अन्यथा तुम्हारे यहां व्यापक मानी जारहीं अन्य जीवात्माओं या आकाशके साथ भी सुलभतया अन्वय बन जानेसे ईश्वरके समान अन्य आत्मायें भी संपूर्ण कार्योंका निमित्तकारण बन बैठेंगे, (बैठेंगी) जो कि हम, तुम, दोनोंको इष्ट नहीं है।

कथमदृष्टस्य स्थावरादिनिमित्तत्वमित्याह ।

यहां कोई पूंछता है कि तब तो आप जैन यह बताओ कि स्थावरजीवोंका पुण्य, पाप, या भोक्ताजीवोंका पुण्य, पाप, भला उन स्थावर आदिकोंका निमित्तकारण कैसे होजाता है? पुण्य, पापके साथ स्थावर आदिकोंका अन्वय और व्यतिरेक तुम कैसे बना सकोगे ? समझाओ ।

नश्वरत्वाददृष्टस्यासर्वगत्वाच्च सिध्यति ।
व्यतिरेकस्तत्र तस्य (स्यात्) स्थावरादिनिमित्तता ॥ ४२ ॥

नाशशील (अनित्य) होनेसे और अव्यापक होनेसे अदृष्टके साथ उन स्थावर आदिकोंमें कालव्यतिरेक या देशव्यतिरेक सिद्ध हो जाता है। अतः उस अदृष्टको स्थावर आदि कृतक पदार्थोंका निमित्तकारणपना सध जाता है। कोई अनुपपत्ति नहीं है।

न ह्यदृष्टं धर्माधर्मसंज्ञितं कूटस्थं सर्वगतं वा महेश्वरवदिष्यते यतस्तस्य देशकालव्यतिरेको न सिध्येत्। क्षित्यादिदृष्टसामग्रीसद्भावेपि कचित्स्थावरादीनामनुपलंभाददृष्टकारणत्वं सिध्यत्येव। कथमेवं तदुत्पत्तौ कालादेर्हेतुत्वमिति सर्वगतस्य व्यतिरेकासिद्धेरीश्वरवदिति वदंतं प्रत्याह।

धर्म और अधर्म इस संज्ञाको प्राप्त हो रहे अदृष्टको हम जैन तुम्हारे महेश्वरके समान कूटस्थ नित्य अथवा सर्वत्र प्राप्त हो रहा व्यापक नहीं अभीष्ट करते हैं, जिससे कि उस अदृष्टका देशव्यतिरेक या कालव्यतिरेक नहीं सिद्ध हो सके। साधारण जीवोंद्वारा कारणपने करके देखी जा रही पृथिवी, बीज, आदि सामग्रीका सद्भाव होनेपर भी किसी देशमें या किसी समय स्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्ति हो रही नहीं देखी जाती है। अतः अदृष्टको कार्योंका कारणपना सिद्ध हो जाता है। अर्थात्—खेतीमें वाणिज्यलाभमें, बढिया नीरोगतामें पुण्यको और अतिवृष्टि अनावृष्टि, आर्थिकहानिमें, सरोगतामें, दारिद्र्यमें, नाव डूब जाना, रेलगाडी लड जाना, वायुयानपात, आदि कार्योंमें दृष्टकारणोंका व्यभिचार दीख रहा होनेसे पापरूप अदृष्टको कारणपना स्पष्ट रीत्या प्रसिद्ध हो रहा है। जहां जहां या जब जब पुण्य, पाप हैं, तहां, तहां तब तब स्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्ति हो जाती है। और जहां जहां या जब जब अदृष्ट नहीं वहां वहां या तब तब लौकिक कार्य नहीं उपज पाते हैं। यह अन्वय व्यतिरेक प्रसिद्ध है। यहां कोई पूछता है कि अदृष्ट तो अव्यापक, अनित्य है। किन्तु काल, आकाश, द्रव्य तो नित्य और व्यापक हैं। अतः इस प्रकार व्यतिरेकको साधनेपर यदि कार्य कारणभाव माना जायगा तो उन स्थावर आदिकोंकी उत्पत्तिमें सर्वगत हो रहे काल आदिको भला निमित्तकारणपना किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा ? क्योंकि ईश्वरके समान नित्य, व्यापक, काल, आदिका देशव्यतिरेक या कालव्यतिरेक असिद्ध है, इस प्रकार कह रहे वादीके प्रति श्री विद्यानन्द आचार्य समाधानवचनको अग्रिम वार्तिक द्वारा कहते हैं। उसको सुनो।

कालादिपर्ययस्यापि नित्यत्वाद्यप्रसिद्धितः ।
सर्वथा कार्यनिष्पत्तौ हेतुत्वं न विरुध्यते ॥ ४३ ॥

काल, आकाश, आदि द्रव्योंकी पर्यायोंको भी नित्यपन, व्यापकपन, आदिकी अप्रसिद्धि होनेसे कार्योंके करनेमें निमित्तकारणपना सभी प्रकारोंसे विरुद्ध नहीं पडता है। अर्थात्—अर्थ क्रियाओंको करनेवाली अनित्य पर्यायोंसे कथंचित् अभिन्न हो रहे काल आदि द्रव्योंको सम्पूर्ण कार्योंके प्रति निमित्तपना अव्याहत है।

न हि कालाकाशादिपर्यायाणां नित्यत्वं सर्वगतत्वं वा प्रसिद्धं कालाणूनामेव द्रव्यार्थादेशान्नित्यत्वोपगमात्। निःपर्यायस्य नित्यस्य सर्वगतस्य च कालस्य परोपगतस्याप्रमाणकत्वात्, सर्वगतस्य नित्यस्य चाकाशद्रव्यस्यैव व्यवस्थापनात्निःपर्यायस्य तस्यापि ग्राहकप्रमाणाभावात्। धर्मास्तिकायस्याधर्मास्तिकायस्य च लोकव्यापिनोपि द्रव्यत एव नित्यत्वोपगमात् पर्यायतोऽसर्वगतत्वादनित्यत्वाच्च। ततो युक्तं स्वकार्योत्पत्तौ निमित्तत्वं सर्वथा विरोधाभावात्।

काल, आकाश, आदि द्रव्योंकी पर्यायोंका सर्वथा नित्यपना अथवा सर्वगतपना प्रसिद्ध नहीं है। जैनसिद्धान्त अनुसार कालाणुओंको ही द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षासे नित्यपना स्वीकार किया गया है। दूसरे विद्वान् वैशेषिकोंने कालको पर्यायरहित और नित्य, तथा सर्वगत जो स्वीकार किया है, वैसा कालद्रव्यको सिद्ध करनेमें उनके यहां कोई प्रबल प्रमाण नहीं प्रवर्तता है। अतः पर्यायरहित नित्य, व्यापक कालद्रव्यकी प्रमाणोंसे सिद्धि नहीं हो सकनेके कारण वह कालद्रव्य विचारे पौराणिकोंके नित्य, व्यापक, ईश्वरका दृष्टान्त या कटाक्षस्थल नहीं बन सकता है। हां, जिनागममें सर्वगत और नित्य हो रहे आकाशद्रव्यकी ही तो व्यवस्था कराई गई है। किन्तु सम्पूर्ण द्रव्य स्वकीय द्रव्यत्वगुणके अनुसार प्रतिक्षण नवीन नवीन पर्यायोंको धारण करते हैं। कोई द्रव्य कूटस्थनित्य नहीं है। पर्यायोंसे रहित हो रहे सर्वथा नित्य उस आकाशका भी ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है। अतः अनित्यपर्यायोंके साथ तादात्म्य सम्बन्धका अनुभव कर रहा कथंचित् अनित्य आकाश ही यावत् कार्योंका निमित्त है। इस कारण सर्वथा नित्य और सर्वथा व्यापक हो रहे ईश्वरका उपमान कथंचित् अनित्य आकाश भला कैसे हो सकता है ? यानी नहीं हो सकता है। अर्थात्—जब कि अखण्डित अनेक देशीय आकाश द्रव्यके देशांशरूप प्रदेश कल्पित कर लिये जाते हैं। मुख, कूप, गृह, गुदस्थान, शुद्धभाजन, अशुद्धभाजन, ये सब रीते स्थानस्वरूप हो रहे आकाशप्रदेश एक ही नहीं हैं। स्वर्गप्रदेश, नरक, आकाश, जम्बूद्वीप, स्वयम्भूरमण, त्रसनाली, स्थावर लोक, ये सब आकाशके न्यारे न्यारे प्रदेशोंपर व्यवस्थित हैं। जो आकाश सिद्ध परमात्माओंको अवगाह दे रहा है, वह आकाश नारकियोंको स्थान नहीं दे सकता है। आकाशके प्रदेशोंमें गति नहीं है। मालवा, पंजाब, बंगाल, यूरोप, अमेरिका, आष्ट्रिया, आष्ट्रेलिया, आदि आकाशकी पोलें न्यारी न्यारी हैं। जहां प्रभूत जल या बलवान् नकुल प्रसन्नतापूर्वक बैठे हुये हैं, वहां स्वल्प अग्नि या सर्पको अवकाश नहीं मिल पाता है। यद्यपि अग्नि, जल या नकुल, सर्प आदिमें निजकी गांठके विरोध आत्मक परिणाम विशेष हैं, फिर भी " यावन्ति कार्याणि

तावन्तः प्रत्येकं स्वभावभेदाः" इस नियम अनुसार अवगाह देनेमें उदासीन अप्रेरक कारण हो रहे आकाशमें भी वैसी वैसी न्यारी न्यारी परिणतियां माननी पडती हैं। एक एक वस्तुमें अनन्ते स्वभाव हैं। अतः अव्यापक देशांशोंसे अभिन्न हो रहे व्यापक आकाशद्रव्यमें कथंचित् असर्वगतपना भी समझ लिया जाय। तथा चौदह राजू ऊंचे या तीनसौ तेतालीस ३४३ घन राजू प्रमाण पूरे लोकमें व्याप रहे भी धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायका द्रव्यरूपसे ही नित्यपना स्वीकार किया गया है। पर्यायोंकी अपेक्षा वे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय दोनों असर्वगत और अनित्य हैं। अर्थात्—द्रव्यत्व गुणके अनुसार प्रतिक्षण नूतन पर्यायोंको धार रहे धर्म, अधर्म, द्रव्यके भले ही सदृशपरिणाम होते रहें, किन्तु अनित्यपर्यायोंसे अभिन्न हो रहे धर्म, अधर्म द्रव्य सर्वथा नित्य नहीं कहे जाते हैं। कोई भी द्रव्य कदाचित् भी पर्यायोंसे रीता नहीं है। सम्पूर्ण पदार्थ द्रव्यरूपसे नित्य और पर्यायरूपसे अनित्य हो रहे कथंचित् नित्यानित्यात्मक हैं। घोडा, मछली, पथिक, विद्यार्थी, आदिकी उन उनके नियत देशोंमें गति करानेवाली धर्मद्रव्य और स्थिति करानेवाली अधर्मद्रव्य अपनी न्यारी न्यारी प्रयोजक, अव्यापक पर्यायोंके साथ तदात्मक हो रहीं अव्यापक भी हैं। लोकाकाश स्वयं एक छोटासा अव्यापक पदार्थ है। उसमें भर रहे धर्म, अधर्म, द्रव्य दोनों वैसे ही अव्यापक हैं। तिस कारणसे काल, आकाश, धर्म, अधर्म, इन चारों पदार्थोंको अपने, अपने कार्योंकी उत्पत्ति करनेमें निमित्तकारणपना युक्तिपूर्ण सध जाता है। सभी प्रकारोंसे कोई विरोध नहीं आता है। हां, सर्वथा नित्य या व्यापक हो रहा तुम्हारा ईश्वर विचारा स्थावर आदि कार्योंका निमित्तकारण नहीं बन सकता है।

यद्येवं महेश्वरगुणस्य सिसृक्षालक्षणस्यानित्यत्वादसर्वगतत्वात् च तन्निमित्तत्वं स्थावरादीनां युक्तं व्यतिरेकप्रसिद्धेरिति पराकूतमनूद्य दूषयति।

ईश्वरवादी कह रहे हैं कि यदि इस प्रकार आप जैन अनित्य और अव्यापक पदार्थको स्थावर आदि कार्योंका निमित्तकारण माननेमें विशेष अभिरुचि रखते हैं तो महेश्वरके सृजनेकी इच्छा स्वरूप गुणको अनित्यपन और अव्यापकपन होनेसे उस गुणको स्थावर आदि कार्योंका निमित्तकारणपना उचित बैठ जाता है। ईश्वरकी अव्यापक इच्छाके साथ कार्योंका देशव्यतिरेक और अनित्य इच्छाके साथ कार्योंका कालव्यतिरेक भी प्रसिद्ध होजाता है इस प्रकार दूसरे पौराणिकोंके चेष्टितका प्रथम अनुवाद कर श्री विद्यानन्द आचार्य दूषणप्रयोग करते हैं।

महेश्वरसिसृक्षाया जगज्जन्मेति केचन।
तस्याः शाश्वततापायादविभुत्वाददृष्टवत् ॥ ४४ ॥
तदयुक्तं महेशस्य सिसृक्षांतरतो विना।
सिसृक्षोत्पादने हेतोस्तथैव व्यभिचारतः ॥ ४५ ॥

सिसृक्षान्तरतस्तस्याः प्रसूतावनवस्थितेः ।
स्थावरादिसमुद्भूतिर्न स्यात्कल्पशतैरपि ॥ ४६ ॥

उस ईश्वरकी सृजनेके लिये हुयी इच्छाको नित्यपनका अभाव होजानेसे और अव्यापक होजानेसे अदृष्टके समान महेश्वरकी इच्छासे जगत्वर्ती यावत् कार्योंकी उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार कोई पण्डित कह रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि उन पण्डितोंका कहना युक्तिरहित है। क्योंकि महेश्वरकी इच्छा जब अनित्य है तो दूसरी सिसृक्षाके बिना ही उस सिसृक्षाकी उत्पत्ति माननेपर तिस ही प्रकार हेतुका व्यभिचारदोष लग जायगा। अर्थात्—सिसृक्षामें कार्यत्वहेतु ठहर गया, किन्तु दूसरी सिसृक्षाको उसका निमित्तकारणपना नहीं प्राप्त हुआ। हां, यदि ईश्वरकी अनित्य सिसृक्षाका जन्म दूसरी सिसृक्षासे माना जायगा, और उस दूसरी अनित्य सिसृक्षाके प्रसव करनेमें तीसरी सिसृक्षाको हेतु माना जायगा, यों चौथीमें पांचवीं स्रष्टुमिच्छा, और पांचवींमें छठी, आदि सिसृक्षाओंको कारण मानते मानते अनवस्था होजायगी। अनेक सिसृक्षाओंको उत्पन्न करनेमें ही ईश्वरकी सिसृक्षाओंका बल निबट जायगा। यों सैकडों कल्प कालों करके भी स्थावर आदि कार्योंकी समुचित उत्पत्ति नहीं हो सकेगी।

तद्भोक्तृप्राण्यदृष्टस्य सामर्थ्यात्सा भवस्य चेत् ।
प्रसूतिः स्थावरादीनां तस्मादन्वयनान्न किम् ॥ ४७ ॥
स्वातंत्र्येण तदुद्भूतौ सर्वदोपरमच्युतेः ।
सर्वत्र सर्वकार्याणां जन्म केन निवार्यते ॥ ४८ ॥

उन स्थावर आदि कार्योंका भोग करनेवाले प्राणियोंके अदृष्ट (पुण्यपापोंं) की सामर्थ्यसे यह ईश्वरकी इच्छा अनादि कालसे उपज रही यदि मानी जायगी तब तो अदृष्टके होनेपर स्थावर आदिकोंका उपजना यों अन्वयके बन जानेसे उस अदृष्टसे ही साक्षात् स्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्ति ही क्यों नहीं मान ली जावे। परम्परासे अदृष्टको कारण माननेकी अपेक्षा पुण्य, पापको, अव्यवहित कारण मानना समुचित है। अदृष्टकी अधीनताके बिना ही यदि स्वतन्त्रता करके उस सिसृक्षाकी उत्पत्ति मानी जायगी तब तो ईश्वरकी सिसृक्षायें सर्वदा उपजतीं रहेंगी। कदाचित् भी उन इच्छाओंकी उत्पत्तिका विराम नहीं हो सकेगा। ऐसी दशामें सभी स्थलोंपर सम्पूर्ण कार्योंका उपजना भला किस करके रोका जा सकता है ? अर्थात्—बिना कारण अपनी स्वतन्त्रतासे उपज रहे कार्योंमें नियत देश या नियत कालकी सीमा नहीं रह पाती है। सभी कार्य अटोक उपजते ही रहेंगे।

व्याख्यातात्रेश्वरेणैव नित्या साध्यातिरेकिणी ।
क्वचिद्व्यवस्थितान्यत्र न स्यादन्वयभागपि ॥ ४९ ॥

इस प्रकरणमें ईश्वर करके ही यह नित्य इच्छा भी व्याख्यात कर दी गयी समझ लेनी चाहिये। कारण कि यह इच्छा प्रकृतसाध्यका अतिक्रमण करनेवाली है। अतः अन्वयको धार रही भी वह इच्छा कहीं भी अन्य स्थलोंपर व्यतिरेकको धारनेवाली नहीं होनेसे व्यवस्थित नहीं समझी जायगी। भावार्थ—व्यापक नित्य ईश्वरका जैसे स्थावर आदि कार्योंके प्रति अव्यभिचारी कार्यकारणभाव नहीं घटता है। उसी प्रकार साधे जा रहे जन्य कार्योंसे अतिरिक्त स्थलोंपर भी पायी जा रही नित्य सिसृक्षा कोरे अन्वयसे ही कहीं कारणपने करके व्यवस्थित नहीं हो सकती है।

नन्वेवं कालादिपर्ययस्य स्वकार्योत्पत्तौ निमित्तभावमनुभवतः प्रादुर्भावे यद्यपरः कालादिपर्यायो न निमित्तं तद्वदन्यकार्योत्पत्तावपि कालादिपर्यायो निमित्तं माभूत्, अथ निमित्तं तदुत्पत्तावपि निमित्तमित्यनवस्था स्यात् कालादिपर्यायस्य कारणमन्तरेणोत्पत्तौ देशकालादिनियमानुपपत्तेः सर्वत्र सर्वदा भावात्सर्वकार्याणामनुपरतोत्पत्तिप्रसंगः। तस्य नित्यत्वे कालादिद्रव्यवद्व्यतिरेकासिद्धिरन्वयमात्रसिद्धावपि सर्वदोत्पत्तिस्तेषामनिमित्तत्वप्रसंगः सिसृक्षावत्स्थावराद्युत्पत्ताविति केचित्, तेपि न तत्त्वज्ञाः। स्याद्वादिनां स्वकार्योत्पत्तिनिमित्तस्य कालादिपर्ययस्य निमित्तत्वसिद्धेस्तदुत्पत्तावपि तत्पूर्वकालादिपर्यायस्य निमित्तत्वमित्यनादित्वा-न्निमित्तनैमित्तिकभावस्य तत्पर्यायाणां बीजांकुरादिवदनवस्थानवतारात्। कथंचित्स्वातन्त्र्येणो-त्पद्यमानस्यापि सर्वत्र सर्वदा च भावानुत्पत्तेः नित्यत्वानभ्युपगमाच्च।

यहां कोई कर्तृवादी पण्डित अपने पक्षका अवधारण करनेके लिये आक्षेप उठा रहे हैं कि इस प्रकार जैनसिद्धांत अनुसार अभीष्ट होरहे कार्यकारणभावमें भी गोटाला मच जायगा, जैनोंने काल, आकाश, अदृष्ट, आदि पर्यायोंको अपने अपने कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण माना है। जैनोंने जैसे हमारी ईश्वरसिसृक्षा पर कुचोद्य उठाया है हम भी उनके यहां माने गये कारणों पर आक्षेप चला सकते हैं कि अपने कार्योंके उपजानेमें निमित्तकारणपनका अनुभव कर रहे काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें यदि दूसरे काल आदि पर्याय निमित्तकारण नहीं हैं, तब तो उन्हीं काल आदि पर्यायोंके समान अन्य कार्योंकी उत्पत्तिमें भी काल आदि पर्याय निमित्तकारण नहीं होवें। अब यदि काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें दूसरे काल आदि पर्यायोंको निमित्तकारण माना जायगा तब तो उन दूसरे काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी तीसरे काल आदि पर्यायनिमित्त कहने पडेंगे। तीसरोंकी उत्पत्तिमें चौथे काल आदिकों मानते मानते अनवस्था दोष होगा। जिज्ञासाके शान्त होजाने पर ज्ञापकपक्षकी अनवस्था कदाचित् कृपा करती हुयी निवृत्त होसकती है किन्तु कारक पक्षकी निष्ठुर अनवस्था एक बार गले लगी, पुनः कभी छूटती नहीं है। यदि जैन महाशय काल आदि पर्यायोंकी कारणके विना ही उत्पत्ति मान बैठेंगे, तब

तो देश, काल, आदिका नियम नहीं बन सकेगा, नियत देश, नियत कालवाले कारणोंके विना ही कार्योंकी उत्पत्ति माननेपर सभी स्थलोंपर सदा ही काल आदि पर्यायोंका सद्भाव पाया जायगा और ऐसा होजानेसे संपूर्ण कार्योंकी अविराम उत्पत्ति होती रहेगी। अर्थात्—कार्यके होजानेपर भी पुनः पुनः वह लाखों, करोडों, बार उपजता रहेगा, उपजनेसे विराम (छुटी) नहीं मिल सकेगा, इस प्रकार अतिप्रसंग जैनोंके ऊपर आता है, जैसा कि अडतालीसवे वार्तिकमें उन्होंने हमारे ऊपर कहा था। यदि जैनजन निश्चयकाल द्रव्य आदिके समान उन व्यवहार काल आदि पर्यायोंका नित्यपना मानोगे तो केवल अन्वय सिद्धि होचुकनेपर भी व्यतिरेककी सिद्धि तो कथमपि नहीं होसकेगी। तथा काल आदिकी नित्य पर्यायों द्वारा सदा ही उन कार्योंकी उत्पत्ति होती रहेगी। यों स्थावर आदिकोंकी उत्पत्तिमें सिसृक्षाको जैसे जैनोंने निमित्तकारण नहीं बनने दिया था, उसीके समान काल आदि पर्यायोंको भी निमित्तकारणपन नहीं होसकनेका प्रसंग जैनोंके यहां प्राप्त हुआ। यहांतक कोई पण्डित कह रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि वे महाशय तत्त्वव्यवस्थाके ज्ञाता नहीं है क्योंकि स्याद्वादियोंके यहां अपने, अपने, कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्त होरहे काल आदि पर्यायोंको निमित्तकारणपना सिद्ध होरहा है। उन काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी उससे पूर्ववर्त्ती काल आदि पर्यायोंको निमित्तपना था, उन पर्यायोंकी भी निमित्तकारण पूर्व, पूर्व कालकी कालादि पर्यायें थीं। इस प्रकार बीजांकुर, मुर्गी अंडा, द्रव्य कर्म, भाव कर्म, आदिके समान उन पर्यायोंका पूर्वकालीन पर्यायोंके साथ होरहे निमित्तनैमित्तिक भावको अनादिपना है। इस कारण अनवस्था दोषका अवतार नहीं होपाता है। भावार्थ—कालाणुयें द्रव्य हैं, वे प्रतिक्षण परिणामोंको धारतीं हैं। जगतके संपूर्ण कार्योंकी वर्तनामें काल निमित्तकारण है। अन्य कार्योंमें कालपरमाणुओंके परिणमन जैसे निमित्त हैं उसी प्रकार इस समयके काल परिणामोंका निमित्तकारण पूर्वसमयवर्ती कालपरिणाम हैं, और पूर्व समयकी काल पर्यायोंका निमित्तकारण उससे पहिलेके समयकी कालपर्यायें हैं, यों अनादिसे अनन्तकालतक प्रक्रम चल रहा है। घडियोंकी ठीक ठीक चाल को पहिली पहिली घडिया ठीक बताती चली आ रही हैं। पहिले पहिले बांटोंसे उत्तरोत्तरके बांट ठीक ठीक तोलकर परीक्षित कर लिये जाते हैं। देखिये, अन्य द्रव्योंके परिणमन कालद्रव्यके अधीन है। किन्तु कालद्रव्यके उत्तरोत्तर समयवर्ती परिणमन पूर्व पूर्वकाल पर्यायोंके अधीन हैं। आकाश द्रव्य अन्य अनन्तद्रव्योंको अवगाह देरहा स्वयंको भी अवगाह देता है। अधर्म द्रव्य निजका भी स्थापक है। यों कथंचित् स्वतंत्रताके उपज रहे भी प्रतिनियतकाल आदि पर्यायोंकी सर्वत्र और सर्वदा उत्पत्ति नहीं बन सकती है। दूसरी बात यह भी है कि सर्वथा नित्यपना हमारे यहां स्वीकार नहीं किया गया है। अर्थात्–हम चाहे जीवद्रव्यकी पर्याय होय, चाहे काल, आकाश, आदि द्रव्यकी पर्याय होय, सम्पूर्ण पर्यायोंको नियत हो रहे निमित्त नैमित्तिक भावसे गुंथा हुआ मानते हैं। पूर्व समयकी पर्यायें उत्तरसमयवर्ती कार्योंको बनाती हैं। अतः महेश्वरकी सिसृक्षाका सादृश्यकाल आदि पर्यायोंमें लागू नहीं हो पाता है काल आदि पर्यायोंके निमित्तपनका मार्ग निर्दोष है।

ननु महेश्वरसिसृक्षापि तर्हि स्थावराद्युत्पत्तौ निमित्तभावमनुभवतीति पूर्वसिसृक्षातः सापि स्वपूर्वसिसृक्षातः इत्यनादित्वात् कार्यकारणभावस्य कथमनवस्थादोषेणोपद्रूयेत कथं वा तथैव हेतवोऽनैकांतिकाः स्युः? न स्थावरादिकार्यानुपरमः स्वातंत्र्येणानुत्पादात्। नाव्यतिरेको नित्यत्वानभ्युपगमात् सिसृक्षायाः, तन्नित्यत्वे सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसंगात्। सर्वदा सहकारिणामभावान्न तत्प्रसंग इति चेन्न, तेषामपि महेश्वरसिसृक्षया तज्जन्मत्वे सर्वदा सद्भावापत्तेस्तदनायत्तजन्मकृतैरेव हेतूनां व्यभिचारात्। तत्सहकारिणोपि स्वोत्पत्तिहेतूनामभावात् न सर्वदोत्पद्यंत इति चेन्न, तेषामपि ईश्वरसिसृक्षायास्तज्जन्मत्वेतरयोरुक्तदोषानुषंगात्। तत्सहकारिणां नित्यत्वे स एव सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसंगः सिसृक्षायाः सहकारिणां च नित्यत्वादनित्यैव सा युक्ता। "ब्राह्मेण मानेन वर्षशतांते प्राणिनां भोगभूतये भवन्तीं महेश्वरस्य चतुर्दशभुवनाधिपतेः सिसृक्षोत्पद्यत" इति वचनाच्च न नित्यासौ तथोत्पत्तिविरोधादिति केचित्।

पुनः वैशेषिक या पौराणिक अपने पक्षका अवधारण करते हैं कि तब तो काल आदि पर्यायोंके समान महेश्वरकी सिसृक्षा भी स्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारणपनका अनुभव कर लेती है या अनुभव करती सन्ती यों वर्तमान कालकी सिसृक्षा पूर्व कालकी सिसृक्षासे उपजती जाती है और वह पूर्वकालकी सिसृक्षा भी अपनेसे पूर्वकालकी सिसृक्षासे उपज गयी थी, इस प्रकार कार्यकारणभावका अनादिपना होनेसे तुम्हारे समान हम वैशेषिकोंको भी अनवस्था पूर्णरूप अभीष्ट है, कोई क्षति नहीं है। पुनः अनवस्थादोष करके हमारे ऊपर क्यों उपद्रव उठाया जा रहा है? और इस सिसृक्षा करके ही हमारे कार्यत्व, सन्निवेशविशिष्टत्व, हेतुओंको किस प्रकार व्यभिचार दोषसे युक्त किया जा रहा है। अर्थात्—जन्य सिसृक्षाओंकी अनादिधारा मान लेनेसे हम वैशेषिकोंके ऊपर अनवस्थादोषका ऊधम नहीं उठ पायेगा और हमारे हेतु व्यभिचारी भी नहीं हो सकेंगे। साथमें स्थावर, शरीर, आदि कार्योंकी उत्पत्तिका विराम नहीं पडना दोष भी नहीं आता है। क्योंकि स्वतंत्रता करके स्थावर आदि कार्योंका उत्पाद नहीं होता है। उपज रही सिसृक्षाके अधीन नियत देश और नियत कालमें स्थावर आदि कार्य उपजेंगे। कारणोंके नहीं मिलनेसे वे सर्वदा उपजते ही नहीं रहेंगे तथा व्यतिरेक नहीं बनना दोष भी हमारे ऊपर नहीं आता है। क्योंकि सिसृक्षाका नित्यपना हमने स्वीकार नहीं किया है। हां, यदि उस सिसृक्षाको नित्य माना जाता तब तो सदा कार्योंकी उत्पत्ति होनेका प्रसंग हो सकता था। अन्यथा नहीं। यदि हम वैशेषिकोंको कोई वंचक यों सहायता देना चाहे कि सिसृक्षाको नित्य ही बने रहने दो, अकेली नित्यसिसृक्षा तो कार्यको नहीं बना देती है। अनेक सहकारी कारण भी चाहिये उन सहकारी कारणोंका अभाव होनेसे सदा उन कार्योंकी उत्पत्ति होते रहनेका प्रसंग नहीं आ पावेगा। उन गोमुख—व्याघ्रोंके प्रति हम वैशेषिक कहते हैं कि इस प्रकारकी सहायता हमको नहीं चाहिये। क्योंकि उन सहकारी कारणोंकी भी महेश्वरसिसृक्षा करके वह

उत्पत्ति मानी जायगी। ऐसी दशामें सर्वदा उन सहकारी कारणोंके सद्भावकी आपत्ति होती है। अतः नित्यसिसृक्षा और तदधीन सहकारी कारणोंका सद्भाव पाया जानेसे सर्वदा कार्योंकी उत्पत्ति होते रहनेका प्रसंग टल नहीं सकता है। यदि उन सहकारी कारणोंका जन्म उस सिसृक्षाके अधीन नहीं मानोगे तब तो उन सहकारी कारणों करके हमारे कार्यत्व आदि हेतुओंका व्यभिचार दोष बन बैठेगा। यदि हमारे सहायक ये पण्डितजी यों कहें कि वे सहकारी कारण भी अपनी उत्पत्तिके हेतुओंका अभाव होनेसे सदा नहीं उपजते रहते हैं वैशेषिक कहते हैं कि यह भी नहीं कहना। क्योंकि उन सहकारी कारणोंके उत्पादक हेतुओंका भी ईश्वरकी सिसृक्षासे उपजना माना जावेगा? या ईश्वरकी इच्छासे उनका उपजना नहीं माना जावेगा? इन दोनों पक्षोंमें पूर्वोक्त दोषोंके अनेक प्रसंग होता है। अर्थात्—सहकारी कारणोंके उत्पादक हेतु यदि ईश्वरकी सिसृक्षासे उपजेंगे तो वे नित्य सिसृक्षासे शीघ्र उपजकर सहकारी कारणोंको झट बना देंगे और सहकारी कारण सदा स्थावर आदि कार्योंको बनाते रहेंगे। हां, यदि उन सहकारी कारणोंके सहकारी कारणोंकी उत्पत्ति यदि ईश्वरसिसृक्षा करके नहीं मानी जायगी तब तो सन्निवेशविशिष्टत्व आदि हेतुओंका उन सहकारी कारणोंके उत्पादक हेतुओं करके व्यभिचार बन बैठेगा। उन सहकारी कारणोंका नित्यपना माननेपर तो वहका वही सर्वदा कार्योंके उपजते रहनेका प्रसंग दोष आ पडता है। क्योंकि सिसृक्षा और सहकारी कारण नित्य होकर सदा वर्त रहे हैं। उक्त दोषोंको टालनेका समीचीन उपाय यही है कि वह ईश्वरकी सिसृक्षा अनित्य ही मान ली जाय। युक्तियोंसे ईश्वरकी सिसृक्षा अनित्य ही सिद्ध होती है। तथा हमारे शास्त्रोंमें भी इस प्रकार कथन किया है कि "ब्रह्मासम्बन्धी परिमाण करके सौ सौ वर्षके अन्तमें प्राणियोंको भोगोंकी अनुभूति करानेके लिये चौदह भुवनके सर्व तंत्र स्वतंत्र प्रभु हो रहे भगवान् महेश्वरकी सिसृक्षा उपजती है।" इस आगम वाक्यसे भी वह इच्छा नित्य नहीं मानी गयी है। अन्यथा तिस प्रकार सौ, सौ वर्षमें इच्छाकी उत्पत्ति होनेका विरोध हो जायगा। अपने शास्त्रोंसे ही विरोध पड जाय ऐसे वचनको हम कहना नहीं चाहते हैं। अर्थात्— "कृतं, त्रेता, द्वापरं, च कलिश्चेति चतुर्युगम्। प्रोच्यते तत्सहस्रं तु ब्रह्मणो दिवसो मुने" विष्णु पुराणमें लिखा है कि सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग ये चार युग एक हजार बार हो जांय तब ब्रह्माका एक दिन और इसी प्रकार एक रात होती है। यों एक दिन रातकी गणना अनुसार सौ वर्षोंको बना कर ब्रह्मा की आयु सौ वर्षकी मानी गयी है "ब्रह्मणो वर्षशतमायुः" ब्रह्मा संबंधी सौ वर्षोंके पश्चात् खंडप्रलय होजाता है। पश्चात् महेश्वरकी सृष्टिमिच्छा उपज कर सृष्टिको रचती है मनुस्मृतिमें ब्रह्माके एक दिनरातकी समाप्ति होनेपर सृष्टिप्रक्रिया मानी है। "दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया। ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च" ॥ १ ॥ तद्वै युगसहस्रांतं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः, रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः। तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते। प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥ २ ॥ मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया। आकाशं

जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥ ४ ॥ इत्यादि १ भूर्लोक २ भुवर्लोक ३ स्वर्लोक ४ महर्लोक ५ जनलोक ६ तपोलोक ७ सत्यलोक ८ अतल ९ वितल १० सुतल ११ नितल १२ तलातल १३ रसातल १४ पाताल इन चौदह भुवनोंका सर्वाधिकारी सम्राट् महेश्वर है। यहांतक बडी देरसे कोई पौराणिक या स्मार्त पण्डित कह रहे हैं।

तत्रैकेषां दूषणं सिसृक्षाया नित्यत्वाभावेपि दृष्टक्षित्यादिकारणसाकल्येपि स्थावरादीनां कदाचिदनुत्पत्तिप्रसंगः। कदाचित्तदभावसंभवात् तदंत्यसहकारिकारणसन्निधानानन्तरमेव सिसृक्षोत्पत्तेस्तदभावासंभवे तस्याः सहकारिकारणप्रभवत्वप्रसंगः तदनन्तरभावनियमस्यान्यथानुपपत्तेः तेषां सहकारिणां सिसृक्षामुत्पादयतां सिसृक्षान्तरादुत्पत्तौ स्थावरादिवत् कदाचिदनुत्पत्तिप्रसंगस्तस्य कदाचिदसन्निधानादन्त्यकारणसंनिधानानन्तरमेव सिसृक्षांतरस्योत्पत्तिनियमात् तदप्रसंगे तत्कारणप्रभवत्वप्रसंगस्तदनंतरभावनियमस्यान्यथानुपपत्तेः इत्यादि पुनरावर्तेत इति चक्रकमेतत्। सिसृक्षांतरेणाप्रेरितानामेव सहकारिणामुत्पत्तौ तैरेव हेतूनामनैकांतिकत्वं सहकारिणां सिसृक्षया सह नियमेनोत्पत्तेः स्थावरादीनां सकलकारणानां कदाचिदनुत्पत्तेः। प्रसंगाभावे सिसृक्षाया सहकारिणां च क्षित्यादीनामेकं कारणमुपपद्येत अन्यथा सहभावनियमायोगात्। तच्चैकं कारणं यदि सिसृक्षांतरेणाप्रेरितं तज्जनकं तेनैव हेतुव्यभिचारस्तेन प्रेरितस्य तज्जनकत्वे कदाचित्तज्जननप्रसंगः पूर्ववत्तस्यापि प्रेर्येण सह नियमेनोत्पत्तौ तयोरप्येकं कारणं स्यात्, तच्चैकं कारणं यदि सिसृक्षांतरेणाप्रेरितं तज्जनकं तेनैव हेतुव्यभिचार इत्यादि पुनरावर्तेत इति चक्रकमपरम् क्षित्यादिभिः प्रागनन्तरं नियमोत्पत्तौ सिसृक्षायाः सहकारिहेतुभिरेकसामग्र्यधीनता स्यादन्यथा प्रागनंतरं नियमोत्पत्त्ययोगात् सा चैका सामग्री यदि सिसृक्षांतरेणाप्रेरिता तज्जनिका तदा तयैव हेतुव्यभिचारः। यदि पुनः प्रेरिता सा तज्जनिका तदा प्रेर्यात्प्रागनंतर नियमेनोत्पत्त्या तस्या भवितव्यमन्यथोक्तदोषानुषंगात् तथा च सिसृक्षांतरं प्रेर्यात्सामग्र्यविशेषात्प्रागनंतरं नियमेनोत्पद्यमानं तद्धेतुभिरेकसामग्र्यधीनं स्यात्। सा चैका सामग्री यदि सिसृक्षांतरेणाप्रेरिता तज्जनिका तदा तयैव हेतुव्यभिचार इत्यादि पुनरावर्तेत इत्यन्यच्चक्रकम्। तदेतद्दूषणं परिहर्तुकामेन क्षित्यादिभ्योनंतरं प्राक् सह वा तैः सिसृक्षोत्पत्तिर्नियमतो नाभ्युपगंतव्या तथा च तद्व्यतिरेकानुविधानमुपलभ्येत न चोपलभ्यते, क्षित्युदकबीजादिकारणसामग्रीसन्निधानेऽप्रतिबंधे चाऽसति स्थावरादिकार्यस्यावश्यंभावदर्शनादिति तदेतदयुक्तं, स्थावरादीनामदृष्टादिहेतुत्वेप्येतद्दोषप्रसंगात् स्वसिद्धांतविरोधात्। यदि पुनरदृष्टक्षित्यादिकारणसाकल्येपि स्थावरादीनां परिणामवैचित्र्याददृष्टादिसिद्धिः चक्षुरादिकारणसाकल्येपि

रूपादिज्ञानपरिणामवैचित्र्यादिन्द्रियशक्तिवदिति मतं, तदीश्वरसिसृक्षासिद्धिरपि तत एवास्तु तस्यास्तत्सिध्द्या विरोधाभावादित्यपरे ।

उस पौराणिकोंके मंतव्य पर अन्य एक विद्वानोंकी ओरसे यों दूषण उठाया जाता है " सिसृक्षाणां नित्यत्वाभावेपि " यहांसे प्रारम्भ कर " स्थावरादिककार्यस्यावश्यम्भावदर्शनात् " यहांतक कोई एक विद्वान् दूषण दे रहे हैं यह दूषण ग्रंथकारको अभीष्ट नहीं है । अतः ग्रंथकार " तदेतदयुक्तं " से प्रारंभ कर " विरोधाभावात् " यहांतक किन्हीं दूसरे विद्वानों करके इस दूषणका प्रत्याख्यान करा देंगे पश्चात् " तेत्र प्रष्टव्याः " इस ग्रंथसे प्रारम्भ कर स्वयं ग्रंथकार इस केचित्‌के पक्षपर सिद्धांत दूषण उठावेंगे । केचित्‌के ऊपर एक विद्वानोंका दूषण इस प्रकार है कि उन किन्हीं पौराणिकोंने ईश्वरकी सिसृक्षाको अनित्य सिद्ध किया है । सिसृक्षाको नित्यपना नहीं होते हुये भी बाल गोपालोंतक देखे जारहे स्थावर आदिकोंके कारण पृथिवी, जल, बीज आदिकी परिपूर्णता होनेपर भी कभी कभी स्थावर आदिकोंके नहीं उपजनेका प्रसंग आवेगा । क्योंकि सिसृक्षा अनित्य है । कभी कभी उस सिसृक्षाका अभावसम्भव हो जायगा । अर्थात्—अनित्य सिसृक्षाके नहीं होनेपर अन्य संपूर्ण कारणोंके होनेपर भी कभी कभी स्थावर आदिक कार्य नहीं उपज सकते हैं । स्थावर आदि कार्योंके कारणोंका शनैः शनैः एकत्रीकरण होते होते तबतक यदि ईश्वरकी अनित्य सिसृक्षा उपज कर नष्ट भी होगयी होय तो हम क्या कर लेंगे । इच्छाके विना सब कारण यों ही व्यर्थ धरे रहेंगे । अतः कदाचित् स्थावर आदिक कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होसकेगी । यदि केचित् यों कहें कि उन स्थावर आदि कार्योंके उत्पादक अंतिम सहकारी कारणोंके संनिधान पश्चात् ही सिसृक्षाकी उत्पत्ति मानी जायगी, अतः कारणोंकी पूर्णताके अवसरपर उस सिसृक्षाका अभाव नहीं संभवेगा, यों कहनेपर तो हम एक पण्डित यों कहते हैं कि यों तो उस सिसृक्षाकी सहकारी कारणोंसे उत्पत्ति होनेका प्रसंग आवेगा, क्योंकि उन परिदृष्ट क्षिति आदि कारणोंके अनंतर सिसृक्षाके उपजनेका नियम अन्यथा बन नहीं सकता है । यानी जो पदार्थ जिन सहकारी कारणोंका कार्य होगा, वही उनके अव्यवहित उत्तर कालमें उपज सकता है ऐसी दशामें जिस सिसृक्षाको तुमने बलवती शक्ति समझ रक्खा है, वह महेश्वरकी सिसृक्षा स्वयं सहकारी कारणोंसे उपज रही बन बैठी, अब बताओ कि सिसृक्षाके पिता होरहे उन सहकारी कारणोंको कौन बनावे ? यदि सिसृक्षाको उपजा रहे उन सहकारी कारणोंकी दूसरी सिसृक्षासे उत्पत्ति मानी जायगी तब तो स्थावर आदिके समान कभी कभी उन सहकारी कारणोंके नहीं उपजनेका प्रसंग आवेगा । क्योंकि कारणोंके अधीन होनेवाली दूसरी उस अनित्य सिसृक्षाका कभी सन्निधान नहीं होपाता है । जो कार्य अपने कारणकूटके अधीन है स्वल्प भी कारणकी त्रुटि होजानेसे आवश्यकता होनेपर भी कदाचित् वह कार्य नहीं उपजता है अथवा कथंचित् उपज लेनेपर भी दूसरे कारणोंके जुटनेतक वह दूसरी सिसृक्षा नष्ट हो जायगी । ऐसी दशामें पहिली सिसृक्षाको उपजानेवाले कारणोंकी अनुत्पत्ति हुई । दादीके विना पिताकी उत्पत्ति नहीं है और पिताके विना पुत्रीकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है ।

यदि केचित् पौराणिक पूर्वके समान यहां भी यों कहें कि कार्यकी उत्पत्तिके अव्यवहित पूर्वकालमें एकत्रित हुये अन्तिम समर्थ कारणोंके सन्निधान पश्चात् ही दूसरी सिसृक्षाकी उत्पत्तिका नियम है। अतः वह अनुत्पत्तिका प्रसंग हमारे ऊपर नहीं आता है, यों पौराणिकोंके कहनेपर तो हमें कहना पडता है कि उस दूसरी सिसृक्षाको उन परिदृष्ट कारणोंसे उपजनेका प्रसंग आता है। क्योंकि उन कारणोंके अव्यवहित उत्तरकालमें नियमसे उपजना अन्य प्रकारसे यानी उनका कार्य माने विना बन नहीं सकता है। इसी प्रकार आगे भी घुमा कर ये ही चोद्य उठाये जा सकते हैं। तीसरी, चौथी, आदि सिसृक्षायें और सहकारी कारण तथा चरमकारणोंकी जिज्ञासायें उत्तरोत्तर बढती ही जावेंगी। यों बार, बार, अनित्यसिसृक्षा, कार्योंकी कदाचित् अनुत्पत्ति, अन्तिम सहकारी कारणोंके पश्चात् सिसृक्षाका जन्म, पुनः सहकारी कारणोंके लिये अन्य सिसृक्षाओंकी उत्पत्ति, इत्यादि ढंगसे आवृत्ति होती जाती है यह चक्रक दोष है। " स्वापेक्षणीयापेक्षितसापेक्षत्व-निबन्धनप्रसङ्गत्वं चक्रकत्वं " अपने अपेक्षणीयसे अपेक्षित हो रहेकीसापेक्षताको कारण मानकर प्रसंग प्राप्ति करा देना चक्रक दोष है। यदि दूसरी सिसृक्षा करके नहीं प्रेरे जा चुके ही सहकारी कारणोंकी उत्पत्ति मानी जायगी तब तो उन्हीं सहकारीकारणों करके तुम्हारे सन्निवेशविशिष्टत्व आदि हेतुओंका व्यभिचार दोष हो जायगा। क्योंकि इस सिसृक्षाके साथ ही सहकारी कारणोंकी पूर्वसिसृक्षाके विना यों ही नियम करके उत्पत्ति हो रही है। स्थावर आदि कार्योंके सम्पूर्ण कारणोंकी कभी कभी नहीं उत्पत्ति हो जानेके कारण यदि प्रसंगका अभाव माना जायगा तब तो सिसृक्षा और पृथिवी आदिक सहकारी कारणोंका जनक एक कारण बन बैठेगा अन्यथा यानी एक कारण माने विना दोनोंके सहभावका नियम नहीं बन सकता है और वह कारण यदि अन्य सिसृक्षा करके प्रेरित नहीं हुआ ही उन सहकारी कारण और सिसृक्षाका जनक माना जायगा तब तो उस एक कारण करके ही तुम्हारे कार्यत्व आदि हेतुओंमें व्यभिचार दोष लगा। यदि अन्य सिसृक्षा करके प्रेरित हो रहे एक कारणोंको अपने उन कार्योंका जनकपना अभीष्ट किया जायगा तब तो पूर्वके समान कभी होने और कभी कभी उन कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होनेका प्रसंग होगा। यदि उस एक कारणकी भी सिसृक्षा करके प्रेरे जा रहे कारणके साथ नियम करके उत्पत्ति मानी जायगी तब तो साथ उपज रहे उन दोनोंका भी एक कारण बन बैठेगा और वह एक कारण यदि अन्य चौथी, पांचवीं, सिसृक्षा करके नहीं प्रेरित हो रहा ही उन कार्योंका जनक है, ऐसी दशामें उस एक कारण करके ही " सन्निवेशविशिष्टत्व " आदि हेतुओंका व्यभिचार होगा, इत्यादिक रूपसे पुनः पुनः चोद्योंकी आवृत्ति कर ली जाती है। इस कारण यह दूसरा चक्रक दोष तुम्हारे ऊपर आता है। तीसरा चक्रक इस प्रकार है कि क्षिति आदिकों करके पहिले अव्यवहित पूर्व यदि नियमसे उस सिसृक्षाकी उत्पत्ति मानी जायगी तब तो सहकारी कारणों करके सिसृक्षाकी एक सामग्रीकी अधीनता हो जायगी। यानी सिसृक्षा और सहकारी कारणोंकी उत्पत्ति एक सामग्रीके

वश बन बैठेगी । अन्यथा अव्यवहितपूर्व नियमसे उत्पत्ति होनेका अयोग होगा तथा सिसृक्षा और सहकारी कारण दोनोंकी वह एक सामग्री यदि पूर्ववर्ती अन्य सिसृक्षाओं करके प्रेरित नहीं होती सन्ती उन सिसृक्षा और सहकारी कारणोंकी उत्पादक मानी जायगी, तब तो एकसामग्री करके ही हेतुओंका व्यभिचार हुआ । यदि फिर अन्य सिसृक्षासे प्रेरित हो रही वह सामग्री उन सिसृक्षा और सहकारी कारणोंकी जननी मानी जावेगी तब तो प्रेरणा करने योग्य कार्योंसे अव्यवहितपूर्व उस सामग्रीकी नियम करके उत्पत्ति होनी चाहिये । अन्यथा उक्त दोषोंका प्रसंग आवेगा और तिस प्रकार होनेपर छठीं, सातवीं, ग्यारी सिसृक्षा भी प्रेरणा योग्य सामग्रीविशेषसे अव्यवहितपूर्वमें नियम करके उपज रही सन्ती उन हेतुओंके साथ एकसामग्रीके अधीन हो जायगी। और वह दोनोंको वशमें करने वाली एक सामग्री यदि अन्य सिसृक्षाकरके प्रेरित नहीं हो रही सन्ती उनकी जनक (जानिका) मानी जायगी तब तो उस सामग्रीकरके ही सन्निवेशविशिष्टत्व आदि हेतुओंका व्यभिचार दोष लगा इत्यादिक रूपसे पुनः पुनः चक्कर देकर चोद्योंकी आवृत्ति कर ली जाती है । इस प्रकार तीसरा अन्य चक्रकदोष तुम्हारे ऊपर आ पडता है । " स्वग्रहसापेक्षग्रहसापेक्षग्रहसापेक्षग्रहकत्वं चक्रकत्वं " इस कारण इन सब चक्रक या व्यभिचार दूषणोंको परिहार करनेकी अभिलाषा रखनेवाले पौराणिक पण्डित करके क्षिति आदिकोंसे अव्यवहित पूर्व अथवा साथ उन कारणों करके सिसृक्षाकी नियमसे उत्पत्ति नहीं स्वीकार कर लेनी चाहिये । और तैसा होनेपर नहीं उपज रही सिसृक्षाके साथ उन स्थावर आदि कार्योंके व्यतिरेकका अनुविधान कैसे जाना जा सकेगा ? यों अनित्य मान ली गयी भी ईश्वर इच्छाके साथ व्यतिरेक तो नहीं दीख रहा है । क्षिति, उदक, बीज, ऋतुकाल आदि सामग्रीके निकट होनेपर और प्रतिबन्धकोंके नहीं होनेपर स्थावर आदि कार्योंका अवश्य उत्पाद हो रहा देखा जाता है । ईश्वरकी सिसृक्षाको सामग्रीमें डालनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । यहांतक केचित् पौराणिकोंके ऊपर एकदेशीय जैन विद्वान्के विचार प्रगट हो चुके हैं । यहां किन्हीं अपर विद्वानोंका निरूपण है कि तिस प्रकार यह जैनपक्षीय विद्वानोंका कथन अयुक्त है । केवल परको निर्मुख करनेवाला खण्डन हमको अभीष्ट नहीं है । यों तो स्थावर आदि कार्योंके यदि अदृष्ट आदिको कारण माना जायगा वहां भी इन दोषोंके प्राप्त हो जानेका प्रसंग आ जायगा । अतः तुमको अपने जैन सिद्धान्तसे विरोध ठन जायगा । यदि फिर आपका यह मत होय कि सबको परिदृष्ट हो रहे पृथिवी, काल, आदि कारणोंकी परिपूर्णता होनेपर भी स्थावर आदि कार्योंके परिणाममें विचित्रता देखी जाती है । इस कारण पुण्य, पाप, स्वरूप अदृष्ट अथवा अन्य भी परोक्ष कारणोंकी सिद्धि कर ली जाती है । जैसे कि चक्षु, आलोक आदि कारणोंकी सकलता होनेपर भी अनेक जीवोंके भिन्न भिन्न प्रकार हो रहे रूप आदिके ज्ञानपरिणामोंकी विचित्रतासे अतीन्द्रिय इन्द्रियोंका या शक्तियोंका अनुमान कर लिया जाता है । यों तुम्हारा मन्तव्य होय तब तो कर्तृवादियोंके यहां ईश्वरकी सिसृक्षाकी सिद्धि भी तिस ही कारणसे मानी चमत्कारक स्थावर आदिके परिणा-

मोंकी विभिन्नतासे हो जाओ। उस स्थावर आदिकी विचित्रताका उस सिसृक्षासिद्धिके साथ कोई विरोध नहीं है। प्रत्युत अनुकूलता है। अर्थात्—बालक, वृद्ध, रोगी, पशु, आदिकी बहिरंग इन्द्रियां स्थूलदृष्टिसे समान दीखती हैं। किन्तु भिन्न भिन्न जातिके रूपादि ज्ञानोंके अनुसार अतीन्द्रिय इन्द्रियोंका परिज्ञान कर लिया जाता है। उसी प्रकार ईश्वरकी अतीन्द्रिय सिसृक्षाका भी परिज्ञान कर लिया जा सकता है। फिर सिसृक्षाका खण्डन कहां हुआ ? । यहांतक अपर विद्वान् कह रहे हैं।

तेऽत्र प्रष्टव्याः। स्थावराद्युत्पत्तौ निमित्तभावमनुभवन्ती महेश्वरस्य सिसृक्षा यदि पूर्वसिसृक्षातो भवति, सापि तत्पूर्वसिसृक्षातस्तदा सोत्तरां सिसृक्षां प्रादुर्भावयति वा न वा ? न तावदुत्तरः पक्षस्तदनंतरस्थावरादिभ्य उत्तरोत्तरस्थावराद्यनुत्पत्तिप्रसंगात्। तत एव तदुत्पत्तौ व्यर्थानादिसिसृक्षापरंपरापरिकल्पना, कथंचिदेकयैवाशेषपरापरस्थावरादिकार्याणामुत्पादयितुं शक्यत्वात् पूर्वसिसृक्षया अप्युत्तरोत्तरसिसृक्षां प्रत्यव्यापारात्। यदि पुनराद्यः पक्षः कक्षीक्रियते तदा चोत्तरसिसृक्षायामेव प्रकृतसिसृक्षाया व्यापारात् ततः स्थावरादिकार्योत्पत्तिर्न भवेत्। एतेन पूर्वपूर्वसिसृक्षाया अप्युत्तरोत्तरसिसृक्षायामेव व्यापृतेः पूर्वमपि स्थावराद्युत्पत्त्यभावः प्रतिपादितः।

अब ग्रंथकार सिद्धांत रीतिसे केचित्का सिद्धांत खंडन करते हैं कि वे केचित् विद्वान यहां प्रकरणमें यों पूंछने योग्य हैं कि स्थावर, सूर्य, तनु आदिकी उत्पत्तिमें निमित्तभावका अनुभव कर रही महेश्वरकी सिसृक्षा यदि पूर्वकालवर्तिनी दूसरी सिसृक्षासे उपजती है तब तो वह दूसरी सिसृक्षा भी उससे पहिले की तीसरी सिसृक्षासे उपजेगी, उस समय हमारा प्रश्न यह है कि स्थावर आदिकोंको उपजा रही वह पूर्वकालीन सिसृक्षा क्या उत्तरकालवर्तिनी सिसृक्षाको उपजावेगी ? अथवा नहीं प्रकट करेगी ? बताओ। पिछले पक्षका ग्रहण करना तो ठीक नहीं पडेगा, क्योंकि पूर्वसिसृक्षा यदि उत्तर सिसृक्षाको पैदा नहीं करेगी तो उसके अनंतर होनेवाले स्थावर आदिकोंसे पुनः उत्तरोत्तर स्थावर आदिकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, तुम्हारे यहां सिसृक्षाके बिना कोई कार्य उपजता नहीं माना गया है, किन्तु स्थावरोंसे अगले अगले स्थावरोंकी उत्पत्ति हो रही देखी जाती है। यदि एक उस पहिली सिसृक्षासे ही उस उत्तर सिसृक्षाकी उत्पत्ति मान ली जायगी, तब तो परम्परासे अनादिकालीन सिसृक्षाओंकी लंबी चौडी कल्पना करना व्यर्थ पडेगा। उस एक ही सिसृक्षा करके उत्तरोत्तर होनेवाले संपूर्ण स्थावर आदि कार्योंको कथंचित् उपजाया जा सकता है। पूर्वकालकी सिसृक्षा करके भी उत्तरोत्तर होनेवाली सिसृक्षाओंके प्रति कोई व्यापार नहीं किया जासकता है, जो तुम मान बैठे हो। यदि आप करके आदिके पक्षका अंगीकार किया जायगा तब तो पूर्व सिसृक्षासे उत्तर सिसृक्षाकी उत्पत्ति करनेपर प्रकरण प्राप्त सिसृक्षाका केवल उत्तरकालवर्तिनी सिसृक्षाको उपजानेमें ही व्यापार होता रहेगा। उस प्रकृत सिसृक्षासे स्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होसकेगी। इस कथन करके यह भी प्रतिपादन कर दिया गया समझ लो कि अनादिकालीन पहिली पहिली सिसृक्षाओंका भी उत्तरोत्तर कालकी सिसृक्षा-

ओंकी उत्पत्ति करनेमें ही व्यापार होता रहेगा, अतः पहिले भी स्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होसकेगी, सिसृक्षाको अवकाश नहीं मिल जायगा, ऐसी दशामें सिसृक्षाकी शरण लेना व्यर्थ ही है जो भृत्य अपने ही शारीरिक कार्योंसे अवकाश नहीं पाता है, वह प्रचंड प्रभुकी सेवा क्या कर सकेगा ? कुछ नहीं।

यदि पुनरियं सिसृक्षांतरोत्पत्तौ स्थावरादिकार्योत्पत्तौ च व्याप्रियेत पूर्वा पूर्वा च सिसृक्षा परां परां च सिसृक्षां तत्सहभाविस्थावरादींश्च प्रति व्याप्रियमाणाभ्युपेयेत, तदैकैव सिसृक्षा सकलोत्पत्तिमतामुत्पत्तौ व्यापारवती प्रतिपत्तव्या। तथा च सकृत्सर्वकार्योत्पत्तेः कुतः पुनः कार्यक्रमभावप्रतीतिः ?

यदि फिर ईश्वरवादी यों कहे कि यह पूर्वकालीन सिसृक्षा दूसरी दूसरी सिसृक्षाओंको उत्पन्न करनेमें और स्थावर, त्रसशरीर, आदि कार्योंकी उत्पत्तिमें व्यापार करेगी तथा पूर्वसिसृक्षासे भी पहिली पहिली सिसृक्षायें स्वस्वजन्य उत्तरोत्तर सिसृक्षाओंको और उन सिसृक्षाओंके साथमें होनेवाले स्थावर आदि कार्योंके प्रति व्यापार कर रहीं स्वीकार कर ली जायगी। आचार्य कहते हैं कि तब तो एक ही ईश्वरके सृजनेकी इच्छा इन उपजनेवाले सम्पूर्ण कार्योंकी उत्पत्तिमें व्यापार कर रही समझ लेनी चाहिये, और तिस प्रकार एक ही सिसृक्षाको यावत् कार्योंकी उत्पत्तिमें व्यापार करनेवाली माननेपर एक ही वारमें सम्पूर्ण कार्योंकी उत्पत्ति होना बन बैठेगा। अतः फिर कार्योंके क्रम क्रमसे होनेकी प्रतीति होना भला कैसे सध सकेगा ? सो बताओ। अर्थात्—एक सिसृक्षाद्वारा युगपत् सम्पूर्ण कार्य उपज बैठेंगे जो कि पहिले प्रसंग उठाया गया था।

स्यान्मतं, क्रमशः स्थावरादिकार्याणां देशादिनियतस्वभावानामुभयवादिप्रसिद्धत्वात् तन्निमित्तभावमात्मसात्कुर्वाणा महेश्वरसिसृक्षाः क्रमभाविन्य एवानुमीयंते कार्यविशेषानुमेयत्वात् कारणविशेषव्यवस्थितेरिति। तर्हि सिसृक्षांतरोत्पत्तावन्याः सिसृक्षाः स्थावरादिकार्योत्पत्तौ चापरास्तावंत्यो अभ्युपगंतव्याः कार्यविशेषात्कारणविशेषव्यवस्थितेरन्यथानुपपत्तेः।

ईश्वरवादियोंका यह भी मन्तव्य होवे कि नियत देशमें होना, नियत कालमें उपजना, प्रति नियत आकारको धारना, आदि स्वभाववाले स्थावर आदि कार्योंकी यों नियतरूपसे उत्पत्ति होना हम तुम दोनों वादी प्रतिवादियोंके यहां प्रसिद्ध हो रहा है इस कारण इन नियत कार्योंके निमित्त-कारणपनको अपने अधीन कर रहीं महेश्वरकी सिसृक्षायें क्रम क्रमसे हो रहीं सन्ती ही अनुमानप्रमाण द्वारा जानी जा रही हैं। क्योंकि विशेष विशेष कारणोंकी व्यवस्थाका तज्जन्य विशेष विशेष कार्यों-द्वारा अनुमान कर लिया जाता है, जिस प्रकार आप जैन क्रमक्रमसे उपजनेवाले कार्योंके क्रम क्रमवर्ती कारणोंका निर्धारण कर लेते हैं। उसी प्रकार क्रमवर्तिनी सिसृक्षायें भी क्रमवर्ती कार्योंको

क्रमक्रमसे करेगी । अतः युगपत् सकल कार्योंकी उत्पत्तिका प्रसंग नहीं आ पाता है । ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो दूसरी दूसरी सिसृक्षाओंकी उत्पत्तिमें अन्य अन्य सिसृक्षायें और स्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्तिमें उतनी ही न्यारी सिसृक्षायें कारण हो रहीं स्वीकार करनी पडेंगीं, क्योंकि कार्योंका विशेष रूपसे देखना होनेसे उनके विशेष कारणोंकी व्यवस्था हो जाना अन्यथा बन नहीं सकता है । अर्थात्---न्यारे न्यारे कारणोंसे ही न्यारे न्यारे कार्योंकी उत्पत्ति होनेका अविनाभाव है । दूसरे क्षण, तीसरे क्षण, चौथे क्षण, आदिमें ईश्वरकी न्यारी न्यारी सिसृक्षायें तभी उपज सकती हैं, जब कि उनको उपजानेवाली पहिले क्षणमें अनेक सिसृक्षायें मानी जावें और क्रमभावी स्थावर आदि कार्योंको उपजानेमें भी उतनी पहिले सिसृक्षायें चाहिये कारणोंमें भेद माने विना कार्योंमें विशेषतायें नहीं आ सकती हैं । जैनसिद्धान्तमें भी " यावन्ति कार्याणि तावन्तः प्रत्येकं स्वभावभेदाः " जितने छोटे मोटे कार्य हो रहे हैं, उतने कारणोंके स्वभावभेद माने जाते हैं । एक कारणसे भी यदि अनेक कार्य हो रहे हैं, तो उस एक कारणमें अनेक स्वभाव घुस रहे हैं । नानी या बडनानीमें भी धेवतेको उपजानेका स्वभाव अन्तर्गूढ है । जैसे कि बाबा एडबाबामें नाती, पंतीको उपजानेकी कारणता निहित है । इकतरा, तिजारी, चौथैया, ज्वरोंका या एक एक, दो दो पीढी बीचमें देकर उपजनेवाले कौलिक रोगोंके उपजानेकी शक्ति भी कारणोंमें सदा छिपी हुई विद्यमान है । आप कर्त्तावादी पण्डित तो पदार्थोंमें अनेक धर्मोंको स्वीकार नहीं करते हैं । अतः आपको अनन्तसिसृक्षायें स्वीकार करनी पडेंगी यह महागौरव या आनंत्यदोष तुम्हारे ऊपर हुआ ।

नानाशक्तिरेकैव सिसृक्षा तन्निमित्तमिति चेत्, तर्हि सकलक्रमभावीतरकार्यकरणपटुरनेकशक्तिरेकैव महेश्वरसिसृक्षास्तु । सा च यदि सिसृक्षांतरनिरपेक्षोत्पद्यते तदा स्थावरादिकार्याण्यपि तन्निरपेक्षाणि भवंतु किमीश्वरसिसृक्षया ? सिसृक्षांतरात्तदुत्पत्तौ तत एव सकलक्रमभावीतरस्थावरादिकार्याणि प्रादुर्भवंतु । नानाशक्तियोगात्तदभ्युपगमे च स एव पर्यनुयोग इत्यनवस्था दुर्निवारा ।

यदि कर्तृवादी यों कहें कि उत्तरोत्तर अनेक सिसृक्षाओं और असंख्य स्थावर आदि कार्योंको उपजानेमें उपयोगिनी हो रहीं अनेक शक्तियोंको धारनेवाली एक ही सिसृक्षा उपज रही उन सिसृक्षाओं और स्थावर आदि कार्योंकी निमित्त कारण मान ली जायगी यों कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो क्रम क्रमसे होनेवाले या उनसे न्यारे युगपत् होनेवाले सम्पूर्ण कार्योंको करनेमें चतुर हो रही अनेक शक्तिवाली महेश्वरकी सिसृक्षा एक ही मान ली जाओ । जैनसिद्धान्त अनुसार तुमने यह मार्ग अच्छा पकड लिया है । अनेक स्वभाववाली एक सिसृक्षा ही जगत्के सम्पूर्ण कार्योंको कर डालेगी । मध्यमें अनेक सिसृक्षाओंको माननेकी आवश्यकता नहीं है । इससे ईश्वरकी भी प्रशंसा हुई और आनन्त्य दोषका परिहार भी हो गया । किन्तु हां, यह तो बताओ कि वह एक सिसृक्षा वर्तमान

कालमें उपज रही यदि पूर्व कालकी अन्य सिसृक्षाओंकी कारण रूपसे नहीं अपेक्षा रखती हुई उपज जाती है ? तब तो स्थावर आदिक असंख्य कार्य भी उस एक सिसृक्षाकी कारण रूपसे अपेक्षा नहीं करते हुये ही उपज जायंगे । ईश्वरकी सिसृक्षा करके क्या लाभ हुआ ? अर्थात्—ईश्वरकी सिसृक्षासे कुछ प्रयोजन नहीं निकला । हां यदि अन्य सिसृक्षासे उस अनेक स्वभाववाली सिसृक्षाकी उत्पत्ति मानी जायगी । तब तो उस दूसरी सिसृक्षासे ही सम्पूर्ण क्रमभावी और अक्रमभावी स्थावर आदि कार्य भी प्रकट हो जाओ । अनेक शक्तिवाली सिसृक्षाको मध्यमें कारण माननेका बोझ व्यर्थमें क्यों लादा जाता है ? कर्तृत्ववादी यदि दूसरी सिसृक्षामें भी नानाशक्तियोंका योग होजानेसे उस स्वानुकूल कार्यकारणभावको स्वीकार करेंगे तब तो वही पर्यनुयोग उठाया जायगा कि वह सिसृक्षा स्वतः उपजेगी ? अथवा दूसरी सिसृक्षासे उत्पन्न होगी ? इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पांचवी, कोटियोंपर भी चोद्य चलाना बढता ही चला जायगा । इस ढंगसे हुई अनवस्थाका निवारण करना तुमको अतिकठिन कर्त्तव्य होजायगा ।

यदि पुनर्नित्यानेकशक्तिरेकैव महेश्वरसिसृक्षा तदा अस्याः स एव व्यतिरेकाभावो महेश्वरन्यायवत् । तदव्यापित्वे एतच्छून्येपि देशे स्थावरादीनामुत्पत्तेः कुतोऽन्वयस्यापि प्रसिद्धिः ?

उक्त संपूर्ण दूषणोंके प्रसंगसे भयभीत होकर यदि फिर तुम ईश्वरकी अनेक शक्तिवाली एक ही सिसृक्षाको नित्य स्वीकार कर लोगे तब तो महेश्वरके हुये न्यायके समान इस नित्य सिसृक्षाका भी वही व्यतिरेकका अभाव दोष लग बैठेगा । अर्थात्—नित्य महेश्वरका जैसे देशव्यतिरेक या कालव्यतिरेक नहीं बन पाता है उसी प्रकार महेश्वरकी सिसृक्षाका भी व्यतिरेक नहीं बन सकेगा । जब जब या जहां जहां सिसृक्षा नहीं है, तब तब, वहां वहां स्थावर आदि कार्य नहीं उपज पाते हैं । नित्य व्यापक सिसृक्षाके इस व्यतिरेकका अभाव होजानेसे अन्वय भी ठीक नहीं घट पाता है । अन्वयमें तो असाधारण कारणोंका और आकाश आदि साधारण कारणोंका पदस्थ समान है, अतः अन्वय व्यतिरेकोंके नहीं घटनेसे अनेक शक्तिवाली नित्य एक सिसृक्षाको स्थावर आदि कार्योंका निमित्तपना नहीं सधता है । यदि देश व्यतिरेक बन जानेकी रक्षा करनेके लिये उस सिसृक्षाको अल्पदेशवृत्ति अव्यापक माना जायगा तब तो इस सिसृक्षासे रीते होरहे देशोंमें भी स्थावर, ऋतुपरिवर्तन आदि कार्योंकी उत्पत्ति अविराम होरही देखी जाती है । इस कारण विचारे अन्वयकी भी प्रसिद्धि भला किस ढंगसे होसकी ? अर्थात्—सिसृक्षाके होनेपर ही कार्य उपजने चाहिये थे। किन्तु अव्यापक सिसृक्षा जहां नहीं है वहां भी कार्य उपज रहे हैं । अतः अन्वय बिगड गया ।

यदि पुनरनित्यापि सिसृक्षा ब्राह्मेण मानेन वर्षशतांते जगद्भोक्तृप्राण्यदृष्टसामर्थ्यादेवोत्पद्यते न सिसृक्षांतरादिति मतं, तदा तत एव जगदुत्पत्तिरस्तु किमीश्वरसिसृक्षया ? ततो न स्थावराद्युत्पत्तौ महेश्वरो निमित्तं तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाविकलत्वात् । यन्निमित्तं

तन्न तदन्वयव्यतिरेकानुविधानविकलं दृष्टं यथा कुविंदादिनिमित्तं वस्त्रादि । महेश्वरसिसृक्षान्वयव्यतिरेकानुविधानविकलं च स्थावरादि तस्मान्न तन्निमित्तमिति व्यापकस्य तदन्वयव्यतिरेकानुविधानस्यानुपलंभाद्व्याप्यतन्निमित्तत्वस्य स्थावरादिषु प्रतिषिद्धे सिद्धे सति सन्निवेशविशिष्टत्वादेर्हेतोरनैकांतिकत्वं स्थावरादिभिः केचिन्मन्यंते ।

यदि फिर तुम पौराणिकोंका यह मन्तव्य होय कि हम ईश्वरकी सिसृक्षाको नित्य नहीं मानते हैं । जिससे कि व्यतिरेक नहीं बन पावे किन्तु वह अनित्य भी सिसृक्षा ब्रह्मासम्बन्धी परिमाण (नाप) करके सौ सौ वर्षके अन्तमें जाकर जगद्वर्ती भोक्ता प्राणियोंके अदृष्टकी सामर्थ्यसे एक ही उपजती है । दूसरी सिसृक्षासे उसकी उत्पत्ति नहीं मानी जाती है । अर्थात्—सत्रह लाख अट्ठाईस हजार वर्षका सत्ययुग है । बारह लाख छियानवै हजार मानुष वर्षोंका त्रेतायुग है । आठ लाख चौंसठ हजार वर्षोंका द्वापर है । और चार लाख बत्तीस हजार मानुष वर्षोंका कलियुग है । यों सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुगकी सहस्र संख्याके बीत जानेपर ब्रह्माका एक दिन समझा जाता है । इसी प्रकार हजार चार युगोंके समान चार प्रहरोंकी एक रात मानी गयी है । यों इन रात, दिनोंसे महीना और वर्ष बनाकर सौ वर्षके पीछे एक ही सिसृक्षा उपजती है । उसको उपजानेमें अन्य सिसृक्षा कारण नहीं है । हां, जगत्के प्राणियोंके पुण्य, पाप, उस सिसृक्षाको उपजानेमें निमित्त पड जाते हैं । जैसे कि न्यायाधीशकी नियुक्तिमें अपराधी या निरपराधी पुरुषोंका पाप, पुण्य निमित्त हो जाता है । आचार्य कहते हैं कि तब तो उस ही कारणसे यानी सुख, दुःखको भोगनेवाले संसारवर्ती प्राणियोंके अदृष्टकी सामर्थ्यसे ही कार्य जगत्की उत्पत्ति हो जाओ जैसा कि हम जैन मानते हैं । ईश्वरकी सिसृक्षा करके क्या प्रयोजन सधा ? नियत कारणों द्वारा नियत कार्योंका उपजना बडा उत्तरदायी कर्तव्य है । अतः कारणकोटिमें अप्रमित ठलुआ पदार्थोंका बोझ बढाना हितकर नहीं है । तिस कारण सिद्ध हुआ कि स्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्तिमें महेश्वर या उसकी सिसृक्षा निमित्तकारण नहीं है । (प्रतिज्ञा) उन कार्योंके साथ अन्वय और व्यतिरेकके अनुविधानका रहितपना होनेसे (हेतु) जो कारण जिस कार्यका निमित्त है । वह कारण उस कार्यके साथ हो रहे अन्वयव्यतिरेकोंके अनुविधान करनेसे रीता नहीं देखा गया है । जैसे कि कोरिया, तुरी या कुलाल, दण्ड, आदिको निमित्त पाकर हुये वस्त्र, घट आदि कार्य हैं । (व्यतिरेकदृष्टान्त) महेश्वर या उसकी सिसृक्षाके साथ अन्वय व्यतिरेकका अनुविधान करनेसे विकल हो रहे स्थावर आदि कार्य हैं । (उपनय) तिस कारणसे वे स्थावर आदि कार्य उस महेश्वर या सिसृक्षाको नहीं निमित्त पाकर उपजे हैं । (निगमन) इस पांच अवयववाले अनुमान द्वारा व्यापक हो रहे तदन्वय व्यतिरेकानुविधानके अनुपलम्भसे स्थावर आदि कार्योंमें तन्निमित्तपनका प्रतिषेध हो जाना सिद्ध होते सन्ते सन्निवेशविशिष्टत्व, कार्यत्व, आदि हेतुओंका स्थावर, खनिज, आदि कार्योंकरके व्यभिचार दोष होनेको कोई कोई विद्वान् मान रहे हैं । अर्थात्—कार्य कारण भावका व्यापक अन्वयव्यतिरेकानुविधान है ।

व्यापक नहीं होनेसे व्याप्यका अभाव साध लिया जाता है। ईश्वर या ईश्वर इच्छाके साथ कार्य उस अन्वय-व्यतिरेकपद्धतिका अनुसरण नहीं करते हैं। इस कारण कार्योंके निमित्त ईश्वर या ईश्वर इच्छा नहीं है। यों स्थावर आदि कार्योंके प्रति ईश्वर या ईश्वर इच्छाका निमित्तपना जब युक्तियोंद्वारा निषिद्ध हो चुका तो ईश्वरवादियोंद्वारा पहिले कहे गये सन्निवेशविशिष्टत्व, अचेतनोपादानत्व आदि हेतुओंका व्यभिचार दोष तदवस्थ रहा, यों कोई पण्डित जैनोंकी चाटुकारता करते हुये मान रहे हैं। ग्रंथकारका इनके प्रति कोई अत्यधिक आदर अथवा घृणाका भाव नहीं है। यह उनका परिणाम अडतीसवीं वार्तिकसे ही ध्वनित हो जाता है।

एवमीशस्य हेतुत्वाभावसिद्धिं प्रचक्षते ।
व्यापकानुपलंभेन स्थावरादिसमुद्भवे ॥ ५० ॥

श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि यहां कोई विचारशाली विद्वान् इस प्रकार उक्त रूपसे बहुत अच्छा स्पष्ट कथन कर रहे हैं कि स्थावर, मेघवृष्टि, आंधी आदिकी भले प्रकार उत्पत्ति होनेमें ईश्वरको निमित्तकारणपनके अभावकी व्यापकके अनुपलम्भ करके सिद्धि हो रही है। अर्थात् —कार्य कारण भावका व्यापक अन्वय व्यतिरेकभाव है। जहां व्यापक नहीं है वहां व्याप्य नहीं ठहर सकता हैं। अडतीसवीं वार्तिकमें वैशेषिकोंके हेतुओंका जो व्यभिचार दोष किन्हीं विद्वानों करके उठाया गया है वह अनुचित नहीं है।

एवं जगतां बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये कार्यत्वादिहेतोः स्थावरादिभिर्व्यभिचारमुद्भाव्य पुनः स्थावरादीनामीशनिमित्तत्वाभावसिद्धिं व्यापकानुपलंभेन केचित्प्रचक्षते ।

इस प्रकार किसी बुद्धिमान् ईश्वरमें तीनों जगत्का कारणपना साध्य करनेपर दिये गये कार्यत्व सन्निवेशविशिष्टत्व आदि हेतुओंका स्थावर, पर्वत, आदिकोंकरके व्यभिचार हेत्वाभासको उठाकर फिर ईश्वरमें स्थावर, पृथिवी, आदि कार्योंके निमित्तकारणपनके अभावकी सिद्धिको व्यापकानुपलम्भकरके जो कोई बखानते हैं वे विद्वान् अच्छा निरूपण कर रहे हैं, हमें उनके कर्तव्यपर संतोष हैं।

पक्षस्यैवानुमानेन बाधोद्भाव्येति चापरे ।
पक्षीकृतैरयुक्तत्वाद्व्यभिचारस्य साधने ॥ ५१ ॥

दूसरे कोई विद्वान् यहां यों कह रहे हैं कि वैशेषिकोंके पक्षकी अनुमानकरके ही बाधा उठानी चाहिये वैशेषिकों करके पक्षमें पहिले नहीं किये किन्तु पुनः पक्षकोटिमें धर लिये गये स्थावर आदिकों करके कार्यत्व आदि हेतुओंमें व्यभिचार हेत्वाभासका उठाना युक्तिरहित है। भावार्थ—जैनमतका पक्ष ले रहे केचित् विद्वान्के ऊपर जैनसिद्धान्तपर भक्ति रखनेवाले अपर विद्वानोंका यह आक्षेप

है कि त्रिजगत्का निमित्तकारण ईश्वरको साध्य करनेमें कार्यत्व आदि हेतुओंका पहिले व्यभिचार दोष उठाना और फिर बाधित हेत्वाभास दोष उठाना यह मार्ग प्रशस्त नहीं है। हां, यह मार्ग सुंदर है कि वैशेषिकोंके अनुमानको झटिति नष्ट करनेवाले इस अनुमानकरके बाधित दोष उठाना चाहिये कि महेश्वर (पक्ष) स्थावर, बीज, आदि कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण नहीं है। (साध्य) उनके साथ अन्वय व्यतिरेकोंके अनुविधानकी विकलता होनेसे (हेतु) यह निर्दोष अनुमान जैनोंकी ओरसे समुचित प्रयुक्त किया जासकता है, केचित् विद्वानोंको स्थावर, हीरा, पन्ना, आदि करके व्यभिचार दोष उठाना अनुचित है। क्योंकि वैशेषिकोंके यहां स्थावर, समुद्रज, खनिज आदि पदार्थोंको भी पक्षकोटिमें डालकर उनको ईश्वरका कार्य मान लिया गया है वे एक एक अन्नके दाने या फूलकी पांखरी तक कोई ईश्वरकी इच्छा पर निर्भर मानते हैं। " नहि पक्षे पक्षसमे वा व्यभिचारः " पक्ष या पक्षसममें दिया गया व्यभिचार दोषाधायक नहीं है, जब बाधक अनुमान द्वारा प्रतिपक्षीके बाध्य अनुमानका साक्षात् खंडन किया जा सकता है तो अनुमितिके कारण होरहे व्याप्तिज्ञान या परामर्शको बिगाडनेवाले व्यभिचार दोषका उठाना छोटापन है।

अनेनैवानुमानेन व्यापकानुपलंभेन पक्षबाधोद्भावनीया कालात्ययापदिष्टत्वं च हेतोस्तथोद्भावितं स्यान्न पुनः पक्षीकृतैः स्थावरादिभिः साधनस्य व्यभिचारस्तत्रोद्भावनीयस्तस्यायुक्तत्वात्। एवं हि न कश्चिद्धेतुरव्यभिचारी स्यात् कृतकत्वादेरपि शब्दानित्यत्वादौ पक्षीकृतैः शब्दैरेव कैश्चिद्व्यभिचारस्योद्भावयितुं शक्यत्वात्।

" महेश्वरो स्थावराद्युत्पत्तौ न निमित्तं " इस ही अनुमान करके अन्वय, व्यतिरेक अनुविधान स्वरूप व्यापकके अनुपलंभ द्वारा वैशेषिकोंके पक्षकी बाधा उठानी चाहिये, और तैसा होनेपर वैशेषिकोंके कार्यत्व आदि हेतुओंका कालात्ययापदिष्टत्व यानी बाधितहेत्वाभासपना भी उठाया जा चुका समझा जायगा, किंतु फिर वैशेषिकों द्वारा पक्षमें करलिये गये, स्थावर, जंगम, प्राणियोंके शरीर आदिकों करके कार्यत्व आदि हेतुओंका व्यभिचार तो वहां वैशेषिकोंके अनुमानमें नहीं उठाना चाहिये, क्योंकि पक्ष कर लिये गये स्थलों करके ही उस व्यभिचार दोषका उठाया जाना अयुक्त है। इस प्रकार केचित् विद्वान् यदि पक्षमें कर लिये गये स्थलों करके ही व्यभिचार दोष उठायेंगे तब तो कोई भी हेतु विचारा व्यभिचारदोषसे रहित नहीं हो सकेगा। पक्ष किये गये पर्वतमें अग्निकी उपलब्धि नहीं होनेपर धूम हेतुको भी व्यभिचारी कहा जा सकता है। पक्षमें साध्य विवादापन्न हो ही रहा है। सर्वथा निर्दोष होकर प्रसिद्ध हो रहे कृतकत्व, सत्त्व, आदि हेतुओंका भी शब्दके अनित्यपन, परिणामीपन आदिकी सिद्धि करनेमें पक्ष कर लिये गये शब्द करके ही कोई अल्हड पुरुष व्यभिचार दोषको उठा सकता है। ईर्षालु स्त्रियां इठलाती हुयीं सुंदर स्त्रियोंपर यों ही झूंठ, मूठ, व्यभिचार दोषका आरोप कर बैठती हैं। एतावता वह दोष यथार्थ नहीं समझ लिया जाता है।

न कश्चिज्जगद्बुद्धिमन्निमित्तं साधयितुं स्थावरादीन् पक्षीकुरुते । तैः साधनस्य व्यभिचारोद्भावने वा कृते सति पश्चाश्च पक्षीकुर्वीत येन व्यभिचारविषयस्य पक्षीकरणाद्धेतोर-व्यभिचारे न कश्चिद्धेतुर्व्यभिचारी स्यात् ।

कोई कोई कर्तृवादी तो जगत्के बुद्धिमान् निमित्त कारण द्वारा बनाये जानेको साधनेके लिये पहिलेसे ही स्थावर, सूर्य, चन्द्रमा, आदिकोंको पक्षकोटिमें कर लेता है । हां, कोई वैशेषिक पृथिवी, पर्वत, शरीर आदिकोंको पक्ष करता है । ऐसी दशामें किसी प्रतिवादी द्वारा उन स्थावर आदिकों करके कार्यत्व हेतुका व्यभिचार दोष उठाना कर चुकनेपर पीछेसे स्थावर आदिको पक्षकोटिमें कर लेता है । किन्तु ऐसा कोई कर्तृवादी नहीं जो वन्य वनस्पति, खनिज, स्थावर, आदिको पक्ष कोटिमें नहीं करै क्योंकि ईश्वरवादी तो आत्मा, आकाश, परमाणु, आदि नित्य पदार्थोंको छोडकर शेष सभी स्थावर, खनिज, बीज, अंकुर, अदृष्ट, सूर्य, पर्वत, आदि अनित्य चराचर जगत्का निर्माण करनेवाला ईश्वरको मानते हैं । अतः वे सब पक्षकोटिमें आ जाते हैं । व्यभिचारके विषय हो रहे स्थलको पक्ष कर देनेसे हेतुका अव्यभिचार माना गया है । यदि व्यभिचारस्थलको पक्षकोटिमें प्रविष्ट करते हुये भी बलात्कारसे व्यभिचार उठाया जायगा । तब तो कोई भी हेतु व्यभिचार दोषरहित नहीं हो सकेगा । अतः यहां व्यभिचार दोष उठाना उचित नहीं है । जिससे कि वस्तुतः व्यभिचार दोषके विषय नहीं किन्तु असदाग्रह करके व्यभिचार दोषके विषय हो रहे स्थलको पक्ष कर देनेसे हेतुका अव्यभिचार माननेपर कोई भी हेतु व्यभिचारी नहीं बन बैठे यानी सभी हेतु व्यभिचारी नहीं बन जाय । एतदर्थ वैशेषिकोंके अनुमानमें पक्षीकृत स्थावर आदिकों करके व्यभिचार दोषको नहीं उठाओ ।

पक्वान्येतान्याम्रफलान्येकशाखाप्रभवत्वादुपयुक्तफलवदित्यादिषु तदेकशाखाप्रभवानाम-पक्वानामाम्रफलानां व्यभिचारविषयाणां पक्षीकरणादित्युपालंभः स्यात् । यथा चात्र न पक्षी-कृतैः कश्चिद्व्यभिचारमुद्भावयति किंतु प्रत्यक्षबाधा पक्षस्य हेतोश्च कालात्ययापदिष्टत्वं तथा प्रकृतानुमानेपि । यथा च पक्षस्य प्रत्यक्षबाधोद्भावयितुं युक्ता तथानुमानबाधापि । यथा च प्रत्यक्षबाधितपक्षनिर्देशानंतरम् प्रयुज्यमानो हेतुः कालात्ययापदिष्टस्तथानुमानबाधितपक्षनिर्देशा-नन्तरमपि सर्वथा विशेषाभावात् पक्षबाधोद्भावने च हेतुभिः परिदानमपि न भवेदिति सोद्भाव-नीया, तदुपेक्षायां प्रयोजनाभावादिति चापरे प्रचक्षते । अन्ये त्वाहुः ।

आम्रवृक्षकी एक शाखा पर कितने ही कच्चे, पक्के, फल लग रहे हैं किसी लोभी आतुर विक्रेताने बानगीके ढंगसे दो एक मीठे फल भोले क्रेताको चखा दिये शाखाके सम्पूर्ण फलोंका खाना खवाना प्रयोजनीभूत नहीं है । अतः विक्रेता अनुमान बनाता है कि ये सम्मुख देखे जारहे सभी आम्रफल (पक्ष) पके हुये हैं (साध्य) वृक्षकी एक शाखामें उपजना होनेसे (हेतु) उपयोगोंमें आचुके चूसे हुये आमके समान (अन्वय दृष्टान्त) । अथवा मित्रा नामक काली स्त्रीका गर्भस्थ पुत्र

गोरा है, अथवा चार काले पनके पत्र, शाक, आदिका भक्षण बहिरंग कारण और अन्तरंग कारण कृष्ण वर्ण नामक प्रकृतिका उदय नहीं मिलनेसे गर्भका पुत्र गोरा है, कोई स्थूल बुद्धि पुरुष अनुमान बनाता है कि गर्भस्थित पुत्र होनेसे (हेतु) इतर तीन, चार, देखे जारहे पुत्रोंके समान (अन्वयदृष्टान्त) । इसी प्रकार वह तीसरा अनुमान किसीने उठाया कि यह छात्र (पक्ष) व्युत्पन्न है (साध्य) इस प्रसिद्ध विद्यालयमें प्रकाण्ड विद्वान् द्वारा ग्रन्थाध्ययन करने वाला होनेसे (हेतु) परिदृष्ट व्युत्पन्न विद्यार्थियोंके समान (अन्वयदृष्टान्त) । वस्तुतः वह छात्र अव्युत्पन्न था इत्यादिक स्थलोंमें व्यभिचारके विषय हो रहे उस एक शाखापर उपजे हुये कच्चे आम्र फलोंको या गर्भस्थ पुत्रको अथवा उपद्रवी, अविनीत, छात्रको पक्ष कोटिमें कर देनेसे यों उपालम्भ हो जाता । अर्थात्—व्यभिचार स्थलोंको पक्षकोटिमें डाल देनेसे पुनः व्यभिचार दोष नहीं उठाया जाना चाहिये जिस प्रकार कि यहां एकशाखाप्रभवत्व आदि हेतुओंमें पक्षकोटिमें कर लिये गये कच्चे फल आदिकों करके कोई भी विचारशील पण्डित पुनः उन करके व्यभिचार नहीं उठाता है । किन्तु प्रत्यक्षप्रमाणसे पक्षकी बाधा देना दोष ही उपस्थित करता है और ऐसी दशामें हेतुका बडा दृढ दोष कालात्ययापदिष्टपना यानी बाधितपना उठाकर वादीकी सम्पूर्ण मनोरथ-भित्तियोंको वह प्रतिवादी ढाह देता है । उसी प्रकार प्रकरणप्राप्त वैशेषिकोंके अनुमानमें भी जैनोंको व्यभिचार दोष नहीं उठाकर बाधितहेत्वाभास उठाना चाहिये । जिस प्रकार कि पक्षकी प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधाको उठानेके लिये समुचितपना है उसी प्रकार अनुमानप्रमाण करके भी पूर्वपक्षीके अनुमानमें प्रसन्नतापूर्वक बाधा उठाई जा सकती है । " वह्निरनुष्णः द्रव्यत्वात् जलवत् अग्नि (पक्ष) शीतल है (साध्य) द्रव्य होनेसे (हेतु) जलके समान (अन्वयदृष्टान्त) । इस अनुमानमें जैसे स्पार्शन प्रत्यक्षसे बाधितपना आपादित कर दिया जाता है । उसी प्रकार " अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् " इस अनुमानको शब्द परिणामी है सत् होनेसे इस अनुमान द्वारा बाधित किया जाता है । प्रकरणमें द्वीप आदिक (पक्ष) किसी बुद्धिमान् करके बनाये गये हैं (साध्य) विशेष रचनावाले होनेसे या कार्य होनेसे (हेतु) इस नैयायिकोंके पक्षकी स्थावर आदिकी उत्पत्तिमें महेश्वर (पक्ष) निमित्त कारण नहीं है (साध्य) अन्वयव्यतिरेककी घटना नहीं होनेसे (हेतु) इस अनुमान द्वारा बाधा उठाई जा सकती है । तथा प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित हो रहे पक्षनिर्देशके अनन्तर प्रयुक्त किया जा रहा हेतु जिस प्रकार बाधित हेत्वाभास है उसी प्रकार अनुमानप्रमाणसे बाधित हो रही प्रतिज्ञाके निर्णीत निर्देशके पश्चात् प्रयुक्त किया जा रहा हेतु भी कालात्ययापदिष्ट है प्रत्यक्षबाधित और अनुमानबाधित पक्षसे अनुमिति तत्कारणान्यतरविरोधित्व सम्बन्धकरके सहित हो रहे हेतुओंमें सभी प्रकारोंसे कोई विशेषता नहीं है । एक बात यह भी है कि हेतुओंकरके वादीके पक्षकी बाधाको उठानेपर पुनः परिवर्तन भी नहीं हो सकेगा । अर्थात्—एक हेतुसे पक्षसिद्धि न रही दूसरे हेतुओंसे कर लेंगे यों भी पक्षकी सिद्धि नहीं हो सकती है । जब प्रत्यक्षसे अग्निका उष्णपना या अनुमानसे शब्दका परिणामीपना प्रसिद्ध है । तो

हजारों हेतुओंसे भी अग्निका अनुष्णपना या शब्दका कूटस्थ नित्यपना कथमपि नहीं साधा जा सकता है। अथवा पहिलेसे बाधित हेत्वाभासके उठा देनेपर पुनः अन्य हेतुओं करके भी वादीका पक्ष रक्षित नहीं किया जा सकेगा। बलवती बाधाके उपस्थित कर देनेपर सम्पूर्ण हेतुओंकी शक्तियां मर जाती हैं। इस कारण कर्तावादियोंके पक्षमें वह बाधा उठा देनी चाहिये उस बाधाको उपस्थित करनेकी उपेक्षा (लापरवाही) करनेमें कोई प्रयोजन नहीं है। पाप या कृष्ण सर्पको अविलम्ब पृथक् कर दिया जाय यही सबका इष्ट प्रयोजन होना चाहिये उनको रखनेमें कोई प्रयोजन नहीं सधता है। प्रत्युत महती हानि होनेका खटका है। यों यहांतक कोई दूसरे विद्वान् अच्छा बखान कर रहे हैं। श्री विद्यानन्द आचार्यने बडी विद्वत्ताके साथ कर्तृवादका निराकरण किया है जैसे गुरुजी महाराज अपने अनेक शिष्योंकी परीक्षा लेते हुये भिन्न भिन्न वचनभंगियों द्वारा एक ही प्रमेयकी न्यारी न्यारी व्याख्या करा कर प्रसन्न होते हैं ग्रन्थकार भी जिनमार्गभक्त अनेक विद्वानों द्वारा कर्तृवादके निराकरणके पाठकी प्रक्रियाको मानो सुन रहे हैं। केचित् और अपरे विद्वानोंके पश्चात् अन्य विद्वान् तो यहां यों कह रहे हैं कि—

सर्वथा यदि कार्यत्वं हेतुः स्याद्वादिनां तथा।
न सिद्धो द्रव्यरूपेण सर्वस्याकार्यतास्थितेः ॥ ५२ ॥
कथंचित्तु विरुद्धः स्याद्धीमद्धेतु जगत्स्वयं।
कथंचित्साधयन्निष्टविपरीतं विशेषतः ॥ ५३ ॥

वैशेषिकोंने जो यह अनुमान कहा था। कि " द्वीपक्षित्यंकुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वाद् घटवत् " इस अनुमानमें कहे गये कार्यत्व हेतुका अर्थ यदि सभी प्रकारोंसे कार्यपना है तब तो स्याद्वादियोंके यहां द्वीप, पृथिवी, आदिमें तिस प्रकार सर्वथा कार्यपना हेतु सिद्ध नहीं है क्योंकि द्रव्यस्वरूप करके सम्पूर्ण पदार्थोंको कार्यरहितपना व्यवस्थित हो रहा है घट, पट आदिक भी द्रव्यार्थिक नय करके कार्य नहीं हैं। अर्थात्—जिन अनादि अनन्त द्रव्योंके पर्याय घट, पट, आदि हैं वे द्रव्य कार्य नहीं होकर नित्य हैं। अतः पक्षमें नहीं ठहरनेसे कार्यत्व हेतु असिद्ध हेत्वाभास हुआ। हां, इस असिद्ध दोषके निवारणार्थ सर्वथा पक्षको छोडते हुये तुम वैशेषिक यदि कथंचित् कार्यपनको हेतु मानोगे तब तो तुम्हारा हेतु विरुद्ध हेत्वाभास होजायगा क्योंकि तुम जगत्का बुद्धिमान हेतु करके सर्वथा उपजना साध रहे हो यानी जगत्में सर्वथा ईश्वर नामक कारणकी कार्यता है किन्तु कथंचित् कार्यत्व हेतु तो विशेष रूप करके इष्ट साध्य विपरीत हो रहे कथंचित् बुद्धिमान्के निमित्तकारणपनको साध रहा है। अतः तुम्हारा हेतु विशेष रूपसे विरुद्ध होरहा विरुद्ध नामका हेत्वाभास हुआ।

नाक्रोशंतः पलायंते विरुद्धा हेतवः स्वतः।
सर्वगे बुद्धिमद्धेतौ साध्येन्यैर्जगतामिह ॥ ५४ ॥

अन्य विद्वान् वैशेषिकों करके इस प्रकरणमें तीनों जगतोंके हेतु होरहे सर्व व्यापक किसी बुद्धिमान्को साध्य करनेपर दिये गये वे कार्यत्व आदि हेतु तो विशेष विरुद्ध हेत्वाभास हैं, इस प्रकार साध्यसे विपरीत कथंचित् बुद्धिमान्को निमित्तकारणपनकी सिद्धि होजानेकी बड़े बलसे पुकार करनेवाले ये हेतु अपने आपहीसे नहीं दूर भग जाते हैं। अर्थात्—व्यापक, सर्वज्ञ, बुद्धिमान्को निमित्तपना साधनेमें प्रयुक्त किये गये कार्यत्व आदि हेतु जब कथंचित् बुद्धिमान्को जगत्का कारणपन साध रहे हैं। तो ऐसी दशामें उस वैशेषिकके सिद्धान्तको गालिप्रदान कर रहे ये हेतु यों ही स्वतः नहीं भग जायंगे किन्तु वैशेषिकोंके विरुद्ध होकर जगत्में कथंचित् बुद्धिमान् द्वारा किये गये पनका ढिंढोरा पिटते रहेंगे। जैसे कोई सन्मार्ग प्रचारक, उद्वेगी, भला, मनुष्य यदि किसी असत् पक्षवाले पुरुषके साथ फंस जाय पुनः वह भला मानुष अपने साथीके दुर्गुणोंको देखता है तो उससे विरुद्ध होकर कटु शब्दों द्वारा उसकी भर्त्सना करता है यों ही चुपके नहीं भग जाता है उसी प्रकार कथंचित् कार्यत्व हेतु उन वैशेषिक या पौराणिककी अच्छी प्रतरणा करता हुआ उनके अभीष्ट साध्यसे विपरीत पक्षको साधनेके लिये कमर कस लेता है।

यदि सर्वथा कार्यत्वमचेतनोपादानत्वं, सन्निवेशविशिष्टत्वं, स्थित्वा प्रवृत्त्यादि वा हेतुस्तदा न सिद्धस्तन्वादेरपि द्रव्यार्थादेशादकार्यत्वात्। कार्यत्वं तावदसिद्धं तथा तस्य नित्यत्वव्यवस्थितेः सर्वथा कार्यत्वसिद्धिर्नित्यत्वानित्यत्वविरोधात्। अत एव सर्वस्यानुपादानत्वादचेतनोपादानत्वं न सिद्धं ज्ञानादेः पक्षीकृतस्यापि चेतनोपादानत्वात् तदभ्युपगमो नापि भागासिद्धं वनस्पतिचैतन्ये स्याप्यत्र। सन्निवेशविशिष्टत्वमपि न द्रव्यस्य पर्यायविषयत्वात्तस्येत्यसिद्धं ज्ञानादौ स्वयमनभ्युपगमाच्च भागासिद्धं तद्वदेव स्थित्वा प्रवृत्तिरपि न द्रव्यार्थादेशात् कस्यचित्तथा सर्वस्य नित्यप्रवृत्तत्वादिति तदसिद्धिः। अर्थक्रियाकारित्वं पुनर्द्रव्यादर्थान्तरभूतस्य पर्यायस्यैकांतेन तद्दुरुपपादमित्यसिद्धमेव।

स्याद्वादियोंके पक्षका आदर कर रहे कोई अन्य विद्वान् उन कर्तृवादियोंसे पूंछते हैं कि शरीर, पृथिवी, द्वीप, पर्वत आदिमें ईश्वरकृतपना साधनेके लिये प्रयुक्त किये गये कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व, सन्निवेशविशिष्टत्व, स्थित्वाप्रवृत्ति, अर्थक्रियाकारित्व आदिक हेतु यदि सर्वथा हैं। अर्थात्—पृथिवी, शरीर, आदिमें सभी प्रकारोंसे कार्यपना या सभी प्रकारोंसे अचेतन उपादान कारणोंसे जन्यपना आदि हैं तब तो तुम्हारे हेतु सिद्ध नहीं हैं असिद्ध हेत्वाभास हैं क्योंकि द्रव्यार्थिक–नय–द्वारा निरूपण करनेसे तनु, द्वीप, पर्वत, आदिक भी कार्य नहीं हैं सम्पूर्ण द्रव्य अनादि अनन्त हैं शरीर आदि पर्यायें भले ही अनित्य होय किन्तु शरीर आदिका पुद्गल द्रव्य नित्य है। अतः सभी प्रकारोंसे यानी द्रव्यरूपसे भी कार्यपना मानना तो तनु आदिमें असिद्ध है तिस प्रकारसे तो उन तनु आदिकोंको नित्यपना व्यवस्थित हो रहा है। यदि सभी प्रकारोंसे किसीको भी अनित्य माना जायगा तो अर्थक्रिया

होनेका विरोध होगा। एक क्षणमें ही उपज कर नष्ट होनेवाला पदार्थ जब आत्मलाभ ही नहीं कर सका तो फिर अपने योग्य अर्थक्रियाको भला क्या करेगा ? अनेक क्षणोंतक ठहरते हुये ही बाण आदि पदार्थ अभीष्ट स्थानपर पहुंच सकते हैं। कालान्तर स्थायी घट ही जलधारण क्रियाको कर पाता है। बहुत देरतक ठहर रहे अन्न, जल, आदिक पदार्थ ही क्षुधा, पिपासा, आदिकी निवृत्ति कर सकते हैं। दीपकलिका, बिजली, बुदबुदा (बबूला) आदि पदार्थ भी सर्वथा नित्य नहीं हैं। असंख्य समयोंतक इनकी स्थिति है द्रव्यरूपसे तो ये भी नित्य हैं। अतः तुम्हारा सर्वथा कार्यत्व हेतु प्रकृत पक्षमें नहीं घटित होनेसे स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। तिस ही कारणसे यानी द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा कथन करनेसे जगतके सम्पूर्ण पदार्थोंको उपादान कारणसे रहितपना है जब कि सम्पूर्ण चराचर पदार्थ द्रव्यरूपसे नित्य हैं ऐसी दशामें वे उपादान कारणोंसे जन्य नहीं हो सकते हैं अतः शरीर, पृथिवी, आदिकोंमें अचेतन उपादान कारणोंसे उपजना हेतु भी सिद्ध नहीं है तब तो अचेतनोपादानत्व हेतु भी स्वरूपासिद्ध हुआ। दूसरी बात यह है कि अचेतनोपादानत्व हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास भी है। पक्षके एक देशमें हेतु रहे और पक्षके दूसरे देशमें हेतु नहीं रहे वह भागासिद्ध हेत्वाभास होता है। शरीर, पृथिवी, वृक्ष, आदिके उपादान कारण अचेतन माने गये हैं। किन्तु ज्ञान, सुख, इच्छा आदिक कार्य भी पक्षकोटिमें किये गये हैं। परन्तु ज्ञान आदिके उपादान कारण तो चेतन आत्मायें माने गये हैं। अतः उस स्वीकृति करके भी पक्षके परिपूर्ण देशोंमें नहीं ठहरनेसे अचेतनोपादानत्व हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास है। जैसे कि वनस्पतियोंमें चेतनपना सिद्ध करनेके लिये प्रयुक्त किया गया स्वापहेतु भागासिद्ध है वनस्पतियां (पक्ष) चैतन्यवाली हैं। (साध्य कोटि) शयन करनेवाली होनेसे (हेतु) दो दिनके जन्मे हुये बालकके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमान द्वारा निद्राकर्मका उदय होनेपर सो रहीं वनस्पतियोंमें तो चैतन्य घटित हो जाता है। किन्तु हलन, कम्पन, कर रहीं जागती हुयीं वनस्पतियोंमें स्वाप हेतुसे चेतनपना सिद्ध नहीं हो पाता है। सम्पूर्ण जागते हुये मनुष्य, पशु, पक्षी जीवोंमें भी स्वाप हेतुसे चैतन्यकी सिद्धि नहीं हो पाती है। तथा तीसरा सन्निवेशविशिष्टपना हेतु भी द्रव्यके घटित नहीं होता है। क्योंकि वह रचनाविशेष या तिकोने, चौकोने, गोल, आदि परिमाणोंकी रचनायें पर्यायोंमें पायीं जाती हैं। इस कारण सर्वथा सन्निवेशविशिष्टत्व हेतु स्वरूपासिद्ध है। चारो ओर देखी जा रहीं रचनायें जब कि पर्यायोंकी नियत हैं तो द्रव्यार्थिकरूपसे विशेष सन्निवेश उन पक्षोंमें नहीं वर्तता है एक बात यह भी है कि वैशेषिकोंने ज्ञान, सुख, आदि गुणोंमें या भ्रमण, चलन आदि क्रियाओंमें सन्निवेशविशेषको स्वयं स्वीकार नहीं किया है " गुणादिर्निर्गुणक्रियः " गुण, क्रिया, जाति, आदिमें परिमाण आदि गुण या क्रियायें नहीं ठहरते हैं गुण तो द्रव्योंमें ही पाये जाते हैं। अतः पक्षके एक देश हो रहे ज्ञान आदिमें सन्निवेशविशेषकी वर्तना नहीं होनेसे सर्वथा सन्निवेशविशिष्टत्व हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास है उन सर्वथा कार्यत्व, सर्वथा अचेतनोपादानत्व, सर्वथा सन्निवेशविशिष्टत्व हेतुओंके समान ही चौथ

ठहर ठहरकर प्रवर्तना हेतु भी सिद्ध नहीं है स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है । द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे किसी भी पदार्थकी तिस प्रकार ठहर ठहरकर विराम लेते हुये प्रवृत्ति नहीं होती है द्रव्यार्थिकनयसे तो सम्पूर्ण पदार्थ सूर्य, चन्द्रमाके अविराम प्रकाश करनेके समान अविश्राम नित्य प्रवृत्ति कर रहे हैं । पुद्गल द्रव्यके रूप, रस, आदिक गुण नित्य ही काली, पीली, खट्टी, मीठी आदि पर्यायोंके धारनेमें प्रवर्त रहे हैं एक क्षणका भी अवकाश नहीं मिलता है । जीव द्रव्य सर्वदा जानना, अस्तिपन, वस्तुपन आदिमें अनवरत प्रवृत्ति कर रहा है । जीवकी पर्याय बढई सुनार, कुलाल, या पुद्गलकी पर्याय कुठार, हथौडा, चाक घूमना आदिके समान मध्यमें विराम लेते हुये प्रवृत्ति करना द्रव्योंमें नहीं है । चला दिये गये यंत्र (मशीन) के समान जिस ओर धुन बंध गयी उसमें द्रव्य सदा प्रवर्तते रहते हैं इस कारण उस स्थित्वा प्रवृत्ति हेतुकी भी असिद्धि हुई । पांचवां अर्थक्रियाकारित्व हेतु फिर द्रव्यसे भिन्न हो रही पर्यायके पाया जाता है । घट, पट, आदि पर्यायें जल धारण आदि अर्थक्रियाओंको कर रही हैं । पुद्गलकी जल पर्याय करके स्नान, पान, अवगाहन, अर्थक्रियायें करीं जाती हैं । एकान्त करके यानी सर्वथा शरीर, पृथ्वी, आदिकोंको वह अर्थक्रियाकारीपन कठिनतासे भी नहीं बन पाता है । अर्थात्—द्रव्यरूपसे शरीर, पर्वत, आदिक किसी भी लौकिक प्रयोजन साधक अर्थक्रियाका सम्पादन नहीं कर रहे हैं जैसे कि खेतकी मिट्टी भले ही चना, गेहूं, ईख, मूंग, उर्द, बननेकी सामर्थ्यको रखती है किन्तु वर्तमान मिट्टी अवस्थामें रोटी, दाल, पेडा, या क्षुधा निवारण आदि कार्योंको नहीं कर पाती हैं अथवा इस पंक्तिका अर्थ यों कर लिया जाय कि वैशेषिकोंके यहां द्रव्यसे सर्वथा भिन्न मानी गयी पर्यायको अर्थक्रियाकारीपना कथमपि युक्तियोंसे नहीं सध पाता है । द्रव्यसे कथंचित् अभिन्न हो रहीं पर्यायें ही अर्थक्रियाओंको करती हैं पर्यायात्मक द्रव्य अर्थक्रियाओंको साध रहे हैं । अतः अर्थक्रियाकारित्व हेतु उन पृथ्वी, शरीर, आदि केवल पर्याय या स्वतंत्र द्रव्योंमें नहीं घटित हो पाता है इस कारण स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास ही है । यहांतक पांचों हेतुओंको सर्वथा स्वीकार करनेपर वैशेषिकोंके ऊपर स्वरूपासिद्ध हेत्वाभासका प्रसंग दे दिया गया है दो हेतुओंमें भागासिद्ध दोष भी जड दिया है ।

यदि पुनः कथंचित्कार्यत्वमन्यद्वा हेतुस्तदा विरुद्धः स्यात् स्वयमिष्टविपरीतस्य कथंचिद्धीमद्धेतुकत्वस्य साधनात् । सर्वथा बुद्धिमत्कारणत्वे हि साध्ये जगतः कथंचिद्धीमद्धेतुकत्वसाधनो हेतुर्विशेषविरुद्धः सर्वोऽपीति । नाकांशतः मपलायंते विशेषविरुद्धा हेतवः । कार्यत्वादिना मौलेन हेतुना स्वेष्टस्य साध्यस्याप्रसाधनात्तेषां निरवकाशत्वाभावात् तैरस्य व्याघातसिद्धेः ।

यदि फिर वैशेषिक कथंचित् कार्यपनेको हेतु स्वीकार करेंगे अथवा अचेतनोपादानत्व, सन्निवेशविशिष्टत्व, आदि अन्य हेतुओंमें कथंचित्पना लगाकर उनको हेतु अभीष्ट करेंगे तब तो उनके वे हेतु विरुद्ध हेत्वाभास होजायंगे क्योंकि कथंचित् कार्यपना आदि हेतु तो जगत्में कथंचित् बुद्धिमान्

हेतुसे जन्यपनको साधेंगे । अतः स्वयं दुष्ट होरहे सर्वथा बुद्धिमान् कारण करके जन्यपनसे विपरीत होरहे कथंचित् बुद्धिमान् हेतु करके जन्यपनके साथ व्याप्ति रखने वाले कथंचित् कार्यत्व आदि हेतु तो विरुद्ध हैं " साध्यविपरीतव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः " जगत्का सभी प्रकार व्यापक, सर्वज्ञ, एक अशरीर, बुद्धिमान् कारणसे जन्यपना साध्य करनेपर पुनः कथंचित् अव्यापक, अल्पज्ञ, अनेक सशरीर, बुद्धिमान् कारणोंसे जगत्की उत्पत्तिको साध देनेवाले वे सभी हेतु विशेषविरुद्ध हेत्वाभास होजाते हैं, अपना विशेष विरुद्धपना पुकार रहे वे हेतु यों ही सहजमें झट पलायन (भाग जाना) नहीं कर जाते हैं । बहुत दिनसे बिछुर गये अपने मूल्यवान् पदार्थकी प्राप्ति होजानेपर पुनः वह पदार्थ यों ही झट शत्रुओंको नहीं सोंप दिया जाता है । कथंचित् लगा देनेसे उक्त सभी हेतु वैशेषिकोंके विरुद्ध होकर स्याद्वादियोंके पक्षसिद्धिकी पुकार मचाते रहते हैं । विशेष विरुद्ध हेतु अपने कर्तव्य कथंचित् बुद्धिमान्से जन्यपनको चराचर जगत्में साध रहे हैं । निकृष्ट कार्यको साध लेनेका प्रकरण आनेपर भले ही कोई भाग जाय बल्कि है किन्तु प्रकृष्ट कार्योंको साधनेके लिये साधन अपना धन्य भाग समझते हैं वे अधिक देरतक ठहरना वांछते हुये बडी प्रसन्नतासे उन कार्योंको साधते हैं । सबसे प्रथम मूलमें कहे गये निर्विशेषण कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व, आदि हेतुओं करके वैशेषिकोंके यहां अपने इष्ट होरहे साध्यकी प्रसिद्धि नहीं होसकी है । हां कथंचित् कार्यत्वको सर्वत्र आदरके साथ स्थान मिल रहा है । किन्तु सर्वथा कार्यत्वको कहीं भी ठहरनेके लिये अवकाश प्राप्त नहीं होता है । अतः उन कथंचित् कार्यत्व, कथंचित् अचेतनोपादानत्व, आदि हेतुओंके अवकाशरहितपनका अभाव होजानेसे उन कथंचित् कार्यत्व आदि करके इस मूलमें उपात्त किये निर्विशेषण कार्यत्व या सर्वथा कार्यत्व आदि हेतुओंका व्याघात होजाना सिद्ध है । अर्थात्—सादर निमंत्रणपूर्वक सर्व स्थलोंपर अवकाश पारहे कथंचित् कार्यत्व हेतु करके सर्वत्रसे निरादर कर भगाये जारहे सर्वथा कार्यत्वहेतुका व्याघात कर दिया जाता है । यों वैशेषिकोंके सिद्धान्तका प्रत्याख्यान कर जैन सिद्धान्त अनुसार कथंचित् बुद्धिमान् निमित्तत्वकी सिद्धि होजाती है ।

न चैवं धूमादेरग्न्याद्यनुमानं प्रत्याख्येयं कथंचिदग्निमत्त्वादेरेव क्वचिल्लौकिकैः साध्यत्वात् कथंचिद्धूमवत्त्वादेरेव हेतुत्वेनोपगमाच्चासिद्धत्वविरुद्धत्वयोरयोगात् । तर्हि जगतां कथंचिद्बुद्धिमत्कारणत्वस्य साध्यत्वात् कथंचित्कार्यत्वादेश्च हेतुत्वोपगमात्परस्यापि न दोषः इति चेन्न, स्याद्वादिनां सिद्धसाधनस्य तथा व्यवस्थापनात् ।

यदि वैशेषिक यों कहें कि इस प्रकार विशेष विरुद्धताका कुचक्र यदि भले हेतुओंपर चला जायगा तब तो धूम, कृतकत्व, आदि हेतुओंसे अग्नि, अनित्यत्व, आदिको समझा रहे प्रसिद्ध अनुमानोंका भी प्रत्याख्यान हो जाना चाहिये । धूममें सर्वथा धूमपना नहीं है पौद्गलिकपना या कंठ, आंखमें विक्षेप करा देना भी धर्म वहां विद्यमान हैं । धूम सर्वथा अग्निको ही नहीं साधता है उष्ण-

ताको भी साधता है। गोले ईंधनके संयोगको भी समझा देता है। धूममें अनेक कुतर्क (तनाखियां) उठायी जा सकती हैं। कृतकत्व हेतुमें भी देश, कालके विशेषोंकी अपेक्षा लगाकर विशेष विरुद्धता धर दी जायगी। आचार्य कहते हैं कि यह नहीं समझना क्योंकि लोकदक्ष व्यवहारी जनों करके कथंचित् अग्निमत्त्व, कथंचित् अनित्यत्व आदिको ही साध्य किया है और कथंचित् धूमवत्त्व, कथंचित् कृतकत्व, आदिको ही हेतुपने करके स्वीकार किया गया है। अतः धूमादि हेतुओंमें असिद्ध हेत्वाभास, विरुद्ध हेत्वाभास, सहितपनका योग नहीं हो पाता है, यदि सर्वथा धूम या सर्वथा अग्निको हेतुपने करके स्वीकार किया गया है। अतः धूमादि हेतुओंमें असिद्ध हेत्वाभास, विरुद्ध हेत्वाभास, सहितपनका योग नहीं होपाता है। यदि सर्वथा धूम या सर्वथा अग्निको हेतु और साध्य बना जायगा तब तो इनको भी उन्हीं तोपके गोले सदृश हो रहे असिद्धपन, विरुद्धपनसे उठा दिया जायगा। वैशेषिक कहते हैं कि तब तो सम्पूर्ण जगतोंका कथंचित् बुद्धिमान् कारणसे जन्यपनको साध्य हो जानेसे और कथंचित् कार्यत्व, कथंचित् सन्निवेशविशिष्टत्व आदि को हेतुपना स्वीकार कर लेनेसे परवादी हम वैशेषिकोंके यहां भी कोई दोष नहीं आता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों कहनेपर स्याद्वादियोंकी ओरसे सत्रहवीं वार्तिकमें वैशेषिकोंके ऊपर सिद्धसाधन दोषकी तिस प्रकार व्यवस्था करा दी गयी है। हम स्याद्वादी जब कि नाना आत्माओंको शरीर, खनिज, पर्वत, आदि जगद्वर्ती कार्योंका निमित्तकारणपन प्रथम ही स्वीकार कर रहे हैं तो सिद्धको ही साधनेसे क्या लाभ ? वादीको प्रतिवादीके सन्मुख असिद्ध पदार्थकी सिद्धि करनी चाहिये, बुद्धिवृद्ध पुरुषोंको गतमार्गका पुनःगमन करना परिश्रमवर्धक ही है।

द्रव्यं गुणः क्रिया नान्त्यविशेषोऽशाश्वतो ननु ।
विवादाध्यासितो धीमान्हेतुः साध्यस्थितो यदा ॥ ५५ ॥
कार्यत्वं न तथा स्वेष्टविपरीतं प्रसाधयेत् ।
नाप्यसिद्धं भवेत्तत्र सर्वथापि विवक्षितं ॥ ५६ ॥
इत्येके तदसंप्राप्तं भेदैकांताप्रसिद्धितः ।
कार्यकारणयोरैक्यप्रतिपत्तेः कथंचन ॥ ५७ ॥

दूसरे कोई एक वैशेषिक विद्वान् स्वपक्षका अवधारण करनेके लिये यों कह रहे हैं कि हम सम्पूर्ण द्रव्योंको पक्ष नहीं बनाते हैं। किन्तु घट, पट, आदिक कार्यद्रव्योंको पक्षकोटिमें धरते हैं। इसी प्रकार अनित्य गुणोंको पक्ष स्थिर करते हैं। देशसे देशान्तर करा देना स्वरूप क्रियायें तो हमारे यहां सब अनित्य ही मानी गयी हैं। नित्य द्रव्योंमें वर्त रहे व्यावर्तक, अनन्त और अन्तमें वर्त रहे ऐसे अन्त्यविशेषोंको भी हम धर्मी नहीं बना रहे हैं। सामान्य, समवाय, नित्यगुण और नित्य द्रव्य भी धर्मी

नहीं हैं। किन्तु अनित्य द्रव्य, अनित्य गुण और सम्पूर्ण क्रियायें ही विवादमें प्राप्त हो रहीं पक्ष मानी गयीं हैं और जिस समय इन अशाश्वत द्रव्य गुण, क्रियाओंका निमित्तकारण एक बुद्धिमान् साध्यरूपसे व्यवस्थित किया गया है उस समय प्रयुक्त किया गया कार्यत्वहेतु तिस प्रकार हमको निज अभीष्ट होरहे साध्यसे विपरीतको कथमपि नहीं साध पावेगा, जो कि आप जैनोंने [illegible] वार्तिकमें विरुद्धपनेका कटाक्ष किया था यों कार्यत्व हेतु हमारे इष्ट साध्यको ही बढिया साधेगा। तथा वह कार्यत्वहेतु यदि सर्वथा भी विवक्षाप्राप्त कर लिया जायगा तो भी उन सर्वथा जन्य द्रव्य, गुण, क्रियाओंमें असिद्ध हेत्वाभास नहीं होसकेगा, अशाश्वत माने गये द्रव्य, गुण, क्रियाओंमें, सर्वथा कार्यत्वहेतु निर्द्वन्द्व ठहर जाता है। अतः " सर्वथा यदि कार्यत्वं " इस वार्तिकद्वारा असिद्ध दोष उठाना जैनोंका उचित कार्य नहीं है। यहांतक कोई एक कर्तृवादी कह रहे हैं ग्रन्थकार कहते हैं कि उनका वह कथन संगतिसे रहित हैं। क्योंकि वैशेषिकोंके यहां माने गये कार्य और कारणके एकान्तरूपसे भेदकी प्रमाणोंसे सिद्धि नहीं हो सकती है जब कि कार्य और कारणके कथंचित् एकपनकी निर्दोष प्रमाणों द्वारा प्रतिपत्ति होरही है। ऐसी दशामें परमाणु, आत्मा, आकाश, आदि कारण नित्य हैं तो कथंचित् अभिन्न होरहे उनके कार्य घट, पट, ज्ञान, इच्छा, शब्द, आदि भी कथंचित् नित्य होजायंगे। अतः पक्षमें सर्वथा कार्यत्वके नहीं ठहरनेसे कार्यत्व हेतु स्वरूपासिद्ध हो ही गया, कथंचित् नित्य पदार्थोंमें हेतुओंके सर्वथा जन्यपना अनुमानान्तरसे बाधित भी है। अतः तुम्हारा कार्यत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट हुआ, (अपील करनेपर उनकी सजा बढ गयी)।

यदप्याहुः परे पृथिव्यादिकार्यद्रव्यमशाश्वतं धर्मि तस्य विवादाध्यासितत्वान्न पुनराकाशं अभिलापात्मेवं शाश्वतं द्रव्यं, नाप्यात्मा सुखाद्यनुमेयो नित्यो, न कालः परत्वापरत्वाद्यनुमेयो दिग्वा, नापि मनः सकृद्विज्ञानानुत्पत्त्यानुमेयं, नापि पृथिव्यादिपरमाणवः कार्यद्रव्यानुमेयास्तेषामविवादापन्नत्वात् । तत एव न सामान्यमनुवृत्तिप्रत्ययानुमेयं, नापि समवाय इहेदमिति प्रत्ययानुमेयो, नान्त्यविशेषा नित्यद्रव्यवृत्तयोऽत्यंतव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः ।

उक्त वार्तिकोंकी व्याख्या इस प्रकार है कि दूसरे कर्तृवादी पण्डित जो भी यह कह रहे हैं कि पृथिवी, जल, तेज, वायु इस प्रकार चार जातिके अनित्य कार्यद्रव्योंको हम धर्मी बनाते हैं। क्योंकि उन अनित्य द्रव्योंका किसी बुद्धिमान् निमित्तद्वारा बनाया जाना ही विवादमें पडा हुआ है। किन्तु फिर शाश्वत नित्य पांच द्रव्य तो कार्यरूपसे विवादग्रस्त नहीं है। शब्दका समवायीकारण होकर गृहीत हो रहा नित्य द्रव्य आकाश इस प्रकार पक्ष नहीं किया गया है। अपना आत्मा स्व संवेद्य और दूसरोंका सुख, दुःख, आदिकरके अनुमान प्रमाणद्वारा जानने योग्य नित्य आत्माद्रव्य भी बुद्धिमद्धेतुकपनाकरके विवादापन्न नहीं है। जेठापन, छोटापन, इन कालिक परत्व, अपरत्व आदिकरके अनुमान करने योग्य परोक्षकालद्रव्य भी नित्य है। अतः कर्तृसाधक

अनुमानके पक्षमें नहीं धरा गया है। अथवा दैशिक परत्व, अपरत्व, " इदमतः " यह इससे पूर्व है, अमुक यहांसे उत्तरमें हैं इत्यादि लिंगकरके अनुमानसे जानी गयी नित्य दिशा द्रव्यका भी पक्षमें नहीं ग्रहण किया गया है। तथा " युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगं " चक्षु आदि कारणोंकरके होनेपर भी युगपत् कई ज्ञानोंकी उत्पत्ति नहीं होनेके करके अनुमान किया गया नित्य हो रहा मन भी धर्मी नहीं किया गया है। मन अनन्ते हैं। घट, पट, बिन्दु, हिम, ज्वाला, अंगार, श्वास, व्यजनवात, आदिक कार्य द्रव्योंकरके अनुमान प्रमाण द्वारा जान लिये गये पृथिवीपरमाणु, जलीय परमाणु, तैजस-परमाणुयें, ये नित्य हो रहीं पृथिवी आदि चार जातिकी परमाणुयें भी धर्मी नहीं की गयी हैं। क्योंकि उन नित्य परमाणुओंको कर्तृजन्यपनके विवादमें प्रसिद्धपना नहीं है। नित्य पदार्थोंको कोई भी पण्डित ईश्वरकृत नहीं मानता है तिस ही कारणसे यानी विवादापन्न नहीं होनेसे ही यह गौ, यह गौ यह भी वैसी ही गौ, इस प्रकारके अनुवृत्ति ज्ञानोंकरके अनुमान प्रमाण द्वारा जानने योग्य चौथा गोत्व द्रव्यत्व आदि सामान्य (जाति) पदार्थ भी हमने पक्षकोटिमें नहीं रखा है। तथा इन तन्तुओंमें पट है, इस घटमें रूप है इस प्रकार सप्तम्यन्त और प्रथमान्त पदोंका समभिव्याहार होनेपर " इह इदं " इस प्रतीतिके द्वारा अनुमान करने योग्य समवाय पदार्थ भी धर्मी नहीं बनाया है जो कि " एक एव समवायस्तत्त्वंभावेन, अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहेदं प्रत्ययहेतुः सम्बन्धः समवायः, नित्यसम्बन्धः समवायः " इस ढंगसे समवाय नित्य माना गया है तथा "अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिर्विशेषः परिकीर्तितः" अन्तमें होनेवाले और नित्यद्रव्योंमें वर्त रहे तथा अत्यन्त व्यावृत्तिबुद्धिके कारण ऐसे विशेष पदार्थ तो नित्य हैं उनको हम ईश्वरजन्य थोडा ही मानते हैं। अर्थात्—घटका व्यावर्तक कपाल, कपालका व्यावर्तक उसके अवयव कपालिकायें, यों दूर चलकर पंचाणुक, पुनः इसका व्यावर्तक चतुरणुक और चतुरणुकका भेदकारक त्र्यणुक एवं त्र्यणुकका व्यावर्तन करनेवाला द्व्यणुक है। द्व्यणुकोंकी व्यावृत्ति परमाणुओंसे हो जाती है। किन्तु अनन्तानन्त परमाणुओंकी परस्परमें विशेषताओंको करनेवाला एक एक परमाणुके साथ एक एक विशेष पदार्थ लगा दिया गया है। जो कि विशेष पदार्थ स्वतःव्यावृत्त है स्वपरप्रकाशक दीपकके समान स्वपरव्यावर्तक उसको अन्य विशेषोंकी अपेक्षा नहीं है। इस कारण विशेषको सबके अन्तमें ठहरा कर अन्त्य माना गया है वे अनन्तानन्त विशेष पदार्थ तो चतुर्विध अनन्त परमाणुओं और आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन इन नित्य द्रव्योंमें वर्तते हैं। परस्परमें या अन्य पदार्थोंसे हो रही अत्यन्त व्यावृत्ति बुद्धिके हेतुमें विशेष पदार्थ हैं। नित्य पदार्थ हो रहे इन विशेषोंको पक्षमें नहीं किया गया है।

तथा गुणोऽप्यशाश्वत एव रूपादिर्धर्मी न पुनः शाश्वतोऽन्त्यविशेषैकार्थसमवेतः। परिमाणैकत्वैकपृथक्त्वगुरुत्वस्नेहसलिलादिपरमाणुरूपरसस्पर्शादिलक्षणो नापि द्रवत्वममूर्तद्रव्यसंयोगो वा तदाधारेतरेतराभावो वा तस्यानुत्पत्तिरूपस्याविवादाध्यासितत्वात्।

वैशेषिक ही कहते जा रहे हैं कि तिसी प्रकार यानी उक्त नित्य द्रव्योंके समान नित्य गुण पदार्थ भी पक्ष नहीं किये गये हैं । गुण भी अनित्य ही घटरूप, इक्षुरस, पुष्पगन्ध, अग्निस्पर्श, आदि धर्मी पकडे गये हैं । किन्तु फिर अन्त्य विशेषोंके साथ एकार्थ समवायसम्बन्ध करके वर्त रहे नित्य गुण पदार्थको धर्मी नहीं किया गया है । अर्थात्—जिन दो गुणोंकी एक अर्थमें समवाय सम्बन्धसे वृत्ति होती है सहोदर भाइयोंके एकोदरत्व सम्बन्ध समान उन दो गुणोंका परस्परमें सम्बन्ध एकार्थ समवाय माना गया है । नित्य द्रव्योंमें विशेष पदार्थ समवाय सम्बन्धसे रहता है । और वहां ही नित्य द्रव्यके गुण रहते हैं । अतः उन गुणोंमें और विशेष पदार्थमें परस्पर एकार्थ समवाय सम्बन्ध हुआ नित्य द्रव्यमें रहनेवाले नित्य गुणोंको बुद्धिमान् हेतुसे जन्य साध्य करनेपर पक्षमें नहीं धरा गया है । यहां इतना विशेष समझ लेना कि नित्य द्रव्योंके कई गुण अनित्य भी हैं । जैसे कि संसारी आत्माके ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख, आदि गुण अनित्य हैं । आकाशका शब्दगुण अनित्य है । मनका संयोग गुण अनित्य है । नित्य द्रव्यके इन अनित्य गुणोंको तो पक्षकोटिमें डाल दिया गया है । जो गुण नित्य होकर नित्य द्रव्योंमें समवायसम्बन्धसे ठहर रहे हैं ऐसे परममहापरिमाण, आकाश, काल, आदिकी न्यारी न्यारी एकत्व संख्यायें, एक एक नित्य द्रव्यमें न्यारे न्यारे वर्त रहे पृथक्त्व गुण, जलकी परमाणुओंमें ठहर रहे गुरुत्व और स्नेहगुण तथा जल, तेज, वायुओंकी परमाणु-ओंमें पाये जा रहे रूप, रस, स्पर्श, आदि स्वरूप गुण तो धर्मी नहीं हैं । हां, घटमें रहनेवाले परिमाण, एकत्व संख्या, पृथक्त्व, गुरुत्व, रूप, रस, आदि अनित्य गुण तो पक्षमें धर लिये गये हैं । अवयवी जलका स्नेह गुण भी अनित्य है । पीलुपाकवादी विद्वान् पृथिवीके परमाणुओंमें अग्निसंयोग द्वारा पाक होनेको स्वीकार करते हैं । अतः पृथिवीके परमाणुओंमें पाये जानेवाले रूप, रस, आदि गुण अनित्य हैं । अतः ये पक्षकोटिमें हैं । तथा आद्य स्पन्दनका असम-वायी कारण हो रहा द्रवत्वगुण भी परमाणुओंमें वर्त रहा नित्य है । घृत, लाक्षा, मौम, आदि कार्योंको बनानेवाली पृथिवी परमाणु या तैजस सुवर्णको बनानेवालीं तैजस परमाणुओंमें अथवा सम्पूर्ण जल परमाणुओंमें पाया जानेवाला द्रव्यत्व गुण नित्य है । हां कार्यद्रव्य होरहे लाख रंग, आदिके द्रवत्व गुण अनित्य हैं नित्य द्रवगुण तो पक्षकोटिमें नहीं है । तथा अमूर्त द्रव्योंका संयोग भी पक्ष नहीं है । क्योंकि आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन इन अज-द्रव्योंका संयोग नित्य है । नित्य परमाणुगुणोंका संयोग तो अनित्य माना गया है । क्योंकि कारणवश विघट जाता है । अतः अमूर्त द्रव्योंके संयोगको छोडकर अन्य सम्पूर्ण संयोगोंको पक्ष बनालो, इसी प्रकार उन आधारभूत अनित्य द्रव्योंमें वर्त रहा इतरेतराभाव भी नित्य है । कतिपय वैशेषिक पण्डित एक कर्मोद्भव, द्वयकर्मजन्य, विभागजन्य, इन तीनों प्रकारके विभागोंको अनित्य ही मानते हैं । किन्तु संसारी आत्मामें चौदह गुण माने गये हैं । तथा " संख्यादिपञ्चकं बुद्धिरिच्छा यत्नोऽपि चेश्वरे । परापरत्वे संख्यादि पञ्च वेगश्च मानसे ॥ " इन कारिकाओं द्वारा नित्य द्रव्योंमें भी विभाग माना

गया है। परमाणुओंका विभाग भले ही अनित्य होय किन्तु अमूर्त नित्य द्रव्योंका विभाग तो नित्य माना जायगा। एक बात यह विचारनी है कि, जब कि व्यापक नित्य द्रव्योंमें सर्वदा अछिद्र नित्य संयोग होरहा है तो फिर " संयोगनाशको गुणो विभागः " ऐसे विभागगुणको वहां माननेमें जी हिचकिचाता है। जैन जन विभाग या पृथक्त्व गुणके प्रयोजनको अन्योन्याभावसे साध लेते हैं। किन्तु हम वैशेषिकोंके यहां अभाव पदार्थसे न्यारे पृथक्त्व और विभाग दो भावात्मक गुण माने गये हैं अतः नित्य द्रव्योंमें भया जा रहा अन्योन्याभाव तो पक्षमें परिगणित नहीं है। क्योंकि इस अन्योन्याभावकी कारणोंसे उत्पत्ति नहीं होरही है। नित्य स्वरूप वह अन्योन्याभाव तो कर्तृजन्य या कर्त्र-जन्यरूप करके विवादग्रसित नहीं है। सब कोई पण्डित नित्य, अन्योन्याभावको कर्त्रजन्य अभीष्ट कर रहे हैं।

तथा क्रिया धर्मिणी विनश्वरी परिस्पन्दलक्षणोत्क्षेपणादिर्न पुनर्धात्वर्थलक्षणा भावनादिः काचिन्नित्या तस्या अपि विवादापन्नत्वाभावात्। तस्य च बुद्धिमान् हेतुरस्तीति यदा साध्य-स्थितो भवेत् तदा न कार्यत्वं स्वेष्टविपरीतं साधयेत् स्वेष्टस्यैव सर्वथा बुद्धिमत्कारणकत्वस्य साधनात्। सर्वथा विवक्षितस्यापि तस्यासिद्धत्वं च नोपपत्तिमदिति तदेतत्सर्वमसंबद्धम्। कार्य-कारणयोर्भेदैकान्तासिद्धेः कथञ्चिदैक्यप्रतिपत्तेः। सर्वस्य तद्भेदैकान्तसाधनस्यानेकान्तग्राहिणा प्रमाणेन बाधितविषयत्वात् कालात्ययापदिष्टत्वव्यवस्थितेः।

वैशेषिक ही कहे जारहे हैं कि तिस ही प्रकार हलन, चलन, भ्रमण, ऊर्ध्वगमन, आदि परि-स्वरूप उत्क्षेपण आदि विनाशशील क्रियायें भी पक्ष हैं यानी पक्षकोटिमें धरी गयी हैं। द्रव्यको एक देशसे देशान्तरमें करादेनेवाली क्रियायें तो अनित्य ही हैं किन्तु फिर यजि, पचि, आदि धातुओंके अर्थस्वरूप भावना, नियोग, आदि कोई कोई नित्य क्रियायें तो पक्ष नहीं की गयी हैं। क्योंकि मीमांसक मतानुसार इन भावना आदि धात्वर्थ क्रियाओंको भी यहां प्रकरणमें विवादापन्नपना नहीं है। सामान्य, विशेष, समवाय तो नित्य पदार्थ हैं। अभावोंमें प्रागभाव अनादि है। अतः वह भी कर्तृजन्यत्वेन विवादपतित नहीं है। हां, ध्वंस नामका अभाव अनित्य है। उसको पक्षमें डाल लो। तादात्म्य-सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽन्योन्याभावः और त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताको अत्यन्ताभावः ये दो अभाव एक प्रकार नित्य ही हैं। इस प्रकार पक्षकोटिमें डाले गये अनित्य द्रव्य, गुण, क्रियायें, और ध्वंसका हेतु कोई बुद्धिमान् निमित्तकारण है। इस प्रकार जब साध्य कोटिमें व्यवस्थित किया जावेगा तब हमारा कार्यत्व हेतु हमारे अभीष्ट साध्य हो रहे ईश्वरजन्यत्वसे विपरीत साध्यको नहीं साध सकेगा। क्योंकि सबको इष्ट हो रहे सर्वथा बुद्धिमान् कारणसे जन्यत्वका ही साधन किया जा रहा है। अतः हमारा कार्यत्व हेतु विरुद्ध नहीं है। आप जैन त्रेपनवीं कारिकामें उठाये हुये दोषको लौटा लो। तथा यदि कार्यत्वका अर्थ सर्वथा कार्यत्व भी विवक्षा प्राप्त कर लिया जाय तो भी बाक

नवीं कारिका अनुसार उस कार्यत्वको असिद्ध हेत्वाभासपना नहीं बननेवाला है। क्योंकि हम पक्ष हो रहे अनित्य पदार्थोंमें सर्वथा कार्यपना वर्त रहा मानते हैं। " यदप्याहुः " से यहांतक वैशेषिक अपने पक्षको दृढ करते हुये कह रहे हैं। अब आचार्य कहते हैं कि यह वैशेषिकोंका सम्पूर्ण कथन पूर्वापर संगतिसे रहित होता हुआ असम्बद्ध है क्योंकि कार्य और कारणमें वैशेषिकोंके यहां अभीष्ट किये गये एकान्त रूपसे भेदकी प्रमाणोंसे सिद्धि नहीं हो सकी है क्योंकि कार्य और कारणके कथंचित् एकपनकी सबको प्रमाणों द्वारा प्रतिपत्ति हो रही है। उन कार्य और कारणके एकान्तरूपसे भेदको साधनेवाले सम्पूर्ण ज्ञानोंके विषयमें अनेकान्तके ग्राहक प्रमाणों करके बाधा उपस्थित कर दी जाती है। अतः भेदको साधनेवाले हेतुको बाधित हेत्वाभासपना व्यवस्थित कर दिया जाता है। जब कि घट, ज्ञान, शब्द, आदिके कारण होरहे परमाणु, आत्मा, आकाश, आदि कारण किसी भी बुद्धिमान्से जन्य नहीं हैं तो उनसे अभिन्न होरहे कार्य भी सर्वथा बुद्धिमान्से जन्य ही होय यह एकान्त नहीं किया जासकता है। अतः कार्यत्व हेतु बाधितहेत्वाभास है। तुम वैशेषिकोंने अनित्य द्रव्य, गुण, कर्मोंको पक्षकोटिमें धरा और नित्य द्रव्य, गुण, सामान्य, विशेष, समवाय, और कतिपय अभावोंको पक्ष नहीं बनाया भेदकी फुस फुसी भित्तिपर खडे होकर यह तुम्हारा परिश्रम करना पतनका हेतु समझा जायगा " तस्माद् द्यौरजायत " " आदावपो सृजत " इत्यादि वेदानुसार वाक्यों द्वारा कतिपय स्मृतिकार और पुराणकार विद्वानोंने आकाश, जल, आदिकी समूल सृष्टि स्वीकार की है। कोई पण्डित ईश्वरके शरीर मानते हैं अवतार लेना स्वीकार करते हैं। अन्य पण्डित ईश्वरको अशरीर अङ्गीकार करते हैं। ऐसी दशामें उक्त कथन पूर्वापरसंगतिसे शून्य होजाता है। शब्दको (विशेषतया वैदिक शब्दोंको) नित्य माननेवाले मीमांसकोंकी शब्दभावना, आत्मभावनाको स्वीकार कर लेते हो और कदाचित् वैशेषिक होकर शब्दको सर्वथा अनित्य मान बैठते हो संयोग या विभाग को अनित्य मानकर भी क्वचित् नित्य मान लिया गया है, परमाणुमें नहीं पाये जानेवाले गुरुत्वका बोझ बलात्कारसे परमाणुपर लादा गया है। नित्य द्रव्योंमें परस्पर भेद करानेके लिये अनन्त विशेष पदार्थोंका मानना निरर्थक है। वैशेषिकोंकी अभीष्ट पदार्थ प्रतिपादक प्रणालीमें अनेक दोष आते हैं उपादान कारण और उपादेयका सर्वथा भेद माने रहना कोरा मिथ्याभिनिवेश है।

ननु च कार्यकारणयोरेकस्य कथंचिन्निश्चयात् कार्यद्रव्यस्य कारणद्रव्याद्भेदैकान्तो माभूत् गुणस्य चानित्यस्य कर्मणोपि च तत्कार्यत्वाविशेषात् सदृशपरिणामलक्षणस्य सामान्यस्य विसदृशपरिणामलक्षणस्य विशेषस्य चात्यापरविकल्पस्य समवायस्य चाऽविष्वग्भावलक्षणस्य द्रव्यकार्यत्वात् कथंचित्ततोऽनन्यत्वमस्तु नित्यात्तु गुणाद्गुणी भिन्न एव तयोः कार्यकारणभावाभावादिति मन्यमानं प्रत्याह ।

वैशेषिक अपनी नीतिका प्रचार करनेके लिये पुनरपि अवधारण करते हैं कि कार्य और कारणके कथंचित् एकपनका निश्चय हो जानेसे घट, पट, आदि कार्यद्रव्योंका मृत्तिका, तन्तु आदि

कारणद्रव्योंसे एकान्तभेद नहीं होओ तथा अनित्यगुण और क्रियाओंका भी अपने समवायीकारण द्रव्य से एकान्त भेद नहीं होवे क्योंकि उन द्रव्योंका उपादेयरूपसे कार्यपना गुण कर्मोंमें विद्यमान है। द्रव्यकी उपादेयता और गुण क्रियाओंकी उपादेयतामें कोई अन्तर नहीं है एवं तुम जैनोंके यहां माने गये सदृशपरिणामस्वरूप सामान्य पदार्थका और विसदृशपरिणामस्वरूप विशेषका जो कि हम वैशेषिकोंके यहां अन्त्य विशेष और अपर विशेष दो प्रकारका माना गया है। अपने कारण द्रव्यके साथ भले ही सर्वथा भेद नहीं होओ एवं पृथग्भाव नहीं होकर तादात्म्य सम्बन्धस्वरूप हो रहे समवायका भी अपने कारणके साथ सर्वथा भेद नहीं सही क्योंकि उक्त अनित्य पदार्थोंको द्रव्यका कार्य होनेसे उस कारणसे कथंचित् अभिन्नपना बना रहो कोई क्षति नहीं है। किन्तु नित्य गुणसे तो गुणी द्रव्य भिन्न ही होगा। क्योंकि उन नित्य गुण और नित्य गुणीमें कार्यकारणभाव नहीं है। अर्थात्—आप जैन कार्य द्रव्यों (पर्यायों) अनित्यगुण अनित्य क्रियाओंको जैसा मानते हैं तदनुसार कार्य और कारणका कथंचित् अभेद अच्छा है " सदृशपरिणामस्तिर्यक्सामान्यं " " अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेकविशेषः " ऐसे सामान्य विशेषोंका भी अपने कारणोंके साथ कथंचित् अभेद हमें अच्छा दीखता है। वैशेषिकोंने विशेषके दो भेद माने हैं एक अन्तमें ठहरनेवाला नित्यद्रव्यवृत्ति विशेष है दूसरा सत्ता या द्रव्यत्वके व्याप्य होरहीं पृथिवीत्व, घटत्व, आदि जातियों या विशेष द्रव्य, गुण, आदिको दूसरा अपर विशेष इष्ट किया है अस्तु—" नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः अविभ्राड्भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा " यों अपृथग्भाव (तादात्म्य) स्वरूप समवाय सम्बन्ध भी कथंचित् अभिन्न बन जाओ हमारी कोई क्षति नहीं है। किन्तु नित्य गुण परममहापरिमाण आदिसे आकाश आदि गुणवान् द्रव्योंको भिन्नही मानना आवश्यक है। उपादान कारण स्वयं उपादेयरूप परिणत होय तब तो अभेद मान लेना अच्छा जचता है किन्तु जहां परिणाम परिणामीभाव नहीं है गुण गुणीका तत्त्वान्तर रूपसे भेद अक्षुण्ण बना रहो। अतः आप हमारे सर्वथा भेदका सहारा पाकर बाधाओंको नहीं उठा सकते हैं इस प्रकार कोई वैशेषिक पण्डित मान रहे हैं उनके प्रति श्री आचार्य महाराज उत्तर वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

नैकांतभेदभृत्सिद्धो नित्यादपि गुणाद्गुणी।
द्रव्यस्यानादिपर्यन्तपरिणामात् तथा स्थितेः॥ ५८॥

नित्य होरहे भी गुणसे सर्वथा भेदको धार रहा गुणी द्रव्य सिद्ध नहीं है क्योंकि अनादि कालसे अनन्त कालपर्यन्त सहभावी परिणामोंसे द्रव्यकी तिस प्रकार व्यवस्था होरही है। अर्थात्—अखण्ड द्रव्यके नियत कार्यो द्वारा अनुमित किये गये अनन्त गुण अविष्वग्भावरूपसे द्रव्यमें वर्त रहे हैं जबसे द्रव्य है तभीसे वे गुण हैं द्रव्यके सहभावी परिणाम गुण माने गये हैं। अतः नित्य गुणोंके साथ नित्य द्रव्यका अभिन्नपना सुलभ है प्रत्युत अनित्य गुण, क्रियाओं, सदृशपरिणाम,

आदिका अपने द्रव्यके साथ अभेद साधना कठिन कसाला है क्योंकि नील घटका ही अग्निसंयोगसे लाल घट होजाता है आत्मा बना रहता है उसका गुण या पर्याय होरहा ज्ञान बिगट जाता है। नर्तकी अनेक शरीरक्रियाओंको विनाशती, उपजावती, घण्टों तक वहकी वहीं नाचती रहती है, सामान्य या विशेषोंमें भी सर्वथा अभेद दुर्लभ है। अतः नित्य गुण और गुणी द्रव्यका सर्वथा भेद माने जाना वैशेषिकोंका असत् आग्रह है।

न केवलमनित्याद्गुणात्कर्मादेश्च गुणी जीवादिद्रव्यपदार्थः सर्वथा भिन्नो न सिद्धः। किं तर्हि? नित्यादपि गुणादर्शनादिसामान्यान्न सर्वथा भिन्नस्तस्य तथानादिपर्यन्तपरिणामात्तथा व्यवस्थितत्वाज्जीवत्वादिवत्। कथंचित्तादात्म्याभावे तस्य तद्गुणत्वविरोधाद्द्रव्यांतरगुणवत्।

अनित्य होरहे गुणसे अथवा कर्मसामान्य आदिसे सर्वथा भिन्न होरहे गुणवान् जीव, पुद्गल आदिक द्रव्य पदार्थ ही सिद्ध नहीं होसकते हैं केवल इतना ही नहीं है तो और क्या क्या है? इसका उत्तर यह है कि नित्य द्रव्यके अनुजीवी होते हुये नित्य ही रहे दर्शन, चारित्र, वीर्य, रूप, रस, आदि सामान्य गुणोंसे भी जीवादिक पदार्थ सर्वथा भिन्न नहीं हैं। जैसा कि सर्वथा भेदको वैशेषिक मान बैठे हैं। क्योंकि तिस प्रकार द्रव्य और गुणका तदात्मकपने करके अनादिसे अनन्तकाल तक परिणाम हो रहा है। अतः तिस प्रकार सर्वथा भिन्नता नहीं होते हुये कथंचित् अभेद व्यवस्थित हो रहा है। जैसे कि जीवद्रव्यमें चैतन्य या द्रव्य प्राण अथवा भावप्राणोंका धारण करा देनेवाले स्वरूप जीवत्व गुण या पुद्गलमें रूप, रस, आदिके साहचर्य परिणामका प्रयोजक पुद्गलत्व इसी प्रकार आकाश आदि द्रव्योंमें अवगाहप्रयोजक आकाशत्व आदि गुण उपजीव्य उपजीवक रूपसे तदात्मक होते हुये कथंचित् अभिन्न हैं। यदि गुण और गुणीमें कथंचित् तदात्मकपना नहीं माना जायगा। तो उस प्रकृत गुणको नियत गुणीके गुण हो जानेपनका विरोध हो जायगा जैसे कि अन्य द्रव्योंके गुण इस प्रकरण प्राप्त द्रव्यके गुण नहीं माने गये हैं। आत्मासे भिन्न पडा हुआ रुपया या पैसा जैसे किसी नियत व्यक्तिका नहीं है। बजाज, सराफ, पंसारी, हलवाई, भृत्य, बालक, सभीका हो सकता है उसी प्रकार आत्मासे भिन्न पडा हुआ ज्ञान गुण आकाशका या घटका भी हो जाय तो वैशेषिकोंके यहां कौन रोकनेवाला है? हां, अभेद पक्षमें यह आक्षेप नहीं चल सकता है।

तत्र समवायात्तस्य तद्गुणत्वमिति चेन्न, समवायस्य समवायितादात्म्यस्य प्रसाधितत्वात्। ततः सर्वस्य विवादाध्यासितस्य तनुकरणभुवनादेः सर्वथा बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये कथंचित्कार्यत्वं साधनं स्वेष्टविपरीतं कथंचिदबुद्धिमन्निमित्तत्वं प्रसाधयेदेनेति विरुद्धं भवेत्। सर्वथात्र कार्यत्वमसिद्धमिति दुष्परिहरमेवैतद्दूषणद्वयं।

यदि वैशेषिक यों कहें कि उस नियत गुणी द्रव्यमें उस गुणका समवाय सम्बन्ध हो रहा है। अतः उसको नियत रूपसे उसका गुणपना है। अर्थात्—आत्मामें ज्ञानका समवाय है अतः ज्ञान

गुण आत्माका है और शब्दका आकाशमें समवाय है इस कारण आकाश गुण शब्द है तथा घट, पट, आदिमें रूप, रस, आदिका समवाय होनेसे वे उनके गुण नियत हो रहे हैं। जब कि जगत्में अपने अपने शरीर पुत्र, कलत्र, धन, वस्त्र, पशु, आदि कुछ संयुक्त हो रहे किन्तु बहुभाग नहीं संयुक्त हो रहे भिन्न पदार्थोंकी भी नियत व्यवस्था हो रही है। कोई भी दूसरोंकी सम्पत्तिपर अधिकार नहीं जमा सकता है तो फिर अयुतसिद्ध पदार्थोंके समवाय सम्बन्धसे नियत हो रहे प्रकृत गुणोंको उन नियत द्रव्योंके गुण हो जानेका कौन विरोध कर सकता है ? । यदि समवेत गुण ही दूसरे द्रव्यों करके छीनलिये जांय तो ऐसी पोलकी दशामें संयुक्त या असंयुक्त वस्त्र, भूषण, गृह, उपवन, गोधन, आदिको चाहे कोई भी दिन दहाडे लूट सकता है। राजा या पंचायतका प्रबन्ध करना धूलमें मिल जायगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि समवायी पदार्थोंमें तदात्मकपनको प्राप्त हो रहे तादात्म्य सम्बन्धको ही समवाय सम्बन्ध बहुत अच्छा साधा जा चुका है। जब समवायका अर्थ कथंचित् तादात्म्य है तो कार्य और कारणका एकान्त भेद प्रसिद्ध नहीं हो सका। किन्तु कार्य और कारणमें कथंचित् अभेद प्रसिद्ध हुआ। जब कि आत्मा, परमाणुयें, आदिक कारण ईश्वरकृत नहीं है तो इनसे कथंचित् अभिन्न हो रहे ज्ञान, घट, शरीर, भुवन, आदि कार्य भी सर्वथा ईश्वरकृत नहीं है। हां, कथंचित् बुद्धिमान्से किये गये भले ही ये मान लिये जाय तिस कारणसे विवादमें प्राप्त हो रहे शरीर, इन्द्रियां, भुवन, द्वीप, पर्वत, आदि सम्पूर्ण कार्य पदार्थोंका बुद्धिमान् कारणद्वारा सर्वथा जन्य-पना साध्य करनेपर प्रयुक्त किया गया कथंचित् कार्यपना हेतु अपने इष्ट साध्यसे विपरीत बुद्धिमान् निमित्तद्वारा कथंचित् जन्यपनकी ही बढिया सिद्धि करा देगा इस प्रकार तुम वैशेषिकोंका कार्यत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हो जायगा और इन शरीर, इन्द्रियों, भुवन आदिमें सर्वथा कार्यपना हेतु तो असिद्ध हेत्वाभास है इस प्रकार कथंचित् कार्यत्व और सर्वथा कार्यत्वके विकल्प अनुसार तुम्हारे ऊपर उठाये गये ये विरुद्ध और असिद्ध दोनों दूषण कठिनतासे भी परिहार करने योग्य नहीं हैं उन्हींको हमने बावनवीं और त्रेपनवीं वार्तिकमें दिखा दिया है।

संप्रति साधनांतरमनूद्य दूषयन्नाह ।

अब इस समय ग्रन्थकार उन कर्तृवादी वैशेषिकोंके अन्य साधनोंका अनुवाद कर उनके सिद्धान्तोंमें दूषण दिखलाते हुये अग्रिम वार्तिकोंको कह रहे हैं।

विवादाध्यासितात्मानि करणादीनि केनचित् ।
कर्त्राधिष्ठितवृत्तीनि करणादित्वतो यथा ॥ ५९ ॥
वास्यादीनि च तत्कर्तृसामान्ये सिद्धसाधनं ।
साध्ये कर्तृविशेषे तु साध्यशून्यं निदर्शनम् ॥ ६० ॥

शरीर, भुवन, आदिके विवादमें प्राप्त हो रहे स्वरूप करण इन्द्रियां, अदृष्ट, परमाणु, आदिक पदार्थ (पक्ष) किसी एक कर्त्ता करके अधिष्ठित हो रहे सन्ते प्रवर्तते हैं (साध्य दल) करण आदिपना होनेसे (हेतु) जैसे कि बसूला, हथौडा, मोंगरा, लेखनी, सूची, छैनी, आदिक करण किसी न किसी बढई, सुनार, धोबी, लेखक, सूचीकार, मिस्त्री, आदि कर्त्ताओंसे अधिष्ठित होकर स्वयोग्य क्रियाओंमें वर्त रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि इस अनुमान द्वारा यदि सामान्यरूपसे उनके अधिष्ठाता चाहे किसी भी कर्त्ताको साधा जायगा तब तो तुम वैशेषिकोंके ऊपर सिद्धसाधन दोष आता है क्योंकि जिस सिद्धान्तको हम स्वीकार कर रहे हैं उसकी पुनः सिद्धि कराना व्यर्थ है। सत्रहवीं वार्तिकमें हम पहिले भी इस बातको कह चुके हैं। हां, यदि विशेषरूपसे नित्य, व्यापक, अशरीर, ईश्वर कर्त्ता करके अधिष्ठितपना यदि साध्य किया जायगा तब तो उदाहरण साध्यसे शून्य हो जायगा बसूला आदि कारणोंके अधिष्ठाता बन रहे बढई लुहार, आदिक कर्त्ता तो अशरीर या सर्वज्ञ नहीं हैं। अर्थात्—तुम्हारा उदाहरण साध्यविकल दोषसे ग्रस्त हुआ।

विवादापन्नस्वभावानि करणाधिकरणादीनि केनचित् कर्त्राधिष्ठितानि वर्तंते करणाधिकरणत्वाद्वास्यादिवत्। योऽसौ कर्ता स महेश्वर इति कश्चित्, तस्य कर्तृसामान्ये साध्ये सिद्धसाधनं। कर्तृविशेषे तु नित्यसर्वगतामूर्तसर्वज्ञादिगुणोपेते साध्ये साध्यविकलमुदाहरणं, वास्यादेरसर्वगतादिरूपतक्षादिकर्त्रधिष्ठितस्य प्रवृत्तिदर्शनात्।

वैशेषिकोंका अनुमान यों है कि विवादमें प्राप्त हो रहे स्वभाववाले करण, अधिकरण, सम्प्रदान आदि कारक (पक्ष) किसी न किसी चेतन कर्त्तासे अधिष्ठित हो रहे सन्ते क्रिया करनेमें प्रवर्त रहे हैं (साध्य) क्योंकि वे करण या अधिकरण आदि हैं (हेतु) बसूला, आरा, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त)। वह जो इनका अधिष्ठायक कर्त्ता है वह हमारे यहां महेश्वर माना गया है। यहांतक कोई कर्तृवादी कह रहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि उस कर्तृवादीके यहां सामान्य रूपके कर्त्ताको साध्य करनेपर सिद्धसाधन दोष आता है। हां, नित्य, व्यापक, अमूर्त, सर्वज्ञ, निष्कर्मा, सदामुक्त आदि गुणोंसे सहित हो रहे विशेष कर्त्ताको साध्य करनेपर तो तुम्हारा दिया गया उदाहरण साध्यसे रीता हो जायगा क्योंकि बसूला आदिकी असर्वगत, अल्पज्ञ, सकर्मा आदि स्वरूप बढई आदि कर्त्ताओंसे अधिष्ठित हो रहों की प्रवृत्तियां देखीं जा रहीं हैं। अतः तुम्हारा अनुमान दूषित है।

तत्सामान्यविशेषस्य साध्यत्वाचेददूषणं।
सोऽपि सिद्धाखिलव्यक्तिव्यापी कश्चित्प्रसिद्ध्यति ॥ ६१ ॥
देशकालविशेषावच्छिन्नाग्निव्यक्तिनिष्ठितं।
साध्यते ह्यग्निसामान्यं धूमान्नासिद्धभेदगं ॥ ६२ ॥

यदि वैशेषिक यों कहें कि हम केवल सामान्य या विशेष कर्त्ताको साध्यकुक्षि नहीं बनाते हैं। किन्तु उस कर्त्तापन सामान्य और विशेष दोनोंसे अधिष्ठित होनेको साध्य करते हैं। अतः हमारे ऊपर कोई दूषण नहीं आता है। जैन पण्डित जैसे आपत्ति पडनेपर सामान्य विशेषात्मक दुर्ग (किला या गढ) का आश्रय ले लेते हैं उसी प्रकार हमने भी सामान्य, विशेष, कर्त्ताको साधनेका ढंग निकाला है। आचार्य कहते हैं कि वह सामान्य विशेष रूप कर्त्ता भी सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें व्यापक हो रहा ही कोई न कोई प्रसिद्ध हो सकता है। धूम हेतुसे जो अग्निसामान्य साधा जाता है वह अग्नि सामान्य सम्पूर्ण देशविशेष और कालविशेषोंमें परिनिष्ठ हो रहीं अग्निव्यक्तियोंमें प्रविष्ट हो रहा है। जो सामान्य अपने विशेषोंमें प्राप्त हो रहा सिद्ध नहीं है वह अग्निसामान्य तो धूमहेतुसे नहीं साधा जाता है उसी प्रकार यहां भी कर्तृसामान्यकी यावत् कर्तृविशेषोंमें प्रतिष्ठित हो रहे की ही सिद्धि हो सकती है किन्तु जब अशरीर, व्यापक, नित्य, ईश्वर कोई कर्त्ताविशेष अभी तक सिद्ध ही नहीं हुआ है तो सशरीर, अल्पज्ञ, संसारी, अनेक कर्त्ताविशेषोंमें ही वह कर्तृसामान्य ठहर रहा साधा जा सकता है। अतः तुम्हारे अभीष्ट हो रहे कर्त्ता, ईश्वरकी सिद्धि नहीं हुई। सिद्ध हो रहे सामान्य विशेष आत्मक संसारी जीवस्वरूप कर्त्ताओंसे अधिष्ठितपनकी सिद्धि हो जानेसे तुम्हारे ऊपर सिद्धसाधन दोष तदवस्थ रहा।

न करणादिधर्मिणः करणादित्वेन हेतुना कर्तृसामान्याधिष्ठितवृत्तित्वं साध्यते, नापि कर्तृविशेषाधिष्ठितवृत्तित्वं येनोक्तदूषणं स्यात्। किं तर्हि ? कर्तृसामान्यविशेषाधिष्ठितत्वं साध्यते, रूपोपलब्ध्यादिक्रियाणां क्रियात्वेन करणसामान्यविशेषाधिष्ठितत्ववत्। न हि तासां करणसामान्याधिष्ठितत्वं साध्यं, सिद्धसाधनापत्तेः। नाप्यमूर्तत्वादिधर्माधारकरणविशेषाधिष्ठितत्वं, विच्छिदादिक्रियासूदाहरणस्य साध्यविकलत्वप्रसंगात्। तस्य मूर्तत्वादिधर्माधारदात्रादिकरणाधिष्ठितस्य दर्शनात्।

वैशेषिक मान रहे हैं कि करण, अधिकरण, कारक आदि धर्मियोंकी सामान्य रूपसे कर्त्ताद्वारा अधिष्ठित होकर वृत्ति होनेको हम करण आदिकपन हेतु करके नहीं साध रहे हैं और उनसठवीं वार्तिक द्वारा करण आदि पक्षमें विशेषरूप करके कर्त्ताद्वारा अधिष्ठित होरही वृत्तताको भी हम नहीं साधते हैं जिससे कि आप जैनों द्वारा साठवीं वार्तिकमें कहे जाचुके दूषण हमारे ऊपर होजाय तो हम वैशेषिक क्या साधते हैं ? इसका उत्तर यह है कि सामान्य और विशेषोंसे आक्रान्त होरहे कर्त्तासे अधिष्ठितपना कारण आदिमें साधा जा रहा है जैसे कि छिदिक्रियाका दृष्टान्त देकर रूपकी उपलब्धि या रसकी ज्ञप्ति आदि क्रियाओंका क्रियापन हेतु करके सामान्य विशेषाक्रान्त करणसे अधिष्ठित पना साधा जाता है, देखिये उन क्रियाओंका सामान्य करणसे अधिष्ठितपना भी हम वैशेषिक नहीं साध रहे हैं। यों रूपोपलब्धि आदि क्रियाओंका सामान्य करणसे अधिष्ठितपना साधनेपर हमारे ऊपर

सिद्धसाधन दोषकी आपत्ति होजाती है । कोई भी क्रिया किसी न किसी सामान्यकरणसे होती ही है किन्तु हम अतीन्द्रिय, इन्द्रियोंकी सिद्धि करनेके लिये तत्पर हैं । सामान्य करणको साध्य करनेपर तो प्रतिवादी कह सकता है कि प्रदीप, आलोक, उपनेत्र, (चश्मा) अंजन, आदि करणों करके रूपकी उपलब्धि होना हमारे यहां पहिलेसे ही सिद्ध है यों सिद्धसाधन दोष उठाया जा सकता है तथा अमूर्तत्व, अतीन्द्रियत्व, आदि धर्मोका आधार हो रहे विशेषाक्रान्त करणकरके अधिष्ठितपना भी हम नहीं साध रहे हैं जिससे कि विच्छेद या छेदन, भेदन, क्रिया आदि उदाहरणोंको साध्यरहितपनका प्रसंग हो जाय क्योंकि उदाहरण हो रहे उन छिदि, भिदि, आदि क्रियाओंका मूर्तत्व, इन्द्रियग्राह्यत्व आदि धर्मोंके आधार हो रहे दांतुआ, हँसिया, दरेंता आदि करणोंसे अधिष्ठित हो रहापन देखा जाता है । अर्थात्—हम वैशेषिक चक्षुः, रसना, घ्राण, आदिक परोक्ष इन्द्रियोंकी सिद्धि करनेके लिये जो अनुमानप्रमाण कहते हैं उसमें दिये गये क्रियात्वहेतुका सामान्यविशेषाक्रान्त करणोंकरके अधिष्ठितपन साधा जाता है । रूपज्ञप्ति, रसज्ञप्ति, आदि क्रियायें तो अतीन्द्रिय मूर्त या अल्पपरिमाणवाले तथा शब्दसे इतर उद्भूत विशेष गुणोंका अनाश्रय हो रहीं चक्षु, रसना, आदि इन्द्रियनामक करणोंसे अधिष्ठित सध जायगीं और सुखोत्पत्ति, अनुमिति आदि क्रियायें अमूर्तत्व, व्यापकद्रव्य समवेतत्व आदि धर्मोंको धारनेवाले अदृष्ट, व्याप्तिज्ञान आदि करणोंसे अधिष्ठित हो रहीं सध जायगीं तथा विशेष छिदि, भिदि, आदि क्रियायें तो मूर्तत्व, गुरुत्व, प्रत्यक्षयोग्यत्व आदि धर्मोंके आश्रय हो रहे बसूला, चाकू, चक्की, आदि करणों द्वारा निष्पन्न हो रहीं सध जायगीं । अतः साध्यकोटिमें सामान्य विशेष करणसे अधिष्ठितपना जैसे क्रियाओंमें क्रियात्व हेतुसे साधा जाता है उसी प्रकार करण आदि पक्षमें कर्तृसामान्य विशेषसे अधिष्ठितपनको करण आदि पन हेतु करके हम वैशेषिक साध रहे हैं ।

यथा वा लौकिकपरीक्षकप्रसिद्धे धूमादग्न्यनुमाने सामान्यविशेषः साध्यते तथात्रापीत्यदूषणमेव, अन्यथा सर्वानुमानोच्छेदप्रसंगादिति मन्यमानस्यापि सोपि कर्तृसामान्यविशेषः प्रसिद्धाखिलकर्तृव्यक्तिव्यापी कश्चित् सिध्यति न पुनरिष्टविशेषव्यापी । न ह्यग्नि सामान्यं केनचित्साध्यते देशकालविशेषावच्छिन्नाग्निव्यक्तिनिष्ठितस्यैव तस्य साधयितुं शक्यत्वादन्यथा नित्यसर्वगतामूर्ताग्निसाधनस्यापि प्रसंगात् ।

वैशेषिक ही कहे जा रहे हैं कि अकेले सामान्य या अकेले विशेषको साध्यकोटिमें न धर कर सामान्य विशेष दोनोंको सामान्यरूपसे निविष्ट करनेका एक दृष्टान्त यह भी है कि जिस प्रकार धूमद्वारा हुये अग्निके लौकिक या परीक्षक पुरुषोंके यहां प्रसिद्ध हो रहे अनुमानमें सामान्यविशेषको ही साधा जाता है । तिसी प्रकार हमारे " करणादीनि कर्त्रधिष्ठितवृत्तीनि करणादित्वात् " इस अनुमानमें भी यों सामान्य विशेषको साध्य करनेपर कोई भी दूषण नहीं आता है । अन्यथा सभी अनुमानोंके उच्छेदका प्रसंग हो जायगा । अर्थात्—वन्हिमान् धूमात् इस प्रसिद्ध अनुमानमें यदि सामान्य

अग्निको साध्य किया जाय तब तो सिद्धसाधन दोष है। क्योंकि अग्निसामान्य तो पहिलेसे ही सिद्ध है व्याप्तिज्ञानद्वारा अग्निसामान्य जाना जा चुका है। यहां यदि अग्निविशेषको साधा जायगा तो महानसमें पर्वतीय पत्ते सम्बन्धी या बांस सम्बन्धी अग्निके नहीं होनेसे दृष्टान्त साध्यविकल हो जायगा विशेष अग्निको साध्य करनेपर हेतु व्यभिचारी भी हो जाता है। जैनोंके दोष उठानेका यही ढंग रहा तो सभी अनुमानोंका जगत्से उच्छेद हो जायगा चार्वाकमत फैल जायगा। अतः सामान्यविशेषको साध्यकोटिमें धरकर हमारा अनुमान है। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार मान रहे वैशेषिकके यहां भी वह कर्त्ताका सामान्य विशेष भी प्रसिद्ध हो रहीं सम्पूर्ण कर्त्ता व्यक्तियोंमें व्यापक हो रहा ही कोई सिद्ध हो जायगा। किन्तु फिर तुम्हारे घरमें ही अभीष्ट हो रहे अप्रसिद्ध विशेष कर्त्ताव्यक्तिमें व्यापक मान लिया गया तो नहीं सिद्ध हो सकता है। जैसे कि नीव, बबूल, अमरूद, वट, आदि प्रसिद्ध विशेष व्यक्तियोंमें वर्त रहा वृक्षत्व नामका सामान्य विशेष तो मानने योग्य है। किन्तु घोडा, पहरा, जूता, टोपी, खाट, दीपक, आदि प्रसिद्ध व्यक्तियोंमें या खरविषाण आदि अप्रसिद्ध व्यक्तियोंमें वृक्षत्व नामका सामान्यविशेष नहीं साधा जा सकता है। अप्रसिद्ध हो रही अग्नियोंमें ठहर रहा मान लिया गया अग्निसामान्य तो किसी भी विचारशील विद्वान् करके नहीं साधा जाता है अन्यथा शीतल, नीलरूप, अदाहक अग्निकी भी धूमहेतुसे सिद्धि बन बैठेगी। किन्तु देशविशेष या कालविशेष अथवा आकारविशेषोंसे परिमित हो रहीं प्रसिद्ध अग्निव्यक्तियोंमें निष्ठित हो रहे ही उस अग्निसमान्यविशेष का साधन किया जा सकता है। अन्यथा यानी अप्रसिद्ध अलीक, अग्निके सामान्यविशेषको यदि साधा जायगा तो नित्य, व्यापक, अमूर्त, गुरु, अग्निके सिद्ध हो जानेका भी प्रसंग होगा। द्रव्यत्व या सत्ताकी अपेक्षा अग्नित्व धर्म उनका व्याप्य हो रहा विशेष है और सम्पूर्ण अग्निव्यक्तियोंकी अपेक्षा अग्नित्व जाति व्यापक हो रही सामान्य है इसी प्रकार द्रव्यत्वकी अपेक्षा तो विशेष हो रहा और आम्र, अमरूद आदि प्रसिद्ध व्यक्तियोंकी अपेक्षा सामान्य हो रहा वृक्षत्व धर्म भी सामान्यविशेष है ऐसे वृक्षत्व या अग्नित्वको तो साध्य बना लिया जाता है। किन्तु अशरीर, व्यापक, नित्य, सर्वज्ञ, हो रहा कोई कर्त्ताविशेष अद्यापि प्रसिद्ध नहीं है। अतः कर्त्ता सामान्यविशेषको साध्य करनेपर भी करणादिपन हेतुसे सशरीर, अव्यापक, अल्पज्ञ कर्त्ताओंसे अधिष्ठितपना सिद्ध हो सकता है अन्य तुम्हारा इष्ट विशेष हो रहा कोई ईश्वर नहीं सध पाता है।

तथा रूपोपलब्ध्यादीनामपि क्रियात्वेन प्रसिद्धकरणव्यक्तिव्यापिकरणसामान्यविशेषपूर्वकत्वमेव साध्यते नाप्रसिद्धकरणव्यापि। व्यक्तिर्हि काचिन्मूर्तिमती दृष्टा यथा दात्रादिश्छिदिक्रियायां, काचिदमूर्ता यथा विशेषणज्ञानादिर्विशेष्यज्ञानादौ। तत्र रूपोपलब्ध्यादौ करणसामान्यं कुतश्चित्सिध्यति तदुपादानसामर्थ्यं सिध्येत् तद्द्रव्यकरणं मूर्तिमत्पुद्गलपरिणामात्मकत्वाद्भावकरणं पुनरमूर्तमपि तस्यात्मपरिणामत्वादिति तस्य क्रियाविशेषात् प्रसिद्धस्य संज्ञाविशेषमात्रं क्रियते चक्षुः स्पर्शनं रसनमित्यादि। ततो भवतीष्टसिद्धिस्तावन्मात्रस्येष्टत्वात्।

तिसी प्रकार रूपोपलब्धि, रसज्ञप्ति, आदि क्रियाओंके भी क्रियापन हेतुकरके प्रसिद्ध हो रहीं करण व्यक्तियोंमें व्याप रहे करण-सामान्यविशेष नामक करण द्वारा जन्यपना साधा जा सकता है। अप्रसिद्ध हो रहीं करणव्यक्तियोंमें व्याप रहे करणत्व नामक सामान्यविशेषसे जन्यपना नहीं साधा जा सकता है। अन्यथा रूपोपलब्धिमें आकाश, परमाणु, पिशाच, आदिको भी करणपना बन बैठेगा अपने अपने गृहमन्तव्य अनुसार चाहे जिसको करण बनानेकी ढपली बजायी जा सकती है। हां, यह बात दूसरी है कि करणव्यक्तियोंमें कोई कोई व्यक्ति तो किसी क्रियामें व्यापार कर रही मूर्तिमती देखी गयी है। जैसे कि छेदन, भेदन, आदि क्रियाओंमें दांतुआ, आरा, लोढा आदि करण मूर्त हैं। और कोई कोई करण किसी किसी क्रियाके करनेमें अमूर्त हैं। जैसे कि विशेषणज्ञान, व्याप्तिज्ञान, सादृश्यज्ञान, आदिक उन विशेष्यज्ञान, अनुमितिज्ञान, उपमिति आदि क्रियाओंके साधनेमें अमूर्त करण हैं। किन्तु ये सब करणव्यक्तियां प्रमाणरूपसे सिद्ध हैं। तुम्हारे ईश्वरके समान कोई भी मूर्त या अमूर्त करण भला प्रमाणोंसे असिद्ध नहीं है। हमारे जैनसिद्धान्त अनुसार उस रूपोपलब्धि आदिमें किसी भी अविनाभावी हेतुसे जो करणसामान्य सिद्ध हो सकता है। वह उपादानकारणकी सामर्थ्य ही सिद्ध होगी। ज्ञान, घट, आदि पर्यायें सभी अपने उपादान कारणोंकी शक्तियोंको करण पाकर उपजती हैं। जैन सिद्धान्त अनुसार पांचों इन्द्रियां और मन बाह्यनिर्वृत्तिरूप ही इन्द्रियपने करके निर्णीत किये गये हैं। इन्द्रियपर्याप्ति नामक पुरुषार्थ बाह्य निर्वृत्तिको बनाता है। अतः ये छहों बाह्य निर्वृत्तियां अतीन्द्रिय हो रहीं पुद्गलकी पर्याय हैं। आप वैशेषिक भी निकटवर्ती (लगभग) इसी मार्गका अनुसरण कर रहे हैं। स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन चारों गुणोंमेंसे एक, दोनों, तीनों, चारों गुणोंको धार रहीं क्रमसे स्पर्शन, चक्षु, रसना, घ्राण इन्द्रियां मानी गयीं हैं। हां, कान इन्द्रियको आकाश और मनको नित्य, अमूर्त, द्रव्य तुमने मान रक्खा है। अस्तु इस मान्यतामें आयीं हुयीं आपत्तियोंको तुम्हीं भोगोगे। प्रकरणमें यह कहना है कि रूपकी उपलब्धि आदिमें करण हो रहीं वे द्रव्य इन्द्रियां मूर्तिमान् पुद्गल द्रव्यकी पर्यायस्वरूप होनेसे द्रव्य करण हैं। अतः रूप आदिकी उपलब्धिमें ये मूर्त करण हैं। हां, विशिष्ट क्षयोपशमकी लब्धि और रूपज्ञान ये भावकरण तो फिर अमूर्त भी हैं। क्योंकि वे अमूर्त आत्माके परिणाम हैं। यहां बन्धकी अपेक्षा संसारी आत्माके अमूर्तपनकी विवक्षा नहीं की गयी है। इस प्रकार क्रिया विशेषोंसे अनुमान प्रमाण द्वारा प्रसिद्ध हो रहे करणोंकी चक्षुः, स्पर्शन, रसना, इत्यादिक केवल विशेष संज्ञायें कर लीं जातीं हैं। द्रव्यकरणस्वरूप चक्षुः मूर्त है। और भावकरणस्वरूप चक्षु अमूर्त है। अतः " रूपोपलब्धिः करणकार्या क्रियात्वात् छिदिक्रियावत् " इस अनुमान द्वारा जो करणसामान्य की सिद्धि की गयी है वह करणत्व सामान्यविशेष तो लौकिक या परीक्षकोंके यहां प्रसिद्ध होरहे मूर्त या अमूर्त करणोंमें प्रतिष्ठित हैं उस ढंग करके हेतु या साध्यसे आकलित होरहे अनुमान द्वारा हमारे इष्टसाध्य की सिद्धि होजाती है। क्योंकि केवल उतनाही सामान्य करणोंसे जन्यपनकी सिद्धि करना अभीष्ट होरहा है किन्तु तुम्हारा ईश्वर विशेष तो कोई कर्ता

व्याप्ति प्रसिद्ध नहीं है। अतः व्याप्ति या दृष्टान्तकी सामर्थ्यसे उस तुम्हारे मनमानी कर्तासे अधिष्ठितपना करण आदि पक्षमें नहीं सध पाता है।

ननु च यथात्मनि रूपोपलब्ध्यादिक्रियामुपलभ्य तस्यैव तत्र व्याप्रियमाणस्य स्वतंत्रस्य कर्तुः करणं चक्षुरादि सिद्ध्यति, तथा जगति करणादिसाधनमुपलभ्य तस्यैव करणादीनां कर्त्रधिष्ठितत्वं सिद्ध्यतीति सकलजगत्करणाद्यधिष्ठायीश्वर इति संज्ञायमानः कथमिष्टो न सिध्येत् तावन्मात्रस्य ममापीष्टत्वादिति पराकूतमनूद्य निराकरोति।

वैशेषिक अपने पक्षको पुष्ट करनेके लिये पुनः अनुमान करते हैं कि जिस प्रकार आत्मामें होरही रूपकी उपलब्धि, रसकी प्रतीति, आदि क्रियाओंको देखकर उन क्रियाओंमें व्यापार कर रहे स्वतंत्र कर्त्ता उस आत्माके ही सहकारी करण चक्षुः आदिक साध लिये जाते हैं। उसी प्रकार जगतमें करण, अधिकरण, आदि साधनोंको देखकर उस जगत्के ही करण आदिकोंका कर्त्तासे अधिष्ठितपना सध जाता है। अर्थात्—आत्मा कर्त्ताके अनुरूप जैसे चक्षु आदिक इन्द्रियां सिद्ध होती हैं। उसी प्रकार जगत्के निर्मापक करणोंके अनुरूप ही कोई कर्त्ता उनका अधिष्ठायक हो सकता है। इस प्रकार जगत्के सम्पूर्ण करण, अधिकरण, आदिका अधिष्ठाता जो कि ईश्वर इस नाम करके कहा जा रहा है वह इष्ट भला क्यों नहीं सिद्ध होगा? क्योंकि हमको भी केवल उतना ही ईश्वरका अधिष्ठातापन इष्ट है। जैसे कि तुमको रूपकी उपलब्धिमें आत्माका प्रेरक सहकारी करण इष्ट था। जिस प्रकार आप जैन चक्षुः आदि परोक्षकरणोंकी अपने अनुमानसे सिद्धि करते हुये उन करणोंकी चक्षुः, रसना, आदि संज्ञायें धर लेते हैं उसी प्रकार हम वैशेषिक भी जगत्के अधिष्ठाता कर्त्ताको केवल साध रहे उसका नाम निर्देश ईश्वर कर लेते हैं। यहांतक वैशेषिक कह रहे हैं अब यों दूसरे वैशेषिकोंके चेष्टितका अनुवाद कर श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्तिकोंकरके उस आकूतका निराकरण करते हैं।

सिद्धे कर्तरि निःशेषकारकाणां प्रयोक्तरि।
हेतुः सामर्थ्यतः सिद्धः स चेदिष्टो महेश्वरः ॥ ६३ ॥
नैवं प्रयोक्तुरेकस्य कारकाणामसिद्धितः।
नानाप्रयोक्तृकत्वस्य क्वचिद्दृष्टेरसंशयं ॥ ६४ ॥

सम्पूर्ण कारकोंके यथा विनियोग प्रयोग करनेवाले कर्त्ताके सिद्ध होनेपर सामर्थ्यसे ही कोई न कोई हेतु यानी निमित्त कारण कर्त्ता व्यापक सर्वज्ञ सिद्ध हो ही जाता है। सम्पूर्ण जगत्के कारकोंका ठीक ठीक यथा स्थान यथा समय प्रबन्ध करनेवाला विशिष्ट आत्मा ही होना चाहिये और वह

हमारे यहां ईश्वर इष्ट किया गया है। यों वैशेषिकोंका मत होनेपर आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नहीं कहना चाहिये क्योंकि सम्पूर्ण कारकोंका प्रयोक्ता एक ही होय इस निर्णयकी सिद्धि नहीं हो सकती है। कहीं कहीं अनेक कारणोंका नाना प्रयोक्ताओं द्वारा प्रयुक्त किया जाना निःसंशय देखा जा रहा है। एक विवाहरूप कार्यमें अनेक नियोगी (नेगी) स्वतंत्र न्यारे न्यारे कार्योंके प्रयोजक हैं। जगत्‌में सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, पृथ्वी, ये सब अपने अपने उचित कार्योंके विधाता हैं इनको किसी प्रयोक्ताकी आवश्यकता नहीं है। बारह थम्भोंपर लदी हुई शिखरको सभी थम्भे स्वतंत्रतासे धार रहे हैं इस क्रियाका कोई चेतन अधिष्ठाता प्रयोजक नहीं है। वनमें पडे हुये अनेक बीज अपने अपने न्यारे न्यारे अंकुरोंको उपजा रहे हैं। क्षुधाको अन्न दूर कर देता है। प्यासको जल मेट देता है अग्नि काष्ठको जला देता है वायु पत्तोंको हिला रही है। आकाशमें शब्द गूंज रहा है इत्यादि अनेक कार्योंका कोई एक मुखिया प्रयोक्ता नहीं देखा जाता है।

न हि करणादित्वस्य हेतोरेककर्तृत्वे सामर्थ्यं येन ततो निःशेषकारकाणामेक एव प्रयोक्ता स्वेष्टो महेश्वरः सिध्येत्। क्वचित्प्रासादादौ करणादीनां नानाप्रयोक्तृकत्वस्याप्यसंदेहमुपलब्धेः। ननु प्राधान्येन चात्रापि तेषामेक एव प्रयोक्ता सूत्रकारो महत्तरो राजा वा, गुणभावेन तु नानाप्रयोक्तृकत्वं जगत्करणादीनामपि न निवार्यत एव, ततः प्रधानभूतो अमीषामेक एव प्रयोक्तेश्वर इति चेत् न, प्रधानभूतानामपि समानकुलवित्तपौरुषत्यागाभिमानानां क्वचिन्नगरादौ करणादिषु नाना प्रयोक्तृणामुपलंभात्।

तुम वैशेषिकोंके कहे गये करणादित्व हेतुकी एक ही कर्तासे अधिष्ठितपनको साधनेमें सामर्थ्य नहीं है जिससे कि उस हेतुसे सम्पूर्ण कारकोंका एक प्रयोक्ता तुम्हारे यहां निज अभीष्ट हो रहा महेश्वर सिद्ध हो जाता। अर्थात्—तुम्हारा असमर्थ हेतु तुम्हारे अभीष्ट साध्यका साधक नहीं है। क्योंकि प्रासाद, कोठी, पंचायत, मार्गगमन, पंक्तिभोजन, आदि कार्योंमें करण, अधिकरण आदि हो रहे पदार्थोंका अनेक प्रयोक्ताओं द्वारा प्रयुक्त होना भी संदेहरहित देखा जाता है। हवेलीके न्यारे न्यारे भागोंको कतिपय स्थपति स्वाधीन होकर कर रहे हैं। कई महलोंको तो अनेक पीढियोंमें कतिपय धनपतियोंने बनवाया है। महलके कामोंसे होनेवाले काष्ठोंको बढई पत्थरका है लोहेसे होने वाले कार्योंको लुहार बनाना है। पत्थरका काम करने वाले लुहार या बढईपर प्रभुत्व नहीं जमा पाते हैं, अजमेरमें एक महल सेठोंकी चार पीढीसे बन रहा है, ऐसी दशामें उसका अधिष्ठायक एक आत्मा कैसे कहा जासकता है? यदि वैशेषिक पुनः अनुज्ञा करें कि यहां कोठी आदिमें भी प्रधानपनेसे उन कार्योंका प्रयोक्ता बडा महान् प्रतिष्ठित पुरुष अथवा राजा एक ही प्रयोक्ता है हां गौण रूपसे तो वे कार्य अनेक प्रयोक्ताओं करके प्रयुक्त किये गये हैं। इसी प्रकार जगत्‌के करण, अधिकरण, आदिकोंके भी गौणरूपसे भले ही अनेक प्रयोक्ता होजांय हम उनको नहीं रोकते हैं। हां प्रधान प्रयोक्ता एक ही सबका

होना चाहिये । तिस कारण उन जगत्के निःशेष कारणोंका प्रधानभूत प्रयोक्ता एक ही ईश्वर है यों कहनेपर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि यह नहीं कहना क्योंकि प्रधान होचुके भी समान कुलवाले, समान धनवाले, समान पुरुषार्थवाले, समान त्यागवाले, समान अभिमानवाले, अनेक प्रयोक्ताओंका कहीं नगर आदिमें अथवा करण आदिमें प्रयोजकपनसे दीखना होरहा है । अर्थात्—एक नगर कई स्वतंत्र जमींदार या उद्भट पण्डित अन्यानधीन होकर निवास करते हैं । समान कुलवाले कई कुलीन पुरुष स्वतंत्रतया बस रहे हैं कई सेठ, अनेक मल्ल, बहुतसे दानवीर, नाना अभिमानी स्वतंत्र होकर सुखपूर्वक निवास करते हैं । करण, अधिकरण आदिकोंमें अनेक स्थलोंपर स्वतंत्रता देखी जाती है " मुनयो ध्यानं विदधति, भज्यते वृक्षः शाखाभारेण, अभ्रे विद्योतते विद्युत्, परोपकाराय सतां विभूतिः, वृक्षात् पर्णं पतति, सूर्यस्यालोकः " इन कार्योंमें किसी अधिष्ठाताकी आवश्यकता नहीं है । बनमें अनेक पक्षी या पशु स्वापत निवास करते हैं । समुद्रमें अनेक जलचर जीव या प्रवाल, मुक्ता आदि स्वतंत्र उपज रहे हैं । स्वाध्यायशालामें अनेक सज्जन मनमाने ग्रन्थोंका स्वाध्याय कर रहे हैं । हाटमें अनेक क्रेता विक्रेता अपने प्रयोजनको साध रहे हैं । अपनी उदराग्निसे सभी प्राणी अपने अपने भोज्यको पचा रहे हैं । धार्मिक गृहस्थ अपने कर्तव्योंमें प्रवर्त रहे हैं । मुनिजन दिनरात स्वतंत्रतया आत्महितमें लग रहे हैं उपाध्यायमहाराज पढानेमें लवलीन हैं । अपने अपने कर्तव्य अनुसार सभी जीव पुण्य या पापोंका उपार्जन कर रहे हैं । अतः सबके अधिष्ठायक एक प्रयोक्ताकी सिद्धि नहीं हो पाती है ।

तेषामपि राजाचार्यादिर्वा प्रयोक्तैक एवेति चेत्, तस्यापि राज्ञोन्यो महाराजः प्रधानः प्रयोक्ता तस्याप्यपरः ततो महानिति क्व नाम प्रधानप्रयोक्तृत्वं व्यवतिष्ठेत । महेश्वर एवेति चेन्न, तस्यापि प्रधानापराधिष्ठापकपरिकल्पनायामनवस्थानस्य दुर्निवारत्वात् । सुदूरमपि गत्वा व्यवस्थितिनिमित्ताभावाच्च ।

यदि वैशेषिक यों कहें कि उन समान कुलवाले, समान धनवाले आदि या कुम्हार, लुहार, आदि नाना प्रयोक्ताओंका भी अन्तमें जाकर प्रयोक्ता हो रहा राजा अथवा गृहस्थाचार्य, जमींदार, प्रधान प्रबन्धकर्त्ता, स्थपति, आदि एक ही प्रयोक्ता है । यों कहनेपर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि उस राजाका भी प्रधान प्रयोक्ता अन्य महाराजा होगा और उसका भी उपरिवर्ती प्रयोक्ता कोई तीसरा उससे बडा मण्डलेश्वर होगा और उससे भी बडा अधिकारी महामण्डलेश्वर उसका प्रयोक्ता होगा इस प्रकार चक्रवर्ती आदिके प्रधान प्रयोक्तापनकी भला कहां आगे चलते चलते विश्राम लेनेकी व्यवस्था की जावेगी ? अनवस्था दोष होगा । यदि तुम वैशेषिक यों कहो कि परिशेषमें जाकर सबका अंतिम प्रयोक्ता हमारा अभीष्ट महेश्वर ही है । आचार्य कहते हैं कि उस महेश्वरके भी प्रधान हो रहे उपरिवर्ती उत्तरोत्तर अधिष्ठायक महामहेश्वर आदिकी लम्बी चौडी कल्पना करते सन्ते अनवस्था दोषका निवारण कठिनतासे भी नहीं हो सकता है और बहुत दूर भी जाकर तुम वैशेषिकोंके पास व्यवस्था कर देनेका कोई परिनिष्ठित निमित्त नहीं है ।

स्यान्मतं, नेश्वरस्यान्योऽधिष्ठाता प्रभुः सर्वज्ञत्वादनादिशुद्धिवैभवभाक्त्वाच्च । यस्य त्वन्योऽधिष्ठाता प्रभुः स न सर्वज्ञोऽनादिशुद्धिवैभवभाग्वा यथा विष्टिकर्मकरादिः न च तथेश्वरस्तस्माच्च तस्यान्योऽधिष्ठाता प्रभुरिति । नात्र धर्मिणोऽसिद्धिरखिलजगत्कारणादीनां प्रयोक्तुस्तस्यानुमानसिद्धत्वात्, नापि हेतुरसिद्धस्तस्य सर्वज्ञत्वमंतरेण समस्तकारकप्रयोक्तृत्वस्यानुमानसिद्धस्यानुपपत्तेरनादिशुद्धिवैभवाभावे चाऽशरीरस्य सर्वज्ञत्वायोगात् । न च सशरीरोऽसौ तच्छरीरप्रतिपादकप्रमाणाभावात् इति । तदप्यसत् सर्वज्ञत्वस्य हेतो रुद्रैर्व्यभिचारात् । तेषां हि सर्वज्ञत्वमिष्यते योगिनान्येन वाधिष्ठितत्वं महेश्वरस्यानादेरधिष्ठापकस्य तेषामादिमत्वं स्वयमभ्युपगमात्, तदनभ्युपगमे अपसिद्धांतप्रसंगात् । तथानादिशुद्धिवैभवमप्याकाशेनानैकांतिकं, तस्य जगदुत्पत्तौ वाधिकरणस्य महेश्वराधिष्ठितत्वोपगमात् ।

यदि तुम वैशेषिकोंका यह भी मन्तव्य होय कि ईश्वरका पुनः कोई अन्य अधिष्ठाता प्रभु नहीं है (प्रतिज्ञा) सर्वज्ञ होनेसे (प्रथम हेतु) अनादि कालीन शुद्धियोंके वैभवका धारण करनेवाला होनेसे (द्वितीय हेतु) देखो जिस अधिष्ठित व्यक्तिका अधिष्ठाता अन्य प्रभु हुआ करता है वह पदार्थ सर्वज्ञ नहीं है और अनादि कालीन शुद्धिके वैभवको धारनेवाला भी नहीं है जैसे कि पीनस या डोली, पालकीके ढोनेकी क्रियाको करने वाले धीमर या कारागृह (जेलखाना हवालात) आदिमें बलात्कारसे ठेल देनेकी क्रियाको करनेवाले चपरासी आदि पुरुष हैं । अर्थात्—पीनसको ढोने वाले धीवर भीतर बैठे हुये वैद्य, प्रभु, (मालिक) महारानी आदि अन्य अधिष्ठाताओंके अधीन होकर चल रहे हैं । न्यायकर्ता अधिकारी (अफसर) की आज्ञा अनुसार सिपाई उन अपराधियोंको कारागृहमें खींच लेजाता है ये सेवक जन बिचारे सर्वज्ञ अथवा अनादि शुद्ध तो नहीं हैं । " साध्याभावे साधनाभावः " (व्यतिरेक दृष्टान्त) और उस प्रकारका असर्वज्ञ या सादि शुद्ध अथवा अनाद्यशुद्ध हमारा ईश्वर नहीं है (उपनय) तिस कारणसे उस ईश्वरका कोई अन्य प्रभु अधिष्ठाता नहीं है । (निगमन) । इस अनुमानमें कहे गये ईश्वर नामक धर्मीकी असिद्धि नहीं है जिससे कि मेरा हेतु आश्रयासिद्ध हो जाता क्योंकि जगत्के सम्पूर्ण करण, अधिकरण, सहकारीकारण, क्रिया आदिकोंका प्रयोग करनेवाले उस ईश्वरकी अनुमानप्रमाण द्वारा सिद्धि हो चुकी है ऐसे प्रसिद्ध ईश्वरमें अन्य अधिष्ठाताकी अधीनताका अभाव साधा जा रहा है तथा इस अनुमानमें कहा गया सर्वज्ञ होते हुये अनादि सिद्ध होना एक हेतु अथवा सर्वज्ञत्व और अनादिशुद्धत्व ये दोनों हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास भी नहीं हैं क्योंकि अनुमानसे सिद्ध हो रहे उस ईश्वरको सर्वज्ञत्वके विना समस्त कारकोंका प्रयोक्तापन नहीं बन पाता है और अनादिकालसे शुद्धिका वैभव नहीं माननेपर उस अशरीर, ईश्वरके सर्वज्ञपना नहीं आ सकता है । जैसे कि सादि शुद्ध मुक्त आत्माके अशरीर होनेपर भी सर्वज्ञपनका योग नहीं है । कतिपय पौराणिकोंके विचार अनुसार मान लिया गया वह ईश्वर शरीर-

सहित तो नहीं है क्योंकि उस व्यापक ईश्वरके शरीरोंका प्रतिपादक कोई प्रमाण नहीं है। "न तस्य मूर्तिः" ऐसा भी क्वचित् लिखा है अवतारोंपर अखण्ड श्रद्धा करानेवाले पुराणवाक्योंमें अबाधित प्रामाण्य नहीं है। यहांतक कोई वृद्ध वैशेषिक कह रहे हैं ग्रन्थकार कहते हैं कि उनका वह मन्तव्य भी सत्यार्थ नहीं है क्योंकि पहिले सर्वज्ञपन हेतुका रुद्रों करके व्यभिचार हो जायगा। "भीमावलि जिदसत्तू रुद्द विसालणयण सुप्पदिट्ठ चला, तो पुंडरीय अजिदंधर जिदणाभीय पीढ सच्चइजो" ये ग्यारह रुद्र जैनोंके यहां माने गये हैं तुम पौराणिकोंके यहां भी "अजैकपाद हिर्बुध्नो विरूपाक्षः, सुरेश्वरः, जयन्तो बहुरूपश्च त्र्यम्बकोऽथापराजितः वैवस्वतश्च सावित्रो हरो रुद्राः" यों ग्यारह रुद्र माने गये हैं कतिपय रुद्र माने गये होंय उनका नियमसे सर्वज्ञपना भी इष्ट किया गया है। किन्तु योगी अथवा शक्ति नामक अन्य देवता करके अधिष्ठितपना स्वीकार किया है उन रुद्रोंका अधिष्ठापक एक अनादि कालीन महेश्वरको तुमने आदिमें ही माना है। यों स्वयं स्वीकार कर लेनेसे हेतु सर्वज्ञत्वके रहनेपर और साध्य अन्यानधिष्ठितत्वके नहीं ठहरनेसे व्यभिचार दोष आया। यदि रुद्रोंके भी अन्य अधिष्ठापकोंकी स्वीकृतिके उस सिद्धान्तको नहीं अंगीकार करोगे तो तुम्हारे ऊपर अपसिद्धान्त यानी अपने सिद्धान्तसे स्खलित हो जाना दोषके लग जानेका प्रसंग हो जायगा तथा तुम्हारा दूसरा हेतु अनादि कालीन शुद्धिका वैभव भी आकाश करके अनैकान्तिक हेत्वाभास है। अनादि कालसे शुद्ध हो रहा वह आकाश जगत्की उत्पत्तिमें अधिकरण कारक हो रहा है। साथमें उसका महेश्वरसे अधिष्ठितपना भी स्वीकार किया गया है। अतः हेतुके रह जानेपर और शुद्ध आकाशमें अन्यानधिष्ठितत्व साध्यके नहीं ठहरनेपर व्यभिचार दोष जम बैठा।

किं च, यदि प्राधान्येन समस्तकारकप्रयोक्तृत्वादीश्वरस्य सर्वज्ञत्वं साध्यते सर्वज्ञत्वाच्च प्रयोक्त्रन्तरनिरपेक्षं समस्तकारकप्रयोक्तृत्वं प्रधानभावेन तदा परस्पराश्रयो दोषः कुतो निवार्येत? साधनांतरात्तस्य सर्वज्ञत्वसिद्धिरिति चेन्न, तस्यानुमानेन बाधितविषयत्वेनागमकत्वात्। तथाहि–नेश्वरोऽशेषार्थवेदी दृष्टेष्टविरुद्धाभिधायित्वात् बुद्धादिवदित्यनुमानेन तत्सर्वज्ञत्वावबोधकमखिलमनुमानमभिधीयमानमेकांतवादिभिरभिहन्यते, स्याद्वादिन एव सर्वज्ञत्वोपपत्तेः युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वादित्यन्यत्र निवेदितं। ततो नाशेषकार्याणामुत्पत्तौ कारकाणामेकः प्रयोक्ता प्राधान्येनापि सिध्यतीति परेषां नेष्टसिद्धिः।

दूसरी बात यह भी है कि तुम वैशेषिक यदि प्रधानतासे सम्पूर्ण कारकोंका प्रयोक्ता होनेसे ईश्वरको सर्वज्ञपना साधते हो और सर्वज्ञ होनेसे ईश्वरको अन्य उपरिम प्रयोक्ताओंकी नहीं अपेक्षा रख कर प्रधानता करके समस्त कारकोंके प्रयोक्तापनको साधते हो तब तो यह परस्पराश्रय दोष किससे हटाया जा सकता है? अर्थात्—तुम्हारे ऊपर अन्योन्याश्रय दोष अटल होकर लग बैठा। यदि तुम वैशेषिक यों कहो कि हम अन्य हेतुओंसे उस ईश्वरके सर्वज्ञपनकी सिद्धि करलेंगे। "ईश्वरः सर्वज्ञः

अनुपायसिद्धत्वात् " " ईश्वरः सर्वज्ञः सदा कर्ममलैरस्पृष्टत्वात् " मुक्त आत्माको व्यतिरेक दृष्टान्त बनाया जा सकता है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह नहीं कहना क्योंकि वैशेषिकोंके उन हेतुओंके साध्य विषयकी इस वक्ष्यमाण अनुमान करके बाधा उपस्थित हो जाती है । अतः वे हेतु ईश्वरमें सर्वज्ञत्वकी अनुमिति करानेवाले नहीं हैं । उसको यों स्पष्ट रूपसे समझियेगा कि ईश्वर (पक्ष) सम्पूर्ण अर्थोंका ज्ञाता नहीं है । (साध्य) दृष्ट प्रमाण यानी प्रत्यक्षप्रमाण और इष्ट यानी अनुमान आदि प्रमाणोंसे विरुद्ध हो रहे पदार्थोंका कथन करनेवाला होनेसे (हेतु) जैसे कि बुद्ध, कपिल, अल्लाह आदिक आत्मायें सर्वज्ञ नहीं हैं । (अन्वय दृष्टान्त) । इस अनुमान करके ईश्वरके सर्वज्ञत्वका प्रतिपादक हेतु बाधित हेत्वाभास हो जाता है । भावार्थ—बौद्ध विद्वान् अहिंसाका प्रतिपादन करते हुये भी कचित् मांस भक्षणको परिहार्य नहीं समझते हैं । कुरानमें कई स्थलोंपर दयाका विधान पाया जाता है फिर भी मियां लोग इष्ट देवताके नामपर जीवित पशुको संकल्प कर मारते हुए स्वच्छंदतया मांसभक्षण करते हैं । शक्तिदेवताकी उपासना करनेवाले शाक्तजन स्वच्छंदरूपसे देवताके नैवेद्य मद्य, मांसका सेवन करते हैं । वदेमें " मा हिंस्याः सर्वा भूतानि " ऐसी प्रतिज्ञा की गई है । यजुर्वेदके छत्तीसवें अध्यायका अठारहवां मंत्र है कि दृतेदृ ꣳ हमा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे " इस मंत्रद्वारा सम्पूर्ण जीवोंको परस्परमें अहिंसाभाव, मित्रभाव, अद्रोहपरिणाम और प्रेमव्यवहार रखना पुष्ट किया गया है । सम्पूर्ण जीव मुझे मित्रके समान देखें और मैं सबको मित्रके समान देखूं । मित्र अपने दूसरे परममित्रको कथमपि नहीं मारता है यह भले प्रकार समझा दिया है । किन्तु पन्द्रहवें अध्यायका पन्द्रहवां मंत्र है कि " अयं पुरो हरिकेशः सूर्यरश्मिस्तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ । पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ दङ्क्ष्णवः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु तेयं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः " इस मंत्रद्वारा हिंसाभाव तथा अप्रीतिभाव प्रकट किया है । इसी प्रकार सोलहवें, सत्रहवें, अठारहवें, आदि मंत्रोंमें भी हिंसाभाव तथा अप्रीतिभावकी पुष्टि की है इक्कीसवें अध्यायके साठवें मंत्रमें हिंसाको ध्वनित किया है वह मंत्र इस प्रकार है कि " सूपस्था अद्य देवो वनस्पतिरभवदश्विभ्यां छागेन सरस्वत्यै, मेषेणेन्द्राय, ऋषभेणाक्षँस्तान्मेदस्तः प्रति पचताग्रभीषतावी वृधन्त पुरोडाशैरपुरश्विना सरस्वतीन्द्रः सुत्रामा सुरासोमान् " पच्चीसवें अध्यायके द्वितीय मंत्रका ऐसा ही हिंसापोषक अभिप्राय है " वातं प्राणेनापानेन नासिके उपयाममधरेणौष्ठेन सदुत्तरेण प्रकाशेनान्त-रमनूकाशेन बाह्यं निवेष्यं मूर्ध्ना स्तनयित्नुं निर्बाधेन शनिं मस्तिष्केण विद्युतं कनीनकाभ्यां कर्णाभ्या ꣳ श्रोत्र श्रोत्राभ्यां कर्णौ तेदनीमधरकण्ठेनापः शुष्ककण्ठेन चित्तं मन्याभिः रदिति ꣳ शीर्ष्णा निर्ऋतिं निर्जल्पेन शीर्ष्णा संक्रोशैः प्राणान् रेष्माण ꣳ स्तुपेन " इसके आगे भी कई मंत्रोंमें यज्ञसम्बन्धी हिंसाभावको वैध बताया गया है । अथर्ववेदमें भी हिंसाकी भरमार है ।

" न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने " ऐसे मनुस्मृतिके वाक्य मिलते हैं। गृह्यसूत्र नामक ग्रन्थकी यही दशा है। क्वचित् गोमेध, नरमेधतकका विधान किया गया है। वेदमें असम्बद्ध या लज्जाजनक विषयोंकी भी कमी नहीं है। पचीसवां अध्याय सातवां मंत्र इस प्रकार है कि " पूषणं वनिष्ठुनान्धाहीनस्थूलगुदया सर्पान्गुदाभिर्विह्रुत आन्त्रैरपो वस्तिना वृषणमांडाभ्यां वाजिन ँ शेपेन प्रजा ँ रेतसा चाषान्पित्तेन प्रदरान्पायुना कूश्माञ्छकपिण्डैः " आठवां नौवां मंत्र भी ऐसाही घृणित है। वेदमें असम्बद्ध प्रलाप भी पर्याप्त है। युजुर्वेद अठारहवें अध्याय " एका च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे पञ्च च मे सप्तच मे नव च मे इत्यादि या चतस्रश्च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश इत्यादि इन चौबीसवें पचीसवें मंत्रोंमें एकसे आगे दो दो संख्या बढाकर अथवा चारसे आगे चार चार संख्या बढाकर न जाने कौनसे गम्भीर अर्थका प्रतिपादन किया गया है? इसके आगे छब्बीसवें, सत्ताईसवें मंत्रमें भी गर्हणीय असंगत विषयका नंगा प्रदर्शन है। यजुर्वेदसे तीसवां अध्याय नौवां मंत्र " अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे । अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे । " द्वारा तीन महावीरोंको तीन मंत्रों द्वारा अश्वकी विष्ठा करके धूप देनेसे न जाने कौनसी शुद्धिका रहस्य निकाला गया है। इत्यादि। प्रकरणमें यह कहना है कि नैयायिक या वैशेषिक पण्डित वेदको ईश्वरका बनाया हुआ स्वीकार करते हैं। पौराणिक पण्डित स्मृति या पुराणोंकी रचना वेद अनुसार हुई बतलाते हैं। वेदके मंत्रभागसे उपनिषदें (ज्ञान-काण्ड) और ब्राह्मणभागसे कर्मकाण्ड प्रकट हुये माने जाते हैं किन्तु " अणोरणीयान् महतो महीयान् " के समान उक्त शास्त्रोंमें हिंसा, अहिंसा, मांसभक्षण मांसनिषेध, यज्ञ करना, ब्रह्मकी उपासना करना, आदि दृष्ट इष्ट प्रमाणों द्वारा विरुद्ध होरहे विषयोंका निरूपण पाया जाता है तिस कारण उन एकान्तवादी पण्डित करके उस ईश्वरके सर्वज्ञपनका प्रयोग कराने वाले जो सम्पूर्ण अनुमान कहे जारहे हैं वे सम्पूर्ण अनुमान ज्ञान हम अनेकान्तवादी विद्वानोंके निर्दोष प्रमाणों करके बाधित कर दिये जाते हैं। ऐसी दशामें ईश्वरको जान बूझकर समस्त कारकोंका प्रधानरूपमें प्रयोक्तापन नहीं सिद्ध होसकता है। कारकोंका परिज्ञायक जीव ही कर्त्ता होय या ज्ञापक जीव ही कर्त्ता होवे यह दोनों एकान्त मत भूलोंसे भरे हुये हैं। वास्तविक बात तो यह है कि स्याद्वादियोंके यहां ही अर्हत् परमेष्ठीको सर्वज्ञपना बन सकता है क्योंकि उनके वचन युक्ति और शास्त्र प्रमाणोंसे अविरुद्ध हैं इस सिद्धान्तका हम अन्य ग्रन्थोंमें निवेदन कर चुके हैं। विद्यानन्द महोदय ग्रन्थमें निवेदन किया गया होगा जो कि मुझ भाषा टीका कारके दृष्टिगोचर नहीं हुआ है " स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् । अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते " इस देवागम (आप्तमीमांसा) की कारिकाका व्याख्यान करते समय अष्टसहस्रीमें भी श्री विद्यानन्द स्वामीने उक्त सिद्धान्तको पुष्ट किया है तिस कारणसे सम्पूर्ण कार्योंकी उत्पत्तिमें तत्पर होकर लग रहे कारकोंका कोई एक चरम प्रयोक्ता प्रधानपने करके भी सिद्ध नहीं

होपाता है। इस कारण अन्य विद्वान् वैशेषिकोंके यहां अपने अभीष्ट ईश्वरकी सिद्धि कथमपि नहीं होपाती है उनके सभी हेतु दूषित होजाते हैं।

स्यान्मतं, नैकः प्रयोक्ता साध्यते तेषां नाप्यनेकः प्रयोक्तृसामान्यस्य साधयितुमिष्टत्वादिति। तदप्यसंगतमेव, तथा सिद्धसाधनाभिधानात्। न हि प्रयोक्तृमात्रे समस्तकारकाणां विप्रतिपद्यामहे यस्य यदुपभोग्यं तत्कारकाणां तत्प्रयोक्तृत्वनियमनिश्चयात्।

फिर वैशेषिकोंका प्रबुद्ध होकर यह मन्तव्य होय कि उन सम्पूर्ण कार्योंका प्रयोक्ता एक बुद्धिमान नहीं साधा जाता है और अनेक भी बुद्धिमान निमित्तकारण नहीं सध जाते हैं किन्तु हम वैशेषिकोंको प्रयोक्ता सामान्यकी सिद्धि कर लेना अभीष्ट होरहा है। अर्थात्—हम इस तात्पर्य पर पहुंचे हैं कि कारकोंका या कार्योंका स्वकीय पुरुषार्थ द्वारा कोई प्रयोक्ता होना चाहिये इस पर ग्रन्थकार कहते हैं कि वह वैशेषिकोंका मन्तव्य भी पूर्वापरसंगतिसे शून्य है क्योंकि तिस प्रकार सामान्य प्रयोक्ताओंके साध्य करने पर हम जैन सत्रहवीं वार्तिक अथवा साठवीं वार्तिकोंके अनुसार सिद्धसाधन कह चुके हैं। जगत्के अनेक कार्योंमें अदृष्ट द्वारा या साक्षात् सम्पूर्ण प्राणी प्रयोक्ता हो रहे हैं सम्पूर्ण कारकोंके सामान्य प्रयोक्ताको साधनेमें हम पहिलेसे ही कोई विवाद नहीं उठा रहे हैं। जिस प्राणीके जो जो पदार्थ साक्षात् या परम्परासे उपभोग करने योग्य हैं उस उस पदार्थके कारकोंका प्रयोक्तापन नियमसे उस उस प्राणीमें निश्चित हो रहा है। भावार्थ—जगत्के प्रायः सम्पूर्ण पदार्थ किसी न किसी प्राणीके साक्षात् या परम्परया उपभोगयोग्य हो ही रहे हैं। अदृष्टानपेक्ष या प्राणानपेक्ष होकर हो रहे कतिपय कार्योंकी यहां न्यायशास्त्रमें गणना नहीं की गयी है सर्वज्ञोक्त सूक्ष्म चर्चाका परिशीलन करनेवाले सिद्धान्तग्रन्थोंमें उनका गवेषण कीजिये।

इति क्रियानुमानानां माला नैवामला भुवः।
कर्तर्येकत्र संसाध्येऽनुमित्या पक्षबाधनात् ॥ ६५ ॥

यहांतक प्रकरणमें यह सिद्ध कर दिया गया है कि पृथिवीके यानी जगत्के एक कर्त्ताको भले प्रकार सिद्ध करनेमें दी गई कार्यत्व, करणत्व आदि हेतुवाले अनुमानोंकी माला निर्दोष नहीं है क्योंकि हम जैनोंके अनुमान प्रमाण करके वैशेषिकोंके पक्षकी बाधा उपस्थित हो जाती है अथवा एकसौ अस्सी क्रियावादी मिथ्यादृष्टियोंमें वैशेषिक भी पदार्थोंमें क्रियाको माननेवाले परिगणित हैं। अतः क्रियावादी वैशेषिकोंके पूर्वोक्त कई अनुमानोंकी माला निर्दोष नहीं है यों संगति लगाकर "क्रियानुमानानां" पदका अर्थ कर लो। "कर्ता माने गये ईश्वरकी क्रियाके प्रयोजक अनुमान" यों भी अर्थ किया जा सकता है।

यथैव सन्निवेशविशिष्टत्वादिसाधनं न निरवद्यं व्यापकानुपलंभेन पक्षस्य बाधनात् तथा करणत्वाद्यनुमानमपि जगतामेककर्तृत्वे साध्ये विशेषाभावात्। तच्च समर्थितमेवेति नानुमानमाला निरवद्या विधातुं शक्या तस्याः प्रतिपादितानेकदोषाश्रयत्वात्। तत एवागमादपि नेश्वरसिद्धिरित्याह।

जिस ही प्रकार ईश्वरकी सिद्धिमें वैशेषिकों द्वारा कहे गये सन्निवेशविशिष्टत्व, कार्यत्व, आदि हेतु निर्दोष नहीं हैं क्योंकि व्यापकके अनुपलम्भ करके पक्षकी बाधा दिखलायी जा चुकी है। अर्थात्—व्यापक हो रहे अन्वय व्यतिरेकके नहीं घटित होनेसे व्याप्य हो रहा कार्यकारणभाव भी नहीं घटित हो पाता है। अतः वैशेषिकोंकी प्रतिज्ञा बाधित हो जाती है। उस ही प्रकार करणत्व, क्रियात्व, आदि हेतुओंसे उपजाये गये अनुमान भी जगतोंका एक कर्त्तासे जन्यपना साध्य करनेपर निर्दोष नहीं है कारण कि सन्निवेशविशेष आदि हेतु और करणत्व आदि हेतुओंमें कोई अन्तर नहीं है। हेतुओंके उस हेत्वाभासपनका हम पूर्व प्रकरणोंमें समर्थन कर चुके ही हैं जिस कारण कि वैशेषिकोंके कई अनुमानोंकी माला निर्दोष नहीं करी जा सकती है क्योंकि " १ द्वीपादयो बुद्धिमद्धेतुकाः सन्निवेशविशिष्टत्वात् घटवत्, २ क्षित्यादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् पटवत् ३ करणादीनि कर्त्रधिष्ठितवृत्तीनि करणादित्वात् वास्यादिवत् " इत्यादि अनुमानोंकी की गयी उस मालाको पूर्वमें कहे जा चुके व्यभिचार, भागासिद्ध, बाध, व्यापकानुपलम्भ, सिद्धसाधन, विरोध, साध्यविकलनिदर्शनत्व, व्यतिरेकाभाव आदि अनेक दोषोंका आश्रयपना है उस ही कारणसे अर्थात् अनुमानमालामें अनेक दोषोंके उपस्थित हो जानेपर बाधित पक्ष हो जानेसे आगमप्रमाण द्वारा भी ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती है इस बातको ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा कहते हैं।

विश्वतश्चक्षुरित्यादेरागमादपि नेश्वरः।
सिध्येत्तस्यानुमानेनानुग्रहाभावतस्ततः॥ ६६॥

यजुर्वेदके सत्रहवें अध्यायके उन्नीसवें मंत्र " विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतः पात्। संबाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः " और सत्ताईसवें मंत्र " यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवनायन्त्यन्या॥ तथा " अपाणिपादो जवनो गृहीता, संसारमहीरुहस्य बीजाय " इत्यादिक आगम प्रमाणोंसे भी ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकेगी क्योंकि तिस बाधितपक्षके हो जानेसे उन आगम वाक्योंका अनुमान प्रमाण करके अनुग्रह होनेका अभाव है। जिन आगमोंको अनुमान प्रमाणोंसे संवादकपना प्राप्त नहीं होता है वे आगम प्रमाणभूत नहीं माने गये हैं।

न हि नैयायिकानां युक्त्यननुगृहीतः कश्चिदागमः प्रमाणमतिप्रसंगात्। न च युक्तिस्तत्र काचिदव्यवतिष्ठत इति नेश्वरसिद्धिः प्रमाणाभावात् प्रधानाद्वैतादिवत्। ततः किं सिद्धमित्याह।

नैयायिकोंके यहां युक्तियों यानी सद्धेतुओंसे नहीं अनुग्रह प्राप्त होचुका कोई भी आगम भला प्रमाण नहीं माना गया है अन्यथा अति प्रसंग होजायगा । अर्थात्—युक्तियोंके बिना प्रमाणपना मान लेने पर चार्वाक, बौद्ध, ईसाई, मोहम्मदमतानुयायी, अद्वैतवादी, आदिकोंके आगम भी प्रमाण बन बैठेंगे । किन्तु उन ईश्वर साधक वाक्योंमें कोई अच्छी युक्ति व्यवस्थित नहीं होपाती है । प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रमाणों करके स्पष्ट बाधा उपस्थित होरही है । विज्ञान (साइन्स) जब ईश्वरवादकी जडको सर्वथा काट चुका है ऐसी दशामें नैयायिकोंके आगमकी सहायता कोई युक्ति नहीं कर सकती है । इस कारण साधक प्रमाणोंके नहीं होनेसे सांख्योंकी त्रिगुणात्मक प्रकृतियां अद्वैतवादियोंके संवेदनाद्वैत पुरुषाद्वैत अथवा बौद्धोंके क्षणिकत्व आदिके समान ईश्वरकी भी सिद्धि नहीं होसकती है । कोई पूंछता है कि तिस कारण आठवीं वार्तिकसे प्रारम्भ कर अबतक क्या सिद्ध हुआ समझा जाय ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द स्वामी निर्णीत सिद्धान्तको अग्रिम वार्तिक द्वारा कहते हैं ।

लोकोऽकृत्रिम इत्येतद्वचनं सत्यतां गतं ।
बाधकस्य प्रमाणस्य सर्वथा विनिवारणात् ॥ ६७ ॥

यह सम्पूर्ण लोक अकृत्रिम है इस प्रकार यह सिद्धान्त वचन सत्यताको प्राप्त होचुका है क्योंकि इसके बाधक प्रमाणोंका सभी प्रकारोंसे विशेषतया निवारण कर दिया गया है । अर्थात्—त्रिलोकसारमें यह सत्य लिखा है कि " लोगो अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिव्वत्तो । जीवाजीवेहिं फुडो सव्वागासवयवो णिच्चो " स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें कहा है कि " सव्वायासमणंतं तस्स य बहुमज्झि संठिओ लोओ । सो केण वि णेय कओ ण य धरिओ हरिहरादीहिं " " अण्णोण्णपवेसेण य दव्वाणं अच्छणं भवे लोओ । दव्वाणं णिच्चत्तो लोयस्स वि मुणह णिच्चत्तं " परिणाम सहावादो पडिसमयं परिणमंति दव्वाणि । तेसिं परिणामादो लोयस्स वि मुणह परिणामं " मूलाचारके आठवें अध्यायमें लिखा है कि " लोओ अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिप्पण्णो । जीवाजीवेहिं भरो णिच्चो तालरुक्ख संठाणो " इत्यादिक सर्वज्ञोक्त आगम तो निर्बाध होनेसे सर्वांगरूपसे सत्यार्थ हैं ।

लोकः खल्वकृत्रिमोऽनादिनिधनः परिणामतः सादिपर्यवसानश्चेति प्रवचनं यथात्रेदानींतनपुरुषापेक्षया बाधविवर्जितं तथा देशांतरकालांतरवर्तिपुरुषापेक्षयापि विशेषाभावात् ततः सत्यतां प्राप्तमिति सिद्धं सुनिर्णीतासंभवद्बाधकप्रमाणत्वादात्मादिप्रतिपादकप्रवचनवत् ।

नियमसे यह लोक किसी द्वारा नहीं किया गया अकृत्रिम है । अनादिसे अनन्तकालतक स्थिर रहनेवाला है । हां, पर्यायोंकी अपेक्षा सादि, सान्त, भी है । इस प्रकारके शास्त्रवाक्य जैसे इस देशमें होनेवाले या इस कालमें होनेवाले पुरुषोंकी अपेक्षा करके बाधविवर्जित हैं उसी प्रकार देशान्तर

कालान्तरवर्ती पुरुषोंकी अपेक्षासे भी निर्बाध हैं। इस देश और इस कालके पुरुषोंकी अपेक्षा अन्य देश और अन्य कालके पुरुषोंसे उक्त आगमको निर्बाध प्रामाण्य सम्पादन करनेके लिये कोई अन्तर नहीं पडता है। भावार्थ—यावत् देश यावत् कालोंके मनुष्योंमें दो हाथ, दो पांव, एक शिर, मुखसे खाना, नाकसे सूंघना आदिमें जैसे कोई अन्तर नहीं है उसी प्रकार वर्तमान काल या इस देशके मनुष्य इस लोकविन्यासको अकृत्रिम अनादि निधन जैसे साध रहे हैं वैसे ही देशान्तर, कालान्तरके मनुष्य भी जगत्को अकृत्रिम ही बाधारहित साधते होंगे तिस कारणसे वे आगम वाक्य सत्यताको प्राप्त हुये समझो। इस कारण वक्ष्यमाण अनुमान द्वारा सिद्ध हो जाता है कि लोकको अकृत्रिम या अनादि निधन कह रहा शास्त्रवाक्य (पक्ष) सत्यार्थ है। (साध्य) क्योंकि बाधक प्रमाणोंके असम्भव होनेका भले प्रकार निर्णय किया जा चुका है। (हेतु) आत्मा, आकाश, मोक्ष, आदिके प्रतिपादक शास्त्र वाक्योंको जैसे सत्यता प्राप्त है। (अन्वय दृष्टान्त)। यों आठवीं वार्तिकसे कर्तृवादका पूर्वपक्ष आरम्भ कर यहांतक प्रकरणोंकी संगति मिला दी गयी है।

अथानुमानादप्यकृत्रिमं जगत्सिद्धमित्याह।

जिस प्रकार आगम प्रमाणसे लोकको नित्य सिद्ध किया गया है। अब अग्रिम वार्तिक द्वारा अनुमान प्रमाणसे भी श्रीविद्यानन्द स्वामी इस जगत्को कर्तासे अजन्य सिद्ध करते हुये यों कह रहे हैं कि—

विशिष्टसन्निवेशं च धीमता न कृतं जगत्।
दृष्टकृत्रिमकूटादिविलक्षणतयेक्षणात् ॥ ६८ ॥
समुद्राकरसंभूतमणिमुक्ताफलादिवत्।
इति हेतुवचः शक्तेरपि लोकोऽकृतः स्थितः ॥ ६९ ॥

विलक्षण रचनावाला यह जगत् (पक्ष) किसी बुद्धिमान् करके किया गया नहीं है (साध्य) जिन कृत्रिम पदार्थोंको बनानेवाले कर्त्ता देखे जाते हैं। उन कूट, गृह, गाडी, आदि कृत्रिम पदार्थोंसे विलक्षणपने करके देखा जा रहा होनेसे (हेतु) समुद्र या खानमें भले प्रकार स्वकीय कारणोंसे उपजे मोती, मूंगा, हीरा, पन्ना आदि पदार्थोंके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस प्रकार निर्दोष हेतुके वचनकी सामर्थ्यसे भी यह लोक अनुमान प्रमाण द्वारा अकृत्रिम व्यवस्थित हो चुका है। अर्थात्—चौकी, सन्दूक, किवाड आदिको बढई बना सकता है। किन्तु इसके उपादानकारण काठको नहीं बना सकता है। सूचीकार वस्त्रोंको सीव सकता है किन्तु रुई, ऊन, रेशमको स्वतंत्रतया नहीं गढ सकता है। रुई बनके पेडपर लगती है, पशु पक्षी, मनुष्योंके बाल ऊन हैं रेशमको कीडे बनाते हैं

यों ही सुनार सुन्दर भूषणोंको बना लेता है किन्तु सोना, चांदी, तांबेको मूलरूपसे नहीं उपजा सकता है, हलवाई मनोहर पक्वान्नोंको बना लेता है किन्तु इनके उपादान कारण रस या खांडको स्वतंत्र नहीं बना सकता है. सुवर्णकार, अयस्कार, आदि नाम तो कोरे नामनिक्षेपसे हैं। रोटी, दाल, पेड़ा, वस्त्रके उपादान या सोना, चांदी, काठ, हीरा, मोती, मांस, रक्त, आदिको वे एकेन्द्रिय, या द्वीन्द्रिय आदि जीवही कर्मपरवश होरहे अपने अपने व्यक्त, अव्यक्त, पुरुषार्थ द्वारा बनाया करते हैं। सूर्य, चन्द्रमा, समुद्र, पर्वत, धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, पुद्गल, आदिका समुदाय रूप यह लोक किसी एक ही बुद्धिमान् करके बनाया गया नहीं है।

दृष्टकृत्रिमविलक्षणतयेक्ष्यमाणश्च स्यात् कृत्रिमश्च स्यात् संनिवेशविशिष्टो लोको विरोधाभावात्। ततः सिद्धस्य हेतोः साध्येनाविनाभावित्वमिति मन्यमानं प्रत्याह।

यहां उक्त अनुमानमें कोई नैयायिक पण्डित प्रतिकूल तर्क उठाता है कि हेतु रह जाय साध्य नहीं रहे। सुनिये, यह लोक कर्त्तासहित रूपसे देखे जा रहे कृत्रिम पदार्थोंके विलक्षणपने करके देखा जा रहा होय, और सन्निवेशविशेषको धार रहा यह लोक कृत्रिम भी होय, कोई विरोध नहीं आता है। देखो धूम होय और अग्नि नहीं होय यों प्रतिकूल तर्क उठा देनेसे कार्यकारणभावका भंग होजाना यह विरोध खड़ा हुआ है। अतः " अग्निमान् धूमात् " इस प्रसिद्ध अनुमानमें प्रतिकूल तर्क नहीं उठा सकते हैं किन्तु यहां लोकमें हेतुके रहने पर भी साध्यका नहीं रहना आपादन किया जासकता है। आप जैनोंने स्वयं कहा है कि अन्न, मांस, पाषाण, आदि पदार्थ उन चीजोंसे विलक्षण हैं जिनके कि बनाने वाले उच्च कोटिके कारीगर देखे जाते हैं फिर भी अन्न आदि पदार्थ एक इन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, आदि जीवोंके द्वारा बना लिये गये हैं तिस कारणसे इस तुम्हारे दृष्ट कृत्रिम विलक्षणतयाईक्ष्यमाणत्व हेतुका अपने साध्य होरहे कृत्रिमत्वाभावके साथ अविनाभाव असिद्ध है इस प्रकार साभिमान माने चले जारहे नैयायिकोंके प्रति श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्तिक द्वारा समाधान वचनको कहते हैं।

नान्यथानुपपन्नत्वमस्यासिद्धं कथंचन।
कृत्रिमार्थविभिन्नस्याकृत्रिमत्वप्रसिद्धितः ॥ ७० ॥

हमारे इस हेतुका अन्यथानुपपत्तिसे सहितपना किसी भी ढंगसे असिद्ध नहीं है। क्योंकि कृत्रिम अर्थोंसे विभिन्न हो रहे पदार्थोंके अकृत्रिमपनकी प्रमाणोंसे सिद्धि हो रही है। भावार्थ—अन्न, काठ, सोना, हीरा, मांस, हड्डीको, भले ही वे एकेन्द्रिय आदि नाना जीव बना लेवें। किन्तु सूर्य, चन्द्रमा, सुदर्शन मेरु, अलोकाकाश, कालद्रव्य, लोक आदि अकृत्रिम पदार्थोंको नाना जीव या एक जीव कथमपि नहीं बना सकते हैं। जैनसिद्धान्त अनुसार वृक्षका जीव अपनी योगशक्ति द्वारा नोकर्म

वर्गणाका आकर्षण कर स्वकीय पुरुषार्थस्वरूप हो रही पर्याप्तिशक्तिकरके उन वर्गणाओंको काठ रूप बना लेता है यह शरीर उस जीवका कायबलप्राण कहा जाता है। सोनेकी खानका एक इन्द्रिय जीव अनेक कर्मोंके पराधीन हो रहा इसी प्रकार नोकर्म वर्गणाका स्वकीय शरीर सोना बना लेता है। हीरा, पन्ना, पाषाणकी सृष्टि भी इसी ढंगसे हो जाती है। द्वीन्द्रिय सीपका जीव जल विशेषको अपने दैव या पुरुषार्थ द्वारा मुक्ताफल रूप परिणमा लेता है जैसे कि रेशमका कीडा रेशमको, या गाय भैंस जीव अपने खाये गये भुस, घास, खल, बनौरे, आदिका दूध बना लेती है। कीडी, मकोडे, मक्खी, बर्र, घोडा, हाथी, तोता, कबूतर, मनुष्य, स्त्री, ये जीव कतिपय कर्मोंका उदय होनेपर स्वकीय पर्याप्तियों द्वारा या अन्य अनेक व्यक्त अव्यक्त पुरुषार्थों करके मांस, रक्त, मेद, चर्बी, आदि धातु अथवा उपधातु या मल मूत्र तथा ज्वर, सन्निपात आदि कार्योंके कर्त्ता माने जा सकते हैं। किन्तु अनादिनिधन लोक, सूर्य, अनेक द्वीप, समुद्र आदिका स्वतंत्र कर्त्ता कोई बुद्धिमान् नियत नहीं है। बढिया शिल्पकार, या वैज्ञानिक द्वारा बनाये गये नहीं होनेसे मुक्ताफल आदिको अकृत्रिम कह दिया है। वस्तुतः अन्न, मांस, मोती, आदिक किसी अपेक्षा कृत्रिम माने जा सकते हैं किन्तु छह द्रव्योंका समुदाय रूप यह लोक या सूर्य, चन्द्रमा, सुमेरु, द्वीप, समुद्र, स्वर्गस्थान, नरकस्थान, ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, अकृत्रिम चैत्यालय, आठ भूमियां, वातवलय आदिक पिण्डोंका समुदाय रूप यह लोक तो अकृत्रिम ही है। अतः हमारे हेतुका नियत साध्यके साथ अविनाभाव बना रहना पुष्ट प्रमाणोंसे सिद्ध है। अनुकूल तर्कवाला यह हेतु अपने साध्यको अवश्य साधेगा।

न हि कृत्रिमार्थविलक्षणो गगनादिः कृत्रिमः सिद्धो येन साध्यव्यावृत्तौ साधनव्यावृत्ति निश्चितान्यथानुपपत्तिरस्य हेतोर्न सिध्येत्।

कर्त्ता द्वारा बनाये गये कृत्रिम, घट, पट आदिक अर्थोंसे विलक्षण हो रहे आकाश, सूर्य, आदिक पदार्थ तो कृत्रिम सिद्ध नहीं हैं जिससे कि व्यतिरेक द्वारा साध्यकी व्यावृत्ति हो जानेपर साधनकी व्यावृत्ति हो रही स्वरूप निश्चित अन्यथानुपपत्ति इस हेतुकी सिद्ध नहीं होवे। अर्थात्— हमारा हेतु अविनाभावी है।

असिद्धताप्यस्य हेतोर्नेत्यावेदयति।

हेतुके व्यभिचार दोषकी आशंकाका प्रत्याख्यान कर इस " कृत्रिमार्थविलक्षणत्व " हेतुका असिद्ध हेत्वाभासपना भी नहीं है इस बातका श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिकद्वारा विज्ञापन करे देते हैं।

नासिद्धिर्मणिमुक्तादौ कृत्रिमेतरतोऽकृते।
कृत्रिमत्वं न संभाव्यं जगत्स्कन्धस्य तादृशः॥ ७१॥

उपादान शक्तियोंके प्रत्यक्ष रूपसे परिज्ञापक, अशरीर, व्यापक, एक ऐसे विशिष्ट कर्त्ता द्वारा नहीं किये जा चुके मणि, हीरा, पन्ना, सोना, चांदी, काठ, कंकण, पत्थर, मट्टी, मोती, गोरोचन, कस्तूरी आदि पदार्थोंमें कृत्रिमविभिन्नत्व (विलक्षणत्व) हेतुसे नहीं कृत्रिमपना साध्य सम्भवने योग्य है। तिस ही प्रकारके अनेक पदार्थोंके स्कन्ध रूप हो रहे स्वरूप जगत्‌का कृत्रिमपना भी सम्भावनीय नहीं है। अतः पक्षमें ठहर जानेसे हेतुके स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास दोष नहीं लगा।

मणिमुक्ताफलादीनां केषांचित्कृत्रिमत्वं व्रीहिसंमर्दनादिना रेखादिमत्त्वप्रतीत्या स्वयमुपयन् परेषां समुद्राकरोत्थानां तथा रेखादिमत्त्वासंप्रत्ययेनाकृत्रिमत्वं च तद्वैलक्षण्यमालक्षयत्येव। तद्वद् दृष्टकर्तृकप्रासादादिभ्यः काष्ठेष्टकादिघटनाविशेषजन्येभ्यस्तद्विपरीताकारप्रतिपत्त्या भूभृदादीनां वैलक्षण्यं प्रतिपत्तुमर्हति च न चेदभिनिविष्टमना। इति नासिद्धो हेतुर्मणिमुक्तादावकृत्रिमत्वव्यवहारक्षतिप्रसंगात् तद्वैलक्षण्यस्यापि तद्वदसिद्धेः।

प्रायः सम्पूर्ण वस्तुओंकी प्रतिकृति (नकल) करनेवाले इस युगमें नकली मोती, हीरा, पन्ना, माणिक्य (इमीटेशन) आदि बनने लगे हैं। ऐसे मणि, मुक्ता, आदिकोंको हम भी स्वतंत्र बुद्धिपूर्वक चाहे जैसे छोटा , बडा, बना देनेवाले कारीगर पुरुष करके कृत्रिमपना स्वीकार करते हैं। धानमें मिलाकर रगडनेसे यदि रेखा या कोई रगडका चिन्ह पड जाय तो उससे उन मणि, मोती, माणिक आदिके नकलीपनका परिज्ञान हो जाता है। और भी रत्नपरीक्षाके उपायों द्वारा माणिक, मोती, आदिके नकलीपन या असलीपनकी परीक्षा कर ली जाती है। जिससे कि कैई नकली पदार्थोंके कृत्रिमपन और अनेक असली पदार्थोंके अकृत्रिमपनका परिज्ञान कर लिया जाता है। आजकल तो घृत, दूध, चून, खांड, वस्त्र भी नकली पदार्थोंसे बने हुये आने लगे हैं। सुना है कि मनुष्य भी नकली बना दिये गये हैं। जो कि मनुष्योचित कतिपय क्रियाओंको भी करते हैं। कलको कोई स्वर्ग, नरक यहांतक कि मोक्षको भी नकली बनाले तो कोई आश्चर्य नहीं है। रामचन्द्रके युगमें (जमानेमें) एक इन्द्र नामका राजा इस भरत क्षेत्रमें ही स्वर्गकी पूरी नकल बनाकर स्वयं इन्द्र बन बैठा था। कैदखाने या दुःखियोंके घर तो अधोलोकस्थ नरकोंसे उपमेय हैं। पुण्यशाली धनिकोंके स्थान स्वर्ग कल्पित किये जा सकते हैं। निराकुल साधुओंकी तपोभूमिको कोई कवि एक देशसे मोक्षस्थानकी कल्पना कर सकता है। किन्तु इन सब उपचरित या अनुपचरित पदार्थोंके गौण, मुख्यपनकी परीक्षाके उपाय विद्यमान हैं। प्रकरणमें यह कहना है कि स्वयं नैयायिक पण्डित भी किन्हीं किन्हीं मणि, मोती, घृत आदि पदार्थोंका धान्योंके साथ रगडना, उष्ण जलमें तपाना आदि क्रियाओं करके रेखा पड जाना, खुरसट लग जाना, पानीमें बिखर जाना आदिसे सहितपनकी प्रतीति हो जाने करके कृत्रिमपनको स्वीकार कर रहा है वह नैयायिक ऐसी दशामें समुद्र या खानसे उत्पन्न हुये दूसरे मोती, मूंगा, हीरा, पन्ना, मणि, आदिकोंके तिस प्रकार रेखा आदिसे

सहितपनकी समीचीन प्रतीति नहीं होनेकरके अकृत्रिमपन और उन कृत्रिमसे विलक्षणपनका चारों ओरसे स्वरूपपरिज्ञान कर लेता ही है जैसे सूक्ष्मविचार बुद्धिद्वारा नकली मणि, मोती, घृत आदिसे असली मणि, मोती, आदिका विलक्षणपना या अकृत्रिमपना जान लिया जाता है उसी प्रकार सकर्तृक देखे जा रहे और काठ चतःकाष्ठी (चौखट) ईंट, चूना, छप्पर, किवाड, मनखण्डा, पुल, पहिया आदिक विशेष अवयव घटनाओंके आश्रय हो रहे प्रासाद, कुये, नहर, बम्बा, गाडी, आदिकसे पृथिवी, पर्वत, सूर्य, दर्रे, घाटियां, समुद्र, नदियां, आदिकोंका उन कृत्रिम गृह आदिके विपरीत प्रतिपत्ति हो जानेसे विलक्षणपनको यह नैयायिक समझनेके लिये भी समर्थ हो जाता है इतनी सुलभ सामग्री या दृष्टान्तके मिल जानेपर भी यदि नैयायिक उन दृष्टकर्तृक कोठी आदिकोंसे पर्वत आदिकोंके इस प्रसिद्ध विलक्षणपनको नहीं समझ सकेगा तब तो इसकी चित्तवृत्ति एक खोटे अभिनिवेशसे युक्त ही मानी जा सकती है। समुचित वस्तुको यदि कोई कदाग्रहवश नहीं समझ पावे तो इसमें समझा देनेवाले वक्ता या वस्तुका क्या दोष है ? पूरा मूल्य देकर भले ही नकली अल्पमूल्य चीजोंको मोल लेकर अविचारी या पोंगा बने रहो। असली पदार्थोंको भोगनेवाला परीक्षक विद्वान् कभी भी ऐसी अविचारित पोलम पोल क्रियाको अभिरुचित (पसन्द) नहीं करता है इस कारण हमारा हेतु असिद्धहेत्वाभास नहीं है अन्यथा हीरा, पन्ना, मोती, मूंगा आदिमें अकृत्रिमपनके व्यवहारकी क्षति हो जानेका प्रसंग होगा और उन पुराने गृहोंके समानही उन अकृत्रिम मोती, मणि आदिमें उन कृत्रिम मणि, मोती आदिकसे विलक्षणपनकी भी असिद्धि हो जायगी। अर्थात् वैशेषिक भूधर आदिकोंको कृत्रिम मानते हुये यदि महल, कोठी आदिकसे विलक्षणपना पृथिवी, पर्वत आदिकमें नहीं मानेंगे तो समुद्र या खानसे उत्पन्न हुये असली मोती, मणियोंको भी अकृत्रिमपना या कृत्रिमोंसे विलक्षणपना ये नहीं साध पायेंगे भ्रान्त, अभ्रान्तका विवेक उठ जायगा। यह सोनेका मूल्य देकर मुलम्मा मोल किया जा रहा है पामर (गंवार) पुरुष भी मट्टी, पत्थर, पीतल, खड आदिके बने हुये सांप, सिंह, घोडा, हाथी, छौरा आदिकसे असली सांप, सिंह, हाथी आदिको विलक्षण और अकृत्रिम माननेके लिये उद्युक्त रहता है।

न हि वयं दृष्टकृत्रिमकूटादिविलक्षणतयेक्ष्यमाणत्वमकृत्रिमतयेक्ष्यमाणत्वं वच्मो येन साध्यसमो हेतुः स्यादनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेरित्यादिवत् । नापि भिन्नदेशकालाकारमात्रतयेक्ष्यमाणत्वं तदभिदध्महे येन पुराणप्रासादादिनानैकान्तिकः। किं तर्हि ? घटनाविशेषानाश्रयतयेक्ष्यमाणत्वं जगतः प्रतीतकृत्रिमकूटादिविलक्षणतयेक्ष्यमाणत्वमभिधीयते । ततो निरवद्यमिदं साधनं ।

हम जैन ऐसे प्रतिभारहित या अदार्शनिक नहीं हैं जो कि कर्तासे जन्य होकर दीख रहे कृत्रिम कूट (ऊंचा थम्मा, मीनार, ठोस गुम्मज) गृह, खिलौने आदिसे विलक्षणपने

करके देखे जा रहेपनको ही अकृत्रिमपनकरके देखा गयापन झट कह देवें जिससे कि " शब्द अनित्य है नित्य पदार्थोंके धर्मकी अनुपलब्धि होनेसे " या पर्वत अग्निमान् है अग्निवाला होनेसे इत्यादिक हेतुओंके समान हमारा दृष्टकृत्रिमविलक्षणतया ईक्ष्यमाणत्व हेतु " साध्यसम " नामक दोषसे ग्रसित होजाय ! तथा केवल भिन्न देश, भिन्न काल और भिन्न आकार सहितपने करके देखे गयेपनको भी वह दृष्ट कृत्रिम विलक्षणतया ईक्ष्यमाणत्व हम नहीं कह रहे हैं जिससे कि पुराने कोठी, किले, गढ, खंडहर, खेरा, आदि करके व्यभिचार होजाय। तो फिर हम जैन क्या कह रहे हैं ? इसका उत्तर यह है कि काठ, ईंट, लोहा, गाटर आदिकी घटना (रचना) विशेषके नहीं आश्रय होरहे पन करके देखा गयापन ही जगत् पक्षका कृत्रिम होकर प्रतीत होरहे कूट आदिसे विलक्षणपने करके देखा गयापन हेतु हम जैनों करके कहा जारहा है। अर्थात्—हमारा हेतु साध्य सारिखा नहीं है जिससे कि अबतक साध्यकी असिद्धि होनेसे प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध दोषवान् होजाय क्योंकि बुद्धिमान् कर्त्ताद्वारा होसकनेवाली विशेष विशेष ढंगकी रचनाओंका आश्रय रूपसे जगत् नहीं देखा जारहा है ! नदियां, टेढी, मेढी बह रही हैं। पर्वत ऊंचे, नीचे, कोई शीतल कोई उष्ण हैं। पृथिवी कहीं लाल, पीली, काली, होरही है, समुद्रमें भी पानी बरसता है, मोंछ, दाढी मुडवा देने वालोंके बाल पुनः उपज आते हैं कांखमें बाल व्यर्थ उपजा दिये हैं, कहीं अतिवृष्टि कहीं अनावृष्टि होरही है। अनेक स्थलोंपर पापी जीव आनन्द भोग रहे हैं जब कि पुण्यात्मा सज्जन पुरुष अनेक दुःखोंको झेल रहे हैं। ईश्वरका निषेध करने वालोंका मुंह नहीं बन्द किया जाता है; सर्वज्ञ, व्यापक, दयालु भी ईश्वर भला चोर, व्यभिचारी, हिंसकोंके हृदयमें बुरे भावोंको क्यों उत्पन्न करता है ? जब कि वह सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् स्वीकार किया गया है। कोई भी हितैषी पिता या राजा अपने पुत्र या प्रजाको जान बूझकर अनर्थोंमें ढकेलकर पुनः उसको दण्ड देनेके लिये अभिलाषुक नहीं रहता है अन्यथा यह सब उत्तरदायित्व पिता या राजाके ऊपर ही पडेगा। कृतकृत्य ईश्वर कहां बैठकर किन कारणोंसे किस लिये जगत्को बनाता रहता है ? इन आक्षेपोंका सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता है। सृष्टि, प्रलय, उत्पत्ति विनाश, कहीं वृद्धत्व, किसीमें युवत्व, आदि अनेक विरुद्ध कार्योंको एक ईश्वर युगपत् कथमपि नहीं कर सकता है। जगत्में कहीं साधु पुरुष या पतिव्रता स्त्रियोंपर विपत्तियोंके पहाड ढाये जारहे हैं। किसी किसी धर्मात्माके आवश्यकीय एक पुत्र भी नहीं है। कतिपय कसइयोंके घर जब कि कुटुम्ब, धन, सम्पत्ति, प्रभुतासे, भरपूर हैं गरीबोंको सताया जारहा है। आर्थिकवादका तिरस्कार कर पूंजीवादके गीत गाये जारहे हैं। गेंहुओंके साथ निर्दोष घिनुवाभी पिस रहे हैं। स्थान स्थानपर शोक, अरति, के कारण बढ रहे हैं। अतः कृत्रिम कूट आदिसे विलक्षणपना ही जगत्का अकृत्रिमपना नहीं है जिससे कि हेतु और साध्य दोनों एकसे होजाय किन्तु बुद्धिमान् सर्वज्ञ द्वारा होने वाली रचना विशेषके आधार नहीं होरहेपन करके जगत्का दीखना ही हमारे पूर्वोपात्त हेतुका अर्थ है दृष्टकर्तृक पदार्थोंकी अपेक्षा भिन्न देश,

भिन्न आकाश, भिन्न काल, सहितपने करके जगत्का दीख जाना अपने हेतुका अर्थ कहते तब तो पुराने कुवें, खण्डहरोंसे व्यभिचार आसकता था क्योंकि पुराने खण्डहर भिन्न देशीय भिन्न कालीन और विभिन्न आकार वाले हैं किन्तु वे अकृत्रिम नहीं हैं। भाई हम तो हेतुका शरीर बुद्धिमान् कर्त्तासे होनेवाली विचारपूर्वक रचनाओंका अनाधार होकर दीख रहापन कहते हैं। तिस कारणसे हमारा यह दृष्टकृत्रिम पदार्थोंसे विलक्षणपने करके देखा जा रहापन हेतु सम्पूर्ण दोषोंसे रहित है। अतः अपने अकृत्रिमत्व नियत साध्यको साध डालता है। यहां अब किसी कुतर्कको अवकाश नहीं रहता है।

ननु चेदस्मदादिकर्तृककूटादिविलक्षणतयेक्षणं जगतोऽस्मदादिकर्त्रपेक्षयैवाकृत्रिमत्वं साधयेत् मणिमुक्ताफलादीनामिव समुद्रादिप्रभवानां न पुनरस्मद्विलक्षणमहेश्वरकर्तृविशेषापेक्षया तदुपभोक्तृप्राण्यदृष्टविशेषापेक्षयाप्यकृत्रिमत्वप्रसंगात्। न च तदपेक्षयाकृत्रिमत्वेऽपि तेषां सर्वत्र कृत्रिमाकृत्रिमत्वव्यवहारविरोधः प्रतीतकर्तृव्यापारापेक्षया केषांचित्कृत्रिमत्वेन व्यवहरणात्। परेषामतींद्रियकर्तृव्यापारापेक्षणेनाकृत्रिमतया व्यवहृतेरनीश्वरवादिनाप्यभ्युपगमनीयत्वात्, अन्यथास्य सर्वत्रोत्पत्तिमति तदुपभोक्तृप्राण्यदृष्टविशेषहेतुके कथमकृत्रिमव्यवहारः क्वचिदेव युज्येत। ततोऽस्मदादिकर्त्रपेक्षया जगतोऽकृत्रिमत्वसाधने सिद्धसाधनमस्मद्विलक्षणेश्वरकर्तृविशेषापेक्षया तु तस्य साधने विरुद्धो हेतुः साध्यविपरीतस्यास्मदादिकर्त्रपेक्षयैवाकृत्रिमत्वस्य ततः सिद्धेरिति केचित्।

नैयायिक या पौराणिक अपने ईश्वर कर्तृवादको करनेके लिये पुनः अनुनय करते हैं कि आप जैनोंने जो इस हेतु द्वारा साध्यको साधा है वह असमदादिक राज, बढई, मिस्त्री, आदिक कर्त्ताओं द्वारा बनाये गये स्तूप, मीनार, आदिकसे विलक्षणपने करके दीखना तो जगत्को अस्मद् आदिक कर्त्ताओंकी अपेक्षा करके ही अकृत्रिमपनको साध सकेगा। जैसे कि समुद्र, खान, आदिसे उपजे हुये मणि-मुक्ता आदिकोंके कर्त्ता अस्मद् आदिक नहीं होसकते हैं। अर्थात्—हम सारिखे अल्पबल, अल्पज्ञान, वाले जीव जगत्के कर्त्ता नहीं होसकते हैं यह हम नैयायिकोंको भी अभीष्ट है, किन्तु फिर हम लोगोंसे विलक्षण होरहे महेश्वर नामक विशेष कर्त्ताकी अपेक्षासे जगत्का अकृत्रिमपना नहीं साधा जा सकता है। अर्थात्—हम लोग भले ही जगत्के कर्त्ता नहीं होय फिर भी हमसे विलक्षण होरहा महान् ईश्वर तो जगत्का कर्त्ता सुलभतया सध जावेगा। यदि जैन विद्वान देखे जारहे बढई, कोरिया, कुम्हार, अध्यापक, वैज्ञानिक, इञ्जिनियर, आदिक एकदेशीय कर्त्ताओंसे विलक्षण होरहे महेश्वरको जगत्का कर्त्ता नहीं मानेंगे तब तो उन शरीर, इन्द्रिय, वृक्ष, भूषण, वस्त्र, आदिक कार्य पदार्थोंका उपभोग करने वाले प्राणियोंके अदृष्ट विशेष (पुण्य पाप) की अपेक्षा करके भी जगत्को अकृत्रिम पनेका प्रसंग होजायगा। अर्थात्—जैसे जैन जन यों झट कह बैठते हैं कि जगत्के कर्त्ता हम आदिक कोई भी संसारी नहीं हैं, हमसे विलक्षण होरहा ईश्वर भी जगत्का विधायक

नहीं है। उसी प्रकार हम नैयायिक भी कह सकते हैं कि शरीर, इन्द्रिय, राग, द्वेष आदिके करण कारक जैसे वसूला, दण्ड, तुरी, आदिक नहीं हैं उसी प्रकार इन करणोंसे विलक्षण होरहा अदृष्ट भी शरीर आदिका करण नहीं होसकेगा किन्तु यह अदृष्टका करण नहीं बन सकना हम, तुम, दोनोंको इष्ट नहीं है। साधारण व्यक्तियोंको जगत्का कर्तृत्व नहीं होनेपर भी असाधारण परमात्माको जगत्का कर्तृत्व सध सकता है। ईश्वरको नहीं माननेवाले जैन या बौद्ध यों भय करें कि उस ईश्वर या अदृष्टकी अपेक्षा करके यदि अर्थोंमें कृत्रिमपना माना जायगा तो सभी स्थानोंपर उन पदार्थोंके कृत्रिमपन और अकृत्रिमपनके पृथक् पृथक् हो रहे व्यवहारका विरोध हो जायगा। सभी पदार्थ कृत्रिम बन बैठेंगे। इसपर हम नैयायिक यों समझाते हैं कि इस भीतिकी आशंका नहीं करना ईश्वरकी अपेक्षासे कृत्रिमपना होते हुये भी उन पदार्थोंसे कृत्रिमपनके या अकृत्रिमपनके व्यवहारका विरोध नहीं हो पाता है क्योंकि जिन पदार्थोंमें कर्त्ताओंके व्यापार देखे जा रहे हैं। उसकी अपेक्षा करके किन्हीं किन्हीं घट, पट, भूषण, गाडी, गृह आदि पदार्थोंका कृत्रिमपने करके संसारमें व्यवहार हो रहा है। और इन पदार्थोंसे न्यारे सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, शरीर, पर्वत, आदिक पदार्थोंको इन्द्रियोंके अगोचर हो रहे विशेष कर्त्ताके व्यापारकी अपेक्षा करके अकृत्रिमपन रूपसे व्यवहार हो रहा है। अर्थात्—ईश्वरको उनका कर्त्तापन होते हुये भी वे अकृत्रिम हैं। ईश्वरको जगत्का कर्त्ता नहीं माननेवाले जैन, चार्वाक, बौद्ध, वादियों करके भी इसी ढंगसे कृत्रिमपन और अकृत्रिमपनका स्वीकार करना अनिवार्य पड़ेगा अन्यथा यानी दृष्टकर्तृक पदार्थोंको ही कृत्रिम मानते हुये यदि अतीन्द्रिय कर्त्ता द्वारा उपज रहे पदार्थोंको अकृत्रिम नहीं माना जायगा तब तो इस अनीश्वर वादीके यहां उन उन शरीर, इन्द्रिय, आदि कार्योंके उपभोक्ता प्राणियोंके पुण्य, पाप, विशेषको कारण मानकर जन्म ले रहे सम्पूर्ण उत्पत्तिमान् कार्योंमेंसे किन्हीं विशेष कार्योंमें ही भला अकृत्रिमपनेका व्यवहार कैसे समुचित हो सकेगा? तुम ही बताओ तुम जैन भी तो सीपके जीवके पुण्य, पाप, या पुरुषार्थसे उपजे हुये असली मोतीको अकृत्रिम मान रहे हो तिस कारणसे हम नैयायिक कहते हैं कि जैन विद्वान् यदि हम आदि कर्त्ताओंकी अपेक्षासे जगत्को अकृत्रिमपना उक्त अनुमानसे साध रहे हैं। तब तो जैनोंके ऊपर सिद्धसाधन दोष है। हम ईश्वरवादी नैयायिक भी तो अस्मद् आदिकर्त्ताकी अपेक्षा जगत्को सकर्तृक नहीं मानते हुये अकृत्रिम मान रहे हैं हम लोगोंसे विलक्षण हो रहे कर्त्ता विशेष ईश्वरकी अपेक्षा करके तो उस जगत्को यदि अकृत्रिम साधा जायगा तब तो जैनोंका "दृष्टकृत्रिमविलक्षणतया ईक्ष्यमाणत्व" हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है क्योंकि प्रकरण प्राप्त अकृत्रिमत्व साध्यसे विपरीत हो रहे अस्मद् आदि कर्त्ताओंकी अपेक्षा करके ही अकृत्रिमपनेकी उस हेतुसे सिद्धि हो पाती है हम लोगोंसे विलक्षण ईश्वर कर्त्ताकी अपेक्षा भी अकृत्रिमपनकी उस हेतुसे सिद्धि नहीं हो सकती है अतः जैनोंका हेतु साध्यसे विपरीत हो रहे साध्याभावके साथ व्याप्तिको रखनेवाला होनेसे विरुद्ध हुआ। यहांतक कोई नैयायिक पण्डित कह रहे हैं।

तेपि न न्यायविदः, अनित्यः शब्दो नित्यविलक्षणतया प्रतीयमानत्वात् कलशादिवदि-त्यादेरप्येवमगमकत्वप्रसंगात् । शक्यं हि वक्तुं यदि निरतिशयनित्यविलक्षणतयेक्षणात्सातिश-यनित्यत्वमनित्यत्वं साध्यते तदा सिद्धसाध्यता “ तेनैवं व्यवहारात् स्यादकौटस्थ्येपि नित्य-तेति ” स्वयं मीमांसकैरभिधानात् । अनेकक्षणत्रयस्थायित्वं साध्यं तदा विरुद्धो हेतुस्तद्विपरी-तस्य सातिशयनित्यलक्षणस्यैवानित्यत्वस्य ततः सिद्धेरिति ।

अब आचार्य महाराज समाधान करते हैं कि वे नैयायिक पण्डित भी न्यायमार्गको नहीं समझ रहे जैसा नाम वैसा काम करनेवाले नहीं हैं । देखिये तुमने शब्दको अनित्य सिद्ध करनेके लिये यह अनुमान बनाया है कि शब्द (पक्ष) अनित्य है (साध्यदल) क्योंकि नित्य पदार्थोंसे विलक्षणपने करके प्रतीत किया जा रहा है (हेतु) कलसा, रोटी, दाल आदिके समान (अन्वय-दृष्टान्त) अथवा “ पर्वतो वह्निमान् धूमात् महानसवत् ” इत्यादिक असिद्ध हेतुओंको भी इस प्रकार कुचोद्योंद्वारा तुम्हारे यहां अगमकपनेका प्रसंग होगा यहां भी शब्दको नित्य माननेवाले मीमांसकोंकरके यों कहा जा सकता है कि नैयायिक उक्त अनुमानद्वारा यदि निरतिशय नित्य पदार्थोंसे विलक्षणपने करके दीख जाना हेतुसे सातिशय नित्यत्व स्वरूप अनित्यत्वको साध रहे हैं तब तो सिद्धसाध्यता दोष है । हम मीमांसक भी शब्दको कूटस्थ नित्य नहीं मानते हैं अग्निका संयोग हो जानेपर अनित्यजल अपने शीत अतिशयको छोड देता है और उष्णताका आधान कर लेता है । किन्तु कूटस्थ नित्य पदार्थ ऐसा नहीं कर सकता है । कूटस्थका अर्थ “ अनाधेयाप्रहेयातिशय ” है । जो पदार्थ चाहे कितने भी प्रेरक कारणोंका सम्प्रयोग हो जानेपर उनके धर्मों अनुसार धर्मान्तरोंको ग्रहण नहीं करता है और अपने उपात्त कर लिये गये अतिशयोंको छोडता भी नहीं वह वह कूटस्थ है जैसे कि आकाश किन्तु नित्य हो रहा भी शब्द कूटस्थ नहीं है वैदिक, लौकिक, महान् अभिव्यंजक, अल्प अभिव्यंजक ध्वनि, कण्ठ, तालु, आदि परिस्थितियोंके वशवर्ती हो रहा परिणामी नित्य है । अतः ऐसे सातिशय नित्यस्वरूप अनित्यत्वकी सिद्धि करनेपर हम मीमांसक तुम नैयायिकोंके ऊपर “ सिद्धसाधन ” दोष उठाते हैं । स्वयं मीमांसकोंने अपने ग्रन्थोंमें यों कहा है कि संकेत काल और व्यवहारकालमें वक्ता वही व्यापक हो रहा शब्द नित्य है । क्योंकि उस संकेतगृहीत शब्द करके ही मैं शाब्द बोध करनेवाला पुरुष यह व्यवहार करता हूं कि यह गौ है, अमुक घट है इत्यादि, अतः कूटस्थपना नहीं होते हुये भी शब्दको नित्यपना युक्तिप्राप्त है । व्यंजकोंकी तीव्रता, मन्दता, अल्पीयस्त्व, तत्तद्देशीयत्व आदिकी अपेक्षा शब्दमें कुछ अतिशयोंकी संक्रान्ति होना अभीष्ट है ऐसे अनित्यत्वका हमने खण्डन कहां किया है ? हां अनेक तीन तीन क्षणोंमें स्थायी-पन यदि अनेक शब्दोंका अनित्यपना साधा जाता है तब तो तुम नैयायिकोंका हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि उस तुम्हारे सर्वथा अनित्यत्व साध्यसे विपरीत होरहे सातिशय नित्यस्वरूपही अनित्यपनकी

शब्दमें उस हेतुसे सिद्धि होसकती है। अर्थात्—क्षणिकवादी बौद्ध तो पदार्थोंका प्रथम क्षणमें आत्मलाभ मान कर दूसरे क्षणमें ही ध्वंस मानते हुये ज्ञान, घट, आदिको क्षणिक मानते हैं। जैनोंके यहां एक क्षण या दो, चार, लाखों, असंख्य, क्षणोंतक ठहरने वाली सूक्ष्म पर्याय या स्थूल पर्यायोंको क्षणिक कहा जा सकता है कारण कि अनेक (संख्यात, असंख्यात) क्षणोंतक ठहरनेवाले बिजली, बबूला, दीपकालिका, आदि भी जगत्में क्षणिक पदार्थ माने गये हैं। अतः " द्वितीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्व " या " अनेकक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्व " ये दोनों लक्षण सूक्ष्म समयवर्ती पर्याय अथवा कतिपय समयवर्ती स्थूल पर्यायोंकी अपेक्षासे समुचित हैं किन्तु वैशेषिकोंने तृतीयक्षणवृत्तिध्वंस-प्रतियोगित्व यानी प्रथम समयमें उत्पत्ति द्वितीय समयमें शब्दकी स्थिति (श्रुति) और तीसरे क्षणमें नाश हो जाना ऐसा क्षणिकपना शब्द या ज्ञानोंमें स्वीकार किया है। हां, अपेक्षाबुद्धिका चौथे क्षणमें वे ध्वंस होना मानते हैं। वैशेषिक पण्डित पांचवें क्षणमें नष्ट हो जानेवाली क्षणिक क्रियाओंका चार क्षणतक ठहरे रहना स्वीकार करते हैं। ईश्वर इच्छा या संयोग आदिसे प्रथम क्षणमें क्रियाकी उत्पत्ति, द्वितीय क्षणमें उससे विभाग, तृतीय क्षणमें पूर्व संयोगनाश, चतुर्थ क्षणमें उत्तरदेशसंयोग पुनः पांचवे क्षणमें क्रियाका नाश होजाता है। यों क्षणिकत्वके कतिपय अर्थ हैं। इसी प्रकार नित्यके भी कूटस्थ नित्य, सातिशय नित्य, परिणामी नित्य, धारा प्रवाह नित्य, बीजाङ्कुर न्याय अनुसार नित्यत्व, अनादि सान्त नित्यत्व, सादि अनन्त नित्यत्व, ऐसे कतिपय अर्थ हो सकते हैं। अतः शब्दका अनित्यपना साधनेपर नैयायिकोंके ऊपर हम मीमांसकोंने सिद्धसाधन और विरुद्ध दोष उठाये हैं। इसी प्रकार साध्यमें विकल्प लगा कर वन्हिमान् धूमात् आदि अनुमानोंमें भी उक्त दोष लगाये जा सकते हैं। जैसे कि नैयायिकोंने जैनोंके ऊपर सिद्धसाधन या विरुद्ध हेत्वाभास उठा दिये हैं।

यदि पुनर्नित्यमात्रविलक्षणतयेक्षणादिति हेतुरिष्टमेव क्षणिकत्वाख्यमनित्यत्वं साधयति, ततो न सिद्धसाधनं परस्य, नापि विरुद्धो हेतुरिति मतं तदा दृष्टकृत्रिमसामान्यविलक्षणतयेक्षणादिति हेतुरस्मदादिकर्त्रपेक्षयास्मद्विलक्षणेश्वरादिकर्त्रपेक्षयापि वाऽकृत्रिमत्वं साधयतीति कथं नैयायिकस्यापि सिद्धसाधनं विरुद्धो वा हेतुः स्यात् ।

फिर नैयायिक पण्डित यदि मीमांसकोंके प्रति यों कहें कि सामान्य नित्यसे विलक्षणपने करके दीखना इस प्रकारका हेतु तो शब्दमें हमारे इष्ट हो रहे ही दो क्षण या तीन क्षणतक ठहरना नामके अनित्यपनको साध देता है। तिस कारणसे मीमांसकोंकी ओरसे दिया गया सिद्ध साधन दोष दूसरे हम नैयायिकोंके ऊपर नहीं आ सकता है। तथा हमारा हेतु विरुद्ध भी नहीं है क्योंकि हम नैयायिक तुम मीमांसकोंके यहां सिद्ध हो रहे सातिशय नित्यपनको शब्दमें नहीं साध रहे हैं। तथा हमारा हेतु अनुकूल साध्यके साथ ही रही व्याप्तिको धारता है। इस प्रकार नैयायिकोंका मन्तव्य होय तब

तो हम जैन भी कहते हैं कि देखे जा रहे सामान्यरूपसे सम्पूर्ण कृत्रिम पदार्थोंसे विलक्षणपने करके दीखना इस प्रकारका हमारा हेतु अस्मदादिकर्त्ताओंकी अपेक्षासे अथवा हम लोगोंसे विलक्षण हो रहे महेश्वर, ब्रह्म, प्रकृति, ब्रह्मा, आदि कर्त्ताओंकी अपेक्षासे भी नहीं कृत्रिमपनको जगत्में बहुत अच्छा साध देवेगा भले ही उन उन कतिपय पदार्थोंके कर्त्ता अनेक जीवात्मायें हैं। किन्तु एक किसी ईश्वर या प्रकृतिकी अपेक्षा जगत् कृत्रिम नहीं है। ऐसी दशामें नैयायिककी ओरसे भी हमारे ऊपर सिद्धसाधन दोष कैसे हो सकता है ? और हम जैनोंका निर्दोष हेतु " दृष्टकृत्रिमविलक्षणतया ईक्षण " भला विरुद्ध हेत्वाभास कैसे हो सकता है ? । यानी नहीं हो सकता है।

यथैव हि निरतिशयनित्यात् सातिशयनित्याच्च वैलक्षण्यमुत्पादकविनाशकारणकत्वं प्रतीयमानं शब्दे स्वेष्टं क्षणिकत्वं साधयेत्, तथैवास्मदादिकृतात्कूटप्रासादादेरीश्वरादिकृताच्च त्रिपुरदाहांधकासुरविध्वंसनादेः सामान्यतो वैलक्षण्यं घटनादिविशेषानाश्रयत्वं जगति समीक्ष्यमाणं सकलबुद्धिमत्कर्त्रपेक्षयैवाकृत्रिमत्वं साधयतीति सर्वं निरवद्यं।

जिस ही प्रकार मीमांसकोंके ऊपर धुडक कर नैयायिक यों कह सकते हैं कि सांख्योंके यहां माने गये पुरुषके समान निरतिशय नित्य पदार्थ और मीमांसकोंके यहां माने गये जीवात्माओंके समान सातिशय नित्य पदार्थ अथवा और भी किसी प्रकारके नित्य पदार्थोंसे विलक्षणपना यानी सृष्टिप्रक्रिया और प्रलयप्रक्रिया अनुसार सबकी उपादेय उत्तर पर्यायका उत्पादक होते हुये पुनः उसके विनाशका कारण होजाना यहां " नित्यविलक्षणतया ईक्षण " हेतु शब्दमें भले प्रकार प्रतीत किया जारहा उस हमारे अभीष्ट होरहे दो तीन क्षणतक ठहरना स्वरूप क्षणिकत्वको साध देवेगा। हम जैन भी नैयायिकोंके सन्मुख आत्मगौरव सहित कह सकते हैं कि उस ही प्रकार हम तुम मिस्त्री, बढई, कारीगर आदि द्वारा बनाये गये स्तूप, चबूतरा, चौपारें, कोठियां गृह, झोंपडे, चौकी, मन्दिर आदि पदार्थोंसे और तुम पौराणिकोंके मतानुसार मान लिये गये कार्यविशेषोंके कर्त्ता ईश्वरस्वरूप महादेव, विष्णु, ब्रह्मा, आदि करके किये गये त्रिपुरका दाह, अन्धकासुरका विध्वंसन करना, गंगाका धारण, कामदेवका भस्म करना, आदि या चक्र धारण, कंसमर्दन, कैटभका जीतना, शिशुपालवध, अथवा तपस्या द्वारा चतुर्मुख बनाना, हंसपर चढ लेना, आदि कार्योंसे सामान्यतया विलक्षणपना यानी काठ, ईंट, लोहे, चूनाका ठीकठीक जोडना, ऊपर बना लेना, शस्त्र धारण कर लेना, तपस्या कर लेना आदिक विशेष घटनाओंका आश्रयरहितपना भले प्रकार जगत्में देखा जारहा है यह हम जैनोंका हेतु हमारे अभीष्ट साध्य होरहे सम्पूर्ण ही बुद्धिमान् कर्त्ताओंकी अपेक्षा करके अकृत्रिमपनको जगत्में साध देता है। भावार्थ—पौराणिकोंके विचार अनुसार यदि शिवजीने त्रिपुरका दाह कर दिया या अन्धक राक्षसका विध्वंस कर दिया, गजासुरको मार डाला इत्यादिक क्रियायें कथंचित् थोडी देरके लिये मानी जासकती हैं। विष्णु भगवान्ने नृसिंह, कृष्ण, आदि अवतार द्वारा हिरण्यकशिपु, पूतना,

केशी, का वध किया ये क्रियायें भी असम्भव नहीं हैं, किन्तु ईश्वर करके जगत्का निर्माण करना असम्भव है क्योंकि जगत्में कर्त्ताओं द्वारा होनेवाली विशेष घटनायें या योजनायें नहीं पायी जाती हैं जगत्में उक्त त्रिपुरदाह आदि कर्तृसाध्य कार्योंसे विलक्षणपना भी सुलभतया बढिया देखा जारहा है अतः यह अविनाभावी हेतु जगत्में अकृत्रिमपनको साध ही देता है। शैवसम्प्रदाय वाले पुराणोंमें त्रिपुरकी उत्पत्ति और विनाशकी कथा इस प्रकार लिखी है कि " ततस्ते सहिता राजन्, संप्रधार्यासकृद्बहु। सर्वलोकेश्वरं वाक्यं प्रणम्येदमथाब्रुवन्। अस्माकं त्वं वरं देव, प्रयच्छेमं पितामह ! वयं पुराणि त्रीण्येव समास्थाय महीमिमाम्। विचरिष्याम लोकेऽस्मिंस्त्वत्प्रसादपुरस्कृताः। ततो वर्षसहस्रे तु समेष्यामः परस्परम्। एकीभावं गमिष्यन्ति पुराण्येतानि चानघ। समागतानि चैकत्वं यो हन्याद्भगवंस्तदा। एकेषुणा देववरः स नो मृत्युर्भविष्यति। एवमस्त्विति तान्देवः प्रत्युक्त्वा प्राविशद्दिवम्। ते तु लब्धवराः प्रीताः संप्रधार्य परस्परम्। पुरत्रयविसृष्ट्यर्थमयं वव्रुर्महासुरम्। विश्वकर्माणमजरं दैत्यदानवपूजितम्। ततो मयः स्वतपसा चक्रे धीमान् पुराणि च। त्रीणि कांचनमेकं वै रौप्यं कार्ष्णायसं तथा। काञ्चनं दिवि तत्रासीदन्तरीक्षे च राजतम्। आयसञ्चाभवद्भौमं चक्रस्थं पृथिवीपते। एकैकं योजनशतं विस्तारायामसम्मितम्। गृहाट्टालकसंयुक्तं बृहत्प्राकारतोरणं। गृहप्रवरसंबाधमसंबाधमहापथम्। प्रासादैर्विविधैश्चैव द्वारैश्चाप्युपशोभितम्। पुरेषु चाभवन् राजन्। राजानो वै पृथक् पृथक्। काञ्चनं तारकाक्षस्य चित्रमासीन्महात्मनः। राजतं कमलाक्षस्य विद्युन्मालिन आयसम्। त्रयस्ते दैत्यराजानस्त्रींल्लोकानाशु तेजसा। आक्रम्य तस्थुरूचुश्च कश्चनाथं प्रजापतिः। तेषां दानवमुख्यानां प्रयुतान्यर्बुदानि च। कोट्यश्च प्रतिवीराणां समाजग्मुस्ततस्ततः। मांसाशाश्च सुदृप्ताश्च सुरैर्विनिकृताः पुरा। महदैश्वर्यमिच्छन्तस्त्रिपुरं दुर्गमाश्रिताः। सर्वेषाञ्च पुनस्तेषां सर्वयोगवहो मयः। तमाश्रित्य हि ते सर्वे वर्तयन्त्यकुतोभयाः। ये हि यं मनसा कामं दध्यात् त्रिपुरसंश्रयः। तस्मै कामं मयस्तं तं विदधे मायया तदा। तारकाक्षसुतो वीरो हरिर्नाम महाबलः। तपस्तेपे परमकं येनातुष्यत् पितामहः। सन्तुष्टमवृणोद्देवं वापी भवतु नः पुरे। शस्त्रैर्विनिहता यत्र क्षिप्ताः स्युर्बलवत्तराः। स तु लब्ध्वा वरं वीरस्तारकाक्षः सुतो हरिः। ससृजे तत्र वापीं तां मृतसञ्जीवनीं प्रभो। येन रूपेण दैत्यास्तु येन वेषेण चैव ह। मृतास्तस्यां परिक्षिप्तास्तादृशेनव जज्ञिरे। तां प्राप्य ते पुनस्तांस्तु सर्वान् लोकान् बबाधिरे। महता तपसा सिद्धाः सुराणां भयवर्द्धनाः। नैतेषामभवद्राजन् क्षयो युद्धे कथञ्चन ॥ इस प्रकार त्रिपुरकी उत्पत्ति है। त्रिपुरमें रहनेवाले मय आदि महापराक्रमी दैत्योंने सम्पूर्ण लोकको बाधा पहुंचायी तब सम्पूर्ण देवोंने एकत्रित होकरके महादेवसे उसके मारनेकी प्रार्थना की। एक महान् दृढ रथ बनाया गया। भारी प्रार्थना करनेपर पितामहने रथका सारथी होना स्वीकृत किया। उस रथपर चढकर महादेवने बाण करके तीनों नगरोंको दग्ध कर दिया और मय आदि असुरगणोंको जलाकर पश्चिम समुद्रमें फेंक दिया। इस वृत्तान्तको पुराणोंमें यों लिखा गया है कि " सर्वलोकस्य तेजांसि दृष्ट्वैकस्थानि मारिष। युक्तं निवेदयामासुर्देवास्तस्मैमहात्मने " " मूर्तिं सर्वां समाधाय त्रैलोक्यस्य ततस्ततः रथं ते कल्पयिष्यामो देवेश्वर महौजसम्

तथैव बुद्धया विदितं विश्वकर्मकृतं महत् । ततो विबुधशार्दूलास्तं रथं समकल्पयन् । विष्णुं सोमं हुताशञ्च तस्येषुं समकल्पयन् । शृङ्गमग्निर्बभूवास्य भल्लः सोमो विशाम्पते । अतिष्ठत् स्थाणुभूतः स सहस्रं परिवत्सरान् । यदा त्रीणि समेतानि अन्तरीक्षे पुराणि च । त्रिपर्वणा त्रिशल्येन तदा तानि बिभेद सः । पुराणि न च तं शेकुर्दानवाः प्रतिवीक्षितुम् । शरं कालाग्निसंयुक्तं विष्णुसोमसमायुतम् । पुराणि दग्धवन्तं तं देवा याताः प्रवीक्षितुम् " " तान् सोऽसुरगणान् दग्ध्वा प्राक्षिपत् पश्चिमार्णवे । एवन्तु त्रिपुरं दग्धं दानवाश्चाप्यशेषतः । महेश्वरेण क्रुद्धेन त्रैलोक्यस्य हितैषिणा " तथा व्यासकृत वैष्णव सम्प्रदायवाले हरिवंश पुराणके एकसौ पैंतालीसवें अध्यायमें अन्धक असुरकी उत्पत्ति यों लिखी है कि दिति कहती भयी " हतपुत्रास्मि भगवन् देवैर्भिभूताम्बर । अवध्यं पुत्रमिच्छामि देवैरमितविक्रमम् । इसके उत्तरमें कश्यप उवाच । अवध्यस्ते सुतो देवि दाक्षायणि भवेदिति । देवानां संशयो नात्र कश्चित् कमललोचने । देवदेवमृते रुद्रं तस्य न प्रभवाम्यहम् । आत्मा ततस्ते पुत्रेण रक्षितव्यो हि सर्वथा । अन्वालभत तां देवीं कश्यपः सत्यवागथ । अङ्गुल्योदरदेशे तु सा पुत्रं सुषुवे ततः ॥ यह अन्धक असुर अविचारक पाप पंकमें फसे हुये अन्धे मदान्ध पुरुषोंके समान स्वच्छन्द भ्रमण करता हुआ देव या मनुष्योंको अनेक कष्ट देता भया । पश्चात् महेशसे उसको मारनेके लिये दुःखित जनोंने प्रार्थना की । हरिवंश पुराण एक सौ छियालीसमें अध्यायमें लिखा है कि " मुमोच भगवाञ्छूलं प्रदीप्ताग्निसमप्रभम् । ततः पश्चात् हरोत्सृष्टमन्धकोरसि दुर्धरम् । भस्मसाच्चाकरोद्रौद्रमन्धकं साधुकण्टकमिति " इसी प्रकार गजासुर कामदेव आदिके विनाश किये जानेकी रोचक कथायें पुराणोंमें लिखी हैं । विष्णु करके प्रल्हादकी रक्षाके लिये हिरण्यकशिपुका वध अच्छे ढंगसे लिखा गया है । इसी प्रकार कंस, मुर आदिका नाश करना भी बडी श्रद्धाबुद्धिसे उपदिष्ट किया गया है । सच पूछो तो यह स्पष्ट रूपसे संकल्पी हिंसा है । एक छोटी श्रेणीका जैन गृहस्थ भी जिस संकल्पी हिंसाको नहीं कर सकता है । परमात्मा या परमात्माके आंशिक गुणोंको धारनेवाला देव या पुरुष तो कथमपि ऐसी हिंसाको नहीं करना चाहेगा । सज्जन पुरुषोंके प्रभावशाली उपदेशों द्वारा ही क्रूर पुरुष शान्त हो जाते हैं । अस्तु कुछ भी हो वैशेषिक या नैयायिक दार्शनिकोंने उक्त पौराणिक कथाओंपर अखण्ड विश्वास नहीं रक्खा है । ये ईश्वरको अदेह स्वीकार करते हैं । हां, ईश्वर द्वारा विशिष्ट शक्तियोंको प्राप्त कर कोई कोई जीवात्मायें जगत्में बडे बडे चमत्कारक कार्योंको कर पाडती हैं ऐसा वैशेषिक मान लेते हैं । जैन सिद्धान्त अनुसार देव या राक्षसोंकी आयुका मध्यमें ही छिन्न हो जाना नहीं माना गया है हां, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि पुण्यशाली पुरुषोंके या विद्याओंको साधनेवाले पुरुषोंके अधीन अनेक देवता हो जाते हैं । अनेक देवोंके ऊपर कई पुण्यात्मा पुरुषोंका प्रभाव स्थापित हो सकता है । जैन पुराणोंमें भी महादेव, रामचन्द्र, कृष्ण, पाण्डव, आदिके चरित्रोंका वर्णन है । रुद्रोंकी उत्पत्ति तो चारित्रसे भ्रष्ट हो चुके मुनि और आर्यिकाके सम्बन्ध द्वारा हुई मानी गयी है । इस कल्पकालकी अव-

सर्पिणीमें हुये ग्यारह रुद्रोंमेंसे सबसे प्रथम भीमावलि नामक रुद्रने श्री अजितनाथ स्वामीको बाल्यावस्थामें अनेक उपसर्ग किये पश्चात् बालक अजितनाथकी महती शक्तिको आश्चर्यान्वित देखकर महादेवने अजितनाथकी स्तुति की और क्षमा मांगी । अन्तिम महादेव सात्यकिने चौदह सौ विद्यायें सिद्ध करलीं थीं, अनेक राजाओंका पराजय किया था । ये रुद्र महाशय भोगोंमें दिनरात व्यासक्त रहते थे । विद्याओं करके अनेक कष्टसाध्य अनहोने कार्योंको करके डालते थे। इसी प्रकार ब्रह्मा भी एक तापसी हुये हैं, जिन्होंने सैकड़ों वर्षोतक तपस्या की और तिलोत्तमा पर आसक्त होकर तपस्याकी शक्तिसे चार, पांच, मुख बनाये इत्यादिक कृतियां उक्त पुरुषोंकी प्रसिद्ध हैं, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, पाण्डव पुराणोंमें रामचन्द्र, कृष्ण, का विस्तृत कथनाक मिलता है । होलिकादाहकी पृथा भी इसी भित्ति पर अवलम्बित होकर प्रसिद्ध है । जैन पुराण और वैष्णव या शिव पुराणोंके कतिपय प्रकरण मिल जाते हैं । किन्तु जहां कार्य कारणभावका भंग होय या असम्भव व्यवस्था होय वह अजैन पुराणोंका विषय बाधित होजाता है जैसे कि मनुष्योंके संसर्गसे देवियोंके संतानकी उत्पत्ति बनाना, कानसे कर्णकी उत्पत्ति मानना, मनुष्यका धड और हाथीका सिर जुडकर गणेशजीका उत्पाद मानना, ब्रह्माके मुखसे ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति मानना, गायके सींगपर पृथिवीका धर रहना, जटाओंमें गंगाका खेलना । फिर कितनेही दिनोंतक गंगा नदीका जटाओंमें ही अन्तर्भूत रहना इत्यादिक विषय निर्बाध नहीं हैं । अलंकार पूर्ण साहित्यमें घटा, बढा कर कह दिया जाता है किन्तु असम्भवके परिहारका वहां भी लक्ष्य रखा जाता है । अतः किन्हीं किन्हीं शक्तिशाली पुरुषों करके कभी काचित् प्रसिद्ध हुये त्रिपुरका दाह या अधंक असुरका विध्वंस, कोटिशिलाका उठाना आदि सम्भवनीय विषयोंको मान लिया भी जाय । किन्तु एक बुद्धिमान ईश्वर करके जगत्का बनाया जाना कथमपि विश्वसनीय नहीं है। यों तो जिनसेनाचार्य कृत सहस्रनाममें महादेव, विष्णु, ब्रह्मा, सुगत, आदि देवोंके अनेक नामोंका उल्लेख है । अमरकोशमें " शम्भुरीशः पशुपतिः शिवः शूली महेश्वरः " ईश्वर, शंकर, मृत्युञ्जय, वामदेव, हर, ईशान, त्र्यम्बक, त्रिलोचन, त्रिपुरान्तक, अन्धकरिपु आदि अनेक नाम महादेवके कहे हैं । इसी प्रकार ब्रह्माके परमेष्ठी, आत्मभू, पितामह, स्वयंभू, वेधा, नाभेय आदि नाम हैं । सहस्रनाममें " श्रीमान् स्वयम्भूर्वृषभः शंभवः शम्भुरात्मभूः । नित्यो मृत्युंजयो मृत्युरमृतात्मामृतोद्भवः । युगादिपुरुषो ब्रह्मा पंचब्रह्ममयः शिवः " दुरितारिहरो हरः " त्रिनेत्रस्त्र्यम्बकस्त्र्यक्षः केवलज्ञानवीक्षण " त्रिपुरारिस्त्रिलोचनः" सर्वक्लेशापहः साधुः सर्वदोषहरो हरः, शंकरः शंवदो दान्तो" "तीर्थकृत् केवलीशानः" " नाभेयो नाभिजो जातः " स्वयम्भूयोनिरजोऽजन्मा, सर्वज्ञः सर्वदर्शनः " " सुगतिः सुश्रुतः सुश्रुक्, सुगतो हतदुर्नयः " सिद्धो बुद्धः प्रबुद्धात्मा " " समन्तभद्रः शांतारिर्धर्माचार्यो दयानिधिः" सूक्ष्मदर्शी जितानंगः " " कृपालुर्धर्मदेशकः " इत्यादिक कतिपय अन्वर्थनामोंका निर्देश किया गया है । इनमेंसे अनेकोंका अर्थ सहस्रनामकी स्तुतिमें यों लिखा है कि " अनंतभवसंतानजयादासीरनंतजित् " हे भगवन् तुम अनन्तको अर्थात् भव-संसारको जीतनेकी अपेक्षा "अनन्तजित्" हैं । छोटे छोटे शारी-

रिक बलधारी मनुष्य या देवता अथवा नौला, गरुड, मोरपक्षी भी सांपको जीत सकते हैं जीतना तो क्या मार भी देते हैं। किन्तु आप तो अनन्त हो रही संसारकी सन्तानका जय करनेसे अनन्तजित् हैं " त्रैलोक्यनिर्जयावाप्तदुर्धर्षमतिदुर्जयं, मृत्युराजं विजित्यासीज्जिन मृत्युंजयो भवान् " तीनों लोकके जीतनेसे जिस यमराजको खोटा अभिमान प्राप्त हो चुका है जो कि अतीव कठिनतासे जीतने योग्य है उस आयुष्यकर्मरूपी मृत्युराजको जीतकर हे जिन आप ही मृत्युंजय माने गये हैं। अर्थात्—यमराज नामका कोई एक देवता सबको मारनेवाला नहीं है। क्यों जी उसका मारनेवाला कौन है ? ब्रह्मा, विष्णु, महेशके वह अधीन है ? या उसके अधीन ब्रह्मा, विष्णु, महेश हैं ? सूर्यका पुत्र और यमुनाका भाई माने गये यमकी उत्पत्तिके प्रथम मृत्युयें कैसे होती थी ? धर्मराज, यमराजका क्या सम्बन्ध है ? क्या यमराजके पुत्र पुत्रियां अविनश्वर हैं ? या उनको मारनेवाला कोई दूसरा यमराज है ? इन संपूर्ण प्रश्नोंका पौराणिकोंकी ओरसे सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त नहीं होता है। अतः आयुष्य कर्मके जीतनेकी अपेक्षा श्री जिनेन्द्र देव ही मृत्युंजय हैं " त्रिपुरारिस्त्वमीशोऽसि जन्ममृत्युजरान्तकृत् " जन्म, जरा, और मृत्यु इन तीन नगरोंका अन्त कर देनेसे तुम जिनेन्द्र देव ही " त्रिपुरारि " हो तुम ही ईश हो। त्रिकाल त्रिलोकवर्ती भिन्न भिन्न तत्त्वोंको युगपत् जाननेवाले केवलज्ञान नामक चक्षुको धार रहे तुम त्रिनेत्र हो। माथेमें तीसरे नेत्रका होना अलीक है। निर्माण कर्म शरीरमें दोही नेत्रोंको बनने देता है। विक्रियाशक्तिया विद्याबलसे भले ही दिखाऊ उत्तर आकार चाहे कैसे भी बनालो। ऐसे त्रिनेत्रपन या सहस्रनेत्रपनकी कोई विशेष प्रशंसा नहीं है " त्वामंधकांतकं प्राहुर्मोहांधासुरमर्दनात्, अर्द्धन्ते नारयो यस्मादर्द्धनारीश्वरोऽस्यतः " वस्तुतः स्वयं अन्धा होरहा और दूसरे सम्बन्धियोंको मदोन्मत्त होकर अन्धा कर रहा मोह नामके अन्धासुरका मर्दन कर देनेसे हे जिन भव्य जीव तुमको ही " अन्धकान्तक " कहते हैं। सर्वज्ञ होते हुये भी भविष्यमें देवोंके लिये दुःख प्राप्तिका नहीं ज्ञान रखने वाले वे ही पहिले किसीको अवध्य होनेका वरदान करें पुनः उसीको रथ बनाकर सारथी होकर बाण चलाकर वे ही उन त्रिपुरोंको मारें यह तथ्य वृत्तान्त नहीं प्रतीत होता है। तथा दिति माता किसीसे नहीं मारा जासके ऐसे पुत्रकी अभिलाषा करे और कश्यपके द्वारा पेट पर अंगुलियोंको फेरते रहने पर ऐसे पुत्रको उपजा देवे पुनः महादेव द्वारा उस अवध्य पुत्रका संहार किया जाय ऐसे कथानक प्रतीति की उच्च शिखरपर आरूढ होने योग्य नहीं है। अतः त्रिपुरारि और अन्धकासुर मर्दनका कथानक श्रीजिनेन्द्र देवमें जन्म, जरा, मृत्यु और मोह राक्षसका क्षय कर देनेसे सुप्रतीत होजाता है। आठ कर्मोंसे आधे चार घातिया कर्मस्वरूप प्रबल शत्रु जिन अर्हन्त देवके नहीं हैं। अतः अर्ध+न+अरि अर्धनारीश्वर अर्हन्त परमेष्ठी हैं। आधा पुरुषका और आधा स्त्रीका यों एक शरीर बन कर चिर जीवित रहे या बडी भारी महिमाको पावे यह समझमें नहीं आता है। इसी प्रकार मोक्षपदमें आध्यासीन होनेसे शिव और पाप शत्रुओंका हरण करनेसे हर, लोकमें सुख करनेसे शंकर आदिक नाम भी जिनदेवके सुघटित हो जाते हैं। " शिवः

शिवपदाध्यासाद्दुरितारिहरो हरः, शंकरः कृतशंलोके संभवस्त्वं भवन्मखे वृषभोसि जगज्ज्येष्ठः पुरुः पुरुगुणोदयैः नाभेयो नाभिसंभूतेरिक्ष्वाकुकुलनन्दनः " "जन्माभिषेकवामाय वामदेव नमोऽस्तु ते " " केवलज्ञानसंसिद्धावीशानाय नमोस्तु ते " "नमः परमविज्ञान" नमःपरमदृष्ट परमार्थाय तायिने" " नमः सुगतये तुभ्यं शोभनां गतिमीयुषे " इत्यादिक शिव, सुगत, ब्रह्माके पर्यायवाची नामोंसे यथार्थ महत्त्वोद्योतक सम्भवनीय घटित हो रहे अर्थ श्री जिनेन्द्रदेवमें स्थापन किये गये हैं इस कारण सम्पूर्ण बुद्धिमान् कर्त्ताओंकी अपेक्षा करके भी जगत्में अकृत्रिमपना साध दिया जाता है इस प्रकार हम जैनोंका सम्पूर्ण कथन युक्तिपूर्ण निर्दोष है। हमारे " दृष्टकृत्रिमविलक्षणतया ईक्षण हेतुमें किसी दोष की सम्भावना नहीं है।

न हीश्वरनारायणादयः स्याद्वादिनामप्रसिद्धा एव, नापि तत्कृतत्रिपुरदाहान्धकासुरविध्वंसनादयो येन तद्विलक्षणं साधनमुपादीयमानं विरुद्ध्येत। महेश्वरादेरखिलजगत्कारणस्यैव तेषामनभिमतत्वात् तादृशो महतो जगत्स्कन्धस्य सकलघटनाविशेषानाश्रयस्येश्वरापेक्षयापि कर्तृमत्त्वमसंभाव्यं सन्निवेशविशिष्टत्वादेः साधनस्य तत्प्रयोजकत्वायोगस्य समर्थनात्।

हम स्याद्वादियोंके यहां ईश्वर, नारायण, बलदेव, राक्षस, देव आदिक जीव अप्रसिद्ध नहीं है। और उन महादेव आदि करके किये जा चुके त्रिपुरका दाह, अन्धक असुरका विध्वंस, पार्वतीपरिणय, विद्यासाधन आदि या कोटिशिला उठाना, प्रतिनारायणका पराजय करना, अनेक व्यंतर देवोंका अधिपतित्व, अनेक लीलायें, लौकिक सुख भोगना आदिक भी हम जैनोंके यहां अप्रसिद्ध नहीं हैं जिससे कि उन त्रिपुरदाह आदि कृत्रिम कार्योंसे विलक्षणपने करके दीख जाना हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हो सके। अर्थात्—जगत्को अकृत्रिम सिद्ध करनेके लिये पूर्व अनुमानमें ग्रहण किया जा रहा हमारा दृष्टकृत्रिम विलक्षणतया ईक्षण हेतुविरुद्ध नहीं है। त्रिपुर तो क्या ऐसे भी इतिहासमें अवसर आ चुके हैं कि प्रचंड राजाओंने बीसों पुरोंका और उनमें रहनेवालोंका विध्वंस कर दिया गया है। क्रोधी मुनि अपने तैजस शरीर द्वारा सैकडों पुरोंका विनाश कर देता है। वीर निर्वाण सम्वत् २४५६ चौवसली छप्पन या विक्रम सम्वत् १९८६ में राज्याधिकारियोंने करोडों टीडियोंका विध्वंस कर दिया था, ईसवीय सन् १९१४ से १९१९ तक हुये यूरपदेशके महायुद्धमें लाखों मनुष्योंका संक्षय हो चुका है। सन् १९१८ और १९१९ में भयंकर जुड़ज्वर (इनफ्लुयुइन्जा) के कारण भारतीय ६० लाख मनुष्यकाल कवलित हो गये थे। प्लेग, हैजा, में असंख्य मनुष्योंका विनाश हो जाता है। विकृत पुद्गल और क्रूर जीवोंके निमित्तसे घण्टों या मिनटोंमें करोडो, अरबों, खरबों, कीट, पतंग, मार दिये जाते हैं। इसी प्रकार तीर्थंकर महाराज असंख्य जीवोंका उपकार करते हैं। शुभतैजस पुतला द्वारा मुनि कोसों तक सुभिक्ष फैला देते हैं। कोटिशिला या कैलाशको नारायण अथवा रावणने उठा लिया यों जैन पुराणोंमें प्रसिद्ध है इत्यादिक अनेक कार्य किये जा सकते हैं। किन्तु ये सम्पूर्ण

उक्त कार्य उन घट, पट, आदि कार्योंसे विलक्षण नहीं हैं जिनको कि बनानेवाले कर्त्ता देखे जा रहे हैं। अतः हम जैन संभावना प्रयुक्त तुम पौराणिकोंके त्रिपुरध्वंस, आदि कार्योंको कथंचित् मान भी लेवें, निर्बाध विषयोंके स्वीकार कर लेनेमें कोई हानि नहीं है। बात यह है कि उन स्याद्वादियोंके यहां अखिल जगत्के कारण माने जा रहे महेश्वर, विधाता, ब्रह्माद्वैत आदिको ही अभीष्ट नहीं किया गया है दृष्टकर्तृक पदार्थोंमेंसे जिस प्रकार विलक्षण हो रहे असंख्य योजन लम्बे, चौडे, अतिमहान्, और काठ, ईंट, आदिकी जुडाई करना, खम्भे बनाते हुये बारहद्वारी बनाकर शिखरकी रचना करना इत्यादिक ढंगसे सम्पूर्ण विशेष, विशेष, घटनाओंके आश्रय नहीं हो रहे जगत् स्वरूप स्कन्धका कर्त्तासहितपना तुम्हारे ईश्वरकी अपेक्षा करके भी असम्भव ही है। क्योंकि जगत् को ईश्वरकृतपना साधते हुये तुम वैशेषिकों द्वारा प्रयुक्त किये गये सन्निवेश विशिष्टत्व, अचेतनोपादानत्व आदिक हेतुओंको उस ईश्वरकृतत्व साध्यकी सिद्धिमें प्रयोजकपनका अयोग्य है इसका समर्थन हम जैन पूर्व प्रकरणोंमें कर चुके हैं। अर्थात्—तुम्हारे ईश्वर, नारायण, आदिको हम जैन स्वीकार करते हैं ये भव्य मनुष्य पूर्व कालोंमें अपने अपने माता पिताओंसे उत्पन्न होकर अधिक शक्तिशाली होचुके हैं। भीमावली आदि ग्यारह रुद्र हैं। " भीमावलि जिदसत्तू रुद्द विसालणयण सुप्पदिट्ठ चला। तो पुंडरीय अजिवंधर जिदणाभीय पीड सच्चइजो " ये ग्यारह रुद्रोंके नाम हैं॥ उसहदुकाले पढमदु सत्तण्णे सत्त सुविहिपहुदीसु, पीढो संति जिणिंदे वीरे सच्चइ सुदो जादो " भीमावलि और जित शत्रु ये दो रुद्र भी वृषभनाथ और श्री अजितनाथके कालमें हुये हैं और पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयोनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, और शान्तिनाथके कालमें क्रमशः रुद्र, विशालनयन, सुप्रतिष्ठ, पुण्डरीक, अजितंधर, जितनाभि, पीठ, ये रुद्र हैं और सत्यकिसुत श्री महावीरके कालमें हुये हैं तथा श्री त्रिलोकसारकी गाथानुसार " तिविट्ठदुविट्ठसयंभू पुरिसुत्तम पुरिससिंह पुरिसादी, पुण्डरीय दत्त णारायण किण्हो अद्धचक्कहरा " इस अवसर्पिणीमें ये नौ नारायण हुये हैं और असग्गीओ तारय मेरक णिसुंभकइडहंत महू। बलि पहरण रावणया खचरा भूचर जरासंधो " ये नौ प्रतिनारायण हुये हैं तथा " बलदेवा विजयाचलसुधम्मसुप्पहसुदंसणा णंदी, तो णंदिमित्त रामा पउमा उवरिं तु पडिसत्तू " इस गाथा अनुसार नौ बलदेव हुये माने गये हैं और इस अवसर्पिणीके बियालीस हजार वर्ष कम एक कोटाकोटी सागर परिमित चतुर्थ कालमें " चक्की भरहो सगरो मघवसणक्कुमार संतिकुंथुजिणा, अरजिण सुभोम महापउमा हरिसेण जय ब्रह्मदत्तक्खा " ये बारह चक्रवर्ती हुये माने गये हैं इन महापुरुषोंके द्वारा किये जाचुके महान अतिशयित कार्य भी प्रसिद्ध हैं। व्यंतर, भवनवासी, आदि देव निकाय भी प्रमाणों द्वारा निर्णीत हैं किन्तु अनादि निधन जगत्की रचना ऐसी विलक्षण है जो कि किसी एक बुद्धिमान द्वारा कथमपि कर्तव्य कोटिमें नहीं आसकती है। अतः हमारे साध्यके साथ व्याप्तिको अक्षुण्ण धारे रहना रूप समर्थनसे युक्त होरहा हेतु अपने नियत साध्यका प्रयोजक है। अतः जगत् अकृत्रिम ही सिद्ध हुआ।

एतेन समुद्राकरसंभूतमणिमुक्ताफलादिदृष्टान्तस्य साध्यधर्मविकलत्वं साधनधर्मविकलत्वं च निराकृतं, तत्रापि सकलकृत्रिमविलक्षणतयेक्षणस्य महेश्वरकृतत्वासंभवस्य च कृतनिश्चयत्वात् । तदेवं निखिलबाधकरहितात् प्रवचनादनुमानाच्चाकृत्रिमलोकव्यवस्थानान्नैकबुद्धिमत्कारणो लोकः शंकनीयः कालादिवत् ।

हम जैनोंके समर्थनपूर्वक इस उक्त कथनकरके समुद्र या खानोंसे उत्पन्न हुये अकृत्रिम (असली) मोती, प्रवाल, जम्हाल, मणि, सोना, चांदी, हिंगुल, हरिताल, अभ्रक, ताम्र, वैडूर्य, गेरू, पीली-मिट्टी, कंकण, पत्थर, आदिक दृष्टान्तकी साध्यधर्मसे विकलता और साधनधर्मसे रहितताका निराकरण किया जा चुका समझ लेना चाहिये। क्योंकि उन मणि मुक्ताफल आदिमें भी जीवोंके बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ द्वारा किये गये सम्पूर्ण कृत्रिम पदार्थोंसे विलक्षणपने करके दीख जाना स्वरूप हेतु और महेश्वर करके किये गयेपनके असम्भव स्वरूप साध्यका भले प्रकार निश्चय कर लिया गया है। अर्थात्—विशिष्ट रचनावाला जगत् (पक्ष) किसी भी ईश्वर, ब्रह्म, ब्रह्मा, महादेव या महेश, अल्लाह, आदि बुद्धिमान् आत्मा करके स्वकीय पूर्ण ज्ञान या संभव, असंभव, चाहे जिस किसी भी कार्य करनेकी इच्छा अथवा कर्तुम-कर्तुमन्यथाकर्तुं शक्तिरूप पुरुषार्थ द्वारा किया गया नहीं है (साध्य), कृत्रिमरूपसे देखे जा चुके कूट आदिसे विलक्षणपने करके दीखना होनेसे (हेतु) समुद्र या खान अथवा अन्य वृक्षोंसे समीचीन, अनिर्वचनीय अदृष्ट, जीव, पुद्गल, आदि कारणोंकरके उपजे मणि, मोती, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस प्रकार हम जैनोंद्वारा कहे गये अनुमानके दृष्टान्तमें साध्य और हेतु भले प्रकार घटित हो रहे हैं। तिस कारण इस प्रकार सम्पूर्ण बाधकोंसे रहित हो रहे आगमप्रमाण और अनुमान प्रमाणसे इस लोकके अकृत्रिमपनकी व्यवस्था हो रही है। अतः किसी एक बुद्धिमान् आत्माको कारण मानकर यह लोक उत्पन्न हुआ है इस प्रकारकी शंका कथमपि नहीं करनी चाहिये, जैसे कि काल, आकाश, स्वयं ईश्वर, आदिक पदार्थोंमें जैसे कृत्रिम-पनका संदेह अणुमात्र भी नहीं किया जाता है।

ततो मध्यलोकस्य निवेशः कथितः। द्वीपसमुद्रपर्वतक्षेत्रसरित्प्रभृतिविशेषः सम्यक् सकलनैगमादिनयमयेन ज्योतिषा प्रवचनमूलसूत्रैर्जन्यमानेन कथमपि भावयद्भिः सद्भिः स्वयं पूर्वापरशास्त्रार्थपर्यालोचनेन प्रवचनपदार्थविदुपासनेन चाभियोगविशेषविशेषेण वा प्रपंचेन परिवेद्यो अधोलोकसन्निवेशविशेषवदित्युपसंहरन्नाह।

तिस कारणसे उक्त प्रकार श्री उमास्वामी महाराजने यहांतक मध्यलोकके अनादिनिधन सन्निवेशका निरूपण कर दिया है। जम्बूद्वीप, धातकीद्वीप, पुष्करद्वीप आदि द्वीप और लवणसमुद्र, कालोदधि, पुष्करवर आदि समुद्र तथा हिमवान्, महाहिमवान्, आदि पर्वत एवं भरत, हैमवत आदि क्षेत्र किं च गंगा, सिन्धु, आदि नदियां एवं च पद्म आदि सरोवर तथैव भोगभूमि, कर्मभूमि, आदिकोंकी

अन्य भी विशेष विशेष रचनाओंको भले प्रकार चारों ओरसे समझ लेना चाहिये। नैगम, संग्रह, व्यवहार, द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक, आदि नयोंसे तन्मय होरहे तथा सर्वज्ञप्रतिपादित और गणधर ग्रन्थित द्वादशांग प्रवचनको मूल मानकर उत्पन्न हुये श्रीउमास्वामिकृत सूत्रों करके उपज रहे ज्ञानप्रकाश करके द्वीप आदिकी विशेषताओंको समझ लेना चाहिये, एक विषयको सुनकर उसके सम्बन्धी अनेक विषयोंकी भावना करने वाले सूक्ष्मबुद्धि सज्जनों करके स्वयं शास्त्रके अर्थोंकी पूर्वापर पर्यालोचना द्वारा द्वीप आदिकी विशेष रचनाओंका परिज्ञान कर लेना चाहिये एवम् सर्वज्ञोक्त शास्त्रों या प्रकृष्ट वक्ताओंके वचनके द्वारा निर्णीत किये गये पदार्थोंका परिज्ञान करनेवाले प्रकाण्ड विद्वानोंकी उपासना करके भी विस्तारसे ही द्वीप आदिकोंकी विशेषतायें जानी जासकती हैं। अभियोगोंकी अन्तररहितपनकी विशेषताओं करके मध्य लोककी रचना विशेषोंको जैसे भी तैसे किसी भी प्रकार (उपाय) से समझ लेना योग्य है। जैसे कि अधोलोककी विशेष रचनाओंका विस्तारके साथ समझ लेना आवश्यक है।

भावार्थ—श्री उमास्वामी महाराजने तृतीयाध्यायमें पहिले छह सूत्रों द्वारा अधोलोकका संक्षिप्त वर्णन लिखा है। किन्तु इन मूलसूत्रोंके अनुसार अथवा सर्वज्ञोक्त सम्प्रदाय अनुसार प्रसिद्ध हो रहे अन्य ग्रन्थोंके परिज्ञान करके अधोलोककी रचनाओंका विस्तृत वर्णन समझ लिया जाता है। उसी प्रकार सिद्धान्तग्रन्थोंकी भावनाको धारनेवाले व्युत्पत्तिशाली सज्जनों करके प्रमाणनयात्मक प्रकाश करके मध्यलोक सम्बन्धी विशेष विशेष रचनाओंका विज्ञान कर लेना चाहिये यद्यपि संक्षेपरूपसे उक्त सूत्रोंमें ही अधोलोक और मध्यलोकका सम्पूर्ण निरूपण हो चुका है। फिर भी विशेष ज्ञप्ति करनेके लिये अन्य आप्तोपज्ञ शास्त्रोंके प्रमेयोंकी भावना करनेवाले सज्जनों करके अपनी प्रमाणनयात्मक ज्ञान ज्योति करके गजदंत, यमकादि, जम्बूवृक्ष, स्वयम्भूरमण द्वीप, मध्यलोकके चारों कोन आदिका विचार कर लेना आवश्यक है। प्रवचन और प्रवचनके ज्ञाता पुरुषोंकी परिचर्यासे अनेक अतीन्द्रिय अर्थोंका निश्चय कर लिया जाता है। इतना लक्ष्य रक्खा जाय कि कोई अन्यवादी कुचोद्य या कुयुक्तियों द्वारा हम जैनोंके ऊपर अभियोग नहीं लगा सके। सिद्धान्तशास्त्रोंके पूर्वापर विचार और प्रकृष्ट विद्वानोंकी सत्संगतिसे उक्त कार्य सुलभसाध्य हो जाता है। किसी लम्बे चौडे महलको बनानेके लिये पहिले छोटा चित्र बना लिया जाता है। विचक्षण गृहपति उतने ही इंगितसे प्रासादके पूरे प्रमेयको हृदयंगत कर लेता है। आप्तोपज्ञ शास्त्रों द्वारा उत्थित हुई ज्ञानज्योति तो विशेष रूप करके ततोऽपि अधिक परिज्ञप्ति करा सकती है। त्रिलोकसार, त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थोंका परिशीलन करनेसे मध्यलोकके अतीव सुन्दर मनोहारी दृश्य मानो सज्जनोंके सन्मुख ही उपस्थित हो जाते हैं। इस प्रकार इस संक्षिप्त वक्तव्यका उपसंहार कर रहे श्री विद्यानन्दस्वामी मालिनी छन्दः द्वारा अग्रिम वार्तिकको कहते हैं।

इति कथितविशेषो मध्यलोकस्य सम्यक् ।
सकलनयमयेन ज्योतिषा सन्निवेशः ।

प्रवचनभवसूत्रैर्जन्यमानेन सद्भिः ।
कथमपि परिवेद्यो भावयद्भिः प्रपंचात् ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्री उमास्वामी महाराजने मध्यलोकके कतिपय विशेषस्थलोंका सामान्य रूपसे तृतीयाध्यायके चौंतीस सूत्रोंमें समीचीन वर्णन कर दिया है । सर्वज्ञ प्रतिपादित द्वादशांग मूलक शास्त्रों या प्रकृष्ट वक्ताओंसे उत्पन्न हुये सूत्रों करके उपज रहे सम्पूर्ण नयतन्मय ज्ञानज्योतिर्द्वारा भावना-शक्तिको धारनेवाले सज्जन पुरुषों करके किसी भी समुचित उपायोंके अनुसार मध्यलोकके सन्निवेशका विस्तारसे परिज्ञान कर लेना चाहिये । सूत्रोंमें इतना ही कथन करना पर्याप्त है ।

इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम् ।

इस प्रकार श्री उमास्वामी महाराजकृत तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थके तीसरे अध्यायका
श्री विद्यानन्दस्वामीकृत प्रकरणोंका समुदायस्वरूप
दूसरा आन्हिक यहांतक समाप्त हुआ ।

अधोलोकश्चित्रो नरकगणना नारकजनस्तथा लोको मध्यो बहुविधविशेषो नरगणः ।
तदायुर्भेदश्च प्रतिनियतकालो निगदितस्तिरश्चामध्याये स्थितिरपि तृतीयेऽत्र मुनिना ॥ १ ॥

इस तीसरे अध्यायमें श्री उमास्वामी महाराजने प्रथमसूत्रकरके चित्र, विचित्र प्रकारका अधोलोक कहा है, रत्नप्रभा आदि सात भूमियां वातवलयोंपर और वातवलय तो आकाशके आश्रयपर अवलंबित हैं । यों सुमेरु पर्वतके नीचे सात राजूतक अकृत्रिम अधोलोकका सुन्दर आश्चर्यकारक विचित्र सन्निवेश है । दूसरे सूत्रमें चौरासी लाख नरकोंकी गणना की गई है तथा अग्रिम तीसरे, चौथे, पांचवें, छठे, सूत्रोंमें नारकी जीवोंकी दुर्व्यवस्था और उनकी आयुओंका निरूपण किया गया है । इसके आगे सातवें आदि सूत्रोंमें मध्यलोकका वर्णन है, वहां द्वीप, क्षेत्र, पर्वत, ह्रद, कमल, नदियां, आदिका वर्णन करते हुये सूत्रकारने ढाई द्वीपमें रहनेवाले भोगभूमियां, कर्मभूमियां, आर्य, म्लेच्छ, आदि बहुत प्रकारोंकरके मनुष्योंके समुदायका विशेष कहा है तथा उन मनुष्योंकी आयुके विशेष भेद भी कह दिये हैं, जो कि जघन्य, उत्कृष्ट, आयुके भेद श्वासके अठारहवें भाग, जघन्यदशासे लेकर कोटि पूर्व वर्षतक कर्मभूमिमें और एक समय अधिक कोटि पूर्व वर्षसे प्रारम्भकर तीन पल्यतक भोगभूमियोंमें प्रत्येक नियतकालको धारनेवाले हैं । अन्तमें तिर्यञ्च जीवोंकी जघन्य, उत्कृष्ट, स्थितिका भी सूत्रकार मुनि महाराजने लगे हाथ प्रतिपादन कर दिया है ।

इति श्रीविद्यानन्दि आचार्यविरचिते तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकारे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार **श्री विद्यानन्द आचार्य** करके विशेषरूपेण रचना किये गये
तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकार नामक महान् ग्रन्थमें यहांतक
तीसरा अध्याय परिपूर्ण हुआ ।

तृतीयाध्यायकी विषयसूची।

इस तीसरे अध्यायमें श्री विद्यानन्द स्वामी करके व्याख्या किये गये प्रकरणोंकी सूची इस प्रकार है कि प्रथम ही जीवोंके निवास स्थानोंकी जिज्ञासा होनेपर कहे गये " रत्नशर्करा " आदि सूत्रकी उपपत्ति की गयी है। आगमप्रमाणसे समझायीं गयीं भूमियें और वातवलय तथा आकाशके आश्रयपनको युक्तियोंसे सिद्ध किया है। पौराणिकोंके यहां माने गये कछवा, शेषनाग आदिको भूमिका आधारपना नहीं सम्भवता है। पश्चात् भूमिका गोल आकार माननेवाले कतिपय प्राचीन पण्डित और आधुनिक अनेक यूरूपीय पण्डितोंके मतानुसार भूमिके ऊपर नीचे भ्रमणका अनुवाद कर पुनः भूभ्रमणवादका ऊहापोहपूर्वक खण्डन किया है। क्वचित्, कदाचित्, भूमिका अत्यल्प कम्प हो जानेसे चित्तमें बडा भारी उद्वेग (घबडाहट) व्याकुलतायें उपज जाती हैं, रेंहटक झूला या गोल झूलापर झूलनेवालोंके हृदयमें भारी आघात पहुंचता है, तो फिर भूमिका वेगयुक्त भ्रमण माननेपर इन शरीरधारी जीवोंकी कितनी दुर्दशा होगी ? इसका अनुमान सहजमें लगाया जा सकता है। सांपको उल्टा लटका देनेसे उसका निकृष्ट संहनन थोडी देरमें स्खलित होकर सर्प मृतप्राय हो जाता है। इसी प्रकार भूमिके ऊपर नीचे लटक रहे ये टूटे चरखा सरीखे शरीरको धारनेवाले प्राणियोंको घुमा देनेपर भुरभुरी गजक, के समान दुर्व्यवस्था हो जायगी। भूमिकी आकर्षण शक्ति इस विपत्तिकी रक्षा नहीं कर सकती है। पचास मनकी मट्टीके डेलको यदि आकाशमें लटका दिया जाय और उस डेलपर नीचेकी ओर एक बालक या एक कटोरा जलको धारण कर दिया जाय तो वह झट नीचे गिर पडेगा क्या ? पचास मन मट्टीका डेल उस सेरभर पानीको या पांच सेरके बालकको अपनी आकर्षण शक्ति द्वारा नीचेकी ओरसे खेंच नहीं सकता था ? यदि तुम यों कहो कि महती भूमिकी आकर्षणशक्ति अत्यधिक है। अतः दिनमें सूर्यप्रकाशसे अभिभूत हुये ताराओंके समान उस छोटेसे मृत्तिका पिण्डकी शक्ति दब जाती है। बडी भूमि अपनी ओर बालक या जलको खींच लेती है इस पर हम जैनोंका यह कहना है कि पृथिवीमें आकर्षण शक्ति मध्य केन्द्रमें है ? या सर्वत्र खण्ड खण्डोंमें यथायोग्य बांटके अनुसार थोडी थोडी फैल रही है ? इन दोनों पक्षोंके अनुसार तुम्हारा उक्त सिद्धान्त रक्षित नहीं रह सकता है। क्योंकि मट्टीको खोदकर एक ओर ऊंची और दूसरी ओर नीची ढलाऊ स्थानमें जमा देने पर ऊपर उभरी भूमि पर रक्खी हुई गेंद नीचे नहीं लुडकनी चाहिये तथा खण्ड, खण्ड, शक्ति मानने पर पचास मनका ठोस गोला नीचली पोली हलकी भूमिकी बांटमें आयी हुई थोडी शक्तिसे कहीं बढ कर है। गोल भूमि पर लम्बा, चौडा, समुद्र जल या नदीजल नियत विधीसे नहीं ठहर सकता है। प्रेरक वायुओंका परस्परमें प्रतिघात होजायगा। देखो, गुरु पदार्थ अधःपतनशील होते हैं। भूमिमें आकर्षण शक्ति है। जलभाग बीचमें कुछ उभरा रहता है। इन सिद्धान्तोंका हम खण्डन नहीं करते हैं। किन्तु नियत भ्रमण कराने के कार-

णोंका अभाव होनेसे और प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम प्रमाणों करके विरोध होजानेसे इस अचला भूमिका भ्रमण कथमपि नहीं होपाता है। यूरोपीय विद्वानोंने कोई चेतन कर्ता भूमिका भ्रमण करानेवाला भी अभीष्ट नहीं किया है। जैसे कि जैनोंने सूर्य, चन्द्रमा, आदिके विमानोंको भ्रमानेवाले आभियोग्य जातिके देव माने हैं। अतः इस भूमिका ऊपर नीचे भ्रमण या पूर्व पश्चिम भ्रमण कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता है। इसके आगे भूमिका अधःपतन माननेवाले मतान्तरोंको दिखला कर श्री विद्यानन्द आचार्यने युक्तियों द्वारा उनका निराकरण कर दिया है। इसी प्रकार भूमिका ऊर्ध्वगमन या सूर्यकी ओर निकट, निकट गमन अथवा तारतम्य मुद्रासे सूर्यके दूर दूर हो रहे भ्रमणका निराकरण भी हो जाता है। अनादि कालसे सूर्य, भूमि आदि सुव्यवस्थित हैं। अन्यथा न जाने कितने समय पूर्व ही इनकी दुर्दशा हो गयी होती। अतः उक्त कल्पनायें सब निराधार हैं। अस्मदादि मनुष्य या जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र आदि असंख्य द्वीप समुद्रोंकी आधारभूत ये रत्नप्रभा या शर्कराप्रभा आदि भूमियां अनन्त योजनोंतक फैली हुयी नहीं हैं। और अन्य अन्य अनेक भूमियोंके आधारपर डटी हुई भी नहीं हैं। किन्तु प्रत्यक्षज्ञानियों द्वारा ठीक ठीक नापे जा रहे किसी मध्यम असंख्यातासंख्यात नामकी संख्यावाले योजनों करके लम्बीं चौडीं नाप ली गयीं हैं। सात पृथिवियोंके मध्यवर्ती छह अन्तरालोंमें असंख्यात योजनोंका अन्तर है। अतः ये स्थूल भूमियां निश्चयनयसे स्वाश्रित और व्यवहार दृष्टिसे वातवलयके आश्रित समझा दी गयीं हैं। उस उस जातिके पापकी विचित्रतासे उन उन भूमियोंमें कर्मवश जीवोंका गमन होते रहना बताया है। उन सात भूमियोंके कतिपय भागोंमें निवास करनेवाले नारकी जीवोंकी उपार्जित कर्म अनुसार अपनी अपनी आयुःपर्यन्त स्थितिको कह कर नारकियोंकी अशुभ लेश्या आदिक परिणतियोंको युक्तियों द्वारा साधा है। रौद्रध्यानसे नरकोंमें उत्पत्ति होनेके कारण मैढा, तीतर, कुत्ता आदिके समान परस्पर लड भिड कर दुःख भुगतना साधा गया है असुर कुमारों द्वारा दुःख देनेके हेतुको समझा कर उन नरकोंमें जीवोंकी उत्कृष्ट स्थितिको अनुमान द्वारा प्रसिद्ध किया है। उसके पश्चात् मध्यलोकका वर्णन करते हुये और सूत्रोक्त पदोंकी सफलताको पुष्ट करते हुये श्री विद्यानन्द स्वामीने जम्बूद्वीप आदिपदसे बहुव्रीहि वृत्ति द्वारा निकाल दिये जा रहे जम्बूद्वीपको बडे अच्छे ढंगसे बाल बाल बचा लिया है। मेरु और इसके इधर, उधर, भरत आदि क्षेत्रोंके प्रतिपादक सूत्रोंका व्याख्यान कर वृत्तवेदाढ्योंकी रचना बता दी है। भरत आदि सात ही क्षेत्रोंका अवधारण करते हुये आचार्य महाराजने अन्य मतियोंकी कल्पित क्षेत्र संख्याओंका प्रत्याख्यान कर दिया है। दुग्धमें घृतके समान जगत्में सर्वत्र स्याद्वाद सिद्धान्त ओतपोत होकर प्रविष्ट हो रहा है। उन क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले पर्वतोंकी उपपत्ति, परिणाम, पार्श्वरचना, विस्तार आदिका व्याख्यान कर अगले हृद और पुष्करोंके प्रतिपादक सूत्रोंका विवरण तथा कमलनिवासिनी देवियोंके सूचक सूत्रका अर्थ समझा दिया है। नदियोंके प्रतिपादक सूत्रका पदकृत्य कर गंगा आदिक

नादियोंका कुछ विवरण दिखाया है। महागंगा, महासिन्धु आदि नदियोंके चार कोशवाले छोटे योजनोंसे हजारों योजनोंके विस्तार, लम्बाई, गहराईयों, को दृष्टान्त पुरस्सर साध दिया है। भरत आदि क्षेत्रोंकी व्यवस्थाके प्रतिपादक सूत्रोंकी अनतिविस्तारसे टीका कर दी है। भूमियोंकी अवस्थिति बतानेवाले सूत्रमें भूमिशब्दके ग्रहणसे स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि भरत, ऐरावत, क्षेत्रोंकी भूमियां उतने ही आकाशमें ऊंची नीची लम्बी चौडी होकर घटती बढती रहती है। उनमें रहनेवाले मनुष्य आदिके अनुभव, आयुः, आदिका घटना बढना तो प्रसिद्ध ही है। हां, भोगभूमियोंमें या नरक, स्वर्गों, में उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालोंका परिभ्रमण नहीं है। पश्चात् ढाईद्वीप सम्बन्धी भोगभूमियां, जीवोंकी आयुका बखान कर विदेहस्थ जीवोंकी आयुको दिन, मास, वर्ष, आदि द्वारा गणनाका विषय बताते हुये श्री आचार्य महाराजने जम्बूद्वीपके भरतकी आकाश सम्बन्धी नापको समझाया है। धातकी खण्डका व्याख्यान करनेके प्रथम लवण समुद्र और उसमें विराज रहे पाताल, गौतमद्वीप, का विशेष निरूपण कर दिया है। व्याख्यान कर्त्ताओंके उत्सूत्रवादीपन दोषका निराकरण कर धातकी खण्डके भरतक्षेत्रके अभ्यन्तर मध्यम और बाह्यविष्कम्भ योजनों द्वारा गिना (नपा) दिये गये हैं। इष्वाकार पर्वतोंके विवरणको भी छोडा नहीं है। इसके अनन्तर पुष्करार्ध द्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्रके अभ्यन्तर, मध्य, बाह्य, विष्कम्भोंको गणितशास्त्र अनुसार निकालकर वर्षधर और मानुषोत्तर शैलकी मनोहर रचनाको दिखा दिया गया है। यहां भी दोनों इष्वाकार पर्वतोंको संक्षेपसे कहते हुये गुरुवर्यने विस्तृत प्रतिपत्ति करनेवालोंको विद्यानन्द महोदय ग्रन्थके अध्यपनकी ओर झुकाया है। आर्य, म्लेच्छ, मनुष्योंके भेद प्रभेदोंकी व्यवस्थाको अनुमान मुद्रासे साध कर क्षेत्र आर्य आदिकोंके सकारणपनको सुझाते हुये आचार्य महाराजने अन्तर्द्वीपज म्लेच्छोंकी आयु, शरीर उत्सेध, प्रवृत्तियोंका निरूपण कर दिया है। कर्मभूमि सम्बन्धी आठ सौ पचास म्लेच्छ खण्डोंके सम्पूर्ण मनुष्य और ढाई द्वीपसम्बन्धी एक सौ सत्तर आर्य खण्डोंके कतिपय चाण्डाल, कसाई, आदि जीवोंको म्लेच्छाचारोंकी पालना करनेसे बहुत प्रकारके म्लेच्छोंकी व्यवस्था करा दी है। संतान परम्परासे चली आयी सम्प्रदाय अनुसार यह आर्यव्यवस्था या म्लेच्छव्यवस्था विचारशील व्यवहारियोंके यहां प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगम प्रमाणोंसे निश्चित है। कुल, गोत्र, वर्ण, जाति, व्यवस्थाओंमें रहस्य अवश्य है। घोडे, कुत्ते, बन्दर, गेहूं, चना, नारंगी, आम, लुकाट, गुलाबका फूल आदिक पशु, अन्न, फल, पुष्प इनकी सन्तान अनुसार भिन्न भिन्न जाति या कुलकोटी अनुसार संतति (नस्ल) में महान् अन्तर पड जाता है। इसी प्रकार नास्तिकोंकी संतान या आर्य, म्लेच्छ, पुरुषोंकी संतान भी पारिणामिक रहस्यसे रीती नहीं है। कुलीनता, अकुलीनता, छिपी नहीं रहती है। बात इतनी ही है कि जो जिस विषयका मापनेवाला है, वह उस विषयके सूक्ष्मरहस्योंका सुलभतया परिज्ञान कर लेता है। मन्दज्ञानी अन्य पुरुष उपेक्षा धारण करते हुये उस गूढ विषयतक नहीं पहुंच पाते हैं। चिर अभ्यस्त श्रृङ्गारी पुरुष अतिशीघ्र ही

स्त्रियोंके सौन्दर्यको निरख लेता है। ब्रह्मचारी उदासीन पुरुष अथवा योगी या पशु उस युवती सुन्दर स्त्रीके लीला, स्मित, विलास, सुन्दरता, आदिको नहीं जान पाता है। मोटे, पतले, बडे, नाटे पुरुषोंमेंसे सुदृढ शरीरसंगठनावाले पुरुषकी परीक्षा जितना शीघ्र एक कुशल मल्ल कर लेता है, उतना प्रविष्ट होकर कोई दूसरा मुनि या शास्त्रीय परीक्षामें उत्तीर्ण विद्वान् अथवा बालक, पशु, जौहरी, कथंचित् नहीं कर सकता है। खरीदनेवाले या नहीं खरीदने वाले पुरुषों और भोली बुद्धि, चंचल बुद्धिवाले ग्राहकोंकी परीक्षाको पुराना दुकानदार जितना प्रविष्ट होकर कर लेता है उतना विशद रूपसे कोई नवीन दुकानदार नहीं कर पाता है। बढिया चोर या गठकटा जितना शीघ्र दूसरोंके छिपे हुये धनको भांप लेते हैं, स्वयं घरवालोंको घंटोंतक ढूंढने पर भी जब कि वह धन नहीं मिलता है, उस प्रकार कोई क्षुल्लक या राजा, महाराजा नहीं ताड सकते हैं। समीचीन न्यायकर्त्ता अनुभवी जज बडी सुलभतासे मायाचारी, असत्यवक्ता, अभियुक्तों (मुलजिमों) के वास्तविक अपराधोंको समझकर निग्रह या अनुग्रह कर देता है इस न्यायशासनको कोई प्रतिष्ठाचार्य या पुरोहितजी महाराज कथममपि नहीं साध सकते हैं। खुफिया पुलिसके प्रवर्तनको घसखोदा गवार नहीं समझ सकता है। वीणाकी हृदयतलस्पर्शी झंकारके तत्त्वको भैंस विचारी क्या जाने ? देशभक्त महामना स्वार्थत्यागी पुरुषोंकी समीचीन भावनाओंको ओर स्वदेशके साथ प्रीति नहीं रखनेवाले विनोदी पुरुषोंका लक्ष्य नहीं जाता है। स्वर्ण रत्नमय भूषणोंकी भी अवज्ञा कर देनेवाली राजमहिषीके परितृप्त हार्दिक भावोंके अन्तस्तलपर विचारी गोंगची, कौडियों या पीतल, कासेंके बने हुये गहनोंको बडे चावसे पहन रही ग्रामीण स्त्री नहीं पहुंच सकती है। कुटुम्ब, परिवार, धन, महल, राजविभूति आदिका परित्यागकर तपस्या कर रहे मुनिमहाराजकी परिणतिओंका परिज्ञान दीन, हीन, भिखारीको नहीं हो पाता है। प्रकरणमें यह कहना है कि लुहार, सुनार, दुकानदार, पण्डित, साधु, व्यभिचारी, चोर, डाकू, कुटिला स्त्री, राजा, किसान, वैज्ञानिक, मल्ल, बाजीगर, माली, आदि सभी जीवोंके कार्योंमें बडे बडे रहस्य छिपे हुये हैं। जड पदार्थों या चेतनपदार्थोंकी परिणतियां अनेक सूक्ष्म, अति सूक्ष्म, अतिशयको धार रही हैं। जो जीव जिसका जितना अभिलाषी या अभ्यासी अथवा व्यसनी है, उसमें उतना प्रविष्ट होकर परिज्ञान कर सकता है, सम्पूर्ण पदार्थोंमें अनन्तधर्म हैं। जड या चेतनोंकी सम्पूर्ण स्थूलसूक्ष्मपरिणतियोंको मन्द क्षयोपशमधारी जीव नहीं समझ पाता है। कुल सम्प्रदायसे चले आये सदाचार, असदाचारों, का प्रभाव संतान, प्रतिसंतानों, की आत्माओं पर अवश्य पडता है। पूर्वजन्ममें जिन आत्माओंने उस उस जातिके कर्मोंका उपार्जन किया है वे जीव उन उन आर्य या म्लेच्छ पुरुषोंमें जन्म धार रहे हैं। मध्यमें भी किसी सन्तानी व्यक्तिके आचारोंसे परिणतियें विलक्षण हो जाती हैं। कुल, देश, जाति, क्षेत्र, काल, भाव, की परिस्थितियोंके अनुसार आत्माओंकी बडी बडी विशेष परिणतियां हो जाती हैं। झरोखेके छेदमेंसे सूर्य किरणोंके पडनेपर जो रज उडती फिरती दीखती है उसका एक कण भी शरीरके ऊपर बोझ

डालता है, भले ही उस बोझके दबावको स्थूल बुद्धिवाला पुरुष नहीं समझ पावे, इसमें विचारी सूक्ष्म परिणति क्या चिकित्सा करे ? यह बात किसी विचारशाली विद्वान्से छिपी नहीं है। मुखमें खाद्य पदार्थके धर लेनेपर और चलानेपर चारों ओरसे लारके फुब्बारोंकी बौछार होती है। रीते क्रियारहित मुखमें उतनी लार नहीं टपक पाती है। हंसते, खेलते, हुये बालकको गोदमें लेकर वत्सल माता पिताके जो परिणाम हैं उनका अनुभव मुनि महाराज या वन्ध्य पुरुष अथवा वन्ध्या स्त्रीको नहीं हो पाता है। अतः आर्यपन या म्लेच्छपनका किसीको अनुभव नहीं होय यह उसके क्षयोपशमका दोष है। मनुष्योंमें तो वस्तुभूत आर्यत्व या म्लेच्छत्व व्यवस्थित हो ही रहा है। प्राचीन मार्गसे चली आ रहीं सम्प्रदायोंके प्रामाण्यका निर्णय भी कष्टसाध्य भले ही होय किन्तु असम्भव नहीं है। अनेक संप्रदायोंका निर्णय करना तो बुद्धिपर थोडा बल देनेपर सहजसाध्य हो जाता है। सांख्योंके प्रकृति तत्त्व या वेदान्तियोंके अद्वैतवाद आदिकी कल्पनायें भी नयविवक्षा अनुसार किसी वस्तुभित्तिपर अवलंबित हैं, निष्कारण नहीं हैं। क्वचित् प्रसिद्ध हो रहे धर्मका ही अन्यत्र आरोप किया जा सकता है। अतः गुणोंको कारण मान कर हुये आर्यपन और दोषोंको कारण मान कर हुये म्लेच्छपनकी व्यवस्थाको श्री विद्यानन्द आचार्यने भले प्रकार दर्शा दिया है। वैशेषिकोंकी मानी हुई नित्य, व्यापक, अमूर्त होरही ब्राह्मणत्व, चाण्डालत्व आदि जातियोंका युक्तियोंसे खण्डन किया है। वस्तुतः ऊर्ध्वतासामान्य या तिर्यक्सामान्यको जाति पदार्थ माननेमें महती शोभा है। अनेकान्तवाद तो सर्वत्र फैल रहा है। इसके आगे भरत आदि क्षेत्रोंमें कर्मभूमि, भोगभूमिका विवेक करते हुये मनुष्य और तिर्यंचोंकी जघन्य, उत्कृष्ट आयुके प्रतिपादक सूत्रोंका अनतिविस्तारसे विवरण किया है। असंख्याते द्वीप समुद्रोंमेंसे मध्यके ढाई द्वीपोंका ही और जीवतत्त्वका वर्णन करते करते बीचमें द्वीपसमुद्रोंका निरूपण क्यों किया ? इन आशंकाओंका प्रत्याख्यान कर उन द्वीपसमुद्रोंमें मनुष्योंके उत्पादक अभ्यन्तर, बहिरंग कारणोंका विचार किया गया है। जीवोंके आधारस्थानोंको समझानेके लिये अधोलोक, मध्यलोक, का निरूपण करना अत्यावश्यक है। इसके अनन्तर प्रकरण अनुसार श्री विद्यानन्द आचार्यने बडी विद्वत्ताके साथ सृष्टिकर्तृवादका निराकरण किया है। अन्य ग्रन्थोंमें नहीं देखनेमें आयीं ऐसी बहुतसी युक्तियों करके पौराणिक, वैशेषिक, नैयायिकोंको झकझोर डाला है। श्री विद्यानन्द आचार्य जिस विषयको पकड लेते हैं, उसको परिपूर्ण करके ही छोडते हैं। तृतीय अध्यायके चालीस सूत्रोंके पूरे विवरणसे ग्रन्थ अपेक्षा कुछ ही थोडा और गम्भीर अर्थ अपेक्षा बहुत बडा कर्तृखण्डनका प्रकरण इस छोटेसे " तिर्यग्योनिजानां च " सूत्रके नीचे उसी प्रकार श्री विद्यानन्द आचार्यने जोड दिया है, जैसे राजवार्तिकमें " लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् " सूत्रके विवरणमें अनेकान्तवादको दिखला दिया है। गजकण्टको बलीवर्दपर लगा देनेसे भी एक विनोदपूर्ण शोभा हो जाती है। स्वतन्त्र उद्भट टीकाकारोंके विषयमें हम सारिखे मन्दबुद्धि पुरुषोंको समालोचना करनेका कोई अधिकार नहीं है। केवल गुरुभक्तिवश आचार्योंकी स्तुति करते हुये मुखसे ये शब्द निकल पडते हैं।

कि जहां कहीं जब किसी विषयके प्रतिपादन करनेकी विवक्षा भगवान् श्री विद्यानन्द आचार्यके उपज बैठती है, निराकरणीय उस सदोष विषयका तभी वहां खण्डन कर मटियामेट कर देते हैं, और मण्डनीय निर्दोष प्रमेयको उन्नतिके शिखरपर विराजमान कर देते हैं। ऐसी प्रतिभालतपरता प्रशंसनीय, प्रभावनीय या आदरणीय ही नहीं किन्तु पूजनीय भी है। इसके बिना स्वमताग्रही, एकान्तवादी पण्डितोंके अभिमानका निराकरण और अनेकात्मक वस्तुके गूढ गर्भस्थित अतिशयोंका प्रकाश नहीं हो पाता है। ईश्वरके कर्तृवादका प्रत्याख्यान करते हुये श्री विद्यानन्द आचार्यने वैशेषिकोंके हेतुओंका मुंह फेर दिया है। ईश्वरको सशरीर या अशरीर नित्यज्ञानवान् या अनित्यज्ञानवान् कैसा भी माना जाय वैशेषिकोंके अभीष्ट कर्तृवादकी सिद्धि कथमपि नहीं हो पाती है। अनवस्था, साध्यविकलदृष्टान्त, व्यतिरेकाप्रसिद्धि, कदाचित्कार्यानुपपत्ति ये दोष झटिति, उपस्थित हो जाते हैं। सर्वथा भिन्न हो रहे छठे पदार्थ समवाय करके सर्वथा भिन्न माने गये ज्ञानका ईश्वरमें वर्तना स्वीकार करनेवाले वैशेषिकोंके यहां ईश्वर कथमपि " ज्ञ " या ज्ञाता नहीं बन सकता है। लोष्ठके समान अज्ञ ईश्वर या मुक्तात्माके समान अशरीर ईश्वर भला जगत्को कैसे बना देगा ? यहां और भी अनेक सूक्ष्म विचार किये गये हैं। ईश्वरको सशरीर माननेवालोंकी विशेष रूपसे अवज्ञा की गयी है। जैसा कोठी आदिमें सन्निवेशविशेष है वैसा जगत्में नहीं है। इस प्रकार किसी एकदेशीय विद्वान्के द्वारा वैशेषिकोंके ऊपर उठाये गये असिद्धत्व दोषको उचित नहीं बताकर सन्निवेशविशेषादि हेतुओंमें व्यभिचार आदि दोष देना आवश्यक बताया गया है। इसके पश्चात् व्यतिरेककी असिद्धि बताकर ईश्वर और जगत्के कार्यकारणभावका भंग कर दिया है। काल, आकाश, आदि भी यदि कूटस्थ नित्य या सर्वथा सर्वगत माने जांय तो ये भी किसी भी अर्थक्रियाको नहीं कर सकेंगे। यह पक्की बात समझो। महेश्वरकी सिसृक्षा द्वारा जगत्की उत्पत्ति माननेपर बहुत अच्छा विवेचन किया है। चक्रक दोषोंके प्रहारका ढंग निराला ही है। क्रम क्रमसे होने वाली अनित्य महेश्वरसिसृक्षाओं अथवा नित्य एक सिसृक्षा द्वारा जगत्की उत्पत्ति होनेमें अनेक दोष आते हैं। नित्य, व्यापक, होरहे ईश्वरज्ञान और ईश्वर इच्छा स्वरूप कारणोंका व्यतिरेक नहीं बननेसे व्यापकके अनुपलम्भ करके व्याप्य होरहे कार्यकारणभावकी असिद्धि दोषमें अरुचि दिखाते हुये अपर विद्वानोंके मुखसे बाधित हेत्वाभास उठाना समुचित बताया गया है। यहांका विचार भी सादर अध्ययनीय है। अन्य एकदेशीय विद्वानोंकी सम्मति अनुसार वैशेषिकोंके ऊपर उठाये गये असिद्ध, विरुद्ध, दोषोंका अनुमोदन किया गया है। इस अवसरपर श्री विद्यानन्द आचार्य महाराजकी मित्रनीति अनुकरणीय है। वैशेषिकोंने कई बार अपने पक्षको पुष्ट करनेके लिये उद्योग किया, किन्तु असंख्यशून्य भी परस्पर गुणित होकर यदि एकके अंकको परास्त करना चाहें तो उनका दुःसाहस निरर्थक ही समझा जायगा। अस्तु। नित्य गुणी और उसके नित्य गुणको सर्वथा भिन्न ही कह रहे वैशेषिकोंके पूर्वपक्ष पर स्याद्वादियोंने गुण, गुणीका कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध साध दिया है। कार्यत्व, सन्निवेशविशिष्टत्व, आदि हेतुओंमें पर

दिये। अनेक दोषोंका निराकरण करना वैशेषिकोंकी शक्तिका कार्य नहीं रहा। इसके आगे वैशेषिकोंके करणत्व आदि अन्य हेतुओंकी भी आचार्य महाराजने निःसारता दिखायी है। यहां नैयायिकोंने चिढ कर जो कुचोद्य उठाये हैं उनको अपने ग्रन्थमें पूर्णरीत्या अनुवाद कर पश्चात् उन कुचोद्योंका निराकरण कर दिया है। जगत्में अनेक प्रकारके कार्य हो रहे हैं। सबका प्रयोक्ता कोई प्रधान व्यक्ति होवे ही, ऐसा कोई नियम नहीं है। एकके ऊपर एक, पुनः उसके भी अन्य अधिकारियोंकी कल्पना करते हुये अनवस्था दोष वैशेषिकोंके यहां दुर्निवार बता दिया है। ईश्वरके अनादिकालीन शुद्धि नहीं सम्भवती है। दृष्ट, इष्ट, प्रमाणोंसे विरुद्ध कथन करनेवाले ईश्वरको सर्वज्ञ कहना भी उपहासास्पद है। वैशेषिकोंके सभी अनुमानोंको आचार्य महाराजने दूषित कर दिया है। वैशेषिकोंका आगम माना गया वेद, प्रमाणभूत नहीं है। हां, समीचीन अनुमानोंसे जिनोक्त आगमसे लोक अकृत्रिम सिद्ध हो जाता है। लोकः (पक्ष) बुद्धिमता नैव कृतः (साध्य) दृष्ट, कृत्रिम, कूटादिविलक्षणतया ईक्षण होनेसे (हेतु) समुद्र या खानमें उपजे हुये मणि, मोती, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमानके प्रत्येक अवयवको आचार्योंने बडी पुष्टयुक्तियोंसे सिद्ध कर दिया है। व्यर्थमें उठा दिये गये विरुद्ध आदि हेत्वाभासोंका अचूक विध्वंसन कर दिया है। अन्य भी कितने ही मध्य, मध्यमें सविनोद स्वपक्षमण्डन और परपक्षखण्डन करनेमें युक्तियां दी गयीं हैं, जो कि श्लोकवार्तिक ग्रन्थका प्रविष्ट होकर परिशीलन करनेवालोंके हृदयंगत होकर संतोषदायक हैं। अनादि कालसे अनन्त कालतक इस जगत्की व्यवस्था जड या चेतन कारणोंके अथवा अनन्त परिणमनोंके अधीन होकर प्रवर्त रही है। एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश द्रव्य, असंख्य कालद्रव्य, अक्षय अनन्तानन्त जीवद्रव्य और इनसे अनन्तानन्त गुणे अक्षय अनन्त पुद्गलद्रव्य ये सम्पूर्ण द्रव्य सार्वदिक्, नित्य हैं। इनकी स्वाभाविक और जीव पुद्गलोंकी वैभाविक भी पर्यायें न जाने किन किन कारणोंसे हो रहीं उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, स्वरूप व्यवस्थित हैं। अतः छह प्रकारके द्रव्योंका पिण्ड यह लोक अनादिनिधन चला आ रहा, अकृत्रिम, है। किसी एक प्रेरक बुद्धिमान् करके बनाया गया नहीं है। अनेक लौकिक छोटी छोटी युक्तियों द्वारा ही जब कर्तृवादका जीर्ण वस्त्रके समान खण्डन हो जाता है। पुनः निर्दोष अनुमान और त्रिलोक त्रिकाल अबाधित आगमसे तो विद्वानोंके हृदयमें लोकके अकृत्रिमपनका चमत्कारभाव स्थायी हो जाता है। जगत्की विशिष्ट परिणतियोंका अध्ययन करनेवाले सहृदय सज्जन विद्वानों करके इस लोकका पूर्ण स्वरूप समझ लेना चाहिये। श्री उमास्वामी महाराजने तीसरे अध्यायमें जीवोंके अधिष्ठान विशेष अधोलोक और मध्यलोकका बडी गम्भीरतासे सूत्रों द्वारा निरूपण कर दिया है। प्रमाण और नय नामके अव्यर्थ उपाय तत्त्वोंसे लोककी अन्य रचनाओंका भी परिज्ञान कर लिया जाता है। इस अकृत्रिम लोककी रचना इतनी अद्भुत है कि लाखों, करोडों, ग्रन्थों करके भी भरपूर नहीं कही जा सकती है। फिर भी जीवतत्त्वका सांगोपांग परिच्छेद करनेके लिये अथवा धर्म्यध्यानको भावनेके उपयोगी मध्यलोककी विशेषस्थलीय रचनाओंको

जाननेके लिये आचार्य महाराजने भव्योंको आदेश दिया है। प्रबल परचक्रसे विजय प्राप्त कर स्वतःसिद्ध गायनकी उपजी हुई इच्छाके अनुसार विजेताको मालिनी छन्दःका प्रयोग विशेष हृदयग्राही शोभता है। तीसरे अध्यायके निरूपणको संक्षेपसे दिखाते हुये श्री विद्यानन्द स्वामीने शान्तिरस और प्रासादको बढानेवाले शिखरिणी छन्दःकरके सूत्रकारके उद्दिष्ट कर्त्तव्यकी निर्विघ्न परिपूर्णताको दर्शा दिया है। चाहे चारों अनुयोगोंमेंसे किसी भी अनुयोगका विषय होय, श्री विद्यानन्द आचार्य उसको युक्तियों द्वारा साधे विना छोडते नहीं हैं। लोकानुयोग अनुसार तत्त्वार्थसूत्रके करणानुयोग सम्बन्धी तृतीय अध्यायके प्रमेयको द्रव्यानुयोगसम्बन्धी चर्चा करके मढ देनेवाले श्री विद्यानंद आचार्यका प्रयास सर्वथा स्तुत्य है। सद्गुरुओंके हितवाक्य सर्वाङ्गीण पथ्य हैं। समन्तात् भद्रका आश्रय लेकर अकलंक पथपर मुमुक्षुओंको चलानेके लिये श्री विद्यानन्द आचार्यके गम्भीरग्रन्थ विद्या और आनन्दके विधायक होने ही चाहिये। यों तीसरे अध्यायके ऊपर किये गये विवरणको श्री विद्यानन्द स्वामीने दो आन्हिकोंमें परिसमाप्त कर दिया है।

चेतः सम्भ्रमकारणत्वविधुरा नोर्वी खवद्भ्राम्यति।
श्वभ्रम्लेच्छकुभोगभोगजगतीत्यादौ जनिं प्राणिनां ॥
स्वस्वादृष्टवशादकृत्रिममिमं लोकश्च वै श्रद्दधद्–।
भव्यो ज्ञानचरित्रजुद्दृष्टिविकृते पुष्णातु सद्दर्शनम् ॥ १ ॥

इस प्रकार श्री तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार नामक महान्ग्रन्थकी आगरामण्डलान्तर्गत

चावलीग्रामनिवासी सहारनपुरप्रवासी न्यायाचार्योपाधित माणिकचन्द्रकृत

हिन्दी देशभाषामय " तत्त्वार्थचिन्तामणि " टीकामें

तृतीयाध्याय परिपूर्ण हुआ।

निर्बाधसम्भिदितसूक्तिसुधाः स्रवन्ती। संशीतिविभ्रमविमोहतमांसि हन्त्री॥
जीवादितत्त्वकुमुदानि विबोधयन्ती। वाक्चन्द्रिका त्रिभुवनं धिनुताज्जिनस्य॥

—×**×—

॥ ओं नमोऽर्हत्परमेष्ठिने ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

अब श्री उमास्वामी महाराज अधोलोक और मध्यलोकका निरूपण कर चुकनेपर ऊर्ध्वलोकका निरूपण करनेके लिये " तत्त्वार्थाधिगममोक्षशास्त्रग्रन्थके चौथे अध्यायका प्रारम्भ करते हैं। यद्यपि ऊर्ध्वलोकनिवासी कल्पोपपन्न और कल्पातीत देवोंसे असंख्याते गुणे ज्योतिषी देव इस मध्यलोकमें निवास करते हैं। रत्नप्रभाके खरभाग और पंकभागमें असंख्यातासंख्यात भवनवासी और व्यन्तर निवास कर रहे हैं। फिर भी पूरे लोकके ठीक ऊपर नीचेके दो टुकडा कर देनेपर मध्यलोककी जड परसे डोरी निकल जाती है। अधोलोकके ऊपरका खरभाग और पंकबहुलभाग निकटवर्ती संयुक्त मित्र होनेसे उपचारतः ऊर्ध्वलोकमें गिन लिया जासकता है। दूसरी बात यह है कि ऊर्ध्वलोकमें विराज रहे अनन्तानन्त श्री सिद्धपरमेष्ठियोंके अनन्तवें भागसे भी थोडे ये भवनत्रिक देव हैं। अतः चतुर्णिकायके देवोंका निरूपण करनेवाले इस अध्यायको ऊर्ध्वलोकानुयोग कह देनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है अथवा " देवस्थान " इतना ही इस चौथे अध्यायके प्रतिपाद्य आधारका नाम रख लेना उपपत्तिपूर्ण है।

कई बार देव शब्द आया है। उन देवोंका परिज्ञान कराना आवश्यक है। और अधोलोक, मध्यलोकका वर्णन करनेके पश्चात् क्रमप्राप्त ऊर्ध्वलोकका वर्णन करना भी अनिवार्य है। अतः सम्यग्दर्शनके विषयभूत जीवतत्त्वके कतिपय भेदोंके स्थान निर्णयार्थ श्री उमास्वामी महाराज चतुर्थ अध्यायके आदिमें घनगर्जनोपम शब्द स्वरूप प्रथमसूत्रका उच्चारण करते हैं।

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥ १ ॥

देवगति नामकर्मके परवश हो रहे असंख्याते संसारी जीव देव इन भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक चार निकायों (मण्डलियां) को धार रहे विराज रहे हैं।

देवगतिनामकर्मोदये सति दीव्यंतीति देवाः द्युत्याद्यर्थाविरोधात् । बहुत्वनिर्देशोंतर्गतभेदप्रतिपत्त्यर्थः । स्वधर्मविशेषोपपादितसामर्थ्यान्निचीयंत इति निकायाः चत्वारो निकायाः येषां ते चतुर्णिकायाः। कुतः पुनश्चत्वार एव निकाया देवानामिति चेत्, निकायिनां तेषां चतुःप्रकारतया वक्ष्यमाणत्वात् । ते हि भवनवासिनो, व्यंतरा, ज्योतिष्का, वैमानिकाश्चेति चतुर्विधास्त्रिकायिभेदाच्च निकायभेदा इति । नैक एव देवानां निकायो नापि द्वावेव त्रय एव वा, पंचादयोप्यसंभाव्या एव तेषामत्रांतर्भावात् ।

नाम कर्मकी गति नामक प्रकृतिके उत्तरभेदस्वरूप देवगति संज्ञक नामकर्मका उदय होते संते जो दीवते रहते हैं, इस कारण वे जीव " देव " कहे जाते हैं। " दिवुक्रीडाविजिगीषाव्यव-

क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु " इस धातुसे अच् प्रत्यय करनेपर देव शब्द बनाया गया है। प्रायः सभी देव द्युति कान्ति, भगवत् स्तुति, मोद, क्रीडा आदिको धारते हैं। अतः देव शब्दकी व्युत्पत्तिसे प्राप्त हुये द्योतन आदि अर्थोकी अविरोधरूपसे घटना हो जानेसे भवनवासी आदि चार निकायोंके उद्देश्यदलकी व्यक्तियोंमें देवपना शोभ जाता है। अर्थात्—अन्तरंग कारण हो रहे देवगति नामकर्मका उदय होनेपर बहिरंगभूत द्युति आदि क्रियाओंके सम्बन्धको धारनेवाले जीव देव कहलाते हैं। यदि यहां कोई यों कहे कि सूत्रकारको लाघव गुणका लक्ष्य रखते हुये " देवश्चतुर्णिकायः " यों सूत्र कहना चाहिये था। जाति वाचक होनेसे देव शब्द द्वारा स्वतः ही बहुत अर्थोकी प्रतिपत्ति हो जावेगी। इस प्रकार कटाक्षके प्रवर्तनेके पूर्व ही श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान करे देते हैं कि देव शब्दका बहुवचन रूपसे कथन करना तो देवोंके इन्द्र, सामानिक, आदि या स्थिति, प्रभाव, गति, शरीर, आदि करके हो रहे बहुतसे अन्तर्गत भेदोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये है। अनेक शक्ति आत्मक देवगति नामकर्मके उदयस्वरूप स्वधर्मविशेष करके प्राप्त करायी गयी सामर्थ्यसे निचयको प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात्—देव अपने अपने उपार्जित कर्मकी सामर्थ्यसे कतिपय समुदायमें पुष्टिको प्राप्त हो रहे हैं, इस कारण वे समुदित देवमण्डलियां निकाय मानी जाती हैं। जिन देवोंकी निकायें चार हैं, वे देव चार निकायवाले हैं। यदि यहां कोई वादी यों प्रश्न करे कि फिर देवोंके चार ही निकाय किस प्रकारसे हैं ? यों प्रश्न होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान करे देते हैं कि संघ या मण्डलियोंमें रहनेवाले उन दो सौ छप्पन प्रमाणांगुलोंकी प्रदेशसंख्याके वर्गका जगत्प्रतर प्रदेशोंमें भाग देनेपर लब्ध हुई संख्याप्रमाण ज्योतिषी देवोंसे कुछ अधिक हो रहे देवोंको चार प्रकारवाले स्वरूपसे भविष्यमें कहना है। अतः वे देव भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क, और वैमानिक, यों चार प्रकारोंसे महामण्डलस्थ व्यक्तियोंका भेद हो जानेसे नियम करके निकायोंके चार भेदवाले हो जाते हैं। देवोंका निकाय (संघ) एक ही नहीं है। अथवा दो ही या तीन ही देवोंके निकाय भी नहीं हैं। तथा देवोंकी पांच, छः, सात, आठ आदि निकायें (टोलियां) भी असम्भव ही हैं। क्योंकि उन पांच आदिकोंका इन चारमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। अर्थात्—पुराणोंमें क्वचित् एक देवता शब्दसे ही सम्पूर्ण देवोंका ग्रहण कर लिया है। अन्यत्र सुर, असुर या दैत्य, आदित्य इन दो भेदोंमें सम्पूर्ण देवोंका संग्रह कर लिया है। सुर असुरोंके साथ परिपूज्य देवोंके मिल देनेसे अन्य भी कतिपय देवोंके भेद हो जाते हैं। गणदेवताओंकी अपेक्षा, आदित्य, विश्व, वसु, तुषित, आभास्वर, अनिल, महाराजिक, साध्य, रुद्र ये नौ भेद माने गये हैं। योनिकी अपेक्षा देवोंके विद्याधर, अप्सरस्, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, भूत, ये दश भेद स्वीकृत किये हैं। जैन-सिद्धान्तमें भी इन्द्र, प्रतीन्द्र, अहमिन्द्र आदि अनेक भेद गिनाये हैं। किन्तु इन सबका उक्त चार निकायोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। पीपल, सांप, अन्न, नदी, ब्राह्मण, वायु, योनिज आदि कपोलकल्पित देवताओंके अतिरिक्त वस्तुभूत सम्पूर्ण संसारी देवोंका इन चार ही निकायोंमें अन्तर्भाव हो जाता है।

ननु च ब्राह्मसौम्यप्राजापत्यैंद्रयक्षराक्षसभूतपिशाचानामष्टप्रकाराणामष्टौ निकायाः कुतो न परोक्ता इति चेत्, परागमस्य तत्प्रतिपादकस्य प्रमाणत्वासंभवादित्यसकृदभिधानात्।

यहां पौराणिक पण्डितोंकी एक और शंका है कि ब्राह्म (ब्रह्मासम्बन्धी) २ सौम्य (चन्द्रमासम्बन्धी) ३ प्राजापत्य दक्ष, कश्यप, आदि प्रजापतियोंके अपत्य ४ इन्द्रसम्बन्धी ५ यक्ष ६ राक्षस ७ भूत ८ पिशाच इन आठ प्रकारवाले देवोंकी आठ निकायें दूसरे विद्वानोंके यहां कही गयी हैं। अतः सूत्रकारने देवोंकी ये आठ निकायें क्यों नहीं कहीं ? यों शंका होनेपर तो श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान करते हैं कि उन दूसरे विद्वानोंके आठ निकायोंका प्रतिपादन करनेवाले आगमकी प्रमाणताका असम्भव है, इस बातको हम कई बार अनेक प्रकरणोंमें कह चुके हैं। अपनी, अपनी, पोथियोंमें कोई भी चाहे जैसी अन्ट सन्ट बातोंको लिख देता है। किन्तु प्रमाणभूत आगमोंके विषयका आदर होता है। ब्रह्मा इन्द्र, दिति, अदिति, कश्यप, आदिसे देवोंकी सृष्टि होना कहना अलीक वचन है। अतः देवोंकी चार निकायें ही समर्थ हैं।

ननु च नारकमनुष्याणामिवाधारवचनपूर्वकं देवानां वचनं किमर्थं न कृतमित्याशंकमानं प्रत्यावेदयति।

पुनः किसी शिष्यका जिज्ञासापूर्वक अनुनय है कि तृतीयाध्यायमें जैसे नारकी जीवोंके आधारका पहिले निरूपण कर पश्चात् नारकजीवोंका कथन किया है और मनुष्योंके आधार होरहे जम्बूद्वीप, भरत, आदिका पूर्वमें वर्णन कर पीछे मनुष्योंका प्रतिपादन कर दिया है, उसी प्रकार सूत्रकारको प्रथम देवोंके आधारस्थानोंका वर्णन कर पुनः आधेयभूत देवोंका वचन करना चाहिये था। ऐसा वचन श्री उमास्वामी महाराजने किस लिये नहीं किया ? पद्धतिभंगदोषको क्यों स्थान देते हो ? इस प्रकार आशंका कर रहे विनीत शिष्यके प्रति श्री विद्यानन्द स्वामी बढिया ढंगसे वार्तिकों द्वारा समाधान वचन कहते हैं।

देवाश्चतुर्णिकाया इत्येतत्सूत्रं यदब्रवीत्।
नारकाणामिवाधारमनुक्त्वा देवसंविदे ॥ १ ॥
सूत्रकारस्तदेतेषां लोकत्रयनिवासिनां।
सामर्थ्यादूर्ध्वलोकस्य संस्थानं वक्तुमैहत ॥ २ ॥

नारकियोंके आधार समान देवोंके आधारको प्रथम नहीं कहकर सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज जो " देवाश्चतुर्णिकायाः " यों इस सूत्रको कह चुके हैं। वह तीनों लोकोंमें निवास करनेवाले चतुर्णिकायसम्बन्धी इन देवोंकी सामर्थ्यसे ऊर्ध्वलोककी रचना विशेषको कहनेके लिये सूत्र बना दिया

है। अर्थात्–देवोंका कोई विशेष स्थान नियत होता तब तो सातों नरक या मनुष्य लोकके समान देवस्थानोंका भी नियत रूपसे वर्णन कर दिया जाता। किन्तु देव तीनों लोकमें रहते हैं और सूत्रकारको अधोलोक और मध्यलोककी वर्णनाके पश्चात् ऊर्ध्वलोकका वर्णन करना है। अतः आधारपूर्वक आधेयोंका कथन नहीं कर लघु उपाय द्वारा आधेयपूर्वक आधारोंका कथन करना न्यायप्राप्त है। वक्ताको प्रकरणकी सामर्थ्य इसी ओर झुका रही है।

न हि यथा नारकाणामाधारः प्रतिनियतोऽधोलोक एव मनुष्याणां च मानुषोत्तरान्मध्यलोक एव, तथा देवानामूर्ध्वलोक एव श्रूयते। भवनवासिनामधोलोकाधारतयैव श्रवणात्, व्यंतराणां तिर्यग्लोकाधारतयापि श्रूयमाणत्वात्। ततो लोकत्रयनिवासिनां सामर्थ्यादूर्ध्वलोकस्य संस्थानं च मृदंगवद्वक्तुमीहते सूत्रकारः आधारमनुक्त्वा निकायसंविसये सूत्रमणयनात्।

जिस प्रकार नारकियोंका आधार अधोलोक ही ठीक नियत हो रहा है और मनुष्योंका आधार मानुषोत्तर पर्वतसे भीतरका मध्यलोक ही प्रतिनियत है, तिस प्रकार देवोंका आधार स्थानप्रामाणिक शास्त्रोंद्वारा केवल ऊर्ध्वलोक ही नहीं ज्ञात किया जा रहा है। क्योंकि भवनवासियोंका अधोलोक ही स्थान आधारपने करके आम्नायप्राप्त शास्त्रोंद्वारा सुना जा रहा है। अर्थात्–त्रिलोकसारमें भी यों लिखा है कि " वेंतर अप्पमहड्डिय मज्झिमभवणामराणभवणाणि, भूमीदोधो इगिदुगबादालसहस्सइगिलक्खे " रयणप्पहपंकड्ढे भागे असुराण होंति आवासा, भीम्मेसु रक्खसाणं अवसेसाणं खरे भागे " तथा व्यंतर देवोंका आधारपने करके तिर्यग्लोक भी सर्वज्ञ आम्नात शास्त्रद्वारा ज्ञात किया जा रहा है। " चित्तव इराहु जावय मेरुदयं तिरियलोयविच्छारं, भोम्मा हवंति भवणे भवणपुरावासगे जोगे "। तथा तृतीयाध्यायके प्रथम सूत्रकी राजवार्तिकमें " तत्र खरपृथिवीभागस्योपर्यधश्चैकैकं योजनसहस्रं परित्यज्य मध्यमभागेषु चतुर्दशसु योजनसहस्रेषु किंनरकिंपुरुषमहोरगगंधर्वयक्षभूत पिशाचानां सप्तानां व्यंतराणां, नागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराणां नवानां भवनवासिनां चावासाः। पंकबहुलभागेऽसुरराक्षसानामावासाः " तिस कारणसे तीनों लोकोंमें निवास करनेके शील (टेव, आदतको) धारनेवाले देवोंकी चार निकायोंके कण्ठोक्त निरूपणकी सामर्थ्यसे ही विना कहे ऊर्ध्वलोकका मृदंग (पखावज) के समान संस्थानको कहनेके लिये सूत्रकार अभिलाषा रखते थे। अतः देवोंके आधारस्थानको नहीं कह कर उनकी निकायोंका सम्वेदन करानेके लिये श्री उमास्वामी महाराजने प्रथम ही " देवाश्चतुर्णिकायाः " यह सूत्र बना दिया है। भावार्थ–अधोलोक और मध्यलोकका निरूपण कर चुकनेपर ऊर्ध्वलोकका निरूपण तो कुछ आगे पीछेके प्ररूपण द्वारा विना कहे ही ज्ञात कर लिया जाता है। देवोंका स्थान एक ऊर्ध्वलोक ही नियत भी नहीं है। तिर्यञ्च भी तीनों लोकोंमें रहते हैं। अतः देवोंके स्थानविशेषको बतानेके लिये ऊर्ध्वलोक स्थानका निरूपण करना सूत्रकारको अनिवार्य नहीं पडा। जो विषय विना कहे ही

केवल सामर्थ्यसे ज्ञात कर लिया जाता है, उसके लिये सूत्र रचना करना पुनरुक्तसरिखा है। अतः आधारविशेषको नहीं कह कर तीनो लोकके यथायोग्य आधेय हो रहे निकायोंका प्रतिपादक सूत्र चतुर्थ अध्यायमें प्रथम स्थान पा गया है।

अब उन देवोंकी लेश्याओंका निर्णय करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

आदितस्त्रिषु पीतांतलेश्याः ॥ २ ॥

भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क, और वैमानिक इन चार निकायोंमें आदिसे प्रारम्भ कर भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क, इन तीन निकायोंमें पीतपर्यन्त लेश्यावाले देव हैं; अर्थात्—भवनत्रिक देवोंके कृष्ण, नील, कापोत, और पीत ये चार लेश्यायें पायी जाती हैं। क्रोधादि कषाय परिणामोंके साथ जो मन, वचन, कायका अवलम्बन रखनेवाले योगोंकी प्रवृत्ति हो जाती है, आत्माकी इस संकीर्ण परिणतिको लेश्या कहते हैं। कौत्कुच्य या तृतीयगुणस्थान अथवा तृतीय गुणस्थानके दधिगुड-मिश्रित स्वादके समान मिश्रभाव अथवा तीसरे गुणस्थानमें पाये जा रहे सम्यग्मिथ्यापनसे मिले हुये ज्ञान एवं " सप्तार्थोभयपूर्णी " और " आलोचनप्रतिक्रमणतदुभय " यहां पडे हुये उभय इनको समझनेवाले विद्वान् लेश्या स्वरूप संकर परिणतिके रहस्यको झटिति समझ लेते हैं। चारित्रमोहनीय-कर्मकी चारो जातिके चार क्रोध या चार मान आदि और हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, एक कोई सा वेद, यों एक साथ नौ प्रकृतियोंका किसी मिथ्यादृष्टिके उदय होनेपर जैसे एक चारित्र गुणकी नौ पर्यायात्मक एक संकर विभाव परिणति होती है, इसी प्रकार कषाय और योगकी मिश्रणात्मक लेश्या नामकी चित्रपरिणति हो जाती है।

संक्षेपार्थमिहेदं सूत्रं लेश्याप्रकरणेऽस्य वचने विस्तरप्रसंगात्। तेन भवनवासिव्यंतर-ज्योतिष्कनिकायेषु देवाः पीतांतलेश्या इति। इह तु देवा इत्यवचनमनुवृत्तेर्भवनवास्याद्य-वचनं च तत एव।

सूत्रकारने ग्रन्थका संक्षेप करनेके लिये लेश्याका प्रकरण नहीं होनेपर भी यहां यह लेश्याका प्रतिपादक सूत्र कह दिया है। यदि लेश्याके प्रकरणमें इस सूत्रको कहा जाता तो शब्द सन्दर्भके अधिक विस्तार होनेका प्रसंग हो जाना, यह तुच्छ दोष लग बैठता। अर्थात्—" पीतपद्मशुक्ल-लेश्या द्वित्रिशेषेषु " इस सूत्रके पहिले या पीछे यदि भवनत्रिक देवोंकी लेश्याको कहा जाता तो वहां ग्रन्थ बढ जाता अथवा इसीको नवीन ढंगसे लेश्याका प्रकरण मानकर यहां पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु " सूत्र कहा जाता तो यहां सौधर्म आदि स्वर्गोंका निरूपण करना आवश्यक होता। अतः संक्षेपके लिये सूत्रकारको यों यथादृष्ट ग्रन्थका गूंथना ही समुचित प्रतीत हुआ है, जो कि सर्वांग सुचारु है। तिस कारण इस सूत्रका अर्थ इस प्रकार है कि भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क, इन

तीन निकायोंमें विराज रहे देव यथोचित पीतपर्यंत यानी कृष्ण, नील, कापोत, पीत, लेश्यावाले हैं। यहां प्रकरणमें संक्षेपसे कथन करनेपर तो देवाः इस शब्दका कथन करना नहीं पड़ा। क्योंकि पूर्वसूत्रसे " देवाः " पदकी अनुवृत्ति होजाती है और सूत्रकारको भवनवासी, व्यंतर, आदि निकायोंका भी कण्ठोक्त निरूपण नहीं करना पड़ा। क्योंकि तिस ही कारणसे यानी भवनवासी आदि निकायोंकी पूर्व सूत्रसे ही अनुवृत्ति होरही है।

कथमिह निकायेष्वित्यनुवर्तयितुं शक्यं, तेषामन्यपदार्थे वृत्तौ सामर्थ्याभावात्। चत्वारश्च ते निकायाश्चतुर्णिकाया इति स्वपदार्थायामपि वृत्तौ देवा इति सामानाधिकरण्यानुपपत्तिरिति चेन्न, उभयथापि दोषाभावात्। अन्यपदार्थायां वृत्तौ तावन्निकायेष्विति शक्यमनुवर्तयितुं। त्रिष्विति वचनसामर्थ्यात् त्रित्वसंख्यायाश्च संख्येयैर्विना संभवाभावादन्येषामिहाश्रुतत्वात् प्रकरणाभावाच्च त्रिनिकायैरेव तैर्भवितव्यमित्यर्थसामार्थ्यान्निकायानुवृत्तिः। स्वपदार्थायामपि वृत्तौ तत एव तदनुवृत्तिः प्रधानत्वाच्च निकायानां चतुःसंख्याविशेषणरहितानामनुवृत्तिघटनात् त्रित्वसंख्यया चतुःसंख्याया बाधितत्वात्। देवा इति इति सामानाधिकरण्यं तु निकायनिकायिनां कथंचिदभेदान्न विरुध्यते।

यहां किसी पण्डितका आक्षेप है कि इस दूसरे सूत्रमें त्रिषु शद्बका सामानाधिकरण्य करनेके लिये " निकायेषु " ऐसे सप्तमी बहुवचनान्त पदकी अनुवृत्ति करना आवश्यक है। किन्तु पूर्व सूत्रमें " निकायाः " ऐसा प्रथमा विभक्तिका बहुवचनान्त पद पड़ा हुआ है। और वह भी " चतुर्निकायाः " यहां समासवृत्ति द्वारा चतुर शद्बके साथ चुपट रहा है। " पदार्थः पदार्थेनान्वेति नत्वेकदेशेन, एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः " इन नियमोंके अनुसार यहां निकायेषु इस प्रकार सप्तमी बहुवचनान्त पदकी भला किस प्रकार अनुवृत्ति की जा सकती है ? क्योंकि उन निकायोंका अन्य पदार्थको प्रधान माननेवाली बहुव्रीहि नामकी वृत्ति होनेपर स्वतंत्र बने रहनेकी सामर्थ्य नहीं रहती है। चत्वारो निकायाः येषां " यों बहुव्रीहि समास करनेपर " समर्थः पदविधिः " के अनुसार दोनों पदोंकी सामर्थ्य परस्परमें भिड रही मानी गयी है। भाण्डागार (खजाना) में दो अधिपतियोंके ताले लग चुकनेपर पुनः एक ही अधिपतिको भाण्डागार खोलनेकी सामर्थ्य नहीं रहती है। उसी प्रकार यहां " चतुर्निकायाः " में से निकायाः अथवा " अर्थवशात् विभक्तेर्विपरिणामः " इस न्यायसे त्रिषु पदके समभिव्याहार अनुसार निकायेषु पदकी अनुवृत्ति नहीं की जा सकती है। हां, चार जो वे निकाय यों विग्रह कर बनाये गये चतुर्निकायाः इस शद्बकी स्वपदार्थप्रधाना कर्मधारय समास नामकी वृत्ति माननेपर यद्यपि स्वतंत्र रूपसे समर्थ हो रहे निकाय शद्बकी अनुवृत्ति की जा सकती है, तो भी " देवाः " इस पदके साथ सामानाधिकरण्य नहीं बन सकता है। क्योंकि अनुवृत्त किये गये "निकायाः" शद्बके साथ " देवाः " यह पद चल रहा है। और " पीतान्तलेश्याः " पद भी देवपरक है। किन्तु

त्रिषु शद्धकी पराधीनतासे विपरिणत हो गया निकायेषु यह पद अपने संसर्गी देवाः इस प्रथमान्त बहुवचनके समानाधिकरणपनको [illegible] रक्षित नहीं रख सकता है। इस प्रकार आक्षेप प्रवर्तनेपर ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि अन्यपदार्थप्रधान या स्वपदार्थप्रधान दोनों प्रकार वृत्ति करनेपर भी कोई दोष नहीं आता है। देखिये, सबसे पहिले अन्य पदार्थको प्रधान रखनेवाली " चार हैं निकाय जिन्होंके " ऐसी बहुव्रीहि समासवृत्ति करनेपर तो निकायेषु यों सप्तमी बहुवचनान्त पदकी अनुवृत्ति की जा सकती है। क्योंकि त्रिषु इस प्रकार सप्तमी बहुवचनान्त पदके कथनकी वैसी सामर्थ्य है। कारण कि त्रित्व नामकी संख्याका गिनने योग्य संख्येयोंके विना ठहर जाना असम्भव है। निकायोंके अतिरिक्त किन्हीं अन्य घट, पट, उदासीन पदार्थोंका यहां श्रुतज्ञान नहीं किया जा रहा है और उनका प्रकरण भी नहीं है। यहां त्रिषु पदके विशेष्य दल होने योग्य उन भवनवासी आदि तीन निकायोंको ही होना चाहिये। इस प्रकार अर्थकी सामर्थ्यसे सप्तमी बहुवचनान्त बनाकर निकाय शब्दकी अनुवृत्ति कर ली जा सकती है। तथा दूसरी स्वपदार्थप्रधान कर्मधारय वृत्तिके करनेपर भी तिस ही कारणसे यानी त्रिषुका श्रवण होनेसे उस निकायेषु की अनुवृत्ति की जा सकती है और कर्मधारय समासमें चतुर् शब्दके समान निकायोंकी भी प्रधानता हो जानेसे चतुर् संख्या नामके विशेषणसे रहित हो रहे केवल निकायोंकी अनुवृत्ति हो जाना घटित हो जाता है। इस सूत्रमें कण्ठोक्त की गयी त्रित्व संख्या करके निकायाः के पुंछल्ला हो रही चतुःसंख्याको बाधा युक्त कर दिया जाता है। अतः चार संख्या निकायेषुका पीछा छोड देती है। रही यह बात कि देवाः इसके साथ निकायेषुका सामानाधिकरण्य बिगड गया, इसपर हमारा यह कहना है कि निकाय (समुदाय) और निकायी (समुदायी) इनका कथंचित् अभेद हो जानेसे " देवाः पीतान्तलेश्याः " यों सामानाधिकरण्य बन जाना तो विरुद्ध नहीं पडता है। यानी निकाय और निकायियोंकी भेदविवक्षा करनेपर निकायेषु देवाः यों भेदसूचक सप्तमी विभक्तिको बीचमें लाकर पीतान्तलेश्याःके साथ अभेद करते हुये वाक्यसन्दर्भ सुघटित हो जाता है। कोई आपत्ति होनेका प्रसंग नहीं है।

त्रिनिकायाः पीतान्तलेश्या इति युक्तमिति चेन्न, इष्टविपर्ययप्रसंगात्। आदित इति वचने त्वत्र सूत्रगौरवमनिवार्यं। ततो यथान्यासमेवास्तु।

लघुता ही को अन्तिमलक्ष्य स्वीकार करता हुआ कोई पण्डित आक्षेप करता है कि " आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः " इतना लम्बा सूत्र नहीं बना कर केवल " त्रिनिकायाः पीतान्तलेश्याः " इतना छोटा सूत्र बनाना ही समुचित है। भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क इन तीन निकायवाले देव पीतपर्यंत लेश्याओंको धार रहे हैं। यह अभिप्रेत अर्थ प्राप्त हो ही जायगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि इष्ट अर्थसे विपरीत अर्थकी प्राप्ति हो जानेका प्रसंग बन बैठेगा। तीन निकायोंमें भवनवासी, व्यंतर, वैमानिक, या व्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक अथवा भवनवासी, ज्योतिष्क, वैमानिक, यों इन तीन

निकायोंके भी पीत पर्यन्त लेश्याका विधान समझा जायगा। जो कि जैन सिद्धान्त अनुसार इष्टसे विपरीत है। यदि वह पण्डित यों कहे कि आदितः शब्द जोडकर "आदितस्त्रिनिकायाः पीतान्तलेश्याः" आदिसे लेकर तीननिकाय वाले देव पीतपर्यन्त चार लेश्याओंको धार रहे हैं, यों सूत्रद्वारा कथन किये जानेपर इससे विपरीत अर्थके प्राप्त होजानेका प्रसंग नहीं आवेगा। आचार्य कहते हैं कि यों कहने पर भी तो यहां सूत्रका लम्बा, चौडा गौरव दोष अनिवार्य ही रहा। तुम्हारे "आदितस्त्रिनिकायाः पीतान्तलेश्याः" इसकी अपेक्षा तो सूत्रकारके "आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः" यों सूत्र बनानेमें ही लाघव गुण है, इष्ट अर्थ भी सुघटित होजाता है। तिस कारण जैसा सूत्रकारने सूत्रका विन्यास किया है वही बहुत अच्छा बना रहो।

किमर्थमिहादित इति वचनं ? विपर्यासनिवृत्त्यर्थं, अंतेऽन्यथा वा त्रिष्विति विपर्यासस्यान्यथा निवारयितुमशक्तेः। अेकनिवृत्त्यर्थस्तु त्रिष्विति वचनं। चतुर्निवृत्त्यर्थं कस्मान्न भवति ? आदित इति वचनात् चतुर्थस्यादित्वासंभवात्, अंत्यत्वात्पंचमादि निकायानुपदेशात्।

कोई तटस्थ पुरुष प्रश्न करता है कि यहां सूत्रमें आदितः यानी आदिसे प्रारम्भ कर या आदौ इति आदितः आदिमें यह तीन अक्षरवाला पद सूत्रकारने किसलिये कहा है ? श्री विद्यानन्द स्वामी इसका समाधान करते हैं कि विपर्यासकी निवृत्तिके लिये आदितः कहा गया है। अन्तमेंके तीन निकाय अथवा अन्य प्रकारोंसे मनुष्य, तिर्यंच, देव इन तीनमें या भवनवासी, कल्पवासी, कल्पातीत इन तीनमें इत्यादि प्रकारसे प्राप्त हो रहे विपर्यासकी अन्यथा यानी आदितः इस पदका कथन किये बिना निवृत्ति नहीं की जा सकती है। अतः आदितः पद सार्थक है। आदिसे प्रारम्भ कर तीन निकायोंमें या आदिभूत तीन निकायोंमें पीतपर्यन्त लेश्या है। यह अर्थ सुलब्ध हुआ। तथा इस सूत्रमें त्रिषु इस प्रकार वचन तो दो निकाय और एक निकायकी निवृत्तिके लिये है। अर्थात्— आदिकी दो या एक निकायोंमें पीतपर्यन्त लेश्या नहीं, किन्तु आदिकी तीनों निकायोंमें पीतपर्यन्त लेश्या है। यदि यहां कोई यों आक्षेप करे कि संख्येयपरक त्रिशब्द करके नियत तीन निकायोंका कथन करते हुये जैसे दो, एक, इन न्यून संख्याओंकी व्यावृत्ति कर ली जाती है, उसी प्रकार प्रकरण प्राप्त अधिक हो रही चार संख्याकी निवृत्तिके लिये किस कारणसे त्रिषु शद्बकी सफलता नहीं कही जाती है ? देखो "पंचेन्द्रियाणि" कह देनेसे एक, दो, तीन, चार, और छः सात, आठ, आदि इन्द्रियोंका पांच पदसे व्यवच्छेद हो जाता है। इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि आदितः इस प्रकार सूत्रकारने कथन किया है। यदि चारों निकाय ही अभीष्ट होते तो आदितः कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। आदितः कहनेपर चार निकायोंमेंसे कमसे कम एक निकायको तो छोडना चाहिये। तभी आदितः कथन सफल होसकता है। चौथे निकायको आदिपनेका असम्भव है। क्योंकि चौथा वैमानिक निकाय सम्पूर्ण चारों निकायके अन्तमें पडा हुआ है। हां, यदि

पांचवें, छठवें, कोई अन्य निकाय होते तो चौथा भी पांचवे, छठवेंका आदिभूत होसकता था, किन्तु सिद्धान्तमें पांचवें, छठे, आदि देव निकायोंका उपदेश नहीं किया गया है। अतः सूत्रकारने जितना कहा है विपर्यासोंकी निवृत्तिको करता हुआ उतना ही सूत्र सर्वांग सुन्दर है।

आद्येषु पीतान्तलेश्या इत्यस्तु लघुत्वादिति चेन्न, विपर्ययप्रसंगात्। आदौ निकाये भवा आद्या देवास्तेषु पीतान्तलेश्या इति विपर्ययो यथान्यासं सुशकः परिहर्तुं, निःसंदेहार्थं चैवं वचनं।

पुनः लघुताको ही जीवनप्राण स्वीकार कर रहा पण्डित कह रहा है कि लाघव गुण होनेसे "आद्येषु पीतान्तलेश्याः" आदिके होने वाली निकायोंमें पीतपर्यन्त लेश्या हैं, इतना ही छोटा सूत्र बनाया जाय। चौथी निकायका आद्यपदसे ग्रहण नहीं होसकनेको आप जैन स्वयं स्वीकार कर चुके हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि सिद्धान्तसे विपरीत होरहे अर्थके प्राप्त होजानेका प्रसंग होजायेगा। आदिकी निकायमें होनेवाले देव आद्या कहे जायंगे, उन आदि निकायवाले दश प्रकार भवनवासी देवोंमें ही पीतान्तलेश्याका विधान होसकेगा। इस प्रकार विपरीत अर्थकी आपत्ति होगी। हां, जैसा सूत्रकारने सूत्र रचा है उस ढंगसे विन्यासका अतिक्रमण नहीं किया जाय तो सम्पूर्ण विपर्यासोंके प्रसंगका सुलभतया परिहार किया जासकता है और सबसे अच्छा समाधान यह है कि किसी प्रकारका सूत्रप्रमेयमें सन्देह नहीं रह जाय। स्पष्टरूपसे अभिप्रेत अर्थका निर्णय होजाय। अतः संदेहोंके निरासके लिये "आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः" इस प्रकार सूत्र पढा गया है।

अथ पीतान्तवचनं किमर्थं? लेश्यावधारणार्थं, कृष्णा नीला कपोता पीता पद्मा शुक्ला लेश्येति पाठे हि पीतांतवचनात् कृष्णादीनां संप्रत्ययो भवतीति, पद्मा शुक्ला च निवर्तिता स्यात्। तेन त्रिष्वादितो निकायेषु देवानां कृष्णा नीला कपोता पीतेति चतस्रो लेश्या भवंतीति।

यहां अब कोई नवीन प्रकरणकी शंका उठाता है कि सूत्रकारने पीतपर्यन्त यह कथन किस लिये किया है? आचार्य समाधान करते हैं कि सम्भव रहीं लेश्याओंका नियम करनेके लिये पीतान्त पद कहा गया है। "किण्हा णीला काऊ तेऊ पम्मा य सुक्क लेस्साय, लेस्साणं णिद्देसा छच्चेव हवंति णियमेण" (गोम्मटसार जीवकाण्ड) कृष्णा, नीला, कपोता, पीता, पद्मा, शुक्ला ये छह लेश्यायें हैं, इस प्रकार पाठ होनेपर पीतपर्यन्त कथन करनेसे कृष्ण, नील, कापोत, पीत, इन जातिकी चार लेश्याओंका भले प्रकार सम्वेदन हो जाता है। पद्मा और शुक्ला लेश्याकी निवृत्ति कर दी जावेगी। अर्थात्—"सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत्, स्वपरात्मोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वं, स्वचतुष्टयापेक्षयास्तित्वं और परचतुष्टयापेक्षया नास्तित्वं ये दो स्वभाव ही वस्तुको मृत्युसे या सांकर्यसे बचाकर स्वांशोंमें सर्वदा जीवित बनाये रखते हैं। स्वपक्षमण्डन, परपक्षखण्डन जैसे वादी, प्रतिवादी, करते हैं, उसी प्रकार इस युद्धको सम्पूर्ण वस्तुयें या वस्तुके अखिल अंश भी ठाने रहते

है। अन्यथा एक समय भी परचक्रसे स्व को रक्षित रखना असम्भव ही समझो। तिस कारण आदिम तीन निकायोंमें देवोंके कृष्ण, नील, कापोत और पीत इस प्रकार चार लेश्यायें होती हैं, यों सूत्रका अर्थ सुसंगठित हो जाता है।

अन्यथा कस्मान्न भवंति तेषु देवा इत्युच्यते।

सूत्रोक्त अर्थमें युक्तियोंकी अभिलाषा करता हुआ कोई संशयालु पण्डित प्रश्न करता है कि उन निकायोंमें देव अन्य प्रकारों करके किस कारणसे नहीं होते हैं? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिमवार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

त्रिष्वाद्येषु निकायेषु देवाः सूत्रेण सूचिताः।
संति पीतांतलेश्यास्ते नान्यथा बाधितत्वतः॥ १॥

आदिमें होनेवाली भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, इन तीन निकायोंमें समुदित हो रहे देव तो पीतपर्यन्त लेश्याओंको धार रहे विद्यमान हैं। इस प्रकार श्री उमास्वामी महाराज करके इस सूत्र द्वारा तत्त्वसूचन किया गया है। वे भवनत्रिक देव भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्कके अतिरिक्त अन्य प्रकारोंसे व्यवस्थित नहीं हैं। तथा पीतान्त लेश्याधारीपनके सिवाय अन्य प्रकार पद्मशुक्ल लेश्यावाले भी नहीं हैं। क्योंकि यों अन्य प्रकारोंसे भवनत्रिक देवोंकी व्यवस्था माननेपर बाधा प्राप्त हो जावेगी निर्बाध सिद्धान्त सूत्र अनुसार ही है।

न तावद्देवाः सूत्रोक्ताः संतोन्यथा भवंति, सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वात्सुखादिवत्। नापि त्रिषु निकायेषु पीतांतलेश्याः सूत्रेणोक्तास्तदन्यथा पद्मलेश्याः शुक्ललेश्याः वा भवंति, तत एव तद्वत्।

सूत्रमें कहे जा चुके ढंग अनुसार प्रवर्त रहे संते तीन निकायके देव तो अन्य प्रकारोंसे नहीं सम्भव रहे हैं (प्रतिज्ञा) बाधक प्रमाणोंके नहीं संभवनेका बहुत अच्छा निश्चय किया जा चुका होनेसे (हेतु) अपने अपने अनुभूत किये जा रहे सुख, वेदना, शल्य, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमान करके देवोंकी आगम द्वारा श्रूयमाण हो रही सूत्रोक्त व्यवस्थाको साध दिया गया है तथा तीन निकायोंमें पीतपर्यंत लेश्यावाले देव जो इस सूत्रकरके कहे गये हैं। वे अन्य प्रकारोंसे पद्मलेश्यावाले अथवा शुक्ललेश्यावाले भी नहीं सम्भवते हैं (प्रतिज्ञा)। तिस ही कारणसे यानी बाधक प्रमाणोंके असम्भवका अच्छा निश्चय किया जा चुका होनेसे (हेतु)। उसीके समान यानी अपनेसे अतिरिक्त प्राणियोंको अतीन्द्रिय हो रहे किन्तु निजको स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष द्वारा परिगृहीत हो रहे अपने सुख, दुःख, शोक, संतोष, भय, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस प्रकार दो अनुमानोंकरके सूत्रोक्त उद्देश्यदल और विधेयदल दोनोंके प्रमेयको श्री विद्यानन्द आचार्यने अवधारणका ताला लगाते हुये सिद्ध कर

दिया है। लक्षणके अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असम्भव दोषों तथा हेतुके व्यभिचार, विरुद्ध, आदि दोषोंसे रहित ही रहा इस सूत्रका प्रमेय निष्कलंक है।

अब उन चारों निकायोंके अन्तरंगमें प्राप्त हो रहे विकल्पोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यंताः ॥ ३ ॥

दश, आठ, पांच, बारह ये विकल्प इन भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, और वैमानिक देवोंके हैं। किन्तु वैमानिकोंमें कल्पातीत देवोंको नहीं पकड कर षोडश स्वर्गवासी कल्पोपपन्न देवोंतक ही उक्त व्यवस्था समझ लेनी चाहिये।

देवाश्चतुर्णिकाया इत्यनुवर्तमानेनाभिसंबंधोस्य चतुर्णां निकायानामंतर्विकल्पप्रतिपादनार्थत्वात् न पुनरादितस्त्रिष्वित्यादीनां पीतांतलेश्यानां कल्पोपपन्नपर्यंतत्वाभावात्। तेन चतुर्णां देवनिकायानां दशादिभिः संख्याशब्दैर्यथासंख्यमभिसंबंधो विज्ञायते, तेन भवनवासिव्यंतरज्योतिष्कवैमानिका दशाष्टपंचद्वादशविकल्पा इति। वैमानिकानां द्वादशविकल्पांतःपातित्वे प्रसक्ते तदपोहनार्थं कल्पोपपन्नपर्यंतवचनं, ग्रैवेयकादीनां द्वादशविकल्पवैमानिकत्वादिभावप्रतीतेः। एतदेवाभिधीयते।

देव चार निकायवाले हैं, इस प्रकार अनुवृत्त किये जा रहे प्रथम सूत्रके साथ इस तृतीयसूत्रका चारों ओरसे सम्बन्ध हो रहा है। क्योंकि ग्रन्थकारको चारों निकायोंके अन्तरंग हो रहे भेदोंकी शिष्योंको प्रतिपत्ति करा देना प्रयोजन अभीष्ट हो रहा है। किन्तु फिर इस तृतीयसूत्रका द्वितीय सूत्रके साथ सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि आदिसे लेकर तीन निकायोंमें इत्यादि द्वितीय सूत्रवाक्यकरके कहे गये पीतपर्यन्त लेश्यावाले भवनत्रिक देवोंके कल्पोपपन्न पर्यन्तपनका अभाव है। चारों निकायके देव तो कल्पोपपन्नपर्यन्त कहे जा सकते हैं। तीन निकायके नहीं। तिस करके चारों देवनिकायोंका संख्यावाची दश, आठ, आदि संख्यावाचक शब्दोंके साथ यथासंख्य ठीक सम्बन्ध हो जाना जान लिया जाता है। तिस कारण इस सूत्रका अर्थ यों सुघटित हो जाता है कि भवनवासी देव दश प्रकारके हैं। व्यन्तरनिकायके देव आठ प्रकारके हैं। ज्योतिष्क देव पांच विकल्पोंको धार रहे हैं। और वैमानिक देवोंके अन्तरंग भेद बारह हैं। यहां सूत्रका उत्तरार्ध नहीं करनेपर सम्पूर्ण कल्पोपपन्न और कल्पातीत वैमानिकोंका बारह भेदोंके भीतर ही अन्तःप्रविष्ट हो जानेका प्रसंग प्राप्त हो जाता। उस अनिष्टप्रसंगका निराकरण करनेके लिये सूत्रकार कल्पोपपन्न पर्यन्त ऐसा वचन सूत्रके साथ लगाये देते हैं। क्योंकि ग्रैवेयक आदि विमानवासी कल्पातीत देवोंका बारह भेदवाले कल्पोपपन्न वैमानिक

देवोंसे पृथग्भाव प्रतीत हो रहा है। इस ही सिद्धान्तको श्रीविद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्त्तिक द्वारा युक्तिपूर्वक कहे देते हैं।

चतुर्ष्वपि निकायेषु ते दशादिविकल्पकाः।
कल्पोपपन्नपर्यंता इति सूत्रे नियामतः॥ २॥

चारों भी निकायोंमें वर्त रहे वे देव (पक्ष) दश, आठ, आदि विकल्पोंको धार रहे हैं। (साध्य) क्योंकि सूत्रमें ही कल्पोपपन्नपर्यन्त इस प्रकार नियम कर दिया गया है (हेतु)। सर्वत्र असंभवद्बाधकत्वात् इस युक्ति करके आगमोक्त सिद्धान्तोंका निर्णय हो जाता है।

चतुर्निकाया देवा दशादिविकल्पा इत्यभिसंबंधे हि वैमानिकानां द्वादशविकल्पांतःपातित्वप्रसक्तौ कल्पोपपन्नपर्यंता इति वचनान्नियमो युज्यते, नान्यथा। इन्द्रादयो दशप्रकारा एतेषु कल्प्यंत इति कल्पाः सौधर्मादयो रूढिवशान्न भवनवासिनः। कल्पेषूपपन्नाः कल्पोपपन्नाः साधनं कृता बहुलमिति वृत्तिः मयूरव्यंसकादित्वाद्वा, कल्पोपपन्नाः पर्यंते येषां ते कल्पोपपन्नपर्यन्ताः प्राग्ग्रैवेयकादिभ्य इति यावत्।

पहिले सूत्र और तीसरे सूत्रका दोनों ओरसे सम्बन्ध कर जब कि चार निकायवाले देव दश आदि भेदोंको धार रहे हैं, यह अर्थ बन बैठता है तो कल्पवासी और अहमिन्द्र इन सम्पूर्ण वैमानिक देवोंको बारह भेदोंके भीतर ही प्रविष्ट होनेका प्रसंग आया। ऐसी दशामें सूत्रकारको एक ही अवलम्बनीय उपाय हो रहे " कल्पोपपन्नपर्यन्त " इस कथनसे मर्यादाकी नियति कर देना युक्त पड़ता है। अन्य किन्हीं भी पातालफोड उपायोंसे उस अनिष्टप्रसंगका निवारण नहीं हो सकता है। इन्द्र, सामानिक, आदिक दश प्रकार इन देवोंमें वस्तुभूत कल्पित किये जा रहे हैं। इस कारण ये देव या सौधर्म आदिक सोलह स्वर्ग कल्प कहे जाते हैं। यद्यपि भवनवासी, व्यंतर, और ज्योतिष्क देवोंके स्थानोंमें भी इन्द्र, सामानिक, आदि यथासम्भव दश या आठ प्रकार वस्तुभूत कल्पे जारहे हैं। तथापि रूढिके वशसे सौधर्म आदि सोलह स्वर्ग ही कल्प हैं। भवनवासी आदिकोंके स्थान कल्प नहीं हैं। रूढि शब्दोंमें धात्वर्थ स्वरूप क्रियाका घटित करना केवल व्युत्पत्तिके लिये ही शोभता है, अर्थांशमें नहीं। उससे अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव दोषोंका परिहार नहीं होपाता है और करना भी नहीं चाहिये। "कल्पोपपन्ना" इस शब्दमें सप्तमी तत्पुरुष समास तो कल्पोंमें उपपाद जन्म द्वारा उपज चुके यों कर लेना चाहिये। " साधनं कृता बहुलं " इस सूत्रसे यहां तत्पुरुषवृत्ति होजाती है। यद्यपि " नखैर्भिन्नः नखभिन्नः स्वेन कृतं स्वकृतं " इत्यादि स्थलों पर साधनवाची शब्दका कृत् प्रत्ययान्त पदके साथ उक्त सूत्र करके समास होपाता है। फिर भी बहुलं शब्दकी सामर्थ्यसे अधिकरणवाचक सप्तम्यन्त पदका भी कृदन्त

शब्दके साथ समास जाता है। यद्यपि पाणिनीय व्याकरण अनुसार " कर्तृकरणे कृता बहुलं " इस सूत्रोक्त बहुल शब्दको सर्वोपाधिव्यभिचारार्थ नियत किया है। फिर भी " क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव। विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति " बहुल शब्दके इस व्यापक अर्थका लक्ष्य कर " साधनं कृता बहुलं " इस सूत्र अनुकूल यहां वृत्ति कर लेनी चाहिये। अथवा इसमें कुछ अस्वरस होय तो " मयूरव्यंसकादयः " इस सूत्र अनुसार मयूरव्यंसक, आदि गणमें प्रविष्ट होनेसे " कल्पोपपन्नाः यहां तत्पुरुष वृत्ति कर लेना। जिन देवोंके पर्यन्तमें कल्पोपपन्न देव हैं, वे देव कल्पोपपन्न पर्यन्त हैं यह बहुव्रीहि वृत्ति कर दी जाती है। ग्रैवेयक आदिसे पहिले पहिलेके देव दश, आठ, पांच, बारह भेदवाले हैं, यह सूत्रका फलितार्थ हुआ।

अब स्वामीजी सूत्रकार पुनरपि उन निकायोंके विशेषोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये अगले सूत्रको रचते हैं।

इंद्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकाश्चैकशः ॥ ४ ॥

१ परम ऐश्वर्यशाली और स्वकीय मण्डलका सर्वाधिकारी प्रभु इन्द्र है २ इन्द्रके समान परिवार, आयु आदिको धारनेवाले सामानिक देव हैं ३ मंत्री, पुरोहित आदि तेतीस देवोंका मण्डल त्रायस्त्रिंश है ४ सभामें बैठने वाले पारिषद हैं ५ इन्द्रकी मानू रक्षा करनेके लिये नियुक्त होरहे, रुद्र चेष्टावाले और परचक्रको मारनेके लिये ही मानू उद्यत होरहे तथा इंद्रके पीछे खडे रहनेवाले ऐसे देव आत्मरक्ष हैं ६ स्वकीय अधिकृत लोकप्रान्तको पाल रहे गवर्नर, कमिश्नर, कलक्टर, कोतवाल, आदि सरिखे देव लोकपाल हैं ७ सेनामें नियुक्त हो रहे देव अनीक हैं ८ पुरनिवासी या देशनिवासी जनोंके समान प्रकीर्णक देवोंका मण्डल है ९ वाहन, यान, सेवकत्व आदि क्रिया करनेमें आज्ञा अनुसार झटिति अभिमुख होनेवाले दाससमान देव आभियोग्य हैं १० भंगी, चाण्डाल, कसाई, आदिके समान पापबहुलदेवोंको किल्बिषिक कहते हैं। यों एक एक निकायके ये इन्द्र आदिक दश विकल्प हैं।

अन्यदेवासाधारणाणिमादिगुणपरमैश्वर्ययोगादिंदंतीतींद्राः।

इन दशोंका विशेष अर्थ इस प्रकार है कि अन्य देवोंकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली असाधारण हो रहे अणिमा, गरिमा, प्रभुता आदि गुणस्वरूप परम ईश्वरताके योगसे जो प्रभावशाली होकर स्व निकायमें सर्वोपरि विराज रहे हैं, इस कारण वे इन्द्र देव कहे जाते हैं। देवोंमें भवनवासीके चालीस ४० व्यन्तरोंके बत्तीस ३२ कल्पवासियोंके चौबीस २४, ज्योतिषियोंमें सूर्य चन्द्र यों दो इस प्रकार

९८ इन्द्र या प्रतीन्द्र गिनाये गये हैं। किन्तु तीन निकायोंमें व्यक्तिभेदसे गिनती करनेपर ज्योतिष्क निकायमें असंख्याते इन्द्र और असंख्याते प्रतीन्द्र समझ लेने चाहिये। क्योंकि इस मध्यलोकमें असंख्याते चन्द्रमा और असंख्याते सूर्य हैं। चन्द्र विमानोंमें निवास कर रहे प्रधान देव इन्द्र हैं और सूर्यविमानोंके प्रधान अधिकारी देव प्रतीन्द्र हैं। सामानिक देवोंमेंसे प्रधान देव प्रतीन्द्र होता है। सभापति, उपसभापति या मंत्री, उपमंत्री, अथवा कलक्टर, डिप्टी कलक्टर, एवं तहसीलदार, नायब तहसीलदारके समान इन्द्र और प्रतीन्द्रका जोडा सुशोभित है।

आज्ञैश्वर्यवर्जितमायुर्वीर्यपरिवारभोगोपभोगादिस्थानमिंद्रैः समानं तत्र भवाः सामानिका इन्द्रस्थानार्हत्वात्, समानस्य तदादेश्चेति ठक्। महत्तरपितृगुरूपाध्यायतुल्याः।

सम्पूर्ण अधिकृतोंके ऊपर आज्ञाप्रचार और उन सबके ऊपर ईश्वरता इन दो शक्तियोंको छोडकर शेष आयु, वीर्य, परिवार, भोगोपभोग, स्थान आदि व्यवस्थायें जिन देवोंकी इन्द्रोंके समान हैं उन देवोंके मण्डलको समान कहते हैं। उस समान नामक पिण्डमें होनेवाले देव सामानिक हैं। क्योंकि समय पडनेपर ये देव इन्द्रका स्थान प्राप्त करनेके लिये योग्य हैं, जैसे कि सभापतिकी अनुपस्थितिमें उपसभापति उस सभापति स्थानके योग्य समझा जाता है। समान शब्दसे " समानस्य तदादेश्च " इस तद्धित सम्बन्धी सूत्र करके ठक् प्रत्यय हो जाता है। ये सामानिक देवकुलमें सबसे बडे महत्तर या इन्द्रके माता, पिता गुरु, उपाध्याय, चाचा, ताऊ, आदिके सदृश ही रहे प्रतिष्ठित स्थानोंपर नियत होकर आदरणीय हैं। अर्थात्—जैसे आधुनिक, अत्रत्य, राजाओंके पिता, गुरु, पाठक, आदि पूज्यपुरुषोंका सद्भाव विशेष हर्षोत्पादक है तथैव इन्द्रका भी परिकर विद्यमान है। आवश्यक परिकरके विना सांसारिक सुख फीका रहता है। पुण्यके ठाठ तारतम्यको लिये हुये सर्वत्र एकसे हैं।

त्रयस्त्रिंशति जाताः त्रायस्त्रिंशाः " दृष्टे नाम्नि च जाते च अण्डिद्वा विधीयत " इत्यभिधानमस्तीति अण्डिद्विधीयते, कथं वृत्तिर्भेदाभावात्। मंत्रिपुरोहितस्थानीया हि ये त्रयस्त्रिंशद्देवास्त एव त्रायस्त्रिंशा न तत्र जाताः केचिदन्ये संतीति दुरुपपादावृत्तिः। नैतत्सारं, संख्यासंख्येयभेदविवक्षायामाधाराधेयभेदोपपत्तेः, त्रयस्त्रिंशत्संख्या तदाधारः संख्येयास्तु यथोक्तास्तदाधेया इति सूपपादा वृत्तिः। अथवा त्रयस्त्रिंशद्देवा एव त्रायस्त्रिंशाः स्वार्थिकोपि हृत " इति बहुत्वनिर्देशात् अंतिमादिवत्।

तेतीस नामक मण्डलीमें सद्भूत हुये देव त्रायस्त्रिंश कहे जाते हैं " तत्र जातः " इस सूत्रद्वारा त्रयस्त्रिंशत् शब्दसे अण् प्रत्यय कर लिया जाता है। दृष्ट अर्थमें और नाम अर्थमें तथा जात अर्थमें किया गया अण् प्रत्यय विकल्प करके डित् कर दिया जाता है, इस प्रकार शब्दशास्त्रका अभिधान है। इस कारण यह अण् प्रत्यय डित् किया गया " डित्यादि लोपः " डित् होनेसे अत् इननी दि का

लोप होकर वृद्धि करते हुये त्रायस्त्रिंश शब्द बना लिया जाता है। यहां कोई आक्षेप करता है कि स्रुघ्ने जातः स्रौघ्नः यहां सप्तम्यन्त आधारभूत स्रुघ्न (आगरा नगर) से उसमें उत्पन्न हुये देवदत्त आधेयका भेद है। अतः तद्धितवृत्ति सुलभतया होजाती है। किन्तु तेतीसमें उत्पन्न हुये त्रायस्त्रिंश देव यहां आधार और आधेयमें कोई भेद नहीं दीख रहा है। मंत्री, पुरोहित, वाइसराय, वजीर, प्रधान, न्यायाधीश, आदि प्रतिष्ठित स्थानों (पदों) पर विराज रहे जो ही देव त्रयस्त्रिंशत् हैं, वे ही त्रायस्त्रिंश हैं। कोई उन त्रयस्त्रिंशत्में उपजे हुये न्यारे देव नहीं हैं। इस कारण भेद नहीं होनेसे यहां अण् प्रत्यय विधायक तद्धितवृत्ति कठिनतासे भी नहीं बन सकती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस आक्षेपमें कोई सार नहीं है। क्योंकि संख्या नामक भाव और संख्या करने योग्य भाववान् पदार्थोंके भेदको विवक्षा करने पर यहां आधारआधेयभाव बन जाता है। तेतीस नामकी संख्या उन देवोंका आधार है और यथायोग्य कहे गये अनुसार गणना किये गये देव तो उस संख्याके आधेय हैं। इस प्रकार तद्धित वृत्तिका बनना बहुत अच्छा घटित होजाता है। अर्थात्—नैयायिकोंके यहां निष्ठत्व, वृत्तित्व या समवेतत्व सम्बन्धसे जैसे गुणमें गुणी ठहर जाता है, उसी प्रकार गुण, गुणीमें कथंचित् अभेदको माननेवाले जैनोंके यहां तो अतीव सुन्दरतासे संख्यामें संख्येय ठहर जाता है। नैयायिक तो समवेतत्व आदि वृत्त्यनियामक सम्बन्धों करके आधेयोंमें आधारोंको धरते हैं। किन्तु स्याद्वादियोंके यहां डोरोंमें वस्त्र या वस्त्रमें डोरे और शरीरमें हाथ पांव या हाथ पांवोंमें शरीर इस ढंगसे संख्यामें संख्येयका निवास करना वृत्तिनियामक कथंचित् तादात्म्य सम्बन्धसे नियत होरहा है। अथवा कुछ अरुचि रही होय तो संतोषकारी उपाय यह है कि तेतीस देव ही त्रायस्त्रिंश हैं। इस प्रकार केवल निजप्रकृतिके अर्थको ही कहनेवाला स्वार्थिक अण् प्रत्यय भी यहां किया जासकता है। जात अर्थमें होनेवाला अण् प्रत्यय स्वार्थमें भी होजाता है। क्योंकि " हृत " ऐसा एकवचन नहीं कर हृतः (तद्धिताः) यों बहुवचनान्त अधिकार सूत्रका कथन किया है। वह बहुवचन व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि स्वार्थमें भी तद्धित प्रत्यय होरहे हैं। जैसे कि अन्ते भवः अन्त्यः। अन्त्य एव अन्तिम, यहां स्वार्थमें डिमच् प्रत्यय होकर अन्तिम शब्द बना है। भेषजमेव भैषजं, शीलमेव शैली इत्यादिक पदोंमें स्वार्थिक प्रत्यय हुये हैं। इन्हींके समान यहां त्रायस्त्रिंश शब्दमें अण् प्रत्यय स्वार्थको ही कह रहा है, जात अर्थको नहीं।

परिषद्वक्ष्यमाणा तत्र जाता भवा वा पारिषदाः। परिषत्तद्वतां कथंचिद्भेदात्ते च वयस्यपीठमर्दतुल्याः। आत्मानं रक्षंतीत्यात्मरक्षास्ते शिरोरक्षोपमाः।

सुधर्मा सभा या बाह्य परिषद, मध्यपरिषद, अभ्यन्तर परिषद, इस ढंगसे सभा या सभायें बखानी जावेंगी, उस (उन) सभामें सभ्य होकर उपज रहे अथवा सभाओंमें सद्भावको धार रहे देव पारिषद हैं। अर्थात्—यद्यपि वस्तुतः विचारा जाय तो सभा कोई जड पदार्थ नहीं है। अनेक जीवोंके समुदायको सभा कहते हैं। तथापि सभा और उस सभावाले देवोंका समुदाय समुदायीकी अपेक्षा कथंचित् भेद होजानेसे जात अर्थ या भव अर्थमें परिषद् शब्दसे अण् प्रत्यय कर दिया गया है।

अन्तिम उपाय स्वार्थिक अण् प्रत्ययका समझ लिया जाय। ये सभामें बैठनेवाले देव उस इन्द्रके सम-वयस्क मित्र (हम उमर) या पीठमर्द यानी सन्धिको करनेवाले संधानकारीपुरुष आदि सारिखे देव हैं, तथा आत्माकी (इन्द्रकी) रक्षा करते हैं, इस कारण वे देव आत्मरक्ष हैं। जैसे कि वर्तमानमें राजा महाराजाओंके शरीररक्षक या मस्तक (बौडी गार्ड) होते हैं उन्हींके समान ये हैं। यद्यपि इन्द्रोंका कोई शत्रु नहीं है, उनकी आयु मध्यमें छिन्न भी नहीं होसकती है। तीव्र पुण्य होनेसे उनपर कोई अकस्मात् आक्रमण भी नहीं करता है। फिर भी विभूतियों या ऋद्धियोंकी विशेषतया जो स्थापना होरही है, उस वस्तुस्थितिका निरूपण कर देना ही आचार्य महाराजका लक्ष्य है। इन सब परि-करोंके होनेसे प्रभुके प्रकर्ष रूपसे सदा प्रीति उपजती रहती है। आत्मगौरव झलकता रहता है। एक धनपति (सेठ) या महीपति (रईस) के बीस, पचास आदि सवारियां रहती हैं। यद्यपि उन सबका उपयोग नहीं होता है। किसी किसीका तो जन्मपर्यन्त भी उपभोग नहीं हो सका है। फिर भी सांसारिक सुखोंकी उत्पादक विशिष्ट पुण्यानुसारिणी सामग्री जो प्राप्त हुई है, वह टाली भी तो नहीं जा सकती है। अतः शिरोरक्षकोंके समान ये आत्मरक्ष देव इन्द्रके पीछे खडे रहनेवाले, रुद्र प्रवृत्तिक, शस्त्रास्त्रपरिवृत, शोभ रहे हैं।

लोकं पालयंतीति लोकपालास्ते चारक्षकार्थचरसमाः। अनीकानीवानीकानि तानि दंडस्थानीयानि गंधर्वानीकादीनि सप्त। प्रकीर्णा एव प्रकीर्णकाः ते पौरजानपदकल्पाः।

प्रजा समुदाय स्वरूप लोकको पालते रहते हैं, इस कारण वे देव लोकपाल कहे जाते हैं, अर्थचर या आरक्षक कर्मचारी जैसे आधुनिक राजाओंके होते हैं, उसी प्रकार इन्द्रोंके यहां भी ये ठाठ लग रहे हैं। अर्थात्—गांव आदिमें नियुक्त हो रहे आरक्षिक सिपाहियोंको तलवर कहते हैं। राजाओंके करभाग (तहसील) को गृहीत (वसूल) करनेवाले कार्यमें नियोगी हो रहे अध्यक्षोंको अर्थचर कहते हैं, जो कि तहसीलदार, खजानची, कलक्टर, कमिश्नर आदि हैं। नगरके प्रबंध या रक्षामें नियुक्त हो रहा कोतवाल है। दुर्ग, किला आदिकी रक्षा करनेवाले महातलवर इत्यादिक अधि-कारी लोकपाल माने गये हैं। प्रान्तोंके रक्षक चीफ कमिश्नर, लेफ्टीनेण्ट गवर्नर भी इन ही लोकपालोंमें गणनीय हैं। यद्यपि स्वर्गोंमें तहसील प्राप्त करनेकी या गढकी रक्षा करने आदिकी आवश्यकता नहीं है। फिर भी प्रकृष्ट हर्षकी उत्पादक सामग्री विद्यमान है। तथा सेनाके समान अनीक जातिके वे देव अनीक कहे जाते हैं। प्रजारक्षणमें विघ्न डालनेवाले परचक्रको दण्डनीति अनुसार दण्डव्यवस्था कर देनेवाला विभाग दण्ड है। ऐसे सेनाके स्थानपर नियुक्त हो रहे गंधर्वानीक १ हस्त्यनीक २ अश्वानीक ३ रथानीक ४ पदात्यनीक ५ वृषभानीक ६ नर्तकी अनीक ७ इन सात प्रकारकी सेनाओंसे उपल-क्षित सात जातिके अनीक देव हैं। जैसे यहां राजप्रासादोंके इधर उधर निकटवर्ती प्रदेशोंमें नगर निवासी नागरिक अथवा देशनिवासी या प्रान्तनिवासी महोदय सज्जन विराजते हैं, उन पौर या

जानपद, महाशयोंके सदृश इतस्ततः फैल रहे ही ये प्रकीर्णक जातिके देव हैं । जो कि महाराजाके समान इन्द्रके नागरिक या राष्ट्रीय जनोंके तुल्य ये देव भी विशिष्ट हर्षके उत्पादक हैं ।

वाहनादिभावेनाभिमुख्येन योगोभियोगस्तत्र भवा अभियोग्यास्त एव आभियोग्याः इति स्वार्थिकः यण् चातुर्वर्ण्यादिवत्, अथवा अभियोगे साधवः आभियोग्याः अभियोगमर्हतीति वा आभियोग्यास्ते च दाससमानाः । किल्बिषं पापं तदेषामस्तीति किल्बिषिकाः तैल्यवासिस्थानीयाः । एकैकस्य निकायस्यैकश इति वीप्सार्थे शस् ।

सवारी ले जाना, ले आना, ऐसे वाहन, या दास्य कर्म आदि परिणतिरूपसे अभिमुखपने करके जो योग यानी कटिबद्धपना है, वह अभियोग कहा जाता है । उस अभियोगमें विद्यमान हो रहे देव अभियोग्य हैं और वे ही देव आभियोग्य कहे जाते हैं । भव अर्थमें अभियोग्य शब्द बनाकर पुनः स्वार्थिक यण् प्रत्यय किया गया है, जैसे कि चतुर्वर्णा एव चातुर्वर्ण्यं, चतुराश्रमा एव चातुराश्रम्यं, त्रिलोका एव त्रैलोक्यं, त्रिकाला एव त्रैकाल्यं, आदिक पदोंमें स्वार्थिक यण् प्रत्यय किया गया है । अथवा अभियोगे साधवः आभियोग्याः में " तत्र साधुः " इस सूत्र द्वारा यण् प्रत्यय किया जा सकता है और अभियोगको करनेके लिये जो समर्थ हो रहे हैं, वे अभियोग्य हैं, इस अर्थमें भी आभियोग्य शब्दको बना लिया जाता है, चाकर, दासों (खिदमदगार) के समान ये देव हैं । किल्बिष यानी पाप जिन देवोंके विशेषतया विद्यमान है, इस कारण वे देव किल्बिषिक हैं । ग्राम या नगरके अन्तिमभागमें बस रहे चाण्डाल, श्वपच, भंगी, चर्मकार आदि निकृष्ट मनुष्योंके स्थानापन्न हो रहे ये देव हैं । यद्यपि यहांके चाण्डालोंके नीचगोत्रका उदय है और देवोंमें सबके उच्चगोत्रका ही उदय है । फिर भी कोई लौकिक विभूतिका परिकर रिक्त नहीं हो जाय, इसलिये यथायोग्य जितना सम्भव हो सके उतना उपमान उपमेयभाव घटित कर लेना चाहिये । एकशः यहां एक एक निकायके यों अर्थ कर वीप्सा अर्थमें शस् प्रत्यय किया गया है । यानी एक एक देव निकायके ये इन्द्र आदिक दश दश भेद पाये जाते हैं ।

कुतः पुनरेकैकस्य निकायस्येन्द्रादयो दशविकल्पाः प्रतीयंत इत्यावेदयति ।

तर्काभिलाषी कोई जिज्ञासु पूंछता है कि फिर यह बताओ कि एक एक निकायके ये इन्द्र, सामानिक, आदिक दश भेद भला किस प्रमाणसे निर्णीत किये जा सकते हैं ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्त्तिक द्वारा समाधानकोटिका निवेदन करे देते हैं ।

इन्द्रादयो दशैतेषामेकशः प्रतिसूत्रिताः ।
पुण्यकर्मविशेषाणां तद्धेतूनां तथा स्थितेः ॥ १ ॥

एक एक निकायके प्रति इनके इन्द्र आदिक दश भेद श्री उमास्वामी महाराजने सूत्र द्वारा ठीक निरूपण किये हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि उन इन्द्र, सामानिक आदिके हेतु हो रहे विशेष विशेष पुण्यकर्मोंकी तिस प्रकार व्यवस्था हो रही है (हेतु)।

यथैव हि देवगतिनामपुण्यकर्मसामान्याद्देवास्तद्विशेषभवनवासिनामादिपुण्योदयाच्च भवनवास्यादयस्तथैवेंद्रादिनामपुण्यकर्मविशेषेण इंद्रादयोपि संभाव्यंते, तेषां तद्धेतूनां युक्त्यागमाभ्यां व्यवस्थितेर्बाधकाभावात् ।

जिस ही प्रकार गति नामकर्मकी उत्तर प्रकृति हो रही सामान्य देवगति नामक पुण्यकर्मके उदयसे उक्त चारों निकायके जीव देव हो रहे हैं और उस देवगतिके भी उत्तरोत्तर भेद हो रही भवनवासी, व्यंतर या असुरकुमार, किन्नर आदि विशेष पुण्यप्रकृतियोंका रसोदय हो जानेसे भवनवासी व्यंतर, असुर, किन्नर, आदि देव हो जाते हैं उसी प्रकार देवगतिके भेद, प्रभेद, हो रहे इन्द्र, सामानिक, आदिक नामकर्म और अन्य शुभनाम, सातावेदनीय, शुभगोत्र इन पुण्यकर्म विशेषोंके उदयसे इन्द्र आदिक भेद भी हो रहे सम्भव जाते हैं, भिन्न भिन्न कारणोंसे भिन्न भिन्न कार्योंकी उत्पत्ति हो जानेका नियम है। उन इन्द्र आदिकोंके सूक्ष्म हेतु हो रहे उन पौद्गलिक कर्म विशेषोंकी युक्ति प्रमाण और आगमप्रमाण करके सुव्यवस्था हो रही है। कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अतः मनुष्यों या पशुओंकी भिन्न भिन्न सूरतें, मूरतें, सुख, दुःख, बुद्धि, वैभव, आदिके समान देवोंके इन्द्र अहमिन्द्र आदि भेद भी पौद्गलिक कर्मविशेषोंके अनुसार सुघटित हो जाते हैं। "असंभवद्बाधकत्वाद्वस्तुसिद्धिः"।

यों तो इन्द्र आदिक दशों भेद चारों भी निकायोंमें उत्सर्गविधिद्वारा प्रसंग प्राप्त हुये। तिस कारण अपवाद करनेके लिये विशेषसूत्रको श्री उमास्वामी महाराज कहते हैं।

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यंतरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥

व्यन्तर और ज्योतिष्क निकायसम्बन्धी देव त्रायस्त्रिंश और लोकपाल जातिके देवोंसे रहित हैं।

इन्द्रादिदशविकल्पानामुत्सर्गतोऽभिहितानां चतुर्षु निकायेष्वविशेषेण प्रसक्तौ तदर्थमिदमुच्यते।

सामान्यरूपकरके उत्सर्गविधिसे कहे जा चुके इन्द्र, सामानिक, आदि दश भेदोंका जब चारों निकायोंमें, विशेषरहित होकरके प्रसंग प्राप्त हुआ तो उस कुछ अनिष्टप्रसंगके निवारणार्थ श्री उमास्वामी महाराज इस अपवाद सूत्रको बखानते हैं। अपवाद नियमोंको टालकर अतिरिक्त स्थानोंपर अनपोदित उत्सर्गविधियां प्रवर्तती हैं "अपवादा उत्सर्गविधिं बाधन्ते"

कुतः पुनर्व्यंतरा ज्योतिष्काः त्रायस्त्रिंशैर्लोकपालैश्च वर्ज्या येन तेष्टविकल्पा एव स्युरित्यारेकायामिदमाह।

कोई यहां शंका करता है कि क्या कारण है ? जिससे फिर व्यन्तर और ज्योतिष्क निकायवाले देव विचारे त्रायस्त्रिंश और लोकपाल करके वर्जित हो रहे हैं, जिससे कि वे व्यन्तर या ज्योतिष्क देव इन इन्द्र, सामानिक, पारिषद, आत्मरक्ष, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य, किल्विषिक, आठ विकल्पवाले ही समझे जांय, इस प्रकार आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा इस वक्ष्यमाण समाधानको कहते हैं ।

तत्रापि व्यंतरा वर्ज्या ज्योतिष्काश्चोपवर्णिताः ।
त्रायस्त्रिंशैस्तथा लोकपालैस्तद्धेत्वसंभवात् ॥ १ ॥

उन चारों निकायोंमें भी व्यंतर और ज्योतिष्क ये दो निकाय तिस प्रकार तेतीस देव और लोकपाल देवों करके रीते हो रहे आगम द्वारा कहे गये हैं । क्योंकि उन त्रायस्त्रिंश और लोकपालोंके उत्पादक हेतु विलक्षण जातीय पुण्यविशेषका दो निकायोंमें सम्भव नहीं है । अर्थात्—राजाओंको विशिष्ट जातिका पुण्य होनेपर ही निहारे करते हुये, हितशासक, मंत्री, पुरोहित, आदिक पुरुष प्राप्त हो सकते हैं । वैसा पुण्य इन दो निकायोंमें नहीं है । तथा राजा बने विना ही पूर्ण राज्यपर अधिकार करना, यथायोग्य मनमानी चलाना, अविकृत प्रजा वर्गसे अपनी प्रार्थना करवाना, आदि जातिका पुण्य भी किन्हीं किन्हीं जीवोंके होता है । वे ही मंत्री, पुरोहित आदिके स्थानापन्न हो सकते हैं । राजाकी हानि हो या लाभ हो इनको दोनों अवस्थाओंमें निश्चिन्तता है । सुकाल पडे, परचक्रके साथ युद्ध नहीं होय अच्छा ही है । किन्तु यदि दुष्काल पड जाय अथवा परचक्रसे लडाई छिड जाय इनको वैसी चिन्ता या आकुलता नहीं है, जैसी कि व्याकुलता राजाको सताती है । अतः दो निकायोंमें उक्त दो भेद नहीं माने गये हैं ।

न हि व्यंतरज्योतिष्कनिकाययोस्त्रायस्त्रिंशल्लोकपालनामपुण्यकर्मविशेषस्त्रायस्त्रिंशलोकपालदेवविशेषकल्पनाहेतुरस्ति यतस्तयोस्त्रायस्त्रिंशलोकपालाश्च स्युरिति तद्वर्ज्यास्ते देवाः तदतिशयविशेषस्य प्रतीतिहेतोर्निकायांतरवत्तत्रासंभवात् ।

उक्त वार्तिकका व्याख्येय अर्थ यह है कि व्यंतर और ज्योतिष्क दो निकायके देव आत्माओंके त्रयस्त्रिंशत् और लोकपाल नामक विशेष पुण्य कर्मोंका सद्भाव नहीं है, जो कि त्रायस्त्रिंश और लोकपाल जातिके विशेष देवोंकी वस्तुभूत कल्पनाका कारण माना गया है, जिससे कि उन मध्यवर्ती दो निकायोंमें त्रायस्त्रिंश और लोकपाल देव हो जावें। इस कारण वे व्यन्तर और ज्योतिष्कदेव उन त्रायस्त्रिंश और लोकपालोंसे वर्जे गये हैं। क्योंकि त्रायस्त्रिंश और लोकपालकी प्रतीतियोंके कारण हो रहे उन अतिशय उक्त पुण्यविशेषोंका अन्य निकायोंके समान उन दो निकायोंमें असम्भव है । अर्थात्—अन्य दो निकाय भवनवासी और कल्पवासी देवोंके तो तादृश पुण्यविशेष हैं, जिससे कि उनमें त्रायस्त्रिंश और

लोकपाल देव उपज जाते हैं । विशिष्ट कार्यके उत्पादक अतिशयवाले कारणोंके नहीं होनेसे व्यन्तर और ज्योतिष्क देव उन दो कल्पनाओंसे वंचित हैं । जहां कारण होगा वहीं कार्य उपजेगा । मध्यवर्ती निकायोंमें कारणोंके वश इन्द्र आदि आठ भेद हैं । किन्तु भवनवासी और कल्पवासियोंमें दशोंके हेतु सातिशय पुण्यविशेषोंका सद्भाव होनेसे दशों प्रकार जातिके देव पाये जाते हैं ।

अब कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि उन चारों निकायोंमें क्या एक ही एक इन्द्र है ? अथवा क्या कोई अन्य नियम (अपवाद) है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ६ ॥

पूर्वकी भवनवासी, व्यन्तर, इन दो निकायोंमें समुदित होरहे देव अपने प्रभु दो दो इन्द्रोंको धारनेवाले हैं । अर्थात्—दो दो इन्द्रोंके आधिपत्यमें इन देवोंकी टोलीको रहना पडता है । प्रत्येक देव तो एक ही इन्द्रके अधीन है । किन्तु समुदाय अपेक्षा यह कथन है ।

भवनवासिव्यंतरनिकाययोः पूर्वयोर्देवा द्वींद्रा न पुनरेकेंद्रा निकायांतरवदिति प्रतिपत्त्यर्थमिदं सूत्रं । पूर्वयोरिति वचनं प्रथमद्वितीयनिकायप्रतिपत्त्यर्थं, तृतीयापेक्षया द्वितीयस्य पूर्वत्वोपपत्तेः द्विवचनसामर्थ्याच्चतुर्थापेक्षया तृतीयस्य पूर्वत्वेप्यग्रहणादप्रत्यासत्तेः ।

पूर्ववर्ती भवनवासी और व्यंतर इन दो निकायोंमें देव दो दो इन्द्रवाले हैं । किन्तु फिर ज्योतिष्क या कल्पवासी इन अन्य निकायोंके समान एक एक इन्द्रवाले देव ये नहीं हैं । इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराजने यह सूत्र रचा है । चाहे हजारों, लाखों, असंख्यों, भी पदार्थ होवें उन सबका पूर्ववर्ती (पहिला) पदार्थ एक ही होगा । अतः प्रथम वाचक पूर्वशद्वको एक वचनमें ही सामर्थ्य है । आद्य अर्थको कह रहे पूर्व शद्वका द्विवचन या बहुवचन अलीक ही समझा जाता है । किन्तु यहां सूत्रमें पूर्वयोः इस प्रकार द्विवचन ओस् विभक्तिवाले पदका वचन है, जो कि पहिली निकाय भवनवासी और दूसरी निकाय व्यन्तरदेवोंकी प्रतिपत्ति करनेके लिये है । प्रथमका प्रत्यासन्न होनेसे द्वितीयको द्विवचनकी सामर्थ्यसे पकड लिया जाता है । तृतीयकी अपेक्षा करके द्वितीयको पूर्वपना न्यायसे भी बन जाता है । द्विवचनकी सामर्थ्यसे पहिले और दूसरे निकायोंका पूर्वपना सुघटित है । यद्यपि चतुर्थ वैमानिक निकायकी अपेक्षासे तीसरी ज्योतिष्क निकायको पूर्वपना है, तो भी निकटवर्तिता नहीं होनेसे प्रथमके साथ तृतीयका ग्रहण नहीं किया जा सकता है । हां, निकटवर्ती होनेसे प्रथमका संगी द्वितीय बन जाता है । अर्थात्—" उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितकल्पने मानाभावः " । प्रधानाध्यापकमें द्वित्वकी अनुपपत्ति होनेपर द्वितीयाध्यापक (सेकिंड मास्टर) को उसका संगी बना कर दोपनकी रक्षा कर ली जाती है । चौथे, पांचवे, अध्यापकको मिला कर नहीं ।

द्वौ द्वौ इन्द्रौ येषां ते द्वींद्रा इत्यंतर्नीतवीप्सार्थो निर्देशः । द्विपदिका त्रिपदिकेति यथा वीप्सायां वुनो विधानादिह वीप्सागतिर्युक्ता न प्रकृते किंचिद्विधानमस्ति । तर्हि सप्तपर्णादिवद्भविष्यति वीप्साविधानाभावेपि वीप्सासंप्रत्ययः । पूर्वयोर्निकाययोर्द्वौ द्वाविंद्रौ देवानामिति निकायनिकायिभेदविवक्षावशादाधाराधेयभावो निश्चीयते ।

निकायवाले जिन देवोंके दो दो इन्द्र हैं वे देव दो इन्द्रोंवाले हैं, इस प्रकार साकल्येन व्यापनेकी इच्छा रखते हुये पुनः पुनः कथन करना स्वरूप वीप्साको अन्तरंग गर्भमें प्राप्त कर इस सूत्रका अर्थ निर्देश किया जाता है । कोई आक्षेप करता है कि जिस प्रकार द्विपदिका, त्रिपदिका, द्विशतिका आदि पदोंमें " पादशतस्य संख्यादेर्वीप्सायां वुन् लोपश्च " इस सूत्र करके वुन् प्रत्ययका विधान होजानेसे यहां वीप्साका परिज्ञान होना समुचित है । किन्तु प्रकरणप्राप्त " द्वीन्द्राः " इस पदमें कोई प्रत्ययका विभाग नहीं श्रूयमाण है । ऐसी दशामें यहां वीप्साका अन्तर्गर्भ कैसे समझा जायगा ? अर्थात्—द्वौ द्वौ पादौ ददाति इति द्विपदिकां ददाति, दुगुना दुगुना दो भागोंको देरहा है, द्विपदिका शब्दसे दो पादका गीत समझा जाता है । जिस गीत या पदमें दो दो पादोंकी टेक गानी पडती है या तीन तीन पदोंकी टेक जहां गायी जाती है वह त्रिपादिका गीति है । पंक्तिबद्ध तीन तीन पायोंवाली लम्बी, चौडी, तिपाईको भी त्रिपादिका कह सकते हैं । यहां द्विपदिका, त्रिपदिका, शब्दोंमें वुन् प्रत्ययसे वीप्सा अर्थ उक्त होजाता है । वु को अक आदेश कर देते हैं । किन्तु वैसा कोई प्रत्यय द्वीन्द्राः शब्दमें नहीं है । अब आचार्य कहते हैं कि तब तो सप्तपर्ण, अष्टापद आदिके समान वीप्सा वाचक प्रत्ययका विधान नहीं होते हुये भी वीप्सा अर्थकी भले प्रकार प्रतीति होजावेगी । जिस वृक्षके एक एक पर्वमें सात सात पत्ते लग रहे हैं वह वृक्ष सप्तपर्ण है, पंक्ति पंक्तिमें आठ आठ पांसवाला चूत खेलनेका नकशा अष्टापद है, इसी प्रकार दो दो इन्द्रवाले निकाय द्वीन्द्र हैं । पूर्ववर्ती दो निकायोंमें निवास कर रहे देवोंके दो दो इन्द्र हैं । इस प्रकार निकायोंको कह रहे पूर्वयोः यह द्विवचनान्त सप्तमी और देवोंको कह रहे द्वीन्द्राः इस प्रथमान्त विभक्तिसे युक्त होरहे पदोंके वाच्य अर्थोंका निकाय और निकायी यानी समूह और समूहीके भेदकी विवक्षाके वशसे आधार आधेयभाव होजाना विचार लिया जाता है । पूर्वयोः शब्दको षष्ठी विभक्तिवाला पद माना जाय तो भी कोई क्षति नहीं है । अतः धान्योंकी राशि, रुपयोंका ढेर, रुपयेमें चांदी, मेलेमें मनुष्य इस ढंगसे अभिन्न पदार्थोंमें कथंचित् भेद, अभेदकी विवक्षा होजाती है " सिद्धिरनेकान्तात् " ।

द्वींद्रा निकाययोर्देवाः पूर्वयोरिति निश्चयात् ।
तत्रैकस्य प्रभोर्भावो नेति ते स्तोकपुण्यकाः ॥ १ ॥

उक्त सूत्रका युक्तिपूर्वक अर्थ वार्त्तिकमें यों किया जाता है कि पूर्ववर्त्ती दो निकायोंमें बस रहे देव दो दो इन्द्रवाले हैं, यह सिद्धान्तशास्त्रद्वारा निर्णीत है । उन दो निकायोंमें केवल एक ही प्रभूका

सद्भाव नहीं है। कारण कि वे देव स्वल्प पुण्यवाले हैं अथवा वे दो दो इन्द्र स्वयं हीनपुण्य हैं। (प्रतिज्ञा हेतु)। अर्थात्-जब अधिकृतोंका पुण्यमन्दशक्तिक हो जाता है तभी अधिकृत प्रजावर्गके एकसे अधिक दो तीन आदिक नेता प्रभु बन बैठते हैं। अच्छे पुण्यशाली जीव या तो स्वयं प्रभु होते हैं अथवा एक ही प्रभुके तंत्र होकर रहते हैं। " अनायका विनश्यन्ति नश्यन्ति बहुनायकाः, एकः कृती शकुन्तेषु योन्यं शक्रान्न याचते " इन पद्योंसे उक्त अर्थ ध्वनित होता है। दूसरी बात यह है कि जिस पदार्थके दो अधिकारी हैं वे स्वयं दोनों स्वल्प पुण्यवान् हैं। छोटा या बडा यथायोग्य कोई कार्य होय उसका अधिकार एक व्यक्तिको ही प्राप्त होय तभी आधिपत्यका कर्तव्य पूर्णरीत्या निभता है। संशयालु स्वामीको एक देश, एक काल, एक ही कार्यपर समान शक्तिवाले दो अधिकारियोंका नियुक्त करना दो नावोंपर चढनेके समान भयावह है। "एको गोत्रे स भवति पुमान् यः कुटुम्बं बिभर्ति एकपतिव्रत " आदि वाक्य एकस्वामित्वको प्रतिपादन करनेमें तत्पर हैं। अतः हीनपुण्यवाले पूर्ववर्ती दो निकायोंमें दो दो इन्द्र हैं।

भवनवासिनिकाये असुराणां द्वाविंद्रौ चमरवैरोचनौ, नागकुमाराणां धरणभूतानंदौ, विद्युत्कुमाराणां हरिसिंहहरिकांतौ, सुपर्णकुमाराणां वेणुदेववेणुधारिणौ, अग्निकुमाराणां अग्नि-शिखाग्निमाणवौ, वातकुमाराणां वैलंबनप्रभंजनौ, स्तनितकुमाराणां सुघोषमहाघोषौ, उदधि-कुमाराणां जलकांतजलप्रभौ, द्वीपकुमाराणां पूर्णवशिष्ठौ, दिक्कुमाराणां अमितगत्यमितवाहनौ। तथा व्यंतरनिकाये किन्नराणां किन्नरकिंपुरुषौ, किंपुरुषाणां सत्पुरुषमहापुरुषौ, महोरगाणामति-कायमहाकायौ, गंधर्वाणां गीतरतिगीतयशसौ, यक्षाणां पूर्णभद्रमाणिभद्रौ, राक्षसानां भीम-महाभीमौ, पिशाचानां कालमहाकालौ, भूतानां प्रतिरूपाप्रतिरूपौ। एवमेतेषामेकैकस्य प्रभो-रभावात्ते स्तोकपुण्याः प्रभवो निश्चीयंते।

भवनवासी नामक पहिली निकायमें निवास रहे असुरकुमार जातिके देवोंके चमर और वैरोचन नामके दो इन्द्र हैं। नागकुमार जातिके देवोंके प्रभु धरण और भूतानन्द दो इन्द्र हैं, विद्युत्कुमार देवोंके अधिकारी हरिसिंह और हरिकान्त दो इन्द्र हैं, सुपर्णकुमार जातिके असंख्य देवोंके नेता वेणुदेव और वेणुधारी ये दो इन्द्र हैं, अग्निकुमार जातिके असंख्याते भवनवासी देवोंके अधिपति अग्निशिख और अग्निमाणव हैं, वातकुमार भवनवासियोंके स्वामी वैलम्ब और प्रभंजन ये दो इन्द्र हैं, स्तनितकुमार देवोंके परिवृढ तो सुघोष और महाघोष ये दो इन्द्र हैं, उदधिकुमार देवोंके अधिप जलकान्त और जलप्रभ ये दो इन्द्र हैं, द्वीपकुमारोंके नायक पूर्ण और वशिष्ठ ये दो इन्द्र हैं तथा असंख्याते दिक्कुमार जातीय भवनवासियोंके ईश अमितगति और अमितवाहन इन्द्र हैं। तिसी प्रकार व्यन्तर नामकी दूसरी निकाय में किन्नर जातीय देवोंके अधिनायक किन्नर और किम्पुरुष इन्द्र हैं, किम्पुरुष जातीय असंख्य व्यन्तर देवोंके ईश्वर सत्पुरुष और महापुरुष दो इन्द्र हैं, महोरग जातीय व्यन्तरोंके पति अतिकाय और महा-

काय ये दो इन्द्र हैं, गन्धर्व जातीय व्यन्तरोंके नाथ गीतरति और गीतयशा ये दो इन्द्र हैं, यक्ष जातीय व्यन्तरोंके अधीश पूर्णभद्र और माणिभद्र ये दो इन्द्र हैं। राक्षस जातीय असंख्याते व्यन्तर देवोंके ईश्वर भीम और महाभीम दो इन्द्र हैं। पिशाच नामक व्यन्तरोंके अधीश्वर काल और महाकाल दो इन्द्र हैं। भूतोंके आज्ञापक प्रतिरूप और अप्रतिरूप दो दो इन्द्र हैं। इस प्रकार इन असुरकुमार, किन्नर आदि देवोंके एक एक ही प्रभुके नहीं होनेसे वे देव स्तोकपुण्यवाले और वे प्रभु भी स्तोक पुण्यवाले निश्चित किये जाते हैं। " अविकृत्याधिकं फलम् " यह कवित्की नीति यहां लाभप्रद नहीं है। क्योंकि एक पति समान प्रजाजनोंका एक पति ही बना रहे यही सर्वतोभद्र है। अनेक सदस्योंकी बहुसम्मति या सर्वसम्मतिके अनुसार हो रहे कार्योंका अनुमोदन करनेवाले महाशय भी एक प्रभुताकी नीतिका उल्लंघन नहीं कर सके हैं। इत्यलं प्रपंचेन।

इन देवोंके सुख किस प्रकारका है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्रको उतारते हैं।

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ७ ॥

ऐशान नामक स्वर्गतक काय द्वारा मैथुन सेवन करनेवाले देव हैं। अर्थात्—भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क इन भरपूर तीनों निकायोंमें और सौधर्म, ईशान, स्वर्गसम्बन्धी देवोंमें मनुष्योंके समान काय द्वारा देवदेवियोंके मैथुन व्यवहार है।

प्रतिपूर्वाच्चरेः संज्ञायां घञ् प्रविचरणं प्रवीचारो मैथुनोपसेवनं। काये प्रवीचारो येषां ते कायप्रवीचाराः। असंहितानिर्देशोऽसंदेहार्थः। ऐशानादित्युच्यमाने हि संदेहः स्यात् किमाङंतर्भूत उत दिक्छब्दोऽध्याहार्य इति विपर्ययो वा स्यात्। ऐशानात् पूर्वयोरित्यनुवर्तमानेनाभिसंबंधात्। असंहितानिर्देशे तु नायं दोषः।

प्रति उपसर्ग पूर्वक चर धातुसे संज्ञा अर्थमें घञ् प्रत्यय किया गया है। प्रविचरणभाव ही प्रवीचार है, इसका अर्थ मैथुनका उपसेवन करना है। जिन देवोंका प्रवीचार कायमें होता है वे देव कायप्रवीचार हैं, यों बहुव्रीहि समास कर लिया है। इस सूत्रमें आङ्निपात और ऐशान इन दो पदोंमें संधि करके नहीं कथन करना तो असंदेहके लिये है। यदि दोनोंके स्थानमें ऐत् एकादेश कर ऐशानात् यों सूत्र कहा गया होता तो श्रोताओंको संदेह हो सकता था कि यहां आङ् अन्तर्भूत छिपा हुआ है ? अथवा क्या आङ् छिपा हुआ नहीं है ? ऐसी दशामें पूर्व प्रत्यक् आदि दिशावाचक शब्दका अध्याहार करने योग्य है। ऐशानसे पूर्व दिशातक यों अर्थ होगा तभी " अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहि युक्ते " इस सूत्रद्वारा ऐशानात् यह पंचमी विभक्ति होसकती है। अथवा पूर्वयोः इस पदकी पूर्वसूत्रसे अनुवृत्ति करके ऐशानसे पूर्ववर्ती देवोंमें कायप्रवीचार यों

अभिसम्बन्ध होजानेसे विपरीत अर्थ होजानेका प्रसंग होजाता है । ऐशानके पूर्वमें तो कोई निकाय नहीं है । ऐशान स्वयं एक चौथी वैमानिक निकायके व्याप्य माने गये कल्पोपपन्नका व्याप्य होरहा है, तथा ऐशानमें भी तो कायप्रवीचार व्यवस्थित रखना है । हां, सन्धिको नहीं कर सूत्र कथन करनेपर तो यह कोई दोष नहीं आता है । आङ्को उड़ा देनेपर अनिष्ट होजानेका संशय है । क्योंकि पूर्वयोः का अधिकार चला आरहा है । अतः कथमपि सन्देह नहीं होय इसलिये सूत्रकारने " आ ऐशानात् " ऐसा संधिरहित सूत्रनिर्देश कर दिया है । कुछ संक्लेश उत्पादक कर्मोंका विपाक होनेसे ये विचारे देव मनुष्योंके समान स्त्रीसम्बन्धी विषयसुखोंका अनुभव करते हैं । यही वहांकी देवियोंकी व्यवस्था है ।

देवाः कायप्रवीचारा आ ऐशानादितीरणात् ।
चतुर्ष्वपि निकायेषु सुखभेदस्य सूचनं ॥ १ ॥

भवनवासी देवोंसे प्रारम्भ कर ईशान स्वर्गवासी देवोंतक काय द्वारा मैथुनप्रवृत्ति करनेवाले देव हैं, इस प्रकार श्री उमास्वामी महाराज करके इस सूत्र द्वारा कथन करनेसे चारों भी निकायोंमें सुख विशेषकी सूचना कर दी गयी है । अर्थात्—देवोंके पंचेन्द्रिय सम्बन्धी भोगोंकी पुष्कल सामग्री विद्यमान है । स्पर्शन इन्द्रियजन्य पुष्पशय्यान्वित कोमलवस्त्रोंपर विलोडन, सुन्दर वस्त्र आभूषणोंका परिष्वंग, कल्पवृक्ष या कल्पलताओंके सुकोमल पुष्प, पत्र, प्रवाल आदिका स्पर्शन, चेतोहर सदा युवति देवांगनाओंका माहेन्द्र स्वर्गतक आलिंगनार्थ सोत्साह उपसर्पण, इत्यादिक स्पर्शन इन्द्रिय सम्बन्धी भोग उपभोग वहां परिपूर्ण हैं । देवोंके मानसिक आहार है । मनुष्य या पशु, पक्षियोंके समान कवलाहारको वे नहीं करते हैं । अतीव मन्द क्षुधावेदनीय कर्मके उदय या उदीरणा होनेपर उसी समय देवोंके कण्ठसे परमदिव्य शक्तिधारी अनेकरसपूर्ण अमृतमय रसीला लारसारिखा पदार्थ झरता है, जो कि महती तृप्तिका सम्पादक है । सूक्ष्मपर्यालोचना करने पर प्रतीत होजाता है कि मनुष्य या पशु भी कवलाहार द्वारा जो षट्रस युक्त पदार्थोंका स्वाद लेते हैं, उस आनन्द प्राप्तिमें भी स्वकीय मुखसे निकली हुई लारको विशेष सहायक मानना चाहिये । यद्यपि पौद्गलिक भोज्य पदार्थोंमें रसपरिणति विद्यमान है । किन्तु भिन्न भिन्न प्रकृतिके जीवोंकी न्यारे न्यारे भोज्य पदार्थोंसे उत्पन्न हुई लारकी योक्रारें ही स्वादजन्य सुखविशेषोंको उपजानेमें प्रेरक निमित्त हैं । क्षुधापीडित दो महीनेके बच्चेके मुखमें अंगुली या रबडकी स्तनी मुखमें दे देनेपर उसी समय उसके मुखसे लारके फुव्वारे छूटते हैं । और कुछ देरतक बच्चेकी तृप्ति हो जाती है । तीर्थंकरके जन्मकालमें देवों द्वारा भगवान्के अंगूठेमें अमृतका स्थापन करना इसी रहस्यको ध्वनित करता है । भैंस गायके मुखमें लार मिल जानेपर घास या भुस विशेष सुस्वादु हो जाते हैं । ऊंटके मुखमें नीमके पत्ते, उन राजाओंके षट्रसपूर्ण व्यंजनोंसे कहीं अधिक आनंदके उत्पादक हैं । गेंडुआके मुखमें मिट्टीके साथ उसकी लारके मिल जानेपर वह कौर बहुत सुस्वादु हो जाता है । उपवास या एकासन व्रतकी अवस्थामें कदाचित्

छाती (कलेजा) पर शुष्कता आनेपर या मुंहमें सूखट आनेपर लार करके उस शुष्कताको मिटा लिया जाता है । मुनिजन भी दिन या रातमें स्वकीय पुरुषार्थसे लारको उपजा कर उक्त क्रिया करते हुये दोषभाजन नहीं हो जाते हैं । हां, मुखमें अंगुली डालकर चचोरते हुये अधिक लारको उपजानेके लिये उन्हें आतुर नहीं होना चाहिये । कवलआहारियोंके भोजनमें लार मिल जानेपर वह सुखाद्य भी सुपाच्य हो जाता है । कोई मनुष्य तो लार मिलानेके लिये दूध या पानीको चोंधकर पीते हैं, अस्तु । मनुष्य या पशुपक्षियोंके स्पर्शन-इन्द्रियजन्य या रसना-इन्द्रियजन्य सुखोंकी प्राप्ति करनेमें उनके शारीरिक धातुओं या लारोंका हर्षक्षय जैसे होता है, उसी प्रकार घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियों द्वारा विशिष्ट भोग उपभोग करते हुये भी शरीरसम्बन्धी उपधातुओंका व्यय (खर्च होना) प्रवर्तता रहता है, तभी तो युवा अवस्थामें धातु उपधातुओंकी अधिक उत्पत्ति होते रहनेसे इन्द्रियोंके भोग, उपभोग, विशेष आनन्दोत्पादक होते हैं । और वृद्ध अवस्थामें शरीरकी मूलपूंजीका घाटा हो जानेपर वे के वे ही अथवा उनसे भी अतिशय सुन्दर इन्द्रिय विषय बिचारे सुखोत्पादक नहीं हो पाते हैं । " वृद्धस्य तरुणी विषम् " । बात यह है कि जैसे धनका उपार्जन कर विनियोक्ता पुरुष उसके बहुभागको भोग, उपभोग, या दानमें व्यय कर देता है, और अल्प भागको उपार्जक धनकी सन्तानमें मिला देता है, उसी प्रकार शरीरके धातु, उपधातु या वैक्रियिक शरीरके अन्य जातीय शरीरावयव बहुभाग शरीर सुखके लिये ही उपज कर व्यय होते रहते हैं । यदि कंजूस प्रकृतिका प्राणी वीर्य, लार या अन्य वैक्रियिक शरीर या वृक्ष आदि शरीरमें उपज रहे उन अमूल्य पदार्थोंका व्यय नहीं करता है तो वैयापारिक अनुसार उसके पास माल टाल नहीं मिलता है । तभी तो विशेषतया इन्द्रियोंके उपभोगी रसिक पुरुष और शरीर शक्तियोंका अल्पव्यय करनेवाले संयमी जीवोंके अपेक्षाकृत लार आदिके संचयका तारतम्य नहीं देखा जाता है । अतः न्यायप्राप्त सामग्रीका भोग उपभोग करनेसे ही कूपके सोत समान बह रहे लार आदिके अनुसार उपभोग करनेका प्रवाह प्रचलित हो रहा है । हां, पापोंकी प्रतिपक्षभावना या वैराग्यरसमें निमग्न होरहे अथवा भोगोंमें उदासीन होरहे जीवोंके शरीरका कार्यालय (कारखाना) ही दूसरे ढंगका होजाता है । परितृप्त या रोगी अथवा वीतराग साधु एवं शोधी, उदासीन, इनकी प्रवृत्तियोंपर सूक्ष्म लक्ष्य देनेसे सब जीवोंको उक्त सिद्धान्त स्पष्ट प्रतिभासित होजाता है । कुलधारासे जिनके शरीरसंस्थान सुन्दर सुदृढ बने हुये हैं अत्यल्प रूक्ष भोजन करनेपर भी उनके शरीरोंमेंसे लावण्य फटा पडता है, जबकि दुर्व्यवहारी धनपतियोंके मुख या शरीर हतकान्ति हो रहे हैं । पुण्य या सदाचार तो अभ्यन्तर कारण है ही । किन्तु मुखमें लार और शरीरमें धातु, उपधातुओं की पुष्कल उत्पत्ति ही लावण्य, सौन्दर्य, तृप्ति, स्वाद, सुख आदि प्रधान कारण होजाती हैं । देवोंके शरीरमें बडी शारीरिक अमृत रसोपम लारसारिखे पदार्थोंकी सुलभ प्राप्ति विद्यमान है । अतः वे रोटी, दाल, फल, मेवा, दूध, घृत, पेडा, घेवर, मोदक, आदि बहिर्भूत पदार्थोंका कवल आहार कदाचित् भी नहीं करते हैं । वस्तुतः आनन्दोत्पादक सम्पूर्ण सामग्रियां शरीरमें ही

विद्यमान हैं। और सच पूछो तो अक्षयसुखका भण्डार आत्मा ही है। शरीरकी माता या पितामही होरहीं आहारवर्गणाओंमें वह आत्माको सुख देनेवाली शक्ति न है और न थी। प्रत्युत आत्माने ही शरीरको सुखोत्पादक शक्तिकी थोडी भीख दे दी है। बस, उसी उपचरित असद्भूतनय अनुसार आत्माके सुखसे होरहे शारीरिक सुखको अपना रहा यह जीव सोंठकी गांठ मिलनेपर बन गये पंसारी चूहेके समान बहिरात्मा बन रहा है। तभी तो मुमुक्षु, व्रती, इन्द्रियजन्य सुखोंपर लात मारकर अतीन्द्रिय स्वात्मोपलब्धिजन्य सुखका रसास्वादन करनेके लिये उद्यत रहते हैं। प्रकरणमें यह कहना है कि देवोंका रसना इन्द्रियजन्य सुख बहिर्भूत पदार्थोंसे नहीं प्राप्त होकर अपनी शारीरिक प्रकृति अनुसार अपने अभ्यंतर कारणों अनुसार उपज जाता है। तथा हृदयहारी पुष्प, शरीर, आदिकी दिव्य गन्धको सूंघ कर देवोंके घ्राण इन्द्रियजन्य सुख होरहा है। स्वकीय स्थानोंमें होरहीं सुन्दर रचनायें, देव देवांगनाओंके अनुपम सौन्दर्य, मध्यलोक सम्बन्धी अनेक द्वीप समुद्रोंकी स्वर्गीय छटायें, आदिको निरख कर देवोंके चक्षुः इन्द्रिय द्वारा उपभोग प्रवर्त रहे हैं। स्वयं गाना बजाना अथवा अन्योंके गीत, वादित्र, आदिका श्रवण कर श्रोत्र इन्द्रियजन्य सुख उनके उपजते रहते हैं। परिशेषमें जाकर सब जीवोंको " जगत् कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थं " के अनुसार वैराग्य भावनापर ही झुक जाना आवश्यक पडेगा, तभी तो स्वर्गोंमें ऊपर ऊपर या अहमिन्द्रोंमें गति, शरीर, परिग्रह, अभिमानकी, हीनता है। अहमिन्द्र देवोंकी तो ऐसी विलक्षण परिणति है कि जाने आने या विक्रिया करनेकी परिपूर्ण सामर्थ्य होते हुये भी वे तीर्थंकरोंके पंचकल्याणक उत्सवोंमें भी मध्यलोकमें नहीं उतरते हैं। वहीं स्वस्थानसे सात पैंड चलकर भगवान्को नमस्कार कर लेते हैं। यहां वहां बहुत भ्रमण करना कुछ अच्छा थोडा ही है। मन्दकषाय या शुक्ललेश्याकी जातियां नाना प्रकारकी हैं। सर्वार्थसिद्धिके एक भवतारी देवोंमें तो परम शुक्ललेश्या सांसारिकसुखोंकी चरमसीमापर पहुंचाती हुई उत्तरभवसम्बन्धी परम वैराग्य भावनाओंकी प्रयोजक हो रही है। उत्तरभवमें सम्पूर्ण पुण्यपापोंका क्षय करानेवाली और इस भवमें उत्कृष्ट पुण्यकी सामग्री बन रही वह सर्वार्थसिद्धिके देवोंकी भेद विज्ञानसे पगी हुई सुखानुभूति तो चमत्कारपूर्ण है। " किमाश्चर्यमतः परम् " भोगोंका चरमफल उपेक्षा है। अस्तु, इस वार्तिकमें चार निकायोंके इन्द्रियजन्य सुखका सूचन कर दिया है।

चतुर्णिकाया देवाः कायप्रवीचाराः इति संबंधाच्चतुर्ष्वपि निकायेषु सुराणां सुरतसुखविशेषस्य कथनं गम्यते आ ऐशानादिति वचनात्। तर्हि वैमानिकनिकाये सर्वसुराणां कायप्रवीचारप्रसक्तौ तन्निवृत्त्यर्थं ऐशानादिति वचनमभ्युपगंतुं युक्तं।

देवोंकी चार निकायें हैं यों अनुवृत्त किये गये पहिले सूत्रके साथ काय प्रवीचारवाले देवोंका वाचक " कायप्रवीचाराः " इस शब्दका सम्बन्ध कर देनेसे चारों भी निकायोंमें देवोंके सुरत सम्बन्धी

सुखविशेषका कथन करना जान लिया जाता है " आ ऐशानात् " ईशान स्वर्गतक ऐसा वचन करनेसे मर्यादा बांध दी गयी है, तब तो चौथी वैमानिक निकायमें सम्पूर्ण देवोंके मनुष्य, पशु, पक्षियोंके समान शरीर द्वारा मैथुनप्रवृत्तिका प्रसंग प्राप्त हो जानेपर उस प्रसंगकी निवृत्तिके लिये ऐशानात् इस प्रकार सूत्रकारका वचन स्वीकार करनेके लिये युक्तिपूर्ण है। वैमानिक, भवनवासी और व्यन्तर ये तीनों जातिके देव उत्तरोत्तर असंख्यात गुणे अधिक हैं। हां, व्यन्तरोंसे ज्योतिषी देव तो संख्यात गुणे अधिक हैं। परिशिष्ट सम्पूर्ण वैमानिक देवोंसे असंख्यात गुणे देव केवल सौधर्म और ऐशान दो स्वर्गोंमें बस रहे हैं। इस सूत्रद्वारा आदिकी तीनों निकायें और चौथी वैमानिक निकायमेंसे ईशान स्वर्गवासी देवोंतक एक सांसारिक विशिष्ट सुख माने जा रहे कायप्रवीचारका प्रतिपादन हो चुका है। अब सनत्कुमार आदि अच्युत पर्यन्त वैमानिक देवोंके मिथुनजन्य सुखविभागका प्रतिपादन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ॥ ८ ॥

उक्त देवोंसे शेष बच रहे अच्युत पर्यन्त देव तो परस्पर स्वकीय नियत देव, देवियोंके स्पर्शमें, रूप अवलोकनमें, शब्दश्रवणमें और मनोजन्य मानसिक विचारोंमें, मैथुनोपसेवन क्रियाको धार रहे हैं। अर्थात्—उत्तम देवोंमें मैथुनप्रवृत्ति उत्तरोत्तर न्यून होती गयी है। देव सदा प्रवीचारमें ही लवलीन नहीं रहे आते हैं। मनुष्य, स्त्री, पशु, पक्षियोंमें भी सर्वदा ही काम वेदना जागरूक नहीं रहती है। किन्तु अन्तरंग या बहिरंग कारणोंके मिलनेपर कामवासनायें जग जाती हैं या जगा ली जाती हैं। सभी जीवोंको चाहे वे धर्मात्मा न भी होंय कामसेवनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक आवश्यक कर्तव्य बने रहते हैं। मनुष्योंको शरीरप्रकृतिके अनुसार शौच, स्नान, भोजन, शयन आदि कार्योंमें आवश्यक कालयापन करना पड़ता है। अनेक पशु, पक्षी, तो स्वकीय नियत ऋतुओंके अतिरिक्त कितने ही महीनोंतक अरतिवान् उदासीन रहे आते हैं। हां, श्रृंगारी पुरुषोंको आत्मबलकी न्यूनता हो जानेसे विषयवासनायें अधिक सताती हैं। देवदेवियोंके भी जब कभी कामवासनायें उपजती हैं तो वे परस्पर स्पर्श, रूपावलोकन, आदि द्वारा लौकिकतृप्तिको प्राप्त होते हुये प्रीतिलाभ कर लेते हैं। " षण्णामिन्द्रियाणां स्वेषु स्वेषु विषयेषु आनुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः " स्पर्शन इन्द्रियके समान या उससे भी अधिक कामसेवन इन अन्य इन्द्रियों द्वारा भी होता है, यह बात इस सूत्रसे ध्वनित हो जाती है।

शेषा इति वचनं उक्तावशिष्टसंप्रत्यर्थं, ते चोक्तावशिष्टाः सानत्कुमारादयः कल्पोपपन्ना एवाच्युतान्ताः परेऽप्रवीचारा इति वक्ष्यमाणत्वात् कल्पोपपन्नपर्यन्तानामेव द्वादशविकल्पत्वेन निर्दिष्टानां प्रकरणाच्च।

इस सूत्रमें " शेषाः " यह वचन तो कहे जा चुके भवनत्रिक और सौधर्म, ईशानवासी देवोंसे अवशिष्ट बच रहे कल्पवासी देवोंका संग्रह करनेके लिए है और वे उनोंसे अवशिष्ट रहे देव तो तृतीय स्वर्गवासी सानत्कुमार आदिक अच्युत स्वर्गपर्यन्तके कल्पोपपन्न देव ही ग्रहण किये जाते हैं। क्योंकि अग्रिम सूत्र द्वारा परले कल्पातीत देव प्रवीचाररहित हैं। यों परिभाषण भविष्यमें किया जानेवाला है। तथा " दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः " इस सूत्र द्वारा बारह विकल्पधारीपने करके कहे जा चुके कल्पोपपन्नपर्यन्त स्वर्गवासी देवोंका ही यहां प्रकरण प्राप्त हो रहा है। अतः कल्पातीत देवोंमें कोई अतिप्रसंग नहीं हो पाता है।

नन्वेवं के स्पर्शप्रवीचाराः के च रूपादिप्रवीचारा इति विषयविवेकापरिज्ञानादगमकोऽयं निर्देश इत्याशंकायामिदमभिधीयते।

यहां किसीकी शंका है कि इस सूत्र करके आधारभूत विषयोंका पृथक्, पृथक् रूपसे विचार नहीं किया गया है कि इस प्रकार कौनसे देव तो स्पर्श द्वारा मैथुनप्रवृत्तिको धार रहे हैं, और कौनसे देव भला रूप, शब्द, आदि करके कामपुरुषार्थमें स्वलीन हैं ? यों विशेषतया परिज्ञान नहीं होनेसे यह सूत्रका निर्देश करना अभिप्रेत अर्थका गमक नहीं है। यों आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य द्वारा यह समाधान वचन कहा जाता है।

ते स्पर्शादिप्रवीचाराः शेषास्तेभ्यो यथागमं।
ज्ञेयाः कामोदयापायतारतम्यविशेषतः॥ १॥

उन उक्त देवोंसे शेष रहे वे कल्पवासी देव तो स्पर्श आदिसे मैथुनोपसेवन करनेवाले हैं। इस सिद्धान्तको आम्नायानुसार प्राप्त हुये आगमप्रमाणका अतिक्रमण नहीं कर समझ लेना चाहिये। चारित्रमोहनीय सम्बन्धी वेदकर्मके उदय या उदीरणास्वरूप कामोदयके अपाय (विनाश) की तरतमरूपसे विशेषता देखी जाती है। अतः स्पर्श, रूप, शब्द, इन उत्तरोत्तर विप्रकृष्ट होरहे सहकारियों द्वारा देवोंमें ऊपर ऊपर प्रवीचार अल्प अल्प है। अथवा यों अनुमान कर लेना कि वे उपरिम चौदह स्वर्गवासी देव (पक्ष) कामवेदनाकी न्यूनताके तारतम्य अनुसार स्पर्श, रूप, आदिमें प्रवीचार करनेवाले हैं (साध्य) क्योंकि काम वेदनाके सम्पादक वेदकर्मोंके उदयका नाश होजानेकी तरतमताका विशेष होनेसे (हेतु)। अर्थात्—लुखटिया, सिरकटा, ल्हिरिया, चीता, सिंह, इनको जैसे उत्तरोत्तर भय हीन हीन है या कृपण, सकुटुम्बधनी, अधमर्ण, व्यापारी, पण्डित, भोगभूमियां, देव, सम्यग्दृष्टि, मुनिमहाराज, उपशमश्रेणीवाले, इन जीवोंमें जैसे भय उत्तरोत्तर न्यून है अथवा शृङ्गारी, रसिया, उपभोक्ता सद्गृहस्थ, मल्ल, अणुव्रती श्रावक, उदासीन, इनमें उत्तरोत्तर कामवेदना स्वल्प है, इसी प्रकार सानत्कुमार आदि देवोंमें ऊपर ऊपर कामपुरुषार्थकी न्यूनता है। कामकी हीनताके तारतम्यसे सुखकी प्रकर्षताका तारतम्य अविनाभावी है।

ते देवाः शेषाः सानत्कुमारादयो यथागमं स्पर्शादिप्रवीचाराः प्रतिपत्तव्याः । सानत्कुमारमाहेंद्रयोः स्पर्शप्रवीचारा देवास्तेषामुत्पन्नमैथुनसुखलिप्सानां समुपस्थितस्वदेवीशरीरस्पर्शमात्रात्प्रीत्युत्पत्तौ निवृत्तेच्छत्वोपपत्तेः । ब्रह्मब्रह्मोत्तरलांतवकापिष्ठेषु रूपप्रवीचाराः, स्वदेवीमनोज्ञरूपावलोकनमात्रादेव निराकांक्षतया प्रीत्यतिशयोपपत्तेः । शुक्रमहाशुक्रसतारसहस्रारेषु शब्दप्रवीचाराः, स्वकांतामनोज्ञशब्दश्रवणमात्रादेव संतोषोपपत्तेः । आनतप्राणतारणाच्युतकल्पेषु मनःप्रवीचाराः, स्वांगनामनःसंकल्पमात्रादेव परमसुखानुभवसिद्धेरिति हि परमागमः श्रूयते ।

उक्त देवोंसे परिशिष्ट हो रहे वे सानत्कुमार माहेंद्र आदिक देव तो आम्नाय प्राप्त आगम अनुसार स्पर्श, रूप, आदिमें प्रवीचार करनेवाले समझ लेने चाहिये । वह आगमविधि इस प्रकार है कि सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गोंमें निवास करनेवाले देव स्पर्श करनेमें मैथुनोपसेवन करनेवाले हैं । क्योंकि मैथुनजन्य सुखके प्राप्त करनेकी अभिलाषा उत्पन्न होते ही उन देवोंके उसी समय उपस्थित हो गयीं निजदेवियोंके शरीरका केवल स्पर्श यानी आलिंगन या स्तन, मुखचुम्बन आदि किया कर लेनेसे प्रीति उत्पन्न हो चुकनेपर उन देवोंकी मैथुन इच्छा की निवृत्ति होनारूप कार्य सध जाता है । ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ठ स्वर्गोंमें निवास कर रहे देव तो रूपमें प्रवीचार करनेवाले हैं । क्योंकि मैथुनकृत्यकी अभिलाषा होते ही उसी समय निकटप्राप्त हुयीं अपनी सुन्दर देवियोंके मनोज्ञ रूप यानी सुन्दर वेष, विलास, विभ्रम, चातुर्य, शृङ्गार, आकार, सौन्दर्यका, केवल अवलोकन कर लेनेसे ही स्वकीय भोगाकांक्षाकी निवृत्ति होते हुये अतिशय युक्त प्रीति उपजनारूप कार्य बन जाता है । तथा नौवें, दशवें ग्यारहवें, बारहवें, शुक्र, महाशुक्र, सतार, सहस्रार, स्वर्गनिवासी देवोंके शब्दमें ही प्रवीचार होता है । अपनी अपनी रमणीय कान्ताओंके मनोज्ञ शब्दोंके सुनने मात्रसे संतोषकी सिद्धि हो जाती है । देवियोंके मधुर संगीत, कोमल हास्य, भूषण शब्द, नृत्यकी झंकार आदिका श्रवण कर पूर्व देवोंकी अपेक्षा इनको अत्यधिक प्रेम रस उपजता है । आनत, प्राणत, आरण, अच्युत, इन स्वर्गोंमें देव मनमें ही प्रवीचार करनेवाले हैं । अपनी अंगनाओंके मानसिक संकल्प मात्रसे ही उक्त देवोंकी अपेक्षा अत्यधिक वैषयिक सुखका अनुभव साध लेते हैं । इस प्रकार प्राचीन परम आगम वाक्य सुने जा रहे हैं । भावार्थ—वर्तमानमें भी इस ढंगसे मनुष्य या स्त्रियोंमें अंशरूप करके यों कामपुरुषार्थ सेवन देखा जाता जाता है । परस्पर स्त्रीपुरुषोंके सुन्दर अवयवोंकी टकटकी लगा कर निरखने वाले रसिकों या चक्रभक्त धार्मिकोंमें चाक्षुष मैथुन बहुत पाया जाता है । तीव्र वेदना या चलाकर उपजायी गयी वासनाओंके अनुसार कायप्रवीचारमें प्रवृत्ति होती है । इसके अतिरिक्त समयोंमें कामवेदनाका अल्प आघात होनेकी दशामें स्पर्श प्रवीचारसे ही स्त्रीपुरुषोंकी इच्छायें परिपूर्ण हो जाती हैं । कदाचित् अत्यल्प वेदनाकी दशाओंमें रूपावलोकन, परस्पर संभाषण, मनोज जन्य मानसिक विचारोंसे ही तृप्ति हो जाती है । उत्तरोत्तर ढलती हुई अवस्थामें

शारीरिक शक्तिकी हानिशीलता अनुसार अर्द्धवृद्ध या वृद्धजनोंमें दृष्टान्तरूपेण उक्त सूत्रार्थ घटित हो जाता है। इसी प्रकार देवोंमें भी उक्त सूत्रार्थको युक्तिपूर्वक घटित कर लेना चाहिये। जो अज्ञ पुरुष शरीरस्पर्श या शुक्ररजोमोचनसे ही प्रीति उपजना स्वीकार करते हैं, उनका सिद्धान्त भ्रममूलक है। लौकिक प्रीतियोंकी उत्पत्तिके अनेक साधन हैं। वस्तुतः विचारा जाय तो विषयोंसे उत्पन्न हुआ सुख कोरा सुखाभास है। जितनी जितनी विषयतृष्णा न्यून है उतना ही उतना यह जीव अतीन्द्रिय सुख को परखने लग जाता है। तभी तो देवोंके बहिरंग आलिंगन आदि सामग्री जितनी जितनी हीन होती जायगी उतना ही उतना वे लौकिक सुखकी ओर बढते जायेंगे। अत्यधिक झंझटोंसे लौकिक सुखोंमें भी एक प्रकारका विघ्न ही पड जाता है। श्रृंगारी कवि भी कहता है कि " न पथ्यं नेपथ्यं बहुत-रमनंगोत्सवविधौ " कामोत्सवमें बहुत झंझटे उठा लेना अडचनोंको निमंत्रण देना है। छत्तीस प्रकारके व्यंजनोंकी अपेक्षा एक बारमें चार पांच सुन्दर व्यंजन ही अधिक तृप्तिकारक समझे गये हैं। हां, भिन्न समय न्यारी न्यारी छाकोंमें छत्तीस क्या छत्तीस सौ व्यंजन भी विचित्ररुचियोंके अनुसार तृप्तिकारक होसकते हैं। भूखसे कुछ कम भोजन करनेमें जो आनन्द है वह नाकतक भोजनको ठूंस लेनेमें नहीं है। जाडेकी ऋतुमें अत्यल्प शीतबाधा सहते हुये उपयोगी परिमित वस्त्रों द्वारा उपभोग करना जितना स्वास्थ्यप्रद होते हुये मनोहारी है उतना आवश्यकतासे अधिक गूदरा लादे रहना सुखसम्पादक नहीं है। परिशेषमें जाकर ग्रीष्म ऋतुमें जैसे वस्त्रोंका परित्याग ही वांछनीय होजाता है, उसी प्रकार ठोस सुखको चाहनेवाले जीवोंके लिये झंझटोंको हटाकर केवल आत्मस्वरूप इकला रहजाना ही आदरणीय होजाता है। अलम्——पूर्वपूर्ववर्ती देवोंके अवलम्ब उत्तरोत्तर देवोंमें नहीं है। किन्तु उत्तरोत्तर देवोंके स्पर्श, रूप, शब्द, आदिमें होनेवाले प्रवीचार तो पूर्व पूर्व देवोंके आवश्यक रूपसे पाये जाते हैं। यानी जो देव रूप प्रवीचारवाले हैं वो स्पर्शप्रवीचारवाले नहीं हैं। किन्तु स्पर्शप्रवीचारवाले देव रूपप्रवीचार, शब्दप्रवीचार और मनःप्रवीचारोंको भी धारते हैं। परमागम द्वारा की गयी व्यवस्था सर्वथा निर्दोष है।

ततस्तदनतिक्रमेणैव विषयविवेकविज्ञानात्तागमकोऽयं निर्देशः। पुनः प्रवीचारग्रहणादिष्टाभिसंबंधप्रत्ययादन्यथाभिसम्बन्धे चार्षविरोधात्। संभाव्यंते यथागमं स्पर्शादिप्रवीचारा देवाः कामोदयापायस्य चारित्रमोहक्षयोपशमविशेषस्य तारतम्यभेदान्मनुष्य विशेषवत्।

तिस कारणसे उस आप्तोक्त परमागमका अतिक्रमण नहीं करके ही देवोंमें स्पर्श, आदि विषयोंका विभाग जान लिया जाता है। अतः यह सूत्रकारका कथन अबोधक नहीं है। " काय प्रवीचाराः आ ऐशानात् " इस पूर्वसूत्रसे यहां प्रवीचार शब्दकी अनुवृत्ति हो सकती है। फिर जो सूत्रकारने उस सूत्रमें प्रवीचार ग्रहण किया है उस व्यर्थ पड रहे प्रवीचार शब्दके ग्रहणसे आगम विधि अनुसार इष्ट अर्थका अभिसम्बन्ध कर लेना प्रतीत हो जाता है। यदि दो दोमें या चार चार स्वर्गोंमें यों अन्य प्रकारोंसे स्पर्श रूप आदि विषयक प्रवीचारोंका अभिसम्बन्ध किया जावेगा तो ऋषि

प्रोक्त सिद्धान्तग्रन्थोंसे इस सूत्रका विरोध ठन जायगा। स्वल्प भाषण करनेवाले उदात्त उद्भट विद्वानोंके शब्द व्यर्थ नहीं जाते हैं। अतः प्रवीचार शब्दकरके इष्ट अर्थकी ज्ञप्ति कर ली जाती है। इस सूत्रार्थका यों अनुमानवाक्य बना लेना कि सानत्कुमार प्रभृति देव (पक्ष) स्पर्श, रूप आदि विषयक मैथुन प्रवृत्तियोंको धार रहे आगमविधि अनुसार जाने गये सम्भावित हो रहे हैं (साध्यदल) कामसम्पादक वेदकर्मके उदय या उदीरणाके विनाश स्वरूप चारित्रमोहनीयकर्म प्रतियोगिक विशेष क्षयोपशमकी तरतमताका भेद होनेसे (हेतु) मनुष्य विशेषोंके समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्— उत्तरोत्तर अधिक धर्मात्मा बन रहे सम्यग्दृष्टि, पाक्षिकश्रावक, दर्शन प्रतिमा, व्रतप्रतिमा, दिवाऽभुक्त प्रतिमावाले श्रावकोंमें जैसे क्षायोपशमिकभाव अणुव्रत ब्रह्मचर्य है। " देसविरदे पमत्ते इदरे य खओवसमियभावोदु, सो खलु चारित्तमोहं पडिच भणियं तहा उवरिं " यों गोम्मटसार अनुसार पांचवें देश विरत गुणस्थानमें चारित्रमोहनीयकी अपेक्षा क्षायोपशमिकभाव माना गया है। यद्यपि नोकषायकी वेद नामक प्रकृति देशघाति है। तथापि देशघातियोंमें अपेक्षाकृत सर्वघातिस्पर्धकोंका सद्भाव पाया जानेसे पाक्षिक आदिमें सर्वघातिस्पर्धकोंका उदयाभाव क्षय और भविष्यमें उदय आनेवाले सर्वघाति स्पर्धकोंकी उदीरणा नहीं हो सकने योग्य वहांका वहीं उपशम बना रहना तथा देशघाति वेद प्रकृतिके निषेकोंका उदय यों क्षयोपशम बन जाता है। यद्यपि देवोंमें कोई व्रत नहीं है। देशविरतके नहीं होनेसे उनके क्षायोपशमिकचारित्र कहनेके लिये जी हिचकिचाता है। फिर भी अन्तरंग कारणवश कामोदय उत्तरोत्तर देवोंमें अत्यल्प है। अतः कषायोंकी मन्दता होनेसे उन देवोंके निस्सन्देह चारित्र मोहका क्षयोपशम कहनेके लिये सहर्ष उत्साह हो जाता है। जब कि गोम्मटसारमें ही कहीं दर्शन मोह क्वचित् चारित्रमोहका अवलम्ब लेकर दूसरे गुणस्थानमें पारणामिक भाव और क्षपकश्रेणीमें क्षायिक भाव जो कि सिद्धोंमें कहने चाहिये भणित किये हैं, तो अन्तरंग कर्मोंकी शक्ति अनुसार मैथुनसंज्ञाकी उत्तरोत्तर हानिकी ओर झुकनेवाले जीवोंके चारित्रमोहका क्षयोपशम कहना अनुचित नहीं है। अतः यह हेतु पक्षमें वर्त जाता है। सर्वथा प्रवीचाररहित सर्वार्थसिद्धिके देवोंको भले ही चतुर्थ गुणस्थानवर्ती कहते रहो और कामतीव्राभिनिवेश नामक अतीचारको धार रहे दर्शन प्रतिमावाले स्वस्त्री-आसक्त मनुष्यको भले ही पंचमगुणस्थानवर्ती कहे जाओ, हम टोकते नहीं हैं। किन्तु वेदकर्मोंके उदय, उदीरणा, पर सूक्ष्म लक्ष्य देनेसे सर्वार्थसिद्धिके देवों या लौकान्तिक देवोंमें अखण्ड ब्रह्मचर्य पाया जा रहा है। श्लोकवार्तिकालंकार उक्त सिद्धान्तका पोषक प्रतीत हो रहा है। भगवान्का अभिषेक करनेवाले पुरुषोंका या व्रतधारी श्रावकोंका रस, रुधिर, मल, मूत्र,मयशरीर भले ही पवित्र आत्मारूप उपाधिकी अपेक्षा व्यवहारदृष्टिसे उपचरित पवित्र मान लिया जाय, किन्तु सौधर्म इन्द्र, लौकान्तिक, सर्वार्थसिद्धिस्थ इन देवोंके धातु, उपधातु, मलमूत्रविहीन शरीरों अथवा एकेंद्रिय जीवके वृक्ष, घास, जल, अग्नि शरीरोंको उपचारकी शरण लिये विना ही पवित्र कहनेके लिये उत्साहके मारे जीव बांसों उछलता है। कर्म, पुद्गल, आत्मा, निज परिणाम, उपादान कारण आदिकी

शक्तियोंपर विचार करनेसे उक्त सिद्धान्तका मर्मरहस्य स्पष्ट दीख जाता है । अव्रती उच्चवर्ण और व्रती नीचवर्णके तत्त्वको अथवा अहिंसक धीवर या चाण्डाल और हिंसक ब्राम्हणके तत्त्वको समझने-वाले सहृदय उदात्त विद्वानोंको उक्त सिद्धान्तके सन्मुख सिर झुकाना पडेगा । अनुक्त भी चारित्र सिद्धोंमें रखना पडता है । देवोंके क्षायोपशमिक चारित्रका निरूपण कर देनेवाले निर्भीक श्री विद्यानन्द आचार्य महाराजसे अपनी आत्माके उदात्तभाव बनानेकी शिक्षा लो—इयलम् पल्लवितेन । समझनेवालोंके लिये संकेतमात्र पर्याप्त है । लज्जालुओंको समुद्र, नद, कूपकी आवश्यकता नहीं है । स्वल्प जल ही पापका संकल्पपूर्वक त्याग करनेके लिये इष्टसाधक हो जाता है ।

किसी जिज्ञासुका प्रश्न है कि गुरुजी महाराज, यदि सोलह स्वर्गतक इस प्रकार व्यवस्था है तो बताओ कि ऊपर ग्रैवेयक विमानवासी अहमिन्द्रोंके किस प्रकारका सुख प्रवर्तता है ? यों प्रश्न होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अहमिन्द्रोंके सुखका निर्णय करनेके लिये अग्रिम सूत्रको यों कह रहे हैं ।

परेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥

सोलह स्वर्गोंके ऊपर नवग्रैवेयक, नव अनुदिश, और पांच अनुत्तर विमानोंमें उपज रहे परले अहमिंद्र देव तो मैथुनप्रवृत्तिसे सर्वथा रहित हैं । मनसे भी मैथुन सुखके अनुभवसे रीते होरहे वे कल्पातीत अहमिन्द्र परमहर्षका अनवरत अनुभव करते रहते हैं । अर्थात्–किसीको भूंख या प्यास लगे उसकी षट्रस पूर्ण उत्तम, उष्ण, भोजनों या मधुर शीतल जल द्वारा निवृत्ति करके जो सुखका अनुभव किया जाता है, वह सुख अविच्छिन्न, अनवरत, ठोस, निर्बाध, नहीं है । केवल रोगका प्रतीकार मात्र है । हां, यदि किसी केवलज्ञानीको भूंख, प्यास, या नींद, रोग ही नहीं है, उसके अविच्छिन्न परम-सुख उच्च श्रेणीका माना जाता है । इसी प्रकार कल्पातीत देवोंके कामवेदनाके प्रतीकारकी झंझटोंमें नहीं पडनेके कारण सतत परम हर्ष होता रहता है ।

परे ग्रहणं कल्पातीतसर्वदेवसंग्रहार्थं । ततोऽनिष्टकल्पनानिवृत्तिः । अप्रवीचारग्रहणं प्रकृष्ट-सुखप्रतिपत्त्यर्थं, ते न मनःप्रवीचाराः । तेभ्यः परे कल्पातीताः सर्वदेवाः प्रवीचाररहिता इत्युक्तं भवति ।

इस सूत्रमें परे शब्दका ग्रहण करना तो सम्पूर्ण कल्पातीत असंख्याते देवोंका संग्रह करनेके लिये है । तिस कारणसे अनिष्टकल्पनाओंकी निवृत्ति होजाती है । अन्यथा यानी परे शब्दका ग्रहण यदि नहीं किया जायगा तो कतिपय स्वर्गवासी देवोंमें या कुछ ही कल्पातीत देवोंमें प्रवीचाररहितपनकी अनिष्टकल्पना की जासकती है । इस सूत्रमें अप्रवीचार शब्दका ग्रहण करना तो अहमिन्द्रोंके होरहे प्रकृष्ट सुखकी प्रतिपत्ति करानेके लिये है । वे देव मनसे भी प्रवीचार करनेवाले नहीं हैं । यद्यपि प्रथम, द्वितीय, तृतीय, या चतुर्थ गुणस्थानके भावोंको धार रहे ग्रैवेयकवासी अहमिन्द्र और केवल चतुर्थ

गुणस्थानवर्ती नव अनुदिश, पांच अनुत्तर विमानवासी अहमिन्द्रोंके वेदकर्मका उदय है। द्रव्यवेद अनुसार देवोंके पुरुषोचित उपांग भी हैं। किन्तु आत्मीय पुरुषार्थजन्य विलक्षण परिणतियोंके नहीं करनेसे द्रव्यवेद और भाववेद व्यर्थ पड जाते हैं। छठे, सातवें, आठवें, गुणस्थानोंमें भी तो द्रव्यवेद और भाववेदका सद्भाव है। फिर भी देवोंसे अनन्तगुणा निष्काम सुख साधुओंके माना गया है। ब्रह्मचर्य महाव्रतकी बडी महिमा है। कामको अनन्तकालतकके लिये जीतनेवाले क्षीणकषाय या केवलज्ञानियोंके परम अतीन्द्रिय सुख अनन्तानन्त विद्यमान है। यद्यपि स्त्री, पुरुषोंके मिथुन सम्बन्धी पुरुषार्थजन्य प्रकृति तो वृक्ष, घास, कीट, नपुंसक, नारकी आदिमें भी नहीं है, फिर भी इनके कामजन्य तीव्र दुःखवेदना हैं, जोकि अहमिन्द्रोंके सर्वथा नहीं है। इस सूत्रका अर्थ इस प्रकार कह दिया गया होजाता है कि उन तीन निकाय सम्बन्धी और स्वर्गवासी देवोंसे परे होरहे सम्पूर्ण कल्पातीत देव तो मैथुनसेवाके घनपंक (दलदल) में निमग्नता (फंसे रहना) स्वरूप प्रवीचारसे रीते हैं। अर्थात्—अनेक मनुष्य धर्मात्मा नहीं होते हुये भी जन्मसे ही स्वभावतः कामवासनाओंसे दूर रहते हैं। उस दशामें उनको बडा गम्भीर सुख मिलता है। प्रथम गुणस्थानवर्ती आधुनिक वीर पुरुषोंमें भी कदाचित् प्रवीचाररहित भाव पाये जाते हैं। कोई आश्चर्य नहीं है।

कुतः पुनरुक्तेभ्यः परेऽप्रवीचारा इत्याह।

अब श्री विद्यानन्द स्वामीके प्रति किसीका प्रश्न है कि महाराज, बताओ, कहे जाचुके देवोंसे परले देव फिर प्रवीचारसे रहित भला किस युक्तिसे सिद्ध हो जाते हैं ? आगमउक्त विषयोंके ऊपर युक्तियोंके प्रवर्त जानेसे ही आगमके ऊपर अनुग्रह होसकता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिमवार्तिकोंको समाधानवचनस्वरूप कह रहे हैं। उनको सुनो, समझो।

तेभ्यस्तु परे कामवेदनायाः परिक्षयात्।
सुखप्रकर्षसंप्राप्तेः प्रवीचारेण वर्जिताः ॥ १ ॥
संभाव्यंते च ते सर्वे तारतम्यस्य दर्शनात्।
नराणामिह केषांचित् कामापायस्य तादृशः ॥ २ ॥

उन उक्त देवोंसे परली ओरके वे विवादापन्न सम्पूर्ण कल्पातीत देव तो (पक्ष) मैथुनोपसेवनसे वर्जित होरहे सम्भव रहे हैं (साध्य) कामवेदनापीडाका परिक्षय होजानेसे (हेतु) काम सुखको अत्यन्त तुच्छ या मैथुनकर्मको अतीव हानिकारक समझ रहे और व्यायाम, दुग्धपान, निश्चिन्तता, घृतमेवा भोजन, आदिके भोगी मल्लके समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस अनुमानसे अहमिन्द्रोंमें प्रवीचाररहितपना साध दिया जाता है। तथा सुखके प्रकर्षकी भले प्रकार प्राप्ति होजानेसे (हेतु) अहमिंद्रोंके

कामवेदनाका परिक्षय साध दिया जाता है। यहां वर्तमानकालमें भी किन्हीं किन्हीं मनुष्योंके तिस प्रकारके कामके विनाशका तारतम्य देखा जाता है। अर्थात्–वर्तमानमें सम्पूर्ण युवा पुरुष कामुक ही होय ऐसा कोई अवधारण नहीं है। कई पुरुष तो जन्मपर्यंत कामसे नहीं सताये देखे गये हैं। हां, स्त्रियोंके मासिकधर्म होनेके कारण मानसिक कामविकारोंसे रहितपना दुर्लभ है। " इगि पुरिसे बत्तीसं "। तभी तो देवोंकी गणनासे बत्तीस गुनी भी गिनतीमें असंख्याती देवियां प्रवीचाररहित नहीं कही गयी हैं। आर्यिका भी उत्कृष्टसंयमको प्राप्त नहीं कर सकती है। किन्तु धीररसप्रेमी, उदासीन, शान्तरसी, पुरुषोंमें कामवेदनाके विनाशकी तरतमता देखी जाती है। इस हेतुद्वारा विवादापन्नजीवोंमें प्रवीचारसे रहितपना साध दिया जाता है। जैसे अनेक पुरुष सदासे ही श्रृंगार रसके प्रेमी होते हैं, तद्वत् अनेक जन कामरससे सर्वांश उदासीन रहनेवाले भी देखे जा रहे हैं। जब कि किन्हीं किन्हीं मनुष्योंके यहां वैसी कामवेदनाका अपाय है। अतः वे सभी अहमिन्द्र देव विचारे प्रवीचारसे रहित हो रहे सम्भव जाते हैं।

विवादापन्नाः सुराः कामवेदनाक्रांताः सशरीरत्वात् प्रसिद्धकामुकवत् इत्ययुक्तं कामवेदनापायस्य शरीरित्वेन विरोधाभावात्। केषांचिदिहैव मनुष्याणां मंदमंदतमकामानां विनिश्चयात् कामवेदनाहानितारतम्ये शरीरहानितारतम्यदर्शनाभावात् प्रक्षीणशेषकल्मषाणामपि शरीरिणां प्रमाणतः साधनात्।

जगत्वर्ती सम्पूर्ण देव देवियों यहांतक कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश देवोंको भी मैथुनोपसेवी स्वीकार कर रहा कोई पौराणिक पण्डित आक्षेप करता है कि विवादमें प्राप्त हो रहे कल्पातीत देव (पक्ष) कामजन्य पीडासे आक्रान्त हैं (साध्य दल) । शरीरसहित होनेसे (हेतु) वेश्यासक्त या परस्त्रीगामी कामुकपुरुषके समान (अन्वयदृष्टान्त) । ग्रन्थकार कहते हैं कि युक्ति व्याप्तियोंकी झपटोंको नहीं झेल सकनेवाला यह आक्षेप तो अनुचित है। क्योंकि कामवेदनाके अपायका शरीरधारीपनके साथ कोई विरोध नहीं है। वर्तमानमें यहां ही किन्हीं किन्हीं मनुष्योंके अतीव मन्द और उससे भी अत्यधिक मन्द हो रही कामप्रवृत्तिका विशेषरूपेण निश्चय हो रहा है। धर्म या व्रतोंका लक्ष्य नहीं रखते हुये भी अनेक मनुष्य मन्दकामी हैं। एक पंजाबके मल्लने यावत् जन्ममें एक ही बार मैथुनसेवन किया था, जिसका फलस्वरूप उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो कि युवा अवस्थामें परिणत होनेपर सम्पूर्ण यूरुपनिवासी मल्लोंका विजेता हुआ, जो इस समय विद्यमान है। सुना जाता है कि एक विशिष्ट जातिका सिंह जन्मभरमें एक ही बार मैथुनसेवा करता है। किन्हीं श्रृंगारी पुरुषोंके परिणाम जैसे विटत्वकी विपुल तृष्णामें डूबे रहते हैं, उसी प्रकार अनेक उदासीन जीवोंके परिणाम स्वभाव हो से कामरहित प्रतीत हो रहे हैं। कामवेदनाकी हानिका तारतम्य होनेपर शरीरकी हानिके तारतम्यका दर्शन नहीं हो रहा है। यानी कामवेदनाके हीन हीन होते होते जीवोंके शरीरकी भी हानि होती जाय ऐसा नियम नहीं है। बहुभाग स्थलोंमें तो इसके विपरीत हीन, हीन,

रुग्ण, क्षीण, शरीरधारी श्रृंगार रसिक पुरुषकी अपेक्षा वीर, योद्धा, मल्ल, प्रतिमल्ल पुरुषोंके शरीर दृढ, पुष्ट, वलिष्ठ, लम्बे चौडे, सुडौल होते हैं। निकृष्ट वेश्याओंके काममय घृणित शरीरोंसे ब्रह्मचारिणी या स्वदेशरक्षणतत्परा लज्जालु स्त्रियोंके शरीर उन्नत देखे जाते हैं। कहांतक कहें, सम्पूर्ण कामवासना सम्बन्धी पापोंका प्रकर्षरूपसे नाश कर देनेवाले या ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन सम्पूर्ण घातिया कर्मोंका प्रक्षय कर चुके श्री जिनेन्द्र देवोंका भी शरीर परिपुष्टता प्रमाणोंसे साधा जा चुका है। जब कि वेदकर्मका या घातियाकर्मोंका प्रक्षय कर चुके शरीरधारी जिनेन्द्र भगवान्के अनन्त बलशाली, सर्वांग सुन्दर, लम्बा चौडा सुडौल, पवित्र, परम औदारिक शरीर है, तो शरीरधारीपन हेतुकी कामवेदनासहितपन साध्यके साथ व्याप्ति नहीं बन पाती है। हां, कामवेदनाकी त्रुटि होते होते साथमें यदि शरीरकी भी त्रुटि होती जाती तो शरीरधारी देवोंका या तीर्थंकरोंका भी कामपीडितपना साधनेमें सहायता मिल सकती थी। किन्तु यहां तो इसके विपरीत प्रस्ताव उपस्थित होगया, अतः पौराणिकोंका हेतु व्यभिचार दोषग्रसित है।

एतेन कामित्वे साध्ये सत्त्वप्रमेयत्वादयोपि हेतवः संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिका इति प्रतिपादितं ततः संभाव्या एव केचिदप्रवीचाराः।

इस उक्त कथन करके इस बातका भी ग्रन्थकारने प्रतिपादन कर दिया है कि कल्पातीत देवोंमें कामीपना साध्य करनेपर कहे जाने योग्य सत्त्व, प्रमेयत्व, जीवत्व, चेतनत्व आदिक हेतुओंकी भी विपक्षसे व्यावृत्ति होना संदिग्ध है। क्योंकि कामसेवी जीवोंके समान मन्दकामी या सर्वथा प्रविचार रहित जीवोंमें भी सत्त्व आदिक हेतु पाये जाते हैं। जब कि व्यभिचारीपुरुष भी कभी कभी तीव्र रोग, गाढ सुषुप्ति, आदि अवस्थाओंमें कामपीडासे वर्जित हैं तो मल्ल, जितेन्द्रिय साधु, महामना त्यागी, क्षीणकषाय आदि जीवोंके विषयमें तो कहना ही क्या है? विपक्षमें हेतुके ठहर जानेका निश्चय नहीं भी होय, किन्तु विपक्षमें वर्तनेका पौराणिकोंको भी सन्देह होजायगा। अतः शरीरधारीपन या सत्त्व आदिक हेतु उस कामपीडितपनको साधनेमें संदिग्ध व्यभिचार हेत्वाभास दोषग्रस्त हैं। तिस कारणसे कोई देव यानी कल्पातीत देव या लौकान्तिक देव बिचारे प्रवीचारसे रहित होरहे सम्भवने योग्य ही हैं, जैसा कि उक्त वार्तिकोंमें कहा गया है।

इत्येवं नवभिः सूत्रैः निकायाद्यंतरस्य या।
कल्पना संशयश्चात्र केषांचित्तन्निराकृतिः ॥ ३ ॥

किन्ही किन्हीं अजैन विद्वानोंके यहां चार निकायोंके अतिरिक्त दूसरे दूसरे ढंगसे देवोंकी दो ही तीन ही अथवा पांच आदिक ही निकाय मानी गयी हैं। लेश्या या देवोंके अन्तर्गत भेद, इन्द्रव्यवस्था,

प्रवीचार आदिकी दूसरे प्रकारोंसे कल्पनायें गढी जारही हैं और किन्हीं किन्हीं पण्डितोंके यहां देवोंकी निकाय, लेश्या, भेद, प्रभेद, आदिका जो संशय होरहा है, यहां चतुर्थ अध्यायकी आदिमें इस प्रकार नौ सूत्रों करके श्री उमास्वामी महाराजने उन सब कल्पनाओं या संशयोंका निराकरण कर दिया है। अर्थात्—उक्त नौ सूत्रोंके प्रमेयमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोष नहीं हैं।

प्रथमेन सूत्रेण तावत्केषांचिन्निकायांतरस्य कल्पना तत्संदेहः चात्र निराकृतिः। द्वितीयेन लेश्यांतरस्य, तृतीयेन संख्यांतरस्य, चतुर्थेन कल्पांतरस्य, पंचमेन तदपवादांतरस्य, षष्ठेनेंद्रसंख्यांतरस्य, सप्तमेनाष्टमेन चानिष्टप्रवीचारस्य, नवमेन सर्वप्रवीचारस्येति नवभिः सूत्रैर्निकायाद्यंतरकल्पनसंशयनिराकृतिः प्रत्येतव्या।

उक्त वार्तिकका विवरण यों है कि यहां चौथे अध्यायमें सबसे आदिके पहिले सूत्र करके तो किन्हीं किन्हीं पुराणकारोंके यहां मानी गयीं देवोंकी दूसरी निकायोंकी कल्पना और दूसरे ढंगकी उन निकायोंका जो सन्देह हो रहा है उसका निराकरण कर दिया गया है। "आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः" इस दूसरे सूत्रकरके भवनत्रिक देवोंमें अन्य पद्म, शुक्ल, लेश्याओंकी निराकृति कर दी गयी है। तथा "दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः" इस सूत्र करके तो नियत हो रही दश, आठ, पांच, बारह, संख्याओंसे अतिरिक्त संख्याओंकी व्यावृत्ति कर दी गयी है। चौथे "इन्द्र सामानिक" आदि सूत्रकरके दश विध कल्पनाके सिवाय अन्यविकल्पोंका निराकरण कर दिया है। पांचवें "त्रायस्त्रिंश" आदि सूत्र करके उन दश विकल्पोंके दो निकायोंमें हो रहे अपवादके सिवाय अन्य अपवादोंका निरास कर दिया गया है। छट्ठे "पूर्वयोर्द्वीन्द्राः" सूत्र करके इन्द्रोंकी उक्त संख्याके अतिरिक्त संख्याओंका वारण कर दिया है। सातवें, आठवें, "कायप्रवीचारा आ ऐशानात्" और "शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः" सूत्रों करके अनिष्ट प्रवीचारोंका प्रत्याख्यान किया गया है। नौवें "परेऽप्रवीचाराः" सूत्र करके सब कल्पातीत देवोंके प्रवीचारसहितपनका व्यवच्छेद किया गया है। इस प्रकार नौ सूत्रों करके अन्य निकाय आदिकी असद्भूत या सदसद्भूत उभयकोटिस्पर्शी संशयकी निराकृति हो रही समझ लेनी चाहिये। उक्त सूत्रोंके नौ वाक्य सावधारण हैं। कण्ठोक्त कहो चाहे न कहो, वाक्यमें बिना बुलाये ही एवकार द्वारा अवधारण लग बैठता है। "वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थनिवृत्तये"।

आदिनिकायसम्बन्धी जो दश विकल्पवाले देव कहे जाचुके हैं, उन देवोंकी सामान्य संज्ञा और विशेष संज्ञाका विज्ञापन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥ १० ॥

भवनोंमें निवास करनेके शीलको धारनेवाले देव भवनवासी हैं। वे १ असुरकुमार २ नागकुमार ३ विद्युत्कुमार ४ सुपर्णकुमार ५ अग्निकुमार ६ वातकुमार ७ स्तनितकुमार ८ उदधिकुमार ९ द्वीपकुमार १० दिक्कुमार इन दश विशेषसंज्ञाओंको धार रहे हैं।

भवनवासिनामकर्मोदये सति भवनेषु वसनशीला भवनवासिन इति सामान्यसंज्ञा प्रथमनिकाये देवानां । असुरादिनामकर्मविशेषोदयादसुरकुमारादय इति विशेषसंज्ञा । कुमारशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबंधात् तेषां कौमारवयोविशेषविक्रियादियोगः ।

गति संज्ञक नामकर्मकी उत्तरोत्तर प्रकृति हो रहे भवनवासी नामक नामकर्मका उदय होते सन्ते, भवनोंमें निवास करनेकी टेववाले, देव भवनवासी हैं। इस प्रकार पहिले निकायमें यह देवोंकी अखिल विशेषोंमें घटित हो रही सामान्य संज्ञा है। हां, उस भवनवासी नामकर्मके भी उत्तर भेद स्वरूप असुर, नाग, आदि विशेष नामकर्मोंका उदय हो जानेसे असुरकुमार, नागकुमार, आदिक विशेष संज्ञायें प्रवर्त जाती हैं। " द्वन्द्वादौ द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते " इस नियम अनुसार अन्तके कुमार शब्दका प्रत्येक असुर आदिमें पीछे सम्बन्ध जुड जाता है। उन भवनवासी देवोंके कुमार अवस्थामें हो रहे सारिखे आयुष्यविशेष, विक्रिया करना, वेष, भूषा, आयुध, क्रीडन, यान, वाहन, आभरण, आदिसे अत्यधिक प्रीति होनेका योग है, इस कारण उनको कुमार कह दिया जाता है। भावार्थ—लोकमें भी कई बालकोंका अजितकुमार, भानुकुमार आदि नामनिर्देश कर लिया जाता है। किन्तु वृद्ध अवस्थामें ये नाम शाब्दिकोंके यहां उसी प्रकार खटकते हैं, जैसे कि वृद्ध विवाह आक्षेप करने योग्य है। नाम परिवर्तनके लिये देवोंमें उतनी आवश्यकता नहीं उपजती है। जितनी कि बुड्ढे अजितकुमार आदि मनुष्योंमें है। किन्तु क्या किया जाय ? नामपरिवर्तन करना अभीष्ट नहीं है। यद्यपि सम्पूर्ण देवोंके जन्मसे अन्तर्मुहूर्त्तके पीछे और मरनेके छह मास पूर्वतक भरपूर युवा अवस्था नियत रहती है, फिर भी कुमारोंके समुचित विक्रिया, वेष, क्रीडापरता आदिमें अत्यधिक प्रेमभाव होनेके कारण इनको कुमार शब्दसे कह दिया जाता है।

केचिदाहुः देवैः सहास्यंतीति असुरा इति, तदयुक्तं, तेषामेवमवर्णवादात् । सौधर्मादिदेवानां महाप्रभावत्वादसुरैः सह युद्धायोगात् तेषां तत्प्रातिकूल्येनावृत्तेर्वैरकारणस्य च परदारापहारादेरभावात् ।

कोई कोई पौराणिक पण्डित ऐसा कह रहे हैं कि " देवैः सह अस्यन्तीति असुराः " अदितिके पुत्र आदित्य देवोंके साथ दितिके पुत्र दैत्य यानी असुर सदा लडते रहते हैं। देवोंके साथ युद्धमें प्रहरण आदिकोंको क्षेपते हैं अथवा लडाईमें मारकर देवोंको नदी आदिमें फैंक देते हैं, इस कारण वे असुर हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह उन स्मृतिकारोंका कथन युक्तिशून्य है। क्योंकि उन देवोंके ऊपर इस प्रकार कहनेपर अवर्णवाद यानी झूंठा दोष लग बैठता है। देखो, चौथी निकायके सौधर्म आदिक

देवों या अहमिन्द्र आदि देवोंका महान् प्रभाव है। विचारे अल्पबली असुरकुमारोंके साथ सौधर्म आदि देवोंका कथमपि युद्ध होनेका योग नहीं लग पाता है। दूसरी बात यह है कि जैनसिद्धान्त अनुसार उन असुरकुमारोंकी उन देवोंके या देवोंकी असुरोंके प्रतिकूलपन करके प्रवृत्ति नहीं होती है। यदि जन्मकल्याणक या समवसरण आदिमें प्रवर्तेंगे भी तो अनुकूल होकर ही प्रवृत्ति करेंगे। वचन और कायसे तो क्या मनसे भी प्रतिकूलताको नहीं ठान सकते हैं। तीसरी बात यह है कि परस्त्रीहरण या परधनप्रमोष अथवा दूसरेके अधिकृत देशपर स्वाधिकार जमाना आदि चेष्टायें ही वैरके कारण हैं। इन द्वेषके हेतुओंका अभाव हो जानेसे देव और असुरोंमें युद्ध कथमपि नहीं ठनता है। मिथ्याज्ञानी आग्रहीजन चाहे कैसी भी झूंठी, सांची, कल्पनायें करें, प्रामाणिक विद्वानोंके यहां उन गपोडोंका कोई मूल्य या आदर नहीं है। भले जीवोंपर झूंठा कलंक लगाना कोई अच्छा थोडा ही है।

अथैतेषां भवनवासिनां दशानामपि निरुक्तिसामर्थ्यादाधारविशेषप्रतिपत्तिरिति प्रदर्शयति।

अब महाराज यह बतलाओ कि इन दशों भी प्रकारके भवनवासी देवोंके भवन कहां हैं ? इसके उत्तरमें श्री विद्यानन्द स्वामी " भवनवासी " इस सामान्य संज्ञावाचक शद्बकी निरुक्तिके सामर्थ्यसे ही हो रही विशेष आधारकी प्रतिपत्ति बन बैठती है, इस सूत्रकारके रहस्यको भले प्रकार दिखलाये देते हैं।

दशासुरादयस्तत्र प्रोक्ता भवनवासिनः ।
अधोलोकगतेष्वेषां भवनेषु निवासतः ॥ १ ॥

उन देवोंमें असुरकुमार, आदिक दश भवनवासी देव भले प्रकार कहे गये हैं (प्रतिज्ञा)। क्योंकि नीचे अधोलोकमें प्राप्त हो रहे भवनोंमें इन देवोंका निवास हो रहा है (हेतु)। यों अनुमान द्वारा भवनवासी शद्बकी निरुक्तिके अर्थको साध दिया है।

क पुनरधोलोके तेषां भवनानि श्रूयंते ? रत्नप्रभायाः पंकबहुलभागे भवनान्यसुरकुमाराणां, खरपृथिवीभागे चतुर्दशयोजनसहस्रेषु नागादिकुमाराणां। तत्रोपर्यधश्चैकैकस्मिन् योजनसहस्रे तद्भवनाभावश्रवणात्। तत्र दक्षिणोत्तराधिपतीनां चमरवैरोचनादीनां भवनसंख्याविशेषः परिवारविभवविशेषश्च यथागमं प्रतिपत्तव्यः।

फिर महाराज यह बताओ कि अधोलोकमें कहां उन देवोंके भवन सर्वज्ञप्रतिपादित शास्त्र द्वारा ज्ञात किये जाते हैं ? आचार्योंकी ओरसे इसका उत्तर इस प्रकार है कि इस रत्नप्रभाके दूसरे पंकबहुल भागमें असुरकुमारोंके भवन अनादिकालीन रचे हुये हैं। और रत्नप्रभाके पहिले खरपृथिवी भागमें चौदह हजार योजन मोटे और असंख्यात योजन लम्बे चौडे स्थानोंमें अवशिष्ट नागकुमार,

सुपर्णकुमार, आदि नौ प्रकार भवनवासियोंके भवन हैं। एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी रत्नप्रभा पृथ्वीके ऊपरले उस सोलह हजार योजन मोटे खरपृथिवी भागमें ऊपर नीचे एक एक हजार योजन मोटे स्थानमें उनके भवनोंका अभाव आम्नाय द्वारा सुना जाता है। उन देवोंमें दक्षिणदिशाके अधिपति और उत्तरदिशाके अधिपति हो रहे चमर, वैरोचन आदि इन्द्रोंके अधिकृत भवनोंकी संख्या और परिवार, विभूतिविशेषको आलोपज्ञ शास्त्र आम्नाय अनुसार समझ लेना चाहिये। त्रिलोकसार, राजवार्तिक आदि ग्रन्थोंमें भवनवासी देवोंके सात करोड बहत्तरलाख भवनोंका निरूपण किया है। देवोंका ऐश्वर्य संख्यात, असंख्यात, योजन लम्बे चौडे विमान, चैत्यालय आदिका वर्णन किया गया है। युक्तिवादके प्रदर्शनका स्थल नहीं होनेसे या अन्य ग्रन्थोंमें मिल जानेके कारण यहां कह देनेपर कोई विशेष अत्यधिक श्रद्धाभाव नहीं उपजनेकी सम्भावना अथवा चमत्कृतिजनक कोई विशेष उपयोगिता नहीं प्रतीत होनेसे यहां ग्रन्थविस्तार नहीं किया गया है।

अब श्री उमास्वामी महाराज द्वितीय-निकायसम्बन्धी देवोंकी सामान्यसंज्ञा और विशेषसंज्ञाका अवधारण करनेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

व्यंतराः किंनरकिंपुरुषमहोरगगंधर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः

दूसरे व्यन्तरदेव तो किंनर १ किम्पुरुष २ महोरग ३ गंधर्व ४ यक्ष ५ राक्षस ६ भूत ७ और पिशाच ८ इन विशेषसंज्ञाओंको धार रहे हैं।

व्यंतरनामकर्मोदये सति विविधांतरनिवासित्वाद्व्यंतरा इत्यष्टविकल्पानामपि द्वितीयनिकाये देवानां सामान्यसंज्ञा। किंनरादिनामकर्मविशेषोदयात् किंनरादय इति विशेषसंज्ञा। किंनरान् कामयंत इति किंनराः, किंपुरुषान् कामयंत इति किंपुरुषाः, पिशिताशनात् पिशाचा इत्याद्यन्वर्थसंज्ञायामवर्णवादप्रसंगात्, देवानां तथाभावासंभवात्। पिशाचानां मत्स्यादिप्रवृत्तिदर्शनात् पिशिताशित्वसंभव इति चेत् न, तस्याः क्रीडासुखनिमित्तत्वात् तेषां मानसाहारत्वात्।

गति नामकर्मके भेद, प्रभेद, स्वरूप हो रहे किंनर, किम्पुरुष, आदि विशेष नामकर्मोंका अन्तरंगमें उदय होते संते और बहिरंगमें नाना प्रकारके देशान्तरोंमें निवास करनेवाले होनेसे ये देव व्यन्तर कहे जाते हैं। दूसरी निकायमें पाये जा रहे आठों विकल्पवाले भी देवोंकी यह सामान्यसंज्ञा अन्वर्थ है। भवनवासी और व्यन्तरशब्दोंकी निरुक्तिसे ही उक्त देवोंके निवासस्थानोंका निर्णय हो जाता है। असंख्यात विकल्पवाले नामकर्मके उत्तरोत्तर भेदरूप किंनर आदि विशेष प्रकृतियोंके उदयसे हो रहीं किंनर, किम्पुरुष, आदिक यों विशेषसंज्ञायें हैं। जो पौराणिक पण्डित अपनी व्याकरणज्ञताको यों प्रकाश करते हैं कि कुत्सित नरोंकी अभिलाषा रखते हैं, तिस कारण ये देव किंनर हैं, घोडेके

मुख समान मुख होनेसे कुत्सित नर हो रहे रमणकुशल देवोंकी अनेक देवदेवियोंको अभिलाषा रही जाती है, " बिम्बोष्ठं बहुमनुते तुरंगवक्त्रः " इत्यादि श्लोक करके माघ कविने स्वरचित शिशुपालवध काव्यमें इसी भावको दिखलाया है। और किम्पुरुषोंकी कामना कर रहे हैं, इस कारण किम्पुरुष देव कहे जाते हैं। " पिसितमाचामति या पिशितमश्नाति " इस निरुक्ति द्वारा मांसका भक्षण करनेसे पिशाच हैं। महान् सर्पका आकार धारनेसे महोरग हैं, इत्यादिक शद्वनिरुक्ति अनुसार उक्त देवोंकी अन्वर्थसंज्ञा माननेपर आचार्य कहते हैं कि बडे भारी अवर्णवाद होनेका प्रसंग आता है। क्योंकि देवोंके तिस प्रकार किन्नरोंके साथ रमण, मांसभक्षण, सर्पचेष्टा, आदिका असम्भव है। देव स्वतः बडे भोगी और सर्वांगसुंदर हैं। देवोंके वैक्रियक शरीर अत्यधिक पवित्र हैं। अशुद्ध, दुर्गन्धि, घृणायोग्य, मनुष्योंके निकृष्ट औदारिक शरीरोंकी वे कभी अभिलाषा नहीं करते हैं। मांस, मद्य, सेवन नहीं करते हैं। यदि कोई यों आक्षेप करें कि पिशाचोंकी मछली, मांस, मदिरा, नैवेद्य आदिमें प्रवृत्ति होरही दीखनेसे मांसभक्षण करना उनके सम्भव जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि क्रीडाजन्य सुखका निमित्तकारण मात्र वह प्रवृत्ति है। आहारके लिये मत्स्य, मांस, आदिमें प्रवृत्ति नहीं है। क्योंकि उन देवोंके मानस आहार है। मनमें आहारकी अभिलाषा उपजते ही झट कण्ठसे अमृतोपम, सुस्वादु, रस झरकर पूर्ण तृप्तिको कर देता है। अर्थात्—देवोंमें तीव्र कषायवान् या जीवोंको दुःख देकर भी क्रीडा करनेवाले अनेक देव हैं। म्लेच्छ या कसाइयोंके छोकरे मेंढक, चूहा, बर्र, ततैया, चिरैया, पिल्ला, मछली, मांसखण्ड, हड्डी आदिके साथ निर्दय होकर खेलते हैं। उसीमें विशेष हर्षका अनुभव करते हैं। विद्रोह कालमें प्रतिपक्षियोंके बालकोंको गेंद बनाकर दुष्ट खिलाडियोंका क्रीडा करना सुना जाता है। इस क्रियामें अनेक बालकोंकी मृत्युयें भी होचुकी हैं। किन्तु कषायवानोंको कोई चिन्ता (परवा) नहीं है। इसी प्रकार क्रीडा सुखके लिये अनेक मिथ्यादृष्टि देव मत्स्य आदिमें प्रवृत्ति करते हैं। तांत्रिक विद्वान् मत्स्य, मांस, आदिको दिखाकर देवोंका परितृप्त होना मानते हुये मत्स्य, मांस, मद्य, रक्त, मल, शव आदि द्वारा जीवोंकी भूतबाधाओंको मिटा देते हैं। ये सब क्रियायें क्रीडाप्रकृतिक देवोंके सुखनिमित्त भले ही होजांय, किन्तु आहारसामग्री यह नहीं है। देवोंके मांसभक्षण या मानुष शरीरके साथ रमण अथवा धातु, उपधातु, सन्तानोत्पत्ति आदि स्वीकार कर लेना यह देवोंका सबसे बडा तिरस्कार है। देवोंके लिये इससे बडी गाली नहीं होसकती है। अतः व्यन्तरोंकी उक्त संज्ञायें या विधाता नामकर्मकी किन्नर आदि संज्ञायें रूढि शद्वमात्र है। धात्वर्थ उतना ही घटाया जाय जितना कि युक्ति, शास्त्र, और अनुभवसे अबाधित होय। शेषको विचारशाली विद्वान् लात मारकर फेंक देते हैं।

क पुनर्व्यंतराणां विविधान्यंतराण्यवकाशस्थानाख्यानि यतो निरुक्तिसामर्थ्यादेतेषामा-धारप्रतिपत्तिरित्याह।

कोई जिज्ञासु पूंछता है कि महाराजजी, फिर बताओ कि इन व्यन्तर देवोंके नाना प्रकारके देशान्तरवर्ती अवकाशस्थान नामके आवास और नगर कहां कहां हैं ? जिससे कि व्यन्तर शब्दकी निरुक्तिके सामर्थ्यसे इन किन्नरादि देवोंके आधारकी प्रतिपत्ति हो सके ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान करते हुये अग्रिमवार्तिकको कहते हैं ।

अष्टभेदा विनिर्दिष्टा व्यन्तराः किन्नरादयः ।
विविधान्यंतराण्येषामधोमध्यमलोकयोः ॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराज करके किन्नर, आदिक आठ भेदवाले व्यन्तरदेव तो विशेषरूपसे नाममात्रतया उद्दिष्ट कर दिये हैं । इन व्यन्तरोंके अधोलोक और मध्यलोकमें अनेक प्रकार अन्तर यानी भवनपुर, आवास, और भवन, नामके असंख्यात निलय हैं । द्वीप या समुद्रमें होनेवाले मध्यभाग प्राप्त स्थानोंको भवनपुर कहते हैं । हृद, पर्वत, वृक्षोंमें बने हुये ऊर्ध्वगत स्थानोंको आवास कहते हैं, चित्रा, पृथिवीमें बने हुये अधःप्राप्त स्थानोंको भवन कहते हैं ।

अधोलोके तावद्रत्नप्रभायाः खरपृथिवीभागे किंनरादीनामष्टभेदानां व्यंतराणां दक्षिणाधिपतीनां किंपुरुषादीनां चोत्तराधिपतीनामसंख्येयनगरशतसहस्राणि श्रूयंते, मध्यलोके च द्वीपाद्रिसमुद्रदेशग्रामनगरत्रिकचतुष्कचतुरस्रगृहांगणरथ्याजलाशयोद्यानदेवकुलादीन्यावासशतसहस्राणामसंख्येयानि तेषामाख्यायंते । तद्विशेषसंख्यापरिवारविभूतिविशेषो यथागमं प्रतिपत्तव्यः पूर्ववत् ।

अधोलोकमें रत्नप्रभाके सोलह हजार योजन मोटे उपरिम प्रदेश सम्बन्धी खरपृथिवी भागमें किंनर, सत्पुरुष आदिक आठ भेदवाले दक्षिण दिशाके अधिपति हो रहे व्यन्तरोंके निवासस्थान बने हुये हैं तथा खरपृथिवीभागमें ही उत्तरदिशाके अधिपति किम्पुरुष, महापुरुष, आदि व्यन्तर इन्द्रोंके असंख्याते लाख नगर विद्यमान हैं, ये आप्तोक्त शास्त्रोंद्वारा जाने जा रहे हैं । अर्थात्—इस जम्बूद्वीपसे तिरछे असंख्याते द्वीप समुद्रोंका उल्लंघन कर परली ओरके द्वीपसमुद्रोंमें ऊपरले खरपृथिवी भागमें उत्तरदिशाकी ओर किंनर, सत्पुरुष आदि सात दक्षिण इन्द्रोंके असंख्याते लाख नगर आदि अनादिकालसे विद्यमान हैं और इसी प्रकार उत्तरदिशामें किम्पुरुष आदि सात व्यन्तरेन्द्रोंके उतने ही असंख्याते नगर रचे हुये हैं । हां, राक्षसजातीय व्यन्तरोंके आवास तो रत्नप्रभाके चौरासी हजार योजन मोटे पंकबहुल भागमें असंख्याते लाख नगर बने हुये हैं और उत्तरदिशामें रत्नप्रभाके पंकबहुल भागमें राक्षसेन्द्र दक्षिणदिशाधिपतिके असंख्याते लाख नगर शास्त्रद्वारा वर्णित हो रहे हैं । खरपृथिवी भागमें ऊपर नीचे एक एक हजार योजन छोडकर मध्यम चौदह हजार योजन मोटे और असंख्याते योजन लम्बे चौडे स्थानोंमें सात प्रकारके व्यन्तर और नौ प्रकार

भवनवासियोंके आवास बने हुये हैं। शेष बचे हुये असुरकुमार और राक्षसोंके आवास तो पंकबहुल-भागमें हैं। तीसरे अब्बहुलभागमें तीस लाख नरक हैं। तथा असंख्यात योजन लम्बे, चौडे, और ऊंचाईमें मेरुसम एक लाख चालीस योजन मध्यलोकमें भी द्वीप, पर्वत, समुद्र, देश, ग्राम, नगर, तीन ओर पथवाला त्रिक, चार ओर मार्ग जानेवाले चौक, चौकोर प्रान्त, घर, आंगन, गली, कूंचा, सरोवर, उद्यान (बगीचा) देवस्थान, गुरुकुल, वसतिका, शून्यगृह, प्राचीन खण्डहर आदिक असंख्याते लाख उन व्यन्तरोंके आवासोंको शास्त्रोंमें वर्णन किया है। अर्थात्—द्वीप, समुद्र, आदिमें असंख्याते अकृत्रिम स्थान, अनादिसे, अनन्त, कालतक रचे हुये हैं। हां, गली, कूंचे, सरोवर, उपवन, खण्डहर, शून्यगृह आदिमें भी क्रीडातत्पर व्यन्तरोंके अनेक कृत्रिमस्थान नियत होरहे हैं। आजकल भी अनेक स्थलोंपर व्यन्तरदेवोंका आवास या उपद्रव होरहा, कचित् अनुग्रह हुआ सुना जाता है। वह बहुभाग सत्य है। हां, वंचक धूर्तपुरुषोंने जो मायाजाल रच रक्खा है अथवा अनेक बालक, स्त्री, पशुओंमें भूतबाधा, (खोर) की आकुलताओंकी जो भरमार छारही है, उसमें तथ्यांश अत्यल्प है। जगत्में भोली भाली जनताको ठगनेके लिये स्याने तांत्रिक, मांत्रिक, पुरुषोंने व्यर्थका प्रपंच अधिकतर फैला रखा है। अखण्ड सम्यग्दर्शन सूर्यके विना मिथ्यात्व मोहअंधकारका भला विनाश कैसे होसकता है ? । उन नगरोंकी विशेष विशेष संख्यायें तथा व्यन्तरेन्द्रोंके परिवार या विभूतिविशेषकी आगम अनुसार प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये, जैसे कि पूर्वमें भवनवासियोंके भवनसंख्या परिवार, विभूति, आदिको आगम अनुसार समझ लेना स्वीकार कर चुके हो। त्रिलोकसार आदि ग्रन्थोंमें इनका विशेष वर्णन मिलता है। भवनवासियोंके सात करोड बहत्तर लाख भवनोंमें एक एकमें असंख्याते देव निवास करते हैं। किन्तु व्यन्तरोंके असंख्याते नगरोंमें संख्याते देव या किसी किसीमें असंख्याते देव भी बस रहे हैं। " तिण्णिसय जोयणाणं कदिहिदपदरस्स संखभागमिदे। भौमाणं जिणगेहे गणणातीदे णमंसामि " इस त्रिलोकसारकी गाथा अनुसार उक्तध्वनि निकलती है। आवास स्थानोंको समझनेके लिये " वितरणिलयतियाणि य भवणपुरावासभवणणामाणि, दीवसमुद्दे दहगिरितरुम्हि चित्तवणिम्हिकमे। उड्डगया आवासा अधोगया वितराण भवणाणि, भवणपुराणि य मज्झिमभागगया इदि तियं णिलयं ॥ चित्तवइरादु जावय मेरुदयं तिरियलोयवित्थारं, भोम्मा हवंति भवणे भवणपुरावासगे जोगे ॥ ये तीन गाथायें उपयोगी हैं। अतीन्द्रिय ज्ञानीको प्रत्यक्ष होरहे सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट, पदार्थोंमें भी यद्यपि कतिपय युक्तियोंका प्रवेश है, फिर भी प्रतिवादियोंका विशेष आक्षेप नहीं प्रवर्तनेके कारण और अन्य ग्रन्थोंमें विस्तृत कथन होनेसे यहां सविस्तर निरूपण नहीं किया गया है। अत्यधिक मनोहर दृश्योंका कितना ही अधिक वर्णन किया जाय, जिनेन्द्रगुणकीर्तनके समान वह अत्यल्प ही गिना जायगा। अतः प्रथम हीसे संकोचपर संतोष कर लेना अच्छा जचता है।

अब तीसरे निकायकी सामान्यसंज्ञाका निर्देश करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥

जिन देवोंके निवासस्थान हो रहे विमानोंका स्वभाव चमकते रहना है या शरीर, आभरण, आदिमें चमक, दमक, जिनको अभीष्ट हो रही है, वे देव ज्योतिष्क इस सामान्यसंज्ञाको धारते हुये सूर्य, चन्द्रमा, और ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णकतारक इन पांच विशेषसंज्ञाओंको प्राप्त हो रहे हैं। यद्यपि विमानोंके नाम सूर्य, चन्द्रमा, आदिक हैं। तथापि उनमें निवास करनेवाले देवोंको भी " तात्स्थ्यात्तच्छब्दसिद्धिः " उसमें ठहरना होनेके कारण इस आधेयको भी उस आधारवाचक शब्द करके उक्त कर दिया जाता है। अर्थात्—ज्योतिष्कदेवोंके गण सूर्य १ चन्द्रमा २ ग्रह ३ नक्षत्र ४ प्रकीर्णकतारक ५ इन पांच विशेषजातियोंमें विभक्त हो रहे हैं। इन्द्रस्वरूप एक चन्द्रमा सम्बन्धी विमानोंके परिवारका परिमाण यों है कि एक चन्द्रमाके साथ एक १ सूर्य प्रतीन्द्र है, अट्ठासी ८८ ग्रह विमान हैं। अट्ठाईस २८ नक्षत्र विमानोंके पिण्ड हैं। यानी कृत्तिका नक्षत्रमें ६ छह तारे हैं, रोहिणीकी पांच तारे हैं। मृगशीर्षमें तीन हैं, इत्यादि तथा छियासठ हजार नौसौ पिचत्तर कोडाकोटी ६६९७५०००००००००००००० तारक विमान हैं। इस प्रकार मध्यलोकमें असंख्याते सूर्य और चन्द्रमा हैं। उन्हींके अनुसार ग्रह आदिकोंकी संख्या लगा लेना। ढाई द्वीपमें एक एक चन्द्रमाका उक्त परिवार नियत है। अन्यत्र आगम अनुसार समझ लेना। एक एक ज्योतिष्क विमानमें सैकडों, हजारों, यों संख्याते देव निवास करते हैं। सम्पूर्ण देवोंमें ज्योतिषियोंकी संख्या बहुत बडी हुई है। दिन या रातके समय नभोमण्डलमें जो चमकते हुये पदार्थ दीख रहे हैं, वे देवोंके निवास स्थान हो रहे विमान हैं। स्वयं देव नहीं हैं। बीचमेंसे काटे गये आधे लड्डूके समान ये विमान निचले परिदिष्ट भागमें ढालू प्रदेशवाले हैं। और ऊपर सपाट, चौरस, भागमें ज्योतिष्क देवोंके प्रासाद उनमें बने हुये हैं। केवल प्रसिद्ध हो रहे सूर्य, चन्द्रमा, ही ज्योतिष्क नहीं हैं। किन्तु ग्रह, नक्षत्र, और उछाले हुये पुष्पोंके समान अनियत स्थानोंपर बिखर रहे अनादिनिधन तारक भी ज्योतिष्क हैं। अथवा केवल ग्रह आदिक ही ज्योतिष्क नहीं हैं। किन्तु सूर्य, चन्द्रमा, भी ज्योतिष्कोंमें ही परिगणित हैं। यों सूत्रोक्त चकार द्वारा परस्परमें समुच्चय कर लिया जाता है।

ज्योतींषि एव ज्योतिष्काः को वा यावादेरिति स्वार्थिकः कः ज्योतिः शद्बस्य यावादिषु पाठात्। तथाभिधानदर्शनात् प्रकृतिलिंगातिवृत्तिः कुटीरः समीर इति यथा।

द्योतन या कान्तिस्वरूप ज्योतिः ही ज्योतिष्क हैं। ज्योतींषि एव ज्योतिष्काः चमक रहीं अनेक ज्योतियां ही ज्योतिष्क हैं। यों नपुंसकलिंग ज्योतिः शद्बके बहुवचनान्त रूपवाले विग्रह करके स्वार्थमें क प्रत्यय कर ज्योतिष्क शद्ब बना लिया है। " को वा यावादेः " इस सूत्र द्वारा याव, मणि, आदि अनेक शद्बवाले यावादि गणमें ज्योतिष शद्बका पाठ होनेसे स्वार्थको ही कहनेवाले क प्रत्ययको लगाकर ज्योतिष्क शद्ब बना लिया जाता है। कोई आक्षेप करता है कि स्वार्थिक

प्रत्ययवाले पदका लिंग भी प्रकृतिके अनुसार होना चाहिये । जैसे सिंह एव सिंहकः, मृत् एव मृत्तिका, कर्मैव कार्मणं, यहां प्रकृतिके लिंग अनुसार ही स्वार्थिक प्रत्ययान्त पदोंका भी लिंग वही है । उसी प्रकार ज्योतिष् शद्व नपुंसकलिंग है । स्वार्थमें क प्रत्यय करनेपर भी ज्योतिष्क शद्व नपुंसकलिंग ही बना रहेगा, किन्तु यहां ज्योतिष्काः ऐसा पुल्लिंग शद्वस्वरूप सुना जा रहा है । सो क्यों ? इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि तिस प्रकार लिंगका अतिक्रमण करते हुये भी शद्वव्यवहार हो रहा देखा जाता है । स्वार्थिक प्रत्ययवाले पदका कहीं कहीं प्रकृतिके लिंगसे अतिक्रमण हो जाना कहा गया है । अतः ज्योतिष्क शद्वमें भी ज्योतिष् प्रकृतिके लिंग नपुंसकका उल्लंघन होकर पुल्लिंग देव या निकाय शद्वकी विशेषणताको धार रहा ज्योतिष्कशद्व पुल्लिंग हो गया है । जिस प्रकार कि " कुटी-शमीशुण्डाभ्यो रः " इस सूत्र करके कुटीर शमीर आदि शब्द बना लिये जाते हैं । ह्रस्वा कुटी कुटीरः, ह्रस्वा शमी शमीरः, छोटी कुटिया (झोंपडी) कुटीर है । छोटी शीशोंका पेड शमीर है । यहां स्त्रीलिंग कुटी और शमी शद्वसे स्वार्थमें र प्रत्यय कर पुल्लिंग कुटीर, शमीर, शद्व बना लिये गये हैं । कुटी या शमीका ह्रस्वपना उसका निजशरीर ही है । अतः ह्रस्व अर्थको कह रहा र प्रत्यय अवयवोंका छोटापन होते हुये भी स्वार्थको ही कह रहा है । किसी पुरुषके एक अंगुली कमती होय या बढती होय, एतावता वह त्रिशिष्ट मंत्रसम्बन्धी विधियोंमें भले ही उपयोगी नहीं समझा जाय, किन्तु उपांगहीन या उपांगअधिक पुरुषका निज डील कोई विभिन्न नहीं हो जाता है । इसी प्रकार कृत एव कृतकः तालु एव तालुकः यहां शुद्ध प्रकृतिका जो अर्थ है, वही स्वार्थिक प्रत्ययान्त पदका है । न्यून, अधिक, नहीं है । किन्तु ह्रस्वा कुटी कुटीरः, प्रशस्ता मृत् मृत्स्ना, कुत्सितोऽश्वः अश्वकः, लघुतमो लघिष्ठः, अंगुलीव आंगुलिकः, यहां अवयवोंके न्यून, अधिक, प्रकृष्ट, निकृष्ट या सादृश्य होते हुये भी स्वार्थिकपनेका कोई विरोध नहीं है । अतः कुटीर या देव एव देवता, ओषधिरेव औषधम्, शर्करैव शार्करम्, यहां भी कारणवश हो रही लिंगकी अतिवृत्तिके समान ज्योतिष्क शद्वमें लिंगका परिवर्तन हो जाता है । यों शद्वशास्त्रके साथ अर्थशास्त्रका सम्बन्ध समझते हुये न्याय प्राप्त अर्थका ग्रहण कर लिया करो ।

सूर्याचन्द्रमसा इत्यत्रानङ् देवताद्वंद्ववृत्तेः । ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारका इत्यत्र नानङ् । पुनर्द्वन्द्वग्रहणात्तस्येष्टविषये व्यवस्थानादसुरादिवत् किंनरादिवच्च ।

सूर्यश्च चन्द्रमाश्च इति सूर्याचन्द्रमसौ इस प्रकार द्वन्द्व होनेपर यहां देवता वाचक शद्वोंकी द्वन्द्वसमास नामक वृत्ति हो जानेसे " देवता द्वन्द्वे " इस सूत्रकरके आनङ् हो जाता है । देवता होनेपर भी ग्रहाश्च, नक्षत्राणि च, प्रकीर्णकतारकाश्च, यों द्वन्द्व करनेपर बन गये ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाः यहां आनङ् प्रत्यय नहीं हो पाता है । क्योंकि " आनङ् द्वन्द्वे " इस सूत्रसे द्वन्द्व इस शब्दकी अनुवृत्ति हो सकती थी । किन्तु व्याकरण सूत्रकारने " देवता द्वन्द्वे " इस सूत्रमें पुनः द्वन्द्वग्रहण किया है । वह द्वन्द्व पद व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि अभीष्ट विषयोंमें यह व्यवस्था है, जैसे कि

असुर, नाग, विद्युत् इत्यादि सूत्रमें और किन्नर किम्पुरुष आदि सूत्रमें देवता वाचक पदोंका द्वन्द्व समास होनेपर भी आनङ् नहीं किया गया है। इस कारण पुनः द्वन्द्वपदके ग्रहण करनेसे उस आनङ्की इष्ट हो रहे विषयमें व्यवस्था है। भट्टोजि दीक्षितने भी " पुनर्द्वन्द्वग्रहणं प्रसिद्धसाहचर्यस्य परिग्रहार्थं " कहकर इसी अर्थको व्यक्त किया है।

कथं ज्योतिष्काः पंचविकल्पाः सिद्धा इत्याह ।

यहां कोई तर्क उठाता है कि सूत्रमें कहे जा चुके पांच विकल्पवाले ज्योतिष्कदेव भला किस प्रकार सिद्ध हैं ? सूर्य, चन्द्रमा, आदि विमान तो प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा प्रतीत हो रहे हैं। किन्तु उनमें रहनेवाले ज्योतिष्क निकायके देवोंका अस्मादृश पुरुषोंको प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। ऐसी दशामें देवोंकी सिद्धि किस प्रमाणसे निर्णीत कर ली जाय ? बताओ। यों वैसी तर्कके उपस्थित होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा इस प्रकार वक्ष्यमाण समाधान वचनको कहते हैं।

ज्योतिष्काः पंचधा दृष्टाः सूर्याद्या ज्योतिराश्रिताः ।
नामकर्मवशात्तादृक् संज्ञासामान्यभेदतः ॥ १ ॥

दिन या रातको आकाशमें चमक रहे सूर्य आदिक पांच प्रकारके विमान देखे गये हैं। विमान और विमानोंमें रहनेवाले देव दोनों ही ज्योतिके आश्रय हो रहे ज्योतिष्क निर्णीत किये जाते हैं। तिस तिस जातिके उदयापन्न नामकर्मकी अधीनतासे उन देवोंकी सामान्य और विशेषरूप करके ज्योतिष्क और सूर्य आदि तैसी संज्ञायें हो जाती हैं।

ज्योतिष्कनामकर्मोदये सति तदाश्रयत्वाज्ज्योतिष्का इति सामान्यतस्तेषां संज्ञा सूर्यादिनामकर्मविशेषोदयात्सूर्याद्या इति विशेषसंज्ञाः । त एते पंचधापि दृष्टाः प्रत्यक्षज्ञानिभिः साक्षात्कृतास्तदुपदेशाविसंवादान्यथानुपपत्तेः ।

गतिकर्मकी उत्तरोत्तर प्रकृति हो रही ज्योतिष्क संज्ञक नामकर्मका उदय होते संते उस ज्योतिः (कान्ति) का आश्रय होनेसे देव ज्योतिष्क हैं। इस प्रकार उन देवोंकी ज्योतिष्क यह सामान्यरूपसे संज्ञा हो रही है। हां, जीवविपाकी उस देवगति प्रकृतिके उत्तरोत्तर भेद, प्रभेद, हो रहे सूर्य, चन्द्रमा, आदि विशेष नामकर्मोंके उदयसे विशेषदेवोंकी सूर्य, चन्द्रमा, आदिक ये विशेषसंज्ञायें अनादिकालसे प्रवृत्त रही हैं। जैसे कि मनुष्यगतिका उसके विशेष कहे गये आर्य, म्लेच्छ, भोगभूमि, आदि पौद्गलिक प्रकृतियोंका विपाक होनेपर हम, तुम, आदि जीव मनुष्य या आर्य आदि कहे जा रहे हैं, उसी प्रकार अन्तरंग कारणोंकी भित्तिपर ज्योतिष्कदेव या सूर्य आदिक देवोंकी व्यवस्थायें सयुक्तिक प्रतिभासित हो जाती हैं। अनन्तानन्त सूक्ष्मविषयोंका केवलज्ञानियोंने प्रत्यक्ष किया है। हां, उनके उपदिष्ट शास्त्रोंद्वारा साधारणज्ञानी श्रद्धालु जीव भी विप्रकृष्ट पदार्थोंका श्रुतज्ञान कर लेते हैं।

ने प्रसिद्ध हो रहे पांचों भी प्रकारके ये प्रकरण प्राप्त ज्योतिषी देव तो अवधि, मनःपर्यय, और केवल इन प्रत्यक्षज्ञानोंको धारनेवाले अतीन्द्रियदर्शी प्रत्यक्षज्ञानियोंकरके देखे जा चुके हैं। यानी मुख्यप्रत्यक्ष ज्ञानोंकरके वे देव विशदरूपेण साक्षात्कार किये जा चुके हैं। क्योंकि उन प्रत्यक्षज्ञानियोंके उपदेशका अविसम्वादीपना (निर्बाधपना) अन्यथा यानी किसी प्रत्यक्षज्ञानी द्वारा विषयोंका प्रत्यक्ष किये जा चुके विना नहीं बन सकता है। अर्थात्—वर्तमानमें सूर्य, चन्द्र, ग्रहणव्यवस्था, विमानोंकी गति, ग्रहोंका बारह राशियोंपर संक्रमण आदिको ज्योतिष विषयके पण्डित ठीक ठीक बता देते हैं। इस दिशासे इतना टेढा, नौकीला, अर्धग्रास, या खग्रास, इतनी देरतक, आदि बखाना गया सूर्यग्रहण पडेगा, या चन्द्रग्रहण पडेगा, अमुक दिन शुक्र अस्त हो जायगा, फलाने दिन बृहस्पतिका उदय होगा, इत्यादि व्यवस्थाओंको यद्यपि ज्योतिषशास्त्र निर्णीत कर देता है, फिर भी उन प्रत्यक्षज्ञानीको धन्य है, जिसने अनादि, अनन्त, कालतक होनेवाली ज्योतिष्क विमानोंकी परिणतियोंका प्रत्यक्ष अवलोकन कर तदनुसार अव्यभिचरित नियमोंको ज्योतिषशास्त्रोंमें गूंथ दिया है। प्रत्यक्षज्ञानीको सिद्ध करनेके लिए यह भी बडी अच्छी एक युक्ति है। अतः ज्योतिष्क विमान और उनके निवासी देवोंका प्रत्यक्षपूर्वक और तदुपदिष्ट आगम प्रमाणोंद्वारा निर्णय कर लिया जाता है। रूपी और रूपवान् पुद्गलके साथ सम्बद्ध हो रहे जीवका यथायोग्य प्रत्यक्ष करनेवाले अवधिज्ञानियों और मनःपर्यय ज्ञानियोंको भी देवोंका प्रत्यक्ष हो जाता है। यदि मनुष्य या तिर्यंच जीवोंके जीवित शरीरोंका प्रत्यक्ष होकर उन उन आत्माओंका भी उपचारसे प्रत्यक्ष हो जाना अभीष्ट है तब तो देवव्यक्तियोंको भी परस्परमें अथवा स्वयंको भी स्वकीय वैक्रियिकशरीरोंका इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्ष होना अभीष्ट कर लिया जाय, कोई क्षति नहीं पडेगी। देव चाहे तो अपने वैक्रियिक शरीरका मनुष्य, तिर्यंच या नारकियोंको भी प्रत्यक्ष करा सकते हैं। विप्रकृष्ट पदार्थोंकी सिद्धि करनेका उपाय इतना क्या थोडा है ! अलम् ।

सामान्यतोऽनुमेयाश्च छद्मस्थानां विशेषतः ।
परमागमसंगम्या इति नादृष्टकल्पना ॥ २ ॥

अर्वाग्दर्शी छद्मस्थ जीवोंके अनुमान प्रमाण द्वारा वे ज्योतिष्क देव सामान्य रूपसे जानने योग्य हैं। और आयुः, शरीर, लेश्या, प्रभाव, आधारस्थान, आदि विशेष रूपोंसे तो ज्योतिषी देवोंको सर्वज्ञोक्त परम आगमप्रमाण द्वारा भले प्रकार समझ लेना चाहिये। इस कारण सूत्रकार द्वारा कहे गये ज्योतिष्क देवोंकी व्यवस्था यह अदृष्ट या अप्रमाणिक पदार्थकी कल्पना नहीं है। छद्मस्थ जीवोंके प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण विचारे अल्प पदार्थोंमें ही प्रवर्तते हैं। इनसे अनन्तानन्त गुना प्रमेय श्रुतज्ञान या केवलज्ञान द्वारा निर्णय करनेके लिये अवशिष्ट पडा रहता है। कूपमण्डूकबुद्धिसे पदार्थोंका निर्णय नहीं हो पाता है। समुद्रहंसकोंकी उदार बुद्धियोंसे त्रिलोक, त्रिकालवर्ती वस्तुभूत पदार्थ

परिज्ञात कर लिये जाते हैं। हां, अप्रामाणिक, विसम्वादी उपदेशोंसे सदा बचते रहना चाहिये। नहीं तो अज्ञानकूपमें पतन होना अनिवार्य समझो।

अब श्री उमास्वामी महाराज विशेषतया ज्योतिष्क विमानोंकी और विमानोंके साथ हो रही ज्योतिष्क देवोंकी गतिके विशेषका प्रतिपादन करनेके लिये प्रवचनैकदेश अग्रिम सूत्रका उच्चारण करते हैं।

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १३ ॥

ढाई द्वीप और दो समुद्रोंके समुदित स्थानस्वरूप पैंतालीस लाख योजन लम्बे, चौडे, गोल मनुष्य लोकमें (के ऊपर) ज्योतिष्क देव सुदर्शन मेरुकी प्रदक्षिणा करते हुये, विश्रान्ति लिये विना सतत भ्रमणरूप गतिको करते रहते हैं। आधार और आधेयमें एकताका उपचार कर लेनेसे ज्योतिष्क देवों करके आरूढ हो रहे विमान भ्रमण करते रहते हैं, यों सूत्रका अर्थ कर लेना चाहिये।

ज्योतिष्का इत्यनुवर्तते। नृलोक इति किमर्थमित्याविर्दयति।

पूर्वसूत्रसे " ज्योतिष्काः " इस पदकी अनुवृत्ति कर ली जाती है। अतः इस सूत्रका यह अर्थ हो जाता है कि मनुष्यलोकमें मेरुकी प्रदक्षिणा कर रहे नित्य गतिवाले ज्योतिष्क देव हैं। कोई विनीत श्रोता प्रश्न करता है कि श्री उमास्वामी महाराजने सूत्रमें " नृलोके " इस प्रकार अधिकरण वाचकपद किस प्रयोजनकी सिद्धिके लिये प्रयुक्त किया है? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी शिष्य प्रबोधनार्थ अग्रिमवार्तिकका आवेदन कर रहे हैं।

निरुक्त्यावासभेदस्य पूर्ववद्गत्यभावतः।
ते नृलोक इति प्रोक्तमावासप्रतिपत्तये ॥ १ ॥

पूर्वकी दो निकायें हो रहे भवनवासी और व्यन्तरोंके समान शब्दनिरुक्ति द्वारा ज्योतिषियोंके विशेष आवास स्थानोंकी ज्ञप्ति नहीं हो सकती है। अतः ज्योतिषियोंके आवासकी प्रतिपत्ति करानेके लिये सूत्रकारने " नृलोके " ऐसा अधिकरण ठीक कहा है। अर्थात्—मेरुकी प्रदक्षिणा देते हुये नित्यगतिको कर रहे वे ज्योतिष्क देव मनुष्यलोकमें ही हैं। यद्यपि नृलोकसे बाहर भी असंख्याते ज्योतिष्क हैं। किन्तु वे नित्यगतिमान् नहीं होते हुये स्थिर हैं। इस कारण नित्यगतिवाले ज्योतिष्क और नृलोके इन दोनों पदोंमें एवकार लगाकर अनिष्ट अर्थकी व्यावृत्ति कर लेनी चाहिये। एवकार तो विना कहे ही बीचमें कूद पडता है।

न हि ज्योतिष्काणां निरुक्त्यावासप्रतिपत्तिर्भवनवास्यादीनामिवास्ति यतो नृलोक इत्यावासप्रतिपत्त्यर्थं नोच्यते क पुनर्नृलोके तेषामावासाः श्रूयंते ?

भवनवासी आदि देवोंके शब्दनिरुक्ति करके जैसे निवासस्थानोंकी प्रतिपत्ति हो जाती है, अर्थात्—भवनोंमें निवास करनेकी टेव रखते हुये भवनवासी हैं और विविध देशान्तरोंमें अवकाश पा रहे व्यन्तर हैं, विमानोंमें निवास कर रहे वैमानिक हैं, इस प्रकार ज्योतिष्क देवोंके निवास स्थानोंकी परिच्छित्ति केवल " ज्योतिष्क " शब्दकी निरुक्ति कर देनेसे नहीं हो पाती है जिससे कि ज्योतिषियोंके निवासस्थानोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये सूत्रकार द्वारा " नृलोके " यह नहीं कहा जाय ? ज्योतिष्क शब्द तो केवल द्युति, प्रकाश, या चमकना मात्र स्वभावोंका प्रतिपादन कर रहा है। किन्तु यहां ज्योतिषियोंके आवासका परिज्ञान कराना अत्यावश्यक है। कोई नम्र श्रोता पूंछता है कि मनुष्यलोकमें उन ज्योतिष्कोंके नियत हो रहे आवासस्थान फिर कहां शास्त्र द्वारा ज्ञात किये जा रहे हैं ? बताओ, ऐसी बुभुत्सा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्त्तिकोंको कहते हैं।

अस्मात्समाद्धराभागादूर्ध्वं तेषां प्रकाशिताः ।
आवासाः क्रमशः सर्वज्योतिषां विश्ववेदिभिः ॥ २ ॥

असद्दर्शी सम्पूर्ण पदार्थोंका साक्षात् देखन करनेवाले केवलज्ञानी महाराजने वादी, प्रतिवादी या वक्ता श्रोताको परिदृष्ट हो रही इस रत्नप्रभा भूमिके समतल भागसे ऊपर स्थानोंमें उन सम्पूर्ण ज्योतिषी देवोंके आवासस्थानोंको यों वक्ष्यमाण प्रकार करके क्रम क्रमसे प्रकाशित किया है। अर्थात्—छट्ठे दुःषमा कालके अन्तमें चलनेवाले संवर्तक नामा वायु करके इस आर्यखण्डके गिरि, वृक्ष, भूप्रदेश ये सब कार्य नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं। एक हजार योजन नीचे तक भूमि चकनाचूर हो जाती है। ऐसी दशामें नाप बिगड जाता है। अतः समतल भूभागसे यानी सुदर्शन मेरुकी जडसे ठीक एक हजार योजन ऊपर जम रही मध्यलोक व्यापिनी इस विद्यमान दृश्यमान चित्राभूमिके ऊपर तलसे योजनोंको नापकर ज्योतिष्क विमानोंका विन्यास हो रहा समझ लेना चाहिये तथा लवणसमुद्रका जल इस चित्रा भूमिके समतलसे जलहानि दशामें ग्यारह हजार और जलवृद्धि दशामें सोलह हजार योजनतक ऊंचा उठ रहा है, लवणसमुद्र सम्बन्धी सूर्य, चन्द्रमा, आदि तो जलमें ही घूमते रहते हैं। कोई आतुर पण्डित जलके उपरिमतलमें ज्योतिषियोंको ऊंचा नहीं नाप बैठे इसलिए पृथिवीके " समभागसे ऊपर " यह ग्रन्थकारका वाक्य साभिप्राय है। गणित शास्त्रज्ञोंको एक एक अंगुल यहांतक कि एक एक प्रदेश, एवं शून्य बिन्दु आदि तकका लक्ष्य रखना पडता है। इस ग्रन्थको सुनने समझनेवाले यदि गृहकी छतपर बैठे हुये हों या कई सीढियां चढकर ऊपरके स्थानोंमें बैठे हुये हैं अथवा कालदोषसे हुये चित्राभूमिके नीचे ऊंचे प्रदेशोंपर विराज रहे होंय तो ऐसी दशामें नाप करनेवाले ठीक ठीक नाप नहीं कर पायेंगे। अतः गणितज्ञोंका सूक्ष्म लक्ष्य कराने के लिये धराके समतल भागको ध्रुव अपादान नियत कर दिया है। चित्राभूमिके उपरिमभागसे ठीक एक हजार योजन ऊंचा चित्राका उपरला समतल है। अतः, यहां ही जमकर बैठ जाइये।

योजनानां शतान्यष्टौ हीनानि दशयोजनैः ।
उत्पत्य तारकास्तावच्चरंत्यध इति श्रुतिः ॥ ३ ॥
ततः सूर्या दशोत्पत्य योजनानि महाप्रभाः ।
ततश्चंद्रमसोशीतिं भानि त्रीणि ततस्त्रयः ॥ ४ ॥
त्रीणि त्रीणि बुधाः शुक्रा गुरवश्चोपरि क्रमात् ।
चत्वारोंगारकास्तद्वच्चत्वारि च शनैश्चराः ॥ ५ ॥

इस चित्रा पृथिवीसे दश योजनों करके हीन होरहे आठसौ यानी सातसौ नब्बै ७९० योजनोंके ऊपर उछल कर आकाश मण्डलमें सबसे पहिले तो तारे गमन कर रहे देखे जाते हैं । जो कि सम्पूर्ण ज्योतिषियोंके निचले भागमें विचरण करते हैं, ऐसा शास्त्रवाक्य है । उन तारोंसे दश योजन ऊपर उछल कर देखा जाय तो महती प्रभाको धार रहे सूर्यविमान चर रहे हैं । उन सूर्यविमानोंसे अस्सी योजन ऊपर उछल कर वर्तरहे किसी पदार्थको देखा जाय तो उन आकाश प्रदेशोंमें चन्द्रमा गमन कर रहे प्रतीत होते हैं । उन चंद्रविमानोंसे तीन योजन ऊपर अश्विनी आदि नक्षत्र विमान भ्रमण कर रहे हैं । उन नक्षत्रोंसे तीन, तीन, योजन ऊपर उछल कर क्रमसे बुध, शुक्र और बृहस्पति ग्रहोंके विमान रचित हैं । उसी प्रकार यानी उस गुरुसे चार योजन ऊपर उछल कर मंगल विमान है । उससे चार योजन ऊपर चल कर शनिश्चर ग्रह चर रहे हैं । त्रिलोकसारमें " णउदुत्तर सत्तसये दस सीदी चदुदुगे तियचउक्के, तारिणससिरिक्खबुहा सुक्कगुरुंगारमंदगदी " ऐसा पाठ है । और राजवार्तिकमें " णवदुत्तर सत्तसया दससीदीचदुतिगं च दुगचदुक्कं, तारारविससिरिक्खा बुहभग्गवगुरुअंगिरारसणी " इस गाथाको उक्तं च कहकर उद्धृत किया गया है । सर्वार्थसिद्धि, त्रिलोकसार और श्रुतसागरीका मत एकसा बैठ जाता है । किन्तु श्री विद्यानन्द स्वामीका मन्तव्य राजवार्तिकके कथित अनुसार है । यानी राजवार्तिकमें चन्द्रमाके तीन योजन ऊपर नक्षत्रोंका भ्रमण माना है, जब कि त्रिलोकसारमें चन्द्रमाओंके चार योजन ऊपर नक्षत्रोंका भ्रमण माना गया है । इसी प्रकार अन्य बुध आदिमें अन्तर समझ लेना चाहिये । यों आम्नायके भेदका जैसे अन्यत्र निवारण कर लिया जाता है उसी प्रकार यहां भी ग्रन्थकर्ताओंके गुरुपरिपाटी द्वारा स्मरण रहे यथायोग्य प्रमेय अनुसार आगमवाक्योंका श्रद्धान कर लेना चाहिये तिसही कारण ग्रन्थकार यहां आगमप्रमाणकी प्रधानता अनुसार " श्रुति " ऐसा शब्द लिख रहे हैं । एकसौ दश योजनोंकी मुटाई अविरुद्ध है । जिन स्थानोंपर ज्योतिष्क मण्डल स्थिर है वहां भी उक्त क्रमसे ही रचनायुक्त होरहा है और मनुष्य लोकमें भ्रमण कर रहा भी इसी उक्त विन्यासको धार रहा है ।

चरंति तादृशादृष्टविशेषवशवर्तिनः ।
स्वभावाद्वा तथानादिनिधनाद्द्रव्यरूपतः ॥ ६ ॥

सूर्य आदि विमानोंमें निवास कर रहे ज्योतिष्क देव तिस जातिके अदृष्टविशेषके पराधीन वर्त रहे सन्ते भ्रमण कर रहे हैं । अथवा अनादि, अनन्त द्रव्य रूपसे तिस प्रकारका स्वभाव होनेसे मनुष्य लोकमें वे विचरते रहते हैं तथा बाहर स्थित बने रहते हैं । परिशेषमें सबसे अच्छा सिद्धान्त यही है कि जीवन, मरण, चलना, ठहरना, पृथिवीकी स्थिरता, वायुकी चंचलता, गुरुपदार्थका अधःपतन-स्वभाव, लोककी स्थिरता, आकाशकी व्यापकता, कालद्रव्यका अणुपरिमाण, जीवोंका चेतनत्व, पुद्गल द्रव्यका जडत्व, नरकोंमें दुःखोत्पादक कारणोंका सद्भाव, स्वर्गोंमें सुखोत्पादक सामग्री, मुक्ति अवस्थामें अनन्त सुख, ये व्यवस्थायें अनादिनिधन द्रव्यके निजगांठके स्वभावों अनुसार व्यवस्थित हैं । नृलोकमें ज्योतिषियोंका भ्रमण और नृलोकसे बाहर असंख्याते ज्योतिषियोंका वहांके वहीं बने रहना निजगांठकी परिणतियोंपर अवलम्बित है । भ्रमण और गमन दोनोंके लिये कारणोंका ढूंढना एकसा आवश्यक है । जीवन और मरण दोनों ही सकारण हैं । कार्यकारणभावके वेत्ता विद्वानोंने यहां उत्पाद, व्यय और स्थिति तीनोंको कारणजन्य माना गया है । ज्योतिष्कोंको भ्रमण करानेके लिये जितने शक्तिशालीकी आवश्यकता है उतना शक्तिशाली कारण उनको स्थिर रख सकता है । क्वचित् वह कारण बहिरंग भी होता है । किन्तु बहुभाग स्थलोंमें अन्तरंग ही कारण प्रधान माना गया है । धर्म, अधर्म, दोनों द्रव्योंकी शक्ति समान है उत्कृष्ट रौद्रध्यान और प्रकृष्ट शुक्लध्यानकी शक्ति तौलमें बराबर है । एक सातवें नरकमें पहुंचा देता है, दूसरा मोक्षमें धर देता है । ज्योतिष चक्रको ठहराये रखनेमें अल्पबल कारणसे कार्य होजाय और ज्योतिष चक्रका भ्रमण करानेमें महान् शक्तिशाली कारण उपयोगी होय ऐसा चित्तमें नहीं धार लेना चाहिये । सवार, सामायिकी, वात्सल्य आदि करके घोडा, मन, लोक, शुक, अतिथि, स्वकीय पाठ आदिको एकाग्र धारे रखनेमें बडी शक्ति लगानी पडती है । अतः प्रकरणमें ज्योतिष्क विमानोंका परिभ्रमण अनादि निधन द्रव्यरूप स्वभावसे निर्णीत कर दिया है । यह समाधान बहुत बढिया रुचिकर है । सभी दार्शनिकोंको इसी समाधानपर मस्तक झुकाना पडेगा ।

एष एव नभो भागो ज्योतिः संघातगोचरः ।
बहलः सदशकं सर्वो योजनानां शतं स्मृतः ॥ ७ ॥

ज्योतिष्क विमानोंके या तत्सम्बन्धी देवोंके समुदायका विषय हो रहा यह आकाश भाग ही सर्व दशसहित सौ योजनोंका मोटा सिद्धान्तज्ञ ऋषियोंकी परिपाटी अनुसार स्मरण किया जा रहा है । अर्थात्—यहां सम भागसे सात सौ नब्बे बडे योजन ऊपर चलकर ज्योतिष्क चक्रका प्रारम्भ हो जाता है । १०+८०+३+३+३+३+४+४=११० यों मध्यलोक सम्बन्धी एक सौ दश योजन

मोटे सत्रे आकाशमें वे इस दो सौ छप्पन प्रमाणांगुलोंके वर्गका जगत्प्रतर प्रदेशोंमें भाग देनेपर प्राप्त हुई संख्या प्रमाण ज्योतिषी देव या उन देवोंके संख्यातवें भाग प्रमाण ज्योतिष्क विमान निवस रहे हैं। एक एक विमानमें हजारों, लाखों यों संख्याते देव रह जाते हैं। जैसा कि श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने सम्पूर्ण विमानोंमें अकृत्रिम बन रहे अनादि अनन्त अकृत्रिम चैत्यालयोंको इस गाथा करके नमस्कार किया है। " वेसदछप्पण्णंगुल कदिहिदपदरस्स संखभागमिदे, जोइसजिणिंदगेहे गणणातीदे णमंसामि "।

स घनोदधिपर्यंतो नृलोकेऽन्यत्र वा स्थितः ।
सिद्धस्तिर्यगसंख्यातद्वीपांभोधिप्रमाणकः ॥ ८ ॥

और वह ज्योतिष्क विमानोंका व्यूह मनुष्य लोकमें अथवा मनुष्य लोकसे बाहर भी तिरछा असंख्यात द्वीप और असंख्याते सम्पूर्ण समुद्रप्रमाण लम्बा, चौडा, होकर घनोदधिपर्यन्त व्यवस्थित हो रहा सिद्ध है। अर्थात्—मध्यलोकस्थ त्रसनाली सम्बन्धी एक सौ दश योजन मोटे आकाश भागमें पूर्व, पश्चिम, बारह योजन मोटे वातवलयको छोडकर लोकपर्यन्ततक फैला हुआ है। और दक्षिण, उत्तरमें, त्रसनालीतक ज्योतिषचक्र स्थित है। यानी सात राजू लम्बा, एक राजू चौडा, और मेरुसम एक लाख चालीस योजन ऊंचा मध्यलोक है। दक्षिण और उत्तरसे तीन तीन राजू स्थावर लोकके भागको घटा कर इसके ठीक बीचमें एक राजू लम्बा, एक राजू चौडा, त्रसनालीका भाग है। उस त्रसनालीमें पूर्व और पश्चिम बारह योजन मोटे वातवलय प्रमाण कमती एक राजू चौडे और उत्तर दक्षिणमें पूरे एक राजू लम्बे तथा एक सौ दश योजन ऊपर नीचे मोटे चौकोर आकाश प्राङ्गणमें ज्योतिश्चक्र प्रतिनियत है। मध्यलोक सम्बन्धी पूर्व, पश्चिम, लोकप्रान्तमें पांचयोजन मोटे पहिले घनोदधिवातपर्यंत ज्योतिष्क विमान फैल रहे हैं। हां, दक्षिण, उत्तरकी ओर त्रसनालीसे घनोदधि वात निकट नहीं है। तीन तीन राजू दूर है।

सर्वाभ्यंतरचारीष्टः तत्राभिजिदथो बहिः ।
सर्वेभ्यो गदितं मूलं भरण्योधस्तथोदिताः ॥ ९ ॥
सर्वेषामुपरि स्वातिरिति संक्षेपतः कृता ।
व्यवस्था ज्योतिषां चिंत्या प्रमाणनयवेदिभिः ॥ १० ॥

नृलोक सम्बन्धी उस ज्योतिष्क मण्डलमें सम्पूर्ण स्वकीय ज्योतिष्क विमानोंके अभ्यन्तर (भीतर) चरनेवाला अभिजित् नामका नक्षत्र इष्ट किया गया है और अपने अपने द्वीप या समुद्रसम्बन्धी सम्पूर्ण ज्योतिष्क मण्डलसे बाहर चर रहा मूलनामका नक्षत्र कहा गया है। तिसी प्रकार सबसे नीचे

भरणी नक्षत्र सम्बन्धी पांच तारे चर रहे कहे गये हैं तथा सबके ऊपर स्वातिनक्षत्रका एक तारा चर रहा है। विशेष यह है कि यहां सर्व शब्दसे यदि सम्पूर्ण ज्योतिष्क मण्डल अभिप्रेत है तब तो सबसे नीचे तारे और उनसे तिरानबे योजन ऊंचे नक्षत्र तथा सबके ऊपर शनिश्चरको कहनेवाले सिद्धान्तवचनका इस भरणी नक्षत्रको सबसे नीचे और स्वाती नक्षत्रको सबके ऊपर कहनेवाले सिद्धान्तको अपवाद कथन समझा जाय। हां, यदि " उत्तरदक्खिण उड्ढ—धोमज्झे अभिजिमूलसादीय, भरणी कित्तिय रिक्खा चरंति अवराणमेवं तु " इस त्रिलोकसारसम्बन्धी गाथाकी " अथाकाशे चरतां कियन्नक्षत्राणां दिग्विभागमाह " " अब श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कितने ही एक नक्षत्रोंकी दिशाके विभागको कहते हैं " इस श्री माधवचन्द्र त्रैविद्यकृत उत्थानिका अनुसार केवल नक्षत्रोंका ही दिग्विभाग मानना अभीष्ट होय, तब सर्व नक्षत्रोंके अधः (भीतर) भरणी और सर्व नक्षत्रोंके ऊपर स्वाती नक्षत्रके विचरनेकी व्यवस्था ठीक बैठ जाती है। यों सम्पूर्ण ज्योतिष्क मण्डलके नीचे तारायें, मध्यमें नक्षत्र, ऊपर शनिश्चर ग्रह, इस सिद्धान्तकी रक्षा भी होजाती है। अभिजित्को भीतरकी ओर और मूलको बाहरकी ओर भले ही सम्पूर्ण नक्षत्रोंकी अपेक्षा या सम्पूर्ण ज्योतिष्क मण्डलकी अपेक्षा भी कह देनेसे कोई विरोध नहीं आता है। इस प्रकार संक्षेपसे ज्योतिष्क विमानोंकी यह स्मरण अनुसार आगमोक्त व्यवस्था कर दी गयी है। प्रमाण और नयके वेत्ता विद्वानों करके ज्योतिषियोंकी अन्य विस्तृत व्यवस्थाका भी उपरिष्टात् चिन्तन कर लेना चाहिये। ग्रन्थकर्त्ताके एक एक अक्षरपर तर्कवादका चक्कर चढवानेके लिये उत्सुक बैठे हुये प्रतिवादियोंके सम्मुख विप्रकृष्ट विषयोंका इतना ही निरूपण करना पर्याप्त है। श्रद्धालु श्रोता अन्य विद्यानन्द महोदय, त्रिलोकसार, आदि ग्रन्थोंसे अपनी विस्तृत अभिलाषाको परितृप्त करें।

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतय इति वचनात् किमिष्यत इत्याह।

कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि ज्योतिष्क देवोंके लिये सुदर्शन मेरुकी प्रदक्षिणा देते रहना और नित्य गतिमान् बने रहना इस सूत्र प्रतिपादित वचनसे श्री उमास्वामी महाराजको कौनसा प्रमेय अभीष्ट हो रहा है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधान वचनको कहते हैं।

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयस्त्विति निवेदनात्।
नैवाप्रदक्षिणा तेषां कादाचित्कीष्यते न च ॥ ११ ॥
गत्यभावोपि चानिष्टं यथा भूभ्रमवादिनः।
भुवो भ्रमणनिर्णीतिविरहस्योपपत्तितः ॥ १२ ॥

इस सूत्रमें कहे गये सम्पूर्ण पद इतरका व्यवच्छेद करते हुये सफल हैं, निरर्थक नहीं। देखो, मेरुकी प्रदक्षिणा करते हुये ज्योतिष्क नित्य गतिवाले हैं, इस प्रकार सूत्रकर्त्ता करके निवेदन करनेसे

तो उन ज्योतिष्क देवोंकी गति प्रदक्षिणारहित नहीं हो पाती है और कभी कभी होनेवाली गति भी इष्ट नहीं की गयी है तथा ज्योतिष्क विमानोंकी गतिका अभाव भी अनिष्ट है, जैसा कि ज्योतिष्कोंका गत्यभाव भू का भ्रमण कहनेवाले विद्वान् मान रहे हैं। क्योंकि पृथिवीका भ्रमणरहितपना युक्तियोंसे निर्णीत हो चुका है। अर्थात्—मेरुप्रदक्षिणा शब्दसे ज्योतिष्कोंके प्रदक्षिणारहितपनकी व्यावृत्ति कर दी गयी है। गति होनेमें नित्यपना लगा देनेसे बहुत दिनोंतक स्थिर ठहरते हुये ज्योतिष्कोंके कभी कभी गति करनेका व्यवच्छेद कर दिया है। पृथिवीका भ्रमण माननेवाले आर्यभट्ट या यूरप, अमेरिका, इटलीनिवासी कतिपय आधुनिक विद्वानोंने ज्योतिष चक्रको स्थिर मानकर सूर्य आदिमें गतिका अभाव इष्ट कर लिया है। ज्योतिष्कोंकी गतिका प्रतिपादन करते हुये सूत्रकारने ज्योतिष्चक्रके गत्यभाव और पृथिवीके भ्रमणकी व्यावृत्ति कर दी है। क्योंकि उन विद्वानोंके बूते भू का भ्रमण निर्णीत नहीं हो सका है। और ग्रन्थकारने तृतीय अध्यायमें पृथिवीके भ्रमणरहितपनका युक्तियोंसे निर्णय कर दिया है।

न हि प्रत्यक्षतो भूमेर्भ्रमणनिर्णीतिरस्ति, स्थिरतयैवानुभवात्। न चायं भ्रांतः सकलदेशकालपुरुषाणां तद्भ्रमणाप्रतीतेः। कस्यचिन्नावादिस्थिरत्वानुभवस्तु भ्रांतः परेषां तद्गमनानुभवेन बाधनात्।

प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे इस अचला भूमिके भ्रमणका निर्णय नहीं हो सकता है। क्योंकि स्पार्शन प्रत्यक्ष, चाक्षुष प्रत्यक्ष तथा स्थिर भूमिके होते सन्ते हो रही असम्भ्रान्ति (अव्याकुलता) को धारनेवाले मनसे हुये प्रत्यक्षप्रमाणों करके भूमिका स्थिरस्वरूप करके ही अनुभव हो रहा है। यह अनुभव होना भ्रमज्ञान नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण देश और कालमें वर्त रहे पुरुषोंको उस भूमिका भ्रमण प्रतीत नहीं होता है। देखो सीपमें हुआ चांदीका ज्ञान या मृगतृष्णामें हुआ जलका ज्ञान तथा शुक्लशंखमें पीतत्वका ज्ञान अबाधित नहीं है। अनेक देश कतिपयकाल और कई सम्वादी पुरुषोंकी अपेक्षा बाधा उत्पत्ति होजानेपर पूर्वज्ञान भ्रान्त माने जाते हैं। किन्तु सम्पूर्ण देश, सम्पूर्ण काल और सम्पूर्ण पुरुषोंकी अपेक्षा अबाधित होरहा पृथिवीकी स्थिरताका ज्ञान कथमपि भ्रान्त नहीं है। यदि भूभ्रमणवादी पण्डित यों कहें कि अनभ्यस्त किसी नगरके नीचे बहनेवाली नदियां या समुद्रमें नावके ऊपर किसीको भ्रमण करनेका अवसर मिल जाता है, उस मुग्धबुद्धि पुरुषको चलती हुयी नाव तो स्थिर प्रतीत होती है और नगर या समुद्रतट भ्रमण करते हुये दृष्टिगोचर होते रहते हैं। दिशाकी भ्रान्ति भी होजाती है। इसी प्रकार पृथिवीके भ्रमण होनेपर भी सूर्य आदिकी स्थिर दशामें हम स्थूल बुद्धि पुरुषोंको पृथिवीके स्थिरत्वका अनुभव हो जाता है, जो कि भ्रान्त ज्ञान है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यों किसी किसी असंज्ञी सारिखे पोंगा पुरुषको चल रहे नाव, वायुयान, रेलगाडी आदिके स्थिरपनका हो रहा अनुभव तो भ्रान्त है। क्योंकि दूसरे विचारशील पुरुषोंको उन नाव आदिके गमनके हो रहे अनुभव करके उस अनुभवकी बाधा कर दी जाती है। किन्तु पृथिवीकी स्थिरता तो सम्पूर्ण देश, सम्पूर्ण काल

और अखिल पुरुषोंके यहां बाधारहित है। यों प्रत्यक्षप्रमाणसे भूभ्रमणका निर्णय नहीं हो सका। अतः आर्यभट्ट पण्डितने जो यह कहा है। " अनुलोमगतिर्नौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत्, अचलानि भानि तद्वत् समपश्चिमगानि लङ्कायाम् " नावमें बैठा हुआ अनुकूल सीधा जा रहा मनुष्य किनारेके स्थिर हो रहे वृक्ष, पर्वत, आदि पदार्थोंको जैसे उलटी ओरको चलता हुआ देखता है, उसी प्रकार लंकामें अचल ज्योतिष्क मण्डलको पश्चिमकी ओर चलते हुये देखता है। यह आर्यभट्टका कहना प्रत्यक्षविरुद्ध है। दृष्टान्त विषम है।

नाप्यनुमानतो भूभ्रमणविनिश्चयः कर्तुं सुशकः तदविनाभाविलिंगाभावात्। स्थिरे भचक्रे सूर्योदयास्तमयमध्यान्हादि भूगोलभ्रमणे अविनाभाविलिंगमिति चेन्न, तस्य प्रमाणबाधितविषयत्वात् पावकानौष्ण्यादिषु द्रव्यत्वादिवत्। भचक्रभ्रमणे सति भूभ्रमणमंतरेणापि सूर्योदयादिप्रतीत्युपपत्तेश्च। न तस्मात् साध्याविनाभावनियमनिश्चयः। प्रतिविहितं च प्रपंचतः पुरस्तात् भूगोलभ्रमणमिति न तदवलंबनेन ज्योतिषां नित्यगत्यभावो विभावयितुं शक्यः। नापि कादाचित्कोऽप्यते गतिर्नित्यग्रहणात्।

तथा अनुमानप्रमाणोंसे भी भूभ्रमणका विशेषतया भले प्रकार निश्चय नहीं किया जा सकता है। क्योंकि उस भूभ्रमणरूप साध्यके साथ अविनाभावको धारनेवाले ज्ञापकलिंगका अभाव है। भू के भ्रमण और ज्योतिश्चक्रकी स्थिरता मान लेनेपर होनेवाले दिन, रात, ग्रहण, राशिसंक्रमण, आदि कार्य तो पृथिवीकी स्थिरता और ज्योतिष्कोंका भ्रमण माननेपर भी सुलभतया उपपन्न हो जाते हैं। यदि ज्योतिष्क मण्डलको स्थिर माननेवाला यों कहे कि नक्षत्र मण्डलके स्थिर होनेपर और भूगोलका भ्रमण होते सन्ते सूर्यका उदय होना, सूर्यका अस्त होना, मध्याह्न (दुपहर) होना, ग्रहण पड जाना आदि ही अविनाभावी लिंग हैं। ग्रन्थकार कहते हैं, यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस लिंगके साध्यरूप विषयकी प्रमाणोंसे बाधा प्राप्त हो जाती है। जैसे कि अग्निमें अनुष्णता, अदाहकता आदिकी सिद्धि करनेमें प्रयुक्त हुये द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, आदि हेतु बाधित हेत्वाभास हैं। इसी प्रकार तुम्हारे भूभ्रमणके लिंगके विषय हो रहे साध्यकी प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा बाधा उपस्थित हो रही है। दूसरी बात यह है कि ज्योतिष्कचक्रका भ्रमण होते सन्ते भूभ्रमणके विना भी सूर्योदय, सूर्यास्तता आदिकी प्रतीति होना युक्तियोंसे सध जाता है। इससे भी भू का भ्रमण सिद्ध नहीं हो पाता है। तिस कारण हेतुका साध्यके साथ अविनाभाव बन जानास्वरूप नियमका निश्चय नहीं हो सका है। विद्वान् आर्यभट्टने लिखा है। " भपञ्जरः स्थिरो भूरेवावृत्यावृत्य प्रातिदैवसिकौ उदयास्तमयौ सम्पादयति ग्रहनक्षत्राणाम् " सूर्य आदिक सब नक्षत्र मण्डल स्थिर है। पृथिवी ही बार बार घूम घूम कर प्रत्येक दिनमें होनेवाले ग्रह और नक्षत्रोंके उदय और अस्तका सम्पादन करती है। ऐसी युक्ति रहित आर्यभट्टकी प्रतिज्ञायें आदरणीय नहीं हैं। तथा अधिक विस्तारसे भूगोलके भ्रमणका खण्डन

हम पूर्व प्रकरणमें कर चुके हैं। इस कारण उस भूभ्रमणका अवलम्ब लेकरके ज्योतिषियोंको नित्य गतिका अभाव नहीं विचारा (निर्णय) जा सकता है। यों प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रमाणसे ज्योतिश्चक्रकी नृलोकमें गति निर्णीत की जा सकती है। वह ज्योतिष्कोंकी गति कभी कभी होनेवाली भी नहीं इष्ट की गयी है। क्योंकि गतिका विशेषण देनेके लिये सूत्रकारने " नित्य " शद्बका ग्रहण किया है। अतः नृलोकमें ज्योतिष्कोंकी गति नित्य हो रही मानी गयी है। कतिपय ज्योतिष्कोंकी हो रही नित्य गतिका बालक बालिकाओंतकको प्रत्यक्ष हो जाता है।

तद्गतेर्नित्यत्वविशेषणानुपपत्तिरध्रौव्यादिति न शंकनीयं, नित्यशद्बस्याभीक्ष्ण्यवाचित्वान्नित्यप्रहसितादिवत् ।

कोई यहां शंका करता है कि ज्योतिष्कोंकी उस गतिका नित्यपना यह विशेषण नहीं बन सकता है। क्योंकि कोई गति ध्रुव नहीं है। बौद्ध, वैशेषिक, मीमांसक, यहांतक कि जैन भी क्रियाओंको अनित्य स्वीकार करते हैं। नृत्यकारिणीकी झटझट पूर्वक्रियायें नष्ट होरहीं संती उत्तरक्रियायें उपजती हुई दिखती हैं। " कर्मत्वऽनित्यमेव " कोई भी क्रिया नित्य कालतक स्थिर नहीं रह सकती है। क्षणक्षणमें अन्य ही क्रिया होजाती है, ऐसी दशामें ज्योतिष्कोंकी नित्यगति आपने कैसे कही ? बताओ। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि नित्य शद्ब अभीक्ष्णताका वाचक व्यवस्थित होरहा है, जैसे कि नित्य ही हंसनेवाला देवदत्त है या नित्य बकवाद करनेवाला यज्ञदत्त है, नित्यभोजी बालक है इत्यादि स्थलोंमें नित्यका अर्थ अभीक्ष्णता यानी पुनः पुनः या असकृत् है, देवदत्त नित्य हंसता रहता है, इसका अर्थ शौच जाते, सोते आदि अवस्थाओंमें भी सदा हंसते रहना नहीं है। किन्तु अनेकवार पुनः या पुनः बहुतसी क्रियाओंमें दिनरात बहुभाग अवसरोंपर हंसते रहना है। प्रातःसे लेकर सायंकालतक हंसना ही जब अत्यन्त कष्टसाध्य है, ऐसी दशामें नित्य हंसते रहना तो असम्भव ही समझियेगा। कुछ देरतक हंसते रहनेपर भी शरीर या आत्मामें प्रतिक्षण अनेक हंसियां विनशतीं, उपजतीं, रहती हैं। इसी प्रकार ज्योतिष्कोंकी गतिमें नित्यका अर्थ पुनः पुनः एकके पीछे झट दूसरी गति, अनेकवार गति यों अभीक्ष्णता करना चाहिये। जैसा कि नित्य हंसना, नित्य बक बक करना, नित्य रोना, नित्य टोटा होना, नित्य पूजन करना आदिमें शोभता है।

> **ऊर्ध्वाधोभ्रमणं सर्वज्योतिषां ध्रुवतारकाः ।**
> **मुक्त्वा भूगोलकादेवं प्राहुर्भूभ्रमवादिनः ॥ १३ ॥**
> **तदप्यपास्तमाचार्यैर्नृलोक इति सूचनात् ।**
> **तत्रैव भ्रमणं यस्मान्नोर्ध्वाधोभ्रमणे सति ॥ १४ ॥**

ध्रुव तारोंको छोडकर सम्पूर्ण ज्योतिषियोंका भूगोलसे ऊपर, नीचे, भ्रमण होरहा है, इस प्रकार भूभ्रमणवादी विद्वान् बढिया कह रहे हैं। सूर्यसिद्धान्त ग्रन्थमें लिखा है " ध्रुवोन्नतिर्भचक्रस्य नतिर्मेरुं प्रयास्यतः। निरक्षाभिमुखे यातुर्विपरीते नतोन्नते " उत्तरीय मेरुकी ओर जानेवाले मनुष्यको ध्रुवतारा ऊंचा उठता हुआ दीखता है और दक्षिणका नक्षत्र मण्डल नीचेको जानेवाला दीखता है तथा दक्षिणीय ध्रुवकी ओर जानेवाले पथिकको इसके विपरीत नीचे, ऊंचे, दीखते हैं। यानी ध्रुवतारा नीचा जारहा है और दक्षिणीय नक्षत्र मण्डल ऊपरको जारहा भासता है। सिद्धान्तशिरोमणि ग्रन्थके गोलाध्यायमें " उदग्ध्रुवं याति यथा यथा नरस्तथा तथा खान्नतमृक्षमण्डलम् उदग्ध्रुवं पश्यति चोन्नतं क्षितेः " मनुष्य जितना जितना उत्तर दिशाकी ओर जाता है, वैसा वैसा दक्षिणभागके नक्षत्र मण्डलको आकाशसे नीचा नम्र होरहे देखता है और उत्तरध्रुवको पृथिवीसे उन्नत उन्नत होते जारहेको देखता है। योरपके अनेक विद्वान् इन बातोंका समर्थन करते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि भूभ्रमणवादियोंका यह चन्द्रमा, मंगल आदि ज्योतिषियोंका ऊपर नीचे घूमना स्वीकार करना भी निराकृत कर दिया गया है। क्योंकि सूत्रकार श्री उमास्वामी आचार्य महाराजने इस सूत्रमें " नृलोके " ऐसा सूत्रण किया है। यदि तुम्हारे मन्तव्य अनुसार ज्योतिश्चक्रका ऊपर, नीचे, की ओर भ्रमण माना जावेगा वैसा होते सन्ते तो उस मनुष्य लोकमें ही ज्योतिष्कोंका भ्रमण होना नहीं बन सकेगा।

घनोदधेः पर्यंते हि ज्योतिर्गणगोचरे सिद्धे नृलोक एव, भ्रमणं ज्योतिषामूर्ध्वाधः कथमुपपद्यते ? भूविदारणप्रसंगात्। तत एव विंशत्युत्तरैकादशयोजनशतविष्कम्भत्वं भूगोलस्याभ्युपगम्यत इति चेन्न, उत्तरतो भूमंडलस्येयत्तातिक्रमात् तदधिकपरिमाणस्य प्रतीतेः तच्छतभागस्य च सातिरेकैकादशयोजनमात्रस्यैव समभूभागस्याप्रतीतेः कुरुक्षेत्रादिषु भूद्वादशयोजनादिप्रमाणस्यापि समभूतलस्य सुप्रसिद्धत्वात्। तच्छतगुणविष्कंभभूगोलपरिकल्पनायामनवस्थाप्रसंगात्।

पूर्व, पश्चिमकी ओर घनोदधि पर्यन्त तथा दक्षिण, उत्तरकी ओर त्रसनालीकी मर्यादातक जब कि ज्योतिश्चक्रका विषयभूत यह लोक सिद्ध हो चुका है तो ऐसा होते सन्ते फिर मनुष्य लोकमें ही ज्योतिषियोंका ऊपर नीचे भ्रमण होना भला किस तरह युक्तसिद्ध हो सकता है ? यों तो ऊपर नीचे भ्रमण मानने पर पृथिवीके फटजानेका प्रसंग आ जावेगा, जो कि इष्ट नहीं है। अर्थात्—भूगोलका भ्रमण माननेवाले अन्य नक्षत्रमण्डलका भी अपनी कक्षा अनुसार भ्रमण होना स्वीकार करते हैं। सिद्धान्तशिरोमणिके गणिताध्यायमें कहा है कि " सृष्ट्वा भचक्रं कमलोद्भवेन ग्रहैः सहैतद् भगणादिसंस्थैः। शश्वद्भ्रमे विश्वसृजा नियुक्तं तदन्तसारे च तथा ध्रुवत्वे "। यदि नक्षत्रमण्डल ऊपर नीचे घूमेगा तो पृथिवी अवश्य फट जायगी। यदि भूभ्रमणवादी यों कहें कि तिस ही कारण अर्थात्—पृथिवीका विदारण नहीं हो जाय। अतः हमारे यहां ग्यारह सौ बीस योजन चौडा भूगोल स्वीकार

किया जाता है। इतनी चौडी पृथिवी अपनी धुरी पर या सूर्यका चक्कर देती हुई घूमती रहती है। अन्य नक्षत्र या ग्रह भी स्वकक्षामें घूमते रहते हैं। " ततोऽपराशाभिमुखे भपञ्जरे सखेचरे शीघ्रतरे भ्रमत्यपि। तदल्पगत्वैन्द्रदिशं नभश्चराश्चरन्ति नीचोच्चतराश्मकर्मेसु "। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उत्तरकी ओरसे भूमण्डलके इतने ग्यारहसौ बीस योजन चौडे परिमाण होनेका अतिक्रमण हो रहा है। उस ग्यारहसौ बीस योजन चौडाईसे अधिक परिमाणवालेकी प्रतीति हो रही है। उस ग्यारहसौ बीसके सौमे भाग केवल कुछ अधिक ग्यारह योजन ११ योजनके ही समतल हो रहे भूभागकी प्रतीति नहीं होती है। कुरुक्षेत्र आदि स्थानोंमें बारह योजन आदि प्रमाणवाली या इससे भी अधिक समतल (सपाट) हो रही पृथिवीकी भी अच्छी प्रसिद्धि हो रही है। यदि उस बारह आदि योजन प्रमाण समतलसे पुनः सौगुना चौडा भूगोल कल्पित किया जायगा तब तो अनवस्थाका प्रसंग हो जायगा। भावार्थ—भूगोलवादियोंने पृथिवीकी चौडाई ग्यारहसौ बीस योजन स्वीकार की। किन्तु यह ठीक नहीं बैठता है। उत्तरकी ओर पृथिवी अधिक विस्तारवाली माननी पडेगी। दूसरी बात यह है कि गोलपदार्थका सौमा भाग समतल दीखा करता है। सिद्धान्तशिरोमणिमें कहा है कि " समो यतः स्यात्परिधेः शतांशः पृथ्वी च पृथ्वी नितरां तनीयान्। नरश्च तत्पृष्ठगतस्य कृत्स्ना समेव तस्य प्रतिभात्यतः सा " इसका अर्थ यह है कि जिस कारण गोलपरिधिका सौमा भाग सम दीखा करता है, यह पृथ्वी बडी लम्बी, चौडी, मोटी है और मनुष्य अत्यन्त छोटा है। उस पृथिवीकी पीठपर प्राप्त हो रहे उस मनुष्यकी थोडी दूर दृष्टि जानेसे इस कारण यह पृथ्वी समतल ही दीखती है। इस नियम अनुसार केवल एक योजनका पांचवां भाग अधिक ग्यारह योजन ही समतल भूमि दीखनी चाहिये। किन्तु कुरुक्षेत्र (पानीपत) आदिमें बारह, चौदह, बीस योजनवाले भी समतल (मैदान) पाये जाते हैं। सिद्धान्तशिरोमणि गणिताध्यायमें " प्रोक्तो योजनसंख्यया कुपरिधिः सप्तांगनन्दाब्धयः। तद्व्यासः कुभुजंगसायकभुवोऽथ प्रोच्यते योजनम्। याम्योदक्पुरयोःपलान्तरहतं भूवेष्टनं भांशहृत्। तद्भक्तस्य पुरान्तराध्वन इह ज्ञेयं समं योजनम् ॥ १ ॥ इस श्लोक द्वारा पृथिवीकी परिधि चार हजार नौ सौ सडसठ ४९६७ योजन और व्यास पन्द्रह सौ इक्यासी १५८१ योजन बताया है। कोई यूरोपनिवासी पण्डित सात हजार नौ सौ बारह मील ७९१२ मील पृथिवीका व्यास मानते हैं। अन्य इससे भी न्यून या अधिक स्वीकार करते हैं। इस प्रकार कोई ठीक पृथिवीके नापकी व्यवस्था नहीं हो सकी है। अनेक विद्वानोंके परस्पर विरुद्ध मन माने नापोंसे पृथिवीके परिमाणकी यथार्थ व्यवस्था नहीं समझी जायगी। वस्तुतः यह रत्नप्रभा पृथिवी सात राजू लम्बी, एक राजू चौडी, और एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी समतल है। क्वचित् इसके प्रदेश ऊंचे, नीचे, भी हो गये हैं। गेंद या नारंगीके समान गोल माननेपर अनेक दोष आते हैं। सूर्यसिद्धान्तमें जो यह लिखा है कि " अल्पकायतया मर्त्याः स्वस्थानात्सर्वतो मुखम्, पश्यन्ति वृत्तामप्येतां चक्राकारां वसुन्धराम् " पृथिवीकी अपेक्षा मनुष्योंका अत्यल्प शरीर

होनेसे छोटे छोटे मनुष्य गोल भी इस पृथिवीको अपने स्थानसे चक्रके समान चपटी आकारवाली देखते हैं। बात यह है कि मनुष्यकी चक्षुयें बहुत दूर तक लम्बे, चौडे, फैले हुये पदार्थको पूरा नहीं देख पाती हैं। अतः गोल दीखना या चक्रके समान दीखना दोनों ही भ्रान्तिज्ञान हैं। गोल पृथिवी यदि भ्रमण करती हुयी मानी जावेगी तो ध्रुवतारा एक ही स्थानपर नहीं दीखना चाहिये। सूर्यके समान ध्रुवतारा भी घूमनेवाले मनुष्योंको न्यारे न्यारे स्थानपर दीखना चाहिये था। किन्तु ऐसा नहीं है। ध्रुवतारा रातभर एक ही स्थानपर दीखता है। पृथिवीका नाम गौ है। गच्छति इति गौः जो चलती है, अतः वह पृथिवी गौ है, ऐसी पोली, लचर, युक्तियोंसे पृथिवी चलायमान सिद्ध करना शब्दव्यवहारको नहीं समझना है। यों तो अचला, स्थिरा, अनन्ता ये नाम भी पृथिवीके हैं। जो कि असंख्य योजन लम्बी पृथिवीको स्थिर सिद्ध करते हैं। भूगोलवादियोंका कहना है कि किनारेसे देखनेपर दूरवर्ती जहाजका पहिले ऊर्ध्वभाग (मस्तूल) दीखता है, इसी प्रकार दूरसे ताड वृक्षको देखकर ऊपरला झप्पा पहिले दीखता है। क्योंकि अधोभाग पृथिवीकी गोलाईकी ओटमें आ जाता है। लघु सिद्धान्तमें यह कहा है। " समता यदि विद्यते भुवस्तरवस्तालनिभा बहूच्छ्रयाः कथमेव न दृष्टिगोचरं नु रहो यान्ति सुदूरसंस्थिताः " ऐसी ढीली पोली युक्तियोंको सुन कर हमें हंसी आती है। जब कि सौ हाथ ऊंचे पदार्थको दो कोससे देखनेपर दस हाथका अन्तर पड जाता है। जहाज या तालवृक्षका निचले दस हाथ भाग नहीं दीखता है। इतनेसे ही यदि पृथिवीको गोल मान लिया जावेगा, तब तो भूमि पचास या सौ कोसकी ही सिद्धि हो सकेगी। ऐसी दशामें आगरेको यदि गोलभूमिके ऊपर मान लिया जाय तो कानपुर पृथिवीके नीचे मानना पडेगा। किन्तु कुछ योरपवासिओंने अमेरिका (न्यूयार्क) को आगरेके नीचे स्वीकार किया है। इसी प्रकार सिद्धान्त शिरोमणिके भूलोकाध्यायमें पृथिवीके चपटी होनेमें यह आक्षेप किया गया है कि " यदि समा मुकुरोदरसन्निभा भगवती धरणी तरणिः क्षितेः। उपरि दूरगतोऽपि परिभ्रमन् किमु नरैरमरैरिव नेक्ष्यते ॥ यदि निशाजनकः कनकाचलः किमु तदन्तरगः स न दृश्यते। उदगमस्तु मेरुरथांशुमान् कथमुदेति च दाक्षिणभागके ॥ २ ॥ " इसका अर्थ यह है कि यदि दर्पणके पेटसारिखी भूमि समतल मानी जायगी, तो पृथिवीके ऊपर बहुत दूर प्राप्त हुआ भी घूमता हुआ सूर्य देवोंके समान मनुष्योंको क्यों नहीं दीखता है ? दूसरी बात यह कही गयी है कि सूर्यकी ओट करनेवाला सुमेरु पर्वत यदि रातको कर देता है तो दृष्टा और सूर्यके अन्तरालमें प्राप्त हो रहा वह सोनेका बना हुआ सुमेरु पर्वत क्यों नहीं दीखता है। तथा मेरुकी आडसे निकलकर सूर्यका उदय माना जायगा तो उत्तर दिशामें सूर्यका उदय होना चाहिये। क्योंकि मेरु उत्तरकी ओर है। शीतकालमें जो पूर्वसे भी हट कर दक्षिणकी ओर सूर्य उदय हो रहा है, वह कैसे भी नहीं हो सकेगा। इस आक्षेपपर हमको यह कहना है कि यहांसे दो हजार कोसके एक योजन अनुसार आठ सौ योजन ऊपर सूर्य है। आजकल इतना ऊंचा मनुष्यका जाना दुर्लभ है। हां, देवता अवश्य ही सूर्यको घूमता हुआ देख

लेते हैं । जब यहींसे सूर्य चलता हुआ दीख रहा है तो ऊपर जानेकी क्या आवश्यकता है ? पृथिवी दर्पणके समान समतल ही है । आंखोंके देखनेका स्वभाव ऐसा ही है, जिससे कि दूरवर्ती पदार्थका ऊपरला भाग दृष्टिगोचर होता है। दूसरी बातपर यह कहना है कि कनकाचलकी ओटमें सूर्यके आ जानेसे कनकाचल कैसे दीख सकता है । रातके समय दीपक यदि भींतकी आडमें आजाय तो क्या भीत दीख जाती है ? " यथा प्रकाशस्थितमन्धकारस्थायीक्षतेऽसौ न तथा तमस्थम " अन्धकारमें बैठा हुआ पुरुष प्रकाशमें धरे हुये पदार्थको देख सकता है, किन्तु प्रकाश या अन्धेरेमें बैठा हुआ पुरुष अन्धकारमें स्थित पदार्थको नहीं देख सकता है । कणाद, गौतम, आदि ऋषियोंने भी " सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः " माना है । सूर्य जब सुमेरुकी आडमें आ जाता है तो यहांसे एक लाख योजन दूर पहुंच जाता है । किन्तु आंखें सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसठि योजन दूरवर्ती पदार्थसे अधिक दूरके पदार्थको नहीं देख सकती हैं । अतः जम्बूद्वीपकी वेदीके ऊपर भ्रमण कर रहा सूर्य जब निषध पर्वतपर आता है तब यहां भरतक्षेत्रसे दीखता है। अतः पूर्व दिशासे उदय होना माना जाता है और पश्चिम निषधके ऊपर पहुंचनेपर हम लोगोंको सूर्य नहीं दीख पाता है । सूर्यकी किरणोंके नहीं पहुंचनेसे यहां रात हो जाती है। यही उदय, अस्त या दिन, रात, होनेका बीज है । किरणें पहुंचने या फैलनेका सिद्धान्तदृष्टिसे यह विचार है कि सूर्य, अग्नि या प्रदीप अपने परिमित लम्बे, चौडे, स्वकीयशरीरमें ही नियत है। उनके निमित्तसे यहां फैल रहे भिन्न पुद्गलोंकी चमकीली पर्यायें हो जाती हैं। सूर्य देशसे यहां कोई किरणें नहीं आती है। यूरोपके कतिपय विद्वानोंने भी सूर्यका घूमना और पृथिवीकी स्थिरता सिद्ध करनेके लिए अब अनेक युक्तियां उपस्थित की हैं । विशेषज्ञ विद्वान् इस विषयका गम्भीर अन्वेषण कर सकते हैं ।

कथं चास्थिरेपि भूगोले गंगासिंध्वादयो नद्यः पूर्वापरसमुद्रगामिन्यो घटेरन् ? भूगोलमध्यतः प्रभवादिति चेत्, किं पुनर्भूगोलमध्यं ? । उज्जयिनीति चेत्, न ततो गंगासिंध्वादीनां प्रभवः समुपलभ्यते । यस्मात्तत्प्रभवः प्रतीयते तदेव मध्यमिति चेत्, तदिदमतिव्याहतं । गंगाप्रभवदेशस्य मध्यत्वे सिन्धुप्रभवभूभागस्य ततोतिव्यवहितस्य मध्यत्वविरोधात् । स्वबाह्यदेशापेक्षयातस्य मध्यत्वे न किंचिदमध्यं स्यात् स्वसिद्धान्तपरित्यागश्चोज्जयिनीमध्यवादिनां ।

दूसरी बात हम भूगोलभ्रमण वादियोंसे यह पूंछते हैं कि भूगोलको अस्थिर माननेपर गंगा, ब्रह्मपुत्र, या सिन्धु, नर्मदा, आदि नदियां भला पूर्वसमुद्रकी ओर और पश्चिमसमुद्रकी ओर जारहीं कैसे घटित हो सकेंगी ? गोल पृथिवीके संचलन होनेपर यहां वहां अस्तव्यस्त होकर फैल जावेंगी, जैसे कि घूमते हुये लट्टूपर या घूम रही चाकीपर बहा दिया गया पानी यहां वहां कहीं भी विदिशाओंमें बह निकलता है । यदि तुम भूगोलवादी यों कहो कि भूगोलके मध्यसे इन नदियोंकी उत्पत्ति

हुयी है। इस कारण ये पूर्वपश्चिम समुद्रकी ओर बह जाती हैं। यों कहनेपर हमारा प्रश्न उठता है कि भूगोलका मध्य फिर कौनसा स्थान माना गया है ? बताओ। यदि तुम उज्जैनको भूगोलका मध्य कहोगे जैसा कि " सिद्धान्तशिरोमणि " में भूमध्य रेखाको कहते हुये लिखा है " यल्लंकोज्जयिनीपुरोपरि कुरुक्षेत्रादिदेशान् स्पृशत्, सूत्रं मेरुगतं बुधैर्निगदिता सा मध्यरेखा भुवः " ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं पड़ेगा। क्योंकि उस उज्जैनसे तो गंगा, सिन्धु, आदि नदियोंकी उत्पत्ति कथमपि नहीं देखी जाती है। मालवदेशमें विराज रही उज्जैनसे कोई छोटी नदी भी नहीं उत्पन्न हुयी है। हां, ऊपरले प्रान्तसे आरही एक पतली सिप्रा नदी उज्जैन होकर अवश्य बह रही है। गंगा, और सिन्धुकी उत्पत्ति स्थान तो वहांसे सैकडों कोस दूर है। यदि तुम यों कहो कि जिस स्थानसे उन नदियोंकी उत्पत्ति होगई प्रतीत होती है वही स्थान भूगोलका मध्य है। ग्रन्थकार कहते हैं कि सो यह कहना तो अत्यधिक रूपसे व्याघातदोष युक्त हैं। गंगाके प्रभवस्थानको यदि मध्य माना जायगा तो सिन्धुनदीके आद्यप्रवाही स्थानके भूभागको जोकि उस गंगोत्तरीसे बहुत व्यवधान युक्त होरहा है, मध्यपनका विरोध होजायगा। भावार्थ— तिब्बतमें पडे हुये कैलाश पर्वत इस नामसे पुकारे जानेवाले स्थानसे क्षुद्रसिन्धु नदी निकलती है। और हिमालयमें गंगोत्तरी पर्वतसे क्षुद्रगंगा नदी निकलती है। दोनों स्थानोंमें बीसों कोसका अन्तर है। इतने बडे अन्तरको ले रहे दो स्थानोंको पृथिवीका मध्यस्थान कहनेवालोंके ऊपर व्याघातदोष आपडता है। हां, अपने अपने छहों ओर फैले हुये बाह्यदेशकी अपेक्षा यदि इन दोनों प्रभव स्थानोंको मध्य माना जायगा तब तो कोई भी स्थान मध्यरहित नहीं हो सकता है। अपने अपने इधर उधर स्थानकी अपेक्षा सभी स्थल मध्य हो जायंगे। पृथिवीको चपटी या प्रान्तभागवाली मानने- वालोंके यहां कुछ अन्तस्थान या आदि स्थान, उपरिम स्थान, नीचे स्थल भले ही अमध्य स्वरूप मिल जांय, किन्तु पृथिवीको गोल माननेवालोंके यहां तो इस ढंगसे सभी मध्यस्थल बन बैठेंगे। दूसरी बात यह है कि यों माननेपर उज्जैनको पृथिवीका मध्य कहनेवालोंके यहां अपने स्वीकृत सिद्धान्तका परित्याग हुआ जाता है।

तदपरित्यागे चोज्जयिन्या उत्तरतो नद्यः सर्वा उदङ्मुख्यस्तस्या दक्षिणतोऽवाङ्मुख्य- स्ततः पश्चिमतः प्रत्यङ्मुख्यस्ततः पूर्वतः प्राङ्मुख्यः प्रतीयेरन्, भूम्यवगाहभेदान्नदीगतिभेद इति चेन्न, भूगोलमध्ये महावगाहप्रतीतिप्रसंगात्। न हि यावानेव नीचैर्देशेवगाहस्तावानेवो- र्ध्वभूगोले युज्यते। ततो नदीभिर्भूगोलानुरूपतामतिक्रम्य वहंतीति भूगोलविदारणमिति समयेव धरातलमवलंबितुं युक्तं समुद्रादिस्थितिविरोधश्च तथा परिहृतः स्यात्।

यदि उस सिद्धान्तका परित्याग नहीं करोगे यानी भूगोलवादी उस उज्जैनको मध्यदेश मानते रहनेका आग्रह करोगे, तब तो उज्जैनसे उत्तर ओरवाली नदियां सब उत्तरकी ओर मुख करके आगे

बहती रहेंगी और उस उज्जैनसे दक्षिण ओरसे बह रहीं नदियां सब दक्षिण मुखवाली ही रहेंगी, उस उज्जैनके पश्चिम बाजूसे बह रहीं नदियां सब पश्चिमको मुख करती हुईं और उस उज्जैनसे पूर्वकी ओरसे चालू हो रहीं नदियां सब पूर्वमुखवाली ही बहती हुईं प्रतीत होनी चाहिये। अर्थात्—गोल वस्तुके मध्यस्थलसे जिस ओरको पानी बह जायगा ठीक उसी ओर सीधी रेखामें चलता रहेगा। पूर्व मुखवाली नदियां दक्षिण या उत्तरकी ओर कथमपि नहीं जा सकेंगी। किन्तु इसके विपरीत एक नदीकी भी गति न्यारी न्यारी दिशाओंमें हो रही टेढी, मेढी भिन्न भिन्न देखी जा रही है। छोटीसी सिप्रा नदी ही कहीं किसी दिशाकी ओर कचित् अन्य दिशाकी ओर मुडकर बह रही है। यदि तुम भूमिकी गहराईके भेदसे नदीकी गतिमें भेद हो जाना स्वीकार करोगे, यानी जहां जैसी गहरी भूमि मिल जाती है उधरको ओर नदी ढुलक पडती है। गोल वस्तुमें भी नीचे, ऊंचे प्रदेश हैं ही। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यों तो भूगोलके मध्यमें महान् अवगाहकी प्रतीति हो जानेका प्रसंग होगा। पृथिवीको गेंदके सदृश गोल या नारंगीके समान माननेवालोंके यहां भूमध्यदेशमें बडी गहराई मानी ही जावेगी। ऐसी दशामें नदीका बहुतसा जल वहां ही एकत्रित हो जावेगा। देखो, नीचे प्रदेशमें जितनी ही गहराई है उतनी ही गहराई ऊपर के भूगोलमें मानना समुचित नहीं। तिस कारणसे तो यह ज्ञात होता है कि ये नदियां भूगोलका अतिक्रमण कर बह रही हैं। ऐसी दशामें नदियों करके भूगोलका विदारण हो जावेगा। अतः इस पृथिवीतलको दर्पणके समान समतल माननेका ही पक्ष अवलम्ब करना युक्त है। पृथिवीको समतल माननेसे एक यह भी लाभ है कि समुद्र, सरोवर आदिकी हो रही स्थितीके विरोधका भी परिहार तिस प्रकार चपटी माननेपर हो चुकता है। अर्थात्—गोलभूमिपर अरबों खरबों मन समुद्र जल ठहर नहीं पाता है, ढुलक पडेगा गिर पडेगा, द्वीपोंको बहा ले जायगा, कभी कहीं और कदाचित् कहीं समुद्र या तालाब बन जायेंगे, नियत स्थलोंपर समुद्र आदिकी स्थिति नहीं रह सकेगी।

तद्भूमिशक्तिविशेषात्स परिहीयत इति चेत्, तत एव समभूमौ छायादिभेदोस्तु। शक्यं हि वक्तुं लंकाभूमेरीदृशी शक्तिर्यतो मध्यान्हे अल्पछाया मान्यखेटाद्युत्तरभूमेस्तु तादृशी यतस्तदधिष्ठिततारतम्यभा छाया।

यदि आप भूगोलवादि यों कहो कि उस भूमिकी विशेषशक्तिसे वह समुद्रादि स्थितिके विरोधका परिहार किया गया बखाना जावेगा, तब तो हम जैन कहते हैं कि तिस ही कारणसे यानी भूमिकी शक्तिसे ही समतल भूमिमें छाया, परछाईं आदि पडनेका भेद भी बन जाओ। चूंकि यों कहा जासकता है कि लंका भूमिकी इस प्रकार शक्ति है, जिससे कि दुपहरके समय मध्यान्हमें वहां छोटी छाया पडती है और मनखेडा आदिसे प्रारम्भ कर उत्तरदिशावाली भूमिकी तो उस प्रकारकी शक्ति है जिससे कि भूमिपर अधिष्ठित होरहे पदार्थोंकी तरतमभावसे शोभित होरही छाया पडती है। अर्थात्—तुमको

पृथिवीमें आकर्षणशक्ति माननी भी पडती है । आर्यभट्टने गोलपादमें कहा है कि " यद्वत् कदम्बपुष्पग्रन्थिः प्रचितः समंततः कुसुमैः । तद्वद्धि सर्वजलजैः स्थलजैश्च भूगोलः " आकर्षणशक्ति अनुसार पृथिवीमें सब ओरसे पदार्थ खिचकर चुपट रहे हैं । सिद्धान्तशिरोमणिमें यों कहा है " आकृष्टि शक्तिश्च मही तया यत् खस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या, आकृष्यते तत् पततीव भाति समे समन्तात् क पतत्विदं खे " पृथिवीमें आकर्षणशक्ति विद्यमान है, उस निजकी शक्ति करके गुरु पदार्थको अपने अभिमुख खैंच लेती है और अपनेपर टिका लेती है । वे पदार्थ पडते हुये सरिखे दीखते हैं, वस्तुतः वे खिच रहे हैं । सब ओरसे सम हो रहे आकाशमें यह माटी पृथिवी भला कहां गिरे ? इस आकर्षण शक्तिसे सम्पूर्ण पदार्थ पृथिवीपर गिरकर ठहर जाते हैं । " यो यत्र तिष्ठत्यवनिं तलस्था मात्मानमस्या उपरि स्थितं च, स मन्यतेऽतः कुचतुर्थसंस्था मिथश्च ते तिर्यगिवामनन्ति । अधः शिरस्काः कुदलान्तरस्थाश्छाया मनुष्या इव नीरतीरे, अनाकुलास्तिर्यगधः स्थिताश्च तिष्ठन्ति ते तत्र वयं यथात्र " अर्थ यह है कि जो मनुष्य जहां ठहर रहा है वह अपनेको इस पृथिवीके ऊपर ठहरा हुआ और पृथिवीको अपने नीचे स्थिर हो रही मानता है इस कारण पृथिवीके चारों ओर ठहर रहे मनुष्य परस्पर अपनेको वे तिरछा समान मान रहे हैं, यानी अपनेको ऊपर और दूसरोंको नीचे ठहर रहा समझ बैठते हैं । जैसे कि जलके तीरपर खडे होकर मनुष्य नीचेकी ओर सिरवाले और ऊपर पृथिवीकी ओर चुपटे हुये पांववाले होते सन्ते छायाको देखते हैं । किन्तु तिरछे, नीचे, स्थित हो रहे वे मनुष्य आकुलतारहित होकर वहीं निवास करते हैं जैसे कि हम यहां सानन्द रहते हैं । आकाशकी ओर गिर नहीं पडते हैं और भी कहा है कि " सर्वतः पर्वतारामग्रामचैत्यचयैश्चितः । कदम्बकुसुमग्रन्थिः केसरप्रकरैरिव " गोलाध्यायमें कदम्बके फूलकी गांठ समान पृथिवीको सब ओरसे पर्वत, गांव, बाग, नदी समुदाय करके घिरा हुआ माना है । इस भास्कराचार्यजीके कथनपर हमको यह कहना है कि आकर्षणशक्तिको पृथिवीमें भले ही माना जाय । किन्तु इतनी बडी आकर्षणशक्ति पृथिवीमें नहीं है जो कि समुद्र, पर्वत, आदि महान् स्कन्धोंको खींचती रहे नीचेको नहीं गिरने देवे । पौद्गलिक पदार्थोंमें गुरुत्वशक्ति (भारीपन) भी विद्यमान है जिससे कि वे अधःपतन स्वभाववाले हैं । चुम्बककी आकर्षणशक्ति सूईको गिरनेसे रोक सकती है, पहाडको गिरनेसे नहीं रोक सकती है । छायाका दृष्टान्त तुम्हारे या नैयायिकके मत अनुसार विषम पडता है, वैशेषिकोंने छायाको तेजोऽभाव माना है । अतः वह तुच्छ पदार्थ गिर नहीं सकता है । जैनसिद्धान्त अनुसार " छेत्तुं भेत्तुं अन्यत्र नेतुं नैव शक्यते " ऐसे गौरवरहित और प्रकाशको रोकनेवाले निमित्तोंसे हो रही छाया मानी गयी है । विषम दृष्टान्तसे साध्यकी सिद्धि नहीं हो पाती है । अन्यथा स्वप्नका दृष्टान्त पाकर ज्ञानाद्वैत या ब्रह्माद्वैत भी साधा जा सकता है, जो कि तुमको अनिष्ट पडेगा । पदार्थोंमें अनेक शक्तियोंको हम स्वीकार करते हैं । दुपहरके समय लंकामें मनुष्यकी दो, तीन, अंगुल छाया पडती है । और पूनाके निकट प्रान्तमें बस रहे मान्यखेटसे उत्तरकी ओर निवसनेवाले मनुष्योंकी छाया बढती जाती है । यों पृथिवीकी गांठकी शाखोंमें

अनुसार या कुछ नीचा ऊंचा प्रदेश होनेसे छांह घट बढ जाती है । कई निमित्त कारणोंसे अनेक न जाने क्या क्या नैमित्तिक कार्य बन जाते हैं । कठिन लोहे (ईस्पात) का छुरा नरम शाणसे पैना हो जाता है । चमडा या कपडासे भी कुछ पैना कर लिया जाता है । ऊनी कपडेपरसे मैल या तेलकी चीकट अथवा डामर तार कोलको मट्टीका तेल या पैट्रोल धो डालता है । जैसे कि आत्मापर चुपटे हुये कर्मकलंकको तपस्या करके हटा दिया जाता है ।

तथा दर्पणसमतलायामपि भूमौ न सर्वेषामुपरिस्थिते सूर्ये छायाविरहस्तस्यास्तद्भेदनिमित्तशक्तिविशेषासद्भावात् । तथा विषुमति समरात्रमपि तुल्यमध्यादिने वा भूमिशक्तिविशेषादस्तु ।

तिसी प्रकार दर्पणके समान समतल भी भूमिमें सम्पूर्णके ऊपर सूर्यके स्थित हो जानेपर छायाका अभाव नहीं हो सकता है । क्योंकि उस छायाका निमित्त कारण उस पृथिवीकी अभिन्न हो रही विशेष निमित्त शक्तियोंका असद्भाव है । सद्भाव पाठ योग्य है । भावार्थ—जल, लहरवाला जल, खड्ग, रञ्जित पात्र (कलईदार गिलास) आदिमें जो नाना प्रकार प्रतिबिम्ब पडते हैं । उसका निमित्त कारण उन पदार्थोंकी आत्मभूत हो रहीं विभिन्न शक्तियां हैं । उसी प्रकार मध्याह्नमें जब सिरके ऊपर सूर्य आ जाता है तब भी भूमिकी विभिन्न शक्तियों अनुसार थोडीसी छाया पड जाती है । सूर्यकी ठीक सीधी अधोरेखापर आजानेका किसी मनुष्यको कदाचित् ही अवसर पडता है । सीधी अधोरेखाके थोडा भी इधर उधर हो जानेपर छाया पड जायगी । तथा विषुमान् अवस्थामें दिनके समान रातका होना अथवा तुल्य मध्यदिनका होना भी भूमिकी शक्तिविशेषसे हो जाओ । अर्थात्—सिद्धान्तशिरोमणिके अनुसार लंका और उज्जैनके ऊपर जाती हुई कुरुक्षेत्र आदि देशोंके छू रही दोनों ध्रुवोंके ऊपरकी रेखाको भूमध्यरेखा या विषुमत् रेखा माना गया है । विषुमद् वृत्त अवस्थामें दिन और रात समान हो जाते हैं । ये सब बातें भूमिकी शक्ति और सूर्यके भ्रमण विशेषोंसे साध्य हैं ।

प्राच्यामुदयः प्रतीच्यामस्तमयः सूर्यस्य तत एव घटते । कार्यविशेषदर्शनाद्द्रव्यस्य शक्तिविशेषानुमानस्याविरोधात् अन्यथा दृष्टहानेरदृष्टकल्पनायाश्चावश्यंभावित्वात् । सा च पापीयसी महामोहविजृंभितमावेदयति ।

तिस ही कारणसे यानी भूमिकी विशेषशक्तिओंसे पूर्व दिशामें सूर्यका उदय और पश्चिम दिशामें सूर्यका अस्त होना घटित होजाता है । क्योंकि विशेषकार्योंके देखनेसे द्रव्यकी विशेष शक्तिओंके अनुमान होजानेका कोई विरोध नहीं है । अन्य प्रकारोंसे यदि सूर्यके उदय, अस्त, होने माने जायंगे तो देखे जारहे की हानि और अदृष्टपदार्थकी कल्पना अवश्य होजावेगी । जो कि वह दृष्टहानि और अदृष्टकल्पना अत्यधिक पापिनी होरही भूगोल भ्रमणवादियोंके महान् मोहकी चेष्टाको जता रही है ।

अर्थात्——ऋतुओंका परिवर्तन, वृष्टि, आंधी, जाडा, गरमी आदि पडना, नियत वनस्पतियोंकी उत्पत्ति, विभिन्न समयोंमें अनेक वृक्षोंका फलना, फूलना, आदि कहीं सोना, क्वचित् केसर, कहीं रत्न, आदि का उत्पन्न होना कहीं उष्णकालमें भी शीत पडना, हिम (बरफ) गिरना, क्वचित् शीत कालमें भी उष्णता होना इत्यादिक सम्पूर्ण कार्य जैसे भूमिकी शक्तिसे होजाते हैं, उसी प्रकार पर्वतमय भूमिके उरली ओर आजानेपर सूर्यका उदय और परली ओर जानेसे सूर्यका अस्त होना बन जाता है। भूमिकी शक्ति अनुसार सूर्यकी किरणें कहीं दूरतक फैलती हैं और कहीं निकट प्रदेशोंतक ही जा पाती हैं। चौमासेमें दिन छलनेपर देख सकते हो। भगोनामें पानी भर देनेपर बीचमें धरा हुआ रुपया ऊंचा उठा हुआ दीखता है। बादलोंमें कभी सूर्य भी इसी प्रकार देरतक प्रकाश कर फिर झट रात होजाती देखी जाती है। बाल गोपालोंतकमें प्रसिद्ध होरही बातको टाल देना और बिलकुल नई बातको गढ लेना उचित नहीं है। " शक्तयः कार्यानुमेयाः " । भूमिकी विलक्षण शक्तियां तुमको भी माननी पडेगीं। बडे भारी पापको महामोही जीव भले ही करें, विचारशील विद्वान् ऐसे अयुक्त सिद्धान्ताभासोंको नहीं गढते फिरते हैं।

न च वयं दर्पणसमतलामेव भूमिं भाषामहे प्रतीतिविरोधात् तस्याः कालादिवशादुपचयापचयसिद्धेर्निम्नोन्नताकारसद्भावात्। ततो नोज्जयिन्या उत्तरोत्तरभूमौ निम्नायां मध्यं दिने छायावृद्धिर्विरुध्यते। नापि ततो दक्षिणक्षितौ समुन्नतायां छायाहानिरुन्नतेतराकारभेदद्वारायाः शक्तिभेदप्रसिद्धेः। प्रदीपादिवादित्याच्च दूरे छायाया वृद्धिघटनात् निकटे प्रभातोपपत्तेः।

हम जैन सर्वत्र दर्पणके समान सपाट, समतलवाली होरही ही भूमिको नहीं बखानते हैं। क्योंकि अनेक स्थलोंपर ऊंची, नीची, देखी जारही भूमिकी प्रतीतिओंसे विरोध होजायगा। काल आदि निमित्तोंके वशसे उस भूमिका घट जाना, बढ जाना, सिद्ध है। अतः भूमिके नीचे, ऊंचे, आकारोंका सद्भाव होनेसे समरात्र आदि व्यवस्थायें बन जाती हैं। तिसही कारणसे यानी पृथिवीके ऊंचे नीचे प्रदेशवाली होनेसे उज्जैनसे उत्तर, उत्तर, की ओर निचली भूमिमें दिनके मध्य अवसरपर छायाका बढना विरुद्ध नहीं पडता है और उस उज्जैनसे दक्षिणकी ओर अधिक ऊंची होरही पृथिवीमें छायाकी हानि होना भी विरुद्ध नहीं पडता है। क्योंकि ऊंचे, नीचे, आकारवाले भिन्न भिन्न प्रदेशों द्वारा उस भूमिकी शक्तियोंके भेदोंकी प्रसिद्धी होरही है। दूर होजानेपर जैसे प्रदीपसे छायाका बढना घटित होजाता है, उसी प्रकार सूर्यसे दूर होनेपर छाया बढ जाती है। अतः निकट प्रदेशोंमें प्रातःकाल होना बन जाता है। भावार्थ——इस चित्रा पृथिवीपर अनेक ऊंचे, नीचे, स्थल बन जाते हैं। कुएमें बैठे हुये मनुष्य और पहाडकी चोटीपर चढे हुये मनुष्यकी अपेक्षा घाम और छांहमें जैसे अंतर पड जाते हैं, उसी प्रकार कालवश होगये भूमिके ऊंचे, नीचे, स्थानोंपर छायावृद्धि या छायाहानि होजाती है। एकसौ चौरासी गतिओंमेंसे भीतरली गलीमें सूर्यके घूमनेपर दिन बढ जाता है। प्रभात शीघ्र हो जाता है और पांचसौ दश योजन परे बाहरली गलीमें घूमनेपर यहां भरतक्षेत्रमें दिन छोटा होजाता है।

तत एव नोदयास्तमययोः सूर्यादेर्बिंबार्धदर्शनं विरुध्यते । भूमिसंलग्नतया वा सूर्यादि-प्रतीतिर्न संभाव्या, दूरादिभूमेस्तथाविधदर्शनजननशक्तिसद्भावात् । न च भूमात्रनिबंधनाः समरात्रादयस्तेषां ज्योतिष्कगतिविशेषनिबंधनात्वादित्यावेदयति ।

तिस ही कारणसे यानी ऊंचे, नीचे, प्रदेशों अनुसार उदय समय और अस्त समयपर सूर्य, चन्द्रमा आदिके बिम्बोंका आधा दर्शन होना विरुद्ध नहीं पडता है । यहां पक्षान्तर अनुसार भूमिमें संलग्न होकरके सूर्य, चंद्र, आदिकी प्रतीति होना सम्भावना योग्य नहीं है । क्योंकि दूर, अतिदूर, आदि भूमिके तिस प्रकार चाक्षुष प्रत्यक्षको उपजानेकी शक्तिका सद्भाव है । यानी पृथिवीको गोल मानने वाले यह हेतु देते हैं कि चारों ओर दृष्टि पसार देखनेपर सब ओर गोल दीखता है और आकाशमण्डल गोल कटोरेके समान होकर भूमिको ढक रहा प्रतीत होता है । दूर वर्त रहे सूर्य, चन्द्रमा गोल पृथिवीसे स्पर्श कर रहे हैं । अतः पृथिवी गोल है । किन्तु यह युक्ति निर्बल है । द्रव्य इन्द्रिय मानी गयी आंखोंकी आकृति मसूरकी दाल समान गोल होनेसे चारों ओर गोल घेरेमें वस्तुयें दीख जाती हैं । दूरका पदार्थ यहांसे नीचा होता हुआ दीख जायगा । यह दृष्टिका भ्रम है । अलीक ज्ञानोंसे परमार्थ सिद्धान्तकी पुष्टि नहीं होसकती है । दूसरी बात यह है कि समरात्रि दिन, बढना, आदि होनेमें हम जैन केवल पृथिवीको ही कारण नहीं मानते हैं । उनके कारण अन्य भी हैं । ज्योतिष्क विमानोंकी गति विशेषको कारण मानकर भी समरात्र आदिक होजाते हैं, इसी बातका श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिकों द्वारा प्रकटीकरण करते हैं ।

समरात्रं दिवावृद्धिर्हानिर्दोषाच युज्यते ।
छायाग्रहोपरागादिर्यथा ज्योतिर्गतिस्तथा ॥ १५ ॥
खखंडभेदतः सिद्धा बाह्याभ्यंतरमध्यतः ।
तथाभियोग्यदेवानां गतिभेदात्स्वभावतः ॥ १६ ॥

दिनके ठीक बराबर रात्रि होना या दिन बढना, रात घटना और दिन घटना, रात बढना अथवा छाया पडना या ग्रहोंका उपराग (ग्रहण) होना राशिसंक्रमण आदिक जैसे ज्योतिषियोंकी गतिसे हो रहे युक्तिसिद्ध हैं । अथवा उन ज्योतिषियोंकी गति अनुसार हो जाते हैं । उसी प्रकार बाहरकी गली, अभ्यन्तर वीथी, मध्यम वीथीके, अनुसार आकाशके खण्डोंके भेदसे वह ज्योतिषियोंकी गति न्यारी न्यारी सिद्ध है । क्योंकि उन सूर्य आदि विमानोंको खींचनेवाले तिस प्रकार गतिप्रेमी आभियोग्यजातिके देवोंकी गतियां भिन्न भिन्न प्रकारकी हैं । यथार्थ बात यह है कि तिस प्रकार अनादि कालसे सूर्य आदिक विमान स्वभावसे ही उन उन प्रति दिनके लिये नियत हो रहीं गलियोंमें

भ्रमण करते हैं । अर्थात्—समरात्र आदि कार्य तो ज्योतिष्क विमानोंकी भिन्न भिन्न आकाश खण्डोंमें हो रही गतिके अनुसार हो जाते हैं । ढाई द्वीपके ज्योतिष्क विमानोंकी गतिका भेद भी आभियोग्य जातिके देवोंकी विशेषगतिसे या स्वकीय स्वकीय स्वभावसे ही बन रहा है ।

सूर्यस्य तावच्चतुरशीतिशतं मंडलानि । तत्र पंचषष्टिरभ्यंतरे जंबूद्वीपस्याशीतिशतयोजनं समवगाह्य प्रकाशनाज्जंबूद्वीपाद्बाह्यमंडलान्येकान्नविंशतिशतं लवणोदस्याभ्यंतरे त्रीणित्रिंशानि योजनशतान्यवगाह्य तस्य प्रकाशनात् । द्वियोजनमेकैकमंडलांतरं द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशद्यो-जनैकषष्टिभागाश्चैकैकमुदयांतरं ।

उक्त वार्तिकोंका विवरण यह है । सबसे प्रथम यों कहना है कि जम्बूद्वीपमें सूर्यके एकसौ चौरासी मण्डल माने गये हैं । पांचसौ दश और अडतालीस बटे इकसठि योजन चौडे एवं कुछ अधिक तीन लाख परिधिवाले गोल चार क्षेत्रमें सूर्यके एकसौ तिरासी तो दो दो योजन चौडे अन्त-राल हैं । और एक सौ चौरासी सूर्य मण्डलके भ्रमण स्थान हैं । उनमें पैंसठ तो जम्बूद्वीपके भीतर हैं । क्योंकि जम्बूद्वीपकी वेदीसे एक सौ अस्सी योजनतक भीतर घुसकर सूर्य प्रकाशता रहता है । हां, जम्बूद्वी-पसे बाहर लवणसमुद्रमें एकसौ उन्नीस मण्डल हैं । क्योंकि लवणसमुद्रके तीनसौ तीस और अडतालीस बटे इकसठि योजन भीतर जाकर उस सूर्यका प्रकाशना आगमोक्त है । एक एक मण्डलका अन्तराल दो दो योजन है और अडतालीस बटे इकसठ योजनसे अधिक हो रहे दो योजन तो एक एक उदय अवस्थाका अन्तराल कहा जाता है । अडतालीस बटे इकसठ योजनका सूर्य है और दो योजन बीचमें रीता स्थान है । अतः यह पूरा स्थान पांचसौ दस और अडतालीस बटे इकसठ योजन हो जाता है । जम्बूद्वीपकी वेदीके ऊपर यह चार क्षेत्र पांचसौ दस योजन चौडा होकर तीन लाख अठारह हजार तीनसौ चौदह योजन परिधिवाला गोल व्यवस्थित है । सूर्यका चार क्षेत्र यहांसे आठसौ योजन ऊपर और चन्द्रमाका इतना ही चार क्षेत्र आठसौ अस्सी योजन ऊंचा जाकर समझना चाहिये ।

तत्र यदा त्रीणि शतसहस्राणि षोडशसहस्राणि सप्तशतानि द्व्यधिकानि परिधिपरिमाणं बिभ्रति तुलमेषयोश्चादिनगोचरे सर्वमध्यमंडले मेरुं पंचचत्वारिंशद्योजनसहस्रैः पंचसप्ततियोज-नैश्चतुर्विंशत्या योजनैकषष्टिभागैश्चाप्राप्य सूर्यः प्रकाशयति तदाहनि पंचदशमुहूर्ता भवंति रात्रौ चेति समरात्रं सिध्यति । विषुवति दिने द्वात्रिंशत्सैकयोजनषष्ठिभागसातिरेकाष्टसप्ततिद्विशतपंच-सहस्रयोजनपरिमाणैकमुहूर्तगतिक्षेत्रोपपत्तेः ।

उन एकसौ चौरासी मण्डलोंमें जब सूर्य सम्पूर्ण मण्डलोंके मध्यमें स्थित हो रहा प्रकाश रहा है, तब दिन और रात्रिमें पन्द्रह पन्द्रह मुहूर्त होते हैं यों समान दिन रात सिद्ध हो जाता है । उस समय जम्बूद्वीपके सूर्यका भ्रमण तीन लाख सोलह हजार और दो अधिक सातसौ ३१६७०२ योजन परिधिके

परिमाणको धारता है। दक्षिणायनमें तुलाराशिके प्रवेश अवसरपर और उत्तरायणमें मेषराशिके प्रवेशके दिनका विषय होनेपर सूर्य मेरुको पैंतालीस हजार योजन और पिचत्तर योजन तथा योजनके इकसठ भागोंमेंसे चौबीस भागों करके दूर अप्राप्त होकर चमक रहा है। अर्थात्—जम्बूद्वीपकी वेदीके ऊपर जम्बूद्वीपका सूर्य घूमता रहता है। उत्तरायणका प्रकरण मिलनेपर वेदीके एकसौ अस्सी योजन भीतरतक घुसकर प्रकाशता है और दक्षिणायनके दिनोंका विषय मिलनेपर वेदीसे तीनसौ तीस और अडतालीस बटे इकसठि योजनतक बाहर लवण समुद्रमें जाकर प्रकाशता है। चार क्षेत्र पांचसौ दशको आधा कर यानी एक ओरके दोसौ पचपनमेंसे द्वीपके चार क्षेत्र एकसौ अस्सीको घटा कर पिचत्तर योजन वेदीसे बाहर हटकर बीचली गली आती है। दश हजार योजन चौड़े सुमेरु पर्वतके आधे पांच हजारको अर्ध जम्बूद्वीप पचास हजारमेंसे घटा देनेपर वेदीसे मेरुका व्यवधान पैंतालीस हजार समझा जाता है। चूंकि बीचकी गली वेदीसे पिचत्तर योजन बाहर हटकर पड़ी है। अतः मध्यम गलीसे मेरुका अन्तर पैंतालीस हजार पिचत्तर योजन ४५०७५ है। " इगि जोयण एगारह भागो अदि वड्ढदे यद्दा यदि वा " इस नियम अनुसार आठसौ योजन ऊंचे सूर्यके समतलपर सुदर्शन बहत्तर और आठ बटे ग्यारह योजन घट गया है। एक ओरकी घटाईके लिये आधा करनेपर छत्तीस और बढ जाते हैं। अतः मध्यम गलीसे मेरुका अन्तर पैंतालीस हजार एकसौ ग्यारह योजन हो जाता है। किन्तु यहां मेरुकी ग्यारहमें भाग घटाईके अनुसार छत्तीस और चार बटे ग्यारह योजनोंकी विवक्षा नहीं की गयी है। मध्यम वीथीतकका व्यास एक लाख एकसौ पचास १००१५० योजन है। " विक्खंभवग्गदहगुण करणी वट्टस्स परिरयो होदि " इस नियमके अनुसार इसका वर्ग दस अरब तीन करोड बाईस हजार पांचसौ होता है, इसको दस गुना करनेपर एक खरब तीस करोड दो लाख पचीस हजार १००३००२२५००० होता है। इसका वर्गमूल निकालनेसे तीन लाख सोलह हजार सातसौ दो कुछ अधिक योजन मध्यम वीथीकी परिधि (घेरा) बन जाती है। चार क्षेत्र पांचसौ दसके आधे दो सौ पचपनमेंसे एकसौ अस्सी योजन भीतरला भाग घटा देनेपर वेदीसे पिचत्तर योजन लवण समुद्रमें घुसकर मध्यम गली मिलती है। भीतरले एकसौ अस्सीमें पिचत्तर जोड देनेसे या बाहरले तीनसौ तीसमेंसे पिचहत्तर घटा देनेपर मध्यम मार्ग दो सौ पचपन योजन आ जाता है। जो कि चार क्षेत्र पांचसौ दसका आधा है। छह छह महीनेके उत्तरायण, दक्षिणायन गमनके ठीक विचले एक एक दिनके लिये दिन और रात समान हो जाते हैं। " छम्मासद्धगयाणं जोइसयाणं समाणदिणरत्ती, तं इसुवं " (त्रिलोकसार) इसको विषुमान् या विषुव कहते हैं। विषुमान् दिनमें पांच हजार दोसौ अठहत्तर और एक योजनके साठ भागोंमेंसे बाईस भागसे अधिक परिमाणवाला स्थान एक मुहूर्त यानी दो घडी अथवा अडतालीस मिनटमें हो रही सूर्यकी गतिका क्षेत्र बन जाता है। अर्थात्—ढाई द्वीपके सभी सूर्य साठ मुहूर्तमें अपनी योग्य परिधीको घूमकर पूरा कर लेते हैं। जब कि जम्बूद्वीपका सूर्य मध्यम वीथीपर भ्रमण कर रहा साठ मुहूर्तमें तीन लाख, सोलह हजार सात सौ दो योजन कुछ

अधिक परिधिको पूरा करता है तो एक मुहूर्तमें कितनी परिधिपर चक्कर लगायगा ? इस त्रैराशिकके अनुसार एक मुहूर्तकी गतिका क्षेत्र निकल आता है। जम्बूद्वीपमें आमने सामने सदा वर्त रहे दो सूर्य हैं जो कि जम्बूद्वीपके अन्तमें वेदीके ऊपर एकसौ चौरासी गलियोंमें घूमते रहते हैं। लवणसमुद्रमें जम्बूद्वीपकी वेदीसे पचास हजार भीतर घुसकर उठे हुये जलभागमें घूम रहा लवणसमुद्रका पहिला सूर्य है। इससे एक लाख योजन भीतर और घुसकर दूसरा सूर्य है जो कि लवणसमुद्रकी वेदी (परली) से पचास हजार योजन उरली ओर जलमें है। यों लवणसमुद्रमें एक ओर दो सूर्य हैं और इसी प्रकार सुमेरुको बीचमें देकर इनके ठीक सामने परली ओर लवणसमुद्रमें दो अन्य सूर्य हैं, जो कि साठि मुहूर्तमें अपनी अपनी परिधिका पूरा भ्रमण कर लेते हैं। यों चारों सूर्य ग्यारह हजारसे लेकर सोलह हजार योजनतक ऊपर उठे हुये जलमें स्वकीय नियत स्थानोंपर घूमते रहते हैं। दो लाख योजन चौडे लवणसमुद्रमें एक ओर दो सूर्य इधर उधरकी वेदियोंसे पचास हजार योजन घुसकर हैं। अतः सूर्यकी चौडाई अडतालीस बटे इकसठि योजनको एक लाखमें घटा देनेसे निन्यानवे हजार नौ से निन्यानवे और तेरह बटे इकसठि योजन लवण समुद्र सम्बन्धी एक सूर्यसे दूसरे सूर्यका अन्तर निकल आता है। धातकीखण्डमें बारह सूर्य हैं। " दो दो वग्गं बारस बादाल बहत्तरिंदु इणसंखा पुक्खर दलोत्ति परदो अवट्ठिया सव्व जोइगणा "। जो कि एक ओर छह और ठीक उसके सामने सुमेरु पर्वतका अन्तराल देकर परली ओर छह घूम रहे हैं। " समरविदलविंबूणा लवणादी सगदिवायरद्ध-हिया, सूरंतरं सुजगदी आसण्ण पईंतरं तु तस्स दलं " इस त्रिलोकसारकी गाथा अनुसार सूर्य सूर्यका अन्तर और वेदिकासे सूर्यका अन्तर निकाल लेना चाहिये। इसी प्रकार कालोदक समुद्र और पुष्करार्ध द्वीपके ब्यालीस और बहत्तरि सूर्योंको भी जान लो। एक ओर आधे और इसी प्रकार दूसरी ओर सुदर्शन मेरुका व्यवधान देकर इक्कीस और छत्तीस सूर्य तारतम्यको ले रही गतिसे भ्रमण कर रहे हैं। दो दो सूर्य और दो दो चन्द्रमाका चार क्षेत्र एक एक नियत है। हां, ढाई द्वीपसे बाहर द्वीपों और समुद्रोंकी वेदीसे पचास हजार योजन और उससे परें एक लाख योजन चल कर गोल द्वीप, समुद्रोंमें वलय रचलिये गये हैं। उनमें एक सौ चवालीस, एक सौ अडतालीस, आदि नियत हो रहे सूर्यबिम्ब सूक्ष्म परिधिके विभाग अनुसार अवस्थित हैं। यों ढाई उद्धारसागरके समयों प्रमाण असंख्याते द्वीप समुद्रोंमें असंख्याते सूर्य और चन्द्रमा आदि हैं। इसका विशेष त्रिलोकसारमें द्रष्टव्य है।

दक्षिणोत्तरे समप्रणिधीनां च व्यवहितानामपि जनानां प्राच्यमादित्यप्रतीतिश्च लंकादिकुरुक्षेत्रांतरदेशस्थानामभिमुखमादित्यस्योदयात्। अष्टचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागत्वात् प्रमाणयोजनापेक्षया सातिरेकत्रिनवतियोजनशतत्रयप्रमाणत्वादुत्सेधयोजनापेक्षया दूरोदयत्वाच्च स्वाभिमुखलंबोद्गमविभाससिद्धेः।

दक्षिण और उत्तरदेशोंमें समान रेखान्तरपर प्राप्त हो रहे और दूरदेशका व्यवधान झेल रहे भी मनुष्योंके पूर्वदिशामें ही सूर्यके उदयकी प्रतीति हो रही है। क्योंकि लंकासे आदि लेकर

कुरुक्षेत्रतक अनेक मध्यवर्ती देशोंमें स्थित हो रहे मनुष्योंके अभिमुख होकर सूर्यका उदय हो रहा है। कारण कि बडे माने जा रहे प्रमाण योजनकी अपेक्षा एक योजनके इकसठि भागोंमें अडतालीस भाग परिमाण सूर्य है। चूंकि चार कोसके छोटे योजनसे पांचसौ गुना बडा योजन होता है। अतः अडतालीसको पांचसौसे गुणा कर देनेपर और इकसठिका भाग देनेसे तीनसौ तिरानवे सही सत्ताईस बटे इकसठि छोटे योजनका सूर्य बैठता है। यह उत्सेध अंगुलसे बनाये गये योजनकी अपेक्षा कुछ अधिक तीनसौ तिरानवे योजनप्रमाण है। आठ पडे जौका एक अंगुल, चौबीस अंगुलका एक हाथ, चार हाथका एक धनुष, दो हजार धनुषका एक कोस और चार कोसका एक योजन, ऐसे तीनसौ तिरानवे योजन लम्बा चौडा सूर्य है। दूसरी बात यह है कि उगते समय यहांसे हजारों बडे योजनों दूर सूर्यका उदय होनेसे व्यवहित हो रहे मनुष्योंके भी अपने अपने अभिमुख आकाशमें लटक रहे देदीप्यमान सूर्यका प्रतिभासना सिद्ध है। भावार्थ—सूर्य भी बडा है और चमकदार है तथा उदय होते समय सूर्य यहांसे बहुत दूर है। सबसे बडा दिन हो जानेपर सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसठि बडे योजन दूरपर रहता है और छोटे दिनके अवसरपर इकत्तीस हजार आठसौ इकत्तीस योजन दूर है। अतः लङ्का, उज्जैन, कुरुक्षेत्र, आदि दूर दूर देशोंपर ठहरे मनुष्योंको भी अपनी पूर्व दिशाकी ओर सन्मुखरेखापर दीख जाता है। जितना बडा या दूरवर्ती पदार्थ होता है उतनी ही देखनेवालोंको उसकी सरल रेखाकी टेड कमती होती जाती दीखती है।

द्वितीये अहनि तथा प्रतिभासः कुतो न स्यात्तदविशेषादिति चेन्न, मंडलांतरे सूर्यस्योदयात् तदंतरस्योत्सेधयोजनापेक्षया द्वाविंशत्येकषष्ठिभागयोजनसहस्रप्रमाणत्वात्, उत्तरायणे तदुत्तरतः प्रतिभासस्योपपत्तेः दक्षिणायने तद्दक्षिणतः प्रतिभासनस्य घटनात् ।

कोई प्रतिवादी आक्षेप करता है कि दूसरे दिन तिस प्रकार अपने ठीक सन्मुख गगनतलमें अवलम्बित हो रहे सूर्यका प्रतिभास किस कारणसे नहीं हो पाता है ? जब कि उतने ही बडे सूर्यका उतनी ही दूरपर उदय होना अन्तररहित विद्यमान है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि दूसरे दिन अगले दूसरे मण्डलमें सूर्यका उदय हो जाता है। पहिले दिनके सूर्योदयसे इस दूसरे दिनके सूर्योदयका अन्तर छोटे उत्सेध योजनोंकी अपेक्षा एक हजार योजनप्रमाण हो जाता है। अर्थात्—एक एक मण्डलका अन्तर बडे योजनोंसे दो योजन है। पांच सौ से गुणा कर देनेपर छोटे एक हजार योजन हो जाते हैं। " दीवग्गिचारखित्ते वेदीए दिणगदीहिदे उदया " इस नियमके अनुसार बाईस बटे इकसठि बडे योजन प्रमाण संख्या निकाल लेनी चाहिये। स्थूल रूपसे सर्वत्र जम्बूद्वीप सम्बन्धी एक सौ चौरासी मण्डलोंमें प्रत्येकका एक एक हजार छोटे योजनका व्यवधान पडा हुआ है। अतः सूर्यके उत्तरायण होनेपर उन लंका, कुरुक्षेत्र आदिके उत्तरकी ओर झुकता हुआ पूर्वमें प्रातःकाल सूर्योदयका प्रतिभास होना बन जाता है। और दक्षिणायनमें उन देशोंसे दक्षिणकी ओर हो रहे सूर्योदयका प्रतिभास जाना घटित

हो जाता है। छोटे हजार योजन हट हटकर प्रति दिन उदय होनेसे उत्तर दक्षिणकी ओर सूर्योदयका प्रतिभासना उचित ही है।

सूर्यपरिणामदक्षिणोत्तरसमप्रणिधिभूभागादन्यप्रदेशे कुतः प्राची सिद्धिरिति चेत्, तदनंतरमंडले तथा सर्वाभिमुखमादित्यस्योदयादेवेति सर्वमनवद्यं, क्षेत्रांतरेपि तथा व्यवहारसिद्धेः।

कोई पूंछता है कि सूर्योदय परिणामके धारी पूर्वदेशों या उसके समतल निकटवर्ती उत्तर दक्षिण भूभागोंमें सूर्योदय अनुसार पूर्वदिशाकी भले ही प्रसिद्धि हो जाय, किन्तु उनसे न्यारे अन्य प्रदेशोंमें भला पूर्वदिशाकी सिद्धि किस ढंगसे करोगे ? इस प्रकार पूछनेपर तो हम समाधान करते हैं कि उसके अव्यवहित परली ओरके मण्डलपर तिस प्रकार दूरवर्ती होकर सबके सन्मुख तीन सौ म्रानवै छोटे योजन लम्बे चौडे सूर्यके उदय होनेसे ही पूर्वदिशाकी सिद्धि हो जाती है। अर्थात्— जम्बूद्वीपके आमने सामने हो रहे दो सूर्य जब जम्बूद्वीपकी वेदीके ऊपर पांच सौ दस योजन क्षेत्रमें सब ओर घूम रहे हैं तो सबसे पहिले उदय अनुसार सब देशवालोंको पूर्वदिशाकी सिद्धि हो जाती है, सूर्योदय अनुसार पूर्वदिशाकी कल्पना करनेपर भिन्न भिन्न देशवालोंको दिशाओंका सांकर्य भी हो जाता है, तभी तो " सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः " यह नियम अक्षुण्ण बन जाता है। इस प्रकार जैनसिद्धान्त अनुसार सम्पूर्ण व्यवस्था निर्दोष बन जाती है। हैमवत, हरि, विदेह, आदि न्यारे न्यारे क्षेत्रोंमें भी तिस प्रकार पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, दिशाओंके व्यवहार प्रसिद्ध हो जाते हैं। कोई दोष नहीं आता है।

तदेतेन प्राचीदर्शनाद्धरायां गोलाकारतासाधनमप्रयोजकमुक्तं तत्र तत्र दर्पणाकारतायामपि प्राचीदर्शनोपपत्तेः। यदा तु सूर्यः सर्वाभ्यंतरमंडले चतुश्चत्वारिंशद्योजनसहस्रैरष्टाभिश्च योजनशतैर्विंशैर्मेरुमप्राप्य प्रकाशयति तदाहन्यष्टादश मुहूर्ता भवन्ति। चत्वारिंशत्षट्छताधिकनवनवतियोजनसहस्रविष्कंभस्य त्रिगुणसातिरेकपरिधिस्तन्मण्डलस्यैकाशत्रिंशद्योजनषष्ठिभागाधिकैकपंचाशद्विशतोत्तरयोजनसहस्रपंचकमात्रमुहूर्तगतिक्षेत्रत्वसिद्धेः सैषा प्रकर्षपर्यन्ततः प्राप्ता दिवावृद्धिहानिश्च रात्रौ सूर्यगतिभेदादभ्यंतरमंडलात् सिद्धा।

तिस कारण इस कथन करके उस भूगोलको माननेवालेका यह हेतु अनुकूलतर्करहित कह दिया जा चुका है कि प्राची दिशाके देखनेसे पृथिवीमें गोल आकारका साधन कर लिया जाता है। क्योंकि उन उन प्रान्तोंमें भूमिका दर्पणके समान समतल आकार होनेपर भी पूर्वदिशाका दीख जाना बन जाता है। अर्थात्—न्यारे न्यारे मण्डलोंपर सूर्यका उदय हो जानेसे अनेकदेशीय पुरुषोंको भिन्न भिन्न दिनोंमें अपने अपने सन्मुख सूर्योदय अनुसार पूर्वदिशा दीख जाती है। हां, जिस समय सूर्य सबसे बडे दिनके अवसरपर सम्पूर्ण मण्डलोंके भीतरले मण्डलमें चवालीस हजार योजन और आठ

सौ बीस योजन मेरुसे दूर अप्राप्त होकर प्रकाशता है, तब तो दिनमें अठारह मुहूर्त हो जाते हैं। आधा मेरु ५००० योजनका है। और सूर्य १८० योजन भीतर आ गया है। दोनों ओर छह सौ चालीस योजनोंसे अधिक निन्यानवे हजार ९९६४० योजन अभ्यन्तर वीथीकी चौडाई हो जाती है। " विक्खम्भवग्गदहगुण करणी वट्टस्स परियो होदि " इस नियम अनुसार कुछ अधिक तिगुनी अर्थात्—तीन लाख पन्द्रह हजार नवासी ३१५०८९ योजन इसकी परिधि है। एक सूर्य साठ मुहूर्तमें जब इतनी परिधिका भ्रमण करता है, तो एक मुहूर्तमें कितनी परिधिको पूरा करेगा ? इस त्रैराशिक विधिके अनुसार पांच हजार दो सौ इक्यावन योजन और एक योजनके उन्तीस बटे साठि भाग अधिक एक मुहूर्तकी गतिका क्षेत्र होना सिद्ध हो जाता है। सो यह सूर्यके सबसे भीतरली गलीपर घूमनेके दिन अठारह मुहूर्त यानी चौदह सही दो बटा पांच घन्टे प्रकर्षपर्यन्तको प्राप्त हो रही दिनकी वृद्धि है। और इसी दिन बारह मुहूर्तकी रात है। अतः यह रातकी सबसे बडी हुयी हानि है। जो कि सूर्यकी गति विशेषसे हो रही उसके अभ्यन्तर मण्डलपर आनेसे सिद्ध हो जाती है।

यदा च सूर्यः सर्वबाह्यमंडले पंचचत्वारिंशत्सहस्रैस्त्रिभिश्च शतैस्त्रिंशैर्योजनानां मेरुमप्राप्य भासयति तदाहनि द्वादशमुहूर्ताः। षष्ठ्यधिकशतषट्कोत्तरयोजनशतसहस्रविष्कंभस्य तत्त्रिगुणसातिरेकपरिधेः तन्मंडलस्य पंचदशैकयोजनषष्टिभागाधिकपंचोत्तरशतत्रयसहस्रपंचकपरिमाणगतिमुहूर्तक्षेत्रत्वात् सैषा परमप्रकर्षपर्यन्तमाप्ता तावद्दिवाहानिर्वृद्धिश्च रात्रौ सूर्यगतिभेदाद्बाह्यगगनखंडमंडलात् सिद्धा।

तथा जिस समय सूर्य जम्बूद्वीपकी वेदीसे समुद्रकी ओर तीन सौ तीस अडतालीस बटे इकसठि योजन अधिक हटकर सबसे बाहरके मण्डलपर पैंतालीस हजार तीन सौ तीस ४५३३० योजनों करके मेरुको अप्राप्त होकर प्रकाशता है, तब दिनमें बारह मुहूर्त हो जाते हैं। एक लाख छह सौ साठ १००६६० योजन बाहरली वीथीकी चौडाई है। दोनों ओरके पथ व्यास पिण्ड छयानवे बटे इकसठ योजनकी विवक्षा नहीं की गयी है। उस बाहरले मण्डलकी इससे कुछ अधिक तिगुनी यानी तीन लाख अठारह हजार तीन सौ चौदह ३१८३१४ योजन परिधि है। साठि मुहूर्तमें इतनी परिधिको पूरा घूमता है, तो एक मुहूर्तमें सूर्य कितना घूमेगा ? इसका उत्तर एक योजनके साठि भागोंमें चौदह या पन्द्रह भागसे अधिक पांच हजार तीन सौ पांच योजन है। इतने योजन परिमाणवाला एक मुहूर्तकी गतिका क्षेत्र होता है। सो यह तो परमप्रकर्षके पर्यन्तको प्राप्त हो रही दिनकी हानि है। अर्थात्—बाहरकी गलीमें घूमनेपर बारह मुहूर्त यानी $9\frac{3}{5}$ घन्टाका दिन होता है। तथा यह रातमें सबसे बडी हुयी वृद्धि है। अर्थात्—इस दिन सबसे बडी अठारह मुहूर्तकी रात होती है। जो कि सूर्यकी गति विशेष अनुसार पांचसौ दस योजन सम्बन्धी आकाश खण्डके बाहरले मण्डलसे हो रही सिद्ध हो जाती है।

मध्ये त्वनेकविधा दिनस्य वृद्धिर्हानिश्चानेकमण्डलभेदात् सूर्यगतिभेदादेव यथागमं मंडलं यथागणनं च प्रत्येतव्या तथा दोषावृद्धिर्हानिश्च युज्यते ।

दिनकी सबसे बडी वृद्धि अठारह मुहूर्त और सबसे प्रकर्ष हानि बारह मुहूर्तकी सिद्ध कर दी गयी है । मध्यमें होनेवाली अनेक प्रकार दिनकी वृद्धियां और हानियां तो अनेक मण्डलोंके भेदसे सूर्यकी गतिके भेद अनुसार ही हो जाती हैं । आगम अनुकूल और मण्डलपर गति अनुसार तथा परिधि गणनाका अतिक्रम नहीं कर समझ लेनी चाहिये । तिस ही प्रकार रात्रिकी वृद्धि और हानियां भी समुचित हो रहीं युक्त बन जाती हैं । भावार्थ—" सूरादो दिणरत्ती अट्ठारस बारसा मुहुत्ताणं अब्भन्तरम्हि एदं विवरीयं बाहिरम्हि हवे " " कक्कडमयेर सव्वब्भन्तर बाहिर पहट्ठिओ होदि, मुहभूमीण विसेसे वीथीणंतरहिदे पचयं " (त्रिलोकसार) । यों प्रति दिन दिन और रातकी हानि या वृद्धिका चय दो बटे इकसठि मुहूर्त समझ लेना चाहिये ।

तदेतेन दिनरात्रिवृद्धिहानिदर्शनाद्भुवो गोलाकारतानुमानमपास्तं, तस्यान्यथानुपपत्तिवैकल्यादन्यथैव तदुपपत्तेः ।

तिस कारण इस कथन करके भूगोलवादियोंके इस अनुमानका भी खण्डन कर दिया गया समझो कि पृथिवीका आकार गोल है (प्रतिज्ञा) क्योंकि दिन या रातकी वृद्धि और हानियां देखी जा रही हैं (हेतु) । बात यह है कि उस हेतुकी अपने साध्यके साथ अविनाभाव बने रहनेकी विकलता है । साध्यके विना ही उस हेतुकी उपपत्ति हो जाती है । भावार्थ—पृथ्वीके वृत्त आकारके साथ दिन या रातकी हानि, वृद्धियोंका नियम नहीं है । सूर्यकी अनेक मण्डलोंपर हो रही गतिके अनुसार वह दिन और रातका घटना, बढना दूसरे प्रकारोंसे ही बन जाता है ।

तथा छाया महती दूरे सूर्यस्य गतिमनुमापयति अंतिकेऽतिस्वल्पा न पुनर्भूमेर्गोलकाकारतामिति छायावृद्धिहानिदर्शनमपि सूर्यगतिभेदनिमित्तकमेव । मध्यान्हे क्वचिच्छायाविरहेऽपि परत्र तद्दर्शनं भूमेर्गोलाकारतां गमयति समभूमौ तदनुपपत्तेरिति चेन्न, तदापि भूमिनिम्नत्वोन्नतत्वविशेषमात्रस्यैव गतेः तस्य च भरतैरावतयोर्दृष्टत्वात् " भरतैरावतयोर्वृद्धिन्हासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्यां इति वचनात् ।

उक्त वार्तिकोंमें इसके आगे छाया पडी हुई है । इसका विवरण यों है कि तिसी प्रकार सूर्यके दूर होनेपर बडी लम्बी पड रही छाया और सूर्यके निकट होनेपर अति अल्प हो रही छाया भी सूर्यकी गतिका ही अनुमान कराती है । किन्तु फिर पृथिवीके गोल आकारसहितपनकी अनुमिति नहीं कराती है । इस प्रकार छायाकी वृद्धि और छायाकी हानिका दीखना भी सूर्यकी भिन्न भिन्न गतिओंको निमित्त पाकर ही हुआ कहना चाहिये । अतः प्रातःकाल सूर्यके दूर रहनेपर वृक्ष, गृह,

मनुष्य आदिकी छाया लम्बी पडती है और मध्यान्हतक सूर्यके निकट आ जानेपर छाया छोटी छोटी होती जाती है। पुनः मध्यान्हसे सायंकालतक सूर्यके अधिक अधिक दूर होते जानेपर छाया बढती चली जाती है। दैदीप्यमान पदार्थोंके दूर निकट जाने आ जानेपर छाया बढती, घटती, हो रही प्रसिद्ध है। कवि कहता है कि "आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्, दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना छायेव मैत्री खलसज्जनानाम्" । यदि यहां कोई यों कटाक्ष करे कि मध्यान्हके समय किसी देशमें छायाका अभाव होनेपर भी दूसरे देशोंके दुपहरके समय उस छायाका दर्शन हो रहा (हेतु) भूमिके गोल आकारको साध देवेगा। क्योंकि समतल भूमिमें वह कहीं छायाका न होना और कहीं होना नहीं बन सकता है। भावार्थ—सूर्यकी निचली ओर ठीक सीधी रेखा पर खडे हुये मनुष्यकी छाया नहीं पडती है। हां, गोल पृथिवीके कुछ इधर उधर बगलमें खडे हो जानेसे तिरछे होगये मनुष्यकी दोपहरको छाया अवश्य पड जायगी। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि तब भी भूमिके केवल नीचेपन या ऊंचेपन विशेषोंकी ही उस हेतुसे ज्ञप्ति हो सकेगी और वह भूमिका नीचा ऊंचापन भरत ऐरावत क्षेत्रोंमें कालवश हो रहा देखा जा चुका है। स्वयं पूज्यचरण सूत्रकारका इस प्रकार वचन है कि भरत ऐरावत क्षेत्रोंके वृद्धि और ह्रास छह समयवाली उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालोंकरके हो जाते हैं। अर्थात्—भरत और ऐरावतमें आकाशकी चौडाई न्यारी न्यारी एक लाखके एकसौ नब्बेवें भाग यानी पांचसौ छब्बीस सही छह बटे उनईस योजनकी ही रहती है। किन्तु अवगाहन शक्तिके अनुसार इतने ही आकाशमें भूमि बहुत घट, बढ, जाती है। न्यूनसे न्यून पांचसौ छब्बीस छह बटे उन्नीस योजन भूमि अवश्य रहेगी। बढनेपर इससे कई गुनी अधिक हो सकती है। इसी प्रकार अनेक स्थल कहीं बीसों कोस ऊंचे, नीचे, टेढे, तिरछे, कौनियाये, हो रहे हो जाते हैं। अतः भ्रमण करता हुआ सूर्य जब दुपहरके समय ऊपर आ जाता है, तब सूर्यसे सीधी रेखापर समतल भूमिमें खडे हुये मनुष्योंकी छाया किंचित् भी इधर उधर नहीं पडेगी। किन्तु नीचे, ऊंचे, तिरछे, प्रदेशोंपर खडे हुये मनुष्योंकी छाया इधर उधर पड जायगी। क्योंकि सीधी रेखाका मध्यम ठीक नहीं पडा हुआ है; भले ही लकडीको टेडी या सूधी खडी कर उसकी छायाको देखलो।

तन्मनुष्याणामुत्सेधानुभवायुरादिभिर्वृद्धिह्रासौ प्रतिपादितौ न भूमेरपरपुद्गलैरिति न मंतव्यं, गौणशब्दाप्रयोगान्मुख्यस्य घटनादन्यथा मुख्यशब्दार्थातिक्रमे प्रयोजनाभावात्। तेन भरतैरावतयोः क्षेत्रयोर्वृद्धिह्रासौ मुख्यतः प्रतिपत्तव्यौ, गुणभावतस्तु तत्स्थमनुष्याणामिति तथावचनं सफलतामस्तु ते प्रतीतिश्चानुल्लंघिता स्यात्।

थोडे आकाशमें बडी अवगाहनावाली वस्तुके समा जानेमें आश्चर्य प्रगट करते हुये कोई विद्वान् यों मान बैठे हैं कि भरत, ऐरावत, क्षेत्रोंकी वृद्धि हानि नहीं होती है, किन्तु उनमें रहनेवाले

मनुष्योंके शरीरउच्चता, अनुभव, आयु, सुख, आदि करके वृद्धि और न्हास होरहे सूत्रकार द्वारा समझाये गये हैं। अन्य पुद्गलोंकरके भूमिके वृद्धि और न्हास सूत्रमें नहीं कहे गये हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये। क्योंकि गौण होरहे शब्दोंका सूत्रकारने प्रयोग नहीं किया है। अतः मुख्य अर्थ घटित हो जाता है। अन्य प्रकारोंसे यानी तत्में स्थित होनेसे तत् शब्दपनेकी सिद्धि या " भरतऐरावतयोः " को सप्तमी विभक्तिका रूप मान लेना इन ढंगोंसे मुख्य शब्दके अर्थका अतिक्रमण करनेमें कोई प्रयोजन नहीं दीख रहा है। " मंचाः क्रोशन्ति " " गंगायां घोषः " आदि स्थलोंपर तात्पर्यकी अनुपपत्ति होनेसे मुख्य अर्थका उल्लंघन कर गौण अर्थका आदर कर लिया जाय। किन्तु यहां वृद्धि और ह्रास इन कृदन्त क्रियाओंका योग हो जानेसे " भरतऐरावतयोः " इस षष्ठ्यन्तपदका उनमें आधेय हो रहे मनुष्य, पशु, आदिक यह गौण अर्थ नहीं किया जा सकता है। विचारशाली दार्शनिक सूत्रकार आलंकारिक कवियोंकी छटामें निमग्न नहीं हैं। अतः भरत ऐरावत शब्दका मुख्य अर्थ पकडना चाहिये। तिस कारण भरत और ऐरावत दोनों क्षेत्रोंकी वृद्धि और हानि हो रही मुख्यरूपसे समझ लेनी चाहिये। हां, गौणरूपसे तो उन दोनों क्षेत्रोंमें ठहर रहे मनुष्योंके अनुभव आदि करके वृद्धि और ह्रास हो रहे समझ लो, यों तुम्हारे यहां सूत्रकारका तिस प्रकार वचन सफलताको प्राप्त हो जाओ और क्षेत्रकी वृद्धि या हानि मान लेने पर प्रत्यक्षसिद्ध या अनुमान सिद्ध प्रतीतियोंका भी उल्लंघन नहीं किया जा चुका है। भावार्थ—समयके अनुसार अन्य क्षेत्रोंमें नहीं केवल भरत ऐरावतोंमें ही भूमि ऊंची, नीची, घटती, बढती हो जाती है। तदनुसार दुपहरके समय छायाका घटना बढना या क्वचित् सूर्यका देर या शीघ्रतासे उदय, अस्त, होना, घटित हो जाता है। तभी तो अगले " ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः " इस सूत्रमें पडा हुआ " भूमयः " शब्द व्यर्थ सम्भव होकर ज्ञापन करता है कि भरत और ऐरावत क्षेत्रकी भूमियां अवस्थित नहीं हैं। ऊंची, नीची, घटती, बढती हो जाती हैं।

सूर्यस्य ग्रहोपरागोपि न भूगोलछायया युज्यते तन्मते भूगोलस्याल्पत्वात् सूर्यगोलस्य तच्चतुर्गुणत्वात् तथा सर्वग्रासग्रहणविरोधात् ।

सूर्यका ग्रहोंके द्वारा उपराग होना (सूर्यग्रहण) भी भूगोलकी छाया करके होरहा मानना उचित नहीं है। क्योंकि उन भूभ्रमण वादियोंके मतमें भूगोलका परिमाण अल्प माना गया है। सूर्य गोल उससे चौगुना स्वीकार किया है, तिस प्रकार होनेपर सर्वग्रासरूपग्रहण होजानेका विरोध पडेगा। अर्थात्—भूगोलवादी प्राचीन पण्डितोंने पृथिवीसे सूर्यको चौगुना स्वीकार किया है। यदि पृथिवीकी छायासे सूर्यग्रहण माना जावेगा तो भरपूर सूर्यका ढक जाना ऐसा खग्रास ग्रहण नहीं पड सकेगा। क्योंकि छोटा पदार्थ बडे पदार्थको पूरा नहीं ढक पाता है। आधुनिक कई युरोपीय विद्वान सूर्यको भूमिसे एक सौ आठ गुना या तेरह लाख गुना अथवा पन्द्रह लाख गुना स्वीकार करते हैं। आर्यभट्ट,

ब्रह्माचार्य, आदि भारतवर्षीय विद्वान् भी पृथिवीसे सूर्यको बडा मान बैठे हैं। ऐसी दशामें भूगोलकी छायासे सर्वांग सूर्यग्रहण नहीं हो सकेगा।

एतेन चंद्रछायया सूर्यस्य ग्रहणमपास्तं चंद्रमसोपि ततोल्पत्वात्। क्षितिगोलचतुर्गुणछायावृद्धिघटनाचंद्रगोलवृद्धिगुणछायावृद्धिघटनाद्वा ततः सर्वग्रासे ग्रहणमविरुद्धमेवेति चेत् कुतस्तत्र तथा तच्छायावृद्धिः। सूर्यस्यातिदूरत्वादिति चेन्न, समतलभूमावपि तत एव छायावृद्धिप्रसंगात्।

चन्द्रकी छाया करके सूर्यका ग्रहण पडना भी इस कथन करके खण्डित कर दिया गया है। क्योंकि उस सूर्यसे चन्द्रमाका भी परिमाण अल्प माना गया है। अल्प परिमाणवाले पदार्थसे बडी परिमाणवाली वस्तुका एक अंश भले ही ढक जाय, किन्तु परिपूर्ण ग्रास कथमपि नहीं हो सकता है। भावार्थ—आर्यभट्टकृत श्लोक है कि " छादयति शशी सूर्यं शशिनं च न महती भूच्छाया " ग्रहणके अवसरपर चन्द्रमा सूर्यको और बडी पृथिवीकी छाया चन्द्रमाको ढक लेती है। सूर्य सिद्धान्तमें भी कहा है कि " छादको भास्करस्येन्दुरधःस्थो घनवद्भवेत्, भूच्छायां प्राङ्मुखश्चन्द्रो विशत्यस्य भवेदसौ " बृहत्संहितामें " भूच्छायां स्वग्रहणे भास्करमर्कग्रहे, प्रविशतीन्दुः प्रग्रहणे मतः पश्चान्नेन्दोर्मानोश्च पूर्वार्धात् " भास्कराचार्यने सिद्धान्तशिरोमणि गोलाध्यायमें कहा है कि " पूर्वाभिमुखो गच्छन् कुच्छायानन्तर्यतः शशी विशति, तेन प्राक् प्रग्रहणं पश्चात् मोक्षोऽस्य निस्सरतः " " भूमिविंधुं विधुं दिनं ग्रहणेऽपि धत्ते " इत्यादिक मन्तव्य उचित नहीं है। यहां कोई भूगोलवादी कहते हैं कि दूर होनेपर छोटे पदार्थसे भी बडा पदार्थ ढक जाता है। आंखोंसे एक गज दूरपर एक छोटी सी किताबके आडे आ जानेसे पांच सौ गज दूर वर्त्ती सैकडों गज लम्बा चौडा पदार्थ भी ढक कर ओझिल हो जाता है। दूरपर पदार्थोंकी छाया भी बढ जाती है। तदनुसार भूगोलसे चौगुनी छायाकी वृद्धि घटित हो जाती है। अथवा चन्द्रगोलसे भी कई गुनी वृद्धिरूप छायाकी वृद्धि घटित हो जाती है। अतः उस बडी हुयी छाया अनुसार सूर्यका सर्वग्रास ग्रहण पड जाना विरुद्ध नहीं है। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि वहां सूर्यमण्डलके निकट तिस प्रकार उस छायाकी वृद्धि किस कारणसे बनेगी ? बताओ। यदि तुम भूगोलवादी यों कहो कि सूर्य अत्यन्त दूर है, इस कारण धतूरेके फूल समान छाया उत्तरोत्तर बढती हुयी जा रही बन जाती है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि समतलमें भी तिस ही कारण यानी सूर्यके अति दूर होनेसे ही छायाकी वृद्धि होजानेका प्रसंग आजाता है। फिर तुमने छायाकी वृद्धिसे भूमिके गोल आकारको क्यों साधा था ? अर्थात्—भ्रमण करते हुये सूर्यके दूर देश या निकट देशमें वर्तनेपर छायाका बढना या घटना सध जाता है।

कथं च भूगोलादेरुपरि स्थिते सूर्ये तच्छायाप्राप्तिः प्रतीतिविरोधात् तदा छायाविरहप्रसिद्धेर्मध्यंदिनवत् ततः तिर्यक् स्थिते सूर्ये तच्छायाप्राप्तिरिति चेन्न, गोलात्पूर्वदिक्षु स्थिते रवौ पश्चिमदिगभिमुखछायोपपत्तेस्तत्प्राप्त्ययोगात्। सर्वदा तिर्यगेव सूर्यग्रहणसंप्रत्ययप्रसंगात्।

मध्यं दिने स्वरूपोपरि तत्प्रतीतेश्च क्षितिगोलस्याधःस्थिते भानौ चंद्रे च तच्छायया ग्रहणमिति चेन्न, रात्राविव तददर्शनप्रसंगात् ।

दूसरी बात यह कहनी है कि भूगोल, चन्द्रगोल, आदिके ऊपर जब सूर्य स्थित होजावेगा तो ऐसी दशामें उनकी छाया सूर्यपर किस प्रकार प्राप्त होजावेगी ? क्योंकि प्रतीतियोंसे विरोध होजावेगा । उस समय तो मध्यान्हके समान छायाका विरह प्रसिद्ध होरहा है । यदि भूभ्रमणवादी पण्डित यहां यों उत्तर कहे कि उन भूगोल आदिसे सूर्यके तिरछा स्थित होनेपर सूर्यमें उनकी छाया प्राप्त होजाती है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि भूगोलसे पूर्व दिशाओंमें सूर्यके स्थित होजानेपर पश्चिमदिशाके अभिमुख छाया होना बनेगा । अतः उस सूर्यपर पृथिवी या चन्द्रमाकी छाया प्राप्त होनेका योग नहीं बन पावेगा । सर्वदा तिरछे ही सूर्यग्रहण होनेके भले प्रकार ज्ञान होनेका प्रसंग आवेगा, किन्तु दिनके मध्यभागमें आकाशके ऊपर उस सूर्यग्रहणकी प्रतीति होरही है । फिर भी कोई यों कहे कि भूगोलके नीचे सूर्य और चन्द्रमाके स्थित होजानेपर उनकी छाया करके सूर्यग्रहण पड जावेगा । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि रातमें जैसे सूर्यग्रहणका दर्शन नहीं होता है, उसीके समान दिनमें भी उस सूर्यग्रहणके नहीं दीखनेका प्रसंग आवेगा । अर्थात्—राहु अरिष्ट विमाणा किंचूणं जोयणं अधोगंता छम्मासे पव्वंते चंदरवी छादयंति कमे " इस त्रिलोकसारकी गाथा अनुसार नीचे, नीचे चल रहे राहु और अरिष्ट विमानों करके सूर्य और चन्द्रमाका ग्रहण पडना मानना चाहिये । यों छाया पड जानेसे ग्रहण नहीं होजाते हैं । चन्द्रविमानके चार प्रमाणांगुल नीचे राहुका विमान और सूर्य विमानके नीचे चार अंगुल नीचे अरिष्टका विमान भ्रमण करता रहता है । अन्य दिनोंमें ये विमान अगल बगल रहते हुये घूमते हैं । अमावस्या या पूर्णिमाके दिन कदाचित् नीचे आजानेपर ग्रहण दिवस मान लिया जाता है । यों पूर्णिमाके अतिरिक्त चन्द्रमाके नीचे सदा ही राहुका विमान तारतम्य अनुसार भ्रमण करता रहता है । जोकि प्रत्यक्षसिद्ध है । इस विषयके तलस्पर्शी विद्वान् भूगोल या सूर्यग्रहण आदिका अन्य समीचीन युक्तियों द्वारा अच्छा विवेचन कर लेवें । " नहि सर्वः सर्वविद् " । मेरे निकट इस विषयके साधन अत्यल्प हैं । श्री विद्यानन्द स्वामीकी युक्तियां अकाट्य हैं । हां, मेरे लेखमें त्रुटियां होना सम्भव है । " तद्धि जानन्ति तद्विदः " उस विषयको उसीके परिपूर्ण अन्तःप्रवेशी विद्वान् जान सकते हैं । मनीषिणः शोधयन्तु ।

ननु च न तयावरणरूपया भूम्यादिछायया ग्रहणमुपगम्यते तद्विद्भिर्यतोऽयं दोषः । किं तर्हि ? उपरागरूपया चंद्रादौ भूम्याद्युपरागस्य चंद्रादिग्रहणव्यवहारविषयतयोपगमात् । स्फटिकादौ जपाकुसुमाद्युपरागवत् तत्र तदुपपत्तेरिति कश्चित्, सोपि न सत्यवाक् तथा सति सर्वदा ग्रहणव्यवहारप्रसंगात् भूगोलस्य सर्वदिक्षु स्थितस्य चंद्रादेस्तदुपरागोपपत्तेः । जपाकु-

सुमादेः समंततः स्थितस्य स्फटिकादेस्तदुपरागवत् । न हि चंद्रादेः कस्यांचिदपि दिशि कदाचिदव्यवस्थितिर्नाम भूगोलस्य येन सर्वदा तदुपरागो न भवेत् ।

भूभ्रमणवादी स्वपक्षका अवधारण करते हैं कि भूमि आदिकी उपरागस्वरूप जो यही छाया करके सूर्य आदिका ग्रहण पडना उस ग्रहणके वेत्ता विद्वानों करके नहीं स्वीकार किया जाता है। जिससे कि यह उपर्युक्त दोष लग बैठे, तो ग्रहणवेत्ता विद्वान् क्या स्वीकार करते हैं ? इसका उत्तर यह है कि उपरागस्वरूप छाया करके ग्रहण पडना माना जाता है। चन्द्र, सूर्य, आदिमें भूमि आदिके उपराग पड जानेको ही चन्द्र आदिका ग्रहण पड जाना, इस व्यवहारके विषयपन करके स्वीकार किया गया है। जैसे कि स्फटिक, मोटे काच, आदिमें जपाका पुष्प, गुलाबका फूल, डंक आदिका उपराग पड जाता है। अतः उन चन्द्र आदिमें भूमि आदिके उपरागसे उस ग्रहण पडनेकी उपपत्ति हो जाती है। भावार्थ—दीप्यमान सूर्य, चन्द्रमाओंके ऊपर धुंधली पृथिवी आदिकी छाया करके ग्रहण होना हम नहीं मानते हैं। किन्तु धुंधले पदार्थकी चमकीले पदार्थपर आभा पड जाने मात्रसे ग्रहण हो जाता है। स्फटिकमें जपाकुसुमकी छाया नहीं पडती है, केवल जपा कुसुमकी आभासे स्फटिक लाल दीखने लग जाता है। जैसे घाममें लाल या हरा वस्त्र टांग देनेसे कुछ यहां वहां लाल या हरी कान्ति पड जाती है। हां, दर्पण या खड्गमें छाया पडती है। छाया और उपरागमें यही अन्तर है। यहांतक कोई भूभ्रमणवादी कह रहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि वह भी सत्य बोलनेवाला नहीं है। क्योंकि तिस प्रकार होनेपर सदा ही ग्रहणके व्यवहार होनेका प्रसंग आवेगा। जब कि भूगोलसे सम्पूर्ण दिशाओंमें चन्द्रमा आदि स्थित हो रहे हैं ऐसी दशामें चन्द्र आदिमें उस भूगोलका उपराग पडना सदा बन जायगा जैसे कि जपाकुसुम, गेंदाका फूल, प्रदीप, आदिके सब ओर स्थित हो रहे स्फटिक आदिपर उन जपाकुसुम आदिकी कान्ति पडना स्वरूप उपराग बन बैठता है। चन्द्र आदिकी किसी भी एक दिशामें कभी भूगोलकी भला व्यवस्था नहीं होय यह तो कथमपि तुम नहीं कह सकते हो जिससे कि सदा उस भूगोलका उपराग चन्द्र आदिके ऊपर नहीं हो सके। अर्थात्—आधुनिक भूगोलवादी भी सूर्यकी प्रदक्षिणा दे रही पृथिवीको मानते हैं। और चन्द्रमाको पृथिवीकी परिक्रमा दे रहा स्वीकार करते हैं। ऐसी दशामें चन्द्रमा या सूर्यके ऊपर भूमिका उपराग पडना सुलभ कार्य है। चमकीले पदार्थपर यहां वहांके पदार्थकी आभा अतिशीघ्र पड जाती है।

तस्य ततोतिविप्रकर्षात् कदाचिन्न भवत्येव प्रत्यासत्त्यतिदेशकाल एव तदुपरागादिति चेत्, किमिदानीं सूर्यादेर्भ्रमणमार्गभेदोऽभ्युपगम्यते ? बाढमभ्युपगम्यत इति चेत्, कथं नानाराशिषु सूर्यादिग्रहणं प्रतिराशि मार्गस्य नियमात् प्रत्यासन्नतममार्गभ्रमण एव तद्घटनात् अन्यथा सर्वदा ग्रहणप्रसंगस्य दुर्निवारत्वात् ।

यदि पूर्वपक्षी विद्वान् यों कहें कि वे चन्द्र आदिक उस भूगोलसे अत्यधिक दूर देशमें हैं। अतः देशका व्यवधान होनेसे कदाचित् चन्द्रादिके ऊपर भूगोलका उपराग नहीं हो पाता ही है। हां, अतिनिकटवर्त्ती देशमें सम्मुख हो जानेके अवसरपर ही उस उपरागका होना माना गया है। यों कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि क्या इस समय सूर्य आदिके चारों ओर भ्रमणका भिन्न भिन्न मार्ग स्वीकार किया जाता है ? अर्थात्—चन्द्रमा या भूमिका भिन्न भिन्न मार्गोंपर भ्रमण होना स्वीकार करनेपर ही दूर देशमें पहुंच जाना या निकट देशमें आकर चमकीले पदार्थोंपर उपराग डाल देना बन सकता है। यदि तुम परपक्षी विद्वान् यों कहो कि क्या आश्चर्य है। हम अत्यर्थ रूपसे भ्रमणके मार्गका भेद बडी प्रसन्नतासे स्वीकार करते हैं। यों कहनेपर तो हम जैन आक्षेप करेंगे कि बताओ अनेक राशिओंमें सूर्य आदिका भ्रमण कैसे होगा ? जब कि प्रत्येक राशिपर भ्रमणका मार्ग नियत कर दिया गया है। तब तो तुम्हारे विचार अनुसार अतिशय निकटवर्ती मार्गपर भ्रमण करनेपर ही वह ग्रहण पडना घटित हो सकता है। अन्य प्रकारोंसे माननेपर सर्वदा ही ग्रहण पडते रहनेके प्रसंगका कठिनतासे भी निवारण नहीं किया जा सकता है।

प्रतिराशि प्रतिदिनं च तन्मार्गस्याप्रतिनियमात् समरात्रदिवसवृद्धिहान्यादिनियमाभावः कुतो विनिवार्येत ? भूगोलशक्तेरिति चेत्, उक्तमत्र समायामपि भूमौ तत एव समरात्रादिः नियमोस्त्विति। ततो न भूछायया चंद्रग्रहणं चंद्रछायया वा सूर्यग्रहणं विचारसहं।

एक बात यह भी तुमसे पूंछना है कि प्रत्येक राशि या प्रत्येक दिन जब उन भूगोल, चन्द्रमा, आदिके मार्गका कोई प्रतिनियम नहीं हैं, तो ऐसी दशा हो जानेसे समान दिन रातके होने या दिनकी वृद्धि, हानि आदिके होने नियमका अभाव हो जाना भला किससे निवारित किया जा सकता है ? अर्थात्—चाहे कभी दिन, रात, समान हो जायंगे। छह छह महीने पीछे समान दिन रात होनेका नियम नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार चाहे जब दिन रात घट, बढ, जायंगे। कोई नियत व्यवस्था नहीं रह सकेगी। यदि तुम यों कहो कि भूगोलकी शक्तिसे समान दिन रात आदिकी नियत व्यवस्था हो जायगी, ग्रन्थकार कहते हैं कि यों कहनेपर तो हम पहिले ही कह चुके हैं कि समतल भूमिमें भी तिस ही कारणसे यानी भूमिकी शक्ति और सूर्य आदिकी गतिविशेषसे ही समान रात, दिन, आदिका नियम हो जाओ। व्यर्थमें अलीक सिद्धान्तोंके गढनेसे कोई लाभ नहीं है। तिस कारण पृथिवीकी छायासे चन्द्रमाका ग्रहण मानना और चन्द्रमाकी छायासे सूर्यका ग्रहण स्वीकार करना परीक्षा आत्मक विचारोंको सहन नहीं कर सकता है। सिद्धान्तशिरोमणिके कर्त्ता भास्कराचार्य या आर्यभट्ट आदि विद्वानोंका मन्तव्य समुचित नहीं है।

राहुविमानोपरागोत्र चंद्रादिग्रहणव्यवहार इति युक्तमुत्पश्यामः सकलबाधकविकलत्वात्।

हां, नीचे चल रहे राहुके विमान द्वारा उपराग होना यहां चन्द्र आदिके ग्रहणका व्यवहार करानेवाला है। इस सिद्धान्तको हम युक्तिपूर्ण देख रहे हैं। क्योंकि यह मन्तव्य सम्पूर्ण बाधक प्रमा-

नोंसे रहित है। अर्थात्—ग्रहणके समय नीचे राहु या अरिष्टका विमान आ जानेसे सूर्य और चन्द्र-माकी कान्ति दब जाती है। त्रिलोकसारमें कहा है। " राहुअरिट्ठविमाणधयादुवरि पमाण अंगुल चउक्कं। गन्तूण ससि विमाणा सूरविमाणा कमे होंति " राहु और अरिष्ट विमानकी ध्वजाके ऊपर बडे चार अंगुल प्रमाण ऊपर चलकर क्रमसे चन्द्र विमान और सूर्य विमान भ्रमण करते हैं। ढाई द्वीपमें कभी कभी बारह महिनेमें राहुके विमान सूर्यके ठीक नीचे भी आ जाते हैं। हां, अन्य समयोंमें अगल, बगल, कुछ दूर ही रहते हैं। शेष ढाई द्वीपके बाहर असंख्यात द्वीप समुद्र सम्बन्धी राहु विमान तो असंख्यात सूर्यचन्द्रमाओंके ठीक नीचे न रहकर कुछ इधर उधर विराज रहे हैं। यहां भी चन्द्रमाके नीचे राहुविमान केवल पूर्णिमाको छोडकर सदा कमती बढती बना रहता है। चन्द्र-ग्रहणके अवसरपर पूर्णिमाको भी नीचे आ जाता है।

न हि राहुविमानानि सूर्यादिविमानेभ्योऽल्पानि श्रूयंते। अष्टचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागविष्कंभायामानि तत्त्रिगुणसातिरेकपरिधीनि चतुर्विंशतियोजनैकषष्टिभागबाहुल्यानि सूर्यविमानानि, तथा षट्पंचाशद्योजनैकषष्टिभागविष्कंभायामानि तत्त्रिगुणसातिरेकपरिधीन्यष्टाविंशतियोजनैकषष्टिभागबाहुल्यानि चन्द्रविमानानि, तथैकयोजनविष्कंभायामानि सातिरेकयोजनत्रयपरिधीन्यर्धतृतीयधनुःशतबाहुल्यानि राहुविमानानीति श्रुतेः।

राहु या अरिष्टके अनेक विमान तो सूर्य चन्द्रमा आदि विमानोंसे छोटे हैं, यों शास्त्रद्वारा प्रतीत नहीं होते हैं। यानी सूर्य आदिके विमानोंसे राहु विमान बडे हैं। अनेक अन्तरित पदार्थोंमें आगम प्रमाणका ही साम्राज्य है। सर्वत्र युक्तियोंके प्रदर्शनकी टेव रखना प्रशस्त नहीं है। प्रकरणमें यह कहना है कि एक योजनके इकसठि भागोंमें अडतालीस भागप्रमाण लम्बे, चौंडे, और उस चौडाईसे कुछ अधिक तिगुनी परिधिवाले तथा चौडाईसे आधी चौबीस बटे इकसठि योजन मोटाईवाले असंख्याते सूर्य विमान हैं। तिस ही प्रकार छप्पन बटे इकसठि योजन चौडाई, लम्बाईवाले अर्द्ध गोल और उसके कुछ अधिक तिगुनी परिधिवाले तथा अट्ठाईस बटे इकसठि बडे योजनप्रमाण मोटाईको धार रहे असंख्यात, चन्द्र विमान हैं। तथा इनके नीचे कुछ आगे पीछे वर्त रहे पूरे बडे एक योजनकी लम्बाई चौडाईको धार रहे और कुछ अधिक तीन योजन परिधिवाले तथा ढाई सौ बडे धनुष प्रमाण मोटाईको धार रहे राहुविमान हैं। इस प्रकार लोकानुयोग शास्त्रोंद्वारा सुना जा रहा है। अर्थात्—सूर्यका विमान बडे योजनोंसे अडतालीस बटे इकसठि योजन लम्बा चौडा और इससे आधा मोटा आधे लड्डूके समान गोल है। नीचेकी ओर गोलाई है। और ऊपरली ओर सपाट तलपर अनेक देवोंके महल बने हुये हैं। उन सबका अधिष्ठाता एक सूर्य देव (प्रतीन्द्र) है। इस सूर्य विमानकी परिधि एकसौ इक्यावन बटे इकसठि बडे योजनकी है। और चन्द्रमाका विमान छप्पन बटे इकसठि योजन ठीक आधे मोदकके समान है। इसकी परिधि एकसौ सत्तहत्तरि बटे इकसठि योजन जान लेनी चाहिये।

राहु या अरिष्ट विमानकी लम्बाई, चौडाई, इनसे बडी पूरा एक योजन है जिसकी परिधि तीन सही एक बटे छह योजन होजाती है। हां, मोटाई राहु विमानकी केवल बडे ढाईसौ धनुष प्रमाण है। काले राहु विमानों करके सूर्य, चन्द्रमाओंकी किरणोंका फैलना यानी उनके निमित्तसे अन्य पुद्गल पिण्डोंका चमक जाना रुक जाता है। यही ग्रहण पडनेका रहस्य है। भले ही ग्रहण दिन शुभकार्योंमें ग्राह्य नहीं है, फिर भी सूतक, पातकका इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। जो कि पौराणिक वैष्णव पण्डितोंने मान रखा है।

ततो न चंद्रबिंबस्य सूर्यबिंबस्य वाऽर्धग्रहोपरागो कुंठविषाणत्वदर्शनं विरुध्यते। नाप्यन्यदा तीक्ष्णविषाणत्वदर्शनं व्याहन्यते राहुविमानस्यातिवृत्तस्य अर्धगोलकाकृतेः परभागेनोपरक्ते समवृत्ते अर्धगोलकाकृतौ सूर्यबिंबे चंद्रबिम्बे तीक्ष्णविषाणतया प्रतीतिघटनात्। सूर्याचंद्रमसां राहूणां च गतिभेदात्तदुपरागभेदसंभवाद्ग्रहयुद्धादिवत्। यथैव हि ज्योतिर्गतिः सिद्धा तथा ग्रहोपरागादिः सिद्ध इति स्याद्वादिनां दर्शनं।

तिस कारण चन्द्रबिम्ब अथवा सूर्यबिम्बका आधा ग्रहोपराग होना या भौथरे सींग समान दीखना, स्थूलनोंकवाले, हँसिया सारिखा दीखना, आदि विरुद्ध नहीं पडते हैं। तथा अन्य समयोंमें सूर्य या चन्द्रमाका तीक्ष्ण (पैने) विषाणपने करके दीखना भी व्याघात दोषवान् नहीं है। कारण कि राहुका विमान अत्यधिक रूपसे ठीक गोल है। चपटे आधे गोलेकी आकृतिवाले राहुविमानके परभाग करके उपरागको प्राप्त होरहे चारों ओर समान गोल और नीचे अर्धगोल आकृतिवाले सूर्यबिंब या चन्द्रबिम्बमें तीक्ष्ण सींगके स्वरूप करके प्रतीति होना घटित होजाता है। गोल रुपयेपर कुछ हटाकर दूसरा गोल रुपया धर दिया जाय तो ऐसी दशामें नीचले रुपयेका भाग पैना सींगवाला दीख जायगा। कोई विरोध नहीं आता है। चमकदार पदार्थोंकी कान्ति या आवरण पडना संध्यारागके समान अनेक ढंगोंसे होजाता है। सूर्य और चन्द्रमा तथा नीचे वर्त रहे राहु विमानोंकी गतिका भेद होजानेसे उन उनके उपरागोंमें भेद होना सम्भव जाता है जैसे कि केतु, मंगल आदि ग्रहोंके युद्ध, संक्रमण आदि उनकी विशेष गतिओं अनुसार होजाते हैं। चूंकि जिस ही प्रकार युक्तियों द्वारा ज्योतिष्क विमानोंकी गति सिद्ध है, उसी प्रकार ग्रहों द्वारा होरहे उपराग आदि भी प्रसिद्ध हैं। यों स्याद्वादियोंका दार्शनिक सिद्धान्त है। जोकि त्रिलोक त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ आप्त द्वारा प्रतिपादित होरहा अबाधित है। अतएव विचारशीलोंको उसपर अटल श्रद्धान करना चाहिये।

न च सूर्यादिविमानस्य राहुविमानेनोपरागोऽसंभाव्यः, स्फटिकस्येव स्वच्छस्य तेनासितेनोपरागघटनात्। स्वच्छत्वं पुनः सूर्यादिविमानानां मणिमयत्वात्। तप्ततपनीयसमप्रभाणि लोहिताक्षमणिमयानि सूर्यविमानानि, विमलमृणालवर्णानि चंद्रविमानानि अंकमणिमयानि अंजनसमप्रभाणि राहुविमानानि अरिष्टमणिमयानीति परमागमसद्भावात्।

सूर्य आदि विमानका राहुके विमान करके उपराग यानी धुंधली कान्तिवाला या कान्तिरहित होजाना असम्भव करने योग्य नहीं है। क्योंकि स्वच्छ स्फटिकका जैसे लाल जपापुष्पसे उपराग होजाता है, उसी प्रकार अंजन समान काले उस राहु विमान करके सूर्यादिका उपराग होना सम्भव जाता है। सूर्य आदि विमानोंका स्वच्छपना तो फिर मणिमय होनेके कारण व्यवस्थित है। तपाये गये लाल सुवर्णके समान प्रभाको धारनेवाले और लोहिताक्ष मणिकी प्रचुरताके धारी अनेक सूर्य विमान हैं। और निर्मल मृणाल (कमलकी डंडी) समान वर्णवाले और मध्यमें कतिपय काले मणियुक्त चिन्हींको गोदमें धार रहे अनेक चन्द्रविमान हैं। एवं अंजनके समान प्रभाके धारी काली अरिष्टमणिके प्राचुर्यको लिये हुये असंख्याते राहुविमान हैं। इस प्रकार सर्वज्ञोक्त परम आगमका सद्भाव है। भावार्थ—सूर्यका विमान तपाये सुवर्णके समान कुछ रक्तिमा लिये हुये चमकदार हैं। इससे बारह हजार उष्ण किरणें नैमित्तिक बनती रहती हैं। सूर्य, चन्द्रमा, शुक्र, आदि ज्योतिष्क विमान मूलमें उष्ण नहीं हैं। केवल सूर्य, मंगल, अग्निज्वाल, अगस्त्य आदि विमानोंकी प्रभायें उष्ण हैं। चन्द्रमाकी तो प्रभा भी शीतल है। चन्द्र विमान कुछ हरितपनको लिये हुये चमकदार हैं। चन्द्रमाकी बारह हजार शीतल किरणें हैं। चन्द्र विमानोंके बीचमें कई काले नीले मणिमय चिन्ह हैं तथा राहुका विमान अंजनसमान कुछ कालिमाको लिये हुये है। जैनसिद्धान्त यह है कि सूर्य चन्द्र विमानोंके अधोभागमें कुछ अन्तराल देकर कदाचित् राहुविमान आ जाते हैं। अतः उनकी प्रभा नीचेकी ओर नहीं फैल पाती हैं। हां, अपने पूर्ण स्वरूपमें वे सर्वदा अक्षुण्ण रहते हैं। यथायोग्य नीचेके पुद्गल स्कन्धोंपर चाकचक्य नहीं पड पाता है, जैसे कि डिब्बियामें धरे हुये रत्नकी कान्ति चारों ओर नहीं फैल पाती है। अथवा राहुके पूर्णरीत्या या कुछ भाग नीचे आ जानेपर परिस्थिति अनुसार स्वभावसे ही वैसी अत्यल्प कान्ति हो जाती है। स्वच्छ पदार्थके उन्मुख द्रष्टा और दृश्यके अन्तरालमें पडे हुये काले नीले या धुंधले पदार्थ आ रही नैमित्तिक कान्तिको रोक देते हैं। ये सब बातें प्रत्यक्षसिद्ध हैं। यहां कुतर्कोंकी गति नहीं है। प्रत्यक्षप्रमाण और परमागम प्रमाणसे बाधित हो रहे कुसिद्धान्तोंका परीक्षकोंके हृदयमें आदर नहीं है।

शिरोमात्रं राहुः सर्पाकारो वेति मतवादस्य मिथ्यात्वात् तेन ग्रहोपरागानुपपत्तेः वराहमिहरादिभिरप्यभिधानात्।

राहु नामक एक विमान है जो कि कृष्ण या शुक्लपक्षमें चन्द्रमाके नीचे भ्रमण कर रहा दीखता रहता है। इस विमानके ऊपर अनेक सुन्दर प्रासाद बने हुये हैं। उनमें अपने परिवारसहित एक राहु नामका सुन्दर, दिव्य शरीरधारी, अधिष्ठाता निवास करता है। जो कोई पौराणिक पण्डित ऐसा कह रहे हैं कि ऊपरका केवल सिरका भाग राहु है और नीचेका धड केतु है। अर्थात्—पुराणचर्चा है कि विष्णु जब अमृतको बांट रहे थे उस समय राहु नामका एक राक्षस देवताका वेष धारण कर देवोंकी पंक्तिमें आ बैठा था, मोहिनी रूपधारी विष्णु भगवान्ने उसको अमृत परोस

दिया। वह झट पी गया। इस अवसरपर सूर्य और चन्द्रमाने पैशून्य (चुगली) कर दिया। विष्णुने क्रोधवश हो करके राहुका शिर काट डाला। किन्तु वह अमृत पी चुका था। अतः मरा नहीं। इसी कारण सूर्य और चन्द्रमाको राहु और केतु ग्रस लेते हैं। कोई राहुका आकार सर्प सरीखा मानते हैं। किन्तु ये सम्पूर्ण प्रवाद मिथ्या हैं। ऐसे उन राहु या केतु करके ग्रहों द्वारा उपराग होना नहीं बनता है। वराहमिहर, आदि विद्वानोंने भी ऐसा ही कहा है। बृहत्संहितामें लिखा है, " एवमुपरागकारण-मुक्तमिदं दिव्यदृग्भिराचार्यैः राहुरकारणमस्मिन्नित्युक्तः शास्त्रसद्भावः "।

कथं पुनः सूर्यादिः कदाचिद्राहुविमानस्यार्वाग्भागेन महतोपरज्यमानः कुंठविषाणः स एवान्यदा तस्यापरभागेनाल्पेनोपरज्यमानस्तीक्ष्णविषाणः स्यादिति चेत्, तदाभियोग्यदेवगतेविशेषात्तद्विमानपरिवर्तनोपपत्तेः। षोडशभिर्देवसहस्रैरुह्यंते सूर्यविमानानि प्रत्येकं पूर्वदक्षिणोत्तरापरभागात् क्रमेण सिंहकुंजरवृषभतुरंगरूपाणि विकृत्य चत्वारि देवसहस्राणि वहंतीति वचनात्। तथा चंद्रविमानानि प्रत्येकं षोडशभिर्देवसहस्रैरुह्यंते, तथैव राहुविमानानि प्रत्येकं चतुर्भिर्देवसहस्रैरुह्यंते इति च श्रुतेः।

जैनोंके ऊपर कोई आक्षेप करता है कि यदि ग्रहोपरागकी व्यवस्था यों है तो फिर बताओ कि सूर्य आदिक कभी कभी राहुविमानके उरले बडे भाग करके उपरागको प्राप्त हो रहे सन्ते तिस प्रकार भौथरे सींग सरिखे आकारवाले कैसे हो जाते हैं ? और वही सूर्य आदिक अन्य समयोंमें उस राहुके परले छोटे भागकरके उपरागको प्राप्त हो रहे सन्ते भला पैने सींगसरिखे आकारवाले कैसे दीखने लग जाते हैं ? बताओ, यों कहनेपर तो आचार्य समाधान करते हैं कि उन अवसरोंपर उन विमानोंके वाहक आभियोग्य जातिके देवोंकी गति विशेषसे उन सूर्य आदि विमानोंका परिवर्तन बन जाता है। देखो, सोलह हजार देवों करके सूर्य विमान धारे जाते और चलाये जाते हैं। प्रत्येक सूर्यको एक एक पूर्व, दक्षिण, उत्तर और पश्चिम भागोंसे क्रम करके सिंह, हाथी, बैल, और घोडेके रूप अनुसार विक्रिया कर चार चार हजार देव धारे रहते हैं, ऐसा शास्त्रोंका वचन है। यानी पूर्वकी ओर चार हजार देव सिंहका रूप धारण कर सूर्यको चला रहे हैं। नियत गतिसे इधर उधर नहीं होने देते हैं। दक्षिण दिशामें हाथियोंका रूप धारे हुये चार हजार आभियोग्य देव सूर्यको नियतगति अनुसार ढो रहे हैं। उत्तरमें बैलका रूप धार रहे चार हजार देव सूर्य विमानको नियत व्यवस्था अनुसार लादे हुये हैं। तथा पश्चिम भागसे अश्ववेषधारी चार सहस्र देव सूर्यको डाटे हुये हैं। मनुष्यों द्वारा चलायी गयी पर्वतीय गाडीको जिस प्रकार चारों ओरसे लग कर मनुष्य ढोते हैं, उसी प्रकार सूर्यविमानोंकी व्यवस्था है। तिसी प्रकार चन्द्रविमान भी प्रत्येक सोलह हजार देवों करके ढोये जाते हैं। उस ही प्रकार राहुविमान भी एक एक चार हजार देवों करके धारे जाते हैं।

इस प्रकार आप्तोपज्ञ शास्त्रोंसे निर्णीत किया जाता है । अतः ऊंचा नीचा, टेढा, मेढा, गमन हो जानेसे कुण्ठविषाण या तीक्ष्णविषाण सारिखा हो गया ग्रहोपराग प्रतीत हो जाता है ।

तदाभियोग्यदेवानां सिंहादिरूपविकारिणां कुतो गतिभेदस्तादृक् इति चेत्, स्वभावत एव पूर्वोपात्तकर्मविशेषनिमित्तकादिति ब्रूमः । सर्वेषामेवमभ्युपगमस्यावश्यंभावित्वादन्यथा स्वेष्टविशेषव्यवस्थानुपपत्तेः तत्प्रतिपादकस्यागमस्यासंभवद्बाधकस्य सद्भावाच्च ।

यदि यहां कोई यों प्रश्न करे कि उन सूर्य आदिके वाहक सिंह आदि रूपोंकी विक्रियाको धारनेवाले आभियोग्य देवोंकी तिस प्रकारकी विशेष गति भला किस कारणसे होजाती है ? यों पूछनेपर तो हम सगौरव यह उत्तर कहते हैं कि स्वभावसे ही उन देवोंकी वैसी वैसी गति होजाती है । वायु या रक्तकी होरहीं गतियोंपर कुचोद्य चलाना व्यर्थ है । दो चार कोटीतक कारण चलाते हुये भी अन्तमें जाकर स्वभावपर ही टिककर सन्तोष प्राप्त होता है । पूर्व जन्मोंमें उपात्त किये गये कर्मविशेषोंका निमित्त पाकर उन आभियोग जातीय देवोंकी स्वभावसे ही वैसी वैसी नाना प्रकारकी गति होजाती है, जिससे कि शुक्लपक्षकी द्वितीयाको कभी ऊंचे खड्ग समान, कभी तिरछे खड्ग समान, कदाचित् मोंथरा, पैना, सींगसारिखा चन्द्रमा दीख जाता है । ग्रहणमें भी ऐसी ही दशा प्राप्त हो जाती है । ग्रहणके अवसरपर किरणों या कलाओंके ढक जानेकी अपेक्षा यह सिद्धान्त सर्वांगसुंदर प्रतीत होता है कि वैसी परिस्थिति अनुसार उतनी ही मन्दकान्ति स्वभावसे ही उपज जाती है । जैसे कि गाढ अन्धकार होजानेपर दर्पणमें प्रतिबिंब नहीं पडता है, या प्रयोगके विना पानी ऊपरको नहीं चढता है। सम्पूर्ण वादी प्रतिवादियोंके यहां इस प्रकार स्वभावका स्वीकार करना आवश्यक रूपसे होनेवाला कार्य है। अग्निज्वालाका स्वभाव ऊपरको जाना है, गुरुपदार्थ अधःपतन स्वभाव वाले हैं । ज्ञान आत्माका स्वभाव है। पुद्गलके स्वभाव रूप आदिक हैं । यों सभीको वस्तुओंके स्वभाव मानने पडते हैं । अन्यथा अपने अभीष्ट विशेष तत्त्वोंकी व्यवस्था नहीं बन सकती है। दूसरी बात यह है कि उन वाहक अभियोग्य देवोंकी गतिविशेषका प्रतिपादन करनेवाला आगम विद्यमान है । जिसके कि बाधक प्रमाणोंका असम्भव होरहा है । ज्योतिषशास्त्रके विषयमें आगमकी शरण प्रायः सबको लेनी पडती है । इसके विना कोई ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष दर्शनका अभिमान (शेखी) बखाननेवाले दो दो चार चार जन्मतक भी एक नक्षत्रकी भुक्तिका भी निर्णय नहीं कर सकते हैं । सम्पूर्ण ज्योतिषशास्त्रका जानना तो अतीव दुर्लभ है। हां, त्रिलोक त्रिकालज्ञ आप्तके द्वारा कहे गये शास्त्रों द्वारा स्तोककालमें पूर्ण निर्णय कर लिया जाता है ।

गोलाकारा भूमिः समरात्रादिदर्शनान्यथानुपपत्तेरित्येतद्बाधकमागमस्यास्येति चेत् न, अत्रहेतोरप्रयोजकत्वात् । समरात्रादिदर्शनं हि यदि स्थिरभूमेर्गोलाकारतायां साध्यायां हेतुस्तदा न प्रयोजकः स्यात् भ्राम्यद्भूमेर्गोलाकारतायामपि तदुपपत्तेः । अथ भ्रमद्भूमेर्गोलाकारतायां साध्यायां तथाप्यप्रयोजको हेतुस्स्थिरभूगोलाकारतायामपि तद्घटनात् ।

कोई भूभ्रमणवादी कटाक्ष करते हैं कि भूमि (पक्ष) गोल आकारवाली है (साध्य) क्योंकि समान रात दिन होना, दिनका घटना बढना, रातका घटना बढना, अनेक देशोंमें एक ही समय न्यारी तिरछी टेढी, आदि छायाओंका पडना, ग्रहोपराग होना आदिका दर्शन अन्यथा यानी गोल भूमिको माने विना बन नहीं सकता है (हेतु) यह अनुमान आप जैनोंके इस उक्त आगमका बाधक खडा हुआ है। फिर आपने स्वकीय आगमको बाधकरहित कैसे कहा ? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि इस अनुमानमें कहा गया हेतु अप्रयोजक है। अपने साध्यके साथ नियतव्याप्तिको नहीं धार रहा है। विचारिये कि समरात्र आदिका दीख जाना यदि ठहर रही भूमिके गोल आकार होनेको साध्य करनेमें हेतु है ? तब तो हेतु साध्यका प्रयोजक नहीं हो सकेगा। व्यभिचार दोष आता है। भ्रमण कर रही भूमिके गोल आकार होनेमें भी वह समरात्र आदिका दीख जाना बन सकता है। अतः विपक्षसे व्यावृत्त नहीं होनेके कारण तुम्हारा हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास है। अब यदि तुम भूभ्रमणवादी बनकर सूर्यके चारों ओर घूम रही भूमिके गोल आकार होनेको साध्य करनेमें उस हेतुका प्रयोग करोगे तो भी तुम्हारा हेतु अनुकूलतर्कोपेत नहीं है। क्योंकि ठहर रही भूमिके गोल आकार होनेपर भी वह समरात्र आदिका दीख जाना घटित हो जाता है। फिर भी व्यभिचार दोष तदवस्थ रहा, जैसे कि सौन्दर्यको साधनेमें धनिकपना हेतु व्यभिचारी है। समान दिन रात आदिका दीखना तो भूमिकी चल और अचल दोनों दशाओंमें सध जाते हैं। ऐसे विपक्षवृत्ति हेतुसे भूमि गोल आकारवाली नहीं सध पाती है।

अथ भूसामान्यस्य गोलाकारतायां साध्यायां हेतुस्तथाप्यगमकस्तिर्यक्सूर्यादिभ्रमणवादिनामर्धगोलकाकारतायामपि भूमेः साध्यायां तदुपपत्तेः। समतलायामपि भूमौ ज्योतिर्गतिविशेषात्समरात्रादिदर्शनस्योपपादितत्वाच्च। नातः साध्यसिद्धिः कालात्ययापदिष्टत्वाच्च। प्रमाणबाधितपक्षनिर्देशानंतरं प्रयुज्यमानस्य हेतुत्वेतिप्रसंगात्। ततो नेदमनुमानं हेत्वाभासोत्थं बाधकं प्रकृतागमस्य येनास्मादिष्टसिद्धिर्न स्यात्।

अब यदि तुम यों कहो कि भूमिके ठहरने या घूमनेका विशेष विचार नहीं कर भूमि सामान्यके गोल आकारसहितपनको साध्य करनेमें वह हेतु कहा जायगा ग्रन्थकार कहते हैं कि तो भी तुम्हारा हेतु साध्यका ज्ञापक नहीं है। क्योंकि सूर्य आदिका तिरछा भ्रमण कहनेवाले या पृथिवीका सूर्यादिके ऊपर तिरछा भ्रमण कह रहे पण्डितोंके यहां भूमिके आधे गोल आकार होनेको भी साध्य करनेपर वह सम रात आदिका दीखना बन जाता है। अर्थात्—पूरा गोल आकार या आधा गोल आकार दोनों प्रकार भूमिकी रचना माननेपर वह हेतु बन जाता है। अतः फिर भी व्यभिचार दोष तदवस्थ रहा। दूसरी बात यह है कि दर्पणके समान समतल हो रही भूमिमें भी ज्योतिष्क विमानोंकी विशेष विशेष गतियोंसे समरात्र आदिका दीखना युक्त सिद्ध कर दिया गया है। अर्थात्—सात राजू लम्बी एक राजू

चौडी और एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी इस हमारे तुम्हारे आश्रय हो रही रत्नप्रभा भूमिको या इस छोटेसे भरतक्षेत्रको सपाट समतल मान लिया जाय तो भी प्रत्यक्ष ऊपर दीख रहे इन ज्योतिष्क विमानोंकी गति अनुसार समान दिन रात आदि हो जाते हैं। इन सिद्धान्तोंको साधनेमें अभी पूर्व ग्रन्थद्वारा हम उपपत्ति दे चुके हैं। इस कारण इस समरात्र आदि दीखनास्वरूप हेतुसे भूमिके गोल आकार साध्यकी सिद्धि नहीं होसकती है। व्यभिचारके अतिरिक्त दूसरा दोष यह भी है कि तुम्हारा हेतु कालात्ययापदिष्ट यानी बाधित हेत्वाभास है। क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण और आगमप्रमाणसे बाधे जाचुके प्रतिज्ञाकथनके अनन्तर प्रयुक्त होरहा है। यदि प्रमाणबाधित पक्षके होनेपर भी पुनः बलात्कारसे हेतुका प्रयोग कर दिया जायगा तो अतिप्रसंग दोष बन बैठेगा। "अग्निरनुष्णः द्रव्यत्वात्, प्रेत्य दुःखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वात्" आदि असत् हेतु भी समीचीन हेतु बन जायेंगे। तिस कारण हेत्वाभाससे उत्पन्न हुआ यह तुम्हारा अनुमान हम जैनोंके प्रकरणप्राप्त आगमका बाधक नहीं है। जिससे कि इस आगमसे ही हमारे इष्ट सिद्धान्तकी सिद्धि नहीं होजाती। अर्थात्—आप्तोपज्ञ आगम द्वारा ज्योतिष्क देवोंकी गति, भूमिका समतल आकार, आदिक सब सध जाते हैं। व्यर्थकी शंकाओंमें कोई लाभ नहीं है। कतिपय यूरोपीय विद्वान भी पृथिवीको अचला सिद्ध करनेके लिये अनेक युक्तियों द्वारा उन्मुख होरहे हैं। अन्तमें जाकर सबको नहीं सर्वज्ञोक्त आम्नाय अनुसार सिद्धान्त मानना पडेगा।

ज्योतिःशास्त्रमतो युक्तं नैतत्स्याद्वादविद्विषां।
संवादकमनेकांते सति तस्य प्रतिष्ठिते ॥ १७ ॥

इस कारण स्याद्वादियोंके यहां ज्योतिषशास्त्र युक्तिपूर्ण सध जाता है। स्याद्वाद सिद्धान्तके साथ विद्वेष रखनेवाले पण्डितोंके यहां यह ज्योतिषशास्त्र समुचित होकर सम्वादक नहीं व्यवस्थित होरहा है। क्योंकि अनेकान्तसिद्धान्तके प्रतिष्ठाप्राप्त हो चुकनेपर उस ज्योतिषशास्त्रका सम्वादकपना निर्णीत होता है। बाधकप्रमाणोंसे रहितपना या सफलप्रवृत्तिका जनकपनारूप संवाद तो पदार्थोंमें अनेक धर्म माननेपर ही घटित होता है।

न हि किंचित्सर्वथैकांते ज्योतिःशास्त्रे संवादकं व्यवतिष्ठते प्रत्यक्षादिवत् नित्याद्येकांतरूपस्य तद्विषयस्य सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वाभावात् तस्य दृष्टेष्टाभ्यां बाधनात्। ततः स्याद्वादिनामेव तद्युक्तं, सत्यनेकांते तत्प्रतिष्ठानात् तत्र सर्वथा बाधकविरहितनिश्चयात्।

ज्योतिषशास्त्रको सर्वथा एकान्तस्वरूप मान लिया जावे तो कुछ भी सूर्यग्रहण आदि परिणाम बाधारहित सिद्ध नहीं होते हैं। जैसे कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंमें संवादकपना सर्वथा एकान्तपक्ष माननेपर घटित नहीं होता है। अथवा सर्वथा एकान्त पक्षमें ज्योतिषशास्त्र सफल प्रवृत्तिका जनक नहीं बन पाता है। जैसे कि प्रत्यक्ष, अनुमान, आदिक प्रमाण सर्वथा एकान्त माननेपर संवादक नहीं है।

उस तुम्हारे ज्योतिष शास्त्रके विषय होरहे नित्यपन, क्षणिकपन, आदि एकान्तस्वरूपोंके बाधक प्रमाणोंके असंभवनेका अच्छा निर्णय नहीं होचुका है। क्योंकि उन एकान्तस्वरूपकी प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणोंसे बाधा होजाती है। तिस कारण स्याद्वादियोंके यहां ही वह ज्योतिषशास्त्र समुचित माना गया है। कारण कि अनेकान्त होनेपर ही उस ज्योतिषशास्त्रकी प्रतिष्ठा है। जैनोंके अनेकान्त आत्मक उस ज्योतिषशास्त्रमें सभी प्रकारोंसे बाधक प्रमाणोंके विशेषतया रहितपनका निश्चय होरहा है। यहांतक विद्यानन्द स्वामीने गम्भीरयुक्तियों और आम्नायप्राप्त शास्त्रों द्वारा ज्योतिषविषयका निर्णय करा दिया है। मुझ स्तोकबुद्धि भाषाकारने स्वकीय स्वल्प क्षयोपशम अनुसार आचार्य महाराजके शब्दोंका तात्पर्य लिखा है। किन्तु मुझसे यथायोग्य विवरण नहीं होसका है। विशेषज्ञ विद्वान् इस विषयपर अच्छी छानबीन कर जैनसिद्धान्तकी प्रभावना करें, यह मेरी समीचीन भावना है। जिनोक्त, लोकानुयोग, अतीव गम्भीर महोदधि है। उसमें जितना भी गहरा प्रविष्ट होकर अन्वेषण किया जावेगा, उतनी ही अटूट प्रमेयरत्नोंकी प्राप्ति होती जावेगी।

इत्यलं प्रतिभाशालिभ्यो महोदरेभ्यो नीरक्षीरविवेचनईजायमानेभ्यः ॥

अब इस समय श्री उमास्वामी महाराज मनुष्य लोकस्थ ज्योतिष्कोंकी गतिके सम्बन्ध करके जगत्भरमें प्रवर्त रहे व्यवहार कालकी प्रतिपत्ति करानेके लिये अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

तत्कृतः कालविभागः ॥ १४ ॥

उन गतिमान् ज्योतिषियों करके किया जाचुका समय, आवलि, उच्छ्वास, मुहूर्त आदि व्यवहार कालोंका विभाग होरहा है।

किं कृत इत्याह ।

कोई जिज्ञासु पूंछता है कि उन ज्योतिषी देवोंकरके क्या किया गया है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्तिकको कहते हैं।

ये ज्योतिष्काः स्मृता देवास्तत्कृतो व्यवहारतः ।
कृतः कालविभागोयं समयादिर्न मुख्यतः ॥ १ ॥
तद्विभागात्तथा मुख्यो नाविभागः प्रसिद्ध्यति ।
विभागरहिते दे तो विभागो न फले क्वचित् ॥ २ ॥

त्रिलोक त्रिकालदर्शी तीर्थंकर श्रीजिनेन्द्रनाथ भगवान् समवसरणमें विराजकर भव्यजीवोंको तत्त्वोंका उपदेश देते हैं। द्वादशांग वेत्ता गणधरदेव उस अर्थका स्मरण रख कर मुखांग द्वारा उसको

गूंथते हैं। पश्चात्—अनेक आचार्य आम्नाय द्वारा स्मरण होते चले आ रहे उस प्रमेयको शास्त्रोंमें लिपिबद्ध करते हैं। अतः सर्वज्ञोक्त अर्थका अविच्छिन्न सम्प्रदाय द्वारा स्मरण कर परिहास हो रहे शास्त्रोक्त अर्थको स्मृत यानी स्मरण किया जा चुका ऐसे कहनेकी परिपाटी चली आ रही है। अजैन विद्वान् भी ईश्वरोक्त या वेदोक्त अर्थोंको मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, पाराशर स्मृति आदि ग्रन्थोंमें ग्रन्थकर्त्ता ऋषियों द्वारा स्मरण किया जाकर लिपिबद्ध कर दिया गया मानते हैं। गुरुपरिपाटी अनुसार श्री उमास्वामी महाराज करके जो ज्योतिष्क देव स्मरणपूर्वक कहे जा चुके हैं, उन देवों करके गति द्वारा किया गया यह समय, आवलिका, दिन, वर्ष, आदि स्वरूप कालविभाग व्यवहारसे नियमित किया गया समझना चाहिये। मुख्यरूपसे वह कालविभाग ज्योतिष्कों करके नहीं किया जा सकता है। अर्थात्—मुख्य कालद्रव्य तो नित्य है। किसी द्वारा किया नहीं जा सकता है। हां, व्यवहारकालोंकी नापको ज्योतिष्कों द्वारा साधा जाता है। किन्तु यह अवश्य है कि उस व्यवहार कालके समय आवलि आदि विभागोंसे युक्त कारण वह मुख्य काल तो विभाग रहित नहीं प्रसिद्ध हो पाता है। तिस प्रकार व्यवहारकालोंके अनन्तानन्त भेद, प्रभेद, स्वरूप विभागोंके समान मुख्यकाल भी द्रव्यरूपसे असंख्यात विभागोंको धार रहा है। क्योंकि यदि हेतुको विभाग रहित माना जायगा तो फल यानी कार्यमें कहीं भी विभाग नहीं हो सकता है। विभागवाले कारण ही विभागवाले कार्योंको उत्पन्न कर सकते हैं।

विभागवान् मुख्यः कालो विभागवत्फलनिमित्तत्वात् क्षित्यादिवत्।

ग्रन्थकार अनुमान बनाते हैं कि मुख्यकाल (पक्ष) विभागोंको धारता है (साध्य)। विभागवाले फलोंका निमित्त कारण होनेसे (हेतु) पृथिवी, जल, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्—नाना जातिवाली पत्थर, मट्टी, लोहा आदि पृथिवियोंसे जैसे चूना, घडा, सांकल, आदि विभक्त कार्य बनते हैं, अथवा मेघजल, खारकूपजल, नदीजल, समुद्रजल, भिन्नदेशीय जल, आदिके किसान या माली जैसे भिन्न भिन्न प्रकारके वनस्पति आदि कार्योंकी उत्पत्ति कराते हैं, उसी प्रकार विभागयुक्त कालद्रव्य ही विभागवाले व्यवहारकालोंको फलस्वरूप उपजा सकेगा। हां, यह बात दूसरी है कि अनन्तानन्त जीवोंसे अनन्तगुणे पुद्गलद्रव्य हैं और पुद्गलद्रव्योंसे भी अनन्तगुणा व्यवहारकाल है। किन्तु निश्चयकालद्रव्य तो लोकप्रदेशप्रमाण असंख्याते ही हैं। फिर भी मूलमें असंख्याते द्रव्यों करके बहिरंग उपाधियों द्वारा कार्योंके अनन्तानन्त भेद किये जा सकते हैं। मूलमें विभागरहित हो रहे कोरे एक द्रव्यसे असंख्याते या अनन्ते भेद नहीं हो सकते हैं। यहां इस समय ग्रन्थकारको केवल विभागवान् कारणसे ही विभागवान् कार्योंकी सिद्धि कराना अभीष्ट है। वैशेषिक या नैयायिक कालद्रव्यको एक ही मानते हैं। उनके प्रति इस अनुमानका प्रयोग है। जो विद्वान् पक्षपात रहित होकर सूक्ष्मतत्त्वोंके जाननेमें अवगाह करेगा, उसके प्रति लघु उपाय करके असंख्य मूल कारणोंके अनन्तस्वभावों द्वारा अनन्तानन्त फलोंकी सिद्धि झटिति कराई जा सकती है। सूक्ष्म पर्यायों

अतीन्द्रिय छोटी छोटी गलियोंमें या सिद्धान्तसम्बन्धी उन्नत सतखने प्रासादोंके ऊपर भी अनुमान स्वरूप गजरथोंपर चढकर चलनेका आग्रह किये जाना केवल बालकपन है। व्याप्तिग्रहण, व्याप्तिस्मरण, हेतुदर्शन, पक्षधर्मता ज्ञान, आदि सामग्री स्वरूप मोटे शरीरको धारनेवाला विचारा अनुमान उस सूक्ष्म सिद्धान्तोंमें नहीं प्रवेश कर सकता है। जो कि परम अतीन्द्रिय है, वहां श्रुतज्ञान या सब ज्ञानोंके गुरुमहाराज केवलज्ञानका ही प्रवेशाधिकार है।

समयावलिकादिविभागवद्व्यवहारकाललक्षणफलनिमित्तत्वस्य मुख्यकाले धर्मिणि प्रसिद्धत्वात् नाप्याश्रयासिद्धः, सकलकालवादिनां मुख्यकाले विवादाभावात् तदभाववादिनां तु प्रतिक्षेपात्। गगनादिनानैकान्तिकोऽयं हेतुरिति चेन्न, तस्यापि विभागवदवगाहनादिकार्योत्पत्तौ विभागवत एव निमित्तत्वोपपत्तेः।

मन्दगति द्वारा एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर परमाणुके पहुंचनेमें जितना काल लगता है, वह समय कहा जाता है। असंख्यात समयोंका पिण्ड आवलि काल है। संख्यात आवलियोंका एक श्वास होता है। तीन हजार सातसौ तिहत्तर श्वासोंका मुहूर्त होता है। तीस मुहूर्तका दिन रात होता है। तीनसौ पैंसठि या तीनसौ छियासठि दिनोंका एक वर्ष होता है। पूर्व, पल्य, सागर, कल्प कालोंकी भी गणना कर लेना। यहां हेतुकी निर्दोषता दिखलानी है कि समय, आवलि, नाडी, श्वास, आदि विभागवाले व्यवहारकालस्वरूप अनेक फलोंका निमित्तकारणपना यह हेतु मुख्यकाल द्रव्य स्वरूप पक्षमें प्रसिद्ध हो रहा है। अतः हम जैनोंका हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास नहीं है। हेतुके पक्षमें वर्तजाने मात्रसे स्वरूपासिद्धि दोषका निराकरण हो जाता है। तथा हमारा उक्त हेतु आश्रयासिद्ध हेत्वाभास भी नहीं है। क्योंकि कालको स्वीकार करनेवाले सम्पूर्ण वादी विद्वानोंके यहां मुख्यकालको स्वीकार करनेमें कोई विवाद नहीं उठाया गया है। हां, उस मुख्यकालका अभाव माननेवाले चार्वाक, श्वेताम्बर आदि वादी विद्वानोंका तो युक्तियों द्वारा तिरस्कार (निराकरण) कर दिया जाता है। ग्रन्थकर्त्ताके सन्मुख इस समय कालको माननेवाले विद्वान् उपस्थित हैं। जब कालको सर्वथा नहीं माननेवाले वादी कोई आक्षेप करेंगे तब दूसरे अनुमानों द्वारा उसको समझा दिया जायगा। उतावले नहीं बनो, धीरतापूर्वक ग्रन्थकारके अपूर्व प्रमेयोंका गम्भीरबुद्धिसे परिशीलन करो, जो कि सद्बोधका निदान है। यहां कोई आक्षेप करता है कि तुम जैनोंका यह विभागवाले फलोंका निमित्तपना हेतु तो आकाश, दिशा, धर्मद्रव्य, आदि करके व्यभिचारदोषवान् है। देखो, अखण्ड गगन आदिक स्वयं विभागवाले नहीं होते हुये भी विभागवाले अवगाह, पूर्व–पश्चिमवर्त्ती, गमनयोग्य, इन विभागवाले फलोंके निमित्त कारण हो जाते हैं। एक अखण्ड आकाशमें छोटे छोटे परिमाणवाले अनेक विभक्त पदार्थ ठहर जाते हैं, इत्यादि। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि विभागवाले ही उन आकाश, दिशा, धर्मद्रव्य आदिकोंको भी विभागवाले गृह आदिके अवगाहमें

गमन, आदि कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्तपना बन रहा है। आकाश, धर्मद्रव्य, इन सबके प्रदेश माने गये हैं। अपने न्यारे न्यारे प्रदेशपर न्यारे न्यारे अवगाह्योंको आकाश अवगाह दे रहा है। एक प्रदेशमें अनन्त गुण भी ठहर सकते हैं। इसके लिये भी अनन्तानन्त स्वभावोंकी शरण लेना अष्टसहस्रीमें पुष्ट कर दिया गया है। अतः हमारा हेतु व्यभिचारी नहीं है।

ननु च यद्यवयवभेदो विभागस्तदा नासौ गगनादावस्ति तस्यैकद्रव्यत्वोपगमात्। पटादिवदवयवारभ्यत्वानुपपत्तेश्च। अथ प्रदेशभेदोपचारो विभागस्तदा कालेप्यस्ति, सर्वगतैककालद्रव्यस्याकाशादिवदुपचरितप्रदेशकालस्य विभागवत्त्वोपगमात् तथा च तत्साधने सिद्धसाधनमिति कश्चित्।

कालको वस्तुतः एक ही माननेवाला कोई पण्डित (वैशेषिक) यों पूर्वपक्ष उठाता है कि आप जैनोंने कालको विभागवाला जो सिद्ध किया है, वहां विभागका अर्थ यदि स्वकीय अवयवोंका भिन्न भिन्न होना है ! तब तो वह विभाग इन आकाश, ईश्वर, दिशा, आदिमें नहीं है। क्योंकि उन गगन आदि अखण्डपदार्थोंको एक द्रव्यपना स्वीकार किया गया है। तथा पट, गृह, घटीयंत्र आदिक जैसे स्वकीय छोटे छोटे अवयवोंके द्वारा बनाये गये हैं, उस प्रकार स्वकीय अवयवोंसे आरभ्यपना आकाश आदिमें नहीं बन पाता है। ऐसी दशामें आप स्याद्वादियोंके हेतुका गगन आदिसे व्यभिचार बना रहना तदवस्थ रहा, यानी विभागवाले फलोंका निमित्तकारण गगन है। किन्तु स्वयं अवयवोंके भेदस्वरूप विभागको नहीं धार रहा है। अब यदि आप जैन विभागका अर्थ आकाशमें मुख्य प्रदेशोंको नहीं मानते हुये प्रदेशसहितपनका उपचार होना मात्र करोगे, तब व्यभिचारका वारण तो हो जायगा। गगनमें हेतुके रहते हुये उपचरित प्रदेश स्वरूप विभागोंसे सहितपना विद्यमान है। किन्तु तब तो कालमें भी प्रदेशसहितपनका उपचारस्वरूप विभाग विद्यमान है। क्योंकि सर्वत्र व्यापक एक ही कालद्रव्यको स्वीकार करनेवाले वैशेषिकोंके यहां आकाश आदिके समान उपचरित प्रदेशवाले कालद्रव्यका विभागसहितपना स्वीकृत कर लिया है। और ऐसा होनेपर काल द्रव्यमें उस उपचरित प्रदेशस्वरूप विभागको साधनेमें तुम स्याद्वादियोंके ऊपर सिद्ध साधन दोष लागू होता है। एक कालके उपचरित प्रदेश हमारे यहां सिद्ध ही हैं। उन्हींको आप जैन साध रहे हैं। यहांतक कोई वैशेषिक या नैयायिक कह रहा है।

परमार्थ एव गगनादेः सप्रदेशत्वनिश्चयात् तस्य सर्वदावस्थितप्रदेशत्वात् एकद्रव्यत्वात् द्विविधा ह्यवयवाः सदावस्थितवपुषोऽनवस्थितवपुषश्च। गुणवत्तत्र सदावस्थितद्रव्यप्रदेशाः सदावस्थिता एवान्यथा द्रव्यस्यानवस्थितत्वप्रसंगात्। पटादिवदनवस्थितद्रव्यप्रदेशास्तु तंत्वादयोऽनवस्थितास्तेषामनवस्थितत्वे पटादीनामनवस्थितत्वापत्तेः। कादाचित्कत्वस्यैवरूपावधारित-

यवयवत्वस्य च विरोधात् । तत्र गगनं धर्माधर्मैकजीवाश्चावस्थितप्रदेशाः सर्वे यतोवस्थितप्रदेशत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् प्रदेशप्रदेशिभावस्य च तेषां तैरनादित्वात् ।

अब आचार्य महाराज इसका प्रत्याख्यान करते हैं कि गगन, धर्मद्रव्य आदिके प्रदेशसहितपनका परमार्थरूपसे ही निश्चय हो रहा है। क्योंकि उन गगन आदिके सर्वदा अवस्थित हो रहे अनन्तानन्त प्रदेश या असंख्याते प्रदेश वस्तुतः निर्णीत हैं। अर्थात्—त्रिलोकसारकी टीकामें अनन्तानन्त नामकी विशेष संख्याके मध्य भेदोंको निकालते हुये श्री माधवचन्द्र त्रैविद्यने द्विरूपवर्गधारामें जीवराशिके ऊपर अनन्त स्थान चल कर पुद्गल राशिको बताया है। और पुद्गलराशिसे अनन्तस्थान चल कर द्विरूपवर्गधारामें भूत, भविष्यत् कालके समयोंकी राशिको उपजाया है। उस काल समयोंकी राशिसे अनन्त स्थान चल कर द्विरूपवर्ग धारामें अलोकाकाशकी श्रेणीको उपजाया है। एक प्रदेश लम्बी, एक प्रदेश चौडी और पूरे आकाश प्रमाण ऊंची आकाशकी श्रेणि हो श्रेणि आकाश है। इसका एक बार वर्ग कर देनेपर प्रतराकाश होजाता है। आकाश श्रेणीके प्रदेशोंका घन कर देनेपर पूरे आकाशके प्रदेश गिन लिये जाते हैं। जोकि मूलग्रन्थ अनुसार वहां ही द्विरूप घन धारामें सर्वाकाशको त्रैविद्य महोदयने गिना दिया है। यों आकाशद्रव्यके मुख्य प्रदेशोंकी संख्या सर्वदा नियत होरही अवस्थित है। धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यके भी लोकप्रदेश प्रमाण असंख्याते प्रदेश नियत हैं। दूसरी बात यह है कि गगन, धर्मद्रव्य, आदिको एक एक द्रव्यपना निर्णीत है। अतः इनको अवयवोंसे बनाया जाना हमको भी अभीष्ट नहीं है। हां इनके मुख्यप्रदेश स्वरूप अवयव माने जा सकते हैं। चूंकि अवयव दो प्रकारके होते हैं। एक तो सर्वदा स्वकीय शरीरोंको सदा अवस्थित रखनेवाले अवयव हैं। और दूसरे स्वकीय शरीरको अवस्थित नहीं रखनेवाले अवयव हैं। उन दो प्रकारके अवयवोंमें द्रव्यके सदा अवस्थित होरहे प्रदेश तो गुणोंके समान सर्वदा अवस्थित ही रहते हैं। अन्यथा यानी प्रदेशोंको अनवस्थित माना जायगा तो द्रव्यके भी अनवस्थितपनेका प्रसंग होगा। किन्तु द्रव्य तो अनादि अनन्तकालतक अपनी नियत संख्याओंमें व्यवस्थित रहती हैं। घटती बढती नहीं हैं। " नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः "। अर्थात्—द्रव्यकी ऊर्ध्वांश कल्पना अनुसार जैसे गुण उसमें अनादि अनन्त कालतक जडे हुये हैं, उसी प्रकार तिर्यग् अंश कल्पना अनुसार द्रव्योंके प्रदेश भी सदा अवस्थित हैं। हां, अशुद्ध द्रव्यस्वरूप पुद्गल पर्यायोंके प्रदेश अवस्थित नहीं हैं। दूसरे पट, पुस्तक, आदिके समान अवस्थित अशुद्ध द्रव्योंके प्रदेश तो तंतु, पत्र, आदिक अनवस्थित हैं। क्योंकि उन तंतु आदिकोंके यदि अवस्थित माना जायगा तो पट आदि अशुद्धद्रव्योंको भी अवस्थितपनेका प्रसंग होगा। अर्थात्—तंतुओंके यहां वहां सरक जानेपर या न्यून अधिक होजानेपर पट आदिका सरजाना या न्यूनता, अधिकता जो दिखाई देरही है वह अनवस्थित नहीं दीख सकेगी। अतः घट पट, पुस्तक आदिके प्रदेश दूसरी जातिके अनवस्थित शरीरवाले माने गये हैं। कभी कभी उपज रहे या कभी न्यून और कदाचित्

अधिक प्रदेशोंको धार रहे पदार्थोंको इतने नियत परिमाण करके निर्णीत किये गये अवयवों सहितपनका विरोध है। भावार्थ—जो कदाचित् होनेवाला अशुद्ध द्रव्य है, वह इतने ही यों निर्णीत किये गये अवयवोंको धारनेवाला नहीं है। और जो सदासे नियतप्रदेशोंको धार रहा द्रव्य है, वह कदाचित् होनेवाला अशुद्धद्रव्य नहीं है। उन द्रव्योंमें आकाशद्रव्य तथा धर्म अधर्म और एक जीव द्रव्य ये सब नियत अवस्थित प्रदेशोंको धार रहे हैं, जिस कारणसे कि नियत संख्याने अवधारे गये प्रदेशोंसे सहितपन करके आकाश आदि द्रव्योंको पांचवे अध्यायमें स्वयं सूत्रकार द्वारा कह दिया जावेगा। " आकाशस्यानन्ताः " " असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् " इन दो सूत्रों करके आकाशके अनन्तानन्त प्रदेश और धर्म, अधर्म, एक जीव इनके असंख्याते प्रदेश नियत ही रहे कह दिये जावेंगे। संसारमें परिभ्रमण कर रहा जीव चींटी, हाथी, मत्स्य, नारकी सूक्ष्म निगोदिया, आदि अनेक छोटी बडी पर्यायोंको धारता है। इन पर्यायोंमें जीवके प्रदेश कमती बढती नहीं हो जाते हैं। किन्तु जीवकी रबडके समान संकोच या विस्तार अवस्थामें वे सभी लोकाकाशप्रमाण प्रदेश सदा विद्यमान रहते हैं। जो जीव मोक्षको प्राप्त नहीं करता है, उस जीवको कदाचित् भी लोक प्रदेश बराबर अपने प्रदेशोंको फैलाकर लम्बी चौडी पर्यायको धारनेका अवसर नहीं मिलता है। जो जो मोक्षको जाते हैं, उनमेंसे कतिपय जीवोंको तेरहवे गुणस्थानमें केवली समुद्घात करते समय केवल एक समय अपने सम्पूर्ण प्रदेशोंके फैलानेका अवसर मिल जाता है। यह भी एक बडा विलक्षण विस्मयकारी प्रसंग है कि अनन्तानन्त जीवोंमेंसे कतिपय अनन्त जीव ही अनादि अनन्त कालोंमें अनन्तानन्त संकोच विस्तारवाली परिणतियोंको सदा धारते हुये एक ही बार लोकप्रदेश बराबर स्वकीय पर्यायको धार सके हैं। अस्तु। कुछ भी हो, एतावता संकोच, विस्तार, अवस्थामें भी जीवके असंख्यात प्रदेशोंका सद्भाव मर नहीं जाता है। यदि कोई धनपति कृपणतावश अपने विद्यमान लाखों रुपयेका व्यय नहीं कर पाता है, इतने ही से उसके लाखों रुपयोंकी संख्या न्यून नहीं हो जाती है। तथा उक्त सूत्र अनुसार उन गगन आदि द्रव्योंका अपने उन अनन्त या असंख्याते प्रदेशोंके साथ हो रहा प्रदेशप्रदेशीभाव अनादि है। अतः ऐसे नियतप्रदेशस्वरूप अवयव उन आकाश आदि द्रव्योंके विद्यमान हैं। अतः हमारा हेतु व्यभिचारी नहीं है। यह बात दूसरी है कि अखण्ड आकाशका विभागसहितपना हम प्रदेशोंकी अपेक्षा मान रहे हैं। और कालका विभाग सहितपना हम जैन द्रव्योंकी अपेक्षा उक्त अनुमान द्वारा साध रहे हैं।

कथमनादीनां गगनादितत्प्रदेशानां प्रदेशप्रदेशिभावः परमार्थपथप्रस्थायी ? सादीनामेव तंतुपटादीनां तद्भावदर्शनात् इति चेत्, कथमिदानीं गगनादितन्महत्त्वादिगुणानामनादिनिधनानां गुणगुणिभावः पारमार्थिकः सिध्येत् ? तेषां गुणगुणिलक्षणयोगात्तथाभाव इति चेत्, तर्हि गगनादि तत्प्रदेशानामपि प्रदेशिप्रदेशलक्षणयोगात् प्रदेशप्रदेशिभावोस्तु। सर्वं

रि गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति गगनादीनां द्रव्यलक्षणमस्ति तन्महत्त्वादीनां च " द्रव्याश्रिता निर्गुणा गुणा " इति गुणलक्षणं तथावयवानामेकत्वपरिणामः प्रदेशिद्रव्यमिति प्रदेशिलक्षणं गगनादीनामयुतोऽवयवः प्रदेशलक्षणं तदेकदेशानामस्तीति युक्तस्तेषां प्रदेशप्रदेशिभावः ।

यहां किसीका आक्षेप प्रवर्तता है कि आकाश आदि द्रव्य और उनके नियत अनन्ते या असंख्याते प्रदेश जब अनादिकालके हैं तो ऐसी दशामें उनका " प्रदेशप्रदेशीभाव " होना भला वास्तविक मार्गमें प्रस्थान करनेवाला कैसे समझा जायगा ? बताओ । देखो, सादि हो रहे ही तंतु पट, कपाल घट, पत्र, पुस्तक आदिकोंका यह प्रदेशप्रदेशीभाव या अवयवअवयवीभाव देखा जाता है, जैसे थैली और रुपयोंका आधार आधेयभाव है या पुत्र और पिताका जन्य जनकभाव है ! यों कटाक्ष करनेपर तो ग्रन्थकार उस कटाक्षकर्ता वैशेषिकको पूंछते हैं कि भाई इस अवसरपर तुम्हारे यहां भी अनादिनिधन हो रहे आकाश, दिशा, जल, परमाणु, मन आदिक द्रव्य और उनके परम महापरिमाण, एकत्व संख्या, नित्यसंयोग, शुक्लरूप, अणुपरिमाण आदि गुणोंका भला गुणगुणीभाव विचारा पारमार्थिक कैसे सिद्ध हो सकेगा ? बताओ, प्रथम गुणी उपजे, पश्चात् यदि उसमें गुण आकर समवायसम्बन्धसे प्रविष्ट हो जाय, तब तो घट घटरूप, आम्र, आम्ररस, आदि सादि पदार्थोंका गुणगुणीभाव शोभता है । अनादि अनन्तद्रव्य या अनादि अनिधन गुणोंमें गुणगुणीभाव अच्छा नहीं जाता है, यों यह चोद्य तुम्हारे ऊपर भी उठाया जा सकता है । यदि तुम वैशेषिक यों कहो कि अनादिनिधन हो रहे द्रव्यगुणोंका भी गुण और गुणीके लक्षणका योग हो जानेसे तिस प्रकार " गुणगुणीभाव " (सम्बन्ध) हो जायगा । यों कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि तब तो अनादि अनिधन गगन आदि और उनके प्रदेशोंके भी प्रदेशी और प्रदेशके लक्षणका योग हो जानेसे " प्रदेशप्रदेशीभाव " हो जाओ । अखण्डित अनेक देशवाले गगन आदिमें प्रदेशीका लक्षण घटित हो जाता है, और तिर्यग्अंश–कल्पनस्वरूप प्रदेशोंमें उनके प्रदेश हो जानेका लक्षण घटित हो रहा है । देखो, जिस ही प्रकार " गुण और पर्यायोंको धारनेवाले द्रव्य होते हैं " यह श्री उमास्वामी आचार्य करके कहा गया द्रव्यका लक्षण गगन, धर्म द्रव्य आदिमें विद्यमान है । और " द्रव्यके आश्रित हो रहे सन्ते स्वयं जो निर्गुण पदार्थ हैं । वे गुण होते हैं, " इस प्रकार गुणका लक्षण उन गगन आदिमें सम्बन्धी हो रहे परम महत्त्व, रूप, आदि गुणोंमें घटित हो रहा है, उसी प्रकार " अनेक अवयवोंका पिण्डस्वरूप एकत्व परिणामसे आक्रान्त हो रहा प्रदेशी द्रव्य है " इस प्रकार प्रदेशीका लक्षण आकाश आदिमें विद्यमान है और " अखण्ड द्रव्यमें अब यानी पश्चात् तिर्यग्अंश कल्पना द्वारा अभेदरूपसे युत यानी मिश्रण होचुके अवयव पदार्थ तो प्रदेश हैं " यह प्रदेशोंका लक्षण उन आकाश आदिके एक देश हो रहे प्रदेशोंको विद्यमान है । इस कारण अनादि अनन्त भी आकाश आदि और उनके प्रदेशोंका " प्रदेशप्रदेशीभाव " बन जाना युक्तिपूर्ण है ।

कालस्तु नैकद्रव्यं तस्यासंख्येयगुणद्रव्यपरिणामत्वात् । एकैकस्मिल्लोकाकाशप्रदेशे कालाणोरेकैकस्य द्रव्यस्यानंतपर्यायस्यानभ्युपगमे तद्देशवर्तिद्रव्यस्यानंतस्य परमाण्वादेरनंतपरिणामानुपपत्तेरिति द्रव्यतो भावतो वा विभागत्वे साध्ये कालस्य न सिद्धसाधनं । नापि गगनेनानैकांतिको हेतुः ।

किन्तु कालपदार्थ तो एक पदार्थ नहीं है । क्योंकि वह काल अनन्त गुण और अनन्त पर्यायोंके साथ तदात्मक होरहा संता असंख्यात द्रव्यस्वरूप है । अर्थात्—एक एक जीव द्रव्यके समान एक एक कालाणुमें वर्तनाहेतुत्व, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि अनेक नित्यशक्ति स्वरूप गुण विद्यमान हैं। और उन गुणोंकी प्रतिक्षण होनेवाली पर्यायें अथवा पर्यायोंमें पाये जारहे अनन्तानन्त या असंख्यात अविभागप्रतिच्छेदस्वरूप परिणाम विद्यमान हैं । वे कालाणुयें द्रव्यरूपसे असंख्यात माने गये हैं। जगच्छ्रेणीके घन प्रमाण लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर एक एक द्रव्य होकर कालाणुयें अवस्थित हैं । यों कालाणु द्रव्य असंख्याते हैं । एक एक कालाणु द्रव्यकी १ अनुजीवी २ प्रतिजीवी ३ स्वभावशक्ति ४ सप्तभंगी विषय इन चार प्रकारके गुणोंकी जातियों अनुसार अनन्तानन्त सहभावी पर्यायें हैं। तथा लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर उस कालाणुको निमित्त पाकर अनन्तानन्त कार्य हो रहे हैं। उन कार्योंके अनुरूप अनन्तस्वभावरूप पर्यायें कालाणुमें एक समयमें विद्यमान हैं । एक समयमें एक गुणकी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यशालिनी परिणति अवश्य होती है । यों अनन्तानन्त गुणोंकी अनन्तानन्त परिणतियां कालाणुमें एक समय पायी जाती हैं । यदि लोकाकाशके एक प्रदेशपर अनन्तानन्त पर्यायों (स्वभावों) वाले एक एक कालाणु द्रव्यको स्वीकार नहीं किया जायगा तो उस आकाश देशमें वर्त रहे अनन्त परमाणु या अनंत जीवद्रव्य अथवा अन्य भी धर्म आदि द्रव्योंके हो रहे अनन्त परिणामोंकी सिद्धि नहीं हो सकेगी । क्योंकि सभी द्रव्य परिणामी माने गये हैं । कोई द्रव्य कूटस्थ नहीं है । भावार्थ—सम्पूर्ण द्रव्योंका और स्वयंका वर्तयिता काल द्रव्य है । न्यारे न्यारे काल द्रव्य तो लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर विद्यमान हो रहे अनन्तद्रव्योंके भिन्न भिन्न परिणामोंके वर्तयिता हो सकते हैं । आकाशके समान यदि अकेला कालद्रव्य मान लिया जायगा तो सर्व द्रव्योंका एक ही जातिका कार्य हो जायगा, जैसे कि अकेले आकाश द्रव्यसे भंगी, ब्राह्मण, नारकी, मुक्त, दरिद्र, राजा, रोगी, निरोग, पापी, पुण्यात्मा, जड, चेतन, धर्म, अधर्म, सब ऊंच नीचको कोरा अवकाश मिल जाता है । किन्तु अनेक काल द्रव्योंसे जो असंख्य कार्य एक समयमें होरहे प्रतीत होते हैं वे काल द्रव्यसे नहीं हो सकते हैं । देखिये, एक ही स्थलपर कोई जीव बुड्ढा होरहा है, वहीं कोई युवा होरहा है, बालक भी वहीं खेल रहा है, जहां ही किसीके चोरीके परिणाम होरहे हैं वहां ही किसीका धर्मध्यान या शास्त्र चर्चामें मन लग रहा है । इन सब क्रियाओंको करानेमें कालद्रव्य निमित्त कारण होरहा है । जिसी कालद्रव्यको निमित्त पाकर नित्य निगोदिया जीवकी व्यवहार राशिमें आने योग्य परिणति होजाती है वहीं बैठे हुये पंचेन्द्रिय जीवके इतरगति निगोदमें प्राप्त होजानेके योग्य परिणाम

उपज बैठते हैं। छोटासा काल परमाणु एक कुटुम्बाधिपतिके समान वर्त रहा उन भिन्न भिन्न प्रकृति-वाले अनेक प्राणियों या जडपदार्थोंको अनुकूल वर्तनेमें उपयोगी होता रहता है। सूक्ष्म दृष्टिसे विचारा जाय तो आकाशके एक एक प्रदेशपर अनेक द्रव्योंके सदृश, विलक्षण, विरुद्ध, महाविरुद्ध अपरिमित परिणाम कार्य होरहे हैं। बस, अनन्त स्वभावोंवाला एक काल परमाणु ही उन सम्पूर्ण कार्योंको संभाल लेता है। इसी प्रकार आकाशके दूसरे प्रदेशपर अनेक द्रव्योंके होरहे पुण्यक्रिया, पाप-क्रिया, सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन, व्यभिचार, ब्रह्मचर्य, नरकगमन, स्वर्गगमन, निगोदप्राप्ति, मोक्षप्राप्ति, अर्थहानि, अर्थलाभ, शृंगाररस, वैराग्यरस, वीरता, कायरता, स्मरण विस्मरण, जीवन मृत्यु, तरुणपन अतिवृद्धपन, रोग स्वस्थता, न्याय अन्याय, दया हिंसा, पतन उत्थान, मान अपमान, सौन्दर्य कुरूपता, अथवा मेघवर्षण वात्या, सुगन्ध दुर्गंध, जलवर्षण आतप, सुस्वादु दुःस्वादु, फलोंका सडना पकना, पुष्पप्राप्ति फलप्राप्ति, औषधिउत्पादन विषउत्पादन, हीरा उपजना कोयला उपजना, एक ही वृक्षमें कफजनक कफनाशक शक्तियें बनना, सीपमें हड्डी या मोती बनना, स्थान प्रस्थान, धातुधारण धातुपात, जीर्णता नवीनता, मृत्तिका उत्पत्ति सुवर्ण उत्पत्ति, विधुरता विवाहिता, पागलपन चातुर्य, आदि परिणामोंको दूसरा कालाणु अपने अनेक स्वभावों द्वारा संभाल लेता है। जैसे कि एक प्रधाना-ध्यापक अपने अधीन होरहे अनेक अध्यापक अथवा छात्रगण एवं अन्य कर्मचारियोंको अंतरंग बहिरंग कारणों द्वारा कर रहे नियत कार्योंकी ओर वर्ता देता है। इस कारण द्रव्य रूपसे अथवा भाव रूपसे कालका विभाग सहितपना साध्य करनेपर हम जैनोंके ऊपर कोई सिद्ध-साधन दोष नहीं है। क्योंकि तुम न तो कालको द्रव्यरूपसे अनेक मानते हो और गुण, परिणाम, स्वभाव इन भावोंकी अपेक्षा भी कालको अनेक नहीं मानते हो। अतः असंख्य काल द्रव्य और उन एक एकके अनन्त स्वभावोंको उक्त अनुमान द्वारा जो हम साध रहे हैं, वहां वादी जैनकी अपेक्षा सिद्ध होते हुए भी प्रतिवादी नैयायिक, मीमांसक, वैशेषिक आदिकी अपेक्षा असिद्ध हो रहे पदार्थको ही साध्य बनाया जा रहा है तथा हमारा हेतु आकाश आदि करके व्यभिचारी भी नहीं है। क्योंकि द्रव्य अपेक्षा तो नहीं, किन्तु प्रदेश या पर्यायोंकी अपेक्षा हम जैन आकाशको भी विभागवाला स्वीकार करते हैं। अतः हमारा हेतु निर्दोष है।

क्षित्यादिनिदर्शनं साध्यसाधनविकलमित्यपि न मंतव्यं तत्कार्यस्यांकुरादेर्विभागवतः प्रतीतेः, क्षित्यादेश्च द्रव्यतो भावतश्च विभागवत्त्वसिद्धेरिति सूक्तं " विभागरहिते हेतौ विभागो न फले क्वचित् " इति।

फिर भी वैशेषिक यदि यों मान बैठें कि क्षिति, जल आदि दृष्टान्त तो साध्यदल या साधन दलसे विकल हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी मनमें नहीं मान बैठना चाहिये। क्योंकि उन क्षिति आदिकोंके कार्य हो रहे अंकुर, पाषाण, कोयला, कंकड, आदिक पदार्थ तो विभागवाले प्रतीत

हो रहे हैं। अर्थात्—एक खेतमें उसी मट्टीसे गेंहू, जौ, चना, मटर सरसों आदिके अनेक अंकुर उपज रहे हैं, चाहे कैसा भी ऊंचा, नीचा, टेडा, मुख करके बीजको डाल दो, मट्टी उसका अंकुर ठीक ऊपरकी ओर निकाल देती है। वही मट्टी तत्काल जल, वायु, आतप, की आदि या शुष्क परिणतियोंका आकर्षण कर लेती है। खात पदार्थोंका अंकुर पुष्प, फल, घास आदि रूप परिणाम करा देती है, जैसे कि सुयोग्य कुटुम्बिनी पत्नी अपने कुटुम्बसम्बन्धी जेठ, पति, देवर, लडके, बच्चे बहू बेटियों, वृद्ध सास ससुर आदिके लिये यथोचित भोग्य उपभोग्य पदार्थोंका विभाग कर देती है। पृथिवीसे अनेक कार्य हो रहे प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। जलसे भी अनेक कार्य हो रहे हैं, एक मेघजल ही अनेक वनस्पतिओंमें भिन्न भिन्न परिणतियें कर रहा है। सांपके मुखमें, सीपमें, उष्ण तेलमें, तप्त लोहेपर अनेक विभक्त कार्योंको कर रहा है। सरोवरका जल तूंबीको ऊपर उछाल रहा है और कंकडको नीचे गिरा रहा है। ऊपरसे तूंबीको नीचे नहीं गिरने देता है और कंकडको ऊपर नहीं उछलने देता है। अग्नि या वायुके भी विभिन्न जातीय कई विभक्त कार्य युगपत् हो रहे दीखते हैं। कृत्रिम बिजिली द्वारा अंजन, पंखा, चक्कियां चलायी जाती हैं। अनेक दीपक ज्योतियां चमक रहीं हैं। बिजिली द्वारा रोगीकी चिकित्सायें भी होती हैं। तारों द्वारा या विना तारके शब्द फेंके जाते हैं। दूर प्रदेशोंसे गायन यहां सुना जाता है। तस्वीरें खींची जाती हैं। और अकृत्रिम बिजुलीसे अनेक उत्पात हो जाते हैं। वायु द्वारा जगत्की बडी भारी प्रक्रिया सध रही है। असंख्य मनों भारी पदार्थ वायु-पर डट रहा है। जीवनके आधार श्वासोच्छ्वास वायुस्वरूप है। समुद्रकम्पन, वातव्याधि, आंधी, आदि सब विभिन्न वायुओंके फल हैं। पृथिवी आदिक पुद्गल द्रव्योंकी अचिन्त्य शक्तियां हैं। अचेतन पदार्थोंमें भी अनन्त बल है। " जीवाजीवगदमिति चरिमे " यों गोम्मटसारमें भी कहा है। विभिन्न जातिके भेद प्रभेदोंको धारनेवाले पृथिवी, जल, आदि प्रसिद्ध ही है। अतः क्षिति आदिक दृष्टान्तोंमें विभागवाले फलोंका निमित्तपना यह हेतु और विभागसहित-पना इतना साध्य सुलभ होकर ठहर रहा है। कारण कि द्रव्यरूपसे और परिणामों स्वरूपसे क्षिति आदिकोंको मूलमें ही विभागसहितपना सिद्ध है। इस कारण श्री विद्यानन्द आचार्यने उक्त वार्तिकमें यह बहुत अच्छा कहा था कि विभागरहित हेतुके होनेपर कार्यमें कहीं भी विभाग नहीं हो सकता है। स्फटिकमणि जब मूलमें रूपवान् है तो जपाकुसुम आदिके योगसे लाल, पीला, आदि हो सकता है। मूलमें रूपरहित होरहे आकाशको कोई लाल, पीला नहीं कर सकता है। अतः यहांतक आकाश की केवल भावोंकी अपेक्षा विभागसहितपन और कालको द्रव्य और भाव दोनोंकी अपेक्षा विभाग-सहितपन साधनेका प्रकरण समाप्त हो चुका है।

मनुष्य लोकसे बाहर ज्योतिष्क विमान हैं भी ? या नहीं हैं ? यदि हैं तो किस प्रकार वर्त रहे हैं ? शिष्योंको इस विषयकी प्रतिपत्ति करानेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्रको कहते हैं।

बहिरवस्थिताः ॥ १५ ॥

मनुष्य लोकसे बाहर वे ज्योतिष्क विमान या उनमें निवास करनेवाले ज्योतिषी देव जहांके तहां निश्चल हैं। अर्थात्—मनुष्य लोकसे बाहर भी ज्योतिष्कदेव असंख्यातासंख्यात विद्यमान हैं। किन्तु वे विमान गतिशील नहीं हैं। जहांके तहां अवस्थित हैं।

किमनेन सूत्रेण कृतमित्याह ।

इस सूत्रकरके सूत्रकार महाराजने क्या स्वपक्षमंडन और परपक्षखण्डन किया है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्दस्वामी समाधान कहते हैं।

बहिर्मनुष्यलोकांतेऽवस्थिता इति सूत्रतः ।
तत्राऽसत्ताव्यवच्छेदः प्रादक्षिण्यगतिक्षतिः ॥ १ ॥

मनुष्य लोकके अन्तमें बाहर ज्योतिष्क विमान अवस्थित हैं, इस प्रकार सूत्र कर देनेसे वहां मनुष्य लोकसे बाहर ज्योतिषियोंकी असत्ताका व्यवच्छेद कर दिया जाता है और प्रदक्षिणारूपसे होनेवाली गतिकी क्षति कर दी जाती है। अर्थात्—यदि यह " बहिरवस्थिताः " सूत्र नहीं बनाया जाता तो पूर्वसूत्र अनुसार मनुष्य लोकमें ही ज्योतिष्कोंका अस्तित्व सिद्ध होता। मनुष्य लोकसे बाहर उनका असत्त्व होजाता। तथा " बहिस्सन्ति " या " बहिरपि " ऐसा सूत्र बनाया जाता तो मनुष्य लोकसे बाहर ज्योतिष्कोंका अस्तित्व तो सिद्ध होजाता, किन्तु उनकी पूर्व सूत्रानुसार मेरुकी प्रदक्षिणा करते हुये नित्यगति भी सिद्ध होजाती, जोकि इष्ट नहीं है। हां, इस सूत्रमें अवस्थिता कह देनेसे उनकी प्रदक्षिणापूर्वक गति या और भी दूसरे प्रकारकी गतियोंका व्यवच्छेद कर दिया गया है।

कृतेति शेषः ।

इस वार्त्तिकमें कोई तिङन्त या कृदन्तकी क्रिया नहीं पडी हुयी है। अतः " कृता " इस शेष रही क्रियाको जोड लेना चाहिये। व्यवच्छेदके साथ पुल्लिंग " कृत " शद्बको जोड देना और स्त्रीलिंग क्षतिः शद्बके साथ वाक्यमें शेष रह गयी " कृता " इस कृदन्त सम्बन्धी क्रियाको जोड लेना। क्योंकि कोई भी वाक्य धात्वर्थस्वरूप क्रियासे रीता नहीं हुआ करता है।

एवं सूत्रचतुष्टयाज्ज्योतिषामरचिंतनं ।
निवासादिविशेषेण युक्तं बाधविवर्जनात् ॥ २ ॥

इस प्रकार बाधक प्रमाणोंसे विवर्जित हो रहे चारों सूत्रोंके प्रमेयसे श्री उमास्वामी महाराजने निवासस्थान, प्रकार, गति, अथवा स्थिति आदि विशेषों करके ज्योतिष्क देवोंका समुचित चिंतवन

कर दिया है। अथवा इस वार्तिकको अनुमान वाक्य बना लिया जाय कि उक्त चार सूत्रों द्वारा निवास आदिकी विशेषता करके ज्योतिष्क देवोंका चिंतवन करना (पक्ष) युक्ति पूर्ण है (साध्य)। बाधक प्रमाणोंका विशेषतया वर्जन होनेसे (हेतु) यों बाधकोंका असम्भव होनेसे उक्त सूत्रोंके अतीन्द्रिय प्रमेयकी अप्रतिहतसिद्धि हो जाती है।

श्री उमास्वामी महाराज देवोंकी आदिम तीन निकायोंका वर्णन कर चुके हैं। अब चौथी निकायवाले देवोंकी सामान्यसंज्ञाका प्ररूपण करनेके लिये अधिकार सूत्रको कहते हैं।

वैमानिकाः ॥ १६ ॥

इससे आगे जिन पुण्यवान् जीवोंका वर्णन किया जायगा, वे " वैमानिकनिकायवाले देव हैं। " यह अधिकार सूत्र है।

स्वान्सुकृतिनो विशेषेण मानयंतीति विमानानि तेषु भवा वैमानिकाः। परेपि वैमानिकाः स्युरेवमिति चेन्न, वैमानिकनामकर्मोदये सति वैमानिका इति वचनात्। तेन श्रेणीन्द्रकपुष्पप्रकीर्णकभेदात् त्रिविधेषु विमानेषु भवा देवा वैमानिकनामकर्मोदयाद्वैमानिका इत्यधिकृता वेदितव्याः।

विमान शब्दकी निरुक्ति इस प्रकार है कि स्वसम्बन्धी यानी अपनेमें बैठे हुये पुण्यशाली जीवोंका " वि " यानी विशेषरूपकरके " मानयंति " यानी मान कराते हैं, इस कारण वे विमान कहे जाते हैं। उन विमानोंमें उपज रहे देव जीव वैमानिक हैं। विमान शब्दसे भव अर्थमें ठण् प्रत्यय कर लेना चाहिये। यदि यहां कोई पण्डित यों अतिप्रसंग उठावे कि विमानोंमें तो भवनवासी आदि देव भी विचरते हैं। ज्योतिष्क देव तो सदा विमानोंमें ही बस रहे हैं तथा विमानोंमें विद्याधर मनुष्य या आजकालके उडाके मनुष्य भी विद्यमान हैं। यों इस निरुक्ति द्वारा तो ये दूसरे देव या मनुष्य भी वैमानिक हो जायेंगे। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि गतिनामकर्मकी उत्तरोत्तर प्रकृति हो रहे वैमानिक संज्ञक नामकर्मका उदय होते सन्ते जो जीव विमानोंमें वर्तमान हैं वे वैमानिक हैं। ऐसा विशेषणाक्रान्त वचन कर देनेसे अतिव्याप्तिका वारण कर दिया जाता है। सिद्धान्त या न्यायविषयोंमें केवल शब्दकी निरुक्तिसे ही निर्दोष लक्षण नहीं बन जाता है। तिस कारण श्रेणी, इन्द्रक, पुष्पप्रकीर्णक, इन भेदोंसे तीन प्रकारके विमानोंमें विद्यमान हो रहे और वैमानिक नामक नामकर्मका उदय हो जानेसे वे देव वैमानिक हैं। इस प्रकार इस सूत्र द्वारा वे वैमानिक देव अधिकार प्राप्त हो चुके समझ लेने चाहिये। अर्थात्—यहांसे आगे उत्तरवर्ती सूत्रोंमें सर्वत्र वैमानिकका अधिकार ओत पोत रहेगा। अखिलोंके अधिपति होरहे इन्द्रके समान ठीक बीचमें अवस्थित होरहे विमान इंद्रक विमान हैं तथा आकाशके प्रदेशोंकी श्रेणी समान चारों दिशाओंमें ठीक पंक्तिबद्ध होकर विन्यस्त होरहे विमान श्रेणीविमान हैं।

और उछाले हुये फूल जैसे अव्यवस्थित यहां वहां टेडे मेढे स्थानोंपर गिर जाते हैं, उसी प्रकार श्रेणियोंके बीचमें अस्तव्यस्त फैल रहे विमान पुष्पप्रकीर्णक हैं । ये तीनों प्रकारके विमान अनादि कालसे अनन्तकालतक उसी स्थानपर जमे हुये हैं । उडाके विमानोंके समान यहां वहां नहीं उडते फिरते हैं । भले ही कृत्रिम छोटे छोटे विमानोंमें बैठकर देव यहां वहां, नंदीश्वर द्वीप, समुद्र, पर्वत, आदिमें भ्रमण करें, भूमियोंमें प्रतिष्ठित नहीं होनेसे इन अकृत्रिम विमानोंको भवन, आवास या नगर नहीं कहा जासकता है । कुछ विमान तो जलके ऊपर या भापके ऊपर प्रतिष्ठित हैं और कतिपय विमान वायुपर प्रतिष्ठित हैं । किन्तु शेष बहुभाग विमान आकाशमें ही बिना सहारेके अवलम्बित होरहे हैं । पराश्रयकी अपेक्षा स्वाश्रयपक्ष ही अन्तमें निश्चयसे आदरणीय है । अब श्री उमास्वामी महाराज उन वैमानिक देवोंके मूल दो भेदोंका निरूपण करनेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७ ॥

कल्पोंमें तत्काल जन्म द्वारा उत्पन्न हुये देव और कल्पोंका अतिक्रमण कर ऊपर उपज रहे देव यों कल्पोपपन्न और कल्पातीत ये दो वैमानिक देवोंके भेद हैं ।

सौधर्मादयोऽच्युतांताः कल्पोपपन्ना इंद्रादिदशतयकल्पनासद्भावात् कल्पोपपन्ननामकर्मोदयवशवर्तित्वाच्च न भवनवास्यादयस्तेषां तदभावात् । नवग्रैवेयका नवानुदिशाः पंचानुत्तराश्च कल्पातीताः कल्पातीतनामकर्मोदये सति कल्पातीतत्वात् तेषामिंद्रादिदशतयकल्पनाविरहात् सर्वेषामहमिंद्रत्वात् ।

प्रथमस्वर्गवासी सौधर्मको आदि लेकर सोलहवें अच्युत स्वर्गपर्यन्त ठहरनेवाले देव कल्पोपपन्न हैं । क्योंकि उनमें इन्द्र, सामानिक, आदि दश अवयववाली कल्पनाका सद्भाव हो रहा है । दूसरी बात यह है कि गतिनामकर्मके व्याप्य तद्व्याप्य हो रहे कल्पोपपन्न संज्ञक नामकर्मके उदयकी अधीनतामें वर्तना होनेके कारण सोलह स्वर्गके देव कल्पोपपन्न हैं । हां, भवनवासी आदिक तीन निकायोंके देव तो कल्पोपपन्न नहीं हैं । क्योंकि उनके भले ही इन्द्र, सामानिक, आदि दश या आठ विकल्प पाये जाते हैं । फिर भी उस कल्पोपपन्नसंज्ञक नामकर्मके उदयका अभाव है । कल्पोपपन्नत्वकी सिद्धि करनेके लिये इन्द्र आदि दश प्रकारकी कल्पनाका सद्भाव होते हुये कल्पोपपन्न संज्ञक नामकर्मके उदयकी वशवर्तिता इतना लम्बा ज्ञापकहेतु या कारक हेतु उपयोगी है । अर्थात्—कर्मोके उदयके पराधीन बने रहना इसलिये कहा गया है कि ध्रुव उदयवाले गतिकर्मका कभी कभी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके नहीं मिलनेपर स्वोदय नहीं हो पाता है । देवपर्यायमें अपनी स्थितिके परिपूर्ण हो जानेपर उदय प्राप्त हो गई मनुष्यगति विना फल दिये ही खिर जाती है । इसी प्रकार कदाचित् देवगति कर्मकी मनुष्य अवस्थामें स्थिति पूरी हो जानेपर फल दिये विना ही कोरा प्रदेश उदय हो

जाता है । ऐसी दशामें जीव कर्मोदयके पराधीन नहीं हो सका । अतः ग्रन्थकारने हेतुके विशेष्य दल कर्मोदय द्वारा हुई पराधीनतापर अधिक बल डाला है । कल्पातीत देवोंमें हेतुका विशेषण दल और विशेष्यदल दोनों भी नहीं घटते हैं । अधोग्रैवेयक तीन, मध्यग्रैवेयक तीन और उपरिमग्रैवेयक तीन यों ऊपर ऊपर वर्त रहे नौ ग्रैवेयक सम्बन्धी देव तथा चार दिशाओं चार विदिशाओं और एक मध्यमें ठहर रहे, यों नौ अनुदिश विमान सम्बन्धी देव एवं विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित, सर्वार्थसिद्धि यों पांच अनुत्तर विमानवासी देव तो कल्पातीत हैं । क्योंकि गति कर्मके भेद, प्रभेद, हो रहे कल्पातीत नामक नाम कर्मका उदय होते सन्ते आत्म विपाकी कही गयी गति प्रकृतिकी अधीनता वश ये कल्पातीत देव हैं । भले ही इनमें अधः आदिपनेकी या नौ, नौ, पांच संख्यासहितपनेकी कल्पना है, तो भी प्रकरणमें इष्ट की गयी इन्द्र आदि दश प्रकारकी कल्पनाका विरह होनेसे वे सब कल्पातीत हैं । क्योंकि भवनवासीपन, इन्द्रसामानिकपन आदि झगडोंसे रहित होते हुये वे कल्पातीत देव सबके सब अहमिन्द्र हैं । अहमेव इन्द्रः, अहमेव इन्द्रः, मैं ही इन्द्र हूं, मैं ही इन्द्र हूं, मेरे ऊपर कोई प्रभु नहीं है, यों उनकी आत्मामें सर्वदा प्रतिभास होता रहता है । अहमिन्द्रपनका विघातक वहां कोई प्रसंग भी नहीं है ।

वैमानिका विमानेषु निवासादुपवर्णिताः ।
द्विधा कल्पोपपन्नाश्च कल्पातीताश्च ते मताः ॥ १ ॥

पूर्ववर्ती अधिकार सूत्रको मिलाकर इस सूत्रका अर्थ यों होजाता है कि उन विमानोंमें निवास करनेसे वे देव वैमानिक कहे जाते हैं । तथा वे देव कल्पोपन्न और कल्पातीत यों दो प्रकार माने गये हैं । यह अर्थ सूत्रकारको अभीष्ट है । यद्यपि दश प्रकारकी कल्पना भवनवासी देवोंमें है और कल्पनासे अतीत मनुष्य तिर्यंच नारकी जीव भी हैं । फिर भी रूढिशब्दके होनेसे या इन विशेष कर्मोंकी अधीनतासे अर्थघटना करनेमर कोई अतिव्याप्ति नहीं होती है ।

न वैमानिकास्त्रिधा चतुर्धा वान्यथा वा संभाव्यंते द्विविधेष्वेवान्येषामंतर्भावात् ।

वैमानिक देव तीन प्रकार या चार प्रकार अथवा अन्य पांच, छह, विकल्प अन्य या पटलोंकी अपेक्षा त्रेसठ ६३ आदि अन्य प्रकारोंके नहीं सम्भावित होरहे हैं । क्योंकि इन दो प्रकारोंमें ही अन्य सम्पूर्ण समुचित प्रकारोंका अन्तर्भाव होजाता है ।

ते च कथमवस्थिताः ?

वे कल्पोपन्न और कल्पातीत विमान या विमानवासी देव किस प्रकार अवस्थित होरहे हैं ? बताओ, ऐसी विनीत शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर उनके विशेष अवस्थानोंको समझाते हुये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको कहते हैं ।

उपर्युपरि ॥ १८ ॥

सौधर्म, ऐशान, आदि कल्प और कल्पातीतोंके विमान ऊपर ऊपर वर्त रहे हैं। आगमकी व्यवस्था अनुसार विमानोंकी या पटलोंकी अवस्थिति है।

सामीप्येऽधोऽध्युपरीति द्वित्वं तेषामसंख्येययोजनांतरत्वेपि तुल्यजातीयव्यवधानाभावात् सामीप्योपपत्तेः ।

व्याकरणके " सामीप्येऽधोऽध्युपरि " इस सूत्र द्वारा उपर्युपरि यहां समीपपन अर्थको द्योतन करनेपर उपरि अव्ययका दो बार प्रयोग किया गया होनेसे द्वित्व होगया है। यद्यपि उन कल्पवासी या अहमिन्द्रोंके विमानोंका ऊपर नीचे अन्तर अथवा त्रेसठि पटलोंमें प्रत्येक दो पटलोंका अन्तर असंख्याते योजनोंका है, तो भी तुल्यजातिवाले पदार्थोंका व्यवधान नहीं होनेसे समीपपना बन जाता है। अर्थात्——सौधर्म, ईशान, स्वर्गोंके अधस्तन विमानोंसे कुछ कमती डेढ राजू प्रमाण असंख्यात योजनों ऊपर चलकर सनत्कुमार, माहेन्द्र नामक दो स्वर्ग हैं। सनत्कुमार माहेन्द्रके नीचले विमानोंसे कुछ कम डेढ राजू ऊपर चलकर ब्रह्म ब्रह्मोत्तर स्वर्ग हैं। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर सम्बन्धी आधा राजूका अन्तराल देकर ऊपर लान्तव, कापिष्ठ, स्वर्ग हैं। यों ही आगम अनुसार ऊपर भी समझ लेना। सानत्कुमार माहेन्द्रके अधोभागसे ऊपर डेढ राजूतक सानत्कुमार, माहेन्द्र, देवोंका ही अधिराज्य है, और सानत्कुमार माहेन्द्रके प्रारम्भसे बालाग्र कमती आकाशसे आदि लेकर नीचे कुछ कम डेढ राजू तक सौधर्म ईशानोंका अधिकार है। सौधर्म, ईशान, स्वर्गमें ऋतु विमल आदि इकतीस पटल हैं " एकेक इंदयस्स य विच्चालमसंखजोयणपमाणं " एक एक पटल या इन्द्रक विमानोंका अन्तराल असंख्याते योजन है। किन्तु जगत्में तुल्यजातिवाले पदार्थोंको ही व्यवधायक माना जाता है। मान, अपमान, लज्जा, प्रतिष्ठा सब समान जातिवालोंमें समझी जाती हैं। वृक्षोंकी पंक्तिमें या घोडे, मनुष्य आदिकी पंक्तियोंमें भले ही बीचमें आकाश, तृण, वायु, आतप, वस्त्र, खम्भे, आजायें फिर भी तुल्यजातिवाले पदार्थोंका मध्यमें समावेश नहीं होनेसे उनमें अन्तराल नहीं माना जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा हुये प्रतिभासमें भले ही अन्य उत्पादक कारणोंका व्यवधान होय, किन्तु ज्ञान जातीय अन्य प्रतीतिओंका व्यवधान नहीं पडनेसे विशदपना आरूढ माना गया है। इसी प्रकार कल्पोपपन्न और कल्पातीत वैमानिकोंमें अन्य वैमानिकोंका या पटलोंका व्यवधान नहीं पडनेसे समीपपना बन जाता है।

किमत्रोपर्युपरीत्यनेनाभिसंबध्यते ? कल्पा इत्येके । कल्पोपपन्ना इत्यत्र कल्पग्रहणस्योपसर्जनीभूतस्यापि विशेषणेनाभिसंबंधात् । राजपुरुषोऽयं, कस्य राज्ञ इति यथा प्रत्यासत्तेर्बुद्ध्यपेक्षितत्वादिति । तन्न बुध्यामहे, वैमानिका इत्यधिकारार्थं वचनमित्येतस्य व्याघातात् । यथा हि वैमानिका देवाः कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्चेति संबध्यंते तथोपर्युपरीत्यपि च प्रत्येति

युक्तं । न हि देवा एव निर्विशेषणा उपर्युपरीत्युच्यते येनानिष्टप्रसंगः । किं तर्हि ? मध्यस्थेंद्रकतिर्यगवस्थितश्रेणिप्रकीर्णकविमानलक्षणकल्पोपपन्नत्वविशेषणाक्रांताः कल्पातीतत्वविशेषणाक्रांताश्च यथोपवर्णितसंनिवेशाः संबध्यंते । तथा च निरवद्यो निर्देशः सर्वानिष्टनिवृत्तेः । तथाहि—

कोई विद्यार्थी प्रश्न करता है कि यहां ऊपर ऊपर इस कथन करके किसी पदार्थका चारों ओरसे सम्बन्ध किया जाता है ? बताओ । क्या देव अथवा क्या विमानोंको एवं कल्पोंको या कल्पातीतोंको ही यहां ऊपर ऊपर अवस्थित बताया है ? या मनमानी रचना समझ ली जाय ? इसके उत्तरमें कोई एक विद्वान् यों झट उत्तर दे बैठते हैं कि यहां कल्प ऊपर ऊपर रच रहे विवक्षित हैं । क्योंकि पूर्वके कल्पोपपन्ना इस पदमेंसे गौणभूत होरहे भी कल्प शद्बके ग्रहणका विशेषणपने करके अभिसंबंध कर लिया जाता है । अर्थात्-पूरे पद कल्पोपपन्नाःकी अनुवृत्ति होनी चाहिये थी । कल्पोपपन्न पदमें उत्तरपदप्रधान सप्तमीतत्पुरुष वृत्ति द्वारा उपपन्न शद्ब प्रधान है । कल्प शद्ब गौण है, फिर भी प्रयोजनवश गौण होरहे कल्प शद्बकी भी अनुवृत्ति की जासकती है, जैसे कि यह राजपुरुष (राजाका पुरुष) है । पुनः "किसका" प्रश्न होनेपर राजाका यह सम्बन्ध विवक्षित हो जाता है । राजपुरुष पदमें गौण हो रहे भी राजा शद्बकी अनुवृत्ति कर ली जाती है । इसी प्रकार यहां भी निकटवर्तिता होनेसे बुद्धि द्वारा गौणभूत भी " कल्प " अपेक्षित हो रहा है । कल्पातीतोंमें विमानका सम्बन्ध कर लिया जायगा, यों कह चुकनेपर आचार्य कहते हैं कि सर्वार्थसिद्धिकार श्री पूज्यपाद स्वामी या राजवार्तिककार श्री अकलंक देवके उस समाधानको हम अच्छा नहीं समझ रहे हैं । क्योंकि कल्पशद्बकी अनुवृत्ति कर लेनेसे यहां " वैमानिकाः " इस प्रकार अधिकारके लिये चला आ रहा जो वचन है, इसका व्याघात हो जायगा । वैमानिकाःका अधिकार कर फिर दूसरे ही सूत्रमें " कल्पाः " का सम्बन्ध कर बैठनेसे स्ववचन व्याघात होता है । अतः जिस प्रकार कि पूर्वसूत्रमें अधिकार प्राप्त हो रहे वैमानिक देवोंका ही उद्देश्य कर कल्पोपपन्न और कल्पातीत यों विधेय दलके साथ सम्बन्ध जोड दिया गया है । उसी प्रकार यहां भी वे वैमानिक ही सम्बन्धित हो रहे यों समुचित प्रतीत होते हैं । अकेले कल्प ही तो ऊपर ऊपर नहीं हैं । प्रत्युत कल्पातीत भी ऊपर ऊपर विन्यस्त हैं । हम जैन विशेषणसे रहित हो रहे देवोंका ही ऊपर ऊपर निवास करना नहीं कह रहे हैं, जिससे कि अनिष्टका प्रसंग हो जाय । यानी देव तो ऊपर ऊपर ठहर जांय, स्वर्ग या पटल तिरछे भी व्यवस्थित हो जांय, तो हम विद्यामें आनन्दको माननेवाले जैनोंको क्या अभीष्ट है ? इसका उत्तर यह है कि मध्यमें स्थित हो रहे इन्द्रक विमान, तिरछे अवस्थित हो रहे श्रेणीविमान और पुष्पप्रकीर्णक विमानस्वरूप कल्पोंसे सहितपन विशेषण करके आक्रान्त हो रहे तथा कल्पातीतपन विशेषणसे आक्रान्त हो रहे एवं उक्त वर्णना अनुसार सन्निवेशको धार रहे विशेष्य देव ही यहां सम्बन्धित हो रहे हैं । और तैसा होनेपर यह सूत्रका निर्देश निर्दोष है । क्योंकि सम्पूर्ण अनिष्ट प्रसंगोंकी यों निवृत्ति हो जाती है । उसीको स्पष्ट कर अग्रिम वार्तिक द्वारा ग्रन्थकार दिखाये देते हैं ।

उपर्युपरि तद्धाम नाधस्तिर्यक् च तत्स्थितिः ।
यथा भवनवास्यादिदेवानामिति निर्णयः ॥ १ ॥

उन वैमानिक देवोंके निवास स्थान ऊपर ऊपर व्यवस्थित हैं । अधोभागोंमें या तिरछे रूपसे उन निवास स्थलोंकी स्थिति नहीं है । जिस प्रकार कि भवनवासी आदि देवोंके धाम नीचे, तिरछे, रचे हुये हैं, ऐसे वैमानिकोंके अकृत्रिम विमानोंकी रचना नहीं है । यह उक्त सूत्र द्वारा निर्णय कर दिया गया है । भावार्थ—चार निकायके देवोंमे पहिले तीन निकायके देव अधः या तिर्यग्रूपसे रचे गये भवन, नगर या विमानोंमें निवास करते हैं । किन्तु इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और पुष्प प्रकीर्णक रूपसे व्यवस्थित हो रहे कल्पोपपन्न और कल्पातीत देवोंके विमान तो ऊपर ऊपर रचे हुये हैं । यद्यपि सातवीं पृथिवीसे लगा कर पहिली पृथिवीतक नारकियोंके बिले भी इन्द्रक बिल श्रेणीबद्ध बिल, पुष्पप्रकीर्णक बिल रूपसे विन्यस्त हैं । किन्तु वे विमान नहीं हैं । भूमिस्थ बिले हैं । इसी प्रकार ज्योतिष्क देवोंके निवासस्थान विमान हैं । किन्तु वे पुष्पप्रकीर्णक रूपसे भले ही व्यवस्थित होंय इन्द्रक श्रेणिबद्ध और उनके मध्यवर्ती पुष्पप्रकीर्णक रूपसे आकाश आङ्गणमें व्यवस्थित नहीं हैं । तथा वे बिले और ज्योतिष्क विमान ये कल्पोपपन्नत्व और कल्पातीतत्व विशेषोंसे आक्रान्त भी नहीं हैं । अतः इन्द्रक, श्रेणीबद्ध, प्रकीर्णक, विमान स्वरूप होते हुये कल्पोपपन्नत्व और कल्पातीतत्व विशेषणोंसे आक्रान्त हो रहे पदार्थ ऊपर ऊपर रचे हुये हैं । यह उक्त सूत्रका परकीर्तिपुरःसर निर्दोष समन्वय कर दिया गया है ।

न हि यथा भवनवासिनो व्यंतराश्चाधस्तिर्यक् समवस्थितयो ज्योतिष्कास्तिर्यक् स्थितयस्तथा वैमानिका इष्यंते, तेषामुपर्युपरि समवस्थितत्वात् उपर्युपरि वचनेनैव निर्णयात् ।

जिस प्रकार कि भवनवासी और व्यंतर देव अधोलोकमें और तिर्यक्लोकमें नीचे या तिरछे रूपसे बने हुये अपने निवासस्थानोंमें भले प्रकार अवस्थितिको कर रहे हैं, रत्नप्रभाके खरभाग और पंकभागमें भवनवासियोंके नीचे और तिरछे सुन्दर भवन बने हुये हैं, और व्यन्तरोंके असंख्याते द्वीपसमुद्रोंमें भी रत्नप्रभाके उपरिम भागमें तिरछे फैले हुये असंख्य नगर या आवास बने हुये हैं, तथा नीचे पंकभागमें असुर और राक्षसोंके असंख्याते हजार नगर है, एवं असंख्यातासंख्याते ज्योतिष्क देव तो इस समतल भूमिसे ऊपर सात सौ नब्बै योजनसे प्रारम्भ कर केवल एक सौ दश योजनतक मोटे देशमें असंख्यात योजनोंतक एक राजू लम्बे, चौडे, प्रदेशमें तिरछे फैले हुये असंख्य विमानोंमें स्थितिको कर रहे हैं, तिस प्रकार उक्त तीन निकायोंके समान वैमानिक देव स्थिति करते हुये नहीं माने गये हैं । क्योंकि उन वैमानिकोंकी तीन निकायोंसे विभिन्न रूप रेखाकी ऊपर ऊपर भले प्रकार स्थिति हो रही है । वे यहां वहां अस्त व्यस्त नहीं निवस रहे हैं । कारण कि " वैमानिकाः "

इस सूत्रके अग्रिम सूत्रमें उनके भेदोंको दिखाते हुये सूत्रकारने तीसरे स्थानपर अठारहवें " उपर्युपरि " इस सूत्ररूप वचन करके ही उक्त सिद्धान्तका निर्णय कर दिया है।

कोई जिज्ञासु प्रश्न उठाता है कि यदि इस प्रकार वे वैमानिक देव ऊपर ऊपर व्यवस्थित हो रहे हैं तो बताओ कितने विमानोंमें वे वैमानिक देव हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेंद्रब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलांतवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयंतजयंतापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ १९ ॥

सौधर्म ऐशान, सानत्कुमार माहेन्द्र, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर, लान्तव कापिष्ठ, शुक्र महाशुक्र, शतार सहस्रार, इन स्वर्गोंमें और आनत, प्राणत, एवं आरण, अच्युत, स्वर्गोंमें कल्पोपपन्न वैमानिक देव निवास करते हैं। तथा नवग्रैवेयक और नौ अनुदिश विमानोंमें असंख्याते कल्पातीत वैमानिक देव निवस रहे हैं। अर्थात्—केवल सर्वार्थसिद्धि विमानमें द्विरूप वर्गधाराकी पांचवीं कृतिके घनस्वरूप मनुष्य संख्याके त्रिचतुर्थ प्रमाण स्त्रियोंसे तिगुने या सतगुने सर्वार्थसिद्धिके देव मात्र संख्याते हैं। जघन्य संख्या कमी रह जाय तो मानव स्त्रियोंसे तिगुनी और उत्कृष्ट संख्या होजाय तो सतगुनी इन एक भवतारी देवोंकी गणना है। शेष सम्पूर्ण कल्प और कल्पातीतवर्ती संख्यातविमानोंमें असंख्याते देव निवास कर रहे हैं।

सुधर्मा नाम सभा सास्मिन्नस्तीति सौधर्मः कल्पः " तदस्मिन्नस्तीत्यण् " तत्कल्पसाहचर्यादिंद्रोपि सौधर्मः, ईशानो नामेंद्रः स्वभावतः ईशानस्य निवासः कल्प ऐशानः " तस्य निवास " इत्यण् तत्साहचर्यादिंद्रोप्यैशानः, सानत्कुमारो नामेंद्रः स्वभावतः तस्य निवासः कल्पः सानत्कुमारः तत्साहचर्यादिंद्रोपि सानत्कुमारः, महेंद्रो नामेंद्रः स्वभावतः तस्य निवासः कल्पो माहेंद्रः तत्साहचर्यादिंद्रोपि माहेंद्रः, ब्रह्मनामेंद्रः तस्य लोको ब्रह्मलोकः कल्पो ब्रह्मोत्तरश्च लांतवाद्योच्युतांता इन्द्रास्तत्साहचर्यात् कल्पा अपि लांतवादयः, इन्द्रलोकपुरुषस्य ग्रीवास्थानीयत्वाद्ग्रीवाः ग्रीवासु भवानि ग्रैवेयकाणि विमानानि तत्साहचर्यादिंद्रा अपि ग्रैवेयकाः, विजयादीनि विमानानि परमाभ्युदयविजयादन्वर्थसंज्ञानि तत्साहचर्यादिंद्रा अपि विजयादिनामानः सर्वार्थानां सिद्धेः सर्वार्थसिद्धिविमानं तत्साहचर्यादिंद्रोपि सर्वार्थसिद्धः।

पहिले स्वर्गमें सुधर्मा संज्ञक सभाका एक बहुत विशाल भवन बना हुआ है, जिस स्वर्गमें वह सुधर्मा सभा बनी हुई है वह कल्प सौधर्म स्वर्ग है " तदस्मिन्नस्ति " इस तद्धितके सूत्र करके यहां सुधर्मा शब्दसे अण् प्रत्यय कर सौधर्म शब्दको साधु बना लिया जाता है, उस सौधर्म कल्पके सहचारपनेसे पहिले स्वर्गका इन्द्र भी सौधर्म कहा जाता है अथवा स्वभावकरके अनादिकालसे इन्द्र या स्वर्ग का नाम सौधर्म पड रहा है। इसी प्रकार स्वभावसे ही ईशान नामका इन्द्र है, ईशान इन्द्रका निवास हो रहा दूसरा कल्प ऐशान है। यहां " तस्य निवासः " इस तद्धित सूत्रसे अण् प्रत्यय कर ऐशान शब्द उत्पन्न कर लिया गया है। उस स्वर्गके सहचरपनेसे इन्द्रको भी ऐशान कह दिया जाता है। तृतीय स्वर्गमें अनादिकालीन संज्ञाके वश स्वभावसे ही सनत्कुमार इन्द्र चला आ रहा है। उसका निवासभूत कल्प सानत्कुमार है। यहां भी " तस्य निवासः " इस सूत्रकरके अण् प्रत्यय कर लेना चाहिये। उस सानत्कुमार स्वर्गके सहचरपनेसे इन्द्र भी सानत्कुमार कहे जा सकते हैं। मत्वर्थीय अच् प्रत्ययकरके भी यहां निर्वाह किया जा सकता है। महेन्द्र नामका इन्द्र स्वभावसे ही है। उसका निवासस्थान कल्प माहेंद्र है। उस माहेन्द्र स्वर्गमें धाराप्रवाहरूपसे जो इन्द्र होते चले आ रहे हैं उस स्वर्गके सहचरपनेसे वे इन्द्र भी माहेन्द्र हैं। ब्रह्मा नामक इन्द्र हैं उस इन्द्रका लोक पांचवां ब्रह्मलोक नामका कल्प है और ब्रह्मोत्तर नामका छठा कल्प है। इसी प्रकार लान्तवको आदि लेकर अच्युतपर्यन्त इन्द्रोंकी व्यवस्था स्वभावसे ही होती चली आ रही है। उसके सहचरपनेसे लांतव आदिक कल्प भी अनादि सिद्ध संज्ञाओंको धार रहे हैं। स्वर्ग या कल्प तो अनादिसे अनन्तकालतक प्रवर्त रहे हैं। किन्तु उनमें देव या इन्द्र निवास कर रहे अपने आयुष्यको नियतकालतक सुखपूर्वक बिता रहे हैं। उन उन स्वर्गोंमें जन्म लेनेवाले इन्द्र धारा प्रवाहसे उन्हीं नामोंको धारते हैं। इस चौदह राजू ऊंचे लोकको या केवल ऊपरले सात राजूके इन्द्र लोकको यदि पुरुषाकार नियत कर लिया जाय तो उसकी ग्रीवा (नार) के स्थानापन्न होनेसे लोकके तेरह राजूके ऊपरके कतिपय स्थान ग्रीवायें कहे जायंगे। ग्रीवाओंमें विन्यस्त हो रहे विमान ग्रैवेयक हैं। उन विमानोंके साहचर्यसे इन्द्र भी ग्रैवेयक हैं। इनके ऊपर नौ अनुदिश हैं। विजय आदिक विमान अन्य लौकिक उत्कृष्ट अभ्युदयका विजय करनेसे यथार्थ नामा कहे जाते हैं। यानी विजय, वैजयंत, जयंत और अपराजित ये नाम दूसरेको जीतने और किसीसे नहीं पराजित होनेकी अपेक्षासे अपने ठीक अर्थको लेकर घटित हो रहे हैं। उन विमानोंके साहचर्यसे उनमें रहनेवाले असंख्याते अहमिन्द्र भी विजय, वैजयंत आदि नामोंको धार रहे हैं। सम्पूर्ण लौकिक अर्थोंकी परिपूर्ण सिद्धि हो जानेके कारण सर्वार्थसिद्धि नामक इन्द्रक विमान भी अन्वर्थ संज्ञक है। उसके साहचर्यसे इन्द्र भी सर्वार्थसिद्ध है। ऐसे अहमिन्द्र सर्वार्थसिद्धि विमानमें संख्याते हैं। अर्थात्—" मेरुतलादु दिवड्ढ दिवड्ढ दलछक्क एक्करज्जुम्हि, कप्पाणमट्ठजुगला गेवेज्जादी य होंति कमे " (त्रिलोकसार) मेरुके तलसे एक लाख चालीस योजन अथवा इस समतल भूमिसे निन्यानवै हजार चालीस योजन और बालाग्र

ऊपर उछल कर सौधर्म, ऐशान, ये दो कल्प दक्षिण और उत्तर दिशाओंमें व्यवस्थित हैं। इनमें ऋतु आदिक इकतीस पटल हैं। दक्षिण दिशाका अधिपति सौधर्म इन्द्र है और उत्तर दिशाके श्रेणी विमान और पुष्पप्रकीर्णकोंका अधिकारी ऐशान इन्द्र है। सबसे ऊपरले प्रभा नामक पटलमें इन्द्रक विमानसे दक्षिणदिशामें अठारहवें श्रेणी बद्ध विमानमें सौधर्म इन्द्र रहता है। उसी प्रकार बत्तीस श्रेणीबद्ध विमानवाली उत्तर दिशाके अठारहवें विमानमें ऐशान इन्द्रका निवास है। एक एक पटलमें असंख्याते योजनोंका अन्तर है। समतल भूभागसे ऊपर डेढ राजू स्थानतक सौधर्म, ऐशान, इन्द्रोंका आधिपत्य है। सौधर्म ऐशान स्वर्गोंसे अनेक योजन ऊपर अथवा मेरुतलसे ठीक डेढ राजू ऊपर सानत्कुमार, माहेन्द्र स्वर्गोंका प्रारम्भ है। अंजन आदि सात पटलवाले ये दो स्वर्ग दक्षिण उत्तर समान तुलामें रखे हुये हैं। कुछ कम डेढ राजूतक इनका अधिकार है। मेरुतलसे तीन राजू ऊपर समतुल्य स्थानमें ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग बने हुये हैं। इन दोका अधिपति ब्रह्म नामका एक इन्द्र है। आधे राजू ऊपर तक इनका साम्राज्य है। मेरुतलसे साढे तीन राजू ऊपर चलकर लांतव और कापिष्ठ स्वर्ग बराबरमें रचे हुये हैं। इन दोका अधिपति एक ही लांतव इन्द्र है। इनके ऊपर कुछ कम आधा राजू चलकर शुक्र, महाशुक्र दो स्वर्ग दक्षिण और उत्तरकी ओर विन्यस्त हैं। इनका अधिपति एक शुक्र इन्द्र है। इनके ऊपर कुछ कम आधा राजू यानी मेरुतलसे साढे चार राजू ऊपर उछल कर सतार और सहस्रार ये स्वर्ग समानभागमें रचे हुये हैं। इन दोका अधिपति सतार नामका एक इन्द्र है। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर और ऊर्ध्व इन पांचों दिशाओंमें आधे आधे राजूतक इसका अधिराज्य है। सतार, सहस्रारसे कुछ कम आधा राजू ऊपर आनत, प्राणत, दो स्वर्ग हैं। इनके दक्षिण दिशासम्बन्धी और उत्तरदिशासम्बन्धी अधिपति दो इन्द्र हैं। इनसे आधे राजू ऊपर उछल कर यानी मेरुतलसे साढे पांच राजू ऊपरसे आरण अच्युत स्वर्ग प्रारम्भ हो जाते हैं, जो कि दक्षिण उत्तर दिशामें समतुल्य कोटिपर व्यवस्थित हैं। मेरुतलसे छह राजू ऊपर उपरिम एक राजूके निचले भागमें नौ ग्रैवेयक विमानोंके नौ पटल हैं। इनके ऊपर नौ अनुदिश विमानोंका एक पटल है जिसमें कि चार दिशाओं और चार विदिशाओं तथा एक मध्यमें यों नौ विमान रच रहे हैं। इसके ऊपर पांच अनुत्तरोंके पांच विमान हैं। सर्वार्थसिद्धिसे बारह योजन ऊपर सिद्ध क्षेत्र है। सर्वार्थसिद्धि और सिद्धलोकके अन्तरालमें एक राजू चौडी सात राजू लम्बी आठ योजन मोटी लोकान्तस्पर्शिनी आठवीं "ईषत्प्राग्भारा" नामकी पृथिवी है। इस पृथिवीके ठीक बीचमें मनुष्यक्षेत्रबराबर लम्बी चौडी आठ योजन मोटी गोल सिद्धशिला जड रही है, जो कि सिद्धलोक नामसे कही जा रही। आधे लड्डूके समान नीचे समतल और ऊपर क्रमसे घटती हुई ढलाऊ होकर उठी हुई है। उस सिद्ध अधिष्ठान क्षेत्रके ऊपरले या लोकमें सबसे ऊपर बडे धनुषोंसे नापे पन्द्रहसौ पिचत्तर १५७५ धनुष मोटे तनुवातके पन्द्रहसौवें या नौ लाखवें भागमें उत्कृष्ट और जघन्य अवगाहनावाले अनन्तानन्त सिद्धपरमेष्ठी विराजमान हैं। उनको त्रियोगसे हम नमस्कार करते हैं। एक सही एक बटे बीस महाधनुषमें बडी अवगाहनाके सिद्ध हैं।

और सात बटे चार हजार महाधनुषमें छोटी अवगाहनाके सिद्ध भगवान् विराजमान हैं। मध्यमें अवगाहनाओंके अनेक भेद हैं। वहां भी अनन्तानन्त सिद्ध हैं।

तस्य पृथग्ग्रहणं द्वन्द्वे कर्तव्येपि स्थित्यादिविशषप्रतिपत्त्यर्थं। सर्वार्थसिद्धस्य हि स्थितिरुत्कृष्टा जघन्या च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा विजयादिभ्यो जघन्यतो द्वात्रिंशत्सागरोपमस्थितिभ्यो विशिष्टा प्रभावतश्च ततोल्पप्रभावेभ्यः इति श्रूयते।

उस सर्वार्थसिद्धिका यद्यपि विजय आदिकके साथ द्वन्द्व समास कर देना चाहिये था। फिर भी स्थिति, प्रभाव, आदि विशेषोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये सर्वार्थसिद्धिका पृथक् स्वतंत्र ग्रहण किया है। सर्वार्थसिद्धि विमानमें रहनेवाले सर्वार्थसिद्ध देवकी उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थिति दोनों तेतीस सागरोपम हैं। बत्तीस सागर जघन्य और तेतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थितिको धारनेवाले विजय आदि चार वैमानिकोंसे यह जघन्य, उत्कृष्ट, विकल्पोंसे रीती हो रही सर्वार्थसिद्ध देवोंकी स्थिति विशिष्ट है। तथा प्रभावसे भी उन अल्प प्रभाववाले विजय आदि अहमिन्द्रोंकी अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि देवोंका प्रभाव अत्यधिक है। ऐसा शास्त्रों द्वारा आम्नायपूर्वक सुना जा रहा है। विजय आदि चार विमानोंमें रहनेवाले सम्पूर्ण असंख्याते देवोंका जितना मिलकर प्रभाव है, उससे अधिक सर्वार्थसिद्धिके एक देवका है। इत्यादि विशेषोंको दिखलानेके लिये सर्वार्थसिद्धौ ऐसा सूत्रमें पृथक् असमसितपद पड़ा हुआ है। क्तिन् प्रत्ययान्त होनेसे स्त्रीलिंग माना गया सर्वार्थसिद्धि शब्द भी इन्द्रकी संज्ञा पड़ जानेसे पुल्लिङ्ग कर दिया जाता है। सर्वार्थसिद्धि और सर्वार्थसिद्ध दोनों शब्द अभीष्ट हो रहे दीखते हैं।

ग्रैवेयकाणां पृथग्ग्रहणं कल्पातीतत्वज्ञापनार्थं, नवशब्दस्यावृत्तिकरणमनुदिशसूचनार्थं। दिशि आनुपूर्व्येणानुदिशं विमानानीति पूर्वपदार्थप्रधाना वृत्तिः दिक्शब्दस्य शरदादित्वात् आकारांतस्य वा दिशाशब्दस्य भावात् तत्साहचर्यादिद्रा अप्यनुदिशास्ते च नव संति ग्रैवेयकाणामुपरीति श्रवणात्।

" ग्रैवेयकेषु " इस पदका पूर्व या उत्तरपदोंके साथ द्वन्द्व समास नहीं कर जो पृथक् ग्रहण कर दिया गया है, वह तो ग्रैवेयकोंके कल्पातीतपनको समझानेके लिये है। अर्थात्—सौधर्मको आदि लेकरके अच्युतपर्यन्त बारह इन्द्रोंकी अपेक्षा बारह कल्प हैं। उनसे न्यारे ऊपरले विमान सब कल्पातीत हैं। इस सिद्धान्तको समझानेके लिये ग्रैवेयकेषु यह पद पृथक् कर दिया है। सूत्रकारकी एक एक मात्रा अपरिमित अर्थको देख रही है। यद्यपि ग्रैवेयक नौ हैं। ऐसी दशामें " नव च ते ग्रैवेयका नवग्रैवेयका " यों समास कर " नवग्रैवेयकेषु " कह देना चाहिये था। फिर जो सूत्रकारने नव और ग्रैवेयक पदोंमें समासवृत्ति नहीं की है, वह नौ अनुदिश विमानोंका सूचन करनेके लिये है। मानो ग्रैवेयकसे ऊपर नौ अनुदिश विमान भी हैं। दिशाओंके आनुपूर्वीपने करके लगे हुए विमान

नव अनुदिश हैं। यहां दिश् शब्दकी अनुपदके साथ पूर्वपदके अर्थको प्रधान रखनेवाली समासवृत्ति कर दी गई है। दिश् शब्दका शरदादि शब्दोंमें पाठ होनेसे " अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः " इस सूत्र करके यहां समासान्त टच् कर दिया जाता है। अथवा आकारान्त दिशा शब्दका सद्भाव होनेसे " अव्ययीभावश्च और नपोऽचो ह्रस्वः " सूत्रोंद्वारा अनुदिश शब्द बनाया जा सकता है। उन अनुदिश विमानोंके सहचरपनेसे इन्द्र भी अनुदिश कहे जाते हैं और वे अनुदिश विमान ग्रैवेयकोंके ऊपर एक पटलमें नौ हैं। यों आर्षशास्त्रोंद्वारा ज्ञात किया जा रहा है। नवसु शब्दका ग्रैवेयकोंमें एक बार अन्वय कर पुनः आवृत्त किये गये दूसरे नवसुका अर्थ नौ अनुदिश विमान कर लिया जाता है। " व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणं "।

ननु च सौधर्मैशानयोः केषांचिदप्युपरिभावाभावादव्यापकतोपरिभावस्य स्यादित्याशंकायामिदमाह।

यहां किसीकी शंका है कि " उपरि उपरि " शब्द षष्ठ्यन्त पदकी अपेक्षा रखता है। अतः सनत्कुमार, माहेन्द्र, आदिको सौधर्म, ऐशानके ऊपर ऊपरपना एवं नीचे नीचेके विमानोंसे ऊपर ऊपरपना सर्वार्थसिद्धितक सुलभतया घट जाता है। किन्तु सबसे नीचेके सौधर्म और ऐशानको किन्हींके भी ऊपर ठहरनेका अभाव हो जानेसे ऊपर ऊपर सद्भावकी सर्वत्र वैमानिकोंमें व्यापकता नहीं हो सकी ? इस प्रकार आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिक द्वारा इस समाधानको कहते हैं।

सौधर्मैशानयोर्देवा ज्योतिषामुपरि स्थिताः।
नोपर्युपरिभावस्य तेनाव्यापकता भवेत् ॥ १ ॥

जब कि सौधर्म और ऐशानमें रहनेवाले देव ज्योतिषियोंके ऊपर व्यवस्थित हो रहे हैं। तिस कारणसे ऊपरले ऊपरले भागोंमें ठहरनेके परिणामकी अव्यापकता नहीं होवेगी। ज्योतिष्क विमानोंसे अठानवे हजार एक सौ चालीस ९८१४० योजन और बालाग्र ऊपर सौधर्म ऐशान विमान व्यवस्थित हैं। अर्थात्––ज्योतिष्क विमानोंकी अपेक्षा वैमानिकोंके त्रेसठ पटलोंका ऊपर ऊपर वर्तना सर्वत्र व्याप जाता है। यद्यपि ज्योतिष्कोंमें भी समतल चित्रा भूभागके ऊपर सात सौ नब्बे ७९० योजनसे प्रारम्भ कर ९०० योजनतक एक सौ दस ११० योजनोंमें ज्योतिष्कोंका तारे, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रमण्डल, बुध, शुक्र, बृहस्पति, मंगल, शनि, इस क्रम अनुसार ऊपर ऊपर वर्तना पाया जाता है। फिर भी हमें यहां वैमानिकोंके ऊपर ऊपर कथन प्रकरणमें ज्योतिष्कोंका घसीटना अभीष्ट नहीं हो रहा है। अव्यापकताका समूल उच्छेद करनेके लिये उदारोदर (बड़ा पेट) नीति अनुसार ज्योतिष्कोंका भी ऊपर ऊपर ठहरना बढ़ा कर लिख दिया है।

कुतः पुनर्द्वयोरुपर्युपरिभावः प्राग्ग्रैवेयकेभ्य एवेत्याह ।

किसी प्रतिवादीका कटाक्ष है कि उक्त व्याख्यान करनेसे प्रतीत हुआ है कि सौधर्म आदि कल्पोंमें दो दो स्वर्ग बराबर ठहरते हुये ऊपर ऊपर सोलह स्वर्ग वर्त रहे हैं। किन्तु सूत्र द्वारा यह अर्थ नहीं निकलता है। ग्रैवेयकोंसे पहिले ही यह व्यवस्था होय। पुनः ग्रैवेयकों, अनुदिशों, या विजयादिकोंमें दो दो का युगल ऊपर ऊपर नहीं व्यापे यह भी मूलसूत्रसे ध्वनित नहीं होता है। अतः बताओ कि ग्रैवेयकोंसे ही पहिले दो दो स्वर्गोंका ऊपर ऊपर वर्तना है, यह कैसे निर्णीत किया जा सकता है ? टीकाकारोंको मूलसूत्रके अनुसार ही चलना चाहिये। सिद्धान्तको न्यून अधिक कथन करनेसे तत्त्वोंका कूपपतन या आकाशमें फेंक दिया जाना अवश्यम्भावी है। इस प्रकार साभिमान जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्त्तिकोंको समाधानार्थ कहते हैं।

सौधर्मेत्यादिसूत्रे च द्वंद्ववृत्तिर्विभाव्यते ।
सौधर्मादिविमानानामुपर्युपरि नान्यथा ॥ २ ॥
आनतप्राणतद्वंद्वमारणाच्युतयोरिति ।
सूचनादंतशः सा च कल्पेष्वेवैकशस्ततः ॥ ३ ॥
ग्रैवेयकेषु नवसु नवस्वनुदिशेष्वियं ।
ततोनुत्तरसंज्ञानां पंचानां सेष्यतेर्थतः ॥ ४ ॥

" सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तर " इत्यादि सूत्रमें कहे गये सौधर्म आदि विमानोंका ऊपर ऊपर द्वन्द्व यानी युगलरूपसे वर्तना विचार लिया जाता है। अन्य प्रकारोंसे यानी एक एकके ऊपर वर्तते हुये यों सोलह पटल होंय या चार चारका चतुष्क समभागमें बनाकर सोलह स्वर्गोंके चार ही चतुष्क या पटल कर दिये जांय इत्यादिक ढगोंसे ऊपर ऊपर वर्तना नहीं है। क्योंकि अन्तमें पडे हुये आनत प्राणतका द्वन्द्व कर पुनः आरण और अच्युतोंका द्वन्द्व किया गया है। अतः सूचित होता है कि जैसे आनत, प्राणत, और आरण अच्युतोंके युगल समानभागोंमें रचे होकर ऊपर ऊपर हैं, उसी प्रकार सौधर्म, ऐशान, आदिके युगल भी दो दो स्वर्गोंकी समतुला होकर ऊपर ऊपर रच रहे हैं। अन्यथा लाघवके लिये आनत आदि चारोंका द्वन्द्व कर एक ही योग किया जा सकता था। हां, पहिले बारह स्वर्गोंका लाघवार्थ द्वन्द्व समास कर दिया है। और उनके ऊपरके दो युगलोंका समास नहीं करनेसे युगलरूपसे सब स्वर्गोंका वर्तना सूत्रकार द्वारा सूचित कर दिया गया है। वह युगलरूपसे हो रही वृत्ति बारह कल्प यानी सोलह स्वर्गोंमें ही है। उससे परली ओर नौ ग्रैवेयकोंमें नौ अनुदिशोंमें और उससे ऊपर पांच अनुत्तर संज्ञक विमानोंमें यह वर्तना एक

पृथक्रूपसे है । अर्थात् नव ग्रैवेयक अकेले अकेले होकर ऊपर ऊपर नौ पटलोंमें वर्त रहे हैं । नव अनुदिशोंका एक ही पटल उपरिम ग्रीमैं ग्रैवेयकके ऊपर है । उसके ऊपर पांचों अनुत्तरोंका एक ही समतुलावाला पटल है । सूत्रोक्त शब्दोंकी शक्तिसे और अर्थसम्बन्धी न्यायसे भी वह सौधर्म आदि कल्पोंकी या कल्पातीतोंकी युगल रूपसे या एक एक रूपसे इस प्रकार वृत्ति होना अभीष्ट होरहा है । सहस्रारतक दो दो कल्पोंका पहिले इतरेतर द्वन्द्व समास कर पश्चात् छह युग्मोंका द्वन्द्व कर लेना । आगे स्पष्ट ही है ।

सौधर्मेत्यादिसूत्रे निर्दिष्टानां सौधर्मैशानादीनां श्रेणींद्रकप्रकीर्णात्मकपटलभावापन्नानां विमानानामुपर्युपरि द्वंद्ववर्तनं विभाव्यते आनतप्राणतद्वंद्वमनन्तरमारणाच्युतयोरिति सूचनादन्यथा वृत्त्यकरणे प्रयोजनाभावात् । तच्च द्वंद्ववर्तनं कल्पेष्वेव विभाव्यते । तद्वत् वृत्त्यकरणात् प्रागेव सौधर्मैशानयोः सानत्कुमारमाहेन्द्रयोरित्यवृत्त्यकरणात् ।

सौधर्मैशान इत्यादि सूत्रमें कथन किये गये चारों दिशाओंमें पंक्तिबद्ध फैले हुये श्रेणीबद्ध विमान और श्रेणीबद्धोंके ठीक बीचमें ठहर रहा इन्द्रक विमान एवं दो दो श्रेणियोंके बीच बीचके चार तिकोने बिखरे हुये पुष्पोंके समान फैल रहे पुष्पप्रकीर्णक विमान यों श्रेणीजातीय, इन्द्रक और प्रकीर्णक जातीय, विमानों स्वरूप पटलभावको प्राप्त होरहे सौधर्म, ऐशान, आदि विमानोंका ऊपर ऊपर युग्म रूपसे वर्तना निर्णीत कर लिया जाता है (प्रतिज्ञा) क्योंकि आनतप्राणतके द्वन्द्व पश्चात् आरण अच्युतोंका पृथक्रूपसे सूत्रमें कथन किया है । सूत्रकारने अन्तिम चारों स्वर्गोंकी समासवृत्ति जो नहीं की है, उसका यही प्रयोजन है कि सोलह स्वर्ग दो दो होकर युगल रूपसे ऊपर ऊपर आठ हुय वर्त रहे हैं । सूत्रकारका समासवृत्ति नहीं करनेमें अन्य प्रकारका कोई प्रयोजन नहीं है । और वह द्वन्द्व रूपसे दो दोका बराबर होकर वर्तना कल्पोंमें ही विचारा जाता है । क्योंकि उन कल्पोंमें ही अन्तके चार कल्पोंमें द्वन्द्व समासवृत्ति नहीं की गई है । उनके पहिले ही सौधर्म आदिक बारह कल्पोंमें वृत्ति यों की गई है कि सौधर्मश्च ऐशानश्च सौधर्मैशानौ और सानत्कुमारश्च माहेन्द्रश्च सानत्कुमारमाहेन्द्रौ तथा ब्रह्म च ब्रह्मोत्तरश्च ब्रह्मब्रह्मोत्तरौ इत्यादिरूपसे छह युगलोंके छह द्वन्द्व समास किये गये हैं । पुनः सौधर्मैशान पदकी और सानत्कुमारमाहेन्द्र आदि पांच युग्म पदोंकी अवृत्ति नहीं की गई है । यानी आठ कल्प या बारह स्वर्गोंका द्वन्द्व समास कर दिया गया है । इसीसे कल्पोंमें युगलवृत्तिका सिद्धान्त निर्णीत होजाता है ।

तत एव नवसु ग्रैवेयकेष्वेकशो वर्तनं विभाव्यते । नवस्वनुदिशेषु च तत्र दिग्विदिग्वर्त्येकैकविमानमध्यगस्येंद्रकविमानस्यैकत्वात् । तत एवानुत्तरसंज्ञानां पंचानामेकशो वर्तनं विभाव्यते दिग्वर्त्येकैकविमानमध्यगस्येंद्रकस्य सर्वार्थसिद्धस्यैकत्वात् । अर्थतश्चैवं विभाव्यते अन्यथोक्तनिर्देशक्रमस्य प्रयोजनानुपपत्तेः ।

तिस ही कारणसे यानी नवपद और ग्रैवेयकपदमें वृत्ति नहीं करनेसे नौ ग्रैवेयकोमें एक एक होकर नौ पटलोंमें एक एक ग्रैवेयकका वर्तना निर्णीत कर लिया जाता है। नव शद्बको ग्रैवेयकपदके साथ समास वृत्ति नहीं करनेसे नौ अनुदिश भी प्राप्त हो जाते हैं। नव अनुदिशोंमें सम्पूर्णोंका एक पटल है। उनमें दिशा और विदिशाओंमें एक एक वर्त रहे यों आठ विमान और एक मध्यमें प्राप्त हो रहा इन्द्रक विमान यों न्यारे, न्यारे समतुलावाले विमानोंको वहां एकपना प्राप्त है। नवसु शद्बका योग विभाग या आवृत्ति कर एक नव शद्बको ग्रैवेयकके साथ और दूसरे नवको अनुदिशमें जोड लेना। तिस ही कारणसे यानी पांचों अनुत्तरोमे एकशः वृत्तिका अन्वय कर देनेसे अनुत्तर संज्ञक विजयादि पांचों विमानोंकी एकवार समतुला (लेविल) में वृत्ति हो रही निश्चित कर ली जाती है। क्योंकि चार दिशाओंमें वर्त रहे एक एक विमान और मध्यमें प्राप्त हो रहे सर्वार्थसिद्धि नामक एक इन्द्रक विमानको एकपना प्राप्त है। शद्ब शक्तिसे ये बात व्याकरण मुद्रया प्राप्त हो जाती है। तथा अर्थ संबंधी न्यायसे भी इस प्रकार उक्त सिद्धांत विचार लिया जाता है कि सूत्रकारके यथोक्त प्रकार सूत्रमें कथन कर दिये गये क्रमका अन्य प्रकार कोई प्रयोजन नहीं बन रहा है। जो कह दिया गया प्रयोजन है वही न्याय युक्तियोंसे निर्णीत है। इस प्रकार सौधर्म ऐशान स्वर्गके इकतीस पटल, सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गोंके सात पटल, ब्रम्हयुग्मके चार पटल, लांतव युग्मके दो, शुक्र युगलका एक, शतार द्वन्द्वका एक पटल एवं आनतादि चार कल्पोंमें छह पटल, नौग्रैवेयकोंके नौ पटल, नौ अनुदिशोंका एक पटल, पांच अनुत्तरोंका एक पटल यों ऊर्ध्व लोकमें असंख्याते योजनोंका व्यवधान लिये हुये त्रेसठ पटल हैं। सबसे नीचेके ऋतु पटलके मध्यवर्ती ऋतु इन्द्रक विमानसे चारों दिशाओंमें बासठ बासठ विमानोंकी पंक्ति बद्ध श्रेणी त्रसनालीतक चली गयी है। ऊपर ऊपर पटलमें चारों दिशाओंसे एक एक विमान कमती होती गयीं चारों श्रेणियां व्यवस्थित हैं। बासठवें अनुदिश संबंधी पटलमें एक एक विमान दिशाओंमे वर्त रहा है। यहां विदिशाओंमें भी चार विमान हैं ऊपरके अनुत्तर विमान सम्बन्धी त्रेसठिवें पटलमें विदिशाओंमें असंख्यात योजन व्यासवाले चार श्रेणी बद्ध विमान और मध्यमें एक लाख योजन व्यासवाला सर्वार्थसिद्धि इन्द्रक विमान यों पांच विमान हैं। यह रचना थालीमें रखे हुये ऊपर पंक्तियोंमें क्रमबद्ध कमती कमती हो रहे लड्डुओंके ढेर समान अनादि अनन्त अकृत्रिम बन रही है। श्रेणियोंके बीच चार तिकोनोंमें पुष्प प्रकीर्णक विमान अवस्थित हैं। इन्द्रक श्रेणी, बद्ध पुष्प प्रकीर्णक विमानोंकी संख्या, उनका संख्यात या असंख्यात योजनका व्यास, और मोटाई, वर्ण, आदिका निरूपण त्रिलोकसार राजवार्तिक, ग्रन्थोंमें दृष्टव्य है। सम्पूर्ण विमानोंमें एक एक अकृत्रिम जिन मन्दिर विराजमान हैं। विमानोंकी संख्या परिमाण जिन मन्दिरोंको नमस्कार होओ।

ते च सूत्रितेषु सौधर्मादिषु कल्पेषु कल्पातीतेषु च वैमानिका देवाः।

उक्त सूत्रमें कहे जा चुके सौधर्म आदि कल्पोंमें और ग्रैवेयक आदि कल्पातीतोंमें निवास कर रहें वे देव परस्परमें किन किन विशेषताओंको धारते हैं ? इसकी प्रतिपत्ति करानेके लिये सूत्रकार अगले सूत्रको कहते हैं।

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धींद्रियावधि-विषयतोधिकाः ॥ २० ॥

आयुष्य प्रमाण स्थिति, निग्रहानुग्रह करना स्वरूप प्रभाव, इन्द्रियजन्य लौकिक सुख, दीप्ति स्वरूप द्युति, लेश्या, इन्द्रियोंका विषय, अवधिज्ञानका विषय इन करके ऊपर ऊपरके वैमानिक देव अधिक हो रहे हैं। यानी श्रेष्ठ प्रस्तारोंमे ऊपर ऊपर स्थिति आदिक वृद्ध रहे पाये जाते हैं।

स्वोपात्तायुष उदयात्तस्मिन् भवे तेन शरीरेणावस्थानं स्थितिः, शापानुग्रहलक्षणः प्रभावः, सद्वेद्योदये सतीष्टविषयानुभवनं सुखं, शरीरवसनाभरणादिदीप्तिर्द्युतिः, कषायानुरंजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्योक्ता तस्या विशुद्धिर्लेश्याविशुद्धिः, इन्द्रियस्यावधेश्च विषयो गोचरः प्रत्येयः, विषयशब्दस्येंद्रियावधिभ्यां प्रत्येकमभिसंबंधात् अन्यथोपर्युपरि देवानामिंद्रियाभिवृद्धिप्रसंगात् सिद्धांतविरोधापत्तेः।

अपने करके पूर्व जन्ममें उपार्जित किये गये आयुष्य कर्मका उदय हो रहे उस भवमें उस गृहीत शरीरके साथ अवस्थान बना रहना स्थिति है। क्रुद्ध होकर अपने अधिकृत प्राणियोंमेंसे किसीको अनिष्ट प्राप्त करा देना शाप स्वरूप प्रभाव है। और किसीके ऊपर प्रसन्न होते हुये इष्ट प्राप्त करा देना स्वरूप अनुग्रह नामक प्रभाव है। अन्तरंगमें साता वेदनीय कर्मका उदय होते सन्ते इष्ट विषयोंका अनुभव करना सुख है। शरीर, वस्त्र, अलंकार, गंध, द्रव्य, मुकुट आदिकी दीप्तिको द्युति कहते हैं। कषायोंसे अनुरंजित हो रही योगोंकी प्रवृत्ति लेश्या है। जो कि " गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शना, इत्यादि सूत्रकी ग्यारहवीं वार्तिकमें कही जा चुकी है। उस लेश्याकी विशुद्धि हो जाना लेश्या विशुद्धि है। इन्द्रियोंका और अवधि ज्ञानका विषय यानी ज्ञानव्य प्रमेय इन्द्रिय विषय और अवधि विषय समझ लेना चाहिये। विषय शद्बका इन्द्रिय और अवधि इन प्रत्येकके साथ पीछे संबंध कर दिया जाता है। अन्यथा यानी इन्द्रियोंके साथ विषयका यदि संबंध नहीं किया जायगा तो ऊपर ऊपर देवोंके इन्द्रियोंकी अभिवृद्धिका प्रसंग हो जानेसे सिद्धांतसे विरुद्ध कथनकी आपत्ति हो जायगी अर्थात्–सभी देवोंके इन्द्रियां पांच ही हैं। छह, सात, पच्चीस, पचास आदि इन्द्रियां नहीं हैं। अवधिज्ञान भी देशावधिके मध्य भेद वहां पाये जाते हैं। देशावधिके अतिरिक्त कोई परमावधि, सर्वावधि, या अन्य भेद वहां नहीं है।

सिद्धान्त शास्त्रोंमें ऐसा ही उल्लेख है। अतः इन्द्रिय और अवधि शद्बका पहिले द्वन्द्व समास कर ' इन्द्रियावधी ' पद बनालो। पुनः षष्ठी तत्पुरुष द्वारा ' इन्द्रियावधिविषय ' पदको व्युत्पन्न कर लेना चाहिये।

स्थित्यादीनां द्वंद्वे स्थितिशब्दस्यादौ ग्रहणं तत्पूर्वकत्वात् प्रभावादीनां। तेभ्यस्ततः इत्यत्र ' पादाने ह्रीयरुहोरिति तसिः तैर्वा ततस्तसि प्रकरणे " आद्यादिभ्य उपसंख्यान " मिति तसिः।

स्थिति आदिक शद्बोंका स्थितिश्च प्रभावश्च सुखं च द्युतिश्च लेश्याविशुद्धिश्च इन्द्रियावधि विषयश्च, यों निरुक्ति द्वारा द्वन्द्व समास करनेपर स्थिति शद्बका आदिमें ग्रहण हो जाता है। क्योंकि आयुष्य कर्म द्वारा जीवन स्थिति नियत होनेपर जीवके प्रभाव, सुख, आदि हो सकते हैं। अतः प्रभाव आदिक सब उस स्थितिको पूर्ववर्त्ती मानकर पीछे उपजनेवाले पदार्थ हैं। स्थिति शद्बका स्वन्त भी है किन्तु स्वन्तपना द्युतिमें भी पाया जाता है। लेश्या विशुद्धिमें अच् अत्यधिक हैं। अतः ग्रंथकारने स्थिति पद आदिमें ग्रहण करनेके लिये सबके पूर्वमें वर्तना यही पुष्ट हेतु प्रयुक्त किया है। द्वन्द्व समास कर चुकनेपर स्थिति प्रभाव सुख द्युति लेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषया इस पदसे तेभ्यः ततः इति यानी स्थिति प्रभाव सुख द्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयेभ्य इति स्थिति प्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतः यह सूत्रोक्तपद बना लेना चाहिये। यहां " अपादानेऽहीयरुहोः " इस सूत्र करके तसि प्रत्यय करना चाहिये। पंचमी विभक्तिवाले अपादान अर्थकी विवक्षा होनेपर तसि प्रत्यय हो जाता है। किन्तु ' स्वपदात् हीयेत ' ' पर्वतात् अवरोहति, ऐसे पदोंमें हीय और रुहका योग होनेपर तसि प्रत्यय नहीं हो पाता है। अथवा विषयैः यों तृतीयांत इन स्थिति आदि पदसे विषयतः बनालो तद्धित संबंधी तसि प्रत्ययके प्रकरणमें ' आद्यादिभ्य उपसंख्यानं ' आदि, मध्य, अन्त, पृष्ठ पार्श्व आदि आकृति गणपतित शद्बोंसे पंचमीके अतिरिक्त अन्य विभक्तियोंके अर्थमें भी तसि प्रत्यय हो जाता है। ऐसा वार्तिक द्वारा उत्सर्ग सूत्रसे अधिक उपसंख्यान किया गया है। इस कारण यहां तृतीयांत पदसे भी तसि प्रत्यय किया जा सकता है। पंचमी विभक्त्यन्त पदमें इतनी प्रेरकता नहीं है, जितनी कि तृतीयांतपद द्वारा प्रेरककारणता ध्वनित हो जाती है।

उपर्युपरि वैमानिका इति चानुवर्तते तेनैवमभिसंबंधः क्रियते उपर्युपरि वैमानिकाः प्रतिकल्पं प्रतिप्रस्तारं च स्थित्यादिभिरधिका इति।

इस सूत्रमें ' उपर्युपरि ' और वैमानिकाः' इन दोनों सूत्रोंकी अनुवृत्ति हो रही है। तिस कारण दो सूत्रोंको मिलाकर इस सूत्रका अर्थ यों कर लिया जाता है कि ऊपर ऊपर वैमानिक देव प्रत्येक कल्प और प्रत्येक प्रस्तारमें स्थिति, प्रभाव, आदिकोंसे अधिक अधिक हो रहे विराजते हैं।

कुतस्ते तथा सिद्धा इत्याह ।

वे वैमानिक देव तिस प्रकार स्थिति आदिकसे अधिक हैं, यह सूत्रोक्त कथन भला किस प्रमाणसे सिद्ध किया गया है ? बताओ, ऐसी तर्कणा उपस्थित होनेपर ग्रन्थकार वक्ष्यमाण कारिकाको कहते हैं ।

सप्तभिस्ते तथा ज्ञेयाः स्थित्यादिभिरसंशयं ।
तेषामिह मनुष्यादौ तारतम्यस्य दर्शनात् ॥ १ ॥

वे वैमानिक देव (पक्ष) तिस प्रकार स्थिति, प्रभाव, आदि सात विशेषताओं करके ऊपर ऊपर अधिक हो रहे निस्संशय जान लेने चाहिये (साध्य) । क्योंकि इस दृश्यमान लोकमें उन स्थिति आदिकोंका सेठ, राजा, महाराजा, मल्ल, अध्यापक, आदि मनुष्यों या अनेक पक्षियों अथवा बंदर, सिंह, आदि तिर्यंचोंमें हो रहा तरतम भाव देखा जाता है । (हेतु) अर्थात्–पुण्यशाली व्यापारी सेठ, राजा, मल्ल, योगाभ्यासी, आदिकी आयु अधिक अधिक देखी जाती है । सिपाही, थानेदार, कलक्टर, कमिश्नर, लार्ड, वायसराय, आदिमें उत्तरोत्तर प्रभाव अधिक है, भिक्षुक, किसान, दुकानदार, जमीदार, सेठ आदिमें उत्तरोत्तर सुख भी बढ रहा है । रोगी, अल्परोगी, दास (मजूर) अध्यापक, व्यापारी, मल्ल, महाभट आदि निश्चिन्त पुरुषोंकी शरीर कान्ति भी उत्तरोत्तर बढ रही दीखती है। स्वच्छतासे प्रेम रखनेवाले वैद्य, डाक्टर, कप्तान, कलक्टर, प्रभु, इनमें शरीर, वस्त्र, गहने, आदिकोंकी कान्ति भी बढ रही देखी जा रही है । नारकी क्रूर, तिर्यंच, मनुष्य, देव, भोगभूमियां, सर्वार्थसिद्ध, श्रावक, मुनि, इनमें कषाय और योगकी मिश्रण परिणति स्वरूप लेश्याकी विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ रही प्रतीत होती है । इसी प्रकार रोगी, निर्धन, अधमर्ण, (कर्जदार) घृतभोजी, निश्चिन्त पशु, पक्षी, मण्डलेश्वर चक्रवर्ती, देव इनमें स्पर्शन, घ्राण, चक्षु, आदि इन्द्रियोंके द्वारा विषय ग्रहण करना उत्तरोत्तर बढते चले जा रहे देखे जाते हैं । तथा तिर्यंच, नारकी, भवनवासी, व्यन्तर ज्योतिष्क, असुरकुमार, सौधर्म, इन्द्र, आनत प्राणतवासी अनुत्तर विमानवासी, मुनि, चरमशरीरी, इनमें अवधिज्ञान उत्तरोत्तर बढता जा पाया रहा शास्त्रों द्वारा ज्ञात हो रहा है। इसी प्रकार तिर्यंच योनिमें विशेष रूपसे भी पक्षियोंकी चिरैया, नीलकंठ, चील, गृद्ध आदिकी आयु बढती हुई है। पशुओंमें कुत्ता, छेरिया, गधा, घोडा, ऊंट हाथी अथवा बिल्ली, चीता, रींछ, बघेरा, सिंह, अष्टापद, इनकी आयु ऊपर ऊपर अधिक है । जल चरोंमें मेंडक मछली, कछुआ, मगर, घडियाल, इनकी आयु बढ रही पायी जाती है । बन्दर, कुत्ता, भेडिया सिंह, बडे मच्छ, चील, गृद्ध, आदिके प्रभाव, सुख, दीप्ति लेश्या, इन्द्रियोंके विषय इनमें घटती बढतीका हो रहा तारतम्य देखा जाता है । बस, इसी तारतम्य हेतुकी सामर्थ्यसे देवोंके ऊपर ऊपर स्थिति आदिक अधिक हो रहे साध लिये जाते हैं ।

मनुष्यादौ स्थितेस्तावत्तारतम्यस्य दर्शनाद्देवानामुपर्युपरि स्थित्याधिक्यं दृष्टं संभाव्यते। येषामपि समाना स्थितिः तेषामपि गुणतोधिकत्वसिद्धेः। प्रभावस्य च तारतम्यदर्शनं तेनाधिकं। यः प्रभावः सौधर्मकल्पे निग्रहानुग्रहपराभियोगादिषु तदनंतगुणत्वादुपर्युपरि देवानां केवलं मंदाभिमानतयाल्पसंक्लशतया च न प्रवर्तनं।

मनुष्य, तिर्यंच, आदिमें सबसे पहिली स्थितिके तरतम भावका दीखना होनेसे देवोंके ऊपर ऊपर स्थिति करके अधिकपना देखा जा चुका सम्भावित हो रहा है। सर्वज्ञ देव या दिव्यज्ञानी आचार्य, जिन अतीन्द्रिय पदार्थोंका प्रत्यक्ष कर लेते हैं, उनमेंसे कतिपय पदार्थोंकी वादी, प्रतिवादी पुरुष युक्तियों द्वारा सम्भावना कर लेते हैं। उनकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिको आगे कह देंगे। हां, जिन देवोंकी स्थिति समान भी है, उनके भी अन्य गुणों करके अधिकपना सिद्ध हो रहा है। जैसे कि सौधर्म, ऐशान, स्वर्गोंमें कुछ अधिक दो सागर उत्कृष्ट आयु है। सनत्कुमार, माहेन्द्र, की भी इतनी ही जघन्य आयु है। एक समय अधिक कोई अधिक नहीं समझी जाती है। विजय, वैजयंत, जयंत, की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर और सर्वार्थसिद्धिकी तेतीस सागर बराबर है एवं इन्द्रकी आयुके समान ही सामानिक देवोंकी भी आयु है। फिर भी इनमें गुणोंकी अपेक्षा अधिकता है। दश सागर उत्कृष्ट आयुवाले ब्रम्होत्तर स्वर्गवासी देवोंकी अपेक्षा आठ सागर प्रमाण आयुष्यधारी लौकान्तिक देव गुणोंसे अधिक है। जैसे कि निर्धन मूर्ख या रोगीके साठ वर्षतक जीवनकी अपेक्षा नीरोग विद्वान्‌का पचास वर्षतक जीवन सुचारु (बेहतर) है। दस दिनके काल कोठरी निवास नामक दण्डसे दो माहका कारावास कहीं अच्छा है। फांसीकी अपेक्षा जन्म पर्यन्त द्वीपान्तवास (कालापानी) दण्ड हलका है। तथा प्रभावका भी तरतम रूपसे दीखना होनेसे देवोंमें उस प्रभाव करके ऊपर ऊपर अधिकपना सम्भावित हो रहा है। सौधर्म कल्पमें देवोंका जो निग्रह करना, अनुग्रह करना, दूसरोंको लताडना, आश्रितोंपर अपराध नियत कर देना, आज्ञा चलाना आदि नियोगोंमें प्रभाव है। ऊपर ऊपर उससे अनंत गुणा होनेसे देवोंका प्रभाव अधिक हो रहा है। केवल अभिमान या अन्य कषायोंकी मन्दता होनेसे और अल्प संक्लेशवान् होनेसे ऊपर ऊपरके देव विचारे आश्रित-देवोंपर निग्रह, अनुग्रह, आदि नियोग चलानेमें प्रवृत्ति नहीं करते हैं। जैसे कोई प्रधानाध्यापक अपनी सज्जनता, मन्द कषाय, औपाधिक क्षणिक पदवियोंमें अनादर आदि कारणोंसे अपने आश्रित अध्यापक, छात्र मंडल या कर्मचारियोंपर स्वकीय पूर्ण प्रभाव नहीं डालता है। भले ही छोटी पदवीवाला प्रबंधक (सुप्रिन्टेन्डेन्ट) छात्रोंपर भारी प्रभाव गांठ लेवें। बात यह है कि गम्भीर प्राणी अपने पूरे प्रभावका व्यय नहीं करते हैं। जो अपने प्रभावोंका अधिकता या अनुचित रूपसे उपयोग करते हैं, वे गम्भीर जीवोंमें निंदाके पात्र होकर छोटे समझे जाते हैं। दूसरोंके उपकार करनेमें अपने प्रभावका भले ही उपयोग किया जाय, किन्तु दूसरोंके निग्रह, अभियोग संचालनमें जो पुरुष जितना भी अपने प्रभावका अल्प व्यय करेगा वह पुरुष उतना ही

उदात्त गम्भीर, महामना, समझा जायगा। हां, साधु अनुग्रह और दुर्जन दण्ड करनेवाले राजवर्गके प्रभुओं (अफसरों) की बात निराली है। देवोंमें ऊपर ऊपर ऐसी निग्रह करानेवाली प्रभुताके उपयोगकी सामग्रीकी भरमार नहीं है।

एवमिह सुखस्य तारतम्यदर्शनात्तेषां सुखेनाधिक्यं । द्युत्या तारतम्यदर्शनादिति द्युत्याधिक्यं । लेश्याविशुद्धेस्तारतम्यदर्शनात्तयाधिक्यं, समानलेश्यानामपि कर्मविशुध्याधिक्यत्वसिद्धेः । इंद्रियविषयस्य तारतम्यदर्शनादिंद्रियविषयेणाधिक्यं । तद्वदवधिविषयेण तथा संभावनायां बाधकाभावात् ।

इसी प्रकार यहां मनुष्योंमें सुखके तारतम्यका दर्शन होनेसे उन कल्प और कल्पातीत देवोंके भी लौकिक सुखों करके अधिकपना सिद्ध कर दिया जाता है। द्युति यानी दीप्ति करके भी यह तारतम्य देखा जाता है। इस कारण आगमगम्य, परोक्ष, देवोंमें इस दृष्टान्तकी सामर्थ्य अनुसार द्युति करके अधिकपना साध दिया जाता है। लेश्याओंकी विशुद्धिका तारतम्य यहां मनुष्य या तिर्यंचोंमें देखा जाता है। इस कारण उस लेश्याविशुद्धि करके अधिकपना देवोंमें सम्भावने योग्य है। " पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु " इस सूत्र द्वारा वैमानिक देवोंमें लेश्याविधि कह दी जायगी. किन्तु जिन देवोंकी लेश्या समान है, उनके भी उत्तरोत्तर प्रस्तारोंमें कर्मोंकी विशुद्धिका अधिकपना सिद्ध है। जैसे कि सौधर्ममें पीत लेश्या है, सानत्कुमार स्वर्गमें भी पीत लेश्या है। तथा आरण, अच्युत, ग्रैवेयक, अनुदिश, अनुत्तर विमानवासी देवोंमें सबके एकसी शुक्ल लेश्या है। फिर भी कर्मोंके मन्द, मन्दतर, मन्दतम, उदय अनुसार लेश्याकी विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ रही है। योंही यहां मनुष्य तिर्यंचोंमें छह इन्द्रियोंके विषयका तरतम भाव देखा जाता है। अतः देवोंमें भी इन्द्रियोंके विषय करके अधिकपना अनुमित हो जाता है। उन्हींके समान देशावधिके अधिक अधिक हो रहे विषय करके तिस प्रकार उत्तरोत्तर अधिक हो रहे देशावधिके विषयभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंकी सम्भावना करनेमें बाधक प्रमाणोंका अभाव है। ' असंभवद्बाधकत्वाद्वस्तुसिद्धिः '।

गत्यादिभिरधिकत्वप्रसंगे तन्निवृत्त्यर्थमाह ।

कोई प्रतिवादी कटाक्ष करता है कि जिस प्रकार स्थिति, प्रभाव, आदि करके ऊपर ऊपर अधिकपना है, उसी प्रकार वैमानिक देवोंमें गति, शरीर, आदि करके भी अधिकपनका प्रसंग प्राप्त हो जायगा ? ऐसी दशामें उस अनिष्ट प्रसंगकी निवृत्तिके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ २१ ॥

गति, शरीर, अवगाहना, परिग्रह और अभिमानसे वे वैमानिक देव उत्तरोत्तर प्रस्तारोंमें हीन हीन होकर विराज रहे हैं।

उभयनिमित्तवशाद्देशांतरप्राप्तिनिमित्तः कायपरिस्पंदो गतिः, शरीरमिह वैक्रियिकमुक्तलक्षणं ग्राह्यं, लोभकषायोदयान्मूर्छा परिग्रहो वक्ष्यमाणः, मानकषायोदयात् प्रतियोगिष्वप्रणतिपरिणामोऽभिमानः। गतिशरीरपरिग्रहाभिमानैर्गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतः उपर्युपरि वैमानिकाः प्रतिकल्पं प्रतिप्रस्तारं च हीनाः प्रत्येतव्याः।

अन्तरंग और बहिरंग दोनों निमित्त कारणोंके वशसे एक देशसे अन्य देशोंकी प्राप्तिका निमित्त हो रही शरीरके परिस्पन्दरूप क्रियाको गति कहते हैं। कार्योंके उपादान तथा अन्तरंग, बहिरंग, प्रेरक, उदासीन, निमित्त ये कारण जब जुड जाते हैं, तब कार्यकी उत्पत्ति हो जाती हैं। आकाशमें गति होनेके उपादान और बहिरंग अन्तरंग निमित्त कारण नहीं हैं। सिद्धक्षेत्रमें विराज रहे सिद्ध परमेष्ठियोंमें गतिका बहिरंग कारण गति नाम कर्मका उदय नहीं है। छातीमें वेग या असवार इन प्रेरक कारणोंके नहीं मिलनेपर घोडा गमन नहीं करता है। उदासीन कारण समान मानी गयी कीलके नहीं होनेसे चाक शीघ्र भ्रमण नहीं कर पाता है। अतः शरीरधारी देवोंकी गतिमें उपादान कारण जीव और शरीर तथा निमित्त कारणोंमें प्रेरक निमित्त छातीके वेग, मनका उत्साह, गति कर्मका उदय ये अन्तरंग हैं। वाहन, विमान, पांव, भूमि आकाश, भ्रमणेच्छा, प्रभुकी आज्ञाका पालन, ये बहिरंग हैं। धर्मद्रव्य, आकाश, उदासीन कारण हैं। यों अन्तरंग, बहिरंग, कारणोंसे देवोंकी गति पर्याय बनती है। यहां देवोंके प्रकरणमें वैक्रियिक शरीर ग्रहण करना चाहिये, जिसका कि लक्षण हम द्वितीयाध्यायमें कर चुके हैं। लोभ कषायके उदयसे संकल्प, विकल्प, स्वरूप मूर्च्छा होकर विषयोंमें आसक्ति हो जाना परिग्रह है। यह मूर्छा स्वरूप परिग्रह स्वयं सूत्रकार द्वारा आगे सातवें अध्यायके ' मूर्च्छा परिग्रहः ' सूत्रमें परिभाषित कर दिया जावेगा। चारित्र मोहनीय कर्मकी उत्तर प्रकृति मान कषायके उदयसे प्रतिस्पर्धा रखनेवालों या साथवाले प्रतियोगी मनुष्योंमें प्रणाम नहीं करना, नहीं दबना, स्वरूप परिणाम अभिमान है। उक्त चार पदोंका द्वन्द्व समासकर पुनः तृतीय विभक्तिके गति शरीर परिग्रहाभिमानों करके इस अर्थमें तसि प्रत्यय कर " गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतः " यह पद बना लेना चाहिये। प्रत्येक कल्प और प्रत्येक प्रस्तारमें ऊपर ऊपर वैमानिक देव इन गति, शरीर, परिग्रह, और अभिमान करके हीन हो रहे समझ लेने चाहिये। यह सूत्रका मूल अर्थ है।

कुतस्ते तथेत्याह।

वे वैमानिक देव भला किस कारणसे ऊपर ऊपर तिस प्रकार गति आदिक करके हीन हो रहे हैं ? बताओ, इस प्रकार आकांक्षा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्त्तिक द्वारा समाधान वचनको कहते हैं।

उपर्युपरि ते हीना गत्यादिभिरसंभवात् ।
तत्कारणप्रकर्षस्य परिणामविशेषतः ॥ १ ॥

गति, शरीर, आदिकों करके वे देव ऊपर ऊपर हीन हो रहे हैं (प्रतिज्ञा) । क्योंकि ऊपर ऊपर तिस जातिके परिणाम विशेष होते रहनेसे उन गति आदिकोंके कारणोंकी प्रकर्षताका असम्भव है (हेतु) । अर्थात्-पूर्वजन्ममें उपात्त शुभ कर्मोंके अनुसार विशुद्धिका अध्यवसाय बढता बढता रहनेसे और अत्यल्प संक्लेशमात्र होनेसे वैमानिक देव सामर्थ्य, सुख, सन्तोष, आदिके अधिक होनेपर भी गति आदि करके हीन हैं ।

गत्या तावदुपर्युपरि हीना देवास्तत्कारणस्य विषयाभिष्वंगोद्रेकस्य हीनत्वात् तथा परिणामेनोत्पत्तेः । शरीरेणापि हीनास्तत्कारणस्य प्रवृद्धशरीरनामकर्मोदयस्य हीनत्वात् । सौधर्मैशानयोर्देवानां शरीरं सप्तारत्निप्रमाणं, सानत्कुमारमाहेंद्रयोररत्निहीनं कापिष्ठांतेषु, ततोपि सहस्रारांतेष्वरत्निहीनं, ततोप्यानतप्राणतयोरर्धारत्निहीनं, ततोप्यारणाच्युतयोः, ततोप्यधोग्रैवेयकेषु, ततो मध्यग्रैवेयकेषु, ततोप्युपरिमग्रैवेयकेष्वनुदिशविमानेषु च, ततोनुत्तरेषु तत्रारत्निमात्रत्वाद्देवशरीरस्येति हि श्रुतिः ।

सबसे प्रथम कही गयी गति करके तो ऊपर ऊपरके देव हीन हो रहे हैं । क्योंकि उस गतिके कारणभूत हो रही विषयोंमें तीव्र आसक्तिकी अधिकता (चाव) के हीन हीन होनेसे तिस प्रकार अल्प गति परिणाम करके वैमानिकोंकी देव पर्याय उपजती रहती है । अर्थात्-क्रीडा, गमनविनोद (सैल सपाटा) करनेके लिये सौधर्म, ऐशान, स्वर्गके देव जितना यहां वहां असंख्याते द्वीप समुद्रोंमें बार बार गमन करते हैं, उतना ऊपर ऊपरके देव यहां वहां नहीं घूमते फिरते हैं । विनोदकी बात दूर है । धार्मिक क्रियाओंके लिये भी ऊपर ऊपरके देव अत्यल्प आते जाते हैं । वैमानिक अहमिन्द्र देव तो नन्दीश्वर पर्व पूजा, सुमेरु चैत्यालय पूजन, जिन जन्म महोत्सव आदिमें भी वहां नहीं आते जाते हैं । गतिके समान ही शरीर करके भी वैमानिक देव ऊपर ऊपर हीन हैं । क्योंकि उस लम्बे, चौडे, मोटे, शरीरके कारणभूत शरीर नामक नामकर्मकी उत्तरोत्तर प्रकृति हो रही ' प्रवृद्ध शरीर ' संज्ञक नामकर्मके उदयकी हीनता है । अर्थात्-- महामत्स्य, हाथी, छठवें सातवें नरकके नारकी, भोगभूमियां, नन्दीश्वर द्वीपकी वावडियोंके कमल, बारह योजनका शंख, स्वयंप्रभपर्वतके बाह्य भागमें पाये जा रहे उत्कृष्ट अवगाहनाके त्रस जीव, इन स्थूल अवगाहनावाले जीवोंके देहविपाकी शरीर प्रकृतिकी विशेष भेद हो रही प्रवृद्धशरीर नामक प्रकृतिका उदय विद्यमान है । किन्तु वैमानिक देवोंके प्रवृद्ध शरीर नाम कर्मका उदय नहीं है, किन्तु ' क्षुल्लक शरीर ' संज्ञक नाम कर्मका उदय है । शरीर प्रकृतिके अवगाहनाओंके भेद अनुकूल असंख्याते भेद हैं । वैमानिकोंमें उत्तरोत्तर छोटे छोटे हो रहे शरीरोंके अन्तरंग कारण वैसी वैसी स्तोक शरीर प्रकृतिका उदय पाया जा रहा

है। तदनुसार सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंमें देवोंका शरीर सप्त अरत्नि प्रमाण है। 'प्रकोष्ठे विस्तृतकरे हस्तो मुष्ट्या तु बद्धया। स रत्निः स्यादरत्निस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिना' इस अमरकोष अनुसार कोनीसे लेकर पसारी हुई छोटी अंगुलीतक अरत्नि नामका नाप है। कपडे, भीत, आदिके नापमें बहुत स्थानोंपर इतने ही हाथका उपयोग प्रचलित है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गोंमें एक हाथ हीन यानी छह हाथ प्रमाण लम्बा शरीर है। उन माहेन्द्र देवोंसे भी ऊपर ब्रम्हलोक, ब्रह्मोत्तर, और कापिष्ठ पर्यन्त देवोंमें एक हाथ हीन यानी पांच हाथ परिमाण ऊंचा शरीर है। उनसे भी ऊपर सहस्रार पर्यन्त शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार इन चार स्वर्गोंमें देवोंका एक अरत्नि हीन यानी चार हाथ ऊंचा शरीर है। उससे भी ऊपर आनत प्राणत, स्वर्गोंमें आधा अरत्नि हीन अर्थात्-साढे तीन हाथका शरीर है। उससे भी ऊपर आरण अच्युत स्वर्गोंमें आधा अरत्नि हीन यानी तीन हाथका शरीर है। उस अच्युतसे भी ऊपर तीन अधो ग्रैवेयकोंमें आधा अरत्नि कम यानी ढाई हाथ लम्बा शरीर है। उससे भी ऊपर तीन मध्य ग्रैवेयकोंमें आधा हाथ कम अर्थात्-दो हाथ ऊंचा शरीर है। उन मध्यग्रैवेयकोंसे भी ऊपर ऊपरले तीन उपरिम ग्रैवेयकोंमें और तदुपरि नौ अनुदिश विमानोंमें यों बारह स्थानोंपर देवोंका डेढ हाथ प्रमाण ऊंचा शरीर है। उन अनुदिशोंसे ऊपरले वहां अनुत्तर विमानोंमें देवोंका शरीर केवल एक अरत्नि (हाथ) प्रमाण ऊंचा है। यों आप्तोक्त सिद्धांत शास्त्रों द्वारा सुना जा रहा है।

परिग्रहेणापि विमानपरिवारादिलक्षणेन हीनाः तत्कारणस्य प्रकृष्टस्याभावात्। सौधर्मादिषु हि देवानामुपर्युपरि नामकर्मविशेषोल्पाल्पतराल्पतमविमानपरिवारहेतुरंतरंगो बहिरंगस्तु क्षेत्रविशेषादिरिति कारणापकर्षतारतम्यात् कार्यापकर्षतारतम्यसिद्धिः।

विमान संख्या, सामानिक आदि परिवार, सेना, भूषण, वाहन आदि स्वरूप परिग्रह करके भी वैमानिक देव ऊपर ऊपर हीन हो रहे हैं। क्योंकि उस परिग्रहके कारणभूत होरहे मध्यमजातीय पुण्यके प्रकर्षका अभाव है। अर्थात्-दरिद्र पुरुषोंके तीव्र पापका उदय होनेसे सुखोपयोगी परिग्रह नहीं मिल पाता है। परिस्थितिवश अल्पसंतोषी पुरुषोंके या जघन्य भोगभूमियोंके जघन्यपुण्यका उदय होनेसे सुखोत्पादक थोडा परिग्रह एकत्रित हो जाता है। मध्यम जातिके पुण्य अनुसार राजा, महाराजाओं, भवनत्रिक देव, सौधर्म स्वर्गी आदिके अत्यधिक परिग्रह जुड रहा है। किंतु उत्तम जातीय पुण्यका उदय होनेसे ऊपरले देव या अहमिंद्र अथवा उत्तम भोगभूमि के जीवों के अत्यल्प परिग्रह है। कारण कि सौधर्म आदि मे देवोंके ऊपर ऊपर अल्प विमान परिवार आदि का हेतु हो रहे और अल्पतर विमान परिवार आदि का हेतु हो रहे तथा उससे भी थोडे अल्पतम विमान परिवार आदि परिग्रह के हेतु हो रहे विशेष नामकर्म का उदय यह अन्तरंग कारण विद्यमान है और सौधर्म स्वर्ग, आनत, प्राणत, ग्रैवेयक, अनुत्तर ये क्षेत्रविशेष ऊपर ऊपर अल्पकषाय, लौकिकभावोंकी त्रुटि आदिक तो परिग्रह की हीनता में बहिरंग कारण हैं। इस प्रकार अन्तरंग कारण और बहिरंग कारणों के अपकर्षका ऊपर ऊपर तरतम भाव होने से परिग्रह जुड जाना स्वरूप कार्य के तरतम द्वारा होरहे अपकर्ष की सिद्धी

होजाती है अर्थात् ऊपर ऊपर देवों के लोभ कषाय का मन्द, मन्दतर मन्दतम, उदय है तथा अल्प अल्पतर, अल्पतम परिच्छदों के कारण उन उन स्तोक, स्तोकतर, स्तोकतम, विशिष्ट पुण्य प्रकृतियों के उदय अनुसार वैसे वैसे कार्य होजाते हैं।

कुतोभिमानेन हीनास्ते ? तत्कारणप्रकर्षस्याभावादेव । किं पुनरभिमानकारणं ? शरीरिणामप्रतनुकषायत्वं मनसः संक्लेशोवधिशुद्धिविरहाद्वतत्वावलोकनमसंवेगपरिणामश्च तस्य हानितारतम्यादुपर्युपरि देवानामभिमानहानितारतम्यं तत्पुनरभिमानकारणस्य हानितारतम्यं तत्प्रतिपक्षभूतानां प्रतनुकषायत्वाल्पसंक्लेशावधिविशुद्धितत्वावलोकनसंवेगपरिणामाधिक्यानां तारतम्यादुपपद्यते पूर्वजन्मोपात्तविशुद्धाध्यवसायप्रकर्षतारतम्यादुपर्युपरि तेषामुपपादस्य घटनाच्च ।

वे वैमानिक देव अभिमान से हीन होरहे भला किस कारण से हैं ? इस प्रश्नपर ग्रन्थकार उत्तर देते हैं कि उस अभिमान के कारणभूत कषायों के प्रकर्ष का अभाव होजाने से ही वे अभिमानहीन हैं। फिर कोई पूछता है कि अभिमानका कारण क्या है ? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि शरीरधारी जीवों का अत्यल्प कषायों से रहितपना मन का संक्लेश, अवधिज्ञान की विशुद्धि की विकलता होजाने से तात्त्विकदृष्टि द्वारा यथार्थतत्त्वों का अवलोकन नहीं होना, स्वकीय परिणामों में संवेग या वैराग्य भाव नहीं जगना, ये सब अभिमान के कारण हैं। गर्व के उन कारणों की हानिका तरतम भाव होने से ऊपर ऊपर देवों के अभिमान की न्यूनता का तरतम भाव सध जाता है। वह अभिमान के कारणों की हानिका तरतमभाव तो फिर उसके प्रतिपक्षभूत होरहे विशेष सूक्ष्मकषाय यानी मन्दकषाय परिणाम, अल्प संक्लेश, अवधि ज्ञान की विशुद्धि, वास्तविक जीव आदि तत्त्वों का अवलोकन, गर्व, क्रोध, आदि विभाव परिणामों के औपाधिकपने पर पहुंचकर ज्ञप्ति कर लेना, संसारभीरुता या लौकिक कार्यों में निरुत्साह, अविरूप परिणाम इनकी अधिकता के तारतम्य से बन जाता है। क्योंकि पूर्व जन्मों में पुरुषार्थ द्वारा गृहीत हुये विशुद्ध अध्यवसायों की प्रकर्षता के तारतम्य से ऊपर ऊपर स्थानों में उन देवों का उत्पाद घटित होरहा है। भावार्थ--सौधर्म से ऊपर ग्रैवेयकतक भले ही वे देव सम्यग्दृष्टि होय चाहे मिथ्यादृष्टि होय, उनके कषायों की मन्दता या अल्प संक्लेश आदि हेतु पाये जा सकते हैं। वर्तमान में भी अनेक अजैन विचारे कतिपय जैनों की अपेक्षा मन्दकषाय देखे जाते हैं। प्रधानाध्यापकपन, सेठियापन, जमीदारी, राज्याधिकार, राजपदवियाँ, चौधरायत, पंचपना, सुन्दरता, जातिगर्व, ज्ञानमद, तपस्या आदि का गर्व जब कि दूसरे दूसरे मनुष्यों में अत्यल्प पाया जाता है किन्तु स्वयं को धर्मात्मापनका गर्व कररहे किसी किसी व्यक्ति में उन पदों का अभिमान चकाचक भर रहा है। अल्प संक्लेश भी मिथ्यादृष्टियों के पाया जाता है। समीचीन अवधिज्ञान द्वारा जैसे विशुद्धि होती है विभंग द्वारा भी विलक्षण जाति की विशुद्धि होना सम्भव है अनेक अजैन साधुओं में कुश्रुतज्ञान द्वारा होरही विशुद्धि इसका दृष्टान्त है। इसी प्रकार तत्वावलोकन भी समझलिया जाय। ग्यारह अंग नौ पूर्वपाठी मिथ्यादृष्टि के ज्ञानसे एक अक्षरको भी शुद्ध नहीं बोलने समझनेवाले सम्यग्दृष्टि के तत्वावलोकन को ज्ञानदृष्टचा हीन कहने में लज्जा

क्या है ? सम्यग्दर्शन के बिना भी यथोचित तत्त्वोंका आलोचन होसकता है, भले ही उसको औपाधिक सम्यग्ज्ञान नहीं कहो । इसी प्रकार संसार से भीति कराने वाले संवेग परिणाम मिथ्यादृष्टि के भी होसकते हैं । रूप,धन, विद्या, कुल, बलके अभिमान, को सहस्रों अजैन कुचल डालते हैं । क्रोध, गर्व, ये सब औपाधिक भाव हैं, दुःखकारण हैं, इन सब बातों को सैंकडों फकीर, भिक्षुक आदिक समझते हुये गारहे हैं । लाखों अजैन साधु संवेगवश अभिमानके कारणों को लात मारते हुये मन्दकषाय, अल्प संक्लेश, आत्मविशुद्धि, तत्त्वपर्यालोचना, संवेग, वैराग्य परिणामों को धाररहे बनों या पर्वत, गुफाओं, में निवस रहे हैं । अतः ऊपर ऊपर के देव चाहे सम्यग्दृष्टि होंय अथवा मिथ्यादृष्टि होंय, परिग्रह और अभिमानसे हीन हीन होरहे हैं । नौ अनुदिश और पांच अनुत्तरों में तो सम्यग्दृष्टि ही हैं । उनकी परिग्रहहीनता और अभिमानहीनता के अन्तरंग कारण मन्दकषायपन आदि को सुलभतासे समझाया जा सकता है । श्रद्धालु जैन या भक्त पुरुषों के प्रति इसमें अधिक युक्तियों के दिखलाने की आवश्यकता नहीं है । मन्द कषाय होने से अल्पसंक्लेश होता है । अल्प संक्लेश से विशुद्ध अवधि उपजती है। उससे ऊपर ऊपर देव शारीरिक,मानसिक, दुःखों से घेरे जारहे असंख्य नारकी तिर्यंच या मनुष्यों को तात्त्विक रूप से देखते हैं । उसको निमित्त पाकर संवेग परिणाम होता है । उस संवेगसे अनन्त दुःख के हेतु परिग्रहोंमें अभिमान नष्ट होजाता है । यों उक्त पदों की एक वाक्यता करली जाती है ।

कथं पुनरुपर्युपरिभावो वैमानिकानां संगच्छत इत्याशंकायामिदमाह ।

कोई प्रतिवादी पण्डित आशंका उठाता है कि वैमानिक देवों का फिर ऊपर ऊपर उपपाद जन्म होना भला किस प्रकार संगत होजाता है ! ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री. विद्यानन्द स्वामी समाधानार्थ उत्तर वार्त्तिक को कहते हैं ।

स्थित्यादिभिस्तथाधिक्यस्यान्यथानुपपत्तितः । नोपर्युपरिभावस्य तेषां शंकेति संगतिः ॥ २ ॥

स्थिति, प्रभाव, आदि करके तिस प्रकार अधिकपन की अन्यथा यानी ऊपर ऊपर उपपाद के बिना अन्य प्रकारों से सिद्धि नहीं होसकती है । अतः उन वैमानिक देवों के उक्त ऊपर ऊपर स्वर्गों, पटलों या कल्पातीत विमानों में उपपाद जन्म लेनेकी शंका नहीं करनी चाहिये अर्थात् इस प्रकार यहां विशुद्ध परिणामों को निमित्त पाकर हुये पुण्यकर्म भेदोंके अनुसार देव ऊपर ऊपर उपज जाते हैं । स्थिति, प्रभाव, आदि की अधिकता होनेसे ही देवों में ऊपर ऊपर गति शरीर, आदि की हीनता स्वयमेव सिद्ध होजाती है । जैसे कि किसी धर्मात्मा पुरुष में जिनेन्द्रभक्ति, दयाभाव, व्रतपालन, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, आचरण, की वृद्धि होते संते स्वयं वहां यहां व्यर्थ गमन, शरीरवृद्धि, परिग्रह अहंकार इन की त्रुटि निर्णीत होजाती है । सम्यग्दर्शन, सदाचार आदि गुणों की अधिकता से सज्जन पुरुषों में उस पुरुष की उत्तरोत्तर ख्याति बढती है । अथवा देश में सुराज्य होने पर सुभिक्षा, शिक्षा, नीरोगता, समृद्धि, वाणिज्य

स्वात्मगौरव आदि की वृद्धि होते हुये विना ही प्रयत्न के दरिद्रता, पराधीनता, पद पद पर अपमान सहना, दुर्भिक्ष आदि की हानि होजाती है। यों पूर्वापर सूत्र वाक्यों की संगति कर लेनी चाहिये।

पूर्वजन्मभाविस्वपरिणामविशेषविशुद्धितारतम्योपात्तशुभकर्मविशेषप्रकर्षतारतम्यात् स्थित्यादिभिराधिक्यं तावद्वैमानिकानां सूत्रितं सर्वथा बाधकविधुरत्वात्तदन्यथानुपपत्त्या च तेषामुपर्युपरिभावस्य संगतिः। पूर्वजन्मभाविस्वपरिणामविशेषविशुद्धितारतम्योपात्तशुभकर्मतारतम्यात् स्थित्यादिभिराधिक्यस्य दर्शनात्, क्षीणान्यथानुपपत्तिरिति चेन्न, तदाधिक्यविशेषस्य तेषामुपर्युपरिभावेनान्यथानुपपत्तिसिद्धेः।

पूर्व जन्म मे होनेवाले स्वकीय परिणाम विशेषों की विशुद्धि के तरतमभाव करके उपार्जित किये गये शुभ पुण्य कर्म विशेषों की प्रकर्षता के तारतम्य से स्थिति, प्रभाव, आदि कों करके वैमानिक देवों का अधिकपना तो सूत्रकार द्वारा पूर्व सूत्र में सूचित कर दिया गया ठीक है। क्योंकि बाधक प्रमाणों की सभी प्रकारों से विकलता होजाने के कारण उन स्थिति आदिकों करके अधिकपना वस्तुतः सिद्ध होजाता है। और उस स्थिति आदि के अधिकपन की अन्यथानुपपत्ति करके उन देवों के ऊपर ऊपर उपपाद लेने की निःशंक संगति होजाती है। यहां कोई आक्षेप करता है कि पूर्व जन्ममें हो चुके स्वकीय परिणामविशेषों की विशुद्धि के तारतम्य अनुसार उपार्जित किये गये शुभ पौद्गलिक कर्मों के उदय की तरतमता से स्थिति आदि करके अधिकपना देखा जाता है। अतः अन्यथानुपपत्ति क्षय को प्राप्त हो चुकी समझनी चाहिये अर्थात् स्थिति आदि के आधिक्य का शुभपरिणामों द्वारा उपात्त किये गये शुभकर्मों के तारतम्य के साथ अविनाभाव है। स्थिति आदि की अधिकता का देवों के ऊपर ऊपर जन्म होने के साथ अविनाभाव नहीं है। ऐसी अविनाभावविकलदशा में उस पूर्वसूत्रोक्त स्थिति आदि के आधिक्य से वैमानिक देवों का ऊपर ऊपर उपपाद सिद्ध नहीं हो सकता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उन स्थिति आदिकों के अधिकपन स्वरूप विशेष की उन देवों के ऊपर ऊपर उपपाद होने के साथ अन्यथानुपपत्ति सिद्धि होरही है। यहां भी निजपुण्य अनुसार कुलीनता, अधिक स्थिति, ऊंचा प्रभाव, विशिष्ट सुख, सुन्दर कान्ति, उत्तम लेश्या, वाले पुरुष उच्च स्थानों में जन्म लेते हैं। पुण्यशाली, धर्मात्मा श्रावक, या मुनियों में तो गति, शरीर परिग्रह और अभिमानकी हीनता भी देखी जाती है। अतः कारिका मे कही गयी अन्यथानुपपत्ति निर्बल नहीं है।

अथाद्येषु त्रिषु निकायेषु लेश्याविधानमुक्तं वैमानिकनिकाये संप्रत्युच्यते।

आदि की भवनवासी, व्यन्तर,ज्योतिष्क इन तीन निकायों में लेश्या का विधान सूत्रकार करके "आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः, इस सूत्र द्वारा पहिले कहा जा चुका है। अब प्रकरण अनुसार चौथी वैमानिक निकाय में लेश्या का विधान सूत्रकार द्वारा इस समय कहा जाता है।

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥२२॥

दो, तीन, और शेषयुगलों में पीत, पद्म, और शुक्ल लेश्या को धारनेवाले देव निवास कर रहे विराजते हैं। अर्थात् सौधर्म ऐशान और सनत्कुमार माहेन्द्र इन दो युगलों में पीत लेश्या है। ब्रह्मब्रह्मोत्तर, लांतव कापिष्ठ, शुक्र महाशुक्र, इन तीन युगलों में पद्मलेश्या है। और शेष ऊपर के विमानों में देवोंके शुक्ललेश्या है।

ननु च पूर्वमेतद्वक्तव्यं तत्र पुनर्लेश्याभावात् सूत्रस्य लाघवोपपत्तेः "आदितस्त्रिषु पीतांत-लेश्याः,, ततः " पीतपद्मशुक्ला द्वित्रिशेषेष्विति,, । तदसत्, तत्र सौधर्मादिग्रहणे सूत्रगौरवप्रसं-गादग्रहणेऽभिसंबंधानुपपत्तेः संक्षेपार्थमिहैव वचनोपपत्तेः ।

यहां कोई पण्डित आक्षेप करता है कि इस सूत्र को पहिले ही कहना चाहिये था। वहां लेश्या शब्द विद्यमान है। फिर लेश्या शब्दके नहीं उपादान करने से सूत्रका लाघव गुण बन जाता है। देखो, आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः, आदि से तीन निकायों में पीत पर्यंत लेश्या वाले देव हैं। इस सूत्र के लगे हाथ ही उससे पीछे " पीतपद्मशुक्लाद्वित्रिशेषेषु, यों सूत्र बनाकर पुनः लेश्या शब्द नहीं देना पड़ा। अतः गुणकृत और परिमाणकृत लाघव सेंत मेंत प्राप्त होजाता है। ग्रन्थकार कहते हैं वह आक्षेप करना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि वहां तीसरे सूत्र से आगे ही सौधर्मैशान आदि वैमानिकों के प्रतिपादक लम्बे सूत्रका निरूपण कर देनें पर सूत्र के गौरव दोष का प्रसंग होता है। यदि सौधर्मैशान आदि सूत्रका वहां तीसरे, चौथे, सूत्र के अवसर पर कण्ठोक्त उपादान नहीं किया जायगा तो लाघवार्थ वहां किये जाने योग्य " पीतपद्मशुक्ल लेश्या द्वित्रिशेषेषु " इसका ठीक ठीक सम्बन्ध कर देना नहीं बनसकेगा। इस कारण बढ़िया संक्षेप के लिये सौधर्म ऐशान आदि का निरूपण करचुकने पर यहां ही संक्षेप के लिये इस सूत्र का निरूपण करना सधता है। वस्तुतः विचारा जाय तो आक्षेपकार की अपेक्षा सूत्रकार को संक्षेपविधान का अधिक लक्ष्य है। अतिथिको सम्पूर्ण मिष्ट भोजनों का आद्य बीज समझाते हुये पोंडे की एक पमोली परोस देने से उसकी अनेक स्वादपूर्वक क्षुधानिवृत्ति नहीं होजाती है। तथा सभी प्रकार के वस्त्रों का मूल कारण बिनौलेको दे देने से जामाता का शरीराच्छादन पूर्वक शोभा बढ़ाते हुये शीतबाधा निवारण नहीं होसकता है। ऐसा लाघव भी ओछेपन का सम्पादक है।

पीतपद्मशुक्लानां द्वंद्वे पीतपद्मयोरौत्तरपदिकं ह्रस्वत्वं द्रुतायान्तपरकरणान्मध्यमविलं-बितयोरुपसंख्यानमित्याचार्यवचनदर्शनात् मध्यमाशद्वस्य विलंबितोत्तरपदे द्वंद्वेपि ह्रस्वत्वसिद्धेः। ततः पीतपद्मशुक्ललेश्याः येषां देवानां ते पीतपद्मशुक्ललेश्या इति द्वंद्वपूर्वान्यपदार्था वृत्तिः।

पीता च पद्मा च शुक्ला च यों पीता और पद्मा तथा शुक्ला पदों का इतरेतर द्वन्द्व-समास करने पर पीता और पद्मा पदों का उत्तरपद की अपेक्षा ह्रस्व होना बन जाता है। अतः द्वन्द्व समास में पुंवद्भाव नहीं होसकने का कटाक्ष नहीं करना चाहिये। जैसे कि संवीत

शास्त्र में आचार्य का यह वचन देखा जाता है कि द्रुता यानी शीघ्रता की मात्रा होनेपर तपर करने से मध्यम और विडम्बिता का सूत्रमार्ग से बाहर उपरिष्टात् वैसा ही कथन कर देना चाहिये। अतः मध्यमा शब्द का विडम्बिता इस उत्तर पद के परे रहते सन्ते द्वन्द्व में भी ऱ्हस्व होना सिद्ध है। भावार्थ–द्रुतमात्रा मध्यमात्रा और विलम्बितमात्रा यानी शीघ्र बोली गयी या मध्यम रूप से बोली गयी और विलम्ब से बोली गयीं मात्रायें " द्रुतमध्यमविलम्बिता मात्रा कही जाती हैं। यहाँ उत्तर पद की अपेक्षा स्त्रीलिंग द्रुता और मध्याशब्द को समास कर चुकने पर ऱ्हस्व होजाता है। आज कल के इन पश्चात् भावी पुरुषों को शब्दशास्त्र अनुसार साधु शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। किन्तु व्याकरण के नियम पूर्वआचार्यों के वचन अनुसार बनाने चाहिये। भले ही व्याकरण में कोई सूत्र नहीं मिले, ऐसी दशामें ऋषियोंके केवल वाक्य पद्धति अनुसार उपसंख्यान कर लिया जाता है अर्थात् "तपरस्तत्कालस्य,, अत इत् उत् इनसे केवल अकार इकार उकारका ही बोध हो सकता है। इस नियम अनुसार द्रुता मात्रा में तपर करने पर द्रुता को ही शीघ्र बोल सकते हैं। मध्या और विलम्बिता का शीघ्र उच्चारण नहीं कर सकोगे। किन्तु गाने की अवस्थामे शीघ्र शीघ्र उच्चारण करते हुये तपर करने पर मध्यमा और विडम्बिता मात्राओं का भी शीघ्र उच्चारण कर लेना चाहिये। तभी राग या रागिनी ठीक गाये जा सकेंगे। तिस कारण पूर्व पदों को ऱ्हस्व होजाने से " पीतपद्मशुक्ललेश्याः ,, यह द्वन्द्व समासान्त पद बन जाता है। जिन देवों के पीतपद्मशुक्ललेश्यायें पायीं जाती हैं, वे देव पीत-पद्मशुक्ल लेश्यावाले हैं। इस प्रकार पूर्व में सर्व पदार्थ प्रधान द्वन्द्व नामक समास वृत्ति कर चुकने पर पुनः अन्य पदार्थ को प्रधान करने वाली बहुव्रीहि वृत्ति कर ली गयी है। यहां यह भी कहना है कि " पूज्यापादा वृत्तिकारास्तु अथवा पीतश्च पद्मश्च शुक्लश्च पीत-पद्मशुक्लाः वर्णवन्तोऽर्थाः तेषामिव लेश्या येषां ते पीतपद्मशुक्ललेश्या इत्याहुः " इन पुल्लिंग शब्दों द्वारा वाच्य होरहे पीतपद्म और शुक्ल वर्णवाले किन्ही किन्हीं पदार्थोंकीसी लेश्या जिन वैमानिक देवों की है, वे पीतपद्मशुक्ललेश्यावाले देव हैं। सर्वार्थसिद्धिकार यों द्वन्द्व गर्भित बहुब्रीहि समास करके ऱ्हस्व करनेके झगडे को ही मिटा देते हैं। उपमान, उपमेय का वाचक कोई विशिष्ट शब्द नहीं होने से ग्रन्थकार को उक्त विग्रह करने में अस्वरस प्रतीत होरहा है।

द्वित्रिशेषेष्वित्यधिकरणनिर्देशाद्व्याविकल्पादीनामाधारत्वसिद्धेः।

"द्वित्रिशेषेषु" यानी दो तीन और शेष वैमानिकों में इस प्रकार सप्तमी विभक्ति वाले अधिकरणका सूत्रकार द्वारा निर्देश कर देने से दो आदि कल्प और आदि पदसे ग्रहण किये गये ग्रैवेयक आदि कल्पातीतों के आधारपन की सिद्धि होजाती है। अर्थात् ऊपर ऊपर कल्प आदि में रहने वाले देव दो, तीन, शेष, अधिकरणों में पीत आदि लेश्या वाले हैं।

कथं पुनः पीतादयो लेश्यास्तदाधेयानां देवानां विज्ञेया इत्यावेदयते ।

फिर उन कल्प और कल्पातीत अधिकरणों के आधेयभूत होरहे देवों के भला पीत आदि लेश्यायें हैं, यह किस प्रकार प्रमाण द्वारा समझ लेना चाहिये ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्रीविद्यानन्द आचार्य करके अग्रिमवार्तिक में समाधान का निवेदन किया जा रहा है ।

लेश्याः पीतादयस्तेषां सूत्रवाक्यप्रभेदतः ।
प्रत्येतव्याः प्रपंचेन यथागममसंशयं ॥ १ ॥

उन चौथी निकाय के वैमानिक देवों के पीतादि लेश्यायें हैं । इस सिद्धान्त की आगम मार्ग का अतिक्रमण नहीं कर उक्त सूत्र के वाक्यों का प्रभेद कर देने से विस्तृतरूप करके संशयरहित प्रतीति कर लेनी चाहिये अर्थात् दो दो, तीन तीन, शेष शेष, यों उक्त सूत्र से कतिपय वाक्यों का उपप्लव कर आम्नाय अनुसार देवों के लेश्या का विधान कर लेना चाहिये ।

द्वयोः सौधर्मैशानयोः सानत्कुमारमाहेंद्रयोश्च पीतलेश्याः द्वयोर्ब्रह्मलांतवकल्पयोः शुक्रशतारकल्पयोश्च पद्मलेश्याः द्वयोरानतप्राणतयोरारणाच्युतयोश्च शुक्ललेश्याः, त्रिष्वधोग्रैवेयकेषु त्रिषु मध्यमग्रैवेयकेषु त्रिषूपरिग्रैवेयकेषु च शुक्ललेश्याः । शेषेष्वनुदिशेषु पंचस्वनुत्तरेषु च शुक्ललेश्या इति सूत्रवाक्यप्रभेदतः प्रत्येतव्याः ।

प्रथम ही "द्वि शब्द का पीत पद्म और शुक्ल इन तीन स्थानों के साथ तीन बार कथन कर यों भिन्न भिन्न वाक्यों को बनालो कि "द्वयोः पीतलेश्याः" दो युगलों में यानी सौधर्म और ऐशान तथा सानत्कुमार और माहेन्द्रकल्पों में बस रहे देव पीतलेश्यावाले हैं । फिर "द्वयोः पद्मलेश्याः" दो में अर्थात् दो इन्द्र युगलों द्वारा अधिकृत कल्पों की अपेक्षा दो में यानी ब्रम्हब्रम्होत्तर स्वर्ग वाले ब्रम्हकल्प में और लांतव कापिष्ठ स्वर्ग वाले लांतव कल्प में इसी प्रकार इन्द्र अपेक्षया शुक्र महाशुक्र स्वर्गवाले शुक्र कल्प या शुक्र इन्द्र अधिकृत जीवों और शतार, सहस्रार, स्वर्ग वाले शतार कल्प में इन दो में पद्म लेश्याधारी देव निवास करते हैं । पुनः 'द्वयोः शुक्ललेश्याः" अर्थात् आनत प्राणत तथा आरण और अच्युत इन दो युगलों में देव शुक्ललेश्यावाले हैं । अब त्रि शब्द की केवल शुक्ललेश्या के साथ तीन बार आवृत्ति कर यों न्यारे न्यारे तीन वाक्य बनालो । " त्रिषु शुक्ललेश्याः " यानी तर ऊपर तीन निचले ग्रैवेयकों में देवों के शुक्ललेश्या है । और "त्रिषु शुक्ललेश्याः " यानी तर ऊपर बने हुये तीन मध्यम ग्रैवेयकों में इनसे कुछ अच्छे शुक्ललेश्याः वाले देव हैं तथा " त्रिषु शुक्ललेश्या " अर्थात् तर ऊपर बने हुये तीन उपरिम ग्रैवेयकों में इस शुक्ललेश्या से कुछ अच्छी शुक्ललेश्या को धारनेवाले देव हैं । अथानन्तर शेष शब्द का शुक्ललेश्या के साथ दो बार आवृत्ति कर शेष नौ अनुदिशविमानोंमें और शेष पांच अनुत्तर विमानों में निवास कर रहे देव शुक्ललेश्या वाले

हैं। यों अर्थ कर लेना चाहिये। इस प्रकार सूत्र वाक्यों के आठ प्रभेद कर देने से वार्तिकोक्त प्रतिज्ञा अनुसार प्रतीति कर लेने योग्य अर्थ निकल आता है।

चतुश्चतुःशेषेष्विति वक्तव्यं स्पष्टार्थमिति चेत् न, अविशेषेण चतुर्षु माहेंद्रांतेषु पीतायाः प्रसंगात् चतुर्षु च सहस्रांतेषु कल्पेषु पद्मायाः प्रसक्तेः शेषेषु चानतादिषु शुक्ललेश्यायाः समनुषंगात् तथा चार्षविरोधः स्यात्। तत्र हि सौधर्मैशानयोः देवानां पीता लेश्येष्यते, सानत्कुमारमाहेंद्रयोः पीतपद्मा, ततः कापिष्ठांतेषु पद्मा, ततः सहस्रारांतेषु पद्मशुक्ला, ततोऽच्युतांतेषु शुक्ला: ततः शेषेषु परमशुक्लेति।

कोई पण्डित यहाँ अपनी भोली बुद्धि अनुसार कह रहे हैं कि सूत्रकार को "पीतपद्मशुक्ललेश्याश्चतुश्चतुः शेषेषु" इस प्रकार स्पष्ट अर्थ का प्रतिपादक सूत्र कह देना चाहिये। चार स्वर्गों में पीत लेश्या और चार में पद्म लेश्या तथा शेष स्थानोंपर शुक्ललेश्या को धारने वाले देव हैं। यों अर्थकी स्पष्ट प्रतीति करा दी जा सकती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यों सूत्र गढनेपर तो सामान्यरूपसे माहेंद्र पर्यन्त चार स्वर्गों में पीत लेश्या पाये जाने का प्रसंग आवेगा और सहस्रार पर्यन्त आठ स्वर्गों में किन्तु इन्द्र अपेक्षा ब्रम्ह ब्रम्होत्तर लान्तव कापिष्ट, शुक्र महाशुक्र, शतार सहस्रार इन चार कल्पोंमें पद्म लेश्या होने का प्रसंग आवेगा तथा इन से ऊपर के शेष आनत आदि तेरह पटलों में शुक्ल लेश्या का भले प्रकार प्रसंग बन बैठेगा और तिस प्रकार इन तीन अनिष्ट प्रसंगों के लग जानेसे आम्नाय अनुसार चले आरहे ऋषि प्रोक्त सिद्धान्त से विरोध ठन जायगा। क्योंकि उस आर्ष सिद्धान्त में सौधर्म और ऐशान में रहनेवाले देवों के पीतलेश्या इष्ट की गयी है। तथा सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गों में पीत लेश्या और पद्मलेश्या मानी गयी हैं। उन से ऊपर कापिष्ठ पर्यन्त चार स्वर्गों में पद्म लेश्या है। इनके ऊपर सहस्रार पर्यन्त चार स्वर्गोंमें पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या अभीष्ट की गयीं हैं। उनसे ऊपर अच्युत पर्यन्त स्वर्गों में शुक्ल लेश्या बखानी हैं। तथा उन सोलह स्वर्गोंसे भी ऊपर शेष ग्रैवेयक, अनुदिश, और अनुत्तर यों ग्यारह पटलोंमें परमशुक्ललेश्या सिद्धान्त ग्रन्थोंमें वर्णित की गयी है। अतः "चतुश्चतुः शेषेषु" कह देनेसे अर्थ तो स्पष्ट हो गया, किन्तु अपसिद्धान्त दोष क्रूर चेष्टा पूर्वक भ्रकुटीको चढाये हुये सन्मुख हो जाता है। सिद्धान्त मार्गसे स्खलित होकर कोरे स्पष्ट कथन करनेको शेखी मारना समुचित नहीं है। "बच्चा भलेही मरजाय किन्तु दोरा (गंडा) नहीं टूट जावे" तांत्रिकोंको ऐसा निंद्य भाषण नहीं करना चाहिये।

कथं सूत्रेणानभिहितोयं विशेषः प्रतीयते? पीतग्रहणेन पीतपद्मयोः संग्रहात् पद्मग्रहणेन पद्मशुक्लयोः इत्याहुः।

यहाँ कोई कटाक्ष करता है कि श्री उमास्वामी महाराजने सूत्र करके यह विशेष जब कण्ठोक्त नहीं कहा है, तो किस प्रकार आप ग्रंथकारने यों प्रत्यय कर लिया है कि सनत्कुमार

माहेन्द्रमें पद्मलेश्या पायी जाती है। और शतार सहस्रारोंमें शुक्ललेश्या भी देवों के सम्भव रही है। इसके उत्तरमें श्री. विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि पीताके ग्रहण करनेसे निकटवर्ती पद्माको मिला कर पीता और पद्माका संग्रह होजाता है। इसी प्रकार पद्मालेश्याके ग्रहण करके परली ओर शुक्लाको खेंचकर पद्माशुक्ला दोनों लेश्याओं का संग्रह कर लिया जाता है। यों हम और अन्य विद्वान भी ऐसे अवसरोंपर सन्धि स्थानोंमें निवास करनेवाले जीवोंके लिये इसी ढंगसे कहते हैं। अर्थात् जैसे कि भिन्न भिन्न भाषाओंको बोलने वाले प्रान्तोंके बीचमें वस रहे मनुष्य कुछ इस प्रान्त और कुछ उस प्रान्तकी मिश्रित भाषाको बोलते हैं। दिन और रात्रिके मध्यमें कुछ अंधेरा और कुछ प्रकाशकी मिश्रण अवस्था पायी जाती है, उसी प्रकार पीतलेश्या-शब्द सौधर्म, ऐशान, देवोंके लिये स्वतंत्र है। और ब्रम्ह, ब्रम्होत्तर, लांतवकापिष्ठोंके लिये शुद्ध पद्मलेश्या रक्षित है। फिर भी मध्यवर्ती सानत्कुमार, माहेन्द्रोंमें बहुभाग पीतके साथ अल्प भागमें पद्मलेश्याका भी विधान किया गया है। एवं कापिष्ट पर्यन्त चार स्वर्गोंमें शुद्ध पद्मलेश्या और आनत आदि अच्युत पर्यन्तोंमें शुद्ध शुक्ललेश्याकी विधि होते हुये भी मध्यवर्ती शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रारोंमें बहुभाग पद्मलेश्या और अल्प भागमें शुक्ललेश्याकी विधि कर दी जाती है। संक्षेप कथन करने वाले सूत्रकार भला छोटेसे सूत्रमें अनेक सन्धिस्थानोंका निरूपण कैसे कर सकते हैं? पूर्व निषधसे उदय होकर भ्रमण करते हुये सूर्यका पश्चिम निषध पर अस्त होजानेकी दिवसीय अवस्थाओं अनुसार होने वाले अनेक प्रकाशोंके तारतम्यका स्थूल दृष्टिसे वर्णन किया भी जासके, किन्तु दिन और रात की मिश्रण अवस्थाओंका प्रकाश और अन्धकारसे मिश्रित निरूपण तो आपाततः ही किया जासकता है। "तन्मध्यपतितस्तत् ग्रहणेन गृह्यते,, संख्यात, असंख्यात, अनन्त, भेद प्रभेद वाले परिणामोंकी मध्यम अवस्थाओंको कहां तक कहा जाय। बिना कहे ही अर्थापत्या उनको समझ लिया जाता है।

कथं ? तथा लोके शब्दव्यवहारदर्शनात्। छत्रिणो गच्छंतीति यथा छत्रिसहचरितानामछत्रिणामपि छत्रिव्यपदेशात्। पाठांतरेपि यथा व्याख्यानाददोष इति चेत् न, अनिष्टशंकानिवृत्त्यर्थत्वात् द्वित्रिशेषेष्विति पाठस्य, चतुःशेषेष्विति तु पाठे चतुर्णां चतुर्णामुपर्युपरिभावेऽनिष्टः शंक्येत तन्निवृत्तिर्यथान्यासवचने कृता भवति। यथासंख्यप्रसंगादत्राप्यनिष्टमिति चेन्न, द्व्यादिशब्दानामंतर्नीतवीप्सार्थत्वाद्द्विभोजनादिवत्। दिने दिने द्विभोजनं यस्य स द्विभोजन इत्यादयो यथान्तर्नीतवीप्सार्थास्तथोपर्युपरि द्वयोर्द्वयोस्त्रिषु त्रिषु शेषेषु शेषेष्वित्यंतर्नीतवीप्सार्था द्व्यादिशब्दा इह व्याख्यायंते, ततो न यथासंख्यप्रसंगो वाक्यभेदाद्व्याख्यानाच्च।

कोई तर्की प्रश्न करता है कि पीता ग्रहण करके पीतासे न्यारी पद्माका या पद्मा कह देनेसे पद्मा भिन्न शुक्लाका भी ग्रहण भला किस प्रकार होसकता है? घटका निरूपण कर देने मात्रसे घटभिन्न पदार्थका प्रतिपादन कथमपि नहीं होसकता है। इस प्रश्नके उत्तरमें ग्रन्थकार कहते हैं कि हम क्या करें। लोकमें जिस प्रकारके शब्दजन्य व्यवहार हो रहे देखे जाते हैं। जिस प्रकार कि छत्रों (छतरी)को धारने वाले जारहे हैं, यों कह देनेसे छत्र धारियोंके साथ

गमन कर रहे छत्र रहित कतिपय जनोंका भी छत्रधारीपन करके प्ररूपण कर दिया जाता है। उसी प्रकार यहां भी बहुभाग पीत लेश्यावाले जीवोंके साथ अल्पभाग पद्मलेश्या वाले देवोंका प्रतिपादन होजाता है। पद्मलेश्या वालोंके साथ शुक्ललेश्या वाले अल्प देवोंका ग्रहण होजाना बन आता है। मिश्रित अवस्था पूर्वकी ओर झुक जाती है। लोक या शास्त्रमें अन्य प्रकार प्रसिद्ध होरहे शब्दों को यौगिक अर्थानुसार स्वबुद्धिसे सुधारकर बोलनेवाला नवशिक्षित अज्ञ ही समझा जायगा। घोडे को पानी दिखा दे। छतरी वाले जारहे हैं। बम्बई बंचांगे। गली मचान गारहे हैं। इन शब्दोंके स्थानपर घोडे को पानी पिलादे। छतरीवाले और कुछ छतरी रहित मनुष्य जा रहे हैं। बम्बईमें सिकरने वाली हुंडी बचांगे। गली मचान पर बैठे मनुष्य गारहे हैं। यों कहने वाला स्याना छोकरा मूर्ख ही समझा जायगा। यदि यहां कोई यों शंका करे कि यों तो सूत्रकार द्वारा "चतुश्चतुश्शेषेषु" इस प्रकार न्यारा पाठ करने पर भी उक्त व्याख्यान कर देनेसे कोई दोष नहीं आता है। फिर जो हमने पहिले कहा था कि चार चार और शेषोंमें पीत लेश्या वाले पद्मलेश्यावाले और शुक्ललेश्या-वाले देव निवसते हैं, इसका आपने खण्डन क्यों किया ? व्याख्यान कर देनेसे आर्ष मार्गका कोई विरोध नहीं आता है। यहां भी तो आपको व्याख्यान करना ही पडा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि दो युगल तीन युगल और शेष शतार आदिकों में यथाक्रमसे पीत लेश्यावाले और शुक्ललेश्यावाले देव हैं। यों पाठकरना तो अनिष्ट शंकाकी निवृत्तिके लिये सूत्रकारने किया है। "चतुश्शेषेषु" इस प्रकार पाठ करने पर तो चार चार का ऊपर ऊपर सद्भाव मानने पर अनिष्ट अर्थ होजानेकी शंका होसकेगी। हां, उक्त सूत्र अनुसार "द्वित्रि-शेषेषु" यों ठीक रचनापूर्वक कथन करनेपर तो उस शंकाकी निवृत्ति की जाचुकती है। फिर भी कोई यों कटाक्ष करे कि इस प्रकार न्यास करने पर भी यथासंख्यका प्रसंग हो जानेसे यहां भी अनिष्ट अर्थकी शंका होना तदवस्थ है। आपत्तिका निवारण करते हुये भी आपत्तियोंसे छुटकारा नहीं मिला। दो युगलोंमें पीत लेश्या कहने पर सनत्कुमार माहेन्द्रोंमें पूर्णरूपसे पीत लेश्याका विधान होगा। वहां कतिपय देवोंके पायी जारही पद्मलेश्याकी विधि नहीं होसकेगी। इसी प्रकार शतार, सहस्रार, स्वर्गोंमें शुक्ललेश्यावाले कतिपय देवोंको भी पद्मलेश्याधारी बनना पडेगा। यह अनिष्ट शंकापिशाची खडी हुई है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि सूत्रमें पडे हुये दो आदिक शब्दोंके भीतर वीप्सा अर्थ गर्भित होरहा है। जैसे कि द्विभो-जन, द्विपठन त्रिजपन आदि शब्दोंके भीतर वीप्सा अर्थका समावेश है। दिन दिनमें जिस मनुष्यके दो भोजन हैं, या जो छात्र प्रतिदिन दो दो पाठ पढता है, अथवा जो धर्मात्मा प्रतिदिन तीन तीन बार जाप देता है, वे द्विभोजन, द्विपठन, त्रिजपन, पुरुष हैं। अतः द्विभोजन इत्यादिक शब्द वीप्सा अर्थको अन्तरंगमें गर्भित कर बखाने जाते हैं। उसी प्रकार दो, तीन, आदिक शब्द भी यहां ऊपर दो दो कल्पोंमें तीन तीन कल्पोंमें और शेष शेष स्थानोंमें इस प्रकार वीप्सा अर्थ को गर्भित किये हुये बखाने जाते हैं। तिस कारण केवल पीताका द्विके साथ और पद्माका केवल त्रिके साथ तथा शुक्लाका अकेले शेषोंमें ही अन्वय होजाना यों यथासंख्यका प्रसंग नहीं

होपाता है। दूसरी बात यह है कि सूत्रके वाक्य प्रभेदसे व्याख्यान कर दिया गया होनेसे यथा-संख्य का प्रसंग तुम्हारा चाहा नहीं हो पाता है।

पीतमिश्रपद्ममिश्रशुक्ललेश्या द्विद्विचतुश्चतुःशेषेष्विति पाठान्तरमन्ये मन्यंते, तत्र सूत्र-गौरवं तदवस्थं । अथवास्तु यथासंख्यमभिसंबंधस्तथापि नानिष्टप्रसंगः। कथं ? द्वयोः युगलयोः पीतलेश्याः सानत्कुमारमाहेंद्रयोः पद्मलेश्यायाः अविवक्षातः, ब्रह्मलोकादिषु त्रिषु कल्पयुगलेषु पद्मलेश्या शुक्रमहाशुक्रयोः शुक्ललेश्याया अविवक्षातः, शेषेषु शतारादिषु शुक्ललेश्या पद्म-लेश्याया अविवक्षातः इत्युक्तौ अभिसंबंधात् । ततो न कश्चिदार्षविरोधः ।

कोई अन्य विद्वान् निराले प्रकारके पाठको यों मान रहे हैं कि दो स्वर्गोंमें और दो स्वर्गोंमें तथा चार स्वर्गोंमें एवं चार स्वर्गोंमें तथा शेष स्थानोंमें पीतलेश्या और पीतामिश्रलेश्या तथा पद्मलेश्या एवं पद्ममिश्रलेश्या तथा शुक्ललेश्याको धारनेवाले देव विराजते हैं, आचार्य कहते हैं कि उस मान्यतामें सूत्रका गौरव दोष हो जाना वैसाका वैसा ही अवस्थित रहा। कोई लाभ नहीं निकला। अथवा एक बात यह है कि उक्त सूत्रका भले ही यथासंख्य तीनों ओरसे सम्बन्ध होजाओ तो भी हमारे सिद्धान्त अनुसार किसी अनिष्ट के होजानेका प्रसंग नहीं होता है। किस प्रकार सम्बन्ध करते हुये अनिष्टका प्रसंग नहीं होता है ? इसका समाधान यों है कि दो युगलोंमें पीतलेश्या है। किन्तु सानत्कुमार, माहेन्द्र, इन दो स्वर्गोंके कतिपय देवोंमें पायी जारही पद्मलेश्याकी विवक्षा नहीं की गयी है। तथा ब्रम्हलोक आदिक तीन कल्प युगलोंमें पद्मलेश्या है। शुक्र और महाशुक्रमें कतिपय देवोंके पायी जारही शुक्ललेश्याकी विवक्षा नहीं करनेसे पद्मलेश्या ही कह दीगयी है। शेष ऊपरले शतार आदि वैमानिकोंमें शुक्ललेश्या पायी जाती है। शतार और सहस्रारमें कितने एक देवोंके पायी जारही पद्मलेश्याकी विवक्षा नहीं कर-नेसे शुक्ल ही लेश्या कह दी गयी है। इस प्रकार सूत्र का कथन कर चुकनेपर क्रम अनुसार सम्बन्ध हो जानेसे कोई अनिष्टापत्ति नहीं है। तिस कारण ऋषिप्रोक्त सिद्धान्त आम्नायसे कोई विरोध नहीं आता है।

लेश्या निर्देशतः साध्याः कृष्णेत्यादिस्वरूपतः ।
वर्णतो भ्रमरादीनां छायां बिभ्रति बाह्यतः ॥ २ ॥
अनंतभेदमासां स्याद्वर्णांतरमपि स्फुटं ।
एकद्वित्रिकसंख्यादिकृष्णादिगुणयोगतः ॥ ३ ॥

अब ग्रन्थकार सोलह अनुयोगोंके द्वारा लेश्याओं को साधने योग्य बताते हैं। १ निर्देश २ वर्ण ३ परिणाम ४ संक्रम ५ कर्म ६ लक्षण ७ गति ८ स्वामित्व ९ साधन १० संख्या ११ क्षेत्र १२ स्पर्शन १३ काल १४ अन्तर १५ भाव १६ और अल्पबहुत्व इन सोलह अधिकारों द्वारा छहों लेश्याओं को साधलिया जाता है। प्रथमनिर्देशसे कृष्णा, नीला, कपोत,

लेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या, इस प्रकार स्वरूपसे लेश्यायें साधने योग्य हैं। दूसरे वर्ण यानी रंगसे द्रव्य लेश्यायें वा स्वरूपसे भौंरा आदिकोंकी छाया को धारती हैं। अर्थात् -शरीरविपाकी वर्ण नाम कर्म प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न हुआ कायका रंग द्रव्यलेश्या है। भौंराके रंगके समान काली कृष्णलेश्या है। नीलमणि या मयूर कण्ठके रंगको धार रही नील लेश्या है। कबूतरके समान रंगको प्राप्त होरही कापोती लेश्या है। सुवर्णकीसी छाया पीत लेश्याकी है। कमलके समान पद्मलेश्याका रंग है। हंसके समान धूली कांतिवाली शुक्ललेश्या है। इन लेश्या ओं के तारतम्यको लिये हुये अन्य अनन्त भेदवाले वर्ण भी स्पष्ट रूपसे होजाते हैं। जो कि एक, दो, तीन, आदि संख्यात या असंख्यात आदि अविभाग प्रतिच्छेदस्वरूप गुणोंके योगसे इन द्रव्यलेश्या ओं के अनन्त भेद हैं। भावार्थ-लेश्या नामक पर्यायोंमें संख्याते, असंख्याते, और अनन्ते अविभाग प्रतिच्छेदों की हानि वृद्धि अनुसार अवान्तर भेद अनन्त होजाते हैं। एक समयमें होनेवाली एक पर्याय एक भेद गिना जायगा। चक्षु इन्द्रियोंके प्रत्यक्ष योग्य होनेकी अपेक्षा लेश्याओंके संख्याते भेद हैं। और स्कन्ध जातिकी अपेक्षा असंख्याते भेद हैं। किन्तु रंगीली परमाणुयें या अविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा लेश्याओं के अनन्तानन्त वर्णभेद हैं।

> तथातः परिणामेन साध्या जीवस्य तत्त्वतः।
> स चासंख्यातलोकात्मप्रदेशपरिमाणकः॥ ४॥
> तत्कषायोदयस्थानेष्विष्टसूकृष्टमध्यम-।
> जघन्यात्मकरूपेषु क्लेशहान्या निवर्तनात्॥ ५॥
> कृष्णादयोऽशुभास्तिस्रो विवर्तते शरीरिणः।
> जघन्यमध्यमोत्कृष्टांशांशेषु विशुद्धितः॥ ६॥
> विशुद्धेरुत्तरास्तिस्रः शुभा एवं विपर्ययात्।
> विशुद्धिहान्या संक्लेशवृद्ध्या चैव शुभेतराः॥ ७॥
> एकैका चाप्यसंख्येयलोकात्माध्यवसायभृत्।
> लेश्याविशेषतो ज्ञेयाः कषायोदयभेदतः॥ ८॥

तिसी प्रकार तीसरे अनुयोग परिणाम करके लेश्यायें साधने योग्य हैं। वस्तुतः विचारा जाय तो जीवके अभ्यन्तर वर्त रहे परिणाम करके लेश्यायें साधी जाती हैं। और वह जीवके परिणाम असंख्याते लोकाकाशोंके प्रदेश स्वरूप असंख्यातासंख्यात नामक परिमाणको

लिये हुये हैं। स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरको धार रहे जीवोंकी कृष्ण आदिक तीन अशुभ-लेश्यायें इतने असंख्यात लोक प्रमाण उत्कृष्ट, मध्यम, और जघन्य आत्मक स्वरूपवाले उन कषायोंके असंख्यातासंख्यात उदय स्थानोंमें संक्लेशकी हानि करके परिणमन होजानेसे परिणतियाँ करतीं रहती हैं। अर्थात् कर्मोंके उदयकी जाति अपेक्षा असंख्यातासंख्यात औदयिक कषाय स्थानोंमें संक्लेश की हानि होजानेसे उत्कृष्ट अंशसे मध्यम अंशमें और मध्यम अंशसे जघन्य अंशमें अशुभलेश्याओं का परिणमन होता रहता है। तथा जीवों की उत्तरवर्त्ती पीत आदि तीन शुभ लेश्यायें विशुद्धिकी विशेषतया वृद्धि होजानेसे असंख्यात लोक प्रमाण कषाय सम्बन्धी औदयिक जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट, अंश उपांशोंमें परिणमती रहती हैं। भावार्थ–शुद्धि की वृद्धि होजानेसे तेजो लेश्याके जघन्य अंशोंका अतिक्रमण कर मध्यम अंशोंमें आत्मा परिणत होजाता है। और मध्यमसे शुद्धिकी वृद्धि अनुसार पीत लेश्या सम्बन्धी उत्कृष्ट अंशोंमें परिणमन कर लेता है। पद्म और शुक्ललेश्यामें भी यही व्यवस्था है। इसी प्रकार विपर्यय करनेसे यों निर्णय कर लेना कि विशुद्धिकी हानिसे शुभलेश्यायें उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य अंशोंमें क्रमसे परिणमेंगी और इतर यानी अशुभलेश्यायें संक्लेशकी वृद्धि होजानेसे स्वकीय जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट अंशोंमें परिणतियां करेंगी। एक एक कोई भी लेश्या असंख्यात लोक प्रमाण औदयिक कषायाध्यवसाय स्थानोंको धार रही है। बात यह है कि कषायोंके उदयागत भेदोंकी विशेषता से लेश्याओंमें विशेषतायें समझ लेनी चाहिये। "कषायोदयानुरंजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या" लेश्यापरिणति में कषायोंके उदयकी प्रधानता है। कार्मणस्कन्ध या कर्मपरमाणुओं की अपेक्षा अनन्तानन्त जीवोंके यद्यपि अनन्त लेश्यायें हैं। फिर भी जातिकी अपेक्षा उनके असंख्यात लोक प्रमाण भेद कर दिये जाते हैं। असंख्यात लोकोंके प्रदेश बराबर प्रमाणको धार रहे अध्यवसाय स्थानोंमें जिनदृष्ट असंख्यात लोकप्रमाण राशिका भाग देने पर जो लब्ध आता है, उसके बहुभाग प्रमाण संक्लेशरूप स्थान हैं। और एक भाग प्रमाण शुभ लेश्याओंके विशुद्धिस्थान हैं। फिर भी सामान्यसे ये सभी असंख्यात लोकप्रमाण संख्यावाले हैं। इन अध्यवसाय स्थानोंमें लेश्यारूप परिणतियां होती रहती हैं।

तथा संक्रमतः साध्या लेश्याः क्लेशविशुद्धिजात्।
क्लिश्यमानस्य कृष्णायां न लेश्यांतरसंक्रमः ॥ ९ ॥
तस्यामेव तु षट्स्थानपतितेन विवर्धते।
हीयते च पुमानेष संक्रमेण निजक्रमात् ॥ १० ॥
कृष्णा प्राथमिकक्लेशस्थानाद्धि परिवर्धते।
संख्येयादप्यसंख्येयभागतः स्वनिमित्ततः ॥ ११ ॥

संख्येयादिगुणाद्वापि नान्यथेति विनिश्चयः ।
लेश्यांतरस्य कृष्णातोऽशुभस्यान्यस्य बाधनात् ॥ १२ ॥
तत्कृष्णलेश्यतः स्थानाद्धीयमानो विहीयते ।
कृष्णायामेव नान्यस्यां लेश्यायां हेत्वभावतः ॥ १३ ॥
चानन्तादिभागाद्वा संख्यातादिगुणात्तथा ।
हीयते नान्यथा स्थानषट्कसंक्रमतोसुभृत् ॥ १४ ॥
यदानंतगुणा हानिः कृष्णायाः संक्रमस्तदा ।
नीलाया उत्तमस्थाने तल्लेश्यांतरसंक्रमः ॥ १५ ॥

तथा संक्रमणसे छहों लेश्यायें साधने योग्य हैं। संक्लेश और विशुद्धिसे उत्पन्न हुये स्थानोंसे लेश्याओं का संक्रमण होता है। स्वस्थान संक्रमण और परस्थान संक्रमण यों संक्रमणके दो भेद हैं। कृष्ण लेश्यामें बढते हुये क्लेशको प्राप्त होरहे जीवके स्वस्थान संक्रमण ही होगा। अन्य लेश्याओंमें संक्रमण नहीं होसकता है। उस कृष्णलेश्यामें ही अनन्तभागवृद्धि, असंख्येय भागवृद्धि, संख्येयभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि असंख्यातभागवृद्धि और अनंत गुणवृद्धी इस प्रकार छह स्थानोंमें पडी हुई वृद्धि करके कृष्णके भीतर ही अंश उपांश बढते रहते हैं। कृष्ण लेश्यासे कोई निकृष्ट स्थान नहीं हैं। जिसमें संक्लेशकी वृद्धि होजाने पर परस्थान संक्रमण होजाता। तथा यह जीव अपनी गृहीत कृष्ण लेश्याके अभ्यन्तर क्रमसे उत्कृष्टसे मध्यम या जघन्य अंशोंमें संक्रमण करके हानिको प्राप्त होता है। अर्थात् कृष्णलेश्या सम्बन्धी उत्कृष्ट संक्लेशस्थानसे अनन्तभागहानि, असंख्येयभागहानि, संख्येयभागहानि, संख्येय गुणहानि, असंख्येयगुणहानि, अनन्तगुणहानि करके कृष्णलेश्याके जघन्य स्थानोंतक स्वस्थान संक्रमण होता है। हां, संक्लेशकी विशेष हानि होजानेपर अनन्त गुणहाणि अनुसार कृष्णलेश्यावाला जीव नीललेश्याके उत्कृष्ट स्थान पर संक्रमण कर लेता है। वार्त्तिकों का अर्थ यह हुआ कि सबसे पहिले नियत होरहे कृष्णलेश्याके जघन्य संक्लेश स्थानसे अनन्तभाग, असंख्यातभाग और संख्यात भाग वृद्धियों अनुसार कृष्णलेश्या अपने निमित्त कारणों करके बढती जाती है। अथवा संख्यातगुण, असंख्यातगुण, आदि क्रमसे भी स्वकीय निमित्त कारणों अनुसार उत्कृष्ट स्थान पर्यन्त बढती है। अन्य प्रकारोंसे नहीं बढती है। यों विशेष रूपसे निश्चय कर लेना। कृष्णलेश्यासे भिन्न कोई निकृष्ट जाति की दूसरी अशुभलेश्याके होनेकी बाधा है। अतः संक्लेशकी वृद्धि होनेपर कृष्णलेश्यामें स्वस्थान संक्रमण ही हुआ तथा कृष्णलेश्याके उत्कृष्ट स्थानसे संक्लेश की हानिको अनुभव रहा जीव हीन होता जाता है। तब भी उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य अंशोंमें प्राप्त होरहा कृष्णलेश्यामें ही संक्रमण करता है। कारणोंका अभाव होजानेसे अन्य लेश्यामें संक्रमण नहीं करपाता है। अनन्तभाग आदि अथवा संख्यातगुण आदि

स्थानों करके यह प्राणी तिसी प्रकार छह स्थानोंमें पतित हानिओं द्वारा संक्रमणसे हीन होता जायगा, अन्य प्रकारों करके हीन नहीं होता है। हां, जिस समय कृष्णलेश्या की अनन्तगुणी हानि होते हुये संक्रमण होगा, तब नीललेश्याके उत्कृष्ट स्थानमें प्राप्त होरहा उससे न्यारी अन्य लेश्यामें परस्थान संक्रमण होजाता है। अन्य प्रकारोंसे नहीं।

एवं विशुद्धिवृद्धौ स्याच्छुक्ललेश्यस्य संक्रमः।
शुक्लायामेव नान्यत्र लेश्या एवावसानतः ॥ १६ ॥
तथा विशुद्धिहान्यां स्यात्तल्लेश्यांतरसंक्रमः।
अनन्तगुणहान्यैव नान्यहान्या कदाचन ॥ १७ ॥
मध्ये लेश्याचतुष्कस्य शुद्धिसंक्लेशयोर्नृणां।
हानौ वृद्धौ च विज्ञेयस्तेषां स्वपरसंक्रमः ॥ १८ ॥

इसी प्रकार विशुद्धिकी वृद्धि होने पर शुक्ललेश्यावाले जीवका संक्रमण शुक्ललेश्याम ही होगा, अन्यत्र नहीं होगा। क्योंकि शुक्लसे बढ़िया कोई दूसरी शुभलेश्या ही नहीं है। शुक्लसे उत्तम लेश्याओं का विराम होजानेसे बढ़ रहे शुभ परिणामोंका पलटना उसी शुक्ललेश्यामें ही हुआ करता है। हां, तिस प्रकार छह स्थानोंमें पड़े हुये क्रमसे विशुद्धिकी हानि होने पर अन्य लेश्याओंमें भी संक्रमण होजाते हैं। किन्तु विशुद्धिकी अनन्तगुणी हानि करके ही शुक्ललेश्यासे पद्मलेश्यामें परिवर्तन होगा। अन्य संख्यातभाग हानि आदि पांच हानियों करके कभी नहीं परस्थान संक्रमण होसकता है। यों कृष्णलेश्या और शुक्ललेश्या के विषयमें स्वस्थान संक्रमण और परस्थान संक्रमणका विचार कर दिया है। मध्यमें विराज रहीं नील, कापोत, पीत, और पद्म इन चार लेश्याओंका स्वस्थान संक्रमण और परस्थान संक्रमण तो उन जीवोंके विशुद्धि और संक्लेशकी हानि या वृद्धिके होने पर अनुलोम और प्रतिलोम दोनों ढंगोंसे समझ लेना चाहिये। भावार्थ–नील लेश्यामें संक्लेशकी वृद्धि होजाने पर जघन्य अंशसे मध्यम अंश होजानेकी दशामें स्वस्थान संक्रमण है। और उत्कृष्ट अंशमे कृष्णलेश्यामें पहुंचने पर परस्थान संक्रमण है। यों ही संक्लेशकी हानि होनेपर नील लेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मध्यम अंश होजानेकी दशामें स्वस्थान संक्रम है। और नीललेश्याके जघन्य अंशसे संक्लेश हानि दशामें कापोतीकी दशा प्राप्त होने पर परस्थान संक्रमण है। यही दशा अन्य लेश्याओंमें लगा लेना। छह वृद्धियोंमें संख्यात पदसे उत्कृष्ट संख्यात पकड़ना और असंख्यात पदसे असंख्याते लोकोंके प्रदेशों प्रमाण संख्या का ग्रहण करना तथा अनन्त पदसे जीवराशिका अनन्तगुणा और पुद्गल राशिका अनन्तवां भाग स्वरूप अनन्तसंख्या लेनी चाहिये। ये छहों वृद्धियां लेश्या परिणतियोंके अविभाग प्रतिच्छेदोंमें होती रहती हैं। अविभागप्रतिच्छेदोंको कितनी ही संख्यायें ऐसी हैं, जिनको कि कोई लेश्या परिणति नहीं धार सकी है। "अविभागपडिच्छेओ जहण्ण उड्डी पएसाणं" (गोम्मटसार) यह अविभाग प्रतिच्छेद का सिद्धान्त लक्षण है॥

तथैव कर्मतो लेश्याः साध्याः षडपि भेदतः ।
फलभक्षणदृष्टांतसामर्थ्यात्तत्त्ववेदिभिः ॥ १९ ॥
आद्या तु स्कन्धभेदेच्छा विटपच्छेदशेमुषी ।
परा च शाखाछेदीच्छादनुशाखच्छिदैषणा ॥ २० ॥
पिंडिकाछेदनेच्छा च स्वयं पतितमात्रक- ।
फलादित्सा च कृष्णादिलेश्यानां भक्षणेच्छया ॥ २१ ॥

तिस ही प्रकार कर्म यानी क्रिया की अपेक्षासे छहों भी लेश्याओंका भिन्न भिन्नपने करके साध लेना चाहिये । तत्त्ववेत्ता विद्वानों करके उन लेश्यावाले जीवोंके कर्तव्य होरहे फल भक्षण स्वरूप दृष्टान्तोंकी सामर्थ्यसे यों निर्णय करना चाहिये । वनके मध्य देशमें मार्ग भ्रष्ट होगये छह पथिक एक फलपूर्ण वृक्ष को देख करके यों विचार करते हैं। पहिली कृष्णलेश्याके अनुसार एक मनुष्यके स्कन्ध (पेड़)को उखाड़ डालनेकी इच्छा होजाती है। अर्थात् कृष्णलेश्यावाला स्कन्धको उखाड़ डालकर फल खाना चाहता है। और दूसरी नीललेश्याके अनुसार पेड़को काट डालनेकी बुद्धि दूसरे मनुष्यको होजाती है। तीसरे मनुष्यको कापोती लेश्याके अनुसार डाली को काटनेकी इच्छा उपज जाती है। चौथे के पीतलेश्या अनुसार लघुशाखाको काटकर फल खानेकी वांछा उपजती है। पांचवें पुरुषको पद्मलेश्या अनुसार डांठला या फल ही को तोड़ने की इच्छा होती है। छठे मनुष्य को शुक्ललेश्या अनुसार केवल अपने आप नीचे गिर गये फलोंको ग्रहण करनेकी अभिलाषा उपजती है। यों कृष्ण आदिक लेश्याओंके अनुसार फलभक्षणकी इच्छा करके कर्तव्य क्रियाओंकी अपेक्षा छहों अतीन्द्रिय भावलेश्यायें अनुमित होजाती हैं।

तथा लक्षणतो लेश्याः साध्याः सिद्धाः प्रमाणतः ।
परानुनयनादिः स्यात्कृष्णायास्तत्र लक्षणम् ॥ २२ ॥
आलस्यादिस्तु नीलाया मात्सर्यादिः पुनः स्फुटं ।
कापोत्या दृढमैत्र्यादिः पीतायाः सत्यवादिता ॥ २३ ॥
प्रभृति पद्मलेश्यायाः शुक्लायाः प्रशमादिकं ।
गत्या लेश्यास्तथा ज्ञेयाः प्राणिनां बहुभेदया ॥ २४ ॥

तिस ही प्रकार लक्षण यानी चिन्होंसे छहों लेश्यायें प्रमाणोंसे सिद्ध होरहीं साधलेनी चाहिये । उन छहों में पहिली कृष्णलेश्याका चिन्ह तो दूसरोंका अनुनय (विनय) नहीं करना,

वैर नहीं छोडना, प्रचण्ड कोपी होना, दया धर्म रहितपना, अपरितोष, तीव्र दुष्टता, आदिक हैं। तथा नीललेश्याके लक्षण तो आलस्य, विषयलोलुपता, भीरुता, तृष्णा, ठगना, अतिलुब्धता, रूक्ष अभिमान, आदिक हैं। फिर तीसरी अशुभलेश्या कापोतीके स्फुट रूपसे मत्सरता, ईर्ष्या, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, युद्धमरण, अविचारिता, शोक, भयबहुलता आदि हैं। एवं चौथी पीत लेश्याके दृढमित्रता, विचारशीलता, दानदयारति, कार्यसम्पादनपटुता आदि बहिरंग चिन्ह हैं। तथा पद्मलेश्याके सत्यवादी पनको आदि लेकर क्षमा, सात्त्विकदान, ऋजुता, गुरुदेवता पूजाकरणतत्परता, भद्रता आदि शुभ लक्षण हैं। छठी शुक्ललेश्याके प्रशम, रागद्वेषरहितपन, निदानवर्जन, श्रेयोमार्गानुष्ठान, आदि लक्षण हैं। यों व्यावर्तक चिन्होंसे अन्तरंग लेश्यायें पहिचान ली जातीं हैं। तथा सातवें गति अधिकार करके लेश्यायें समझ लेनी योग्य हैं। स्वकीय कारणों अनुसार बहुत भेदवाली प्राणियोंकी गति होजानेसे लेश्यायें साध ली जाती हैं।

प्रत्यंशकं समाख्याताः षड्विंशतिरिहांशकाः।
तत्राष्टौ मध्यमास्तावदायुषो बंधहेतवः॥ २५॥
आर्षोपदेशतः सिद्धाः शेषास्तु गतिहेतवः।
पुण्यपापविशेषाणामुपचायकका हि ते॥ २६॥

प्रत्येक लेश्याके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट और मध्यवर्ती आठ अंशोंको मिलाकर यहां प्रकरणमें लेश्याओंके छब्बीस अंश बढ़िया बखाने गये हैं। उनमें कृष्ण और कापोतके मध्यवर्ती तथा पीत और शुक्लके मध्यमवर्ती आठ मध्यम अंश तो परभवकी आयुके बन्धके कारण हैं। यह सिद्धान्त ऋषिप्रोक्त उपदेशोंसे प्रसिद्ध है। अर्थात् कर्मभूमिके मनुष्य या तिर्यंचकी भुज्यमान आयुके तीन भागोंमें से दो भाग बीत चुकने पर अन्तर्मुहूर्त तक पहिला अपकर्षकाल माना जाता है। यदि पहिले इस अपकर्ष कालमें उत्तर भवकी आयु न बंधे तो शेष आयुके त्रिभाग करते हुये दो भाग बीत जानेपर अन्तर्मुहूर्त कालतक आयुष्य कर्मका बन्ध होता है। यदि यहां-पर भी आयुष्य का बन्ध नहीं होय तो तीसरे, चौथे, पांचवें, छठवें, सातवें, और आठवें त्रिभाग स्वरूप अपकर्ष कालमें आयुका बन्ध होजाता है। पूर्वके अपकर्षमें आयुका बन्ध होजाने पर उत्तर अपकर्षोंमें तदविरुद्ध उसी आयुका बन्ध होगा, न्यारी आयुका नहीं। यदि आठोंमें किसी भी अपकर्षमें आयु न बंधे तो मृत्युके अव्यवहित पूर्व अन्तर्मुहूर्तमें परभव की आयुका बन्ध अवश्यक होजाता है। देव और नारकी जीवोंकी भुज्यमान आयुके छहमास शेष रहनेपर आठ अपकर्षकाल आयुके बन्धके योग्य रचे जाते हैं। भोगभूमियां मनुष्य या तिर्यंचके स्वकीय आयुके नौ महीना शेष रहनेपर आयुके बन्ध योग्य आठ अपकर्षकाल प्राप्त होते हैं। अपकर्षकालमें जैसा लेश्याका अंश होता है वैसा आयुष्यका बन्ध होजाता है। आयुका बन्ध फल दिये बिना छूटता नहीं है। स्थिति कमती बढती भले ही होजाय। लेश्याओं के कारण इन आठ अंशों को

मध्यवर्त्ती इसलिये कहा है कि कृष्णलेश्या के कतिपय तीव्र अंशों में और कापोत के कतिपय-जघन्य अंशों में आयु नहीं बंधती है। इसी प्रकार शुभलेश्याओं में पीत के कतिपय जघन्य अंशों में और शुक्ललेश्या के कुछ उत्कृष्ट अंशों में आयुष्य कर्मको बन्धवाने की योग्यता नहीं है। अतः अशुभ लेश्याओं के मध्यमें पडे हुये चार अंश और तीनों शुभलेश्याओं के बीच में पडे हुये चार अंश यों आठ अंश मध्यम कहे जाते हैं। हां, शेष अठारह अंश तो परभवके लिये गति कराने के कारण हैं। अवश्य वे अठारह अंश पुण्य विशेष और पापविशेषोंकी वृद्धिके कारण होरहे हैं। यद्यपि जघन्य, मध्यम, उत्कृष्टके अपेक्षा लेश्याके अठारह भेदोंमें सभी भेद गर्भित हैं। इनसे न्यारे कोई आठ भेद नहीं होसकते हैं। फिर भी संसारमें संसरण कराने वाले कर्मोंमें प्रधान होरहे आयुष्य कर्म को बंधवाने की अपेक्षा अठारहों के मध्य में से ही कुछ पृथग्भूत कर लिये गये आठ अंश मध्यवर्ती माने जाते हैं। शेष अंश तो गतिके उपयोगी पुण्य, पापों को वृद्धि कराते रहते हैं। योग और कषाय की मिश्रितपरिणति ही लेश्या है। जो कि पुण्य पाप-स्वरूप प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग इन चारों बन्धों की कारण हैं।

भवायुर्गतिभेदानां कारणं नामभेदवत्।
शुक्लोत्कृष्टांशकादात्मा भवेत्सर्वार्थसिद्धिगः ॥ २७ ॥
कृष्णोत्कृष्टांशकात्तु स्यादप्रतिष्ठानगाम्यसौ।
शेषांशकवशान्नानागतिभाग्वगम्यताम् ॥ २८ ॥

लेश्याओं के अंश ये नामकर्मके प्रभेदोंके उदयसे युक्त होरहे विशेष भवकी आयु और गति भेदोंके कारण बन रहे हैं। आत्मा शुक्ललेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मर कर सर्वार्थसिद्धि विमान को प्राप्त करने वाला होगा कृष्णके उत्कृष्ट अंशसे तो वह आत्मा सातवें नरकके इन्द्रक बिल अप्रतिष्ठान नरकमें जानेवाला होजाता है। शुक्लके मध्यम अंशको आदि लेकर कृष्णके मध्यम अंशोंतकको परवशतासे यह जीव नाना गतियों को जाने वाला समझ लेना चाहिये।

यथागमं प्रपंचेन विद्यानंदमहोदया-।
त्स्वामित्वेन तथा साध्या लेश्या साधनतोपि च ॥ २९ ॥
संख्यातः क्षेत्रतश्चापि स्पर्शनात्कालतोंतरात्।
भावाच्चाल्पबहुत्वाच्च पूर्वसूत्रोक्तनीतितः ॥ ३० ॥

किस लेश्यासे मरकर किस गति को प्राप्त होता है। इस सिद्धान्त को विस्तार करके समझना होय तो सदागम अनुसार समझलेना चाहिये अथवा सिद्धान्तमर्यादा का उल्लंघन नहीं कर रचे गये हमारे "विद्यानन्द महोदय" नामक ग्रन्थ से निश्चय कर लेना चाहिये। जिस

प्रकार निर्देश, वर्ण, आदि सात अधिकारों करके लेश्यायें साध दी गयी हैं, उसी प्रकार स्वामिपने करके और साधनसे भी छहों लेश्याओं का विचार कर लेना चाहिये। एवं संख्या से, क्षेत्र से, स्पर्शन से, कालसे, अन्तरसे भावसे और अल्पबहुत्वसे भी लेश्याओं की सिद्धि करलेनी चाहिये। अर्थात् उमास्वामी महाराजके अति संक्षिप्त सूत्रोंमें अनन्त प्रमेय भरा हुआ है। जो कि उपरिष्ठात् टीका या व्याख्यानों से समझ लिया जाता है। उसी पूर्व सूत्रोंमें कही जाचुकी नीतिके अनुसार इस सूत्र में भी अधिक प्रमेय तत्त्ववेत्ताओं करके समझ लेने योग्य है। अथवा सर्वज्ञधाराप्राप्त पूर्वऋषियोंके सूत्रोंमें कही जा चुकी स्याद्वाद सिद्धान्त नीतिसे स्वामित्व आदिकों करके यथाम्नाय लेश्याओंके अधिकार समझ लिये जाय। ग्रन्थकारने यहां परम सूक्ष्म अतीन्द्रिय विषयों में आगमपरिपाटीका अनुसरण करने के लिये तत्त्ववेत्ताओं को उद्युक्त किया है। राजवार्तिक गोम्मटसार ग्रन्थोंमें भी उक्त सोलह अधिकारोंका विशेष निरूपण किया है।

वैमानिक देवों में लेश्या का वर्णन कर अब भगवान् सूत्रकार कल्पोंका परिज्ञान कराने के लिये अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥

सौधर्म से आदि लेकर नवग्रैवेयकोंसे पहिले जो वैमानिक हैं, वे सब कल्प हैं, अर्थात् सौधर्म से लेकर अच्युतस्वर्ग पर्यन्त स्थान या उनमें रहने वाले देव कल्प कहे जाते हैं।

सौधर्मादिग्रहणमनुवर्तते, तेनायमर्थः—सौधर्मादयः प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पा इति। सौधर्मादिसूत्रानंतरमिदं सूत्रं वक्तव्यमिति चेन्न, स्थितिप्रभावादिसूत्रत्रयस्य व्यवधानप्रसंगात्। सति व्यवधानेऽनेन विधीयमानोर्थः कल्पेष्वेव स्यादनंतरत्वात्।

परली ओर की अभिविधि (अवधि) तो कह दी गयी। किन्तु उरली ओर की मर्यादा नहीं कही, इसके लिये सौधर्म आदि का जो तीन सूत्र पहिले ग्रहण किया है, उसकी अनुवृत्ति करली जाती है। तिससे इस सूत्रका यह अर्थ लब्ध होजाता है कि सौधर्मको आदि लेकर और ग्रैवेयकोंसे पहिले विमान स्थान या वैमानिक देव कल्प हैं। यदि यहां कोई यों आक्षेप करे कि "सौधर्मैशान" इत्यादि सूत्रके अव्यवहित उत्तर काल में ही यह सूत्र श्री उमास्वामी महाराजको कहना चाहिये था। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि सौधर्मके अनन्तर ही कल्पोंका विधान किया जाता तो "स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु" इस प्रकार के तीनों सूत्रों का "प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः" इस सूत्रसे व्यवधान होनेका प्रसंग होजाता। अर्थात् "प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पा" इस सूत्रसे पीछे स्थिति प्रभाव आदि तीनों सूत्र पढे जाते, ऐसी दशामें व्यवधान होजाने पर इन तीन सूत्रों करके विधान किया जारहा अर्थ कल्पवासी देवोंमें ही प्राप्त होता। क्योंकि ये बारह कल्प ही

अव्यवहित पूर्व में उपात्त होरहे हैं। " व्यवहिताव्यवहितयोरव्यवहितस्यैव ग्रहणं " इस परिभाषा अनुसार कल्पोंमें ही स्थिति आदिकसे अधिकता और गति आदिकसे हीनता तथा दो तीन शेषोंमें पीतपद्मशुक्ललेश्याका विधान होसकेगा। सौधर्मको आदि लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त सम्पूर्ण वैमानिकों में उक्त तीन सूत्रोंका अर्थ लागू नहीं हो सकेगा। इस कारण यहां इस सूत्र के कह देने से सब बखेडा मिट जाता है।

के पुनः कल्पातीता इत्याह ।

सूत्रकारने कल्पों का तो कण्ठोक्त निरूपण कर दिया है। किन्तु कल्पातीत देवों की प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्र नहीं रचा है। अतः यह बताओ कि फिर वे कल्पातीत देव कौनसे हैं ? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार वार्त्तिकको कहते हैं।

कल्पाः प्रागेव ते बोध्या ग्रैवेयकविमानतः ।
तदादयस्तु सामर्थ्यात् कल्पातीताः प्रतीतितः ॥ १ ॥

इस सूत्र का अर्थ यह है कि ग्रैवेयक विमानसे पहिले ही वे कल्प रच रहे समझ लेने चाहिये। हां, बिना कहे ही शब्दसामर्थ्य से यह प्रतीत होजाता है कि उन ग्रैवेयकों को आदि लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त स्थान तो कल्पातीत हैं।

ननु च परिशेषाद्ग्रैवेयकादीनां कल्पातीतत्वसिद्धौ भवनवास्यादीनां कल्पातीतत्वप्रसंग इति चेन्न, उपर्युपरीत्यनुवर्तनात् ।

यहां कोई प्रतिवादी आशंका उठाता है कि परिशेषन्यायसे यदि ग्रैवेयक आदिकों के कल्पातीतपन की सिद्धि की जायगी, तब तो भवनवासी आदिकों को भी कल्पातीतपने का प्रसंग आता है। सोलह स्वर्ग या बारह कल्पोंसे शेष बच रहे देव तो अहमिन्द्रोंके समान भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क,देव भी हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि 'उपर्युपरि' इस पदकी अनुवृत्ति होरही है। अर्थात् ऊपर ऊपर वैमानिक देवोंके लिये उक्त पांच सूत्रोंका सम्बन्ध किया जाता है। नीचे के भवनवासी आदिकों का ग्रहण नहीं है। इस कारण अहमिन्द्र देव ही कल्पातीत हैं।

सूत्रकार के प्रति किसी का प्रश्न उठ सकता है कि तब तो लौकान्तिक देव वैमानिक देव होरहे सन्ते भला किन कल्पोपन्न या कल्पातीत देवोंमें ग्रहण किये जायेंगे ? इस प्रकार प्रश्नके उत्तर में सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कहते हैं

ब्रह्मलोकालया लौकांतिकाः ॥ २४ ॥

पांचवे स्वर्ग ब्रम्हलोक में निवास स्थान कर रहे लौकान्तिक देव हैं अर्थात् पांचवे स्वर्ग में निवस रहे लौकान्तिक देव कल्पोपन्न हैं।

एत्यास्मिल्लीयत इत्यालयो निवासः। ब्रह्मलोक आलयो येषां ते ब्रह्मलोकालयाः। सर्वब्रह्मलोकदेवानां लौकांतिकत्वप्रसंग इति चेन्न, लोकांतोपश्लेषात्। ब्रह्मलोकस्यांतो हि लोकांतः लोकांते भवा लौकांतिका इति न सर्वत्र ब्रह्मलोकदेवास्तथा। अथवा लोकः संसारः जन्मजरामृत्युसंकीर्णः तस्यांतो लोकांतः तत्प्रयोजना लौकांतिकाः। ते हि परीतसंसाराः ततश्च्युत्वा एकं गर्भवासमवाप्य परिनिर्वांति।

चारों ओर या छहों ओरसे प्राप्त होकर इस स्थानमें जीव या पुद्गल लीन होजाया करते हैं। इस यथार्थ निरुक्ति द्वारा आलयका अर्थ निवास स्थान है। बाहरसे आता जाता हुआ मनुष्य स्पष्ट दीखता रहता है। किन्तु घरमें घुसकर न जाने कहां झट लीन होजाता है। बाहरसे देखनेवाले केवल ताकते ही रह जाते हैं। जिन देवोंका निवास स्थान ब्रह्मलोक है, वे ब्रह्मलोकालय देव कहे जाते हैं। यहां कोई प्रश्न करता है कि तब तो पांचवें स्वर्ग ब्रम्हलोकमें रहने वाले सभी देवोंको लौकान्तिकपनेका प्रसंग आता है। जगत् श्रेणीके नौमे वर्गमूलका उसी श्रेणिमें भाग देनेपर जो लब्ध आवे उसकी आधी संख्या प्रमाण असंख्यातासंख्यात ब्रम्हलोकवासी सभी देव तो लौकान्तिक नहीं माने गये हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि लौकान्तिक शब्दमें लोकान्त इस प्रकृतिका संसर्ग होरहा है। चूंकि ब्रम्हलोकका जो अन्तिम स्थान है,वह लोकांत है लोकान्तमें होनेवाले देव लौकान्तिक हैं। इस कारण ब्रम्हलोकमें सर्वत्र निवास कर रहे अन्य असंख्याते देव तिस प्रकार लौकान्तिक नहीं हैं। किन्तु चार लाखसे कुछ अधिक ही देव लौकान्तिक हैं। अथवा दूसरी निरुक्ति यों की जा सकती है कि लोकका अर्थ यह जन्म, जरा, मृत्युओंसे संकीर्ण होरहा संसार है। उस संसारका जो अन्त है, वह लोकान्त है। जिन देवोंका लक्ष्यभूत प्रयोजन वह लोक का अन्त करना है, ऐसे देव लौकान्तिक हैं। वे लौकान्तिक देव नियमसे संसारसे निक्रान्त हुये समझने चाहिये। कारण कि उस अपने स्थान ब्रम्हलोकसे चय कर कर्मभूमिमें एक मनुष्य जन्मरूप गर्भवासको प्राप्त कर समन्तात् शुभ होरही मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं।

किं पुनरनेन सूत्रेण क्रियत इत्याह।

कोई प्रश्न करता है कि इस सूत्र करके फिर सूत्रकारने क्या लक्ष्य सिद्ध किया ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर वार्तिकको कहते हैं।

तत्र लौकांतिका देवा ब्रह्मलोकालया इति।
सूचनात् कल्पवासित्वं तेषां नियतमुच्यते ॥ १ ॥

उन वैमानिक देवोंके प्रतिपादक सूत्रमें श्री. उमास्वामी महाराजने ब्रह्मलोक में निवास करने वाले देव लौकान्तिक हैं। यों इस सूत्र द्वारा की गयी सूचनासे उन लौकान्तिक देवों का कल्पवासीपन नियत होरहा कह दिया है।

लौकांतिकानां कल्पोपपन्नकल्पातीतेभ्योऽन्यत्वं माभूदिति तेषां कल्पवासिनियमोऽनेन क्रियते न ततो देवानां चतुर्णिकायत्वनियमो विरुध्यते ।

लौकान्तिक देवों को कल्पोपपन्न और कल्पातीत देवोंसे भिन्नपना नहीं होवे इस कारण उन लौकान्तिकोंके कल्पवासीपने का नियम इस सूत्र करके किया गया है । तिस कारण देवों की चार निकाय होनेका नियम विरुद्ध नहीं पड़ता है । अर्थात् लौकान्तिक देव चार निकायसे बाहिर नहीं हैं । किन्तु वैमानिक देवोंके कल्पोपपन्न भेदमें गर्भित होजाते हैं ।

तद्विशेष प्रतिपत्त्यर्थमाह ।

अब ग्रन्थकार अग्रिमसूत्रका अवतरण हेतु यों कहते हैं कि सामान्य करके उपदिष्ट किये गये उन लौकान्तिकोंके विशेष भेदोंकी शिष्योंको प्रतिपत्ति करानेके लिये सूत्रकार अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

सारस्वतादित्यवन्ह्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥

१ सारस्वत २ आदित्य ३ वन्हि ४ अरुण ५ गर्दतोय ६ तुषित ७ अव्याबाध ८ अरिष्ट ये आठ लौकान्तिक देवों के गण हैं । समुच्चय अर्थ वाचक च शब्द करके अग्न्याभ, सूर्याभ, आदिक सोलहगण अन्य भी समझ लेने चाहिये ।

क्व इमे सारस्वतादयः पूर्वोत्तरादि दिक्षु यथाक्रमं । तद्यथा अरुणसमुद्रप्रभवो मूले संख्येययोजनविस्तारस्तमसः स्कंधः समुद्रवद्वलयाकृतिरतितीव्रांधकारपरिणामः स ऊर्ध्वं क्रमवृध्द्या गच्छन् मध्येंऽते वा संख्येययोजनबाहुल्यः अरिष्टविमानस्याधोभागे समेतः कुक्कुटकुटीवदवस्थितः । तस्योपरि तमोराजयोऽष्टावुत्पत्यारिष्टेंद्रकविमानसमप्रणिधयः तत्र चतसृष्वपि दिक्षु द्वन्द्वं गतास्तिर्यगालोकांतात् तदंतरेषु पूर्वोत्तरकोणादिषु सारस्वतादयो यथाक्रमं वेदितव्याः ।

ये सारस्वत आदिक लौकान्तिकोंके देवगण भला कहां स्थित होरहे हैं ? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि पूर्व और उत्तर दिशाके मध्य कोण होरहे ईशान आदि दिशाओं में अर्थात् ईशान विदिशामें सारस्वत देवोंके विमान हैं । पूर्व दिशामें आदित्य का विमान है । पूर्वदक्षिण यानी आग्नेय विदिशा में वन्हिजातीय लौकान्तिकों के विमान हैं । दक्षिण दिशा में अरुण का विमान है । दक्षिण पश्चिम कोण यानी नैऋत्य विदिशामें गर्दतोयोंके विमान हैं। पश्चिम दिशामें तुषितोंके विमान हैं । पश्चिम उत्तर कोण यानी वायव्य विदिशामें अव्याबाधों के विमान हैं । उत्तर दिशामें अरिष्ट जातीय लौकान्तिकों के विमान हैं । उसी को स्पष्ट रूपसे इस प्रकार समझना चाहिये कि नीचे अरुण समुद्रसे उत्पन्न हुआ और मूल में संख्यात योजन विस्तार वाला अन्धकारका स्कन्ध ऊपर की ओर उठ रहा है । जो कि समुद्रके समान होरहा कंकणकी आकृति को धार रहा है । अत्यन्त तीव्र अन्धकार परिणाम स्वरूप है । अर्थात् चौमासे में वर्षायुक्त होरही अमावस्या की रात्रिके निबिड अन्धकार से भी अत्यधिक गाढ

अन्धकार का पिण्ड उभर रहा है। वह ऊपर की ओर क्रमक्रमसे वृद्धि करके बढ़ता जा रहा मध्य में और अन्त में संख्यात योजन मोटा होजाता है। पुनः शिखर के समान घट कर ब्रह्म स्वर्ग सम्बन्धी पहिले पटलके मध्यवर्ती अरिष्ट विमान के नीचे भागमें एकत्रित होता हुआ मुर्गेकी कुटी (कुडला)के समान अन्धकार स्थित होगया है। भावार्थ-मसजिदों की शिखर या भुसभरने की बुरजी जैसे नीचे गोल होकर क्रमसे ऊपर को फैलकर बढ़ती हुई पुनः शिखाऊ ऊपर जाकर घट जाती है। उसी प्रकार इस अन्धकारस्कन्ध की रचना समझना। धूम या काजल के समान अन्धकार भी पुद्गल की काले रंगवाली पर्याय विशेष है। कतिपय अन्धकार तो प्रकाशक पदार्थोंसे नष्ट होजाते हैं। किन्तु पुद्गल की सुमेरु, सूर्य, कुलाचलों आदिके समान यह अन्धकारका पिण्ड स्वरूप अनादि अनिधन पर्याय है। उष्ण पदार्थ शीतस्पर्शका नाशक है। परन्तु शीतद्रव्य भी उष्णता को समूल नष्ट कर सकता है। इस अन्धकार परिणति पर सूर्य या अन्य विमान आदि के प्रकाशोंका प्रभाव नहीं पडता है। वैशेषिकों के यहां अन्धकार जैसे कोई भाव पदार्थ नहीं होकर तेजका अभाव पदार्थ तुच्छ माना गया है। वैसा जैन सिद्धांत नहीं है। धूली पटल, काजल, धूमरेखा, बाष्प आदिके समान अन्धकार भी पुद्गल की विशेष परिणति है। मसालके ऊपर निकल रहे काले धूयेंको जैसे मसाल की ज्योति नष्ट नहीं कर देती है, अथवा आंधीके आने पर लाल पीले रेत को सूर्यप्रभा कोई नष्ट नहीं कर देती है, प्रत्युत प्रकाशक पदार्थ उन काले पीले, धौले पदार्थोंको उन्हीं के ठीक रंग अनुसार प्रकाशित कर देते हैं। उसी प्रकार काली स्याही को धूलके समान फैल रहे इस गाढ़ अन्धकार को प्रकाशक पदार्थ नष्ट नहीं कर पाते हैं। भले ही उसके ठीक रूप अनुकूल उसको जतादें। काले रंग की भींत या कपडे पर जो प्रकाशक पदार्थ का प्रभाव है, वही दशा यहां समझना। अरुण समुद्रके सूर्य या चन्द्रमा इस अन्धकारका बालाग्र भी खण्डन नहीं कर सकते हैं। पुनः उन एकत्रित हुये अन्धकार के ऊपर अरिष्ट नामक इन्द्रक विमान के निकटवर्तिनी होती संती अन्धकार की आठ पंक्तियां उठ कर झुकतीं हुई फैल रहीं हैं। वहां चारों भी दिशाओं में दो दो होकर द्वन्द्व को प्राप्त हुई तिरछी लोक पर्यन्ततक चलीं गयी हैं। उन अन्धकार पंक्तियोंके अन्तरालमें पूर्वोत्तर दिशाके कोने ईशान आदि विदिशा या दिशाओं में सारस्वत आदिक विमान या देवगण यथाक्रमसे व्यवस्थित होरहे समझलेने चाहिये।

च शब्दसमुच्चिताः सारस्वताद्यंतरालवर्तिनः परेऽन्याभसूर्याभादयो द्वंद्ववृत्त्या स्थिताः प्रत्येतव्याः, तद्यथा। सारस्वतादित्ययोरंतरालेऽन्याभसूर्याभाः, आदित्यवन्ह्योश्चंद्राभसत्याभाः, वन्ह्यरुणयोः श्रेयस्करक्षेमंकराः, अरुणगर्दतोययोर्वृषभेष्टकामचाराः, गर्दतोयतुषितयोर्निर्माणरजो दिगंतरक्षिताः, तुषिताव्याबाधयोरात्मरक्षितसर्वरक्षिताः, अव्याबाधारिष्टयोर्मरुद्वसवः, अरिष्टसारस्वतयोरश्वविश्वाः। तान्येतानि विमानानां नामानि तन्निवासिनां च देवानां तत्साहचर्यात्।

सूत्र में पडे हुये समुच्चय अर्थवाचक च शब्दकरके दूसरे दूसरे अग्न्याभ सूर्याभ, आदिक देव गणों का समुच्चय कर लिया जाता है। सारस्वत आदिकों के आठ अन्तरालोंमें वर्त रहे अग्न्याभ, सूर्याभ आदिक देवगण दो दोकी द्वन्द्ववृत्तिसे स्थित होरहे विश्वास कर लेने योग्य हैं। उसी बात को स्पष्ट रूपसे इस प्रकार जानलो कि सारस्वत और आदित्य के अन्तरालमे दो अग्न्याभ और सूर्याभजाति के कई विमान विरचित हैं। तथा आदित्य और वन्हि के मध्यमें चन्द्राभ और सत्याभ देवगण हैं। वन्हि और अरुणोंके अन्तराल में श्रेयस्कर और क्षेमंकर इन दो जातिके लौकान्तिक भेद बस रहे हैं। अरुण और गर्दतोय के अन्तराल में वृषभेष्ट और कामचार इन दो मण्डलियोंका निवास है। गर्दतोय और तुषित के बीचमें निर्माणरज: और दिगन्तरक्षित देवगणों के स्थान हैं। तुषित और अव्याबाधके बीच में आत्मरक्षित और सर्वरक्षित जातिके लौकान्तिक देव मण्डल हैं। अव्याबाध और अरिष्टके अन्तर स्थान में मरुत् और वसु निवास कर रहे हैं। अरिष्ट और सारस्वत के अन्तराल में अश्व और विश्व जातिके देवगण बस रहे हैं। वे सारस्वत, अग्न्याभ आदिक ये सब विमानोंके नाम हैं, उन विमानोंका सहचरपना होनेसे उनमें निवास करने वाले देवों के भी प्रवाहमुद्रया सारस्वत आदिक नाम कहे जाते हैं।

तत्र सारस्वताः सप्तशतसंख्याः, आदित्याश्च सप्तशतगणनाः, वन्हयः सप्तसहस्राणि सप्ताधिकानि, अरुणाश्च तावंत एव, गर्दतोया नवसहस्राणि नवोत्तराणि, तुषिताश्च तावंत एव. अव्याबाधा एकादशसहस्राण्येकादशानि,अरिष्टा अपि तावंत एव। च शब्दसमुच्चितानां संख्योच्यते-अग्न्याभे देवाः सप्तसहस्राणि सप्ताधिकानि,सूर्याभे नवनवोत्तराणि,चन्द्राभे एकादशैकादशोत्तराणि, सत्याभे त्रयोदश त्रयोदशोत्तराणि, श्रेयस्करे पंचदशपंचदशोत्तराणि, क्षेमंकरे सप्तदश सप्तदशोत्तराणि वृषभेष्टे एकोनविंशत्येकोनविंशत्यधिकानि, कामचारे एकविंशत्येकविंशत्यधिकानि, निर्माणरजसि त्रयोविंशतित्रयोविंशत्यधिकानि, दिगंतरक्षिते पंचविंशतिपंचविंशत्यधिकानि, आत्मरक्षिते सप्तविंशतिसप्तविंशत्यधिकानि, सर्वरक्षिते एकान्नत्रिंशदेकान्नत्रिंशदधिकानि, मरुति एकत्रिंशदेकत्रिंशदधिकानि, वसुनि त्रयस्त्रिंशत्त्रयस्त्रिंशदधिकानि, अश्वे पंचत्रिंशत्पंचत्रिंशदधिकानि विश्वे सप्तत्रिंशत्सप्तत्रिंशदधिकानि। त एते चतुर्विंशतिर्लौकान्तिकगणाः समुदिताः चत्वारिंशतसहस्राणि अष्टसप्ततिश्च शतानि षडुत्तराणि।

अब लौकान्तिक देवों की संख्याको गिनाते हैं। उन चौवीस गणोंमें सारस्वत देवोंकी संख्या सात सौ है। और आदित्यों की गणना भी सात सौ ही समझनी चाहिये। वन्हिगण के देवों की संख्या सात अधिक सात हजार है। अरुण जाति के देव भी उतने ही यानी सात हजार सात हैं। गर्दतोय विमानों में रहनेवाले देव नौ ऊपर नौ हजार हैं। तथा तुषित भी उतने ही यानी नौ हजार नौ हैं। अव्याबाध देवगण में ग्यारह हजार ग्यारह देवगण हैं। अरिष्ट भी उतने ही यानी ग्यारह हजार हैं। च शब्द से समुच्चय कर लिये गये अग्न्याभ आदि देवों की संख्या अब कही

जाती है। अग्न्याभमें देव सात अधिक सात हजार हैं। सूर्याभविमानमें नौ अधिक नौ हजार हैं। चन्द्राभ में ग्यारह अधिक ग्यारह हजार हैं। सत्याभ में तेरह हजार तेरह देव बसते हैं। श्रेयस्कर में पंद्रह ऊपर पन्द्रह हजार देव निवसते हैं। क्षेमंकर में सत्रह अधिक सत्रह हजार देव निवास करते हैं। वृषभेष्टमें उनईस हजार उनईस अधिक देव वस रहे हैं। कामचारमें इकईस हजार इकईस अधिक देव ठहरे हुये हैं। निर्माणरजाः में तेईस हजार तेईस अधिक अमर विराजते हैं। दिगन्तरक्षित में पच्चीस हजार पच्चीस सुर निवसते हैं। आत्मरक्षित में सत्ताईस अधिक सत्ताईस हजार देव स्थित हैं। सर्वरक्षितमें उन्तीस सहस्र उन्तीस देवों का निवास है। मरुत्में इकत्तीस हजार इकतीस अधिक देव शोभते हैं। वसुमें तेतीस हजार अधिक तेतीस देव वस रहे हैं। अश्व में पैंतीस अधिक पैंतीस हजार देव राजते हैं। विश्व में सैंतीस अधिक सैंतीस हजार देव निवास करते हैं। वे सब इन संख्याओं को धार रहे ये चौबीस लौकान्तिकोंके गण एकत्रित कर दिये जांय तो सम्पूर्ण लौकान्तिक देवो की संख्या चारलाख सात हजार आठसौ ऊपर छह होजाती है। तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकारोंके मन्तव्य अनुसार उक्त संख्या ही ठीक है। हां, त्रिलोकसार की "सारस्सद आइच्चा सत्तसया सपजुदाय णवहुरुणा। सगसगमहस्समुवरिं दुगु दुगु दो दुग सहस्स वड्ढिकमा" इस गाथाके अनुसार सारस्वत और आदित्यों की सातसौ सात संख्या मानकर पुनः वृद्धि होजानेसे चार लाख सात हजार आठसौ बीस यह लौकान्तिक देवों की संख्या चोखी जचती है।

सर्वे स्वतंत्राः हीनाधिकत्वाभावात्। विषयरतिविरहाद्देवर्षयः तत एवेतरेषां देवानामर्चनीयाः चतुर्दशपूर्वधराः सततं ज्ञानभावनावहितमनसः नित्यं संसारादुद्विग्नाः अनित्याशरणाद्यनुप्रेक्षावहितचेतसः तीर्थंकरनिःक्रमणप्रबोधनपराः नामकर्मविशेषोदयादुपजायंते।

ये सभी लौकान्तिक देव अहमिन्द्रोंके समान स्वतंत्र हैं। किसी इन्द्र, प्रतीन्द्र आदिका इन पर कोई कुत्सित अधिकार नहीं चलता है। परस्परमें भी हीनपना या अधिकपना नहीं होनेसे कोई किसीके पराधीन नहीं है। इन्द्रियसम्बन्धी विषयोंमें रागभावका विरह होजानेसे देवोंमें ऋषितुल्य होरहे ये देवर्षि कहे जाते हैं। तिस ही कारणसे अन्य देवोंके पूजनीय हैं। चौदह पूर्वको धार रहे ये द्वादशांगवेत्ता हैं। इनका चित्त सर्वदा ज्ञानाभ्यास की भावना करते हुये उसीमें एकाग्र लगा रहता है। नित्य ही संसारसे उद्वेगको प्राप्त होरहे वैराग्यतत्पर रहते हैं। अनित्य, अशरण, संसार आदि बारह अनुप्रेक्षाओं के भावने में इनकी चित्तवृत्ति सकी रहती है। तीर्थंकर भगवान्के तपःकल्याणके अवसरपर नियोग साधते हुये भगवान् को तत्वप्रबोध कराने के लिये तत्पर रहते हैं। निष्क्रमणके सिवाय अन्य किन्हीं भी कल्याणोंमें या नन्दीश्वर-

द्वीप अथवा अन्य अकृत्रिम चैत्यालयोंकी वन्दना आदिमें इनको जाने आने की उत्सुकता नहीं है। देवगति नाम कर्मके भेद प्रभेद होरहे लौकान्तिक देव नामक प्रकृति विशेषके उदयसे उक्त ढंग के ये देव उपज जाते हैं। नामकर्म की उत्तरोत्तर प्रकृतियां असंख्याती हैं। यह जीव पहिले शुभ, अशुभ, कर्मोंके अनुसार विभिन्न पर्यायोंमें उपज जाता है। पश्चात् स्वकीय पुरुषार्थ द्वारा विलक्षण कार्योंको साधलेता है। सिद्धान्त ग्रन्थों में संसारी जीवों की अवस्थाओं का कर्मजनित और पुरुषार्थजनित न्यारा न्यारा स्वरूप दरसादिया गया है।

तेन्वर्थसंज्ञतां प्राप्ता भेदाः सारस्वतादयः।
तेनैकचरमास्तद्वच्छक्राद्याश्चोपलक्षिताः ॥ १ ॥

लौकान्तिक देवगणोंके वे सारस्वत आदिक भेद अन्वर्थसंज्ञापनेको प्राप्त हो रहे हैं। तिस कारण ये लौकान्तिक देव एकचरम हैं। यानी एक मनुष्य भव लेकर चरमशरीर अवस्था से निर्वाण प्राप्त कर लेंगे। अतः शब्दमेंसे निकले हुये अर्थके अनुसार इनका नाम यथार्थ है। उमास्वामी महाराजने इन दो न्यारे सूत्रों करके एक भवतारी लौकान्तिक देवोंका स्वतंत्र निरूपण किया है। यह उपलक्षण है। जैसे "काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्" यहां काक पद दहीके उपघातकों का उपलक्षण है। छह दक्षिण दिशाके इन्द्र, सौधर्म इन्द्रकी इन्द्राणी, सौधर्म स्वर्गके लोकपाल, सर्वार्थसिद्धिके देव ये भी एक भवतारी हैं। अतः उन लौकान्तिकों के समान इस सूत्र द्वारा सौधर्म इन्द्र आदि सभी एक भवतारी जीवों का उपलक्षण कर दिया गया समझ लेना

यथैकचरमा लौकांतिकाः सर्वेन्वर्थसंज्ञां प्राप्ताः सूत्रिताः तथा शक्रादयश्च तेषामुपलक्षणत्वात्।

जिस प्रकार कि एक चरम होरहे सभी लौकान्तिक देव परले जन्म में संसार का अन्त करने वाले होते हुये सत्य अर्थके अनुकूल होरही संज्ञाको प्राप्त होरहे सूत्र द्वारा उमास्वामी महाराजने कह दिये हैं, उसी प्रकार सौधर्म इन्द्र आदिक भी एक चरम शरीर को प्राप्त कर दूसरे जन्म में संसार का अन्त कर देने वाले सूचित कर दिये गये हैं। क्योंकि उन सारस्वत आदिकों का एक भवतारी जीवों में उपलक्षणपना है। अतः "ब्राम्हणवशिष्ट" न्याय से इन एक भवतारी जीवोंका न्यारे सूत्रों द्वारा निरूपण करना समुचित है।

क्व पुनर्द्विचरमा इत्याह।

जब कि ये लौकान्तिक या शक्र आदिक एक चरम हैं, तो फिर महाराज यह बताओ कि द्विचरम यानी दो भवतारी जीव कौनसे हैं? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २६ ॥

विजय आदि विमानों में दो चरम वाले देव निवास करते हैं। अर्थात् विजय, वैजयन्त, अपराजित और नौ अनुदिश विमानोंके देव अधिकपनेसे अन्तिम दो मनुष्य भवोंको प्राप्त कर मोक्षको चले जाते हैं। यहां विजय और आदि शद्वके साथ बहुव्रीहि समास तथा तत्पुरुष समास कर देनेसे वैजयन्त, अपराजित, और अनुदिशोंका इष्टग्रहण सिद्ध होजाता है। ये तेरह विमानोंके निवासी पल्यके असंख्यातवें भाग स्वरूप असंख्याते देव आयुष्य पूर्ण होते सन्ते सम्यक्त्वसे नहीं छूटते हुये मनुष्योंमें उपज कर पुनः संयमको आराधना करते हुये फिर विजयादिकों में उपज कर वहां से च्युत होते हुये यहां कर्म भूमिमें मनुष्य भवको प्राप्त कर सिद्ध होजाते हैं। यों दो मनुष्य भवोंकी अपेक्षा द्विचरमपना होजाता है॥

आदिशद्वः प्रकारार्थः। कः प्रकारः? सम्यग्दृष्टित्वे निर्ग्रंथत्वे च सत्युपपादः। स च विजयस्येव वैजयंतजयन्तापराजितानामनुदिशानामप्यस्तीति तत्रादिशद्वेन गृह्यते। सर्वार्थसिद्धस्य ग्रहण प्रसंग इति चेन्न,तस्यान्वर्थसंज्ञाकरणात् पृथगुपादानाच्च लौकान्तिकवदेकचरमत्वसिद्धेः।

यहां सूत्रमें पडे हुये आदि शद्वका अर्थ प्रकार है। वह प्रकार क्या है? इसका उत्तर यह है कि सम्यग्दृष्टि होते हुये और निर्ग्रन्थपना होते हुये जो देवोंमें उपपाद जन्म लेना है। हां, वह सम्यग्दृष्टि और निर्ग्रन्थ मनुष्योंका उपपाद विजय के समान वैजयन्त, जयन्त अपराजित, और अनुदिश विमानवासियोंके भी विद्यमान है। इस कारण वहां आदि शद्व करके बारह विमानोंका ग्रहण कर लिया जाता है। अर्थात् सम्यग्दृष्टि हो रहे महाव्रती का ही मरकर जहां जन्म लेने का नियम है, वे स्थान विजय आदिक कहे जाते हैं। जन्मके आदिमें सम्यग्दृष्टि होते हुये अहमिन्द्रपनका अकलंक नियम भी इससे प्रतिकूल नहीं पडता है। यदि यहां कोई यों कहे कि सम्यग्दृष्टि महाव्रती पुरुषोंका ही उपपाद जन्म होना तो सर्वार्थसिद्धि विमानोंमें भी है। अतः आदि पदसे यहां मानुषियोंसे तिगुने या उत्कृष्टतया सात गुने सर्वार्थसिद्धि वाले संख्यात देवोंके ग्रहण होजानेका प्रसंग होगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस सर्वार्थसिद्धि की ठीक ठीक वाचक शद्वके अनुसार अर्थ घटित होजानेवाली संज्ञा की गयी है। भावार्थ—सम्पूर्ण अर्थों की सिद्धि प्राप्त करनेवाले ये देव हैं। अगले भव में ही मोक्ष की सिद्धि करलेवेंगे। दूसरी बात यह है कि सौधर्मैशान आदि सूत्रमें "सर्वार्थसिद्धि" का पृथग् रूपसे उपादान किया गया है। अतः लौकान्तिक देवोंके समान एक चरमशरीरपना सिद्ध है। अतः यह सूत्र सम्यग्दृष्टि महाव्रती ही मनुष्योंके उपपाद स्थान होरहे विजय आदि तेरह विमानोंमें रहने वाले अहमिन्द्रोंके लिये चरितार्थ है।

कथं पुनर्विजयादीनां द्विचरमत्वं ? मनुष्यभवापेक्षाया तथैव व्याख्याप्रज्ञप्तिदंडकेऽभिधानात् । देवभवापेक्षायामपि त्रिचरमत्वप्रसंगात् ।

विजयादिक अहमिन्द्रोंके द्विचरमपना किस प्रकार व्यवस्थित है ? इसका समाधान यह है कि दो मनुष्य भवोंकी अपेक्षा करते सन्ते द्विचरमपना । यानी विजयादिकसे च्युत होकर मनुष्योंमें उपज कर संयम लेते हुये, पुनः विजयादिकमें उपपाद कर पुनः मनुष्य जन्म लेकर सिद्ध हो जाते हैं । तिस ही प्रकार व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डक नामक महा अधिकारमें कहा गया है । यदि मध्यवर्त्ती देवभवकी अपेक्षा भी की जायगी तब तो त्रिचरमपनका प्रसंग होगा । दो मनुष्यभव और एक देवभव यों तीन भवधारी ये हो जायंगे । व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकमें अन्तर प्रकरणके अनुसार आये हुये, विरोधका भी निवारण कर दिया है । अन्य कल्पमें उत्पत्ति हो जानेकी अपेक्षा नहीं रखकर किये गये, गौतम महाराजके प्रश्नपर भगवान्का उत्तर यह है, जो कि सूत्रमें कहा गया है ।

मनुष्यभवस्य पुनरेकस्य मुख्यचरमत्वं येनैव निर्वाणप्राप्तेः । अपरस्य तु चरमप्रत्यासत्तेरुपचरितं चरमत्वं सजातीयस्य व्यवधायकस्याभावात् तस्य तत्प्रत्यासत्तिसिद्धेः । द्वौ चरमौ मनुष्यभवौ येषां ते द्विचरमाः देवाः विजयादिषु प्रतिपत्तव्याः ।

यदि कोई यों कटाक्ष करे कि कितने ही थोडे या बहुत पदार्थ क्यों न हों उनमें चरम एक ही हो सकता है । अनन्तानन्त पदार्थमें भी चरम एक ही होगा । फिर यहां दो को चरमपना कैसे कहा ? ग्रन्थकार इसका समाधान यों कर देते हैं कि भाई तुम्हारा कहना ठीक है । एक ही अन्तिम मनुष्य भवको मुख्य रूपसे चरमपना है, जिस ही करके निर्वाणकी प्राप्ति होती है । किंतु उसके निकटवर्त्ती दूसरे या तीसरे न्यारे भवको चरमपना तो चरमके निकटवर्त्ती होनेके कारण उपचरित है । कोई दूसरा समान जातिवाला पदार्थ व्यवधान करनेवाला नहीं है । अतः उस दूसरे या तीसरे भवको उस मुख्यचरमकी निकटवर्त्तिता सिद्ध है । जिनके दो मनुष्य भव अन्तिम लेने शेष हैं, वे देव द्विचरम हो रहे विजय आदिकमें निवास कर रहे समझ लेने चाहिये ।

अथान्यत्र सौधर्मादिषु कियच्चरमा देवा इत्यावेदयितुमाह ।

अब महाराज यह बताओ कि अन्य सौधर्म, आदिक विमानोंमें निवास कर रहे देव भला कितने चरम भवोंको ग्रहण कर निर्वाण प्राप्त करेंगे ? इस प्रश्नके समाधानका प्रज्ञापन करनेके लिये ग्रन्थकार उत्तरवार्त्तिकको कहते हैं ।

तथा द्विचरमाः प्रोक्ता विजयादिषु यतोऽमराः ।
ततोन्यत्र नियामोस्ति न मनुष्यभवेष्विह ॥ १ ॥

जिस कारणसे कि विजय आदिकोंमें तिस प्रकार दो मनुष्य भवोंकी अपेक्षा द्विचरम देव अच्छे कहे गये हैं, तिस कारण अन्य वैमानिकोंमें यहां मनुष्य भवोंमें नियम करानेवाला कोई नहीं है। अर्थात्–सौधर्म आदिके देव सौ भव या अनन्त भव लेकर मोक्ष जावेंगे ऐसा कोई नियम नहीं है। ग्रैवेयकों तकमें उपजनेवाले अनन्तवार ग्रैवेयक या मनुष्य भवोंमें संसरण करते रहते हैं। अनेक जीव तो मुक्तिको कथमपि प्राप्त नहीं कर सकेंगे। अतः लौकान्तिक आदिकोंका एक चरमपना और विजयादिकोंका दो चरमपना प्रसिद्ध है। क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंका त्रिचरमपना यानी उत्कृष्टतया चौथे भवमें मोक्ष जाना निर्णीत है। तीर्थंकर प्रकृतिवाला जीव भी उत्कृष्ट तया द्विचरम है। तीसरे जन्ममें अवश्य मोक्ष पावेगा। अन्य जीवोंके लिये कोई मुक्ति प्राप्त करनेके लिये भवोंका नियम नहीं बखाना गया है। भले प्रकार सल्लेखना करनेवाला जीव सात, आठ, जन्मोंमें मुक्तिको प्राप्त कर लेता है, ऐसा चरणानुयोगका सिद्धांत है। " जेसि होइ जहण्णा चउव्विहाराहणा दु भवियाणं। सत्तट्ठभवे गंतुं ते विय पावन्ति णिव्वाणं " इनके अतिरिक्त मुक्ति प्राप्त करनेके लिये भवोंका नियम नहीं किया गया है। भले ही न्यारे न्यारे जन्मोंकी अपेक्षा यह जीव महाव्रतोंको अधिकसे अधिक बत्तीस बार धारण कर सकता है। एक भवमें अधिकसे अधिक दो बार लेता हुआ उपशम श्रेणीको चार बार ले सकता है। किन्तु इसमें तो कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परिवर्त्तन काल भी पूरा होकर अनन्ते जन्म हो सकते हैं। अनन्त कल्पकाल भी समाजाय। अतः यह कोई चरमभवोंकी गणनाका नियम नहीं समझा जाता है।

यतो लौकांतिकानां सर्वार्थसिद्धस्य शक्रस्य च तदग्रमहिष्या लोकपालादीनामेकचरमत्व-मुक्तं तथा विजयादिदेवानां द्विचरमत्वं, ततोन्यत्र सौधर्मादिषु नियमो नास्तीति गम्यते।

जिस कारणसे कि लौकान्तिक देवोंका और सर्वार्थसिद्धिवाले देवोंका तथा सौधर्म इंद्रका एवं उसकी अग्रमहिषी हो रही इन्द्राणीका तथैव लोकपाल आदिकोंका एकचरमपना सिद्धांत ग्रन्थोंमें कहा गया है, तिस प्रकार विजय, आदिक देवोंका द्विचरमपना निर्णीत है। उनके सिवाय सौधर्म आदिकोंके अन्य देवोंमें कोई द्विचरमपन आदिका कोई नियम नहीं है। यों अर्थापत्त्या जान लिया जाता है। लोकपाल आदि यहां आदिशब्दसे दक्षिण दिशाके इन्द्रोंका ग्रहण कर लेना, त्रिलोकसारमें " सोहम्मो वरदेवी सलोगपाला य दक्खिणमरिंदा। लोगंतिय सव्वट्ठा तदो चुदा णिव्वुदिं जन्ति " यों कहा है।

इत्येकादशभिः सूत्रैर्वैमानिकनिरूपणं।
युक्त्यागमवशादात्तं तन्निकायचतुष्टयम् ॥ २ ॥

इस प्रकार 'वैमानिकाः' इस सूत्रसे प्रारम्भ कर 'विजयादिषु द्विचरमाः' यहांतक ग्यारह सूत्रों करके श्री उमास्वामी महाराजने वैमानिक देवोंका निरूपण किया है। युक्ति और आगमके वशसे उन देवोंकी चारों निकायोंकी उक्त चौथे अध्याय द्वारा ग्रहण कर लिया जा चुका

है। अर्थात्--यहांतक इस अध्यायके छब्बीस सूत्रोंमें चारों देवनिकायोंका समीचीन युक्तियों और सर्वज्ञ द्वारा प्राप्त आगमके अनुसार कथन किया जा चुका है।

इति तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकारे चतुर्थाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्।

यहांतक तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार नामक महाग्रंथमें चौथे अध्यायका पहिला आन्हिक (प्रकरण समूह) परिसमाप्त हुआ।

---o---

प्राग्जन्मार्जितकर्मनित्यगतिकज्योतिष्कनिघ्नं क्षपा-
घस्रादिव्यवहारकालमचलास्थैर्यञ्च मुक्त्यै विदन्।
सूर्येन्द्वोरुपरागितांग्रहकृतानेन्दुक्षितिच्छायया
धर्म्यध्यानरतो भुवं समतलां पश्येदगोलां सुधीः ॥ १ ॥

---o---

अथ द्वितीयमाह्निकम्

जीवके औदयिक भावोंमें तिर्यक् योनिकी गतिको औदयिक भावोंमें गिनाया है। फिर स्थितिके प्रकरणमें " तिर्यग्योनिजानां च " इस सूत्र द्वारा तिर्यग्योनिवाले जीवोंकी स्थितिको समझाया है। वहां हम यह नहीं समझे कि तिर्यग्योनि जीव कौनसे हैं ? इस प्रकार सन्देह होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको समाधानार्थ प्रतिपादन करते हैं।

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २७ ॥

औपपादिक अर्थात्–उपपाद जन्मवाले देव और नारकी जीव तथा मनुष्य इनसे शेष बच रहे सम्पूर्ण संसारी जीव तिर्यग्योनि यानी तिर्यंच हैं। तीन गतिओंके जीव असंख्यातासंख्यात हैं। किन्तु तिर्यंच जीव अनन्तानन्त हैं।

औपपादिकाश्च मनुष्याश्चौपपादिकमनुष्या इत्यत्र द्वंद्वेऽभ्यर्हितत्वादौपपादिकशद्वस्य पूर्वनिपातः। मनुष्यशद्वस्याल्पाक्षरत्वेपि तस्मादुत्तरत्र प्रयोगः, अभ्यर्हितत्वस्याल्पाक्षरापवादत्वात्। तेभ्योन्ये शेषाः संसारिणः तिर्यग्योनयः प्रत्येयाः, तिर्यग्नामकर्मोदयसद्भावात्। न पुनः सिद्धाः संसारिप्रकरणे तदप्रसंगात्।

औपपादिक और मनुष्य यों इतरेतर द्वन्द्व कर ' औपपादिकमनुष्याः ' यह पद बनाना चाहिये। इस पदमें द्वन्द्व समास करनेपर अभ्यर्हित (पूज्य) होनेसे ' अभ्यर्हितं पूर्वं ' इस सूत्र अनुसार बहुत अच्वाले भी औपपादिक शद्वका पूर्वमें निपात हो जाता है। मनुष्य शद्वका अल्प अक्षरवाला या अत्यल्प अच्वाला होनेपर भी उस औपपादिकसे पीछे प्रयोग किया है।

क्योंकि ' अल्पाच् तरं पूर्वं ' इस सूत्रका अपवाद करनेवाला ' अभ्यर्हितं च ' है । अतः अभ्यर्हितपना अल्पाक्षरपनेको बाध लेता है । औपपादिकोंमें देव आ जाते हैं । और देव स्थिति, प्रभाव, आदि करके पूज्य कहे जा चुके हैं । उन औपपादिक और मनुष्योंसे अतिरिक्त शेष संसारी जीव तिर्यंच समझ लेने चाहिये । क्योंकि उनके तिर्यग्गति नामक नाम कर्मका उदय विद्यमान रहता है । औपपादिक और मनुष्योंसे शेष रहे सिद्ध फिर नहीं ग्रहण किये जाते हैं । क्योंकि संसारी जीवोंके प्रकरणमें उन शुद्ध परमात्माओंका प्रसंग नहीं है । सिद्धोंमें गति कर्मका उदय नहीं पाया जाता है ।

कस्मात्पुनरिह तेभिधीयंते ? तिर्यक्प्रकरणे तेषामभिधानार्हत्वात् इत्याशंकमानं प्रत्याह ।

कोई शिष्य आशंका कर रहा है कि किस कारणसे फिर वे तिर्यंच जीव यहां विना प्रकरण कहे जा रहे हैं । जब कि दूसरे अध्यायमें तिर्यंचोंके प्रकरणमें उन तिर्यग्योनि जीवोंका कथन करना योग्य प्रतीत होता है ? इस प्रकार आशंका कर रहे शिष्यके प्रति ग्रन्थकार समाधान वचनको कहते हैं ।

सर्वलोकाश्रयाः सिद्धास्तिर्यंचोप्यर्थतोंगिनः ।
सन्त्यौपपादिकेभ्यस्ते मनुष्येभ्योपि चापरे ॥ १ ॥
इति संक्षेपतस्तिर्यग्योनिजानां विनिश्चयः ।
कृतोत्र सूत्रकारेण लक्षणावासभेदतः ॥ २ ॥

आधारभूत संपूर्ण लोकके आश्रित हो रहे तिर्यंच प्राणी भी वास्तविक रूपसे प्रसिद्ध हो रहे हैं । तथा वे औपपादिक जीवोंसे और मनुष्य जीवोंसे भी न्यारे भिन्न प्रकारके विद्यमान हैं । इस प्रकार सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजने इस सूत्रमें लक्षण और निवास स्थानकी विशेषता अनुसार संक्षेपसे तिर्यंच जीवोंका विशेष निश्चय करा दिया है । भावार्थ—तिर्यंच जीव तीनों लोकोंमें भरे हुये हैं । तीनों लोकोंका निरूपण कर चुकनेपर तिर्यंचोंका प्रतिपादन करना सुगम है । अतः इस सूत्र द्वारा तिर्यंचोंके लक्षण और अर्थापत्या निवासस्थान इन तीनों लोककी प्रतिपत्ति करा देना सूत्रकारको आवश्यक पड गया है ।

अधोलोकं मध्यलोकमूर्ध्वलोकं चाभिधाय यदत्र प्रकरणाभावेपि तिर्यग्योनिजानां निरूपणं सूत्रकारेण कृतं तत्तेषां सर्वलोकाश्रयत्वप्रतिपत्त्यर्थं च । तिर्यक्प्रकरणेस्य सूत्रस्याभिधाने सर्वतिर्यग्भेदवचने सति सूत्रस्य गौरवप्रसंगात् । सर्वलोकाश्रयत्वं पुनरेषां परिशेषात् प्रोच्यते ।

तीसरे अध्यायमें अधोलोक और मध्यलोकका वर्णन कर तथा चतुर्थ अध्यायमें छब्बीस सूत्रतक ऊर्ध्व लोकका निरूपण कर, प्रकरण नहीं होनेपर भी सूत्रकारने जो यहां तिर्यंच जीवोंका प्रतिपादन किया है, वह तो उन तिर्यंचोंके सर्व लोकके आश्रितपनकी प्रतिपत्ति करानेके लिये और संक्षेप करनेके लिये है। यदि दूसरे अध्यायमें तिर्यंचोंके प्रकरणमें इस सूत्रका कथन किया जाता तो सम्पूर्ण तिर्यंचोंके भेदोंका वचन करते सन्ते सूत्रके गौरव दोष हो जानेका प्रसंग आता। दूसरे अध्यायमें तबतक नारकी, मनुष्य और देवोंका निरूपण भी नहीं किया गया था। वहां नारकी जीवों या मनुष्यों अथवा देवोंके प्रतिपादक सूत्र भर दिये जाते तो अर्थकृत और प्रमाणकृत भारी गौरव हो जाता। तीनों लोक और तीनों गतियोंके जीवोंका वर्णन कर चुकनेपर यहां लघुतासे तिर्यंचोंका लक्षण और उनका निवास स्थान समझा दिया है। इन तिर्यंचोंके अधिकरणभूत संपूर्ण लोकमें आश्रित रहनेकी तो फिर परिशेष न्यायसे योजना कर ली जाती है। यानी तीन लोकका निरूपण कर चुकनेपर तिर्यंचोंका यहां कथन करना उनके सर्व लोकमें व्याप कर ठहरनेको ध्वनित करता है।

तिर्यग्योनयो द्विविधाः सूक्ष्मा बादाराश्च, सूक्ष्मबादरनामकर्मद्वैविध्यात्। तत्र सूक्ष्माः सर्वलोकवासिनः, बादरास्तु नियतावासा इति नियतावासाभेदनिरूपणं तिर्यग्योनिशद्वनिरुक्त्या लक्षणनिरूपणं तिरश्चीन्यग्भूतोपबाह्या योनिर्येषां ते तिर्यग्योनय इति। मनुष्यादीनां केषांचित् परोपबाह्यत्वात् तिर्यग्योनित्वप्रसंगादिति चेन्न, तिर्यग्नामकर्मोदये सतीति वचनात्।

तिर्यंच जीव दो प्रकारके हैं। नाम कर्मकी सूक्ष्म प्रकृति और बादर प्रकृति इन दो प्रकारके कर्मोंके उदय अनुसार हुये सूक्ष्म और बादर ये दो प्रकारके तिर्यंच हैं। उन दो भेदोंमें पृथिवी अप्, तेज, वायु, वनस्पतिकायिक सूक्ष्म तिर्यंच संपूर्ण लोकमें निवास कर रहे हैं। और बादर हो रहे पृथिवी, तेज, अप्, वायु, वनस्पति, और विकलेन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय तिर्यंच तो नियत हो रहे क्वचित् स्थानोंपर निवास करते हैं। इस प्रकार तिर्यंचोंके नियत हो रहे निवास-स्थान और भेदोंका निरूपण कर दिया गया है। तिर्यग्योनि इस शद्वकी निरुक्ति करके तिर्यंचोंके लक्षणका निरूपण कर दिया जाता है। यौगिक शद्वोंकी निरुक्ति कर देनेसे वाच्यार्थका लक्षण सम्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार कि पाचक, पालक, पालक, शद्वोंके निर्वचनसे ही रसोइया आदिके इतर व्यावर्त्तक लक्षण हो जाते हैं, इसी प्रकार यहां भी तिरश्ची न्यग्भूता यानी छिपी हुई जिनकी योनि उपजी है, वे जीव तिर्यग्योनि हैं। अथवा उपबाह्या यानी तिरस्कृत हो रही योनिको धारनेवाले जीव तिर्यग्योनि जीव हैं। भावार्थ—तिर्यंचोंमें एकेन्द्रियोंकी संख्या अत्यधिक है। इन एकेन्द्रियोंकी योनि संवृत (ढकी हुई) है। अथवा स्वयं तिर्यंचों करके अथवा मनुष्यों करके जो पद पदपर तिरस्कारको प्राप्त हो रहे हैं, वे तिर्यग्योनी जीव हैं। यहां कोई अतिप्रसंग दोष हो जानेकी शंका करता है कि किन्हीं किन्हीं मनुष्य, देव, आदिकोंका भी दूसरोंके द्वारा तिरस्कार हो रहा है। अतः उनको भी तिर्यग्योनिपनका प्रसंग हो जायगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह

तो नहीं कहना । क्योंकि अन्तरंगमें तिर्यग् नाम कर्मका उदय होते सन्ते जो उपबाह्य हैं, वे तिर्यंच हैं । इस प्रकार लक्षण कर देनेसे कोई दोष नहीं आता है । निर्णीतके साथ थोडा विशेषण और लगा दिया जाता है ।

संप्रति भवनवासिनां तावदुत्कृष्टस्थितिप्रतिपादनार्थमाह ।

उमास्वामी महाराजके प्रति किन्हींका पृष्टव्य है कि भगवन् ! अब इन जीवोंकी स्थिति कहनी चाहिये । नारकी, मनुष्य, तिर्यंचोंकी स्थिति तो आपने कह दी । देवोंकी नहीं कही है । अतः देवोंकी आयु किस प्रकार है ? यों पृष्टव्य होनेपर सबसे पहिले भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थितिको प्रतिपादन करनेके लिये सूत्रकार इस अवसरपर अग्रिम सूत्रको स्पष्ट कहते हैं ।

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपम-त्रिपल्योपमार्धहीनमिता ॥ २८ ॥

भवनवासियोंमें असुरकुमारोंकी एक सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है । नागकुमारोंकी तीन पल्योपम परिमित है । सुपर्णकुमारोंकी आधा पल्यहीन यानी ढाई पल्योपम परा स्थिति है । द्वीपकुमारोंकी उससे आधे पल्य हीन यानी दो पल्योपम है । शेष छह प्रकारके भवनवासियोंकी उससे भी आधापल्य कम अर्थात्---डेढ अद्धापल्योपम काल परिमित उत्कृष्ट स्थिति है ।

असुरादीनां सागरोपमादिभि रभि संबंधो यथाक्रमं ।

असुरकुमार, नागकुमार, आदिकों सागरोपम, त्रिपल्योपम, आदिके साथ क्रमका अतिक्रमं नहीं कर उद्देश्य विधेय अनुसार संबंध कर लेना चाहिये । यों इस सूत्रके छोटे पांच वाक्य बना लिये जाय ।

सूत्रकार अब क्रमप्राप्त हो रही व्यन्तर और ज्योतिष देवोंका उल्लंघन कर वैमानिक देवोंकी स्थितिको कहते हैं । क्योंकि भविष्यमें सरल उपायसे उनकी स्थिति कह दी जायगी । उन वैमानिकोंके आदिमें कहे गये पहिले युगलकी स्थितिको समझानेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके ॥ २९ ॥

सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें देवोंकी उत्कृष्ट आयु दो सागरसे कुछ अधिक है ।

द्विवचननिर्देशाद्द्वित्वगतिः, अधिके इत्यधिकार आसहस्रारात् ।

सागरोपमें यह शब्द द्विवचन " औ " विभक्तिका रूप है । अतः द्विवचनका कथन कर देनेसे द्वित्व संख्याकी ज्ञप्ति हो जाती है, यानी दो सागर यह अर्थ निकल आता है । जैसे घटौ का अर्थ दो घट है । इस सूत्रमें " अधिके " यह अधिकार पद है, जो कि सहस्रार स्वर्गतक जान लेना चाहिये । क्योंकि "त्रिसप्त" आदि सूत्रमें अधिकारका निवर्तक तु शब्द पडा हुआ है ।

सूत्रकारके व्यर्थ सरिखे पडे हुये शब्द न जाने किन किन अनेक अर्थोका ज्ञापन करते हैं। भावार्थ–यह उत्कृष्ट स्थिति इन्द्र प्रतीन्द्र आदि देवोंकी है। सौधर्म ऐशान स्वर्गके देवोंकी देवियोंकी स्थिति तो " साहियपल्लं अवरं कप्पदुगित्थीण पणग पढमवरं । एक्कारसे चउक्के कप्पे दो सत्त-परिवड्ढी " इस त्रिलोकसारकी गाथा अनुसार प्रथम युगल सम्बन्धी देवियोंकी जघन्य आयु साधिक पल्य है और सौधर्म देवियोंकी उत्कृष्ट आयु पांच पल्य एवं ऐशानमें सात पल्य है। सोलहवें स्वर्गमें देवियोंकी आयु पचपन पल्य है। "दक्खिण उत्तर देवी सोहम्मीसाग एव जायंते। तद्देवीओ पच्छा उपरिम देवा णयन्ति सगठाणं "। दक्षिण उत्तर बारह कल्पोंमें रहनेवाले कल्पवासी देवोंकी देवियां सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें ही उपजती हैं। पीछे उन देवियोंको नियोग अनुसार ऊपरले देव अपने अपने स्थानको ले जाते हैं।

अब श्री उमास्वामी महाराज दूसरे कल्प युगलकी स्थितिको विशेषतया समझानेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

सानत्कुमारमाहेंद्रयोः सप्त ॥ ३० ॥

सानत्कुमार और माहेंद्र नामक तीसरे, चौथे, स्वर्गोमें निवास कर रहे देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक सात सागर की है। घातायुष्क सम्यग्दृष्टिकी अपेक्षा आधा सागर आयु अधिक हो जाती है। यह व्यवस्था सौधर्मसे लेकर सहस्रार पर्यन्त तक समझनी चाहिये। उसके ऊपर घातायुष्क जीव उपज नहीं पाता है।

अधिकारात् सागरोपमाधिकानि चेति संप्रत्ययः।

अधिकार चला आरहा होनेसे सागरोपम और अधिक शब्दोंकी अनुवृत्ति हो जाती है। इस कारण सानत्कुमार और माहेन्द्रोंमें कुछ अधिक सात सागरोपम उत्कृष्ट आयु है। यह समीचीन प्रत्यय हो जाता है। " अर्थवशात् विभक्तेर्विपरिणामः " इस नीतिके अनुसार यहां " सागरोपम " और " अधिक " पदोंको बहुवचनान्त कर लिया जाता है।

श्री उमास्वामी महाराज ब्रह्मलोक स्वर्गसे आदि लेकर अच्युत पर्यन्त स्वर्गोमें निवास कर रहे देवोंकी उत्कृष्ट स्थितिको समझानेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपंचदशभिरधिकानि तु ॥ ३१ ॥

ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, स्वर्गोमें तीनसे अधिक हो रहे सात सागर यानी दस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गोमें सात करके अधिक हो रहे सात सागर यानी चौदह सागरकी स्थिति है। शुक्र महाशुक्रमें नौ सागरसे अधिक हो रहे सात सागर यानी सोलह सागरकी आयु है। शतार सहस्रार स्वर्गोमें ग्यारह सागरसे अधिक होरहे सात सागर अर्थात् अठारह सागरकी स्थिति है। यहांतक अधिक शब्दका अधिकार चला आ रहा है। अतः

उक्त स्थितियोंको घातायुष्क सम्यग्दृष्टियोंकी अपेक्षा आधा सागर अधिक समझना । आनत, प्राणत स्वर्गोंमें तेरह अधिक सात सागर यानी बीस सागरोपम काल उत्कृष्ट स्थिति है । तथा आरण और अच्युत स्वर्गमें पन्द्रह करके अधिक सागर अर्थात्–बावीस सागरकी स्थिति है । तु शब्दका प्रयोजन सहस्रारतक ही अधिक शब्द की अनुवृत्ति करना है ।

सप्तेत्यनुवर्तते, तेन सानत्कुमारमाहेंद्रयोरुपरि द्वयोः कल्पयोः सप्तसागरोपमाणि त्रिभिरधिकानि इति दश साधिकानि स्थितिः, तयोरुपरि द्वयोः कल्पयोः सप्त सप्ताधिकानीति चतुर्दशाधिकानीति, तयोरुपरि द्वयोः सप्तनवभिरधिकानीति षोडशाधिकानि, तयोरुपरि द्वयोः सप्तैकादशभिरधिकानीत्यष्टदशाधिकानि, तयोरुपरि द्वयोरानतप्राणतयोः सप्त त्रयोदशभिरधिकानीति विंशतिरेव, तयोरुपरि द्वयोरारणाच्युतयोः सप्तपंचदशभिरधिकानीति द्वाविंशतिरेव । तु शब्दस्य विशेषणार्थत्वात् । आसहस्रारादधिकारात् परत्राधिकानीत्यभिसंबंधाभावः ।

पूर्व सूत्रसे सप्त इस शब्दकी अनुवृत्ति कर ली जाती है । तिस कारणसे यह अर्थ हो जाता है । सानत्कुमार, माहेंद्र, स्वर्गोंके ऊपर दो कल्पोंमें तीनसे अधिक सात सागर स्थिति है । इस कारण उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक दस सागर की है । उन दो ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर स्वर्गोंके ऊपर दो कल्पोंमें सात अधिक सात सागर इस प्रकार साधिक चौदह सागर इतनी उत्कृष्ट स्थिति है । उन लान्तव कापिष्ठोंके ऊपर वर्त रहे दो शुक्र महाशुक्र स्वर्गोंमें नौसे अधिक सात सागर यों कुछ अधिक सोलह सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । उन शुक्र महाशुक्रोंके ऊपर ठहर रहे शतार सहस्रार, स्वर्गोंमें ग्यारहसे अधिक हो रहे सात सागर यों आधा सागर अधिक अठारह सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है । पुनः उन शतार सहस्रार दो स्वर्गोंके आधा राजू ऊपर वर्त रहे दो आनत, प्राणत स्वर्गोंमें तेरहसे अधिक हो रहे सात सागर यों केवल बीस ही सागरकी उत्कृष्ट आयु है । उन आनत प्राणतोंके आधा राजू ऊपर वर्त रहे दो आरण, अच्युत, स्वर्गोंमें देवोंका आयुष्य पन्द्रह करके अधिक सात सागर इस प्रकार शुद्ध बाईस ही सागर उत्कृष्ट आयुष्य हैं । सूत्रमें पडे हुए तु शब्दका अर्थ कुछ विशेषण लगाकर विशेषता कर देना है । अतः सहस्रारपर्यंत अधिक शब्द का अधिकार होनेसे परली ओर आनत आदिमें बीस, बाईस, इन दो स्थलोंपर सागरके साथ अधिकानि शब्दके सम्बन्ध करनेका अभाव हो जाता है । बात यह है कि घातायुष्क सम्यग्दृष्टि की आयु यदि साढे सात सागर होगयी है तो वह सानत्कुमार माहेंद्र स्वर्गोंमें उपजेगा । हां, अन्य साडेसात सागर आयुवाला जीव ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, स्वर्गोंमें जायगा । इसी प्रकार जिस घातायुष्क सम्यग्दृष्टि मनुष्यके साडे अठारह सागर स्थितिवाली देवायुष्यका सद्भाव हैं, वह शतार, सहस्रार स्वर्गोंमे जन्मेगा और शेष साडे अठारह सागर देवायुष्यवाला जीव आनत प्राणत स्वर्गोंमें जायगा ।

यहांसे छह राजू ऊपरतक निवस रहे उन आरण, अच्युत, स्वर्गोंके ऊपर अहमिन्द्र-वैमानिक देवोंकी स्थिति कितनी है ? इसकी प्रतिपत्ति करानेके लिए उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ ३२ ॥

आरण और अच्युत स्वर्गोंसे ऊपर नवग्रैवेयकोंमें प्रत्येकमें एक एक सागरसे अधिक हो रही स्थिति समझ लेनी चाहिये। अर्थात्–तीन अधोग्रैवेयकोंमें पहिले सुदर्शन ग्रैवेयकमें तेईस सागरकी स्थिति है। दूसरे अमोघ ग्रैवेयकमें चौबीससागरकी तीसरे सुप्रबुद्ध नामक ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र देवोंकी पच्चीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। तीन मध्यम ग्रैवेयकोंमें पहिले यशोधर नामक ग्रैवेयकमें छब्बीस सागर स्थिति है। दूसरे सुभद्र नामक ग्रैवेयकमें सत्ताईस सागर और तीसरे सुविशाल ग्रैवेयकमें अट्ठाईस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। ऊपरले तीन ग्रैवेयकोंमेंसे सुमनस नाम ग्रैवेयकमें उन्तीस सागर और दूसरे सौमनस ग्रैवेयकमें तीस सागरकी तथा तीसरे प्रीतिंकर ग्रैवेयकमें इकतीस सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है। नौ अनुदिश विमानोंमें एकसे अधिक इकतीस यानी बत्तीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। विजयादिकमें एक करके अधिक बत्तीस अर्थात्–तेतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। सर्वार्थसिद्धिमें जघन्य, उत्कृष्ट, दोनों भी स्थितियां परिपूर्ण तेतीस सागरोपम हैं।

अधिकाराद्धिकसंबंधः। ग्रैवेयकेभ्यो विजयादीनां पृथग्ग्रहणमनुदिशसंग्रहार्थं। प्रत्येकमेकैकवृद्ध्यभिसंबंधार्थं नवग्रहणं। सर्वार्थसिद्धस्य पृथग्ग्रहणं विकल्पनिवृत्त्यर्थं।

" सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके " इस सूत्रके अधिक शब्दका अधिकार तो पूर्व सूत्रके समासगर्भित चार पदोंतक ही लागू होता है। किन्तु " त्रिसप्त " आदि सूत्रमें पड़े हुए अधिक शब्दका अधिकार हो जानेसे यहां उसका सम्बन्ध कर लिया है। तिस करके उक्त अर्थ निकल आता है। ग्रैवेयक और विजय आदि दो पदोंका समास नहीं कर ग्रैवेयकसे विजय आदिका पृथग् ग्रहण करना तो नौ अनुदिश विमानोंका संग्रह करनेके लिये है। अनुदिशके नौऊ विमानोंमें केवल एक सागरकी ही वृद्धि होती है। हां, ग्रैवेयकोंमें प्रत्येक ग्रैवेयकके साथ एक एक सागरकी वृद्धि हो जानेका नौऊ ओर सम्बन्ध करनेके लिये नव शब्दका ग्रहण है। अर्थात्–नव शब्द नहीं कह कर केवल ग्रैवेयकेषु इतना ही कह देते तो विजय आदिके समान नौऊ ग्रैवेयकोंमें एक ही सागर अधिक बढ़ता। नवसु कह देनेपर तो नौ स्थानोंपर प्रत्येकमें एक एक सागरका अधिकपना प्रतीत हो जाता है। सर्वार्थसिद्धिका पृथक् ग्रहण करना तो जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिके विकल्पोंकी निवृत्तिके लिये है।

का पुनरियं भवनवास्यादीनां स्थितिरुक्तेत्याह।

भवनवासी आदि देवोंकी फिर यह उत्कृष्ट या जघन्य स्थिति क्या कही जा चुकी है? बताओ तो सही। इस प्रकार आशंका होनेपर ग्रंथकार उत्तरवार्तिकको कहते हैं।

स्थितिरित्यादिसूत्रेण योक्ता भवनवासिनां ।
विशेषेण स्थितिर्या च तदनंतरकीर्तिता ॥ १ ॥
सूत्रैश्चतुर्भिरभ्यासाद्यथागममशेषतः ।
परा वैमानिकानां च सोत्तरत्रावरोक्तितः ॥ २ ॥

" स्थितिरसुरनाग " इत्यादि सूत्र करके उमास्वामी महाराजने भवनवासी देवोंकी विशेष रूपसे जो स्थिति कह दी है और उसके अव्यवहित पश्चात् आगमपरिपाटीका अतिक्रम नहीं कर स्वकीय धारणानुकूल अभ्याससे इन चार सूत्रोंकरके जो सम्पूर्ण वैमानिक देवोंकी स्थितिका कीर्तन किया है, वह स्थिति उत्कृष्ट समझ लेनी चाहिये। क्योंकि उत्तरवर्ती पिछले ग्रन्थमें भवनवासी या वैमानिक देवोंकी जघन्यस्थितिका निरूपण किया जानेवाला है। भावार्थ–आयुष्यका निरूपण करते हुए सूत्रकारने इन पांच सूत्रोंमें परा या जघन्या कोई शब्द नही डाला है। ऐसी दशामें उक्त स्थिति उत्कृष्ट समझी जाय ? या जघन्य ? इसका कोई निर्णायक नहीं है। विना स्वामीके मालको जिसके हाथ पडे वही हडप ले जाता है। इस विषयका निर्णय ग्रंथकार यों कर देते हैं। जब कि जघन्यस्थितिका वर्णन भविष्यमें किया जायगा तो अर्थापत्त्या सिद्ध है कि यह देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति है। पुण्य अनुसार प्राप्त हुए हृदयसे काम लेना चाहिये। हृदयके सहकारी हो रहे मस्तिष्कको अवयत्न भला फिर किस रोगकी औषधि है ?

अवरायाः स्थितेरुत्तरत्र वचनादिह भवनवासिनामेकेन सूत्रेण वैमानिकानां च चतुर्भिः सूत्रैर्विशेषेण या स्थितिः प्रोक्ता सा परोत्कृष्टेति गम्यते।

जघन्य स्थितिका उत्तरवर्ती ग्रंथमें जब निरूपण किया जायगा, इससे सिद्ध है कि यहां एक सूत्र करके भवनवासियोंकी और चार सूत्रों करके वैमानिक देवोंकी जो विशेष करके स्थिति ठीक कही गयी है, वह परा यानी उत्कृष्टा समझनी चाहिये। यह अनुमानसे जान लिया जाता है।

का पुनरवरेत्याह।

फिर जघन्य स्थिति क्या है ? इस प्रकार विनीत शिष्योंकी जिज्ञासा होनेपर सूत्रकार अग्रिम सूत्रको विशदरीत्या कहते हैं।

अपरा पल्योपममधिकम् ॥ ३३ ॥

देवोंकी जघन्य स्थिति तो कुछ अधिक एक पल्योपम है। यह जघन्य स्थिति सौधर्म ऐशान स्वर्गवासी देवोंकी समझी जाती है।

परिशेषात्सौधर्मैशानयोर्देवानामपरा स्थितिरियं विज्ञायते, ततोन्येषामुत्तरत्र जघन्यस्थितेर्वक्ष्यमाणत्वात्।

परिशेष न्यायसे सौधर्म और ऐशान कल्पोंमें ठहरनेवाले देवोंकी यह जघन्य स्थिति विशेषतया समझी जाती है। तिस कारणसे कि उत्तरवर्ती ग्रंथमें अन्य सानत्कुमार माहेंद्र आदिक अपराजित पर्यन्त देवोंकी जघन्यस्थिति कही जानेवाली है। अतः यह शेष रहे प्रथम कल्पयुगलके देवोंकी ही जघन्यस्थिति परिशेष न्यायसे ज्ञात कर ली जाती है। अर्थात् " प्रसक्तप्रतिषेधे शिष्यमाणसंप्रत्ययहेतुः परिशेषः " अन्यत्र प्रसंग प्राप्तोंमें विशेषान्तरका सद्भाव या प्रकृत अर्थकी बाधा होनेपर शेष बच रहे उद्देश्यमें ही अनुमानस्वरूप परिशेष प्रमाणसे प्रकृत अर्थका विधान अनुमित कर लिया जाता है।

पल्योपममतिरिक्तमवरास्थितिमब्रवीत्।
सौधर्मैशानयोः सेह सूत्रेर्थात्संप्रतीयते ॥ १ ॥

सूत्रकार उमास्वामी महाराज कुछ अधिक पल्योपम परिमाण जघन्य स्थितिको जो इस सूत्रद्वारा कह चुके हैं वह जघन्य स्थिति इस सूत्रमें सौधर्म और ऐशाननिवासी देवोंकी है, यह बात कहे बिना ही अर्थापत्ति करके भले प्रकार प्रतीत हो जाती है। क्योंकि अगले सूत्रमें सानत्कुमारमाहेन्द्र देवोंसे लेकर विजयादि पर्यन्त देवोंकी जघन्य स्थिति कण्ठोक्त करदी जाने वाली है।

तत एवानंतरसूत्रेण सानत्कुमारादिषु जघन्या स्थितिरुच्यते।

तिस ही कारण यानी इस सूत्रद्वारा पहिले कल्पयुगलकी जघन्यस्थितिका निरूपण हो जानेसे ही अव्यवहित अगले सूत्र करके सानत्कुमार माहेन्द्र आदि स्वर्गोंके देवोंमें पायी जारही जघन्य स्थिति अब कही जा रही है। उसको सुनो।

परतः परतः पूर्वा पूर्वानंतरा ॥ ३४ ॥

" आद्यादिभ्य उपसंख्यानं " इस नियम करके परतः यहां सप्तमी अर्थमें तसि हुआ है। पर परदेशमें अव्यवहित पूर्व पूर्वकी उत्कृष्ट स्थिति जघन्य हो जाती है अर्थात्–अव्यवहित पहिले कल्प युगलोंमें या प्रस्तारोंमें जो उत्कृष्ट स्थिति है वह परले परले कल्प युगलों या प्रस्तारोंमें जघन्य हो जाती है। नीचेवालोंकी जघन्यस्थिति एक समय अधिक होती हुई ऊपरले प्रस्तार या कल्पोंमें जघन्य जान लेनी चाहिये।

अपरेत्यनुवर्तते, तेन परतः परतो या च प्रथमा स्थितिः सा पूर्वापूर्वानंतरा परस्मिन्नवरा स्थितिरिति संप्रत्ययः। अधिकग्रहणानुवृत्तेः सातिरेकसंप्रत्ययः। आविजयादिभ्योधिकारः। अनंतरेति वचनं व्यवहितनिवृत्त्यर्थं। पूर्वेत्येतावत्युच्यमाने व्यवहितग्रहणप्रसंगस्तत्रापि पूर्वशब्दप्रवृत्तेः।

पूर्वसूत्रसे यहां अपरा इस पदकी अनुवृत्ति हो जाती है। तिस कारण इस प्रकार समिचीन प्रतीति हो जाती है कि परली और परली ओरसे या परले परले प्रस्तारों या कल्पयुगलोंमें जो प्रथमा स्थिति

वह अव्यवहित पूर्व पूर्वकी स्थिति उपर उपर परले परले प्रस्तारो या कल्पयुगलोंमें जघन्या स्थिति हो जाती है, इस सूत्रमें पूर्व सूत्रसे अधिक शब्दके ग्रहणकी अनुवृत्ती चली आ रही है। इस कारण साधिक का समीचीनज्ञान हो जाता है। यह अधिकका अधिकार विजय आदि अनुत्तरोंतक जान लेना चाहिये। अर्थात्-सौधर्म और ऐशानमें जो साधिक दो सागर स्थिति कही जा चुकी है वह स्थिति कुछ अधिक यानी एक समय अधिक होकर सानत्कुमार माहेन्द्र कल्पोमें जघन्यस्थिति हो जाती है। बारहमे स्वर्गतक एक तो साधिकपना गांठका ही है, दूसरा एक समय अधिकपना यह संपूर्ण वैमानिकों की जघन्य स्थितियोंमें लागू करलिया जाता है। इस सूत्रमें अव्यवहित इस अर्थका वाचक "अनन्तरा" इस पदका कथन करना तो व्यवहित पूर्वोकी निवृत्तीके लिये है। यदि "पूर्वापूर्वा" यों इतना ही कथन कर दिया जायगा तब तो व्यवधान युक्त हो रही पूर्वस्थितियोंके ग्रहण होजानेका भी प्रसंग होगा। क्योंकि व्यवधानयुक्त उन पहिले पदार्थोंमें भी पूर्व शब्दकी प्रवृत्ति होरही देखी जाती है। जैसे कि मथुरासे पटना पूर्वदेशवर्त्ती है। यहां सैकडों कोसका व्यवधान पडरहे पदार्थको भी पूर्व कह दिया गया है। अतः व्यवहित पूर्व सौधर्म, ऐशानोंमें जो उत्कृष्ट स्थिति है वह लान्तवकापिष्टोंकी जघन्य स्थिति हो जायगी। इस प्रकारके अनिष्ट अर्थोंकी प्रतीतियां नहीं होने पातीं हैं। तब तो अनन्तरा शब्दका सूत्रमें उपादान करना सफल है।

नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थिति कही जा चुकी है। जघन्य स्थितिको अभीतक सूत्रमें नहीं कहा गया है। अतः लघु उपाय करके प्रकरणप्राप्त नहीं भी होरहीं नारकियोंकी स्थितिको समझानेकी इच्छा रख रहे सूत्रकार अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥

दूसरी वंशा तीसरी मेघा आदि सातवीतक छह पृथिवियोमें नारकी जीवोंकी अव्यवहित पूर्वपूर्वकी स्थिति परले परले प्रस्तारों और नरकोंमें जघन्य हो जाती है। अर्थात्-पहिली पृथिवीकी उत्कृष्ट होरही एक सागरोपम आयू दूसरे नरकमें जघन्य समझी जाती है। इसी प्रकार नीचे नीचेकी ओर लगा लेना। एक समय अधिक जोड लिया तो अच्छा है। अन्यथा भव परिवर्तनमें कठिन समस्या उपस्थित होजायगी।

किमर्थं नारकाणां जघन्या स्थितिरिह निवेदितेत्याह ।

यहां किसीका कटाक्ष है कि प्रकरणके विना ही नारकियोंकी जघन्यस्थितिका यहां किसलिये निवेदन किया गया है अर्थात् कतिपय प्रकरणकी बातें छूटीं जा रही हैं और अप्रकृतोंको स्थान दिया जा रहा है। यह कौनसा न्याय है ? व्रती या आश्रित जनोंको आहार दान नहीं देकर ठलुआ भरपिट्टो मनुष्योंको सादर भोजन कराना उचित नहीं है। इस प्रकार सूत्रकारके ऊपर आक्षेप प्रवर्तने पर श्रीविद्यानंद स्वामी समाधानकारक वार्तिकको कहते हैं।

सानत्कुमारमाहेंद्रप्रभृतीनामनंतरा ।
यथा तथा द्वितीयादिपृथिवीषु निवेदिता ॥ १ ॥
नारकाणां च संक्षेपादत्रैव तदनंतरा ॥

जिस प्रकार उपरले सूत्रमें निचले देवोंकी अव्यवहित पहिली पहिली उत्कृष्ट स्थिति सानत्कुमारमाहेन्द्र आदि उपरिम देवोंकी जघन्य स्थिति कह दी गयी है, उसी प्रकार द्वितीया आदि पृथिवियोंमें उपरिम नारकियोंकी अव्यवहित पूर्ववर्तिनी उत्कृष्ट स्थितिका परली ओर निचले नारकीयोंकी जघन्यस्थिति हो जाना, यहां ही संक्षेपसे निवेदन कर दिया गया है । सर्वत्र जघन्य स्थितिको पूर्व पटलकी अपेक्षा एक समय अधिक समझना चाहिये ।

देवस्थितिप्रकरणेपि नारकस्थितिवचनं संक्षेपार्थं ॥

देवोंकी स्थितिके निरूपणका प्रकरण होने पर भी यहां नारकियोंकी जघन्यस्थितिका सूत्र कथन करना संक्षेपके लिये है । भावार्थ—जिससे कि दो बार अपरा इन तीन अक्षरोंको नहीं कहना पडा । " सूत्रं हि तन्नाम यतो न लघीयः " सूत्र तो वही है जिससे कि छोटा या पतला दूसरा वाक्य नहीं बन सके । तीसरे अध्यायमें नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थितिको कहते समय यदि जघन्यस्थितिको कहा जाता तो वहां " अपरा " शद्बका प्रयोग करना पडता " परतः परतः पूर्वा पूर्वानन्तरा " का भी बोझ बढ जाता तथा पहिली पृथिवीमें जघन्य स्थितिका निरूपण करते समय भी अपरा शद्ब कहना पडता । अतः रंगबिरंगे धारीदार कपडेमें जैसे एकरंगके कई सूत एक स्थानपर पिरे दिये जाते हैं अथवा व्याकरणमें गत्व विधायक या दीर्घविधायक कई सूत्र जैसे एक स्थलपर पढदिये जाते हैं, उसी प्रकार यहां भी आयुष्यविधायक कई सूत्र रचे गये हैं, जिससे ग्रन्थ अल्पहप और अर्थ उतना ही प्राप्त हो जाता है ।

शर्कराप्रभा आदिमें जघन्यस्थिति यदि कही जा चुकी है तब तो लगे हाथ पहिली नरकभूमिमें वर्तरहे जघन्यस्थितिका भी निरूपण कर दिया जाय, ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार अग्रिमसूत्रको कहते हैं ।

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ३६ ॥

पहिली नरकभूमिमें नारकीयोंकी दश हजार वर्ष जघन्य स्थिति है, जो कि तेरहपटल वाली घम्मा पृथिवीके पटलसीमंतकमें प्रवर्त रही है ।

पृथिव्यां नारकाणामवरास्थितिरिति घटनीयं ।

" सोपस्काराणि वाक्यानि भवन्ति " इस नीतिके अनुसार कुछ इधर उधरके चार पदोंको मिलाकर इस प्रकार सूत्रका अर्थ घटित कर लेना चाहिये कि पहिली पृथिवीमें नारकियोंकी जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष है।

अब भवनवासियों की जघन्य स्थिति क्या है ? ऐसी बुभुत्सा होनेपर उमास्वामि महाराज अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

भवनेषु च ॥ ३७ ॥

भवनवासी देवोंकी जघन्य स्थिति भी दश हजार वर्ष है। पूर्वोक्त विधेय दलका च शब्द करके समुच्चय कर लिया जाता है।

दशवर्षसहस्राणि देवानामवरा स्थितिरिति संप्रत्ययः।

भवनोंमें निवास कर रहे देवोंकी जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष है, यों कतिपय पदोंका उपस्कारकर भली प्रतीति कर ली जाती है।

तब तो व्यन्तर देवोंकी जघन्य स्थिति क्या है ? इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

व्यंतराणां च ॥ ३८ ॥

व्यंतर देवोंकी भी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षकी समझ लेनी चाहिये।

अपरा स्थितिर्दशवर्षसहस्राणीति च शब्देन।

इस सूत्रमें पडे हुये च शब्द करके अपरा स्थिति, दशवर्षसहस्राणि, इस प्रकार तीन पदोंका समुच्चय यानी अनुकर्षण कर लिया जाता है। अतः व्यंतरोंकी जघन्य स्थिति दशसहस्र वर्ष है, यह वाक्यार्थ बन जाता है।

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायामुदीरिता।
भवनेषु च सा प्रोक्ता व्यंतराणां च तावती ॥ १ ॥

उक्त तीन सूत्रों करके उमास्वामी महाराजने पहिली पृथिवीमें जघन्य आयु दस हजार वर्ष कह दी है और भवनवासियोंमें भी वह जघन्य स्थिति उतनी ही बहुत अच्छी निरूप दी है तथा व्यन्तरोंकी जघन्य स्थिति भी उतनी ही यानी दशहजार वर्ष कही जा चुकी है। यह उक्त तीनों सूत्रोंकी एकत्रित एक वार्तिक है।

अथ व्यन्तराणां परा का स्थितिरित्याह।

अब महाराज यह बताओ कि व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति क्या है ? इस प्रकार तत्त्व जिज्ञासा प्रवर्तनेपर श्री उमास्वामी महाराज उत्तरवर्ती सूत्रको उतारते हैं ।

परा पल्योपममधिकम् ॥३९॥

किन्नर आदि व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पल्योपम काल है ।

स्थितिरिति संबंधः ।

इस सूत्रमें कहे गये परा शब्दके साथ " स्थिति " इस शब्दका सम्बन्ध जोड लेना चाहिये । जिससे कि व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति एक पल्यसे कुछ अधिक है । यों अर्थ घटित हो जाता है।

इस अवसरपर आयुष्यके प्रकरण अनुसार ज्योतिष्क देवोंकी स्थिति कह दी जाय तो सुगम होगी । यों आकांक्षा प्रवर्तनेपर मूल सूत्रकार अग्रिम सूत्रका निरूपण करते हैं ।

ज्योतिष्काणां च ॥ ४० ॥

चन्द्रमा, सूर्य, आदि ज्योतिष्कोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पल्य है।

पल्योपममधिकं परा स्थितिर्घटना ।

यहां भी च शब्द करके प्रकरण प्राप्त पल्योपम, अधिक, परा, स्थिति, इन शब्दोंका समुच्चय कर यों अर्थ घटित कर लेना चाहिये कि ज्योतिष देवोंकी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्योपम है ।

अब ज्योतिषियोंकी जघन्य स्थितिका परिज्ञान करानेके लिये सूत्रकार अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

तदष्टभागोऽपरा ॥ ४१ ॥

ज्योतिष देवोंकी जघन्य स्थिति उस पल्योपमके आठमें भाग है जो कि असंख्यात वर्षोंकी समझनी चाहिये ।

स्थितिर्ज्योतिष्काणामिति संप्रत्ययस्तेषामनंतरत्वात् ।

स्थिति और ज्योतिष्काणाम्, इन पदोंका अनुकर्षण कर समीचीन प्रत्यय कर लिया जाता है । क्योंकि वाक्यार्थके सम्पादक वे पद अव्यवहित पूर्व सूत्रोंमें उपात्त हो रहे हैं ।

परेषामधिकं ज्ञेयं पल्योपममवस्थितिः ।
ज्योतिष्काणां च तद्वत्तदष्टभागोऽपरोदिता ॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराजने उक्त तीन सूत्रोंमें दूसरे व्यन्तर देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पल्य समझने योग्य बता दी है और उन्हींके समान ज्योतिष्क देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति साधिक पल्य कह दी है। तथा तीसरे " तदष्टभागोऽपरा " सूत्र करके उन ज्योतिषियोंकी जघन्य स्थिति उस पल्यके आठवें भाग कह दी है। जैसे कि " दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् भवनेषु च व्यन्तराणां च " इन तीन सूत्रोंको मिलाकर एक वार्तिक श्लोक बना दिया गया है उसी प्रकार " परा पल्योपममधिकं, ज्योतिष्काणां च, तदष्टभागोऽपरा " इन तीन सूत्रोंको मिलाकर यह एक वार्तिक श्लोक बना दिया है।

यथा व्यन्तराणां पल्योपममधिकं परा स्थितिः तद्वत् ज्योतिष्काणामपि तद्ज्ञेयं तदष्टभागः पुनरपरा स्थितिर्ज्योतिष्काणां प्रतीता।

जिस प्रकार व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति साधिक एक पल्य उन्तालीसवें सूत्रमें कह दी है, उसी प्रकार ज्योतिष्कोंकी भी वह साधिक पल्य उत्कृष्ट स्थिति चालीसवें सूत्रमें कह दी गयी समझ लेनी चाहिये। पुनः इकतालीसवें सूत्रमें उस पल्यके आठमे भाग ज्योतिष देवोंकी जघन्य स्थितिकी प्रतीति कराई है।

अथ मध्यमा स्थितिः कुतोऽवगम्यत इत्याह।

अब किसीका आक्षेप है कि मनुष्य, तिर्यंच, देव, नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थितिका हमने परिज्ञान कर लिया है। किन्तु सूत्रकारने मध्यम स्थितियोंका निरूपण नहीं किया है। अतः बताओ कि मध्यम स्थितिको किस ढंगसे समझ लिया जाय ? ऐसा आक्षेप प्रवर्तनेपर आचार्य विद्यानंद स्वामी वार्तिक द्वारा यों समाधान कहते हैं।

सामर्थ्यान्मध्यमा बोध्या सर्वेषां स्थितिरायुषः।
प्राणिनां सा च संभाव्या कर्मवैचित्र्यसिद्धितः॥ २॥

" तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते " इस नियम अनुसार चारों गति सम्बन्धी संपूर्ण प्राणियोंके आयुष्यकी मध्यमस्थिति तो विना कहे ही अर्थापत्त्या सामर्थ्यसे समझ ली जाती है। अर्थात् जिस पदार्थका आदि और अन्त होता है, उसका मध्य अवश्य होता है। अनन्त भूतकाल और उससे भी अनन्त गुणा अनन्त भविष्यकालका मध्यवर्ती वर्त्तमानकाल एक समय है। फिर भी आपेक्षिक वर्तमानपना बहुत समयोंको प्राप्त है। यथार्थमें एक आदिके पदार्थ और एक अन्तके पदार्थको छोड़कर सभी स्थानोंको मध्यमपना सुलभ है। अतः अधिक सम्मतियों (वोटों) अनुसार ग्रहण किये गये मध्यम स्थानोंका वाचक शब्दोंके विना ही आवश्यक रूपसे उपादान हो जाता है। और वह अनेक प्रकारकी स्थितियोंका सद्भाव तो पौद्गलिक कर्मोंके विचित्रपनकी सिद्धि हो जानेसे सम्भावना करने योग्य है। अर्थात्-अपने अपने परिणामों करके उपार्जित किये गये विचित्र कर्मों अनुसार जीवोंकी नाना प्रकार आयुःस्थितियां बन बैठती हैं।

ननु यद्वद्घटादीनां विचित्रा स्थितिरिष्यते ।
कर्मानपेक्षिणां तद्वद्देहिनामिति ये विदुः ॥ ३ ॥
तेनऽनभिज्ञा घटादीनामपि तद्भोक्तृकर्मभिः ।
स्थितेर्निष्पादनाद्दृष्टे कारणव्यभिचारतः ॥ ४ ॥

पौद्गलिक सूक्ष्म कर्मोको नहीं माननेवाले चार्वाक यहां स्वकीय पक्षका अवधारण करते हुये आमंत्रण करते हैं कि जिस प्रकार कर्मोके सम्बन्धकी नहीं अपेक्षा रख रहे घट, पट, शकट आदि जड पदार्थोंकी विचित्र स्थितियां हो रहीं इष्ट कर लीं जाती हैं। उसी प्रकार शरीरधारी प्राणियोंकी भी कर्मोकी नहीं अपेक्षा रखती हुई जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट, आयुः स्वरूप स्थितियां बन जाओ । इस प्रकार जो नास्तिक समझ बैठे हैं, आचार्य कहते हैं कि वे चार्वाक विचारे कार्यकारणभावकी पद्धतिको स्वल्प भी नहीं समझते हैं । क्योंकि घडा, कपडा, छकडा आदिकी भी विचित्र स्थितियोंका उनके भोगनेवाले जीवोंके कर्मोकरके उत्पादन किया जाता है । लोकमें आबालवृद्ध प्रसिद्ध देखे जा रहे परिदृष्ट कारणोंका व्यभिचार देखा जाता है। अर्थात्–एक घडा दो दिन भी चलता है । जब कि उसी कुम्हार उसी मट्टी आदि कारणोंसे निष्पन्न हुआ दूसरा घडा पांच वर्षमें भी नहीं फूटता है । चाक, अवा, खान, कुलाल, जल, अग्नि, ये दृष्ट कारण जब वे ही हैं, तब फिर दो घडोंकी " टिकाऊ स्थितिमें इतना बडा अन्तर क्यों दीखता है ? इससे सिद्ध है कि घडोंका क्रय, विक्रय, करनेवाले या उसके शीतल जलको पीनेवाले अथवा फूटनेपर कवमिचकर दुःख भुगतनेवाले जीवोंके पुण्य, पाप, अनुसार ही जड पदार्थोका भी न्यून, अधिक काल तक ठहरे रहनेका अन्वय व्यतिरेक है । इसी प्रकार कपडे चौकी, घडियां, मशीनों, गृहों आदिका स्वल्पकालतक या अधिक कालतक टिके रहनेमें अन्तरंग प्रधानकारण उन पदार्थोके साक्षात् या परम्परया उपभोग करनेवाले जीवोंका अदृष्ट ही समझा जाता है ।

सूक्ष्मो भूतविशेषश्चेदव्यभिचारेण वर्जितः ।
तद्धेतुर्विविधं कर्मतंत्रः सिद्धं तथाख्यया ॥ ५ ॥

यदि चार्वाक यों कहे कि पृथिवी, जल, तेज, वायु इन स्थूल भूतोंका व्यभिचार भले घटादिकी न्यून अधिक, स्थिति होनेमें आवे किन्तु व्यभिचार दोषसे वर्जित होरहा सूक्ष्म भूत विशेष उन घटादिकोंकी विचित्र स्थितिओंका हेतु मान लिया जाय । यों कहनेपर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो बहुत अच्छा है । वही सूक्ष्म कार्मण वर्गणाओंका बना हुआ ज्ञानावरण, असाता, साता, शुभगोत्र आदि नाना प्रकार कर्म ही तो हम जैनोंके यहां उन चेतनात्मक या अचेतनात्मक पदार्थोंका प्रेरक हेतु हो रहा सिद्ध है । तिस प्रकार सूक्ष्मभूतविशेष इस नामक

करके तुमने उस हमारे अभीष्ट पौद्‌गलिक कर्मपिण्डको ही कह दिया है । केवल नाममें ही विवाद रहा अर्थमें कोई टण्टा नहीं है ।

परापरस्थितिवचनसामर्थ्यात् मध्यमानेकविधा स्थितिर्देवनारकाणां तिर्यङ्मनुष्याणामिव संभाव्या । सा च कर्मवैचित्र्यसिद्धिं प्राप्य व्यवतिष्ठते ततः कर्मवैचित्र्यमनुमीयते । स्थितिवैचित्र्यसिद्धेरन्यथानुपपत्तेः । कर्मवैचित्र्याभावेपि घटादीनां स्थितिवैचित्र्यदर्शनादसिद्धान्यथानुपपत्तिरिति येऽभ्यमन्यंत तेऽनभिज्ञा एव, घटादीनामपि विचित्रायाः स्थितेस्तदुपभोक्तृप्राणिकर्मभिर्विचित्रैर्निर्वर्तनात्, कुंभकारादिदृष्टतत्कारणानां व्यभिचारात् । अदृष्टकारणानपेक्षित्वे तदघटनात् । समानकुंभकारादिकारणानां समानकालजन्मनां सदृशक्षेत्राणां समानकारणानां च घटादीनां समानकालस्थितिप्रसंगात् ।

उक्त चार वार्तिकोंका भाष्य यों है कि सूत्रकारद्वारा उत्कृष्ट, जघन्य स्थितियोंके प्रतिपादक सूत्रोंके कथन कर देनेकी सामर्थ्यसे तिर्यंच, और मनुष्योंके समान देव नारकियोंकी भी अनेक प्रकार मध्यम स्थितियोंकी सम्भावना कर लेनी चाहिये । तथा वे उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य, स्थितियां तो कर्मोंकी विचित्रता अनुसार सिद्धिको प्राप्त होकर व्यवस्थित हो रहीं हैं । तिन विचित्र स्थितियोंसे कर्मोंकी विचित्रताका अनुमान कर लिया जाता है । अर्थात्–योग और कषायकी मिश्रपरिणति हो रही लेश्याओं तथा अन्य कर्मोंके अनुसार जीवोंकी अनेक प्रकार आयुष्य स्थितियां बन जाती हैं । कार्यहेतु धूमसे जैसे कारणभूत अग्नि साध्यका अनुमान कर लिया जाता है, उसी प्रकार विचित्र स्थितियोंके कारणभूत पौद्‌गलिक कर्मोंकी विचित्रताका कार्यभूत आयुष्य विशेषों करके अनुमान कर लिया गया है । अविनाभावी एक दृश्यसे दूसरे अदृश्य पदार्थका अनुमान हो जाना प्रसिद्ध है । स्थितियोंको विचित्रताकी सिद्धि हो जाना अन्यथा यानी कर्मोंकी विचित्रताकी सिद्धिके विना नहीं बन पाता है । जो भी कोई वादी यों दोष देते हुये अभिमान कर बैठे हैं कि कर्मोंकी विचित्रताके नहीं होनेपर भी घट आदि जड पदार्थोंकी स्थितिओंका विचित्रपना देखा जाता है तो जीवोंके भी अदृष्ट कर्मोंकी कल्पना क्यों की जाती है ? अतः आपकी अन्यथानुपपत्ति असिद्ध हो गई । व्यभिचार दोष उपस्थित हुआ । स्थितिकी विचित्रता होनेपर भी घटादि पदार्थोंमें कर्मोंकी विचित्रता नहीं पायी जाती है । आचार्य कहते हैं कि वे कुचोद्य करनेवाले वादी अशिक्षित ही हैं । क्योंकि घट पट आदिकोंकी भी विचित्र स्थितियां उनके उपभोक्ता प्राणियोंके विचित्र कर्मोंकरके बनायी जातीं हैं । कुंभकार अवा, मट्टी आदि देखे जा रहे उनके कारणोंका व्यभिचार हो रहा है । यदि कोरे दृष्ट कारणोंके ही अधीन माने जा रहे घटादिकोंको अदृष्ट कारणोंकी अपेक्षा नहीं रखनेवालापन माना जायगा तो विचित्र ढंगोंसे ठहरना रूप उन नानास्थितिओंकी घटना नहीं हो सकती है । जिन घटोंके कुम्भकार आदि कारण समान हैं और जिन घटोंका समान कालमें जन्म भी हो रहा है, तथा जिन कतिपय घटोंका क्षेत्र भी सदृश है, एवं चक्र अग्नि आदि अन्य कारण भी जिनके समान हैं, उन घट आदिकोंकी समान कालतक ही स्थिति

रहनेका प्रसंग आवेगा। किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है। एक साथ बने हुये सौ घडोंकी किसीकी सौ अवधिमें ही स्थिति पूरी हो जाती है। कोई चार दिनमें फूट जाता है, कोई दस वर्ष तक टिकाऊ है, यों अनेक प्रकार स्थितियां हो रही हैं।

मुद्गरादिविनाशकारणसंपातवैचित्र्याद्दृष्टादेव घटादिस्थितिवैचित्र्यमिति चेत्, तदेव कुतः? समानकारणादित्वेपि तेषामिति चिंत्यं। स्वकारणविशेषाद्दृष्टादेवेति चेन्न, मुद्गरादिविनाशकारणसंपातहेतोः पुरुषप्रयत्नादेः परिदृष्टस्य व्यभिचारात्। समानेपि तस्मिन् क्वचित्तत्संपातादर्शनात्। समानेपि च तत्संपाते तद्विनाशाप्रतीतेः कारणांतरस्य सिद्धेः।

यहां कोई आक्षेप करता है कि विनाशके कारण हो रहे मोगरा, मूसल, मुद्गर, आदिकोंके ठीक ठीक पतन की देखी जा रही विचित्रतासे ही घटकी स्थितिओंमें विचित्रता आ जाती है। अधिक बलसे मोगरा गिर जानेपर एक पल ही ठहरकर घट फूट जाता है, निर्बल आघातोंसे चार छह दिनमें फूटता है। शनैः शनैः भूमिमें सरकाने अथवा छोटी छोटी फटकारोंको वर्षोंतक घट झेल जाता है। अग्निद्वारा पाककी न्यून अधिकतासे भी स्थितिका तारतम्य है। अतः परिदृष्ट कारणोंसे ही विचित्र स्थितिओंको मानलो अदृष्ट कारणोंका बोझ व्यर्थ क्यों लादा जा रहा है। यों कहनेपर तो ग्रंथकार पूंछते हैं कि भाइयो, उन घटादिकोंके कारण आदिकोंके समान होनेपर भी वह मोगरा आदि विनाशक पदार्थोंका सम्पात ही विचित्र प्रकारका किस कारणसे हुआ? बताओ। अथवा कारण आदि समान होते हुये भी वे मोगरा या उनके सम्पात आदि विचित्र कैसे हुये? इसका उत्तर बहुत कालतक चिन्तवन करो। समीचीन ज्ञान प्राप्त होनेपर तुम्हारा लक्ष्य उस अदृष्ट कारणपर संलग्न हो जायगा। यदि झटपट तुम यों बोल उठो कि मोगरा आदिका अनेक प्रकार गिरना भी उनके दृष्ट हो रहे कारण विशेषोंसे ही बन बैठता है। अर्थात् कुलालका घट बनाते समय भी तरले लट्टू और ऊपरली मोंगरीमें कभी अधिक बलसे हाथ लग जाता है और कभी हलका हाथ पडता है अथवा खेलनेवाले बालकोंका किसी घडेपर हलका या भारी प्रहार हो जाता है। इसी प्रकार अग्निताप या वायुके झकोरे भी न्यून, अधिक, मात्रामें लग जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि विनाशके कारण मुद्गर आदिकोंके संपातके हेतु हो रहे परिदृष्ट किये गये पुरुषप्रयत्न आदिका व्यभिचार हो रहा है। देखिये, पुरुषोंका समान प्रयत्न होनेपर भी कहीं उन मुद्गरादिकोंका पतन होना नहीं देखा जाता है। तथा उन मुद्गरादिका समान रूपसे सम्पात होनेपर भी उन घटादिकोंका विनाश नहीं प्रतीत हो रहा है। क्वचित् एक डेलके मारे मनुष्य मर जाता है। कभी बन्दूककी गोलीसे भी नहीं मरता है। यों दृष्ट कारणोंका अन्वय व्यभिचार और व्यतिरेक व्यभिचार दोष हो रहा है। ऐसी दशामें अन्य अदृष्ट कारणोंकी सिद्धि हो जानेसे ही प्रवीण पुरुषोंको धैर्य प्राप्त हो सकता है अन्यथा नहीं।

सूक्ष्मो भूतविशेषः सर्वथा व्यभिचारवर्जितो विचित्रः कारणांतरमिति चेत्, तदेव कर्मास्माकं सिद्धं तस्य सूक्ष्मभूतविशेषसंज्ञामात्रं तु भिद्यते परिदृष्टस्य सूक्ष्मभूतविशेषस्य व्यभिचारवर्जितत्वासंभवात्।

चार्वाक (साइण्टफिक) कहते हैं कि पृथिवी आदि भूतोंका एक विशेष परिणाम सूक्ष्म है, जो कि बहिरंग इंद्रियोंके दृष्टिगोचर नहीं है। स्थूल परिणामकी भले ही बाधा या अन्वय व्यतिरेक-व्यभिचार होय, किन्तु व्यभिचारसे वर्जित हो रहा नाना प्रकारका सूक्ष्मभूत ही उनका न्यारा कारण है। यों कहनेपर तो आचार्य इष्टापत्ति करते हैं कि वही सूक्ष्मभूत तो हम आर्हतोंके यहां कर्म पदार्थ सिद्ध है, उसका सूक्ष्मभूत विशेष यह केवल नामान्तर करना तो निराला है। अर्थमें कोई भेद नहीं है। हां कर्मोंके अतिरिक्त चारों ओर देखे जा रहे सूक्ष्म भूत विशेषको व्यभिचारसे रहितपना असम्भव है। यों ग्रन्थकर्ताने कर्मोंकी विचित्रता अनुसार बन रही जीवोंकी न्यारी न्यारी पर्यायोंकी अनेक प्रकार उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य, स्थितियोंको सिद्ध कर दिया है।

अथ किमेते संसारिणो जीवाः कर्मवैचित्र्यात् स्थितिवैचित्र्यमनुभवंतो नानात्मानः प्रत्येकमेकात्मानः इति ? यदि नानात्मानस्तदानुसंधानाद्यभावः स्यादेकसंतानेपि नानासंतानवत् । अथैकात्मानस्तदानुभवस्मरणादिसंक्रमानुपपत्तिः पौर्वापर्यायोगादिति वदंतं प्रत्याह ।

अब यहां अनेकान्तसिद्धांतको पुष्ट करनेके लिये प्रकरणका प्रारम्भ किया जाता है। प्रथम ही किसीकी आशंका है कि ये संसारी जीव कर्मोंकी विचित्रतासे हो रहे स्थितियोंके विचित्रपनको अनुभव रहे क्या न्यारे, न्यारे अनेक धर्मस्वरूप हैं ? अथवा प्रत्येक धर्मके अधीन हो रहे एक एक धर्मस्वरूप हैं, बताओ ? प्रथमपक्ष अनुसार यदि जीव पदार्थ नाना धर्मस्वरूप हैं, यानी धान्यराशिके समान स्वतंत्र हो रहे अनेक विज्ञानपरमाणु या परस्पर किसीकी अपेक्षा नहीं रखते हुये अनेक धर्म ही जीव पदार्थ हैं, तब तो अनुसंधान, प्रत्यभिज्ञान, देन, लेन, दान दानफल, हिंसा हिंसाफल, आदि व्यवहारोंका अभाव हो जावेगा। एक संतान होनेपर भी नाना सन्तानोंके समान विमर्शण आदिक नहीं हो सकेंगे। भावार्थ-अनेक विज्ञान परमाणु स्वतंत्र पड़े हुए हैं। द्रव्यरूपसे अन्वित होकर ओतपोत बने रहना ऐसी सन्तानको हम बौद्ध वस्तुभूत नहीं मानते हैं। अतः जैसे देवदत्तकी धारणा अनुसार जिनदत्त स्मरण नहीं कर सकता है, चन्द्रदत्त उसका अनुसंधान नहीं कर पाता है, इसी प्रकार एक घडी पूर्व देखे जा चुके पदार्थका स्वयं देवदत्त स्मरण या प्रत्यभिज्ञान नहीं कर सकेगा। बाल्य अवस्था या युवा अवस्थाके अनुभवोंका वृद्ध अवस्थामें स्मरण नहीं हो सकेगा। ऋण देना लेना, ब्रह्मचर्य, पिता, पुत्रपन आदि व्यवहार अलीक हो जावेंगे। अब यदि द्वितीय पक्षके अनुसार आप जैन जीव आदि पदार्थोंको एक धर्मस्वरूप ही स्वीकार करेंगे, तब तो अनुभव स्मरण आदिका संक्रमण होना नहीं बन सकेगा। क्योंकि पूर्व अपरपनेका अयोग है। अर्थात्-एक धर्मस्वरूप पदार्थ दूसरे क्षणमें नष्ट होगया तो पहिला पिछलापन, नहीं घटित होनेसे क्षणिक एक धर्मस्वरूप जीवके अनुभव अनुसार स्मृति होना या प्रत्यभिज्ञान होना अथवा अनेक विचारोंका परिवर्तन होते हुए संक्रमण होना इत्यादिक परिणतियां नहीं बन सकती हैं। इस प्रकार एकान्त पक्षका परिग्रह कर बोल रहे वादीके प्रति ग्रंथकार अब समाधानको स्पष्ट कहते हैं।

ततः संसारिणो जीवाः स्वतत्त्वादिभिरीरिताः ।
नानेकात्मतया संतो नान्यथार्थक्रियाक्षतेः ॥ ६ ॥

जिस कारणसे कि जीवके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, स्वतत्त्व, योनि, जन्म, शरीरधारण, नरकावास, मध्यलोक आवास, देव अवस्था, आदि स्वाभाविक और औपाधिक धर्मोंका चौथे अध्यायतक निरूपण किया है, तिस कारण वे औपशमिक आदि पांच स्वतत्त्व, विग्रहगति आदि परिणामोंकरके निरूपे जा चुके जीव नाना धर्मोंके एक तदात्मकपने करके सद्रूप हो रहे हैं। अन्य प्रकारोंसे जीव पदार्थ सद्भूत नहीं है। क्योंकि केवल एकरूप या स्वतंत्र अनेकरूप अथवा क्षणिक स्वरूप, नित्य स्वरूप आदि ढंगोंसे जीवका सत्त्व माननेपर अर्थक्रिया होनेकी क्षति हो जाती है। नाना धर्म आत्मक पदार्थको स्वीकार किये बिना छोटीसे छोटी अर्थ क्रिया भी नहीं हो पाती है। पूर्व स्वभावोंका त्याग, उत्तर स्वभावोंका ग्रहण और स्थूलपरिणतिकी स्थिरता स्वरूप परिणाम हुये बिना जगत्का अत्यल्प कार्य भी नहीं हो सकता है।

यस्माद्द्वितीयाध्याये स्वतत्त्वलक्षणादिभिः स्वभावैः संसारिणो जीवाः प्रत्येकं निश्चिताः तृतीयचतुर्थाध्याययोश्चाधाराविशेषैर्नानाविधैरध्यवसितास्ततो नानेकात्मतया व्यवस्थिताः । न पुनर्नानात्मान एवैकात्मान एव वा सर्वार्थक्रियाविरहात्तेषामसत्त्वप्रसंगात् । सत्त्वं सर्वसंसारी जीव इति निश्चितप्रायं, अभावविलक्षणत्वं हि सत्त्वं तच्च नास्तीत्येकस्वभावादभावाद्विलक्षणत्वं ।

जिस कारण कि उमास्वामी महाराजने दूसरे अध्यायमें जीवके निज तत्त्व, जीवके लक्षण, आदिक स्वभावोंकरके सम्पूर्ण संसारी जीव एक एक होकर निश्चित कर दिये हैं और तीसरे, चौथे, अध्यायोंमें आधार स्थान, आयुः, लेश्या, प्रवीचार, आदि नाना प्रकार विशेषणोंकरके जीवोंका निर्णय करा दिया है, तिस कारण ये जीव नाना एकात्मक स्वभावकरके व्यवस्थित हो रहे हैं। किन्तु फिर न्यारे न्यारे स्वतंत्र नाना धर्मस्वरूप ही अथवा एक धर्म स्वरूप ही जीव नहीं हैं। क्योंकि नानापनका एकान्त या एकपनका एकान्त माननेपर सम्पूर्ण अर्थक्रियाओंका अभाव हो जानेसे खरविषाणवत् उन जीवोंके असत् हो जानेका प्रसंग होगा। अर्थक्रियाको करना ही सद्भूत वस्तुका निर्दोष लक्षण है। अन्य लक्षणोंमें अनेक दोष आते हैं। संसारी जीव सद्भूत पदार्थ हो रहे हैं। इस सिद्धांतका हम पूर्व प्रकरणोंमें अनेक बार निर्णय करा चुके हैं। तुच्छ अभाव पदार्थ भले ही असत् रहो किन्तु अभावोंसे विलक्षणपना ही सत्पना है और वह सत्त्व ही "नहीं है" इस प्रकार सर्वथा एक स्वभाववाले अभावसे विलक्षणपना है। अतः ऐसे अभाव विलक्षणत्व हेतुसे एक एक जीवका अनेक धर्मात्मकपना सिद्ध हो जाता है। अर्थात् अभाव यदि तुच्छ असत् है तो ऐसे अभावका विलक्षणपना वस्तुमें सध नहीं सकता है गौ आदि भावोंसे अश्व आदि भाव विलक्षण हुआ करते हैं। "विगतानि लक्षणानि यस्य स विलक्षणः" परस्परमें प्रतियोगिता रखते हुए दो आदि भाव पदार्थ विलक्षण

हो सकते हैं, खरविषाणसे कोई विलक्षण नहीं है। अतः परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तित्वरूप एक स्वभावसे तदतिरिक्त अनन्तानन्त स्वभावोंका पिण्डभूत भाव यहां उस अभावसे विलक्षण समझा जाय।

नानास्वभावत्वं जीवस्य कुत इत्याह।

यहां कोई जिज्ञासु पूछता है कि एक जीवके नाना स्वभावोंसे सहितपना भला कैसे सिद्ध हो जाता है ? ऐसी अभिलाषा प्रवर्तनेपर श्री विद्यानंद आचार्य समाधानकारक वचनको कहते हैं।

जन्मास्तित्वं परिणतिं (निर्वृत्तिंच) क्रमाद्वृद्धिमपक्षयं।
विनाशं च प्रपद्यंते विकारं षड्विधं हिते ॥ ७ ॥

जगत्में निवास कर रहे संपूर्ण जीव नियमसे छह प्रकारके विकारोंको प्राप्त हो रहे हैं। अतः वे अनेक स्वभाववाले हैं। एक एक जीव नाना स्वभाव आत्मक है। कारण कि वे जीव जन्मको प्राप्त करते हैं १। अस्तित्वको प्राप्ति कर रहे हैं २। परिणामको पाय रहे हैं ३। वृद्धिको प्राप्त हो रहे हैं ४। क्रमसे एकदेश निवृत्तिस्वरूप अपक्षयको प्राप्त होरहे हैं ५। तथा विनाशको प्राप्त हो जाते हैं ६। इस प्रकार प्रतिक्षण हो रहे अनन्ते छह प्रकार विकारोंद्वारा एक एक भाव नाना स्वभाववान् प्रसिद्ध हैं। अर्थात्–जैसे कोई बालक प्रथम उपजता है फिर कुछ दिनतक आत्मलाभ करता हुआ अपना अस्तित्व स्थिर रखता है, अनेक अवस्थाओंको प्राप्त करता है, हड्डी, रक्त, शरीर, बुद्धिबल आदिको बढाता जाता है, पुनः क्रमक्रमसे हीन होता जाता है, अन्तमें वृद्ध अवस्था बीत जानेपर विनाशको प्राप्त हो जाता है। यह क्रमसे होनेवाले छह विकारोंका दृष्टांत है। किन्तु सूक्ष्म परिणतियां या अनेक गुणोंके नाना अविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा युगपत् भी अनेक छह विकार हो रहे हैं। उत्पाद व्यय, ध्रौव्य, स्वरूप पर्यायोंके साथ तदात्मक हो रहे द्रव्यमय वस्तुमें ये छऊ विकार अपेक्षाओं द्वारा सुघटित हो जाते हैं।

सर्वो हि भावो जन्म प्रपद्यते निमित्तद्वयवशादात्मलाभमापद्यमानस्य जायत इत्यस्य विषयत्वात्। यथा सुवर्णकटकादित्वेन। अस्तित्वं च प्रतिपद्यते स्वनिमित्तवशादवस्थानविभ्रतो यंस्यास्तीति प्रत्ययाभिधानगोचरत्वात् निर्वृत्तिं च प्रपद्यते सत एवावस्थांतरावाप्तिदर्शनात् परिणमते इत्यस्य विषयत्वात्। वृद्धिं च प्रतिपद्यते अनिवृत्तपूर्वस्वभावस्य भावांतरेणाधिक्यं लभमानस्य वर्द्धते इत्यस्य विषयत्वात्। अपक्षयं च प्रपद्यते क्रमेण पूर्वभावैकदेशविनिवृत्तिं प्राप्नुवतो वस्तुनोपक्षीयत इत्यस्य विषयत्वात्। विनाशं च प्रतिपद्यते, तत्पर्यायसामान्यनिवृत्तिं समासादयतोर्थस्य नश्यतीत्यस्य गोचरत्वात्।

चराचर जगत्के सम्पूर्ण सद्भूत पदार्थ जन्मको प्राप्त करते हैं, क्योंकि अन्तरंग, बहिरंग, दोनों निमित्त कारणोंके वशसे आत्मलाभको प्राप्त हो रहा पदार्थ " उपज रहा है " इस ज्ञानका विषय हो जाता है, जैसे कि सोना, कड़े, हंसली, आदि स्वरूप करके उपजता है। और सभी पदार्थ अपने अस्तित्वको प्राप्त कर रहे समझे जाते हैं। क्योंकि अपने अपने आत्मलाभके कारण हो रहे निमित्तोंके वशसे अवस्थाको धार रहा अर्थ " है ", इस ज्ञान और शब्दका विषय हो रहा है। तथा चाहे कोई पदार्थ विपरिणतिको धारण कर रहा है। क्योंकि सत् पदार्थको ही न्यारी न्यारी अवस्थाओंकी प्राप्ति देखी जा रही होनेसे "परिणमन करता है" इस ज्ञानका विषयपना प्राप्त है। एवं सभी पदार्थ वृद्धिको ही प्राप्त हो रहे हैं। क्योंकि पूर्वमें प्राप्त हो चुके स्वभावोंको नहीं छोडकर अन्य भावों करके अधिकपनका लाभ कर रहे पदार्थको " बढ रहा है " यों इस ज्ञानका विषयपना नियत है। तथा सभी पदार्थ पांचवें अपक्षय विकारको भी प्राप्त होते हैं। क्योंकि पूर्वमें उपार्जित किये जा चुके भावोंको क्रमक्रमसे एक देश विनिवृत्तिको प्राप्त हो रही वस्तुको " कुछ कुछ क्षीण हो रही है " इस ज्ञान शब्दका विषयपना निर्णीत है। ज्ञेय पदार्थका ज्ञानके साथ विषयविषयिभाव सम्बन्ध है और वाच्यार्थका शब्दके साथ वाच्यवाचक सम्बन्ध (नाता) है। तथा सभी भाव विनाशको प्राप्त हो रहे जाने जाते हैं। क्योंकि उस पर्यायकी सामान्यरूपसे पूर्णतया निवृत्तिको प्राप्त कर रहे अर्थको " नष्ट हो रहा है " इस ज्ञानका विषयपना निश्चित है। यहां ग्रंथकारने वस्तुके स्थूल सूक्ष्म पर्याय स्वरूप छह विकारोंको साधनेवाली अपेक्षाओंको दिखला दिया है। सामने जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते, विनश्यति, इन वाचक पदोंकी योजनाके लिये अथवा जायते आदिका ज्ञान करनेके लिये शिष्योपयोगिनी शिक्षा दे दी है। उक्त ढंगसे न्यून या अधिक व्यवहार करनेवाला पुरुष पथभ्रष्ट हो जायगा। यों विवक्षित विधिके अनुसार सम्पूर्ण भावोंके यानी द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुके क्रम अक्रम रूपसे हो रहे छह विकारोंको समझ लेना चाहिये।

तथा जीवा अपि भावाः सतः षड्विधं विकारं प्रपद्यते अभावविलक्षणत्वादित्येके, तेषां यद्यवस्तुविलक्षणत्वं सत्त्वं धर्मस्तदा न सम्यगिदं साधनं प्रतिक्षणपरिणामेनैकेन व्यभिचारात्, अभावविलक्षणत्वं वस्तुत्वं तदा यक्तं ततो जीवस्य षड्विकारप्राप्तिसाधनं वस्तुत्वस्य तदविनाभावसिद्धेः। अथासत्त्वधर्मविलक्षणत्वं सत्त्वधर्मस्तदा न सम्यगिदं साधनं प्रतिक्षणपरिणामेनैकेन ऋजुसूत्रविषयेण व्यवहारनयगोचरेण द्रव्येण च व्यभिचारात् तस्य षड्विकाराभावेपि सत्त्वधर्माश्रयत्वेनाभावविलक्षणत्वसिद्धेरन्यथा सिद्धांतविरोधात्।

तिसी प्रकार जीव भी भाव हो रहे सत् स्वरूप पदार्थ हैं। अतः छह प्रकारके विकारोंको प्राप्त हो रहे हैं। अर्थात्–सत् स्वरूपभाव होनेसे जीवोंके छह विकारोंकी प्राप्ति बन रही है। कोई एक उच्च कोटीके विद्वान् यहां यों कह रहे हैं कि तुच्छस्वरूप अभावोंसे विलक्षण होनेके कारण जीव भाव छह विकारोंको धारते हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि उन एक अनुपम विद्वान् अकलंक महाराजके यहां यदि अभाव यानी अवस्तुसे विलक्षणपना ही सत्त्व नामक

धर्म है, तब तो यह हेतु समीचीन नहीं है। प्रत्येक क्षणमें होनेवाला एक परिणाम करके व्यभिचार हो जाता है, अर्थात्–एक क्षणकी एक ही पर्याय खरविषाण आदि अवस्तुओंसे विलक्षण है। किन्तु वह अकेली एकक्षणवर्ती पर्याय तो छह प्रकार विकारोंको प्राप्त नहीं होती है। वस्तुके छह विकार हो सकते हैं। एक विकारस्वरूप पर्यायके पुनः छह विकार नहीं हो सकते हैं। अनवस्था हो जायगी। हां यदि वे अकलंक महाराज अभावसे विलक्षणपनको वस्तुत्व स्वीकार करलें तब तो उस अकलंकहेतुमें जीव भावको छह विकारोंकी प्राप्तिका साध देना समुचित है। क्योंकि वस्तुत्वका उस छह प्रकार विकारोंकी प्राप्तिके साथ अविनाभाव सिद्ध हो रहा है। अब यदि अकलंक महाराज असत्त्व धर्मसे विलक्षणपन (अभावविलक्षणत्व) को सत्त्वधर्म बखानें तब भी वह अभावविलक्षणत्व हेतु समीचीन नहीं है। क्योंकि सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयका विषय हो रहे प्रतिक्षणवर्ती एक पर्याय करके और व्यवहारनयके विषय हो रहे अन्वित द्रव्य करके व्यभिचार दोष होता है। देखिये उस एक पर्याय या केवल अन्वित द्रव्यके छह प्रकार विकार नहीं हुए हैं। फिर भी सत्त्वधर्मका आश्रय होनेसे उनमें अभाव विलक्षणपना सिद्ध है। अन्य प्रकारोंकी शरण लेनेपर सिद्धांतसे विरोध हो जायगा। भावार्थ–अकलंक महाराज और विद्यानन्द स्वामी जीव आदि सद्भूत भावोंमें छहों विकारोंको स्वीकार करते हैं। अकलंक महाराजने भावोंको छह विकारस्वरूप अनेक आत्मकपना साधते हुए " अभाव विलक्षणत्वात् " इस वार्तिकको कहा है और वार्तिकका यह विवरण किया है। " अभूत् नास्तीत्येकरूपो भावः न हि अभावः अभावात्मना भिद्यते तद्विसदृशस्तु नानारूपो भावः इतरथा हि तयोरविशेष एव स्यात्"। फिर भी अभावविलक्षणत्वका स्पष्ट अर्थ नहीं होनेके कारण ग्रंथकारको यह ऊहापोह करना पडा है। अभाव पदसे अवस्तु या असत्त्वका ग्रहण करना अनिष्ट है। जब कि तुच्छ अभावोंकी कोई परिभाषा ही नहीं है तो फिर किस मर्यादाभूत पंचम्यन्तसे वस्तुका विलक्षणपना किया जाय? अवस्तु, अद्रव्य, अभाव, असत्त्व, इन पदोंका सिद्धांतमर्यादासे कोई अर्थ नहीं निकलता है। अतः इनका विलक्षणपना या इनका रहितपना किसीका ज्ञापक हेतु नहीं बन सकता है। " वस्त्वेवावस्तुतां याति प्रक्रियाया विपर्ययात्। संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित्। असद्भेदो न भावस्तु स्थानं विधिनिषेधयोः, असदन्तमवस्तु स्यादविशेष्यविशेषणं " आदिक देवागममें गुरुवर्य श्री समन्तभद्राचार्यके निर्णीत सिद्धांत अनुसार अखंड पूरे " अभावविलक्षणत्वात् " का अर्थ वस्तुत्व किया जायगा, तभी अभावविलक्षणत्व हेतु सद्धेतु बन सकेगा। अन्यथा अभावविलक्षणत्वका खण्ड कर देनेपर वस्तुके एकदेश हो रही अकेली पर्याय और शुद्धद्रव्यकरके व्यभिचार दोष तदवस्थ रहेगा। अष्टसहस्रीमें इस विषयके निर्णीत हो रहे जैनसिद्धांतको स्पष्ट कर लिया गया है। अद्वैत, अनेकान्त, अभाव, अश्वविषाण, अभाव, इन सबका विवेचन हो जाता है। बौद्धोंके यहां मानी गई गोशब्दका अर्थ अगोव्यावृत्ति जैसे गौसे भिन्न कोई वस्तुभूत पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार अभावविलक्षणत्व भी कोई वस्तुसे न्यारा परमार्थभूत नहीं है। ऐसी दशामें यह निर्बल हेतु भला क्या छह विकारोंको साध सकेगा? इसकी अपेक्षा अकलंक महाराज सरलतया यदि वस्तुत्वहेतु कह देते तो

नानारूप भावकी सिद्धि सुगम हो जाती। अभावविलक्षणत्वका अर्थ करनेमें शिष्योंको समझाल-नेके लिये ग्रंथकारको प्रयत्न नहीं करना पडता। बात यह है कि अकलंक महाराज अकलंक ही हैं और विद्यानन्द आचार्य भी स्वनामधन्य विद्यानन्द ही हैं। महान् गजराजोंके विषयमें छोटे निर्बल जीवोंकी समालोचना करनेका कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। उसी प्रकार हम सारिखे अल्पमति पुरुषोंको उद्भट आचार्योंके विषयमें पर्यालोचना करनेका कोई अधिकार नहीं है। न जाने किन किन अतर्क्य अपेक्षाओं अनुसार दोनों आचार्यवर्योंने अनेकान्तकी सिद्धि की है। प्रतिक्षणसे लेकर " न सम्यगिदं साधनं " यहांतक पाठ लिखित पुस्तकमें नहीं है, तब तो अकेले अवस्तुविलक्षणत्वस्वरूप अभावविलक्षणत्वका केवल पर्याय और केवल द्रव्यकरके व्यभिचार दोष दे दिया जाय। ग्रंथकार विद्यानंदस्वामी सद्भूत जीव अथवा वस्तुभूत जीवके छह विकारोंका धारना साधते हैं। अभावविलक्षण ही रहे जीवके छह विकारोंकी प्राप्ति होनेको अन्तरंगसे नहीं चाहते हैं। यों अकलंक महाराजके कहनेसे सिद्धांतविरुद्ध उसका व्याख्यान करते हुये ग्रन्थकारने ज्ञानवयोवृद्ध पुरखाओंकी बातको टाला भी नहीं है। वस्तुत्वस्वरूप अभावविलक्षणपना जीवोंके षड्विध विकार प्राप्तिको साध ही देना स्वीकार कर लिया है।

ननु च वस्तुत्वमप्यभावविलक्षणत्वं न जीवानां षड्विधविकारप्राप्तिं साधयति तस्या-स्तित्वमात्रेण व्याप्तत्वादिति मन्यमानं प्रत्याह।

यहां कोई नित्यैकान्तवादी शंका करता है कि वस्तुत्वस्वरूप भी " अभावबि-लक्षणपना " हेतु जीवोंके जन्मादि छह प्रकार विकारोंकी प्राप्तिको नहीं साध पाता है। क्योंकि उस वस्तुत्वकी केवल अस्तित्वके साथ व्याप्ति बन रही है। जन्म, परिणति, वृद्धि, अपक्षय और विनाशके साथ वस्तुत्व हेतु व्याप्त नहीं है। इस प्रकार मान रहे वादीके प्रति ग्रंथकार कहते हैं।

बिभ्रतेस्तित्वमेवैते शश्वदेकात्मकत्वतः।
नान्यं विकारमित्येके तन्न जन्मादिदृष्टितः॥ ८॥

ये जीव आदि भाव (पक्ष) अस्तिपनको ही धारण करते हैं (साध्य)। क्योंकि सर्वदा स्थिर रहना ऐसे एक नित्यधर्म स्वरूप हो रहे हैं (हेतु) अन्य किसी विकारको नहीं धारते हैं। इस प्रकार कोई एक विद्वान् मान बैठे हैं। आचार्य कहते हैं कि उनका यह कहना यथार्थ नहीं है। क्योंकि सभी पदार्थोंमें हो रहे जन्म आदि छहों विकार देखे जाते हैं।

एतेष्वस्तित्वादिषु मध्ये अस्तित्वमेवात्मानो बिभ्रति नान्यं पंचविधं जन्मादिविकारं तेषां नित्यैकरूपत्वात् स्वरूपेण शश्वदस्तित्वोपपत्तेरित्येके। तन्न सम्यक् तेषां जन्मादिदर्शनात्। मनुष्यादीनां हि देहिनां बाल्यादिभावेन जन्मादयः प्रतीयंते मुक्तात्मनामपि मुक्तत्वादिना ते संभाव्यंत इति प्रतीतिविरुद्धं जीवानां जन्मादिविकारविकलत्ववचनम्।

इन अस्तित्व आदि विकारोंके मध्यमें केवल अस्तित्व को ही जीव पदार्थ धारते हैं अन्य पांच प्रकार जन्म, परिणति, वृद्धि, आदि विकारों को नहीं प्राप्त होते हैं। क्योंकि वे आत्मा पदार्थ एकान्तरूपसे कूटस्थवत् नित्य हैं अत: जीवात्माओंका स्वकीयरूपकरके सर्वदा अस्तिपन ही एक धर्म बन सकता है। आचार्य कहते हैं कि कूटस्थवादियों का वह कहना समीचीन नहीं है। क्योंकि बालक, बालिकाओंतकको उन जीवों के जन्म, वृद्धि, होने आदिका दर्शन होरहा है। जब कि मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि प्राणियों के बालकपन, युवापन, वृद्धपन, आदि अवस्थाओं द्वारा जन्म विपरिणाम, वृद्धि, आदि विकार होरहे प्रतीत होते हैं तो इसी प्रकार शुद्ध परमात्मा मुक्तआत्माओं के भी मुक्तपने, सिद्धपने, स्वात्मनिष्ठा, अगुरुलघुत्व आदि धर्मों करके वे जन्म आदिक सम्भव रहे हैं। अर्थात्-चौदहमे गुणस्थानके अन्त में मुक्त जीव उपजते हैं। वे सदा शुद्ध चिदानन्द, [illegible] (अस्तित्व), करते रहते हैं। सिद्धोंके सम्पूर्ण गुणों में परिणाम होते रहते हैं। अगुरुलघु गुणके द्वारा हानि, वृद्धियां, भी कतिपय गुणों की पर्यायों में होरही हैं। संसारीपन, कर्मसम्बन्ध ऐन्द्रियिकज्ञान, कषायें आदिका नाश होचुका है। अथवा उत्तर समयमें पूर्व परिणतियोंका विनाश हो रहा है। बात यह कि जो पदार्थ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इनसे युक्त होरहा सत् है। उसमें जन्म आदि छऊ विकार सुलभतया सम्भव जाते हैं। इस कारण कूटस्थवादी पण्डितों का जीवों के जन्म, अस्तिपन, आदि विकारोंसे रहितपनका निरूपण करना लोकप्रसिद्ध और शास्त्रप्रसिद्ध प्रतीतियों से विरुद्ध है।

जन्मादयः प्रधानस्य विकाराः परिणामिनः।
तत्संसर्गात्प्रतीयंते भ्रांतेः पुंसीति चैन्न वै ॥ ९ ॥

यहां कपिल मतानुयायियोंका पूर्वपक्ष है कि परिणामों के धारी प्रधानके विकार जन्म आदिक हैं। उस प्रकृतिका संसर्ग हो जानेसे भ्रान्त ज्ञानद्वारा पुरुषमें जन्म आदि प्रतीत हो जाते हैं। भावार्थ-सांख्यों के यहां प्रकृति के विकारों का होना अभीष्ट किया है। कूटस्थ, नित्य, अपरिणामी, आत्माके कोई जन्म आदि विकार नहीं होते हैं। जपाकुसुमकी ललाई जैसे स्फटिकमें प्रतिभास जाती है उसी प्रकार भ्रान्ति के वश संसारी जीवोंको वे जन्मादिक विकार आत्मामें होरहे दीख जाते हैं। "तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्। गुण कर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः (सांख्यकारिका)। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो कथमपि नहीं कहना क्योंकि जब वे पुरुष में निश्चितरूपसे हुये प्रतीत किये जाते हैं, आत्मामें होरहे जन्म आदि विकारों के दर्शकों को भ्रान्त कहने का तुमको कोई अधिकार नहीं है। सम्यग्ज्ञानियों को मिथ्याज्ञानी कहनेवाला स्वयं अनन्त भ्रममें पड़ा हुआ है।

तेषां भावविकारत्वादात्मन्यप्यविरोधतः।
जन्मादिरहितस्यास्याप्रतीतेर्भ्रांत्यसिद्धितः ॥ १० ॥

वे जन्म आदिक छऊ निवर्तभावों के विकार हैं। अत: भावपदार्थ माने गये आत्मा में उनके होने का कोई विरोध नहीं है। जन्म आदिक से रहित होरहे इस आत्मा की आजतक भी प्रतीति नहीं होती है। अत: जन्म आदिको धारनेवाले आत्मा के जानने में भ्रान्ति होनेकी असिद्धि है। देवदत्त जन्म लेता है, वह जिनदत्त आनन्द पूर्वक रहता है, भोजन करता है, मोटा होता है, देवदत्त स्रट जाता है, देवदत्त मर जाता है, इन सच्चे ज्ञानों में भला भ्रान्ति होने की कौनसी बात है ? विपरीत रीतिओंको गढकर तुमने तो अन्धेर नगरी समझरखी है।

विकारी पुरुषः सत्त्वाद्बहुधानकवत्तव ।
सर्वथार्थक्रियाहानेरन्यथा सत्त्वहानितः ॥ ११ ॥

पुरुष(पक्ष) विकारों का धारी है (साध्यदल) सत् होनेसे (हेतु) प्रधानके समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्-तुम सांख्यों को प्रकृति के सामन पुरुष भी सत् होने से विकार वाला मानना पडेगा। अन्यथा यानी आत्मा में विकार नहीं मानने पर तुम्हारे यहाँ सभी प्रकार अर्थक्रिया होने की हानि हो जावेगी और अर्थक्रिया की हानि हो जानेसे उसके व्याप्य होरहे सत्त्वकी भी हानि हो जावेगी। ऐसी दशामें अश्वविषाणके समान आत्मा असत् पदार्थ हो जाता है।

यथा हि प्रधानं भावस्तथात्मापि सन्नभ्युपगंतव्यः। सत्त्वं चार्थक्रियया व्याप्तं तदभावे खपुष्पवत्सत्त्वानुपपत्तेः। सा चार्थक्रिया क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता, तद्विरहेर्थक्रियाविरहात्तद्वत्। ते च क्रमयौगपद्ये विकारित्वेन व्याप्ते, जन्मादिविकाराभावे क्रमाक्रमविरोधात्ततः सत्त्वमभ्युपगच्छता पुरुषे जन्मादिविकारोभ्युपगन्तव्योन्यथा व्याप्यव्यापकानुपलब्धेरात्मनोऽसत्त्वप्रसक्तेरित्युक्तप्रायं।

जिस ही प्रकार प्रधान "सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः" भावपदार्थ है, उसी प्रकार आत्मा भी सत् पदार्थ स्वीकार करलेना चाहिये और सत्त्व तो अर्थक्रिया करके व्याप्त होरहा है। क्योंकि उस अर्थक्रियाके नहीं होने पर आकाशकुसुमके समान किसी का भी सत्पना नहीं सिद्ध होपाता है तथा वह अर्थक्रिया भी क्रम और यौगपद्य के साथ व्याप्ति को रख रही है यानी कोई भी अर्थक्रिया होगी वह क्रम से या युगपद् ही होसकेगी। उन क्रम और यौगपद्य के विना अर्थक्रिया होने का अभाव है, जैसे कि उस आकाशपुष्प में क्रम यौगपद्योंके न होने से कुछ भी अर्थक्रिया नहीं होपाती है और वे क्रमयौगपद्य भी विकारसहितपन के साथ व्याप्त होरहे प्रतीत हैं। क्योंकि जन्म, अस्तित्व,आदि विकारों के नहीं होनेपर क्रम या अक्रम से कुछ भी होने का विरोध है। तिस कारण आत्मा में सत्त्वधर्म को चाहने वाले कापिलों करके जन्म आदि विकार होना अवश्य स्वीकार कर लेना चाहिये। अन्यथा व्याप्य (के) व्यापकोंकी अनुपलब्धि होजाने से आत्मा के असत्त्व का प्रसंग होजावेगा, इस अनुकूल तर्कका हम कई बार पहिले प्रकरणों में निरूपण करचुके हैं। सत्त्वका व्यापक अर्थक्रिया होना है तथा अर्थक्रिया का व्यापक क्रम और यौगपद्य है तथा उन क्रमयौगपद्योंका व्यापक विकारसहितपना है। जन्म आदि

विकारों को नहीं मानने पर उसके व्याप्यव्यापक होरहे सत्त्वका अभाव होजाता है जहां घडे में जीवत्व ही नहीं है वहां मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्व, नहीं होते हुये गौडत्व भी नहीं ठहर पाता है। अतः प्रकृति के समान आत्मा के भी छह विकार होरहे मानने पडेंगे।

जायंते ते विनश्यंति संति च क्षणमात्रकं।
पुमांसो न विवर्तंते वृद्ध्यपक्षयगाश्च न ॥ १२ ॥
इति केचित्प्रध्वस्तास्तेप्येतेनैवाविगानतः।
विवर्ताद्यात्मतापाये सत्त्वस्यानुपपत्तितः ॥ १३ ॥

आत्मा को सर्वथा नित्य माननेवाले कापिलों का विचार कर अब आत्माको सर्वथा अनित्य माननेवाले बौद्धों के साथ परामर्श किया जाता है। बौद्ध कहते हैं कि वे पुरुष (जीव) उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होजाते हैं तथा एक क्षणमात्र निवास करते हुये अस्तिस्वरूप भी हैं। किन्तु जीव विपरिणाम नहीं करते हैं तथा वृद्धि और अपक्षय को प्राप्त करनेवाले भी नहीं हैं। अर्थात्-छह विकारों में पहिला जन्म, दूसरा अस्तित्व, और छठा विकारों का नाश इन तीन विकारोंको हम जीव में स्वीकार करते हैं। तीसरे विपरिणाम, चौथी वृद्धि, पांचवां अपक्षय, इन तीन को मानने की आवश्यकता नहीं है आप जैनोंने भी तो सत् पदार्थ में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इन तीन ही धर्मों को स्वीकार किया है। ऐसा यहांपर कोई क्षणिकवादी कह रहे हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि वे भी इस निर्दोष उक्त कथन करके ही भले प्रकार प्रध्वंस को प्राप्त कर दिये गये हैं। क्योंकि विपरिणति स्वरूप विवर्त्त आदि तीन स्वरूप विकारोंका अभाव माननेपर जीवों के अक्षुण्ण सत्त्व की ही अनुपपत्ति है। अर्थात्-छहों विकारोंके होने से जीवों का सद्भाव बन सकता है। अन्यथा वन्ध्यास्तनन्धय के समान जीव असत् होजायेंगे।

यथैव हि जन्मविनाशास्तित्वापाये क्षणमिति न परमार्थसत्त्वं तथा विवर्तनपरिवर्धनपरिक्षयणात्मकत्वापायेपि तथा प्रतीयते, अन्यथा कूटस्थात्मनीव खे पुष्पवद्वा चेतनस्य सत्त्वानुपपत्तेः।

सौगत कहते हैं, चूंकि जिस ही प्रकार जन्म, विनाश, और अस्तित्व का निराकरण माननेपर क्षणिकपन इसप्रकार परमार्थ रूपसे सत्पना नहीं बनपाता है, उस प्रकार विपरिणाम परिवृद्धि, अपक्षय, आत्मकपना नहीं मानने पर भी तिस प्रकार क्षणिकपना वस्तुभूत प्रतीत होजाता है। अन्यथा कूटस्थ आत्मा में जैसे सत्त्व नहीं है अथवा जैसे आकाश में पुष्पका सत्त्व नहीं है, उसी प्रकार चेतन के सद्भाव की असिद्धि बन बैठेगी अथवा इस पंक्ति का अर्थ यों कर लिया जाय। आचार्य कहते हैं कि जिस ही प्रकार जन्म विनाश और अस्तित्व को नहीं माननेपर बौद्धों के यहां क्षणिक पदार्थ में वस्तुभूत सत्पना नहीं आसकता है, उसी प्रकार परिणति वृद्धि, और अपक्षय स्वरूप पदार्थ को नहीं माननेपर भी तिस प्रकार वास्तविक सत्पना नहीं प्रतीत होरहा है। अन्यथा यानी तीन को माना जाय और विवर्तन, परिवर्द्धन, परिक्षय इन तीन को

नहीं माना जाय तो कूटस्थ आत्मा में जैसे परमार्थ सत्त्व नहीं है या आकाश में पुष्प की जैसे वस्तुभूत सत्ता नहीं है, वैसे ही चेतन जीव के वास्तविक सत्पना नहीं बन सकता है।

स्वभावांतरेणोपपत्तिरेव परिणामो वृद्धिश्चाधिक्येनोत्पत्तिरपक्षयस्तु विनाश एवेति न षड्विकारो जीव इति चेन्न, अन्वितस्वभावापरित्यागेन सजातीयेतरस्वभावांतरमात्रप्राप्तेः परिणामत्वादाधिक्येनोत्पत्तेश्च वृद्धित्वादेकदेशतो विनाशस्यापक्षयत्वात्परिणामादीनां विनाशोत्पादास्तित्वेभ्यः कथंचिद्भेदवचनात् ।

बौद्ध कहते हैं कि किसी भी पदार्थ का अन्य न्यारे स्वभावों करके बन जाना ही तो परिणाम है और विद्यमान स्वभावों से अधिकपने करके उत्पत्ति होजाना वृद्धि है। अपक्षय तो विनाश ही है। यों परिणाम तो अस्तित्व में और वृद्धि जन्म में तथा अपक्षय विनाश में गर्भित हो जाते हैं। इस कारण तीन विकारों वाला ही जीव हुआ। छह विकारोंवाला जीव सिद्ध नहीं होसका। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि तुम्हारा किया गया यह परिणाम, वृद्धि, अपक्षयोंका लक्षण बहुत बढ़िया नहीं है। सिद्धान्तमुद्रा से इनका लक्षण यह है कि माला में सूत के समान ओत पोत होरहे अन्वित स्वभावोंका परित्याग नहीं करके सजातीय और उनसे भिन्न विजातीय ऐसे न्यारे न्यारे स्वभावों की केवल प्राप्ति होजाना परिणाम है और द्रव्यके स्वरूप होरहे स्वभावों का त्याग नहीं कर स्वभावों की अधिकपने करके उत्पत्ति होजाना वृद्धि नामका विकार है तथा ध्रुव स्वभावोंका परित्याग नहीं कर एकदेशसे कतिपय अंशों का विनाश होजाना अपक्षय है। अतः परिणाम आदि तीन विकारों का विनाश, उत्पाद, अस्तित्व, इन तीन विकारों से कथंचित् भिन्नपने से निरूपण किया गया है। अतःजीवके छहों विकार मानना समुचित है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों की साध्य अवस्था और साधन अवस्थाओं पर लक्ष्य देनसे जीववस्तु या अन्य वस्तुओं के छह विकार सुलभतया सध जाते हैं।

जीवस्यान्वितस्वभावासिद्धेर्यथोक्तपरिणामाद्यनुपपत्तिरिति चेन्न, तस्य पुरस्तादन्वितस्वभावस्य प्रमाणतः साधनात् । ततो न जीवस्यैकानेकात्मकत्वे साध्ये सत्त्वादित्ययं हेतुरसिद्धोऽनैकांतिको विरुद्धो वा,जन्माद्यनेकविकारात्मकत्वाभावेऽन्वितैकस्वभावाभावे च सर्वथा सत्त्वानुपपत्तेः ।

बौद्ध कहते हैं कि सर्वथा क्षणिक होने के कारण जीव के सदा अन्वित होरहे स्वभावों की सिद्धि नहीं हो पाती है। इस कारण पूर्व में कहे अनुसार परिणाम आदिका युक्तिपूर्वक बनना नहीं होता है। अर्थात् आप जैनोंने अन्वित स्वभावों का परित्याग नहीं करना तो परिणाम आदिकों का घटकावयव बना दिया है। केवल एकक्षण ठहर कर द्वितीयक्षण में समूल चूल नष्ट होजाने वाले क्षणिक पदार्थ में अन्वित स्वभाव नहीं पाये जाते हैं। प्रति दिन दो आने कमाकर दोनोंही आनों का व्यय कर देनेवाले घसखोदा के यहां संचित द्रव्य नहीं मिलता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि पूर्वप्रकरणों में उस जीव पदार्थ के अन्वित होरहे स्वभावों की प्रमाणसे सिद्धि कर दी गयी है। अनादि, अनिधन, अन्वेता, भाव, जीवद्रव्य है। इसको अकाट्य युक्तियों से साध दिया गया है। तिस कारण जीवके एक अनेक आत्मकपना

साध्य करनेपर दिया गया। सत्त्वात् यह हेतु असिद्ध नहीं है। अथवा अनैकान्तिक या विरुद्ध हेत्वाभास भी नहीं है। जन्म, अस्तित्व आदि अनेक विकार स्वरूपपना नहीं माननेपर और अन्वित होरहे एकत्व भावका अभाव माननेपर सभी प्रकारोंसे सत्पना नहीं बन सकता है। सर्वथा नित्य पदार्थमें जन्मादिक नहीं होनेसे सत्त्व नहीं है। सर्वथा क्षणिकमें अन्वित एकत्वके नहीं होनेपर सत्त्व नहीं बन पाता है। अतः " नानेकात्मतया सन्तो नान्यथार्थक्रियाक्षतेः " और " विकारी पुरुषः सत्त्वाद्बुद्बुदानकवत्तव " इन वार्त्तिकोंमें कहा गया सत्त्व हेतु निर्दोष है।

एतेनानेकवाग्विज्ञानविषयत्वमात्मनो निवेदितं।

जीवके होरहे छह विकारोंको साधनेवाले इस कथन करके आत्माके अनेक वचन और विज्ञानोंका विषयपना भी निवेदन किया जा चुका समझ लेना चाहिये। अर्थात्–वाच्य अर्थकी अनेक परिणतियों अनुसार एक अर्थके अनेक वाचक शब्द प्रयुक्त कर दिये जाते हैं जैसे कि एक घडेमें " मिट्टीका है " नवीन है, बडा है, सुन्दर है, पुष्ट है, लाल है। इत्यादिक शब्दप्रयोग अनेक परिणतियोंके अनुसार हो जाते हैं। इनसे भी अधिक परिणतियोंके अनुसार उस घट विषयमें अनेक ज्ञान उपज जाते हैं। अतः अनेक शब्द और नाना विज्ञानोंका गोचर हो जानेसे घटके समान जीवात्मा एकानेक आत्मक है। यह हेतु भी व्यभिचारादि दोषोंसे रहित है।

तथानेकशक्तिप्रचितत्वं, वस्त्वंतरसंबंधाविर्भूतानेकसंबंधिरूपत्वं, अन्यापेक्षानेकरूपोत्कर्षापकर्षपरिणगुणसंबंधित्वं, अतीतानागतवर्तमानकालसंबंधित्वं, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वं अन्वयव्यतिरेकात्मकत्वं च समर्थितं। तस्य जन्मादिविकारषट्कप्रपंचात्मकत्वात्सत्त्वव्यापकत्वोपपत्तेः। सत्त्वान्यथानुपपत्त्या प्रसिद्धं च तत्सर्वमेकात्मकत्वमनेकात्मकत्वं च जीवस्य साधयति तदन्यतरापाये अनेकवाग्विज्ञानविषयत्वाद्यनुपपत्तेः। तदनुपपत्तौ सत्त्वानुपपत्तेश्च जीवतत्त्वाव्यवस्थितिप्रसंगात्।

तथा सत्त्वहेतुकी पुष्टि करनेवाले उक्त कथनसे अनेक शक्ति प्रचितत्व, वस्त्वंतरसम्बन्धाविर्भूतानेकसम्बन्धिरूपत्व, अन्यापेक्षानेकरूपोत्कर्षापकर्षपरिणतगुणसम्बन्धित्व, अतीतानागतवर्तमानकालसम्बन्धित्व, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्व, अन्वयव्यतिरेकात्मकत्व इन हेतुओंका भी समर्थन कर दिया गया है। भावार्थः–घृतमें अनेक शक्तियां हैं। घीका खा लेना शरीरको चिकना करता है, तृप्ति करता है, शरीरको बढाता है, चरक संहितामें लिखा है। " स्मृतिबुद्ध्यग्निशुक्रोजः कफमेदो विवर्द्धनं। वातपित्तविषोन्माद शोषालक्ष्मीज्वरापहम्॥ १॥ सर्वस्नेहोत्तमं शीतं मधुरं रसपाकयोः। सहस्रवीर्यं विधिभिर्घृतं कर्मसहस्रकृत्॥ २॥ अथवा अग्नि जैसे दाह, पाक, शोष, स्फोट, आदि अनेक कार्योंको करनेकी स्वात्मभूत शक्तियोंसे खचित हो रही है। उसी प्रकार आत्मा चैतन्य, वीर्य, आनन्द, सम्यग्दर्शन आदि गुण स्वरूप शक्तियों करके अथवा सामायिक, ध्यान, अध्यापन, दान, उपभोग, सत्य, ब्रह्मचर्य, योग, पर्याप्ति आदि पर्याय स्वरूप शक्तियोंकरके पिण्डभूत हो रहा है। अतः एक अनेकात्मक है।

तथा जिस प्रकार एक घट दूरवर्ती, निकटवर्ती, नवीन, पुराना, देवदत्तसे बनाया गया, यज्ञदत्त का स्वामिपना, आदि न्यारे न्यारे वस्तुओंके सम्बन्धसे अनेक सम्बन्धी स्वरूप प्रकट है, उसी प्रकार आर्यक्षेत्र, म्लेच्छस्थान, पंचमकाल, द्रव्यसहितपना, स्त्रीपुत्रसहितपना, पंचेन्द्रियता, श्रेष्ठकुल, यशः, सुगुरु, कुगुरु, कुभोजन आदि अनेक वस्तुओंके सम्बन्धसे यह आत्मा अनेक सम्बन्धी स्वरूप हो रहा है। इस हेतुसे आत्मका सत्त्वपना सधता हुआ एकानेकात्मकपनको साध देता है। एवं जैसे एक घडा अन्य व्यंजक पदार्थोंकी अपेक्षासे व्यंग्य हो रहा अनेक स्वरूप उत्कर्ष, अपकर्ष परिणतिको धार रहे रूपादि गुणोंका सम्बन्धी हो जानेसे एकानेकात्मक है, उसी प्रकार आत्मा संख्यात, असंख्यात, अनन्ते, उत्कर्ष अपकर्ष आत्मक परिणतिवाले गुणोंका सम्बन्धी होनेसे एकानेकात्मक है तथा यह अनादि अनिधन आत्मा अतीत अनागत, वर्तमान कालोंका सम्बन्धी होनेसे एकानेकात्मक है। अर्थात्- भूतकालकी स्वकीय पर्यायोंसे सम्बन्धी हो चुका है। वर्तमान कालीन पर्यायोंके साथ तदात्मक हो रहा है और भविष्यकालीन निज पर्यायोंके साथ संसर्ग करेगा। बनारसमें गंगा जलको देखनेवाला यों कह देता है, यह जल कानपुरमें बह चुका है, यहां बह रहा है, पटनामें बहेगा। इस प्रकार एक आत्मामें अनेक कालवर्ती परिणतियोंका संसर्ग होते रहनेसे एकानेकात्मकपना है। गम्भीर दृष्टिसे विचार किया जाय तो तीनों कालकी परिणतियोंका किसी भी कालके परिणामपर स्थूल या सूक्ष्म संस्कार बना रहता है। " होनहार बिरवानके होत चीकने पात " "पूतके लक्षण पालनेमें ही दीख जाते हैं " ये किंवदन्तियां व्यर्थ नहीं है। " तादृशी जायते बुद्धिर्यादृशी भवितव्यता " यह शिक्षा रहस्यसे रीती नहीं है। बाल्य अवस्थाका पुष्ट, गरिष्ठ भोजन वृद्ध अवस्थातक प्रभाव डालता है। व्यायाम करनेवालेका शरीर अन्ततक दृढ बना रहता है, छोटे हृदयका पुरुष धनवान् होजानेपर भी तुच्छताको नहीं छोडता है। जब कि महामना, उदात्त पुरुष कैसे भी अवस्थामें अपने बडप्पनको बिना प्रयत्नके बनाये रखता है। भविष्यमें आंधी या मेघवृष्टि आनेवाली है इसका प्राग्ज्ञान वर्तमानमें हो रही पृथिवी, वायु, जल, आदिकी सूक्ष्म परिणतियों अनुसार कीट, पतंग, पशु, पक्षियोंतकको हो जाता है। जहां मनुष्य या तिर्यंचोंका उपद्रव नहीं हुआ, नहीं होरहा है, नहीं होगा, ऐसे स्थलकी परीक्षा कर झींगुर, बर्र, मकडी, मोहार, खटमल, भोंरी, आदि कीट निवासस्थानोंको बनाते हैं। उनमें यहां वहांसे कीट या अन्य पुद्गल लाकर रखते हैं। बच्चोंका शरीर बनाते हैं, इत्यादि अर्थक्रियाओंसे सिद्ध है कि असंख्यात अनन्त वर्षोंतक की पहिली पीछी, पर्यायोंका चाहे किसी भी एक पर्यायपर थोडा प्रभाव उट्टङ्कित रहता है। तभी तो अनन्तानुबन्धी कषायकी वासना अनन्तभवोंतक चली जाती है। मोक्ष होनेके पहिले अर्ध पुद्गलपरिवर्तनकाल आदिमें हुये सम्यग्दर्शन परिणामकी मध्यके अनन्त भवोंमें कुछ अनिर्वचनीय वासना छाई रहती है। शब्दकी उत्पादक स्थानसे सैकडों हजारों कोसतक लहरें उठ बैठती हैं। हूंगना, मूतना, भोजन करना, शयन करना इन क्रियाओंमें कितनी ही आगे पीछे तक वैसी वैसी परिणति होती रहती हैं। चेतन और अचेतन पदार्थोंकी वर्तमानकालीन परिणतिको देखकर वैद्य या ज्योतिषीय विद्वान् भूत, भविष्यकी परिणतियोंका परिज्ञान करलेते हैं।

बात यह है कि जैनसिद्धांत अनुसार द्रव्यको नित्य माना गया है। इसमें बडा अच्छा रहस्य है। किसी भी पर्यायमें आक्रांत हो रहा द्रव्य अपने परिवारकी शक्तियोंपर अभिमान कर रहा सदा सर्वत्र अन्वित हो रहा है। जैसे कि पचास लाख रुपयोंके अधिपति सेठकी बीस दुकानोंमें किसी भी दुकानपर विशेष समस्याकी अवस्थामें पचास लाखका उत्तरदायित्व झेल लिया जाता है, उसी प्रकार द्रव्यको भूत, वर्तमान, भविष्यकालीन चाहे किसी भी पर्यायमें अनाद्यनन्त द्रव्य अन्वित रहता है। एक एक पर्यायमें अनन्तानन्त स्वभाव विद्यमान हैं। जितना गहरा प्रविष्ट होकरके देखेंगे उतना ही अटूट धन दीख आवेगा। यों एक वस्तुमें तीनों काल सम्बन्धी परिणामोंकी अपेक्षा अनेकात्मकपना है। तथा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्योंसे युक्त होनेके कारण एक द्रव्य अनेकात्मक है। एक वस्तुमें अनेक उत्पाद हो रहे हैं, उतने ही विनाश हो रहे हैं, स्थितियां भी उतनी ही अनन्तानन्त हैं। उत्पन्न, उत्पद्यमान, उत्पत्स्यमान, आदि भेदोंसे अनेक चमत्कार वस्तुमें हो रहे हैं। वस्तुके संपूर्ण अन्तरंग बहिरंग अभिनयोंको सर्वज्ञदेव जानते हैं। घडा उपजता है, कुशूल विनशता है, मट्टी ध्रुव है, बाल्य अवस्था नष्ट होती है, युवा अवस्था उपजती है। मनुष्यपना स्थिर है, ऐसे स्थूल उत्पाद आदिको यथार्थतः जानते हैं। इसी प्रकार अन्वय, व्यतिरेक, स्वरूप होनेसे आत्मा एकानेकात्मक है। जीवत्व, ज्ञातापन, दृष्टापन, भोक्तापन, आदि स्वभावोंकरके अन्वय बन रहा है, और बदल विज्ञानोंद्वारा व्यावृत्तिके विषयभूत स्वभाव या जायेत, अस्ति, आदि धर्म, गति, इंद्रिय, काय, इन विलक्षण परिणतियोंसे आत्मा व्यतिरेक स्वरूप है। इस प्रकार विपक्षमें बाधक प्रमाणोंको दिखलाते हुए अनेक शक्ति प्रचितत्व आदि हेतुओंकी एकानेकात्मपन साध्यके साथ व्याप्तिका समर्थन किया जा चुका है। क्योंकि वे "अनेकवाग्विज्ञानविषयत्व" आदिक तो जन्म आदि छह विकारोंके प्रपंच स्वरूप हैं। अतः इनको सत्त्वका व्यापकपना बन जाता। सत्त्वके साथ हो रही अन्यथानुपपत्ति करके प्रसिद्ध हो रहे वह सब हेतु जीव के एकानेकात्मकपनको साध देते हैं। उन सत्त्व या एकानेकात्मकपन दोनों मेंसे किसी एकका भी अभाव मानने पर "अनेकवाग्विज्ञानविषयत्व" आदि हेतुओंकी उपपत्ति नहीं हो सकेगी और उस अनेक वचनों या अनेक विज्ञानोंकी गोचरता आदिकी सिद्धि नहीं होने पर सत्त्वकी असिद्धि होजानेसे जीव तत्त्वकी व्यवस्था नहीं हो सकनेका प्रसंग आवेगा।

तत्र जन्मादि विकारप्रपंचस्याविद्योपकल्पितत्वे क्रमाक्रमयोरप्यविद्योपकल्पितत्वप्रसक्तेः ततश्चार्थक्रियाप्यविद्याविजृंभितैवेति न सत्त्वं परमार्थतः प्रसिद्धेत्। तत एव संविन्मात्रं तत्त्वमित्ययुक्तं, तस्य ब्रह्माद्यद्वैतवदप्रतीतेरिति प्रपंचेन समर्थितत्वात्। नानैकात्मतया प्रतीतेरंतर्बहिश्च सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वसिद्धेश्च सिद्धो नानैकात्मको जीवः।

उन जीव वस्तुओंमें जन्म, अस्तित्व, आदि विकारोंके प्रपंचको यदि बौद्ध मिथ्याज्ञान होरही अविद्यासे कल्पना किया जा रहा मानेंगे, तब तो क्रम और अक्रमको भी अविद्यासे उपकल्पित होनेका प्रसंग आवेगा और उससे फिर अर्थक्रिया भी अविद्याकी ही चेष्टा समझी जावेगी। इस प्रकार परमार्थरूपसे जीवमें सत्पना प्रसिद्ध नहीं हो सकेगा। व्यापक ही यदि मनगढन्त है

तो व्याप्य अवश्य झूंठी कल्पनाका विषय माना जावेगा । इस सद्भाग्यसे मिले हुए अवसरपर योगाचार बौद्ध यदि यों कहे कि तिस ही कारणसे यानी जन्म, क्रम, अक्रम, अर्थक्रिया, आदि बहिर्भूत पदार्थोंकी ठीक ठीक सत्ता नहीं बन सकनेसे हम अंतरंग शुद्ध सम्वेदनको ही वस्तुभूत तत्त्व मानते हैं, कार्य कारण, आधार आधेय, इत्यादि सब व्यर्थका झगडा है । आचार्य कहते हैं यह केवल सम्वेदनाद्वैतका स्वीकार कर लेना भी युक्तियोंसे रहित है। क्योंकि ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत, आदिके समान उस सम्वेदनाद्वैतकी भी कदाचित् प्रतीति नहीं होती है । इस बातका हम पूर्व प्रकरणोंमें विस्तार करके समर्थन कर चुके हैं । वहां देख लो । यहां यह कहना है कि सभी आत्मा आदि और सभी घट आदि अन्तरंग, बहिरंग, पदार्थोंकी एक अनेकात्मकस्वरूपसे प्रतीति हो रही है तथा बाधकप्रमाणोंके असम्भवका अच्छा निश्चय हो चुकना सिद्ध है । अतः यों अनेक धर्मोंके साथ तादात्म्य सिद्ध हो जानेपर जीव एक अनेक आत्मक हो रहा सिद्ध हो जाता है ।

ततः स्वतत्त्वादिविशेषचिंतनं घटेत जीवस्य नयप्रमाणतः ।
क्रमाद्यनेकांततया व्यवस्थितेरिहोदितन्यायबलेन तत्त्वतः ॥१४॥

तिस कारण जीवके निज तत्त्व आदि विशेषोंका चिन्तन करना नयों और प्रमाणोंसे घटित हो जावेगा । क्योंकि क्रम अक्रम अर्थक्रिया आदि करके अनेकान्त रूपसे जीवकी व्यवस्था हो रही है । इस अनेकान्तका यथार्थरूपसे कहे जा चुके न्यायकी सामर्थ्यसे यहां चौथे अध्यायमें प्रकरण अनुसार विवेचन कर दिया गया है ।

इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।

इस प्रकार चौथे अध्यायका दूसरा आन्हिक यहांतक समाप्त हो चुका है ।

---o---

यहां विशेष यों कहना है कि राजवार्तिक और सर्वार्थसिद्धिमें "लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्" इस सूत्रकी व्याख्या की है। मुद्रित श्लोकवार्तिकमें "तदष्टभागोऽपरा" इस सूत्रपर चौदहवार्तिकोंको बनाकर विवरण करते हुए श्री विद्यानन्द आचार्यने पश्चात् चौथे अध्यायको समाप्त कर दिया है । लिखित पुस्तकमें बारहवीं वार्तिकके प्रथम त्रुटिका चिन्ह देकर "लौकान्तिकानां" इस सूत्रको लिखा है । किन्तु वह पीछे क्षेपण किया हुआ प्रतीत होता है । " तदष्टभागोऽपरा " इस सूत्रकी चौदह वार्तिक और उनके विवरणमें कहीं भी ऐसा स्थान नहीं मिलता है जहां कि " लौकांतिकानाम् " इस सूत्रको डाल दिया जाय, पहिले पीछेके प्रकरण पूर्वापर संगतिके लिये हुये जकड रहे हैं । ग्यारहवीं और बारहवीं वार्तिकके बीचमें इस सूत्रको घुसेडना कथमपि शोभा नहीं देता है । क्योंकि पहिले ग्यारहवीं वार्तिकमें नित्यैकान्त वादी सांख्यको आत्माके छह विकारोंका होना समझाकर लगे हाथ बारहवीं कारिकामें क्षणिकवादी बौद्धोंको भी आत्माके छह विकार होना समझानेका प्रकरण चलाया है । अतः यहां लौकान्तिक, सूत्रका डालना अशोभन जचता है। वार्तिकोंकी संख्याके अंक भी ठीक आ रहे हैं । यदि मध्यमें सूत्र पड जाता तो वार्तिकोंकी

गणनाके अंक बदल जाते । अनेकान्त सिद्धिके प्रकरणका आरम्भ होनेके प्रथम " व्यभिचार वर्जितत्वासम्भवात् " इस पंक्तिके परली ओर यह सूत्र डालना उचित जचता है । किन्तु यहां भी पूर्व प्रकरणके कर्मवैचित्र्यकी संगति जुड रही होनेसे स्वल्प भी स्थान दृष्टिगोचर नहीं होता है । अतः अनुमित होता है कि यह सूत्र मूलसूत्ररूपसे विद्यानंद स्वामीको अभीष्ट नहीं है । लौकान्तिकानां इत्यादि सूत्रकी अपेक्षा " तदष्टभागोऽपरा " इस सूत्रमें अनेकान्तकी सिद्धि करना अच्छा जचता है, ग्रन्थकारने ऐसा ही ढंग भी डाला है । श्रुतसागरस्वामीने भी इसको मूलसूत्रमें परिगणित नहीं कर टीकामें " तथा च विशेषः लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषां, ये लौकान्तिकास्ते विशेषेण शुक्ललेश्याः पंचहस्तोन्नताः अष्टसागरोपमस्थितयः इति" यों लिख दिया है । जिस प्रकार सर्वार्थसिद्धिमें या राजवार्तिकमें इस सूत्रका अवतरण दिया गया है, अथवा श्रुतसागर स्वामीने जिस प्रकार अन्य सूत्रोंका अवतरण दिया है, उस प्रकार इस सूत्रका अवतरण नहीं दिया है । ये श्रुतसागर सूरि तत्त्वार्थसूत्रकी टीका करते हुए प्रत्येक अध्यायके अन्तमें और यहां भी " सकलविद्वज्जनविहितचरणसेवस्य श्रीविद्यानन्दिदेवस्य संछर्दितमिथ्यामतदुर्गरेण श्रुतसागरेण सूरिणा विरचितायां श्लोकवार्तिकराजवार्तिक सर्वार्थसिद्धि न्यायकुमुदचन्द्रोदय प्रमेयकमलमार्तण्ड प्रचण्डाष्टसहस्रीप्रमुखग्रन्थसन्दर्भनिर्भरावलोकनबुद्धिविरचितायां तत्त्वार्थटीकायां चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः" । यों लिखकर अपनेको राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थोंका अन्तःप्रवेशी ज्ञाता प्रकट करते हैं । अस्तु कोई विरोध नहीं होनेसे उस त्रुटिको यहां भाषा अर्थ करते हुए अविकल उद्धृत कर दिया जाता है । सम्भव है कि यह भी विद्यानन्द स्वामीकी कृति होय " ब्रह्मलोकालयाः " आदि इन दो सूत्रोंमें जैसे लौकान्तिकोंका स्वतंत्र निरूपण किया है, उसी प्रकार स्थितिके प्रकरणमें सूत्रकारने यह सूत्र भी पढ दिया होय । इस विषयपर विशेषज्ञ विद्वान् और अधिक प्रकाश डाल सकते हैं ।

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ।

सम्पूर्ण लौकान्तिक देवोंकी आठ सागरोपम स्थिति है ।

लौकान्तिकसुराणां च सर्वेषां सागराणि वै ।
अष्टावपि विजानीयात्स्थितिरेषा प्रकीर्तिता ॥ १ ॥

सम्पूर्ण लौकान्तिक देवोंकी स्थिति भी आठ सागरकी निर्णीत हो रही विशेषतया जान लेनी चाहिये । यों यहांतक स्थितिका बढिया कीर्तन कर दिया गया है ।

लौकान्तिकदेवानां समस्तानां सर्वथा अष्टौ सागराणि स्थितिर्व्यभिचारवर्जिता ज्ञातव्या ।

सम्पूर्ण लौकान्तिक देवोंकी सदैव आठ सागरकी स्थिति है जो कि व्यभिचार दोषोंसे रहित हो रही जान लेनी चाहिये। जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति आठ ही सागरकी है। लौकान्तिक देव विशेषताओंसे रहित हो रहे सब एकसे हैं। पांच हाथ ऊंचा इनका शरीर है। शुक्ल लेश्यावाले हैं। त्रिलोकसारमें "चोद्दसपुव्वधरा पडिबोहपरा तित्थयरविणिक्कमणे। एदेसि-मट्ठजलहिट्ठिदी अरिट्ठस्स णव चेव ॥ ५४० ॥" इस गाथाद्वारा अरिष्ट जातिके लौकान्तिकोंकी नौ सागरोपम स्थिति कही है।

इति श्रीविद्यानन्दि आचार्यविरचिते तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे
चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्री विद्यानन्द आचार्यविरचित तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार नामक महान् ग्रन्थमें
चौथा अध्याय परिसमाप्त हुआ।

--०--

इस चतुर्थ अध्यायके प्रकरणोंकी सारणी संक्षेपसे इस प्रकार है। प्रथम ही देवोंकी चार ही निकायोंको पुष्ट कर आधार नहीं कह कर देवोंका ही कथन करनेमें सूत्रकारका अभिप्राय दिखलाया है। तीन निकायकी लेश्याओंको साधकर कल्पोपपन्नोंमें इंद्रादि भेदोंका अंतरंग कारण कर्मोंकरके होना कहा है। व्यन्तर और ज्योतिषियोंकी विशेषताओंको बताते हुये प्रवीचारोंकी हीनता होनेमें पुण्यके उत्कर्षको प्रधानकारण सिद्ध किया है। तभी तो उपरिमदेव प्रवीचाररहित हैं। भवनवासी व्यन्तरोंके विशेष भेद भी कर्मोदयजनित कहे गये हैं। मांस आदिका भक्षण देवोंमें नहीं है। शब्दनिरुक्तिद्वारा इनके आधार विशेषोंकी प्रतिपत्ति करादी है ज्योतिष्कदेव कर्मोंके आधीन होकर सूर्यविमान चंद्रविमान आदि अनेक विमानोंमें स्थिति कर रहे बताये हैं। कुछ ताराओंको छोडकर मनुष्यलोक सम्बन्धी सभी ज्योतिष्क विमान मेरुको प्रदक्षिणा कर रहे हैं। यहांसे सात सौ नव्वे योजन ऊंचे स्थानसे प्रारम्भकर एकसौ दस योजन मोटे और एक राजू लम्बे चौडे आकाशमें ज्योतिष्क विमानोंका सद्भाव है। नीचे, ऊपर, भीतर बाहर विराज रहे विमानोंका क्रम दरशा दिया है। "छक्कदिणवतीससयं दसयसहस्सं खवार इगिदालं। णवणति दुगतेवण्णं थिरतारापुक्खरदलोत्ति" । जम्बूद्वीपमें छत्तीस, लवण समुद्रमें एक सौ उनतालीस, धातकी खण्डमें एक हजार दस, कालोदक समुद्रमें इकतालीस हजार एकसौ बीस, और पुष्करार्धमें त्रेपन हजार दो सौ तीस स्थिर तारे हैं। इनके अतिरिक्त ढाई द्वीपमें सम्पूर्ण ज्योतिष चक्र सुदर्शन मेरुकी सदा अपनी नियत गति अनुसार प्रदक्षिणा किया करते हैं। एक चन्द्रमा सम्बन्धी एक सूर्य अट्ठाईस नक्षत्र अट्ठाईस ग्रह और छयासठि संख, सतानवें पद्म, पचास नील, ६६९७५०००००००००००००० तारे हैं। एकसौ बत्तीस चन्द्रमा सम्बन्धी इतना इतना ही परिवार ढाई द्वीपमें समझ लेना चाहिये। स्वामीजीने भूमीके भ्रमणका अच्छा खंडन कर नक्षत्र मण्डलकी स्थिरताका प्रत्याख्यान किया है। पृथिवीके विदारण होनेका बडा चम-

रुकारक प्रसंग दिया गया है। ग्यारह सौ बीस योजन पृथिवीकी चौडाई या इससे कुछ कमती बढती नहीं सकती है। यहां नदियोंके प्रभव स्थान और प्रवाह मार्ग अनुसार भूगोलका अच्छा निराकरण किया गया है। और भी अनेक युक्तियां दी हैं। काल आदिके वश भूमीके नीचे, ऊंचे आकार भी जैनोंके यहां माने गये बताये है। जो मनुष्य कुयेमें नीचे ठहरा हुआ है। उसको दुपहरके समय घण्टे दो घण्टे का ही दिन भासता है। गुफा या तिरछी भूमिमें निवास कर रहा मनुष्य वर्षों या महीनोंतक सूर्य दर्शन नहीं कर सकता है। सूर्यके उत्तरायण या दक्षिणायन होनेपर अनेक स्थलोंपर विभिन्न जातिके दिन रात हो जानेका प्रकरण मिल जाता है। जहाजका ऊपरला भाग दिखनेसे या उदय, अस्त, होनेकी वेलापर भूमीसे लगे हुए सूर्यका दर्शन होनेसे पृथिवीको गोल मानना कोरी बालबुद्धि है। क्या आकाशको या स्वच्छजलको नीला देख लेनेसे उनमें नीलरंग घुला हुआ मान लिया जावेगा? कभी नहीं। देखो हम लोगोंकी आंखोंमें भी कतिपय दोष है जिससे कि नाना प्रकार भ्रान्तियां हो जाती हैं। दूर देशतक ऊंचा उडता जा रहा पक्षी भी हमें नीचे उतरता हुआ सारिखा दीखता है। किन्तु ऐसा नहीं है। दस पांच कोस लम्बे चौडे एक तिकोने या चौकोने चोंतरापर बीचमें खडा होकर देखनेसे चारों ओर गोल दीखता है। किन्तु एतावता वह चौकोर चोंतरा कथमपि गोल नहीं हो जावेगा। यदि पृथिवी गोल घूमती हुई मानी जावेगी तो पक्षी उडकर अपने घोसलेपर नहीं आ सकेगा। क्योंकि उसकी छोडी हुई पृथिवी तबतक सैंकडो मील दूर घूम जावेगी। इसके लिए पचास मील या इससे भी कमती बढती वायुका भी भ्रमण पृथिवीके साथ स्वीकार करोगे तो वेगसे चल रही वायुके साथ धुआं या आककी रूईकी क्या दशा होगी। मसाल या दीपककी सीधी लौ नहीं उठ सकेगी। टिमटिमाता हुआ दीपक झट बुझ जायगा। तोपसे निकले हुए बलवान् गोलेको पृथिवी अपने साथ वायुकी सहायतासे ले जाय। किन्तु फफूंदा या छोडे हुए बारूदके बाणके फुलिंगोंपर अपना प्रभाव नहीं जमा देवें यह आश्चर्य है। जो वायु रूई या फुफूंदेको पृथिवीके साथ पूर्वको ले जानेमें समर्थ नहीं है। वह वेगसे दौड रहे गेंद या गोलीको कथमपि पृथिवीके साथ नहीं ले जा सकता है। कदाचित् हुए स्वल्प भूकम्पसे शरीर, हृदय, मस्तिष्कमें चक्कर आने लगते हैं। तो इतने प्रबल भूमि भ्रमणसे मानव, पशु, पक्षिओंकी क्या दशा होगी? इसका अनुमान लगाना ही भयंकर है। आकर्षण शक्तिका भी खण्डन हो जाता है। समुद्रका इतना लम्बा चौडा जल केवल आकर्षण शक्तिसे नहीं डटा या चुपटा रह सकता है। हरिद्वारसे कलकत्तेको जारही गंगा नदी आकर्षण शक्तिवश गोल पृथिवी पर उलटी भी बह जाय तो कौन रोक सकता है। गोल पृथिवीपर जैसे हरिद्वारसे कलकत्ता नीचा है। उसी प्रकार कलकत्तेसे हरिद्वार भी नीचा सम्भवता है। अमेरिकासे नीचे भारत वर्षका या भारतवर्षसे नीचे अमेरिकाका आकर्षणवश पृथिवीसे चुपटा रहना कहना असम्भव है। गुरुत्व धर्मके वश भारी पदार्थ सब नीचे गिर पडेंगे। चुम्बक या लोहेका दृष्टान्त सर्वत्र पुद्गलोंमें लागू नहीं होता है। एक वृक्षसे सेवफलका पृथिवीपर गिरना देखकर भूमिमें आकर्षण शक्तिकी न्यूटन पंडितद्वारा कल्पना करना बच्चोंका खेल है। हम आकर्षणका खण्डन नहीं

जाती हैं। किन्तु समुद्रका धारण, पृथिवी आदि अनेक मण्डलोंका भ्रमण केवल आकर्षण शक्तिसे नहीं हो सकते हैं। इस बातपर बल देते हैं। वस्तुतः ज्योतिश्चक्रके भ्रमणसे ही छाया हानि, छायावृद्धि, सूर्यका भूमिसंलग्न होकर दीख जाना, ये सब बन जाते हैं। भूमिमें भी अनेक प्रकारके नैमित्तिक परिणामोंको उपजानेकी शक्ति विद्यमान है। इसके आगे ग्रन्थकारने समरात्र दिवस आदिको पुष्ट करते हुये सूर्यके एकसौ चौरासी मण्डल बताये हैं। मुहूर्तकी गतिका क्षेत्र तथा उत्तर, दक्षिण, की ओर होरहे उदयके प्रतिमासोंको घटित किया है। अभ्यन्तर मण्डल और बाह्यमण्डलोंपर दिन रातके कमती, बढती हो जानेको साधा है। यहां प्रतिवादियोंके हेतुओंका अच्छा खण्डन किया है। छायाका घटना, बढना कोई भूमीके गोल आकारको नहीं साध देता है। क्षेत्रकी वृद्धिको युक्तियोंसे साधा गया है। सूर्यग्रहणका अच्छा विचार है। छोटीसी पृथिवीकी छाया सूर्य या चन्द्रमापर कुछ प्रभाव नहीं डाल सकती है। छोटेसे बांसको भूमिसे सूरजकी ओर जितना भी बढा दिया जावेगा, त्यों त्यों उसकी छाया नष्ट होती जाती है। ऐसी दशामें सूर्यके निमित्तसे भूमिकी छाया पडना असमंजस है। ग्रहणके अवसरपर उपराग पडना ठीक है। किन्तु वह अधःस्थित राहुके विमानसे कार्य सम्पन्न हो जाता है। पृथिवीकी छायासे चन्द्रग्रहण और चन्द्रकी छायासे सूर्यग्रहण पडना मानना परीक्षाकी कसौटी पर नहीं कसा जा सकता है। सूर्य आदिके विमान मणिमय अकृत्रिम बने हुये हैं। राहु या केतुका पौराणिक कथानक झूंठा है। ढाई द्वीपके ज्योतिष्क विमान आभियोग्य देवोंद्वारा ढोये जाते हैं। पूर्वपक्षी विद्वानोंके भूमीको गोल साधनेमें दिये गये हेतु दूषित हैं। सर्वत्र समतल और क्वचित् नीची, ऊंची, भूमिमें ज्योतिषचक्रकी गतियोंके वश हो रहे समरात्र आदिक सब बन जाते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण और आप्तोक्त आगमसे विरुद्ध मनगढन्त सिद्धान्तका प्रतिपादन करना केवल कुछ दिनोंतक कतिपय श्रद्धालुओंद्वारा मान्य भले ही हो जाय किन्तु सदा सर्वत्र सबके लिये अबाधित नहीं है। किसीने कुछ कह दिया और कदाचित् किसी पण्डितने अन्यथा प्रतिपादन कर दिया, ऐसे क्षणिक मत जुगनूके समान भला स्याद्वाद सिद्धांत सूर्यके सन्मुख कितने दिन ठहर सकेंगे? स्वयं उन्हीं लोगोंमें परस्पर अनेक पूर्वापर विरोध उठा दिये जाते हैं। अनेकान्तकी सर्वत्र विजय है। तदनन्तर गतिमान् ज्योतिष्कोंद्वारा किये गये व्यवहार कालको साधा है। व्यवहारकालद्वारा मुख्यकालका निर्णय करा दिया है। ढाई द्वीपके बाहर असंख्याते सूर्य, चन्द्रमा, या अन्य विमान जहांके तहां अवस्थित बता दिये हैं। चौथी निकाय वैमानिकोंका वर्णन करते हुए कर्मोदयके वश कल्पोपपन्न और कल्पातीत देवोंका विन्यास बताया है। नव शब्दकी वृत्ति नहीं करनेसे अनुदिशोंको सूचित किया है। उत्तरोत्तर स्थिति आदिकोंसे अधिकता और गति आदिकसे हीनताको युक्तियों द्वारा साध दिया है। वैमानिकोंमें लेश्याका निरूपण करते हुये निर्देश आदि सोलह अधिकारोंकरके कृष्णादि लेश्याओंका आम्नाय अनुसार निरूपण किया है। एक भवतारी लौकान्तिक देव और द्विचरिम वैमानिकोंका स्वतंत्रतया निरूपण कर चौथे अध्यायके पहिले आन्हिकको समाप्त किया है। इसके आगे तिर्यञ्चोंकी व्यवस्था कर देव और नारकियोंकी जघन्य, उत्कृष्ट, स्थितियोंका निरूपण करते हुये कर्मोंकी विचित्रता

अनुसार स्थितियोंकी विचित्रता बताई गयी है । श्री अकलंकदेव महाराजने चौथे अध्यायके अन्तमें राजवार्तिकमें जैसे अनेकान्तका विस्तृत निरूपण किया है, उसी प्रकार श्री विद्यानन्द आचार्यने एक एक द्रव्यको नाना स्वभाव आत्मक साधा है । जन्म अस्तित्व आदि छह विकारोंको सम्पूर्ण पदार्थ धारते हैं । " अभावविलक्षणत्व हेतुका अच्छा विचार किया है । नित्यैकान्त और क्षणिक एकान्तका खण्डनकर द्रव्य, पर्याय, आत्मक वस्तुका नित्यानित्यात्मकपन प्रसिद्ध किया गया है । अन्य भी कतिपय अकलंक हेतुओंसे जीवतत्त्वका एक अनेकात्मकपना साधते हुए चौथे अध्यायतक नय प्रमाणोंद्वारा जीवतत्त्वकी व्यवस्था कर दी गयी समझाई है । चौथे अध्यायके छोटेसे द्वितीय आन्हिकको पूर्ण किया है । "लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषां" यह सूत्र उमास्वामिकृत है । इस विषयमें श्री विद्यानन्द आचार्यका विशेष आदर नहीं अनुमित होता है । यों तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार महान् ग्रन्थमें दो आन्हिकोंद्वारा चौथे अध्यायकी समाप्ति की गई है ।

लेश्याद्याविककल्पनास्थितिवपुःसम्यावबुद्धावली-
संसारस्थचतुर्णिकायसरणो नानास्वभावस्थितः ॥
जन्माद्यस्थाविविकारमुद्ध्रुवको विज्ञानवृग्गोचरोऽ ।
ध्याये तुर्य इलाहितैर्निगदितो जीव इत्युमास्वामिभिः ॥ १ ॥

दृग्ज्ञानमयमाद्याङ्गं भेदवल्लोकसंस्थितं ।
सूत्रितं चतुरध्याय्यां जीवतत्त्वं प्रमेयभृत् ॥ २ ॥

इति श्री विद्यानंदिआचार्यविरचिते तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे
चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।

समाप्तोयं पंचमो भागः ।